व्याकरणशास्त्रीय परिभाषाएँ

एक अनुशीलन

(परिभाषेन्दुशेखर के आधार पर)

डॉ० पर्णदत्त सिंह

व्याकरणशास्त्रीय परिभाषाएँ : एक अनुशीलन

(परिभाषेन्दुशेखर के आधार पर)

लेखक

डॉ० पर्णदत्त सिंह

एम्०ए०, पी-एच्०डी०, आचार्य (साहित्य)

वरिष्ठ प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-५

1999

कला प्रकाशन

बी 33/33 ए-1, न्यू साकेत कालोनी

बी.एच.यू., वाराणसी - 5

प्रकाशक

कला प्रकाशन

बी. 33/33-ए-1, न्यू साकेत कालोनी

बी.एच.यू., वाराणसी-221005

फोन नं. : 0542-310682

प्रथम संस्करण – 1999

ISBN-81-87566-09-4

© लेखक द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : 850/- रुपये मात्र

कम्प्यूटर अक्षर संरचना

सरिता कम्प्यूटर्स

डी. 56/48 ए, औरंगाबाद, वाराणसी

फोन नं. : 359521

मुद्रक

महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

प्राक्कथन

संस्कृत भाषा के व्याकरण का महत्त्व सर्वविदित है। इस भाषा का परिनिष्ठित ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकरणशास्त्र का अध्ययन परम आवश्यक है। यह तथ्य किसी भी संस्कृतज्ञ से तिरोहित नहीं है। व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में पाणिनीय व्याकरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि ने अपने समय तक उपलब्ध विशाल वाङ्मय का गम्भीर परिशीलन करके जो अमूल्य निधि संसार के समक्ष उपस्थित की है, वह सूत्रबद्ध है। अतिसंक्षिप्त सूत्रों को समझना, व्याख्यान की सहायता के बिना दुःसाध्य है।इसीलिए समय-समय पर वार्तिक,भाष्य और वृत्तिग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। सूत्रों के अर्थों का असन्दिग्ध निर्णय करने के लिए पाणिनीय व्याकरण में जिन नियमों की कल्पना की गयी है, उसमें परिभाषाओं का उचित महत्त्व निर्विवाद है। पाणिनि के स्वयं के परिभाषासूत्रों से पृथक् उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने इस दिशा में बहुत अधिक कार्य करते हुए सूत्र तथा वार्तिक के समान परिभाषाओं की प्रामाणिकता उपपादित की है।

किसी भी व्याकरण सम्प्रदाय में व्याकरण-शासन का परिभाषाएँ अनिवार्य अंग होती हैं। जिस प्रकार किसी भी व्याकरण सम्प्रदाय की समग्रता के लिए उसे पाँच अंगों (सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिङ्गानुशासन) से विभूषित होना आवश्यक होता है। मुख्य ग्रन्थ सूत्रपाठ के अतिरिक्त उसके सहायक अथवा पूरक होने से इतर अंग के रूप में खिल पाठों की भी उपयोगिता है। उसी प्रकार सूत्र से पृथक् स्वतन्त्र रूप से परिभाषाओं का पाठ भी उपलब्ध होता है। पाणिनीय सम्प्रदाय में परिभाषाओं का बड़ा विस्तार प्राप्त होता है। पाणिनीयेतर व्याकरण सम्प्रदायों में भी न्यूनाधिक रूप परिभाषाएँ प्राप्त होती है। इस प्रकार सूत्रार्थ और शब्द-रूप सिद्ध की साधनिका में उपकारक-रूप परिभाषाओं का संग्रह प्रत्येक सम्प्रदाय में प्राप्त होता है। पाणिनीय सम्प्रदाय में परिभाषापाठों की अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं, उनमें प्रकाशित व्याख्याएँ अधोलिखित हैं— (१) आचार्य व्याडि के दो ग्रन्थ परिभाषासूचनम् और परिभाषा पाठ के रूप में प्राप्त होते हैं। (२) पुरुषोत्तमदेवकृत लघुपरिभाषावृत्ति एवं बृहत् परिभाषावृत्ति दो पाठ है। (३) सीरदेवकृत परिभाषावृत्ति, (४) नागेशकृत परिभाषेन्दुशेखर। इनके अतिरिक्त (५) नीलकण्ठकृत परिभाषा वृत्ति, (६) हरिभास्करकृत परिभाषाभास्कर तथा (७) बृहत् परिभाषावृत्तिटिप्पणी और (८) शेषाद्रिसुधीकृत परिभाषाभास्कर व्याख्यान ग्रन्थ प्राप्त हैं। इनका संग्रह महामहोपाध्याय काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर ने 'परिभाषा संग्रह' के नाम से पूना से प्रकाशित किया है। इन सभी में नागेश का 'परिभाषेन्दु शेखर' सर्वोत्कृष्ट है— यह बात निर्विवाद है। नागेश के व्याकरण ग्रन्थों में सबसे अन्त

में लिखे गये पाण्डित्यमयी व्याख्या वाले वैयाकरणनिकाय में नितान्त प्रसिद्ध इस 'परिभाषेन्दुशेखर' को ही परिभाषाओं के ज्ञान के लिए सबसे उपयुक्त माना जाता है। इसके ऊपर विपुल टीकाग्रन्थ लगभग ४६ प्रकाशित और अप्रकाशित उपलब्ध होते हैं, जो इसकी विद्वता तथा लोकप्रियता की विशद निर्दर्शिका है। अत: पाणिनीय सम्प्रदाय में प्राप्त होने वाली परिभाषाओं के अनुशीलन के लिए इस ग्रन्थ को ही आधार माना जाता है। तदनुसार ही मैंने भी अनुशीलन के लिए इसी ग्रन्थ को आधार मानते हुए नागेश की शैली में ही परिभाषाओं का आशय स्पष्ट करने का प्रयास किया है। स्पष्टीकरण में परिभाषेन्दुशेखर की विविध कतिपय प्रसिद्ध टीकाओं को सन्दर्भित किया है। इनमें गदा, भैरवी, भूति, गूढ़ार्थदीपिका, विजया, हैमवती आदि का दृष्टिकोण अत्यन्त सहायक बन पड़ा है। उपर्युक्त परिभाषान्दुशेखर में प्राप्त होने वाली परिभाषाओं को प्रयोजनगत विषय-भेद के आधार पर पाँच अध्यायों में विभाजित करके आशय स्पष्ट किया गया है।

पाणिनीयेतर व्याकरण सम्प्रदायों में ६ सम्प्रदाय मुख्यत: प्राप्त होते हैं : इनके सभी के परिभाषा पाठ उपलब्ध है, जो अधोलिखित रूप में ज्ञेय हैं— इसमें (१) सर्वप्राचीन शर्ववर्मकृत कातन्त्र व्याकरण का दुर्ग सिंह व्याख्याकृत 'कातन्त्रपरिभाषासूत्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ मिलता है। (२) चन्द्रगोमिकृत चान्द्र व्याकरण का 'परिभाषासूत्र' प्राप्त होता है। (३) जैनेन्द्र व्याकरण का जिनेन्द्रकृत 'जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति' उपलब्ध होती है। (४) जैन मतावलम्बी पाल्य कीर्ति के 'शाकटायन व्याकरण' का 'परिभाषासूत्र' दृष्टिगत होता है। (५) राजा भोजकृत व्याकरण सरस्वतीकण्ठाभरण का 'परिभाषासूत्र' हस्तगत हुआ है। (६) आचार्य हेमचन्द्रकृत 'सिद्धहैमव्याकरण' का 'परिभाषापाठ' प्राप्त है। (७) इसके अतिरिक्त 'सारस्वत-व्याकरण', 'मुग्ध बोध व्याकरण', क्रमदीश्वर या जौमर व्याकरण, सुपद्मव्याकरण के भी परिभाषापाठ थे, परन्तु मुख्य ग्रन्थ से इतर खिलरूप में स्वतन्त्र रूप से इनके परिभाषापाठ संगृहीत नहीं किये गये हैं। इस प्रकार पाणिनीय सम्प्रदाय तथा पाणिनीयेत्तर सम्प्रदायों उपर्युक्त छ: व्याकरणों के परिभाषापाठ प्राप्त होते हैं। उन सबका इस अनुशीलन में तुलनात्मक दृष्टि से उपयोग किया गया है। फलत: नागेशपर्यन्त उनसे पूर्व के ११ आचार्यों के परिभाषापाठों का तथा बाद के एक आचार्य शेषाद्रिसुधी के 'परिभाषाभास्कर' का भी समावेश किया गया है। चूँकि 'परिभाषेन्दुशेखर' ही परिभाषाओं के अध्ययन लिए सर्वाधिक समादृत एवं मान्य है। अत: उसी के आधार पर परिभाषाओं का सामान्य एवं विशेष अभिप्राय, प्रयोजन और आवश्यकता तथा अनावश्यकता का स्पष्ट एवं व्यवस्थित व्याख्यान करने की दृष्टि से इस अनुशीलन में प्रत्येक परिभाषा का उपक्रम, सामान्य अर्थ, विशेष अभिप्राय, व्याख्या, उसका प्रयोजन, व्याख्याकारों की दृष्टि से निरूपित करते हुए प्राचीन तथा अर्वाचीन समस्त उपलब्ध परिभाषाकारों के साथ नागेश का किस अंश में ऐकमत्य तथा विरोध है—

इत्यादि का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस अनुशीलन का आधार ग्रन्थ पेरुवेंकटेश्वर शास्त्री द्वारा सम्पादित 'परिभाषेन्दुशेखर' का संस्करण है। प्रस्तुत अनुशीलन द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में संस्कृत की व्याकरणशास्त्रीय परिभाषाओं का रहस्य उद्घाटन करने का मेरा प्रयास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की पूर्णता के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जिन-जिन विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनके प्रति मैं सदैव सहृदय आभारी रहूँगा। इस ग्रन्थ से व्याकरणशास्त्रीय विषयों के अध्येताओं को यदि थोड़ा भी लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा। स्खलन मानव स्वभाव होता है। अतएव ग्रन्थ में त्रुटियाँ सम्भावित हैं। इसके लिए विद्वानों का सद्परामर्श सादर स्वीकार्य होगा, जिसका संशोधन अगले संस्करण में किया जाएगा।

रामनवमी विक्रमाब्द २०५७

डॉ० पी०डी० सिंह
संस्कृत-विभाग, कलासङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संक्षिप्त विषय-सूची

			पृष्ठसंख्या
प्राक्कथन			
संक्षिप्त विषय-सूची			
विस्तृत विषय-सूची			
सङ्केत-सूची			
भूमिका	:		*i-xxxvii*
प्रथम अध्याय	:	सूत्रार्थोपकारक परिभाषाएँ	१-१०५
द्वितीय अध्याय	:	शब्दरूपोपकारक परिभाषाएँ	१०६-२६४
तृतीय अध्याय	:	उभयोपकारक परिभाषाएँ	२६५-२९१
चतुर्थ अध्याय	:	अवशिष्ट परिभाषाएँ	३९२-४३०
पञ्चम अध्याय	:	अवशिष्ट परिभाषाएँ	४३१-४७७
परिशिष्ट	:	(१) परिभाषानुक्रमणी	४७८-४८३
		(२) परिभाषेन्दुशेखर के अनुसार परिभाषानुक्रमणी	४८४-४८९
		(३) महाभाष्योपलब्ध परिभाषाविवरण	४९०-४९८
		(४) महाभाष्य में अनुपलब्ध परिभाषाओं का मूल	४९९-५००
		(५) परिभाषारूपभेदविषयक तालिका	५०१-५०७

●

विस्तृत विषयसूची

		पृष्ठसंख्या
भूमिका :		*i-xxxvii*
	(क) व्याकरणशास्त्र का परिचय	*iii*
	(ख) 'परिभाषा' का लक्षण	*xxx*
	(ग) परिभाषाओं का मूल	*xxxii*
	(घ) परिभाषाओं के भेद	*xxxii*
	(ङ) परिभाषेन्दुशेखर का महत्त्व	*xxxiii*
	(च) परिभाषेन्दुशेखरकार का जीवन परिचय	*xxxiv*
प्रथम अध्याय :	**सूत्रार्थोपकारक परिभाषाएँ**	**१-१०५**
	(१) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्	१
	(२) यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्	४
	(३) कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्	९
	(४) अनेकान्ता अनुबन्धाः	१३
	(५) एकान्ताः	१६
	(६) नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्	१८
	(७) नानुबन्धकृतमसारूप्यम्	२०
	(८) उभयगतिरिह भवति	२२
	(९) अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य	२६
	(१०) गौणमुख्योर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः	२९
	(११) एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः	३७
	(१२) क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते	४०
	(१३) उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि	४२
	(१४) उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणं न तदन्तग्रहणम्	४६
	(१५) संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति	४८
	(१६) व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन	५०

(१७) यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे ५५
(१८) येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ५८
(१९) क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते ६५
(२०) पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन बाधन्ते, नोत्तरान् ७२
(२१) मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान् ७४
(२२) अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वेति ७६
(२३) उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् ८०
(२४) सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् ८३
(२५) नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः ८५
(२६) निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ८९
(२७) तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ८९
(२८) धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ९३
(२९) विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान् ९७
(३०) सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः ९९
(३१) प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः १०१
(३२) क्वचित् समुदायेऽपि १०३
कुल संख्या ३२

द्वितीय अध्यायः शब्दरूपोपकारक परिभाषाएँ १०६-२६४
(३३) नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् १०६
(३४) एकदेशविकृतमनन्यवत् १०८
(३५) पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ११४
(३६) पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् ११९
(३७) सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव १२२
(३८) विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् १३०
(३९) परान्नित्यं बलवत् १३५
(४०) असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे १३७
(४१) नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः १६९
(४२) अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते १७८
(४३) पूर्वोत्तरपदनिमित्तककार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न १८५
(४४) अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब्बाधते १८९
(४५) वार्णादाङ्गं बलीयो भवति १९१

(४६) अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः २०१
(४७) पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः २१३
(४८) प्रकल्प्य वापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते २१५
(४९) उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्त-मप्युत्सर्गं बाधते २१७
(५०) अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते २२२
(५१) अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति २२४
(५२) क्वचित् स्वार्थिका : प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते २२७
(५३) सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य २३०
(५४) संनियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः २३७
(५५) ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति २४१
(५६) तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते २४३
(५७) अङ्गवृत्तेः पुनर्वृत्ताविधिः २४५
(५८) सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान् २४९
(५९) उपपदविभक्तेः कारक-विभक्तिर्बलीयसी २५२
(६०) व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते २५६
(६१) सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् २५७
(६२) श्तिपाशपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च। यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि।। २६०
कुल संख्या ३०

तृतीय अध्याय : उभयोपकारक परिभाषाएँ २६५-३९१
(६३) कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते २६५
(६४) यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते २६९
(६५) निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति २७८
(६६) यत्रानकेविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः २८६
(६७) अनिनस्मन्-ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति २८९
(६८) भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न २९२
(६९) भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति २९५
(७०) वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् २९७
(७१) प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम् ३०२
(७२) प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः ३०९

(७३) स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न ३१३
(७४) कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ३१८
(७५) पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च ३२५
(७६) व्यपदेशिवदेकस्मिन् ३२८
(७७) ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति ३३५
(७८) ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति ३३९
(७९) क्त्वल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति ३४३
(८०) लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति ३४६
(८१) प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ३४८
(८२) विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम् ३५३
(८३) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः ३५६
(८४) हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ३६०
(८५) लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ३६२
(८६) अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य ३६४
(८७) नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ३६८
(८८) प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्य ग्रहणम् ३७१
(८९) श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान् ३७४
(९०) लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ३७८
(९१) गामादाग्रहणेष्वविशेषः ३८२
(९२) पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ३८६
(९३) पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे ३८९
कुल संख्या ३१

चतुर्थ अध्याय : अवशिष्ट परिभाषाएँ ३९२-४३०
(९४) सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति ३९२
(९५) सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते ३९६
(९६) प्रकृतिवदनुकरणं भवति ३९८
(९७) शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति ४०१
(९८) शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम् ४०३
(९९) लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन् विधिरनित्यः ४०५
(१००) क्वचित् कृताकृतप्रसंगमात्रेणापि नित्यता ४०६
(१०१) यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् ४०८

(१०२) यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम् ४०८
(१०३) स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति ४१०
(१०४) साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ४११
(१०५) बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि ४१४
(१०६) चानुकृष्टं नोत्तरत्र ४१७
(१०७) स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ४१९
(१०८) प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम ४२२
(१०९) प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् ४२४
(११०) अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे ४२८
कुल संख्या १७

पञ्चम अध्याय : अवशिष्ट परिभाषाएँ ४३१-४७७
(१११) समासान्तविधिरनित्यः ४३१
(११२) संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम् ४३३
(११३) आगमशास्त्रमनित्यम् ४३५
(११४) गणकार्यमनित्यम् ४३७
(११५) अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् ४३९
(११६) नञ्घटितमनित्यम् ४४०
(११७) आतिदेशिकमनित्यम् ४४१
(११८) विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे ४४२
(११९) प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः ४४५
(१२०) अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ४४७
(१२१) सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ४४९
(१२२) अभेदका गुणाः ४५२
(१२३) बाधकान्यपि निपातनानि ४५८
(१२४) निषेधाश्च बलीयांसः ४६०
(१२५) योगविभागादिष्टसिद्धिः ४६२
(१२६) पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते ४६४
(१२७) ज्ञापक-सिद्धं न सर्वत्र ४६६
(१२८) एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति ४६८
(१२९) क्वचिद्विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति ४६९

(१३०) औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम् ४७०

(१३१) पदगौरवाद्योगविभागो गरीयान् ४७३

(१३२) अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः। ४७५

कुल संख्या २२

परिशिष्ट : ४७८-५०७

(१) परिभाषानुक्रमणी ४७८-४८३

(२) परिभाषेन्दुशेखर के अनुसार परिभाषानुक्रमणी ४८४-४८९

(३) महाभाष्योपलब्धपरिभाषाविवरण ४९०-४९८

(४) महाभाष्य में अनुपलब्ध परिभाषाओं का मूल ४९९-५००

(५) परिभाषारूपभेदविषयक तालिका। ५०१-५०७

सङ्केत-सूची

अष्टा०	:	अष्टाध्यायी
उ०	:	उद्योत
उ०पु०ए०	:	उत्तम पुरुष एकवचन
ए०	:	एकवचन
का	:	काशिका
का०वा	:	काशिकोपलब्ध वार्तिक
का०प०सू०वृ०	:	कातन्त्र परिभाषासूत्रवृत्ति
गूढ़ार्थ	:	गूढार्थदीपिका
चतु०	:	चतुर्थी
चान्द्र प०सू०	:	चान्द्र परिभाषासूत्र
जै०प०वृ०	:	जैनेन्द्र परिभाषावृत्ति
टि०	:	टिप्पणी
टि०पृ०	:	टिप्पणी पृष्ठ
टि०सं०	:	टिप्पणी संख्या
टी०	:	टीका
तत्त्वा०	:	तत्त्वादर्श
तृ०	:	तृतीया
तृ०वि०द्वि०	:	तृतीया विभक्ति द्विवचन
द्वि०वि०बहु०	:	द्वितीया विभक्ति बहुवचन
नपुं०	:	नपुंसक
नील०प०वृ०	:	नीलकण्ठ परिभाषावृत्ति
प०म०	:	पदमञ्जरी
प०शे०	:	परिभाषेन्दुशेखर
प०शे०पृ०	:	परिभाषेन्दुशेखर पृष्ठ
प०शे०परि०सं०	:	परिभाषेन्दुशेखर परिभाषासंख्या

पं०	:	पंक्ति
प्र०	:	प्रदीप
प्र०वि०ए०	:	प्रथमा विभक्ति एकवचन
प्र०पु०ए०	:	प्रथम पुरुष एकवचन
प्र०एवं उ०	:	प्रदीप एवं उद्योत
प्र०पु०बहु०	:	प्रथम पुरुष बहुवचन
प्रत्या०सू०	:	प्रत्याहार सूत्र
प०पा०	:	परिभाषा पाठ
परि०सं०	:	परिभाषा संख्या
परि०संग्रह	:	परिभाषा संग्रह
परि०सू०	:	परिभाषा सूचनम्
पु०प०पाठ	:	पुरुषोत्तमदेव परिभाषापाठ
पु०	:	पुल्लिंग
पा०शि०सू०	:	पाणिनीय शिक्षासूत्र
पा०भे०	:	पाठभेद
बहि०	:	बहिरंग
बृ०प०वृ०	:	बृहत् परिभाषावृत्ति
बृ०श०शे०	:	बृहच्छब्देन्दुशेखर
भोज०प०स०	:	भोजदेव परिभाषासूत्र
म०भा०	:	महाभाष्य
म०पु०ए०	:	मध्यम पुरुष एकवचन
मा०धा०वृ०	:	माधवीया धातुवृत्ति
ल०कौ०	:	लघुकौमुदी
ल०मञ्जूषा	:	लघु मञ्जूषा
ल०प०वृ०	:	लघु परिभाषावृत्ति
वा०	:	वार्तिक
वा०प०	:	वाक्यपदीय
वा०का०	:	वार्तिक काशिकोपलब्ध

व्या०पृ०	:	व्याख्या पृष्ठ
वै०सा०	:	वैदिक साहित्य
वृ०	:	वृत्ति
वि०ए०	:	विभक्ति एकवचन
श०कौ०	:	शब्दकौस्तुभ
श०रत्न०टी०	:	शब्दरत्नटीका (भावप्रकाश)
श०शे०	:	(लघु) शब्देन्दुशेखर
शा०कला	:	(बृहत्) शास्त्रार्थकला (टीका)
शा०प०सू०	:	शाकटायन परिभाषासूत्र
शेषाद्रि प०भा०	:	शेषाद्रिसुधी परिभाषाभास्कर
सि०कौ०	:	सिद्धान्तकौमुदी
सू०	:	सूत्र
सू०सं०	:	सूत्रसंख्या
सं०	:	संख्या
सं०सा०इति०	:	संस्कृत साहित्य का इतिहास
सं०शा०इति०	:	संस्कृतशास्त्रों का इतिहास
सं०व्या०इति०	:	संस्कृत व्याकरण का इतिहास
हरिभा०प०भा०	:	हरिभास्करकृत परिभाषाभास्कर
हेम०प०पाठ०	:	हेमहंसगणिपरिभाषापाठ
हैम०	:	हैमवती (टीका)

भूमिका

संस्कृत भाषा के व्याकरण की एक महती ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। समय-समय पर अनेक वैयाकरण आचार्यों एवं ऋषियों ने इस शास्त्र को परिवर्धित करने का प्रयास किया। इस परम्परा में पाणिनि का स्थान आज सर्वोपरि है। इन्होंने पञ्चपाठ (सूत्र, गण, धातु, उणादि, लिंगानुशासन) की रचना द्वारा सर्वाङ्गीण रूप देने का स्तुत्य प्रयास किया, परन्तु उत्तरवर्ती विद्वानों के समक्ष अथवा यो कह सकते हैं कि पाणिनि के पूर्व या समकालीन विद्वानों के समक्ष भी एक समस्या यह उपस्थित थी कि शब्दाल्पत्व में बंधे हुए सूत्रों का निर्दुष्ट अर्थ किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय? इसके लिए विभिन्न सम्प्रदायों में कुछ नियमों की कल्पना की गई थी। इसी प्रकार किसी-किसी शब्द-रूप की प्रक्रियात्मक विवेचना के प्रसंग में उत्पन्न शंकाओं के निराकरण के लिए भी नियमों की परिकल्पना की गयी थी। इन नियमों का सर्वप्रथम प्रणयन करने वाला कौन आचार्य है? इसका उत्तर देना सम्भव नहीं। जहाँ तक उपलब्ध साहित्य का प्रश्न है, इसमें सर्वप्रथम आचार्य व्याडि का 'परिभाषा-सूचनम्' ग्रन्थ उपलब्ध होता है। आचार्य व्याडि का ही दूसरा ग्रन्थ 'परिभाषा-पाठ' नामक है। परन्तु इन दोनों के अध्ययन से यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है कि आचार्य व्याडि ही सर्वप्रथम परिभाषा निर्माता थे, क्योंकि इन्होंने परिभाषाओं की व्याख्या भी लिखी है और किसी भी उत्तरवर्ती आचार्य ने परिभाषा-प्रणेता-रूप में इनका स्मरण नहीं किया। आचार्य व्याडि से लेकर नागेश तक जितने परिभाषा-संग्रह ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, उनमें ५५५ परिभाषाएँ व्याख्यात हैं। उन परिभाषाओं में परस्पर ग्रन्थों में यत्किञ्चित् रूप-भेद है। किसी ने दो या अधिक परिभाषाओं को मिलाकर एक परिभाषा मानी है एवं पाठ परिवर्तन के साथ दो बार भी उल्लिखित किया है। इन परिभाषाओं में से नागेश भट्ट ने १३३ परिभाषाएँ अपने 'परिभाषेन्दुशेखर' में व्याख्यान के लिए संगृहीत की हैं। परन्तु केवल १३२ परिभाषाओं की व्याख्या की है, एक का उल्लेख मात्र है। नागेश भट्ट के समक्ष व्याडि से लेकर हरिभास्कर पर्यन्त ११ परिभाषा ग्रन्थ उपलब्ध थे। इसके अतिरिक्त कैयट, न्यासकार, पदमञ्जरीकार, दीक्षित आदि के भी व्याख्यान उपलब्ध थे। इस स्थिति में नवीन व्याख्यान-ग्रन्थ की रचना एक विशेष साहस का कार्य थी। नागेश भट्ट इस अंश में पर्याप्त सफल हुए हैं, यह किसी भी वैयाकरण से तिरोहित नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में जिन परिभाषाओं पर समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उनको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनीय सूत्रों के अर्थ के विषय में उत्पन्न सन्देहों का परिभाषाओं द्वारा निराकरण करने में कहाँ तक सफल हुए

हैं। यही स्थिति शब्दरूपों की प्रक्रिया के विषय में भी उत्पन्न सन्देहों के निराकरण में है। यद्यपि 'परिभाषेन्दुशेखर' में नागेश ने अत्यन्त संक्षिप्त शैली का आश्रयण किया है तथापि अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के आलोच्य मत का खण्डन करने में सर्वत्र सावधानी प्रदर्शित की है—यह इनके प्रौढ़ पाण्डित्य का प्रमाण है। अनेक स्थलों पर 'यत्तु', 'केचित्तु' आदि के द्वारा प्राय: सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की किसी न किसी अंश में आलोचना नहीं छोड़ी है। व्याकरणशास्त्रीय परिभाषाओं के अध्ययन के लिए नागेश का 'परिभाषेन्दुशेखर' ग्रन्थ कितना उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण है, यह इसके ऊपर लिखी गयी ४६ या उससे अधिक टीकाओं द्वारा सिद्ध होता है। हर प्रमुख वैयाकरण ने इस ग्रन्थ पर कुछ न कुछ अवश्य लिखने का प्रयास किया है। परिभाषाओं की नागेश कृत संतुलित व्याख्या के रूप में 'परिभाषेन्दुशेखर' का निर्माण हो जाने के पश्चात् परिभाषाओं की मौलिक व्याख्या लिखने का किसी विद्वान् ने साहस नहीं किया है। सभी लोग इसी के व्याख्यानोपव्याख्यान में अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करते रहे हैं। नागेश के पश्चात् एकमात्र शेषाद्रि सुधी ही ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने परिभाषाओं की व्याख्या लिखने का प्रयास किया है, परन्तु इन पर नागेश का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इनका उद्देश्य नागेश की व्याख्या का खण्डन करना ही प्रतीत होता है, परन्तु नागेश के प्रौढ़ व्याख्यान के समक्ष शेषाद्रिसुधी की व्याख्या विद्वत्समाज में समादृत नहीं हो सकी। आज प्रत्येक वैयाकरण परिभाषा के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'परिभाषेन्दुशेखर' का ही अध्ययन करते हैं। प्रमाण के रूप में भी इसी के व्याख्यान का आश्रयण लेते हैं।

आधुनिक युग में अध्यापन की जिस परिष्कृत एवं संक्षिप्त शैली का महत्त्व माना जाता है, यही विचार 'परिभाषेन्दुशेखर' के प्रणयन काल में नागेश भट्ट के मस्तिष्क में था, ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि इस शैली से अल्प काल में उपयोगी विषय का परिचय प्राप्त हो जाता है, परन्तु इस विषय में उत्पन्न शंकाओं का अपेक्षित समाधान सम्भव नहीं होता। साथ ही नागेश की प्रौढ़ लेखनी द्वारा उपनिबद्ध परिभाषेन्दुशेखर की पङ्क्तियों का रहस्य साधारण अध्येता के लिए बोधगम्य नहीं है। इसी कारण प्रस्तुत अनुशीलन द्वारा भरसक यही प्रयास किया गया है कि परिभाषा विषयक महत्त्वपूर्ण स्थल का स्पष्टीकरण हो सके और सूत्र-व्याख्यान एवं शब्द-रूप सिद्धि की प्रक्रिया में इन परिभाषाओं का किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है— इसका भी सर्वजनवेद्य व्याख्यान हो सके। नागेश के पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा किये गये परिभाषा-व्याख्यान और नागेश द्वारा किये गये व्याख्यान का तुलनात्मक अध्ययन करने पर क्या-क्या निष्कर्ष सामने आते हैं— इसका विवेचन भी प्रस्तुत अनुशीलन का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रहा है। विषयाधिक्य के कारण यत्र-तत्र लेखन-लोभ का संवरण किया गया है।

सम्पूर्ण परिभाषा-संग्रह ग्रन्थों के अवगाहन से यह ज्ञात होता है कि ५५५ परिभाषाएँ व्याकरण से सम्बद्ध हैं। उनमें से १३२ परिभाषाओं का ही व्याख्यान करते

हुए पाणिनीय व्याकरण सम्बन्धी सन्देहों के निराकरण में नागेश ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है, इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है।

(क) संस्कृत व्याकरण का परिचय

मानव-समाज में परस्पर विचार-विनिमय का साधन 'भाषा' है। 'भाषा' शब्द 'भाष्' धातु से बना है,[१] जिसका अर्थ होता है 'व्यक्त-वाणी'; अर्थात् जिसमें वर्णों का स्पष्ट उच्चारण हो, वह 'भाषा' है।[२] भाषा परिवर्तनशील होती है और इस परिवर्तनशीलता में कोई अंकुश न रखा जाय तो भाषा सर्वथा लुप्त हो जाय। भाषा की इस परिवर्तनशीलता पर नियन्त्रण रखने के लिये, उसे संस्कार-च्युत होने से बचाने के लिए, 'व्याकरण' का जन्म हुआ। व्याकरण भाषा का निर्माण नहीं करता, वह यह नहीं बतलाता कि अमुक शब्द अमुक अर्थ में कब से और कैसे प्रयुक्त हुआ। वह तो भाषा के 'सिद्ध'— शिष्ट समाज में प्रचलित— स्वरूप को ही बतलाता है। पतञ्जलि के अनुसार पाणिनि ने शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध को स्वत: सिद्ध मानकर ही व्याकरण की रचना की है।[३] भर्तृहरि के मत से व्याकरण का उद्देश्य भाषा के व्यावहारिक प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए उनके साधुत्व और असाधुत्व का ज्ञान कराना है।[४] व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन ज्ञान की प्राप्ति बतलाते हुए पतञ्जलि कहते हैं— "छहों अंगों सहित वेदों का अध्ययन ब्राह्मण को निष्काम भाव से, केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए करना चाहिए।"[५] "सन्देह निवारण के लिए, भाषा-विषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए भी, व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।"[६] एक और स्थान पर लोकव्यवहार में शुद्ध भाषा के प्रयोग की आवश्यकता बतलाते हुए वे कहते हैं—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।।

अर्थात् जो वाणी का प्रयोग जानने वाला (वैयाकरण) शब्दों का यथावद् ज्ञान प्राप्त कर व्यवहार के समय (लिखने या बोलने में) शब्दों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है, उसको इस लोक और परलोक में सफलता मिलती है। इसके विपरीत अपभ्रष्ट

---

१. भाष् व्यक्तायां वाचि।

२. व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाच:। — महाभाष्य १-३-४८।

३. कथं पुनरिदं भगवत: पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्? सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे— महाभाष्य।

४. साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृति:। — वाक्यपदीय, १-१४३।

५. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। — महाभाष्य।

६. असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। — महाभाष्य।

शब्दों का प्रयोग करने वाला दोष का भागी होता है। शिष्ट समाज के बीच शब्दों का प्रयोग बहुत समझ-बूझ कर करना होता है। इसलिये कैयट के मतानुसार व्याकरण में शब्द और अर्थ का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। यदि एक शब्द का भी ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय और उसका उपयुक्त प्रयोग हो तो वह स्वर्ग में और इस लोक में भी समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है।[७] इस प्रकार व्याकरण एक ओर तो भाषा के साधु प्रयोगों का ज्ञान कराता है, दूसरी ओर बाह्य प्रभावों के कारण जिन असाधु प्रयोगों के भाषा में सहज ही आ जाने की सम्भावना है उनका निवारण कर भाषा को संस्कार-च्युत होने से—द्रुत-परिवर्तन से—बचाता है।

भारतवर्ष में व्याकरण का अध्ययन लगभग उतना ही प्राचीन है जितना वेदों का अध्ययन। संस्कृत भाषा के दशाधिक व्याकरण-सम्प्रदाय और शताधिक वैयाकरणों का परिचय हमें संस्कृत के प्राचीन वाङ्मय के अध्ययन से ही मिल सकता है। संस्कृत का व्याकरण केवल संख्या की दृष्टि से ही समृद्ध हो, यह बात नहीं, तात्त्विक दृष्टि से भी उसका उतना ही महत्त्व है और वेदों के आविर्भावकाल के पश्चात् ही व्याकरण के तात्त्विक अध्ययन का प्रारम्भ मानने में भी किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

वेद हमारे प्राचीनतम साहित्य-ग्रन्थ हैं और उनके एक-एक अक्षर को हमने धार्मिक महत्त्व दिया है। वेद-मन्त्र का भ्रष्ट— स्वर और वर्ण से हीन— उच्चारण महान् अनर्थ का कारण हो सकता है। बिना समझे स्वर का उच्चारण ठीक न कर सकने के कारण ऋत्विजों के अपराध से यजमान (वृत्रासुर) मारा गया।[८] इसलिए वैदिक मन्त्रों के स्वरूप की रक्षा के लिए, उनके उच्चारण की शुद्धता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उनके अर्थ के ठीक-ठीक परिज्ञान के लिए वैदिकाल से ही प्रयत्न होने लगे थे, जिसके फलस्वरूप छह वेदाङ्गों[९] का विकास हुआ और वेदों के अध्ययन की पूर्णता के लिए इन वेदाङ्गों का अध्ययन अनिवार्य समझा जाने लगा। इन वेदाङ्गों में 'व्याकरण' स्थान मुख्य है और इसे वेदरूपी पुरुष का मुख माना जाता है।[१०]

व्याकरण के विकास में दो अन्य वेदाङ्गों— 'शिक्षा' और 'निरुक्त' — का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ये तीनों अंग परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। 'शिक्षा' द्वारा वेदों के उच्चारण

---

७. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति।
— महाभाष्यप्रदीप।

८. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।
— पाणिनीयशिक्षा, ५२।

९. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंद-ज्यौतिषम्।

१०. मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

और पाठ में सहायता मिलती है, 'व्याकरण' से शब्द का ज्ञान होता है और 'निरुक्त' उन शब्दों के अर्थज्ञान में सहायक होता है। यदि देखा जाय तो 'शिक्षा' और 'निरुक्त' दोनों ही 'व्याकरण' के पूरक हैं। भाषा के तीनों अंगों— ध्वनि, शब्द और अर्थ— की मीमांसा का सूत्रपात करने के कारण इन तीनों शास्त्रों के उदय के साथ-साथ 'भाषाशास्त्र' की नींव भी वैदिक काल में ही पड़ गई थी।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी व्याकरण के बीज उपलब्ध होते हैं। इसके परवर्ती काल में वेदों की निधि को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए एक ओर शिक्षा-ग्रन्थों का निर्माण हुआ, दूसरी ओर शाकल्य मुनि ने पद-पाठ का क्रम चलाया। 'शिक्षा'-शास्त्र के प्राचीनतम रूप हमें 'प्रातिशाख्यों' में उपलब्ध होते हैं। इन प्रातिशाख्यों में संहिताओं के पाठ से सम्बन्ध रखने वाले समस्त विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। इनमें संहिता-पाठ को पद-पाठ में परिवर्तित करने के लिए उच्चारण, सन्धि-विधान, उदात्तादि स्वर-विधान, समासान्त पदों के विभाजन के नियम,शब्द के प्रत्येक अवयव का पृथक् विश्लेषण, आदि उन सभी नियमों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है, जिसके आधार पर संहिता के पदों को अलग-अलग किया जा सकता है। वस्तुतः संस्कृत भाषा के व्याकरण का श्रीगणेश इन्हीं प्रातिशाख्यों से ही समझना चाहिए। यद्यपि इनमें न प्रकृति-प्रत्यय के विभाग द्वारा शब्दों की साधुता-असाधुता का विवेचन है, न इनकी गणना व्याकरण-ग्रन्थों में ही की जाती है, तथापि इनमें भाषा की इतनी सुन्दर मीमांसा की गई है, पद-पाठ के इतने सूक्ष्म नियम बनाये गये हैं कि वेदों का मूल-पाठ, एक-एक अक्षर, एक-एक स्वर, आज भी उसी रूप में सुरक्षित है जिस रूप में उनका आविर्भाव हुआ होगा। प्रातिशाख्यों के रूप में वैदिक काल में व्याकरण-शास्त्र के उदय और विकास का एक और परिणाम यह हुआ कि आगे आने वाले व्याकरण ग्रन्थों में, इन प्रातिशाख्यों में गृहीत पारिभाषिक शब्द स्वीकार कर लिये गये। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शुक्ल-यजुर्वेद के वाजसनेयी-प्रातिशाख्य से उपधा, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, आम्रेडित आदि कई पारिभाषिक शब्दों को ज्यों का त्यों ले लिया है और कई सूत्रों को भी यत्किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया है। पं० बलदेव उपाध्याय जी के मत से महर्षि पाणिनि माध्यन्दिन संहिता के अनुयायी रहे होंगे, इसीलिए कात्यायन विरचित वाजसनेयी प्रातिशाख्य से उन्होंने बहुत-सी सामग्री अपने ग्रन्थ के लिए संगृहीत की है।[११] व्याकरण की निर्मिति का आदिकाल यही था। यदि इस काल के ग्रन्थ उपलब्ध होते तो हमें उनमें यास्क के बीज ठीक उसी प्रकार मिल जाते, जिस प्रकार पाणिनि के बीज यास्क में पाये जाते हैं।

यास्क का 'निरुक्त' वैदिक शब्दों के संग्रह 'निघण्टु' पर एक विवेचनात्मक कोष है। यह पाँच अध्यायों में विभक्त है। यास्क इन शब्दों को एक-एक करके लेते हैं और

११. वैदिक-साहित्य, पृष्ठ २७५।

जहाँ-जहाँ वेदों में इनका प्रयोग हुआ है, वहाँ से उद्धरण देते जाते हैं। 'निरुक्ति' का अर्थ है 'व्युत्पत्ति'। निरुक्तकार के मत से पत्येक संज्ञा धातुज है, अर्थात् किसी न किसी धातु से प्रत्यय के संयोग से व्युत्पन्न हुई है। यास्क ने अपने मत के समर्थन के लिए शाकटायन, औदुम्बरायण, शाकल्य, शाकपूर्णि आदि कई आचार्यों का उल्लेख किया है। प्रातिशाख्यों के अनुसार शब्दों के चार भेद— नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात[१२]— इन्होंने स्वीकार किये हैं और उनका विस्तृत विवेचन किया है। संस्कृत भाषा का जो विकास इनके निरुक्त में मिलता है, वह पाणिनि की अष्टाध्यायी में व्याख्यात रूप से प्राचीनतर है।

यास्क के पीछे के और पाणिनि के पूर्व के कई ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। अतः इस मध्यकाल में कितने व्याकरण बने, यह अज्ञात है। फिर भी इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस अवधि के बीच कुछ विशिष्ट वैयाकरण अवश्य हुए होंगे। एक विस्तृत एवं समृद्ध परम्परा के अभाव में पाणिनि के सूत्रों की रचना नहीं हो सकती थी। कई पारिभाषिक शब्दों; प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों; समास, कृत्, तद्धित आदि शब्दों का प्रयोग पाणिनि ने इनकी परिभाषा दिये बिना ही किया है। स्पष्ट ही ये पारिभाषिक शब्द पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरणों की देन हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ महाभाष्य के समय तक रहे होंगे, क्योंकि उनके कई उद्धरण पीछे के व्याकरणों में मिलते हैं।

व्याकरण के इतिहास को तीन भागों में बांटा जा सकता है— **क.** पूर्व-पाणिनिकाल, **ख.** पाणिनि-काल और **ग.** उत्तर-पाणिनि-काल। पाणिनि इस परम्परा के केन्द्र-बिन्दु माने जा सकते हैं। अपने पूर्ववर्ती सभी व्याकरण-सम्प्रदायों का मन्थन कर पाणिनि ने जिस 'अष्टाध्यायी' की, रचना की उसी को मूल या उपजीवी मान कर उत्तर काल के व्याकरण की सभी शाखाएँ पल्लवित हुई।

क. पूर्व-पाणिनि-काल— पाणिनि की अष्टाध्यायी में १० वैयाकरणों का उल्लेख है[१३] और पाणिनि से प्राचीन अन्य १३ वैयाकरणों का उल्लेख अन्यत्र मिलता है। बोपदेव ने कुल आठ वैयाकरण गिनाये हैं[१४]— इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशालि, शाकदायन, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र। इनमें उन्होंने पाणिनि को भी गिनाया है और प्रथम स्थान इन्द्र को दिया है। एक वैष्णव ग्रन्थ श्रीतत्त्वविधि में भी ९ व्याकरणों का उल्लेख मिलता है— ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत,

१२. पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।

१३. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास— पृष्ठ ४८ पादटिप्पणी १।

१४. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः।।

आपशल और पाणिनीयक।[१५] इस प्रकार पाणिनिपूर्व वैयाकरणों के नामों में और उनके क्रम के सम्बन्ध में भी, जो निर्देश मिलते हैं उनमें ऐकमत्य नहीं पाया जाता; किन्तु ऐन्द्रव्याकरण को प्राय: सबने प्रमुखता दी है।

भारतीय परम्परा के अनुसार सभी शास्त्रों के प्रणेता ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा ही आदि वैयाकरण हैं। महर्षि शाकटायन के अनुसार ब्रह्मा ने बृहस्पति को व्याकरण का ज्ञान दिया, बृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज ऋषि को, भरद्वाज ने ऋषियों को यह ज्ञान दिया और ऋषियों की परम्परा से यह ज्ञान ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ।[१६] इस प्रकार वैयाकरण-परम्परा में दूसरा नाम बृहस्पति का है। ये बृहस्पति ब्राह्मण-ग्रन्थों और पुराणों के अनुसार देवगुरु भी हैं। वात्स्यायन के अनुसार बृहस्पति ने अर्थशास्त्र की भी रचना की थी। देवराज इन्द्र व्याकरण पढ़ने के लिए बृहस्पति के पास गये और प्रत्येक पद का नियम अलग-अलग सीखते-सीखते उन्हें एक हजार दिव्य-वर्ष बीत गये। फिर भी व्याकरण-शास्त्र समाप्त नहीं हो पाया।[१७] इससे प्रतीत होता है कि तब तक व्याकरण के निश्चित नियमों का निर्माण नहीं हुआ था। शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना नहीं हो पाई थी। इसलिये प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् समझना पड़ता था। 'व्याकरण' शब्द 'वि' और 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से बना है। 'व्याकृ' का अर्थ होता है 'विश्लेषण करना', 'टुकड़े-टुकड़े करना।' इन्द्र के समय तक वाणी अव्याकृत या अखण्ड थी। पद के प्रकृति और प्रत्यय जैसे भेद नहीं किये जाते थे। इससे भाषा का अध्ययन करने में कठिनता होती थी। देवताओं ने इन्द्र से कहा कि इस वाणी के खण्ड कर, इसे प्रकृति और प्रत्यय के रूप में विभक्त कर, हमें समझाइए। इस पर इन्द्र ने बीच से वाणी का विच्छेद कर उसके प्रकृति और प्रत्यय दो अंश पृथक्-पृथक् कर दिये।[१८] सायणाचार्य इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'अव्याकृत' का अर्थ 'अखण्ड-पद' करते हैं और 'व्याकृ' का अर्थ वे लेते हैं वाणी (प्रत्येक शब्द) के दो खण्ड कर, उसमें प्रकृति और प्रत्यय

---

१५. ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्।।

१६. ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्य:, ऋषयो ब्राह्मणेभ्य:। —ऋक्तंत्र १/४।

१७. बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। — महाभाष्य, १-१-१।

दिव्यं वर्षसहस्रमिन्द्रो बृहस्पते: सकाशात् प्रतिपदपाठेन शब्दान् पठन् नान्तं जगामेति। — प्रक्रिया कौमुदी : भाग १, पृष्ठ ७।

१८. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति।..... तमिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। — तैत्तिरीय संहिता ६-४-७।

को पृथक्-पृथक् कर, उसका ठीक-ठीक स्वरूप समझाना।[१९] इन्द्र ने पहले से अव्याकृत रूप में चली आती हुई वाणी को 'व्याकृत'— विच्छिन्न— कर प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार से युक्त बना दिया। व्याकरण-शास्त्र को इन्द्र की यह सबसे बड़ी देन है। इस प्रकार इन्द्र सर्वप्रथम वैयाकरण और ऐन्द्र-सम्प्रदाय प्राचीनतम सम्प्रदाय माना जाता है। ऐन्द्र व्याकरण सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार व्याकरण की रचना में इन्द्र को वायु का सहयोग मिला था।[२०] भारद्वाज बृहस्पति के पुत्र बतलाये जाते हैं। ऋक्तन्त्र के अनुसार इन्होंने इन्द्र से व्याकरण की शिक्षा पाई थी। भागुरि,[२१] पौष्करसादि[२२] का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। चारायण का स्मरण भी महाभाष्य में[२३] पाणिनि और रौढ़ि के साथ किया गया है। काशकृत्स्न का नाम बोपदेव के गिनाए हुए आठ और श्रीतत्त्वविधि में गिनाए गये नौ वैयाकरणों में आता है। महाभाष्य में भी आपिशलि के साथ काशकृत्स्न का उल्लेख है।[२४] काशकृत्स्न-व्याकरण के अनेक सूत्र व्याकरणग्रन्थों में मिलते हैं। वैयाघ्रपाद का नाम तो पाणिनि में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु गर्गादि गण में उन्होंने व्याघ्रपात् पद गिनाया है। उसी से 'यञ्' प्रत्यय के योग से[२५] 'वैयाघपाद' या 'वैयाघ्रपद्य' पद निष्पन्न होता है। माध्यन्दिनि का उल्लेख काशिका की एक कारिका[२६] में है। काशिकाकार के अनुसार रौढ़ि पाणिनि की परम्परा के वैयाकरण हैं। शौनक और गौतम के बारे में विशेष ज्ञात नहीं। व्याडि का नाम भी पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं मिलता; पर हैं ये पाणिनि के पूर्ववर्ती ही। आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में व्याडि के मतों को उद्धृत किया है और वहाँ शाकल्य और गार्ग्य के साथ उनका भी नामोल्लेख है। महाभाष्य में प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि और पाणिनि के अन्तेवासियों के साथ व्याडि के अन्तेवासियों का निर्देश है। व्याडि के नामान्तर दाक्षायण और दाक्षि भी हैं। पाणिनि को दाक्षी-पुत्र कहते हैं। इसलिये व्याडि पाणिनि के मामा होते हैं। वैयाकरण आचार्यों की परम्परा में व्याडि का स्थान बहुत ऊँचा है। इन्द्र से लेकर व्याडि तक इन प्राचीनतम वैयाकरणों का इतना परिचय महाभाष्य, काशिका, कविकल्पद्रुम आदि से उपलब्ध होता है। इनके काल आदि के सम्बन्ध में अनुमान ही अनुमान किया जा सकता है, निश्चित रूप से कह सकना सम्भव नहीं।

---

१९. तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययविभागं सर्वत्राकरोत्।

२०. वाग्वैपराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्वरं वृणै, मह्यं चैव वायवे सह गृह्याता इति।

२१. अष्टाध्यायी ७-३-४५।

२२. अष्टाध्यायी ७-३-२०।

२३. अष्टाध्यायी १-१-७३।

२४. अष्टाध्यायी १-१-७३।

२५. अष्टाध्यायी ४-१-१०५।

२६. अष्टाध्यायी ७-१-९४।

अष्टाध्यायी में जिन १० वैयाकरणों का पाणिनि ने उल्लेख किया है वे सब भी निश्चय ही पाणिनि-पूर्वकालीन हैं। इन सूत्रों से न उनके काल का ही पता चलता है न उनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी ही प्राप्त होती है। आपिशलि वैयाकरण[२७] पाणिनि से सम्भवत: बहुत प्राचीन नहीं रहे हैं। पाणिनि के समय में आपिशल-व्याकरण के अध्यापन के लिए स्थान-स्थान पर शालाएँ थीं, जिन्हें आपिशलिशाला कहते थे। आपिशल-व्याकरण के अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं और अनेक आचार्यों ने आपिशलि को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक आपिशल व्याकरण के कुछ उपलब्ध सूत्रों के आधार पर आपिशल-व्याकरण को पाणिनीय-व्याकरण का प्रधान उपजीव्य मानते हैं।[२८] काश्यप का नाम अष्टाध्यायी में दो बार आया है।[२९] काश्यप-व्याकरण के सूत्रों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अत: इनके व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। पर इनके मत का उल्लेख अवश्य यत्र-तत्र मिलता है। गार्ग्य का नाम अष्टाध्यायी में तीन बार आया है।[३०] गालव का उल्लेख अष्टाध्यायी में चार स्थानों पर है।[३१] अत: गालव का भी कोई व्याकरण रहा होगा। उसकी जानकारी पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति में उद्धृत केवल एक मत से मिलती है।[३२] एक गालव का उल्लेख महाभारत में भी है। वह पांचाल था और उसका गोत्र बाभ्रव्य था। उसने क्रमपाठ और शिक्षा-शास्त्र की रचना की।[३३] अष्टाध्यायी के 'ई चाक्रवर्मणस्य' (६.१.१३०) सूत्र में चाक्रवर्मण का नाम आया है। इसके अतिरिक्त उणादि सूत्रों में भी इनका नाम

---

२७. वा सुप्यापिशले:।। अष्टाध्यायी ६-१-९२।

२८. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ९९-१००।

२९. 'तृषिमृषिकृषे: काश्यपस्य'।।१-२-२५।। और 'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्।'८-४-६७।।

३०. 'अङ् गार्ग्यगालवयो:।।७-३-९९; 'ओतो गार्ग्यस्य'।।८-३-२०।। और टिप्पणी २९ में ८-४-६७।।

३१. 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य।।६-३-६१।।; 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कंपुंवद्गालवस्य'।। ७-१-७४; 'अङ्गार्ग्यगालवयो:'।।७-३-९९।। और टिप्पणी २९ में ८-४-६७।।

३२. इको यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्। दधियत्र, दध्यत्र। मधुवत्र, मध्वत्र। — भाषावृत्ति (६-१-७७)।

३३. पाञ्चालेन क्रम: प्राप्तस्तस्माद् भूतात् सनातनात्।
बाभ्रव्यगोत्र: स बभूव प्रथमं क्रमपारग:।।
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम्।
क्रमं प्रणीयशिक्षां च प्रणयित्वा सगालव:।।
—महाभारत, शान्तिपर्व ३४२/१०३-१०४।

आया है। पर इनके व्याकरण के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। भारद्वाज पद अष्टाध्यायी में दो बार आया है। 'कृकर्णपर्णाद् भारद्वाजे' (४.२.१४५) में 'भारद्वाजे' पद देशवाची है। किन्तु 'ऋतो भारद्वाजस्य' (७.२.६२) में वैयाकरण भारद्वाज के मत की ओर निर्देश है। सम्भव है ये इन्द्र के शिष्य भरद्वाज के ही वंशज हों। भारद्वाज-व्याकरण के सूत्र उपलब्ध नहीं होते। पाणिनि-प्रोक्त वैयाकरणों में शाकटायन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाणिनि से बहुत पूर्व के वाजसनेयि-प्रातिशाख्य और ऋक्प्रातिशाख्य में इनका उल्लेख मिलता है। यास्क ने अपने निरुक्त में शाकटायन का उल्लेख किया है। शाकटायन समस्त संज्ञा शब्दों को धातुमूलक मानते थे।[३४] इन्होने अपने व्याकरण में सम्भवत: सभी शब्दों की व्युत्पत्ति धातुओं से दिखाई थी। इसी कारण इनको वैयाकरणों में श्रेष्ठ माना गया है।[३५] गार्ग्य को छोड़कर अन्य सभी निरुक्तकार नाम शब्दों को आख्यातज ही मानते हैं। इससे ये पाणिनि से बहुत प्राचीन रहे होंगे इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में तीन बार शाकटायन के मत का उल्लेख किया है[३६] और पतञ्जलि शाकटायन[३७] को एक महान् वैयाकरण के रूप में स्वीकार करते हैं। शाकटायन-व्याकरण उपलब्ध नहीं है। अत: उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ कहा नहीं जा सकता। शाकल्य का नाम अष्टाध्यायी में चार बार आया है।[३८] सेनक[३९] और स्फोटायन[४०] के मतों का अष्टाध्यायी में केवल एक बार निर्देश हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके बारे में कुछ ज्ञात नहीं। स्फोटायन सम्भवत: वैयाकरणों के 'स्फोट' वाद के प्रवर्तक रहे हों। इन पाणिनि-प्रोक्त १० वैयाकरणों की रचनाएँ प्राय: सब विलुप्त हैं। अष्टाध्यायी में तथा अन्यत्र इनका उल्लेख होने से इनके महत्त्व का अनुमान किया जा सकता है।

ख. पाणिनि-काल— संस्कृत व्याकरण के इतिहास में पाणिनि की अष्टाध्यायी का एक विशेष महत्त्व है। यह व्याकरण इतना सर्वाङ्गपूर्ण बना कि इसके प्रभाव ने

---

३४. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।।— निरुक्त १/१२।

३५. अनुशाकटायनं वैयाकरणा: (सब वैयाकरण शाकटायन से हीन हैं)।

३६. लङ: शाकटायनस्यैव।।३-४-११।।; व्योर्लघुप्रयत्नतर: शाकटायनस्य।। ८-३-१८।।; त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य।।८-४-५०।।

३७. 'वैयाकरणानां शाकटायनो' .....महाभाष्य—३-२-११५।

३८. 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे'।।१-१-१६।।; 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च'।। ६-१-१२७।। 'लोप: शाकल्यस्य'।।८-३-१९।।; 'सर्वत्र शाकल्यस्य' ।।८-४-५१।।

३९. 'गिरेश्च सेनकस्य'।।५-४-११।।

४०. 'अवङ् स्फोटायनस्य'।।६-१-१२३।।

वैदिकोत्तर काल के अन्य सभी व्याकरण ग्रन्थों को अस्त कर दिया तथा नये व्याकरण भी उसकी दीप्ति में अपनी सारी चमक खो बैठे। यही कारण है कि पाणिनि से प्राचीन कोई भी व्याकरण-शास्त्र आज उपलब्ध नहीं है। पाणिनि के पश्चात् भी वे ही वैयाकरण विशेष ख्याति पा सके, जो पाणिनि के ही सूत्रों के व्याख्याता अथवा भाष्यकार होकर सामने आये— स्वतन्त्र व्याकरणों के निर्माण के रूप में नहीं। पाणिनि के सूत्रों की प्रतिष्ठा उसके लगभग दो-तीन सौ वर्षों के भीतर ही हो चुकी होगी। इसी से कात्यायन और पतञ्जलि जैसे वार्तिककार और भाष्यकार उन्हें प्राप्त हो सके।

पाणिनि तक आते-आते इस लोक-भाषा का पर्याप्त विकास हो गया था— वह छन्दस् से पृथक् हो चली थी। जिस भाषा का व्याकरण पाणिनि ने लिखा, वह 'मध्यदेश' में बोली जाने वाली एक जीवन्त सुसंस्कृत भाषा थी और उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। मध्यदेश की भाषा को प्रामाणिक मानकर उन्होंने 'प्राचां' तथा 'उदीचां' शब्दों के द्वारा भारत के पूर्वी-देशों और उत्तरी-देशों में बोले जाने वाले प्रयोगों के अन्तर को भी स्पष्ट किया है। पाणिनि ने स्वयं भी इस बोली की 'भाषा' ही कहा है और यह 'भाषा' शब्द ही यह सिद्ध करता है कि पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण लिखा है वह एक व्यापक लोक-व्यवहार में काम आने वाली भाषा थी।[४१]

पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना करने के लिए उसी भाषा को ग्रहण किया, जो उस समय समस्त भारतीयों के अभिजात वर्ग की बोलचाल की भाषा थी— ठीक उसी रूप में जिस रूप में आज खड़ी बोली हिन्दी उत्तरी भारत शिष्ट जन भाषा है। व्याकरण रचना के पूर्व पाणिनि ने संस्कृत-साहित्य से तथा लोक-जीवन से शब्दों का संग्रह किया, देशभेद से उन शब्दों के रूपान्तरों को भी ध्यान में रखा और नित्य के प्रयोग में आने वाले शब्दों एवं मुहावरों का संकलन किया। लोक-जीवन का कोई भी क्षेत्र, कोई भी कोना उन्होंने अछूता न छोड़ा। इस प्रकार शब्दो का विशाल संग्रह कर उनका विश्लेषण-वर्गीकरण करने के उपरान्त उन्होंने शब्दों की 'साधुता' और 'असाधुता' का निर्णय किया। उनका काम अपने मनगढ़न्त नियम बनाकर शब्दों का नियमन करना नहीं था, अपितु प्रयोग में आने वाले शब्दों की साधुता को सिद्ध करना और उनकी साधुता को स्थायी रखने के लिए नियम बनाना था। पाणिनि-पूर्व वैयाकरणों ने थोड़े से शब्दों को ही लेकर उनके आधार पर 'शब्दशासन' करने का— भाषा को नियमों में बांधने का— प्रयत्न किया था। व्यापक भाषा के सभी शब्दों ने उन नियमों के भीतर रहना स्वीकार नहीं किया। पर पाणिनि ने भाषा के इस विस्तृत क्षेत्र के भीतर आने वाले सभी शब्दों को 'साधु' स्वीकार कर लिया और उनकी साधुता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए नियम बनाए और उनके आधार पर 'शब्दानुशासन' किया। अथक् परिश्रम से अपरिमित सामग्री का संचय कर, विलक्षण बुद्धि और अपूर्व प्रतिभा से उन

४१. वाल्मीकि रामायण— सुन्दरकांड (५-१४)।

शब्दों का विश्लेषण (वि+आ+कृ) कर, नियमों को सूत्रबद्ध एवं व्यवस्थित कर पाणिनि ने जिस व्याकरणशास्त्र को जन्म दिया, उसने संस्कृत को सदा के लिए 'अमर' कर दिया। पाणिनि की अष्टाध्यायी इतना सर्वाङ्गीण और प्रामाणिक ग्रन्थ है कि विश्व की किसी भी भाषा में आज तक ऐसा व्याकरण नहीं लिखा गया। इसीलिए क्या प्राच्य क्या पाश्चात्य सभी विद्वान् इस ग्रन्थ की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि ''संस्कृत व्याकरण मानव-मस्तिष्क की प्रतिभा का अद्भुत नमूना है।'' (मोनियर विलियम्स); ''पाणिनि का व्याकरण विश्व के समस्त व्याकरणों में श्रेष्ठ है..... यह मानव-मस्तिष्क का महत्तम आविष्कार है'' (विलियम हण्टर) आदि। इतने महान् वैयाकरण के जन्मस्थान, जन्म समय, जीवनचरित आदि के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है, न यह सब जानने का कोई साधन ही है।

इनका लोकप्रसिद्ध नाम 'पाणिनि' है। कात्यायन और पतञ्जलि ने 'पाणिनि' नाम का ही प्रयोग किया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इनके पूर्व पुरुष 'पणिन्' थे। पणिन् के गोत्र में होने के कारण, इनके पिता का नाम 'पाणिन' था और पाणिन के पुत्र हुए 'पाणिनि'।[४२] परम्परा 'महेश्वर' (शिव) को पाणिनि का गुरु मानती है। आचार्य 'वर्ष' से जो शिक्षा उन्हें प्राप्त हुई, उससे सन्तुष्ट न होकर उन्होंने भगवान् शङ्कर की उपासना की और उन्हीं को प्रसन्न कर चौदह 'माहेश्वर सूत्र' प्राप्त किये, जिन पर उनकी सारी अष्टाध्यायी की नींव स्थित है। शिव उनके गुरु रहे हों चाहे न रहे हों, महेश्वर की उपासना उनकी उस अपार साधना की प्रतीक अवश्य है, जिसकी ओर पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में सङ्केत किया है।[४३] पतञ्जलि के अनुसार तो वे अत्यन्त मेधावी और प्रतिभासम्पन्न थे। राजशेखर के अनुसार पाटलिपुत्र में उस युग में विद्वानों की परीक्षा हुआ करती थी। पाणिनि ने ऐसी ही एक परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ख्याति प्राप्त की थी।[४४] 'उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्' (महाभाष्य—३/२/१०८), 'अनूषितवान् कौत्सः पाणिनिम्' और 'उपशुश्रूषितवान् कौत्सः पाणिनिम्' (काशिका) — इन उदाहरणों से पाणिनि के 'कौत्स' नामक किसी शिष्य की ओर सङ्केत होता है। निस्सन्देह ये 'कौत्स' रघुवंश के वरतन्तु-शिष्य कौत्स से भिन्न रहे होंगे। पतञ्जलि ने पाणिनि के अनेक शिष्यों का होना बतलाया है।

---

४२. पऽणोऽस्यास्तीति पणिन्। तस्यापत्यं पुमान् इति अण् पाणिनः। पाणिनस्यापत्यं युवा इति पाणिनिः।

४३. प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।।— महाभाष्य १-१-१।

४४. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः।
वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः।। — काव्यमीमांसा—अध्याय१०.

अष्टाध्यायी पाणिनि की प्रमुख रचना है और लौकिक संस्कृत का पहला व्याकरण भी। पाणिनि से पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में प्रातिशाख्यों ने व्याकरण रचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया था और ऐन्द्र, चान्द्र आदि व्याकरणों की रचना भी हो चुकी थी; किन्तु ये व्याकरण छन्दस् से अधिक सम्बन्ध रखते थे। सूत्रबद्ध रचनाएँ भी पाणिनि के पूर्व अवश्य रही होगी। स्वयं पाणिनि ने भिक्षुसूत्र और नटसूत्र के कर्ता पाराशर्य और शिलालि का उल्लेख किया है।[४५] पाणिनि की अष्टाध्यायी में व्याकरण परम्परा और सूत्र-परम्परा दोनों का चरम विकास देखा जाता है। व्याकरण की दृष्टि से अष्टाध्यायी इतनी सर्वाङ्गीण कृति सिद्ध हुई कि उसके नियम-निर्देश और निष्पत्तियाँ आज ढाई हजार वर्ष से प्रामाणिक मानी जा रही हैं। व्याकरण के नियमों को सूत्रबद्ध करने की परम्परा भी पाणिनि से ही प्रारम्भ हुई। इसीलिए पाणिनि को 'सूत्रकार' भी कहते हैं। पाणिनि ने सूत्र इतने सुगठित है कि उनमें एक अक्षर क्या एक मात्रा का भी हेरफेर करना सम्भव नहीं। यही कारण है कि इतने दीर्घकाल के पश्चात् भी ये सूत्र गुरु-शिष्य परम्परा से अपने विशुद्ध रूप में ही हमारे सामने आते हैं— संस्कृत के अन्य ग्रन्थों की भाँति इनमें पाठान्तर नहीं मिलते। पाणिनि की अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय के चार-चार चरण (पाद) और प्रत्येक पाद के सूत्रों की संख्या अलग-अलग है। चौदह प्रत्याहार सूत्रों को मिलाकर अष्टाध्यायी की सूत्र संख्या ३९९५ है।[४६] अष्टाध्यायी की आधारशिला है चौदह 'माहेश्वर सूत्र' या 'प्रत्याहार सूत्र'[४७] और इन्हीं पर पाणिनि ने व्याकरण का दृढ़ प्रासाद खड़ा किया है। इन प्रत्याहार-सूत्रों के अतिरिक्त भी पाणिनि ने समस्त अष्टाध्यायी में प्रत्याहारों का प्रयोग किया है। किसी अक्षर-समुदाय या प्रत्यय-समुदाय के आदि और अन्त्य अक्षर को जोड़कर प्रत्याहार बनता है और वह उन अक्षरों के बीच के समस्त अक्षरों या प्रत्ययों का अपने में समाहार कर लेता है। पाणिनि ने अपने सूत्रों को कुछ अधिकरणों (प्रकरणों) में बाँट दिया है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद का तेइसवाँ सूत्र है 'कारके'। यहाँ से कारक प्रकरण प्रारम्भ होता है और जब तक यह प्रकरण चलता रहता है तब तक सूत्रों में 'कारक' शब्द की आवृत्ति नहीं होगी। उपर्युक्त प्रकरण में अगला ही सूत्र है 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (१.४.२४)। इसमें 'कारक' शब्द की 'अनुवृत्ति' होने से इसका अर्थ हो जाता है, 'अपाये ध्रुवं कारकं अपादानं स्यात्'। इस प्रकार 'प्रकरणों' के कारण 'अनुवृत्ति' से सूत्रों को संक्षिप्त करने में अत्यन्त सहायता मिली है। जो शब्द अनुवृत्ति से प्राप्त हो जाते हैं, उन्हें सूत्र में स्थान नहीं दिया गया है। अष्टाध्यायी की

४५. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। —अष्टाध्यायी, ४-३-११०।।

४६. चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्णिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह।।
(स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका) पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २७।

४७. अइउण्, ऐऔच्—आदि।

एक और विशेषता है उनका 'गणपाठ'। जिन शब्दों का परस्पर किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं, जो शब्द सामान्यरूपेण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, उन कुत्ता, युवक और इन्द्र तक को व्याकरण के एक नियम के अन्तर्गत लाकर एक सूत्र में बाँधना पाणिनि की ही प्रतिभा और सामर्थ्य का काम है।[४८]

पाणिनि ने ही सबसे पहिले यह प्रतिपादित किया कि भाषा का चरम अवयव वाक्य है शब्द नहीं। नियत अर्थमात्र द्योतित करने वाले शब्दों (प्रातिपदिकों) से ही भाषा नहीं बन जाती। वाक्य में प्रयुक्त होने की योग्यता के बिना इन प्रातिपदिकों का कोई मूल्य नहीं है। वाक्य में प्रयोग होने की योग्यता इन्हें तब मिलती है, जब 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्ययों के योग से इन्हें 'पद' संज्ञा मिल जाती है। इस प्रकार 'पद' को महत्त्व देकर इन्होंने प्रकारान्तर से भाषा में वाक्य का महत्त्व स्वीकार किया। प्रातिशाख्यों ने शब्दों के चार भेद किये थे— नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। पाणिनि ने समस्त शब्दों को तीन भागों में बाँट दिया— सुबन्त, तिङन्त और अव्यय। शब्दों की धातुमूलकता को पाणिनि ने स्वीकार ही नहीं किया है बल्कि उपसर्ग और प्रत्ययों के संयोग से अनेक एकाक्षर धातुओं की सहायता से शब्दों की सिद्धि भी की है। स्थान और प्रयत्न के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण व्याकरण-शास्त्र को पाणिनि की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है। विश्व की किसी भी भाषा में ध्वनियों का इतना अध्ययन नहीं किया गया, न उनका इतना सुन्दर वैज्ञानिक क्रम ही स्थापित किया गया है। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त पाणिनि के द्वारा रचे गये और भी ग्रन्थ बतलाए जाते हैं। इनमें से 'धातुपाठ', 'गणपाठ', 'उणादिसूत्र' और 'लिंगानुशासन' ये चार ग्रन्थ प्रसिद्ध है। और इनकी रचना सम्भवत: अष्टाध्यायी के पूरक ग्रन्थों के रूप में की गई है। पाणिनि की तिथि का प्रश्न भी अभी तक हल नहीं हो पाया है। अष्टाध्यायी में 'श्रमण'[४९] शब्द का उल्लेख पाकर, एक विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि 'श्रमण' शब्द बौद्ध भिक्षु के लिए ही प्रयुक्त होता है। अत: पाणिनि बुद्ध के उत्तरकाल में हुए होंगे। पर 'श्रमण' शब्द का प्रयोग 'परिव्राट्' या 'संन्यासी' के अर्थ में बौद्धकाल से पहले भी होता रहा है और संन्यास की प्रथा भी भारत में बुद्ध से बहुत प्राचीन हैं। अष्टाध्यायी में इस श्रमण शब्द के अतिरिक्त और कोई सङ्केत ऐसा नहीं मिलता, जिससे 'बौद्धयुग' के प्रभाव की प्रतीति हो। इसी प्रकार अष्टाध्यायी के 'यवन'[५०] शब्द को देखकर पाणिनि को सिकन्दर का उत्तरवर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारतवासी यवन जाति से अपरिचित थे। यवन

४८. श्वयुवमघोनामतद्धिते।।६-४-१३३।।

४९. कुमारश्रमणादिभि:।।अष्टा०—२-१-७०।।

५०. इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक्। अष्टा०४-१-४९।।

के नामोल्लेख के अतिरिक्त पाणिनिकालीन भारत में यूनानियों के प्रभाव का कहीं लेशमात्र भी पता नहीं चलता। अपने व्याकरण की सामग्री का संग्रह करने के लिए पाणिनि ने जीवन का कोई भी कोना अछूता नहीं छोड़ा था। यदि उनके समय में भारत में यूनानियों का या बौद्धों का कुछ भी प्रभाव होता तो वे अवश्य ही उसका उल्लेख करते। 'श्रमण' और 'यवन' शब्दों को आधार बनाकर वेबर और मैक्समूलर पाणिनि को ३५० ई०पू० के लगभग मानते हैं। डॉ० पीटर्सन वैयाकरण पाणिनि और 'जाम्बवती-विजय' अथवा 'पाताल-विजय' नामक काव्य के रचयिता कवि पाणिनि को अभिन्न मानकर उन्हें ईस्वी सन् के आरम्भिक काल में सिद्ध करते हैं। पिशेल इस अभेद को तो स्वीकार करते हैं, पर उनका समय ईस्वी पूर्व ५०० मानते हैं। किन्तु ई०पू० दूसरी शती में पतञ्जलि ने पाणिनि के सूत्रों पर महाभाष्य लिख लिया था। इससे भी तीन चार सौ वर्ष पूर्व पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन भाष्य और वार्तिक लिख चुके थे। पाणिनि के समय से कात्यायन के समय तक संस्कृत शिष्ट-जन-प्रयुक्त और लोक-व्यवहार की भाषा बनी रही। पाणिनीय व्याकरण के द्वारा अनुशासित होने पर भी पाणिनि के समय से लेकर कात्यायन के समय तक भाषा में जो परिवर्तन हुआ उसमें कम से कम तीन-चार शतियाँ तो अवश्य अपेक्षित हैं। इसलिए पाणिनि को ई०पू० ८०० के पश्चात् तो किसी भी दशा में नहीं रखा जा सकता। पं० बलदेव उपाध्याय जी कहते है "डाक्टर गोल्डस्टुकर तथा भाण्डारकर ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पाणिनि बुद्ध के पहिले ही हो गये हैं और इनका समय कम से कम ईसा से ७०० वर्ष पूर्व है।"[५१] गोल्डस्टुकर तो यहाँ तक कहते हैं कि ऋक्, साम तथा कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं तथा वैयक्तिक लेखकों में यास्क से इतर समस्त संस्कृत साहित्य पाणिनि का उत्तरकालीन है। फलतः हम ई०पू० ७०० को पाणिनि की उत्तर सीमा मात्र स्वीकार कर सकते हैं।

पाणिनिकालीन अन्य वैयाकरण— पाणिनि समकालीन वैयाकरणों में पाणिनि के मामा दाक्षायण व्याडि का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कथासरित्सागर के अनुसार वे पाणिनि के सहपाठी भी थे। इन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी की व्याख्या के रूप में 'संग्रह' नामक एक महाकाय ग्रन्थ रचा था जिसकी प्रशंसा महाभाष्यकार पतञ्जलि तक ने की है— **"शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः"** और महाभाष्य में इसके कतिपय उदाहरण दिये है। यह संग्रह एक लाख श्लोकों का एक विशाल ग्रन्थ था, ऐसी प्रसिद्धि है।[५२] 'दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटु' कवि और मीमांसक व्याडि का उल्लेख

५१. सं०सा०इति०, पृष्ठ १३४।

५२. (क) इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रन्थपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्— (वाक्यपदीयटीका)।

(ख) संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः। सं०व्या०इति०, पृष्ठ २०१।

समुद्रगुप्त ने अपने कृष्णचरित में किया है।[५३] व्याडि पाणिनिकाल के प्रसिद्ध वैयाकरण थे। पाणिनि के समय में 'आपिशलि शाला' के समान 'व्याडि-शाला' भी प्रसिद्ध हो गई थी।[५४] युधिष्ठिर मीमांसक जी के अनुसार व्याडि रचित एक व्याकरण ग्रन्थ भी था, जिसमें दस अध्याय थे। सम्भव है पाणिनि की अष्टाध्यायी की रचना के उपरान्त व्याडि ने उसी का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया हो और उसी की व्याख्या के रूप में 'संग्रह' की रचना की हो। पर विशालकाय होने के कारण यह ग्रन्थ सूत्रबद्ध अष्टाध्यायी के सामने टिक न सका और क्रमशः लुप्त हो गया। आज पतञ्जलि के महाभाष्य में इस ग्रन्थ के कतिपय उद्धरण मात्र यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार पाणिनि की प्रतिभा के प्रखर प्रकाश ने अपने पूर्वकालीन वैयाकरणों का ही नहीं वरन् अपने समकालीन वैयाकरणों का तेज भी मन्द कर दिया।

ग. उत्तर-पाणिनि काल— पाणिनि के व्याकरण के प्रसार और प्रचार ने अन्य व्याकरण-सम्प्रदायों को प्रायः विलुप्त कर दिया। पाणिनि के उत्तरकालीन वैयाकरण या तो पाणिनि के आधार पर व्याकरण रचना करते थे, या, उनके टीकाकार थे, या, अष्टाध्यायी के ही सूत्रों को प्रकरणबद्ध करने वाले थे, या पाणिनि के अनुकरण पर अवलम्बित थे। जिन्होंने पाणिनि से भिन्न पथ का अवलम्बन किया, वे अत्यन्त सामान्य कोटि के वैयाकरण थे। जिस व्याकरण का बीज वैदिककाल में 'पदपाठ' के रूप में बोया गया था, वह पाणिनि की अष्टाध्यायी में अपने विकास की उस चरम सीमा को प्राप्त हो गया था कि उसके पश्चात् अन्य वैयाकरणों के लिये शतियों पीछे तक कुछ भी कहने के लिए नहीं रह गया और पाणिनि इस क्षेत्र के एकछत्र सम्राट् रह गये।

उत्तर-पाणिनि काल को हम सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित करते है— **अ.** पाणिनि-सम्प्रदाय, **इ.** पाणिनीतर सम्प्रदाय, और **उ.** प्राकृत-अपभ्रंश-परम्परा।

अ. पाणिनि सम्प्रदाय— पाणिनि-सम्प्रदाय के भीतर उन सभी वैयाकरणों को लिया जा सकता है, जिन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी को ही उपजीव्य माना। इनमें भी दो प्रकार के वैयाकरण थे— एक तो वे थे जिन्होंने अष्टाध्यायी की समीक्षा करते हुए उस पर वार्तिक लिखे, अथवा उसके सूत्रों की व्याख्या कर उसके अध्यापन को उत्तरोत्तर सरल बनाने की चेष्टा की; दूसरे वे थे जिन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रकरणबद्ध कर दिया। **(१) वार्तिककार कात्यायन**— पाणिनि की अष्टाध्यायी ने भाषा (संस्कृत) की परिवर्तनशीलता पर एक अंकुश लगा दिया था। परिवर्तन की गति शिथिल अवश्य हो गई थी, तथापि परिवर्तन स्वाभाविक ही था। पाणिनि के लगभग ४-५ शती पश्चात्

---

५३. रसाचार्यः कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मकवाङ्मुनिः।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसाग्रणिः।। (सं०व्या०इति०, पृष्ठ १९८)।

५४. वही, पृष्ठ १९८।

यह परिवर्तन दिखलाई पड़ने लगा था। भाषा में कुछ नये प्रयोग अनजान में सहज ही प्रवेश कर गये थे, कुछ पुराने प्रयोग व्यवहार से उठ गये थे और कुछ में पाणिनि-काल की अपेक्षा रूपान्तर हो गया था। अष्टाध्यायी के सूत्रों में अपनी ओर से संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन करते हुए उन्होंने नये नियम बनाए और इन्हें "वार्तिक" कहा। ये वार्तिक कहीं गद्य में है, कहीं पद्य में; कहीं उन्होंने पाणिनि के सूत्रों को अनावश्यक बतला दिया है, कहीं उनमें संशोधन कर दिया है और कहीं अपनी ओर से नियम बनाए है। जिस ग्रन्थ में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों पर विचार-विमर्श हो, वह 'वार्तिक' कहलाता है। इन वार्तिकों में कहीं पाणिनि के बताए हुए (उक्त) नियमों के अपवाद हैं, कहीं ऐसे नये नियमों का विधान किया गया है जिनके बारे में पाणिनि के सूत्रों में कुछ भी नहीं कहा गया है (अनुक्त) और कहीं पाणिनि के नियम ठीक बैठते ही नहीं (दुरुक्त)। इस प्रकार ये वार्तिक सूत्रों के संशोधन या अपवादस्वरूप हैं। कात्यायन ने अपने वार्तिकों के द्वारा पाणिनि-काल से अपने काल तक होने वाले भाषा के परिवर्तनों को नियमित कर अष्टाध्यायी के सूत्रों की पूर्ति ही नहीं की प्रत्युत अष्टाध्यायी के अध्ययन को सरल बनाने का भी प्रयत्न किया। आज उनके वार्तिकों की मौलिकता और मान्यता पाणिनि के सूत्रों से कम नहीं है और अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए इन वार्तिकों का अध्ययन आवश्यक समझा जाता है।

कात्यायन के वार्तिक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध नहीं हैं, अत: नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रमाण क्या रहा होगा? पतञ्जलि का महाभाष्य इन्हीं वार्तिकों पर आश्रित है; परन्तु उससे भी कात्यायन के वार्तिकों की संख्या ठीक-ठीक नहीं ज्ञात हो सकती है, क्योंकि उसमें और भी कई वार्तिक है, जिनके कर्ताओं के नाम पतञ्जलि ने नहीं दिये हैं। कात्यायन पाणिनि से इतर किसी सम्प्रदाय के वैयाकरण थे। पाणिनि का खण्डन करते समय वे पाणिनीय पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। पाणिनि के 'अच्', 'हल्' और 'अक्' प्रत्याहारों के स्थान पर वे 'स्वर', 'व्यञ्जन' और 'समानाक्षर' शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार 'लृट्', 'लुङ्' आदि के स्थान पर वे 'भवन्ती', 'अद्यतनी' आदि का प्रयोग करते हैं। सम्भवत: वे 'ऐन्द्र'-सम्पदाय के थे। कथासरित्सागर से भी इस बात की पुष्टि होती है। कात्यायन का एक नाम वररुचि भी प्रसिद्ध हैं। वररुचि-रचित किसी काव्य की ओर महाभाष्य में सङ्केत पाया जाता है।[५५] 'प्राकृत-प्रकाश नामक प्राकृत के अति प्राचीन व्याकरण के रचयिता भी कोई वररुचि हो गये हैं।'[५६] श्री पं० बलदेव उपाध्याय जी का अनुमान है कि कवि वररुचि तथा वार्तिककार कात्यायन दोनों एक ही व्यक्ति हैं।[५७]

---

५५. वाररुचं काव्यम्।।४-३-१०१।। ५६. सं०सा०इति०, पृष्ठ १३५।
५७. वही, पृष्ठ १३५।

कात्यायन के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। कात्यायन के कई नामान्तर मिलते हैं जिनमें से कात्य, कात्यायन और वररुचि प्रसिद्ध हैं। कात्यायन का समय तो और भी अनिश्चित हैं। कथासरित्सागर का कर्ता कात्यायन और पाणिनि को समकालीन ही नहीं प्रत्युत कात्यायन को पाणिनि से आयु में ज्येष्ठ भी बतलाया हैं। किन्तु वार्तिकों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कात्यायन के समय तक पाणिनिकालीन भाषा-प्रयोगों में कई परिवर्तन हो चुके थे। इस परिवर्तन में कम से कम ३-४ शतियाँ अवश्य लग गई होंगी। विक्रम पूर्व ८वीं शती की पाणिनि की उत्तर-सीमा स्वीकार करने पर कात्यायन की उत्तर सीमा अधिक से अधिक वि०पू० ५वीं शती माननी होगी। पं० बलदेव उपाध्याय जी के अनुसार वार्तिकों की रचना ई०पू० चतुर्थ शतक में हुई।[५८] किन्तु म०म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मत से कात्यायन पतञ्जलि (वि०पू० २ शती) से ५०० वर्ष पूर्व, अर्थात् वि०सं० ७वीं शती में रहे होंगे।

अष्टाध्यायी पर अनेक वार्तिक लिखे गये। सम्भव है कात्यायन के पूर्व भी पाणिनि के कुछ वार्तिककार हुए हों। पर कात्यायन के वार्तिकों की वर्तिका के प्रकाश में सबकी ज्योति मन्द पड़ गई। कात्यायन के पश्चात् भी अनेक वार्तिककार हुए। अष्टाध्यायी पर रचे गये भारद्वाजीय वार्तिकों का उल्लेख महाभाष्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। इन भारद्वाज के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। सम्भवत: पाणिनि-पूर्व भरद्वार के ही वंशज हों। तीसरे वार्तिककार है सुनाग या सौनाग। कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' (२.२.१८) के अनुसार इनके वार्तिक कात्यायन से अर्वाचीन एवं कात्यायनीय वार्तिकों की अपेक्षा विस्तृत हैं।[५९] क्रोष्टा और वाडव अथ्वा कुरण वाडव के वार्तिकों का उल्लेख महाभाष्य में केवल एक-एक स्थान पर मिलता है।[६०] पतञ्जलि ने व्याघ्रभूति का उल्लेख नहीं किया है; पर महाभाष्य में उद्धृत एक श्लोक-वार्तिक को कैयट व्याघ्रभूति का बतलाते हैं।[६१] पतञ्जलि ने 'सौर्य' कृत वार्तिकों का उल्लेख अत्यन्त आदर से 'सौर्यभगवता उक्तम्' के रूप में किया है।[६२] वैयाघ्रपद्य का नाम पतञ्जलि ने कई बार लिया है। पाणिनिपूर्व वैयाकरण वैयाघ्रपद्य का उल्लेख पहले हो चुका है। भट्टोजिदीक्षित ने काशिका (८.२.१) में उद्धृत एक श्लोक को वैयाघ्रपद्य का बतलाया है। पर महाभाष्य में यह श्लोक नहीं है। सम्भव है यह श्लोक वैयाघ्रपदीय व्याकरण का ही हो और अष्टाध्यायी के ८.२.१ सूत्र से संगत होने के कारण भ्रम से यहाँ वार्तिक रूप में जोड़

---

५८. वै०सा०, पृष्ठ ३१०।

५९. कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।
सं०व्या०इति०, पृष्ठ २२०-टिप्पणी ३।

६०. सं० व्या०इति०, पृष्ठ २२१, २२२।

६१. सं० व्या०इति०, पृष्ठ २२२। ६२. वही, पृष्ठ २६६।

दिया गया हो। महाभाष्य में लगभग २५० श्लोकबद्ध वार्तिक भी उद्धृत हैं। इनमें से कुछ कारिकाएँ पतञ्जलि की हैं, कुछ कात्यायन की और शेष अन्य अज्ञात वैयाकरणों की।

(२) महाभाष्यकार पतञ्जलि— पाणिनि के समय से कात्यायन के समय तक शिष्ट भाषा में जो परिवर्तन हो गये थे, उनका परिचय हमें कात्यायन के वार्तिकों से मिलता है। पाणिनि के सूत्रों को सदोष बतलाते हुए कात्यायन ने अपने वार्तिकों द्वारा लोकव्यवहार में प्रचलित उन शब्दों की साधुता सिद्ध कर दी, जिनका प्रयोग पाणिनि के समय में नहीं होता था। पर कात्यायन ने जिसे पाणिनि की भूल बतलाया, वह भाषा पर समय का प्रभाव मात्र था। इस बात को ठीक से समझ सके पतञ्जलि और कात्यायन से लगभग ३-४ शती पीछे उन्होंने इस भूल का परिमार्जन किया। पाणिनीय व्याकरण पर 'महाभाष्य' उनकी एक महान् रचना है, जिसमें उन्होंने कात्यायन के आक्षेपों का खण्डन कर पाणिनि के मतों की प्रतिष्ठा की है। दुर्भाग्यवश पतञ्जलि के जीवनचरित के सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं होती। पतञ्जलि के महाभाष्य (१.४.५१) में 'उभयथा गोणिकापुत्र इति' वाक्य में गोणिका-पुत्र के एक मत की ओर निर्देश किया गया है। नागेश 'गोणिकापुत्र भाष्यकार इत्याहु:'[६३] द्वारा पतञ्जलि को ही गोणिकापुत्र कहते हैं। यदि गोणिकापुत्र को पतञ्जलि का पर्याय स्वीकार कर लिया जाय तो सम्भवत: इनकी माता का नाम गोणिका रहा होगा। इसी प्रकार महाभाष्य में कई स्थलों पर 'गोनर्दीयस्त्वाह' (१.१.२१), 'एतद् गोनर्दीयस्य'(३.१.९२) वाक्यों में गोनर्दीय के मतों का उल्लेख किया गया है। वैजयन्ती कोष में गोनर्दीय शब्द पतञ्जलि का पर्याय है।[६४] कैयट और राजशेखर भी गोनर्दीय को पतञ्जलि का नामान्तर मानते हैं।[६५]

पतञ्जलि का 'महाभाष्य' अष्टाध्यायी की एक विस्तृत व्याख्या है। अष्टाध्यायी के समान ही महाभाष्य में भी आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में चार पाद और प्रत्येक पाद को सूत्रों के बदले 'आह्निकों में विभक्त किया गया है। महाभाष्य में पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती कतिपय वैयाकरणों का उल्लेख किया है। 'संग्रह'-कार 'व्याडि' से तो उन्होंने पर्याप्त सहायता ली है। महाभाष्य के अध्ययन से एक ओर तो यह पता चलता है कि पतञ्जलि कितने बहुश्रुत थे, दूसरी ओर व्याकरण जैसे शुष्क विषय के प्रतिपादन में उनकी अत्यन्त सरल एवं रम्यशैली के दर्शन होते हैं। व्याकरण का ग्रन्थ होने पर भी महाभाष्य एक विश्वकोष है, जिसमें तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक तथा साहित्यिक तथ्यों का लेखा है। वर्णन शैली प्रौढ़ एवं प्रवाहशील है।

---

६३. सं० व्या०इति०, पृष्ठ २३५—टिप्पणी २।

६४. गोनर्दीय: पंतजलि: — वही, पृष्ठ २२५—टिप्पणी ३।

६५. वही, पृष्ठ २२५ — टिप्पणी १-२।

महाभाष्य के अतिरिक्त 'पातञ्जल-योगसूत्र' और 'महानन्द-काव्य' के कर्ता के रूप में भी पतञ्जलि प्रख्यात है। महाभाष्य में उपलब्ध सामग्री के आधार पर पतञ्जलि का काल निर्माण अपेक्षाकृत सरल कहा जा सकता है। एक स्थान पर मौर्यों का उल्लेख भूतकाल में है।[६६] इससे स्पष्ट है कि पतञ्जलि मौर्य राज्य के अनन्तर रहे होंगे और महानन्द काव्य को यदि पतञ्जलि की कृति मानने में कोई आपत्ति न हो तो भी वे महानन्द के उत्तरवर्ती ही हो सकते हैं। पतञ्जलि शुंगवंशी राजा पुष्यमित्र के समकालीन थे। पतञ्जलि के अन्य दो उदाहरणों से इस बात की पुष्टि हो जाती है— इह पुष्यमित्रं याजयामः। (३.२.१२३); पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। (३.१.२६)। इन उदाहरणों में 'याजयामः' (यज्ञ कराते हैं), 'यजते' (यज्ञ करता है) और 'याजयन्ति' (यज्ञ कराते हैं) का वर्तमान काल में प्रयोग पुष्यमित्र और पतञ्जलि की समकालिकता सूचित करता है। म०म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने बिना किसी ऊहापोह के ई०पू० दूसरी शती को ही पतञ्जलि का समय स्वीकार कर लिया है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी द्वारा व्याकरण के विशाल भव्य पासाद का निर्माण किया। कात्यायन ने उस प्रासाद की न्यूनताओं और अभावों की पूर्ति के बहुमूल्य सुझाव देकर उसे सुन्दरतर बनाने का प्रयत्न किया। कात्यायन के ही सुझावों का लाभ उठाकर पतञ्जलि ने अपनी असामान्य प्रतिभा से उस प्रासाद को चमका कर उसे सुन्दरतम बना दिया। पाणिनि और पतञ्जलि के बीच अनेक वैयाकरण हुए; किन्तु पाणिनि के अध्ययन की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय इन्हीं दोनों महर्षियों को ही है। इन्हीं के प्रयत्न से संस्कृत का व्याकरण विकसित होकर संसार में सर्वश्रेष्ठ स्थान पा सका। यही कारण है कि व्याकरण के ये तीनों आधारस्तम्भ 'मुनित्रय' के नाम से अभिहित हैं। आज के वैयाकरण 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' कह कर इन तीनों में पतञ्जलि को प्रमुख स्थान देते है— जहाँ पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के मतों में परस्पर विरोध पाया जाता है, वहाँ पतञ्जलि का मत पाणिनि और कात्यायन की अपेक्षा प्रामाणिक माना जाता है।

(३) पाणिनि-शाखा के अन्य वैयाकरण— पतञ्जलि के पश्चात् पाणिनि-शाखा के वैयाकरणों को दो कोटियों में रखा जा सकता है— एक तो वे, जिन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी, कात्यायन के वार्तिकपाठ और पतञ्जलि के महाभाष्य को अपना उपजीव्य ग्रन्थ बनाकर इन पर ही व्याख्याएँ लिखीं; दूसरे वे, जिन्होंने अष्टाध्यायी को मुख्य रूप से उपजीव्य मानते हुए भी शिक्षण की सुविधा के विचार से उसके क्रम में हेरफेर कर दिया। पहली को हम 'अष्टाध्यायी-परम्परा' (टीकाकार) कहेंगे और दूसरी को 'कौमुदी-परम्परा'।

(अ) अष्टाध्यायी परम्परा— महाभाष्य, काशिका आदि से ज्ञात होता है कि

---

६६. मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः।।५-३-९९।। सं०व्या०इति०, पृष्ठ २४०।

पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन पर स्वयं एक 'वृत्ति' की रचना की थी। पतञ्जलि से पूर्व अष्टाध्यायी पर कई वृत्तियाँ लिखी जा चुकी थीं। इनमें से कुणि, आचार्य माथुर और श्वोभूति का उल्लेख महाभाष्य में होने के कारण निश्चय रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये तीनों पतञ्जलि-पूर्व के थे। इनके सम्बन्ध में शेष परिचय अज्ञात है। कैयट के अनुसार श्वोभूति पाणिनि के शिष्य थे।[६७] एक 'अष्टाध्यायी वृत्ति' वररुचि की लिखी हुई भी बतलायी जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर सबसे प्रसिद्ध वृत्ति है 'वृत्तिसूत्र', जो 'काशिका' के नाम से अधिक ख्यात है। काशी में रची जाने के कारणे सम्भवत: इसका नाम 'काशिका' पड़ा। पर 'काशिका' से पहले की चुल्लिभट्टि और निर्लूर विरचित दो अन्य वृत्तियों का भी उल्लेख मिलता है।

काशिका— पतञ्जलि के महाभाष्य के पश्चात् पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखे गये मौलिक ग्रन्थों में 'काशिका' का नाम सबसे पहले लिया जाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर यह एक विस्तृत टीका है, जिसमें प्रचुर उदाहरणों द्वारा सूत्रों को सरलता से समझाया गया है। 'काशिका' जयादित्य और वामन इन दो वैयाकरणों के सम्मिलित प्रयास का परिणाम है। "प्राचीन ग्रन्थकारों ने जयादित्य और वामन के नाम से काशिका के जो उद्धरण दिये हैं, उनसे विदित होता है कि प्रथम पांच अध्याय जयादित्य-विरचित हैं अन्तिम तीन वामनकृत।"[६८] "जयादित्य की अपेक्षा वामन का लेख अधिक प्रौढ़ है।"[६९] इत्सिंग (वि०सं० ७१९-७२२) ने अपने यात्रा-विवरण में इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का उल्लेख किया है। इत्सिंग के ही अनुसार वि०सं० ७१८ में जयादित्य की मृत्यु हो चुकी थी।[७०] इससे यह कहा जा सकता है कि विक्रम की ७वीं शती के अन्त तक 'काशिका' की रचना हो चुकी होगी। काशिका में ऐसे अनेक व्याकरण-ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है कि जो आज अप्राप्य हैं। लेखकों के समय तक उन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य होता रहा होगा। इन प्राचीन ग्रन्थों से जो उदाहरण काशिका में लिये गये है, उनका भी एक ऐतिहासिक महत्त्व है और उनसे हमें कई विलुप्त वैयाकरणों और उनके ग्रन्थों की जानकारी मिलती है। यह ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि इस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गई, जिनमें से जिनेन्द्र बद्धि की 'काशिका-विवरण-पंजिका' या 'काशिका-न्यास' अथवा केवल 'न्यास' और हरदत्त मिश्र की 'पदमञ्जरी' टीकाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

महाभाष्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कात्यायन के वार्तिकों पर कई 'भाष्य'

---

६७. श्वोभूतिर्नाम शिष्य:। महाभाष्य प्रदीप (१-१-५८)।
(सं० व्या०इति०, पृष्ठ ३२०, टिप्पणी १)।

६८. सं०व्या०इति०, पृष्ठ ३३२। ६९. वही, पृष्ठ ३३३।

७०. वही, पृष्ठ ३३३—टिप्पणी १।

रचे गये थे। इन भाष्यकारों के न नाम ही ज्ञात हैं, न उनके ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य से पूर्व इनमें से कम से कम तीन भाष्य अवश्य विद्यमान रहे होंगे। पतञ्जलि के महाभाष्य के पीछे भी कात्यायन के वार्तिकों पर कई भाष्य लिखे गये जिनमें से हेलाराज का 'वार्तिकोन्मेष', राघवसू की 'अर्थप्रकाशिका' और राजरूद्र की 'वृत्तिश्लोक व्याख्या' उल्लेखनीय हैं।

महाभाष्य की टीकाएँ—पाणिनि परम्परा में पतञ्जलि के महाभाष्य का इतना अधिक मान हुआ कि मुनित्रय के मतों में परस्पर विरोध होने पर पतञ्जलि को ही प्रामाणिक माना जाने लगा और पण्डितों में महाभाष्य के ही अध्ययन-अध्यापन की परम्परा चल निकली। उस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें से अधिकांश टीकाएँ विलुप्त हो गयीं। यत्र-तत्र उन टीकाओं के उल्लेखों से उनके अस्तित्व का आभास मात्र हमें होता है। अधिकांश टीकाकारों का परिचय भी प्राप्त नहीं। महाभाष्य की उपलब्ध टीकाओं में भर्तृहरि की 'महाभाष्यदीपिका' सबसे प्राचीन है। "व्याकरण के ग्रन्थों में अनेक ऐसे उद्धरण उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने सम्पूर्ण महाभाष्य पर टीका लिखी होगी।"[७१] महाभाष्य की उपलब्ध तथा ज्ञात टीकाओं में भर्तृहरि कृत 'महाभाष्यदीपिका' सबसे प्राचीन और प्रामाणिक मानी जाती है। यही कारण है कि पतञ्जलि के पश्चात् महान् वैयाकरण भर्तृहरि ही प्रमाण माने जाते है।

कैयट— महाभाष्य के दूसरे टीकाकार है 'कैयट'। उनकी टीका 'महाभाष्यप्रदीप' भी व्याकरण का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। अपनी टीका के प्रारम्भ में ही कैयट ने वाक्यपदीय का ऋण स्वीकार करते हुए लिखा है कि मैंने यह व्याख्या भर्तृहरि निबद्ध साररूपी ग्रन्थसेतु के आश्रय से रची है।[७२] कैयट के इस पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ से महाभाष्य को समझने में बहुत सहायता मिलती है। इसलिए पाणिनीय सम्प्रदाय में 'प्रदीप' का बहुत मान है। आगे चलकर 'प्रदीप' की भी अनेक टीकाएं रची गयीं, जिनमें 'नागेश' का 'प्रदीपोद्योत' अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाम से कैयट काश्मीरी पण्डित प्रतीत होते हैं। इससे अधिक उनके जीवनचरित के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। इनका काल अनुमानत: विक्रम की ११वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। महाभाष्य पर और भी अनेक छोटी-बड़ी टीकाएँ लिखी गयीं, पर कैयट के 'प्रदीप' की ज्योति में सबका प्रकाश मन्दायमान हो गया।

इस प्रकार अष्टाध्यायी के सूत्र, कात्यायन के वार्तिक और पतञ्जलि के महाभाष्य पर अनेकों वृत्तियाँ और व्याख्याएँ लिखी गयीं और इन व्याख्याओं की भी व्याख्याएँ लिखी जाती रहीं और पाणिनीय व्याकरण की एक विस्तृत परम्परा बन गयी। कैयट

---

७१. वही, पृष्ठ २९१।

७२. तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना.....। — सं०व्या०इति०, पृष्ठ २८३।

के साथ ही 'अष्टाध्यायी-परम्परा' का लगभग अन्त हो गया; पर इसके पश्चात् व्याकरण की जिस परम्परा का प्रचलन हुआ, वह भी अष्टाध्यायी पर ही आश्रित थी।

(ब) कौमदी-परम्परा— संस्कृत अब पहले की भाँति न शिष्टजन भाषा ही रह गयी थी, न बोलचाल की भाषा। अष्टाध्यायी-प्रणाली में पहले अष्टाध्यायी कण्ठस्थ की जाती थी, फिर वृत्ति, महाभाष्य, आदि के अध्ययन से व्याकरण में पाण्डित्य प्राप्त किया जाता था। पर संस्कृत के लोकव्यवहार से उठ जाने के कारण यह प्रणाली युग की आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ हो गयी थी। अष्टाध्यायी में विषय प्रकरण के अनुसार नहीं है। समासप्रकरण दूसरे अध्याय में है तो समासान्त प्रकरण पाँचवें अध्याय में। ये प्रकरण बिखरे-बिखरे से हैं। इससे व्याकरण-ज्ञान श्रमसाध्य और समय-साध्य हो गया। उसे सरल और सुबोध बनाने के लिए अष्टाध्यायी के सूत्रों को विषय-क्रम से नवीन ढंग से सजाने की आवश्यकता पड़ी और कौमुदियों का जन्म हुआ। अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रकरण-क्रम से व्यवस्थित करने वाला प्रथम ग्रन्थ है विमल सरस्वती (वि० की १४वीं शती) की **'रूपमाला'**। इसमें सूत्रों को प्रत्याहार, संज्ञा, परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, तिङन्त, स्त्री-प्रत्यय, कारक, कृत्, तद्धित और समास के प्रकरणों में रखा गया है। शब्दरूपों और धातुरूपों का विवेचन विशेष रूप से किया गया है। विक्रम की १५वीं शती के अन्त में रामचन्द्राचार्य ने पाणिनीय व्याकरण पर **'प्रक्रिया-कौमुदी'** की रचना की। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य प्रक्रिया-ज्ञान कराना है और ग्रन्थकर्ता ने सरल शब्दों और सुबोध शैली में अपने विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ के महत्त्व का अनुमान इतने ही से किया जा सकता है कि एक शती के भीतर ही इसकी अनेक टीकाएँ लिखी गयीं, जिनमें रामचन्द्राचार्य के पौत्र विट्ठल की 'प्रसाद' नाम्नी टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है।

'कौमुदी' परम्परा की सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रसिद्ध कृति है भट्टोजिदीक्षित की **'सिद्धान्त-कौमुदी'**। भट्टोजिदीक्षित ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को १४ प्रकरणों में बाँट कर व्याकरण को समय की आवश्यकता के अनुसार व्यावहारिक रूप दे दिया।

रूपमाला और प्रक्रिया-कौमुदी में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का समावेश नहीं किया गया है। इसलिये ये दोनों ग्रन्थ पाणिनीय-व्याकरण का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। इस कमी की पूर्ति के लिए भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी की रचना की। प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों में 'सिद्धान्तकौमुदी' सर्वोत्तम प्रयास है। इसमें पाणिनि का एक भी सूत्र नहीं छूटने पाया। यह ग्रन्थ इतना उपयोगी सिद्ध हुआ कि पाणिनीय व्याकरण में पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए समस्त भारत में सिद्धान्तकौमुदी का ही अध्ययन होने लगा। 'कौमुदी' के स्निग्ध-शीतल प्रकाश में अष्टाध्यायी-प्रणाली के 'दीपकों' की ज्योति

---

७३. सं०व्या०इति०, पृष्ठ २५२-३।

मन्द पड़ गई, 'काशिका' भी प्रकाशहीन हो गई। आज भी संस्कृत व्याकरण में पारंगत होने के लिए सिद्धान्त-कौमुदी के ही अध्ययन-अध्यापन का व्यापक प्रचलन है। सिद्धान्त-कौमुदी के अतिरिक्त इनके दो और व्याकरण-ग्रन्थ हैं। सिद्धान्त-कौमुदी के पूर्व इन्होंने 'शब्दकौस्तुभ' की रचना की थी, जिसमें पाणिनीय सूत्रों पर अष्टाध्यायी के क्रम से टीका है। यह वृत्ति समग्र रूप में उपलब्ध नहीं है। 'सिद्धान्त-कौमुदी' पर इन्होंने स्वयं 'प्रौढ़-मनोरमा' व्याख्या लिखी और पाणिनि के 'लिंगानुशासन' पर 'लिंगानुशासन-वृत्ति' नाम से एक टीका भी लिखी। व्याकरण-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए लिखा हुआ एक पद्यात्मक ग्रन्थ 'वैयाकरणमतोन्मज्जन' भी इन्हीं की कृति मानी जाती है। भट्टोजिदीक्षित अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण थे। स्वयं इन्होंने, इनके परिवार के व्यक्तियों एवम् इनके शिष्यों ने व्याकरण-शास्त्र को बहुत बड़ी देन दी है। ये काशी-निवासी महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर भट्ट था। अपने समय के प्रख्यात वैयाकरण शेष श्रीकृष्ण से कई वर्षों तक इन्होंने व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन किया था और अप्पयदीक्षित से वेदान्त-शास्त्र का। भट्टोजिदीक्षित का जन्म विक्रम की सोलहवीं शती की प्रथम दशति में मानना ठीक होगा।''[७३] सिद्धान्त कौमुदी पर स्वयं दीक्षित की प्रौढ़-मनोरमा के अतिरिक्त उनके पौत्र हरिदीक्षित ने **'बृहच्छब्दरत्न'** और **'लघु-शब्दरत्न'** दो व्याख्याएँ लिखीं। ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने इस पर 'तत्त्वबोधिनी' टीका लिखी, जो एक प्रकार से 'प्रौढ़-मनोरमा' का ही संक्षेप है। भट्टोजिदीक्षित के समकालीन[७४] ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य नीलकण्ठ वाजपेयी ने कौमुदी की 'सुखबोधिनी' व्याख्या लिखी।

दीक्षित की ही परम्परा में 'नागेशभट्ट' उद्भट वैयाकरण हुए। ये भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित के शिष्य थे। इनकी पतिभा बहुमुखी थी। इनका 'परिभाषेन्दुशेखर' पाणिनि-व्याकरण की उपयोगी परिभाषाओं का निदर्शन करने वाला सर्वमान्य ग्रन्थहै। इनका 'शब्देन्दुशेखर' प्रौढ़मनोरमा की विस्तृत व्याख्या है।''[७५] शब्देन्दुशेखर दो रूपो में मिलता है— लघुशब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, ये दोनों क्रमशः छोटी और बड़ी टीकाएँ हैं। इनके महाभाष्यप्रदीपोद्योत का उल्लेख पहले हो चुका है। शब्देन्दुशेखर की रचना सम्भवतः प्रदीपोद्योत से पूर्व हुई। संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन करने के लिए इन्होंने तीन मंजूषाएँ लिखीं— मंजूषा, लघुमंजूषा, परमलघुमंजूषा। तीनों एक ही ग्रन्थ के तीन भिन्न-भिन्न संस्करण मात्र हैं। इनमें शब्द और अर्थ के सिद्धान्तों की विस्तृत मीमांसा की गयी है। 'स्फोटवाद' में वैयाकरणों के 'स्फोट'-सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। इस प्रकार बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न नागेश या नागोजी भट्ट ने अकेले व्याकरण पर लगभग एक दर्जन ग्रन्थ लिखे हैं। नागेशभट्ट के पश्चात् भी 'कौमुदी' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। स्वयम् उनके शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने

७४. वही, पृष्ठ ३७८। ७५. वै०सा०, पृष्ठ ३१२।

मौलिक टीकाएँ लिखीं। इन टीकाओं में वासुदेव वाजपेयी की 'बाल-मनोरमा' टीका सरल होने के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हुई। भट्टोजिदीक्षित के गुरुभाई शेष वीरेश्वर के पुत्र और पण्डितराज जगन्नाथ ने 'प्रौढ़-मनोरमा' के खण्डन में ग्रन्थ लिखे थे। शेष वीरेश्वर के पुत्र का न नाम ही ज्ञात है, न ग्रन्थ ही उपलब्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रन्थ के कुछ अंश उपलब्ध हैं। पर वैयाकरण-परम्परा में इनका विशेष मान नहीं हुआ।

वरदराज— आगे चलकर तो अधिकांश वैयाकरण सुकुमारमति बालकों के सुखबोध के लिए व्याकरण की छोटी-मोटी पाठ्य-पुस्तकों के लेखक मात्र रह गये। इनमें भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराज का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पाणिनीय शास्त्र में प्रवेश पाने के लिए उन्होंने सिद्धान्त-कौमुदी के संक्षिप्त-संस्करण के रूप में 'लघुकौमुदी' की रचना की।[७६] जिसमें अष्टाध्यायी के केवल १२७२ सूत्र हैं, जो संस्कृत का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर अन्य शास्त्रों का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए भी यह ग्रन्थ उपकारी है।[७७] सामान्य ज्ञान प्राप्त कर व्याकरण के द्वितीय सोपान पर आरोहण करने के लिए उन्होंने 'मध्यकौमुदी' की रचना की, जिसमें अष्टाध्यायी के २३१५ सूत्र हैं। संक्षेप के अतिरिक्त इन दोनों में प्रकरण-विन्यास के क्रम में भी अन्तर है और यह क्रम युक्तियुक्त भी है। वाक्य में अर्थज्ञान के लिए सर्वप्रथम पदच्छेद की आवश्यकता है। इसलिए सन्धिप्रकरण को पहले स्थान देना उपयुक्त है। फिर पद-ज्ञान के लिए क्रम से सुबन्त और तिङन्त प्रकरण हैं। अव्यय-प्रकरण का समावेश सुबन्त में ही हो गया है। भाषा-ज्ञान के लिए सुबन्त के अनन्तर तिङन्त का ही क्रम अधिक स्वाभाविक है। तिङन्त से धातुज्ञान होने पर ही कृदन्त का निरूपण उचित है। कृदन्त के अन्त में कारक-प्रकरण (विभक्त्यर्थ) आता है। स्त्रीप्रत्यय कृत्—तद्धित-समास-सापेक्ष्य है। इसलिए कृदन्त के अनन्तर समास और तद्धित आते हैं और स्त्रीप्रत्यय का समावेश तद्धित प्रकरण के अन्त में किया गया है। वरदराज ने मध्यकौमुदी के प्रारम्भ में ही अपने गुरु को नमस्कार किया है।[७८] अतः वे भट्टोजिदीक्षित के समकालीन ही रहे होंगे। सम्भव है कि ये दोनों संस्करण उनके जीवनकाल में ही रचे गये हों। इन दोनों ग्रन्थों का पाठ्य-पुस्तकों के रूप में भले ही महत्त्व हो, पर व्याकरण की ज्ञानवृद्धि में इनसे विशेष सफलता नहीं मिलती। व्याकरणशास्त्र में प्रवेश पाने के लिए लघुकौमुदी का महत्त्व अवश्य बढ़ा, किन्तु सिद्धान्तकौमुदी के सामने मध्यकौमुदी न टिक सकी। इसलिए ये

---

७६. पाणिनीय-प्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्। ल०कौ०मंगलाचरण।

७७. शास्त्रान्तरे प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका।
कृता वरदराजेन लघुसिद्धान्तकौमुदी।। — ल०कौ० (अन्तिमश्लोक)।

७८. नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदी।।

ग्रन्थ इस परम्परा में विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। वस्तुतः नागेशभट्ट को ही पाणिनि-परम्परा का अन्तिम महान् वैयाकरण मानना चाहिए।

इ. पाणिनीतर-शाखाएँ— पाणिनीय अष्टाध्यायी का अध्ययन-अध्यापन जब श्रमसाध्य, कष्टसाध्य प्रतीत होने लगा, तब उसे अपेक्षाकृत सरल बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सबसे पहिले बौद्ध और जैन धर्मों के अनुयायियों ने पाणिनीय व्याकरण को सरल बनाने का प्रयत्न किया और पाणिनीय पद्धति के आधार पर ही नये व्याकरण लिखे। ये शाखाएँ वेदोक्त धर्म की विरोधिनी थीं, अतः उन्होंने अपने ग्रन्थों में से वैदिक-प्रकरण हटा दिया। वैदिक धर्म का विरोध करने के कारण हो, चाहे अपाणिनीय पद्धति का अनुगमन करने के कारण, अथवा पद्धति की अपूर्णता के कारण, कुछ समय तक तो धर्म-विशेष के अनुयायियों में इन शाखाओं का प्रचलन हुआ, किन्तु जनप्रिय न हो सकने के कारण शीघ्र ही ये नष्टप्राय हो गयीं। इनमें से कुछ शाखाओं का यहाँ परिचयमात्र दिया जा रहा है। प्रायः ये सभी शाखाएँ पतञ्जलि के उत्तरकाल की हैं।

(१) कातन्त्रशाखा— कातन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ होता है— कु(का)+तन्त्र=लघुतन्त्र। इसीलिए कुछ विद्वान् कातन्त्र व्याकरण को पाणिनीय व्याकरण का ही संक्षिप्त संस्करण मानते हैं, स्वतन्त्र शाखा नहीं। कथासरित्सागर के अनुसार पण्डित शर्ववर्मा ने राजा सातवाहन को छः महीने के भीतर संस्कृत भाषा सिखाने की प्रतिज्ञा की थी। उसने कुमार कार्तिकेय के वरदान से एक सरल व्याकरण की रचना की। इसीलिए इसे 'कौमार व्याकरण' भी कहते हैं। इस व्याकरण के ४ अध्यायों में केवल १४०० सूत्र हैं और सूत्रों को सिद्धान्त-कौमुदी के अनुसार विषय-क्रम से रखा गया है। यह व्याकरण कुमारों (बालकों) को सिखाने के उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है। 'कुमारों के निमित्त' लिखे जाने के कारण भी इसे 'कौमार' कह सकते हैं।[७९] 'कातन्त्र' का रचनाकाल विवादास्पद है। ऐतिहासिक इसका समय विक्रम की प्रथम शती के आसपास निश्चय करते हैं। मीमांसक जी के मत से शर्ववर्मा ने कातन्त्र व्याकरण का संक्षेप विक्रम से चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व किया था और मूल ग्रन्थ तो उनके मत से महाभाष्य से भी पुराना है। किसी समय सम्भवतः इसका प्रचार समस्त भारतवर्ष में था। काश्मीर में ७वीं शती से इसका प्रचार हुआ। काश्मीर के भट्ट जयधर ने इस पर बालबोधिनी टीका लिखी है। ७वीं शती विक्रमी के आसपास दुर्ग सिंह ने भी इस पर टीका लिखी। आजकल इसका प्रचार बंगाल तक ही सीमित है। कीथ के अनुसार कातन्त्र के कुछ भाग मध्य एशिया की खुदाई में प्राप्त हुए थे। तिब्बती भाषा में अभी तक कातन्त्र का धातु-पाठ उपलब्ध होता है।[८०] कुछ विद्वान् इसे स्वतन्त्र शाखा न मानकर ऐन्द्र शाखा से ही सम्बद्ध मानते हैं।

---

७९. कुमारेभ्यो इदं कौमारम्।

८०. सं० व्या०इति०, पृष्ठ ४०७।

(२) चान्द्रशाखा— पाणिनीय शाखा के आधार पर ही एक बौद्ध वैयाकरण चन्द्रगोमी ने चान्द्र व्याकरण की रचना की। यह पाणिनि का संक्षिप्त रूप है। इसमें कुल छः अध्याय और ३१०० सूत्र हैं। यहाँ तक कि 'हयवरट्' और 'लण्' को मिलाकर इन्होंने 'हयवरलण्' एक ही सूत्र बनाकर माहेश्वर सूत्रों की संख्या चौदह से तेरह कर दी है। स्वयं चन्द्रगोमी ने अपने व्याकरण को 'पाणिनि की अपेक्षा संक्षिप्त और कातन्त्र की अपेक्षा अधिक सम्पूर्ण' बतलाया है।[८१] बौद्ध-सम्प्रदाय की शाखा होने के कारण चान्द्रव्याकरण का तिब्बत और लंका में बहुत अधिक प्रचार हुआ। इस शाखा के लगभग दस ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद हुए और लंका के एक बौद्ध पुरोहित काश्यप ने विक्रम की १३वीं शती के मध्य में बालावबोध नामक ग्रन्थ लिखकर इस शाखा को नवीन रूप दिया। भर्तृहरि के वाक्यपदीय में इसके उद्धरण मिलते हैं। अतः विक्रम की ५वीं शती इस शाखा की उत्तरसीमा मानी जा सकती है। भर्तृहरि और कल्हण के अनुसार चन्द्रगोमी ने विलुप्तप्राय महाभाष्य का पुनरुद्धार किया था।[८२] अतः पतञ्जलि को इनकी पूर्व सीमा माना जा सकता है। इस प्रकार विक्रम पूर्व पहली शती से विक्रम की पाँचवीं शती तक कहीं भी इनका समय ही हो सकता है।

(३) जैनेन्द्रशाखा— व्याकरण की यह शाखा दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में प्रचलित है। जैनियों के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी इस शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। 'जैनेन्द्र-शब्दानुशासन' के रचयिता देवनन्दी माने जाते हैं। देवनन्दी जैन मत के प्रामाणिक आचार्य हैं। जैन लेखक इन्हें पूज्यपाद और जिनेन्द्र-बुद्धि के नाम से स्मरण करते हैं।[८३] इनका समय विक्रम की छठी शती का पूर्वार्द्ध है।[८४] इन्होंने अष्टाध्यायी के सूत्रों पर 'शब्दावतारन्यास' टीका भी लिखी थी। जैनेन्द्र-शब्दानुशासन के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। 'औदीच्य संस्करण' में ३००० सूत्र हैं और 'दाक्षिणात्य संस्करण' में ३७०० सूत्र। दाक्षिणात्य संस्करण में न केवल सूत्र संख्या ही अधिक है, अपितु सैकड़ों सूत्रों में परिवर्तन और परिवर्धन भी पाया जाता है। पूज्यपाद विरचित मूल ग्रन्थ औदीच्य-संस्करण ही है। दाक्षिणात्य-संस्करण इसका परिष्कृत रूपान्तर है,[८५] और इसका नाम शब्दार्णव है। औदीच्य संस्करण (शब्दानुशासन) पर स्वयम् आचार्य देवनन्दी ने एक 'जैनेन्द्रन्यास' लिखा था। वह अनुपलब्ध है।[८६] इस पर अभयनन्दी (वि० १२०० सं०) की 'महावृत्ति' नामक विस्तृत टीका प्रसिद्ध है। दाक्षिणात्य संस्करण (शब्दार्णव) पर सोमदेव सूरि (सं० १२६५) ने 'शब्दार्णव चन्द्रिका' नामक टीका लिखी थी।

---

८१. वही, पृष्ठ ४१५।
८२. वही, पृष्ठ २४३।
८३. सं० व्या०इति०, पृष्ठ ३८४।
८४. वही, पृष्ठ ३२५।
८५. वही, पृष्ठ ४२३।
८६. वही, पृष्ठ ४२५।

(४) शाकटायन शाखा— विक्रम की नवीं शती में श्वेताम्बर जैन विद्वान् पाल्यकीर्ति (शाकटायन) ने पाणिनि, चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरणों के अनुकरण पर शब्दानुशासन की रचना कर व्याकरण की एक नई परम्परा का प्रवर्तन किया। यह 'शाकटायन-शाखा' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शब्दानुशासन' में चार अध्याय, चार पाद और ३२०० सूत्र हैं और क्रम कौमुदियों के समान है। पाल्यकीर्ति-प्रवर्तित यह शाखा 'शाकटायन' के नाम से कब और कैसे सम्बद्ध हो गयी— यह नहीं कहा जा सकता। पर इतना तो निश्चित ही है कि इस 'शाकटायन' शाखा का वैदिक काल के सुप्रसिद्ध वैयाकरण शाकटायन से किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं हैं। "सम्भव है— वैदिक वैयाकरणों में सर्वोत्कृष्ट शाकटायन का नाम उत्कर्षता के द्योतन के लिए जैन संम्प्र[illegible] के महावैयाकरण पाल्यकीर्ति के साथ भी युक्त कर दिया गया हो।"[८७] इस शाख[illegible] भी कई टीकाकार हुए। ११वीं शती में दयाराम ने 'रूप-सिद्धि' और १४वीं शती में अभयचन्द ने 'प्रक्रियासंग्रह' लिखकर 'शब्दानुशासन' को नवीन रूप में प्रस्तुत किया।

(५) भोज-व्याकरण— संस्कृतभाषा लोकव्यवहार से उठकर केवल विद्वत्समुदाय की भाषा रह गयी थी। विक्रम की ११वीं शती में धाराधीश भोजराज परमार (सं० १०७५-१११०) ने संस्कृत को जनभाषा बनाने का प्रबल प्रयत्न किया था। 'प्रत्यक्षर लक्ष' देने वाले भोजराज के काल में मूर्ख ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता था। सामान्य काष्ठभारवाहक (लकड़हारा) और तन्तुवाय (जुलाहा) तक संस्कृतज्ञ होते थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इन्हीं महाराज भोज ने 'सरस्वती कण्ठाभरण' नाम के दो ग्रन्थ रचे— एक अलङ्कार-शास्त्र का और दूसरा व्याकरण-शास्त्र का। **'सरस्वती कण्ठाभरण शब्दानुशासन'** में आठ अध्याय हैं, चार पाद और ६४२१ सूत्र। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है और आठवें में स्वर-प्रकरण और वैदिक-प्रकरण हैं। व्याकरणशास्त्र में 'सरस्वती कण्ठाभरण' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। स्वयं भोजराज ने अपने शब्दानुशासन पर एक वृत्ति लिखी थी। इसके अतिरिक्त तीन और टीकाएँ इस पर लिखी गयीं।

(६) हैम शाखा— विक्रम की १२वीं शती में गुजरात के राजा सिद्धराज की आज्ञा से प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि (सं० ११४५-११२९) ने 'सिद्धहैम-शब्दानुशासन' नामक व्याकरण का एक विशाल ग्रन्थ लिखा। इस शब्दानुशासन में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद और कुल ४६८५ सूत्र हैं। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत का व्याकरण हैं। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण संस्कृत व्याकरण में इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। आठवें अध्याय में महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और चूलिका पैशाची प्राकृतों का एवम् अपभ्रंश भाषा का व्याकरण है। यह आठवाँ अध्याय ग्रन्थ का लगभग एक चौथाई भाग है। संस्कृत भाषा के

८७. सं०व्या०इति०, पृष्ठ ४३५।

साथ-साथ इतनी प्राकृतों और अपभ्रंश का व्याकरण एक होने के कारण पाणिनीतर व्याकरणों में हेमचन्द्र का बहुत अधिक प्रचार हुआ। स्वयं हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण पर 'शब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति' नामक टीका लिखी। हेमचन्द्र के शब्दानुशासन पर मेघ-विजय ने 'शब्द-चन्द्रिका' और 'बृहद्वृत्ति' पर देवेन्द्र सूरि ने 'हेमलघुन्यास' नामक टीकाएँ लिखीं। इसके आधार पर कई कौमुदियाँ भी बनीं।

११वीं शती के पीछे एक के पश्चात् एक विदेशी आक्रमण ने देश को छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त कर दिया। अनेक भारतीय राज्य क्रमशः विदेशियों और विधर्मियों के चंगुल में फँसते गये। ऐसे संघर्ष के युग में इस व्याकरण परम्परा को चालू रखना सम्भव नहीं था। किन्तु मौलिक व्याकरणों का प्रणयन न होने पर भी संस्कृतभाषा की रक्षा और उसके प्रचार के लिए, उसे सुगम बनाने के लिए तत्कालीन विद्वान् व्याकरण-ग्रन्थों का प्रणयन करते रहे। इनमें से निम्नलिखित व्याकरण-शाखाएँ प्रसिद्ध हैं—

(७) जौमर शाखा— विक्रम की १३वीं शती के आसपास क्रमदीश्वर ने **'संक्षिप्त सार'** नामक व्याकरण की रचना की। यह ग्रन्थ अष्टाध्यायी का संक्षिप्त रूप है। 'जूमरनन्दी' ने इस शाखा को नवीन रूप दे दिया। अतः इस शाखा को उसी के नाम पर 'जौमर-शाखा' कहते हैं। 'संक्षिप्त-सार' पर स्वयं जूमरनन्दी ने एक 'रसवती' टीका लिखी है। इस पर दूसरी टीका है गोयीचन्द्र की 'गोयीचन्द्रिका' है।

(८) सारस्वत शाखा— श्रमसाध्य और समयसाध्य होने के कारण संस्कृत भाषा के पठन-पाठन का प्रचलन धीरे-धीरे उठ रहा था, अतः सर्वसाधारण को संस्कृत सिखाने के लिए उसे संक्षिप्त और सुगम बनाने की आवश्यकता थी। यह कार्य किया श्री नरेन्द्राचार्य के 'सारस्वत-सूत्र' ने। पाणिनीय व्याकरण के ज्ञान के लिए लगभग ४००० सूत्रों का अध्ययन करना पड़ता था। **'सारस्वत-व्याकरण'** में व्याकरण की जटिलताओं को दूर करने के लिए संस्कृत के कठिन एवम् अप्रचलित रूपों को हटा दिया गया। अत्यन्त संक्षिप्त होने के साथ ही विषय-विवेचन की दृष्टि से भी यह व्याकरण अत्यन्त सरल है। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती से इनका आगम होने के कारण इसे 'सारस्वत-सूत्र' कहा जाता है। नरेन्द्राचार्यकृत 'सारस्वत-सूत्र' मूल रूप में प्राप्त नहीं है और न इस शाखा के प्रणेता नरेन्द्राचार्य के विषय में ही कुछ ज्ञात है। अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने इन सूत्रों को क्रमबद्ध किया और उसकी प्रक्रिया को सरल बनाया। 'सारस्वत-प्रक्रिया' पर १५ टीकाएँ लिखी गयीं हैं, इनमें क्षेमेन्द्र की 'सारस्वत प्रक्रिया' प्रसिद्ध है। उसी से इसके 'नरेन्द्राचार्यकृत'[८८] होने का पता चलता है। भट्टोजिदीक्षित

---

८८. इति श्री नरेन्द्राचार्यकृते सारस्वते क्षेमेन्द्रटिप्पनं समाप्तम्।

— सं० व्या०इति०, पृष्ठ ४५३।

के समय तक इस व्याकरण-शाखा का बहुत प्रचार था। पाणिनि-शाखा के अधिक प्रचार के कारण १८वीं शती तक आते-आते यह शाखा विलुप्त हो गयी।

(९) मुग्धबोध— बोपदेव (सं० १३००-१३४०) ने भी पाणिनीय व्याकरण को सरल बनाने के लिए 'मुग्धबोध' व्याकरण की रचना की। मुग्धबोध का अर्थ है 'मूर्खों को समझाने के लिए'। और इसमें सन्देह नहीं कि विषय-विवेचन की दृष्टि से यह व्याकरण अत्यन्त संक्षिप्त और सरल है। इस पर अनेक टीकाएँ हैं, जिनमें रामतर्कवागीशकृत टीका अधिक प्रसिद्ध है। मुग्धबोध का प्रचार बंगाल तक ही सीमित रहा और वह भी १७वीं शती तक लुप्तप्राय हो गया।

इनके अतिरिक्त दो व्याकरण और भी है— 'पद्मनाभ दत्त' या 'सुपद्मनाभ' (वि०सं० १४००) कृत 'सुपद्म' व्याकरण और चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी (वि० १६वीं शती) कृत 'हरिनामामृत' व्याकरण। इन दोनों का प्रचलन बहुत कम रहा।

(ख) 'परिभाषा' शब्द का लक्षण— व्याकरणशास्त्र में अष्टाध्यायी के सूत्रों से पृथक् अन्य नियामक वचन रूप परिभाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह तो निर्विवाद सिद्ध बात है। पाणिनीय तथा उनके उत्तरवर्ती व्याकरण-सम्प्रदायों से सम्बद्ध, उपलब्ध परिभाषा-पाठों में 'परिभाषा' शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उसका सर्वथा निर्दुष्ट लक्षण कहीं नहीं प्राप्त होता है, जब कि अनेक वैयाकरणों और विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रीति से परिभाषा-विषयक क्षेत्र के दृष्टिकोण से अपनी-अपनी रीति से, विविध रूप से इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में 'परिभाषा' शब्द का उच्चारण नहीं किया है। वार्तिककार ने इस 'परिभाषा' शब्द का सर्वप्रथम अपने वार्तिकों में प्रयोग किया है।[८९] उन्होंने सूत्रों के निर्देश में परिभाषा शब्द प्रयुक्त किया है, परन्तु इसका लक्षण नहीं प्रकट किया है। इसके पश्चात् पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'परिभाषा' शब्द का लक्षण प्रस्तुत किया है। पतञ्जलि ने 'अधिकार' तथा 'परिभाषा' (सूत्रों) में परस्पर भेद दिखलाते हुए सुन्दर व्याख्या की है। परिभाषा वह है, जिसका स्थान आनुपूर्वीक्रम से किसी एक विशिष्ट-स्थल पर न होकर भी सामान्यतः एक-देश में ही स्थित होकर जो सम्पूर्ण शास्त्र को प्रकाशित करता है, जैसे अच्छी प्रकार से प्रज्वलित दीप सारे घर को प्रकाशित करता है।[९०] इस प्रकार भाष्यकार ने सूत्रों के अर्थ में सन्देह के निराकरण के लिये जो (सूत्र) सहायक होकर कार्य की सिद्धि कराते

---

८९. म०भा०वा० १/१/६९ 'वर्ण-पाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः' तथा १/३/११ 'अन्य-निर्देशस्तु निर्वर्तकस्तस्मात् 'परिभाषा'।

९०. "कः पुनरधिकारपरिभाषयोर्विशेषः। अधिकारः प्रतियोगं तस्यानिदेशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते। परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वशास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्" — द्र०म०भा० २/१/१।

हैं, वे परिभाषा (सूत्र) कहलाते हैं। इसी भाष्य के उक्त लक्षण को ध्यान में रखते हुए परवर्ती वैयाकरणों ने विभिन्न प्रकार से 'परिभाषा' शब्द की व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है। 'परिभाषा' शब्द को वैयाकरणों एवं टीकाकारों ने परिपूर्वक 'भाष्' धातु से निष्पन्न माना है। अनियम की प्राप्ति होने पर नियम करने वाले सूत्र अथवा नियम 'परिभाषा' कहलाते हैं।[९१] ऐसा लक्षण **काशिकाकार** ने प्रस्तुत किया है। **कैयट का मत**— इनके अनुसार परिभाषा उसे माना गया है, जो सूत्र अथवा नियम सम्पूर्ण शास्त्र में नियम की व्यवस्था करते है।[९२] **हरदत्त** ने 'परिभाषा' का पदार्थ निम्न प्रकार से निरूपित किया है— "परितः= सर्वत्र, पूर्वत्र, परत्र, व्यवहिते, नान्तरे च भाष्यते कार्यमनया सा परिभाषा" अर्थात् जिसके द्वारा सर्वत्र, आगे-पीछे, व्यवहित और अव्यवहित में कार्य-नियम की व्यवस्था की जाय, उसे 'परिभाषा' कहते हैं। **न्यासकार** के अनुसार परिभाषा का लक्षण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है— 'भाष्यन्ते परितो यस्मात् परिभाषास्ततः स्मृताः। **पुरुषोत्तमदेव** ने, सब ओर से व्यवहार के साथ जिसका सम्बन्ध रहे, वह परिभाषा कहलाती है, ऐसा लक्षण प्रस्तुत किया है।[९३]

इसी प्रकार गदाकार[९४] तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती[९५] ने 'परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते' ऐसा लक्षण किया है। अर्थात् सम्पूर्ण शास्त्र में व्यवहार जिससे सिद्ध हो, उसको 'परिभाषा' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी लक्षण प्रस्तुत किये हैं। 'परितो भाष्यते या सा परिभाषा', 'विधौ नियमकारिणी परिभाषा', 'अनियमे नियमकारिणीत्वं परिभाषात्वम्', 'लिङ्गवत्वे सति फलवत्वं परिभाषात्वम्' इत्यादि। इन उपर्युक्त प्रतिपादित लक्षणों में शब्द-मात्र का भेद है।

नागेश के अनुसार यहाँ **परिभाषा** से उन परिभाषा-रूप (वचनों) का (ही) ग्रहण होता है, जो प्राचीन ऐन्द्र आदि व्याकरण-तन्त्र में वाचनिक (वचन रूप से पठित), इस पाणिनीय-तन्त्र में ज्ञापक-सिद्ध, न्याय-सिद्ध और वाचनिक (हैं) तथा जो-जो भाष्य तथा वार्तिक की सम्मत हैं, उन परिभाषा-रूपों का व्याख्यान किया गया है।[९६] इसी आधार पर भूतिकार ने "संकेतग्राहकभिन्नत्वे सति शब्दधर्मिक साधुत्वप्रकारकशास्त्रजन्या-

---

९१. 'परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते— का० १/१/३।

९२. प्र० १/१/४८ पर 'कश्चिदिति परिभाषा-रुपः'।

९३. "परितो व्यापृता भाषा परिभाषा, सा ह्येकदेशस्था सर्वशास्त्रमभिज्वलयति यथा वेश्म-प्रदीप इति'— पु० ल०प०वृ० 'क' संज्ञक हस्तलेख का पाठ टि० में द्र० है।

९४. गदा, पृष्ठ २, पं० ३-४। ९५. 'पारिभाषिक भूमिका'।

९६. "प्राचीनवैयाकरण-तन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि तानि व्याख्यायन्ते' — द्र० प०शे०, पृष्ठ १।

प्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधे सहकारित्वेन मुन्यभिप्रेतत्वे सति पाणिन्युच्चरितभिन्नत्वं परिभाषात्वम्'' ऐसा लक्षण प्रस्तुत किया है, जो कि अतीव स्पष्ट एवं निर्दुष्ट है। 'परिभाषा-पाठ' में प्रयुक्त 'परिभाषा' शब्द से इस प्रकार के परिभाषा-रूप नियामक वचनों का ही ग्रहण किया जाता है। ऐसा ही लक्षण हैमवतीकार, विजयाकार भैरवीकार आदि ने भी माना है। इस प्रकार परिभाषा पद को योगरूढ़ मानते हुए सूत्र आदि से ज्ञापित, न्यायसिद्ध, वाचनिक (भाष्यकार तथा वार्तिककार के वचन) मिश्रित (ज्ञापित-वाचनिक) इन नियम वचनों को 'परिभाषा' पद से अभिहित किया जाता है।

(ग) परिभाषाओं का मूल

पाणिनीय तथा अन्य वैयाकरणों द्वारा आश्रीयमाण परिभाषाओं का मूल क्या है? मूल परिभाषाकर्ता कौन है? मूल परिभाषाओं की संख्या कितनी है? इस विषय में अभी तक कुछ निश्चित रूप से समाधान नहीं प्रस्तुत किया जा सका है। सामान्यतया इतना ही कहा जा सकता है कि इन परिभाषाओं का मूल प्राचीन वैयाकरणों के सूत्रपाठों के विशिष्ट-सूत्र हैं। कैयट,[९७] हरदत्त,[९८] पुरुषोत्तमदेव,[९९] सीरदेव,[१००] तथा सायण[१०१] ने भी परिभाषाओं को पूर्वाचार्यों के वचन माना है। वैद्यनाथ पायगुण्डे ने परिभाषाओं का मूल ऐन्द्र आदि तन्त्रों को माना है।[१०२] इस प्रकार परिभाषाएँ प्राचीन वैयाकरणों के शब्दानुशासनों में सूत्र अथवा उनके आख्यान रूप वचन है।

(घ) परिभाषाओं के भेद— व्याकरणशास्त्र में उपलब्ध परिभाषाओं का वर्गीकरण निम्न रूप से किया जा सकता है— **(१) सूत्रार्थोपकारक परिभाषाएँ**— किसी सूत्र के अर्थ-विषयक सन्देह का निराकरण करने के लिए जिन परिभाषाओं की आवश्यकता पड़ती है, ऐसी परिभाषाओं की संख्या ३२ है। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इस प्रकार की परिभाषाओं का समीक्षात्मक विवेचन किया गया है। परिभाषा संख्या ६, ८, ४, १५, ३२, ६०, ६१, ६२, २५, २७, ८९—११ परिभाषाएँ शब्दरूप-सिद्धि की भी उपकारक हैं। इस प्रकार इन्हें उभयोपकारक रूप तृतीय वर्ग में भी रखा जा सकता है, परन्तु सूत्रार्थ में साक्षात् उपकारक होने से इस वर्ग में रखा गया है। **(२) शब्दरूपोपकारक परिभाषायें**— व्याकरणशास्त्र में उपलब्ध

---

९७. प्र० ६/२/४९।

९८. प०म० भाग १, पृष्ठ ४०३।

९९. ''परिभाषा हि न पाणिनीयानि वचनानि। किं तर्हि, नानाचार्याणाम्' — ल० प०वृ० परि०सं० ११९।

१००. ''परिभाषा हि नाम न साक्षात् पाणिनीयवचनानि। किं तर्हि नानाचार्याणाम्'' बृ०प०वृ०परि०सं० १२३।

१०१. भा०धा०, बृ० 'भू०' धातु।

१०२. गदा, पृ० १ 'प्राचीन' प्रतीक का व्याख्या।

परिभाषाओं में द्वितीय प्रकार के परिभाषाएँ वे हैं, जो किसी लक्ष्य (शब्दरूप) की प्रक्रियात्मक पद्धति में उत्पन्न सन्देह का निराकरण करती हैं। इस प्रकार की परिभाषाओं को प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में रखा गया है। इनकी कुल संख्या ३० है। परिभाषा संख्या ७, ३७, ३९, ४०, ४१, ५०—६ परिभाषाएँ सूत्रार्थ रूप सिद्धि में भी सहायक हैं। इस प्रकार इन्हें उभयोपकारक रूप वर्ग में भी रखा जा सकता था, परन्तु शब्द (लक्ष्य) रूप सिद्धि में साक्षात् उपकारक होने से इस वर्ग में रखा गया है। **(३) उपभयोगपकारक परिभाषाएँ**— 'परिभाषेन्दुशेखर' में तृतीय प्रकार की वे परिभाषाएँ हैं, जो सन्दिग्ध सूत्रार्थ के निर्णय के साथ-साथ लक्ष्य विशेष की प्रक्रिया में उत्पन्न सन्देह का भी निराकरण करती हैं। इस प्रकार की परिभाषाएँ 'परिभाषेन्दुशेखर' के उत्तराचार्यों द्वारा कल्पित तन्त्रत्रय में उपलब्ध होती हैं। इनकी संख्या ३१ है। **(४) अवशिष्ट परिभाषाएँ**— व्याकरणशास्त्र विशेष रूप से 'परिभाषेन्दुशेखर' में अनेक परिभाषाएँ ऐसी हैं, जो किसी सूत्र के अर्थ या शब्द रूप की सिद्धि में साक्षात् उपकारक नहीं प्रतीत होती— ऐसी परिभाषाओं की संख्या ४० है। इन परिभाषाओं को प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ एवं पञ्चम अध्याय में रखा गया है।

(ङ) परिभाषेन्दुशेखर का महत्त्व— नागेशभट्ट की सर्वोत्तम वैदुष्य-मण्डित रचनायें व्याकरणशास्त्र से सम्बन्धित हैं। इसमें प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना के कारण वे प्राचीन शास्त्रों के मर्मवेत्ता तथा विशिष्ट पण्डित माने जाते हैं। उनके व्याकरण ग्रन्थों की परम्परा में 'परिभाषेन्दुशेखर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह इनकी स्वतन्त्र परिभाषा-विषयक मौलिक व्याख्या है। यह नागेश की प्रौढ़ावस्था की रचना है। इसमें मञ्जूषा[१०३] तथा शब्देन्दुशेखर[१०४] एवम् उद्योत का निर्देश प्राप्त होता है, परन्तु इन ग्रन्थों में 'परिभाषेन्दुशेखर' का निर्देश नहीं उपलब्ध होता है। अत: यह इनके प्रौढ़ावस्था में लिखित होने के कारण पाण्डित्यमयी व्याख्या के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। सम्पति परिभाषा-ज्ञान के लिए यहीं ग्रन्थ पठन-पाठन में प्रचलित है। परिभाषाओं पर पाणिनीय सम्प्रदाय तथा पाणिनीय भिन्न सम्प्रदाय में इससे पहले भी बहुत से कार्य हुए थे, परन्तु इतने सुन्दर ढंग, ऐसे संक्षेप तथा ऐसी गम्भीरता से परिभाषाओं का तात्पर्य नहीं बताया गया था। परिभाषेन्दुशेखर में व्याख्यात परिभाषाओं का क्रम लक्ष्य-सिद्धि के अनुसार रखते हुए प्रत्येक परिभाषा का अर्थ, विवरण, उदाहरण तथा प्राचीन मतों की समीक्षा की गयी है। प्राचीन परिभाषा-व्याख्याताओं ने केवल सामान्य अर्थ एवं ज्ञापक आदि का संकेत कर दिया था। अत: यह अपनी सरलता तथा मौलिकता के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसीलिए इस ग्रन्थ के पश्चात् प्राय: किसी ने परिभाषा-विषयक मौलिक-ग्रन्थ लिखने का साहस ही नहीं किया। इस पर ही टीका के रूप में इनके शिष्यों, प्रशिष्यों

---

१०३. प०शे०, परि०सं० १६, ३३, ११४।

१०४. वही, ४३, ८४।

तथा विद्वानों ने ४६ से भी अधिक ग्रन्थ लिखे। यही विपुल टीका-सम्पत्ति ग्रन्थ की विद्वता तथा लोकप्रियता की स्पष्ट निर्देशिका है। इसमें नागेश ने पूर्वाचार्यों के मतों की विस्तार से समालोचना करते हुए अपने निर्णयात्मक मत की स्थापना की है। नागेश के ग्रन्थों में गूढ़ता, संक्षेप और रहस्यात्मकता सर्वमान्य तथ्य हैं। इस दृष्टि से नागेश के टीका एवं मौलिक-ग्रन्थों में सर्वोच्च नहीं, किन्तु महत्त्वपूर्ण स्थान परिभाषेन्दुशेखर का है, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस कथन की इससे भी पुष्टि होती है कि जितनी अधिक टीकाएँ परिभाषेन्दुशेखर पर लिखी गयी हैं, उतनी अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं।

(च) परिभाषेन्दुशेखरकार का जीवन परिचय— सर्वतन्त्र स्वतन्त्र महावैयाकरण नागेश-भट्ट का इतिवृत्त स्पष्ट नहीं है। यह दुःख का विषय है कि अधिक प्राचीन न होने पर भी इनके जीवन-वृत्त के विषय में विद्वान् प्रायः अन्धकार में हैं। नागेशभट्ट का जन्म महाराष्ट्र के सतारा जिले के 'तास' गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का सती देवी था। यह इनके ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर उल्लिखित है।[१०५] परन्तु नागोजि भट्ट का अधिकांश जीवन-काल काशी में ही व्यतीत हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये बाल्यावस्था से ही काशी में आ गये थे और वृद्धावस्था में क्षेत्र-संन्यास ग्रहण करके संन्यासी बन गये थे।

नागेश के आश्रयदाता— उन दिनों नागेश की विद्वता की प्रसिद्धि ने प्रयाग के समीप शृङ्गबेरपुर (वर्तमान सिंगरौली) के तत्कालीन राजा राम सिंह को आकृष्ट किया और उन्होंने स्वयं नागेश के पास आकर सहायता का निवेदन किया। नागेश ने आवश्यकता-मात्र की सहायता स्वीकार की और कृतज्ञतास्वरूप प्रत्येक ग्रन्थ में इनका स्मरण किया है।[१०६] कहा जाता है कि वाल्मिकीय रामायण की टीका, जो इनके नाम से प्रसिद्ध है— नागेश द्वारा लिखी गयी है।

पारिवारिक जीवन— इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। इनकी धर्मपत्नी का नाम दुर्गा देवी था।[१०७] परन्तु इनकी किसी सन्तान का उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता है। इसीलिए इन्होंने 'शब्देन्दुशेखर' को पुत्र के रूप में और 'वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा'

---

१०५. इति श्रीमद् उपाध्यायोपनामकशिवभट्टसुतसतीगर्भजनागेशभट्टकृतः परिभाषेन्दुशेखरः समाप्तः। (प०शे०, पृष्ठ २१६)।

१०६. याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्।
शृङ्गवेरपुराधीशरामतो लब्धजीविकः।

१०७. शेषालङ्कारकं दुर्गा-रमोमा-कान्तया सहयुतम्।
गुरूं नत्वाऽऽश्रये बद्धशब्दरत्नेन्दुशेखरम्।। (श०रत्न टी० भाव-प्रकाश)।

को कन्या के रूप में अनेक स्थलों पर उल्लिखित किया है।[१०८] कुछ लोग यह कहते है कि इनकी एक कन्या थी, जो काशी में सिद्धेश्वरी मुहल्ले में रहती थी, जिसके परिवार के लोग अभी तक है, परन्तु यह पूर्णतया प्रामाणिक नहीं है।

नागेश का जीवनकाल— सामान्य रूपसे इनका जीवन काल १७वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है, परन्तु इस विषय में कुछ विशेष विवेचन अपेक्षित है, जो निम्न रूप में है— (१) श्री अभ्यङ्कर शास्त्री, युधिष्ठिर मीमांसक और डॉ० सत्यकाम वर्मा के अनुसार १६५५ से १७४० तक नागेशभट्ट जीवित रहे। (२) पण्डित बलदेव उपाध्याय के अनुसार नागेशभट्ट का जीवन काल १६७५ से १७४५ तक रहा है। (३) अन्य इतिहासकार भी सत्रहवीं के उत्तरार्द्ध से अठारहवीं के पूर्वार्द्ध तक का काल नागेशभट्ट का जीवनकाल स्वीकार करते हैं।

नागेश की गुरु-शिष्य परम्परा— भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से नागेश ने व्याकरण का अध्ययन किया था। अनुश्रुति है कि इन्होंने १८ बार महाभाष्य का अध्ययन गुरु-मुख से किया था। न्याय-शास्त्र का अध्ययन श्री राम भट्टाचार्य से किया था, जो अपने समय के महान् शास्त्रार्थी पण्डित थे।[१०९] नागेश के प्रमुख शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे हैं। इन्होंने अपने गुरु के प्राय: प्रत्येक ग्रन्थ पर व्याख्याएँ लिखी हैं। वैद्यनाथ के पुत्र मनुदेव थे, जो कोलब्रुक (१७७५-१८३५) के समकालिक पण्डित थे। नीलकण्ठ शास्त्री थेटे (१७५०-१८३४) भी वैद्यनाथ के शिष्य थे। इन्होंने काशी में अध्ययन करके पूना में व्याकरणशास्त्र का अध्यापन करके अनेक शिष्य तैयार किये। इनकी शिष्य-परम्परा का चक्र अभ्यङ्कर और कीलहार्न ने इस प्रकार लिखा है—

---

१०८. शब्देन्दुशेखरः पुत्रो मञ्जूषा चैव कन्यकाम्।
स्वमतौ सम्यगुत्पाद्य शिवयोरर्पितौ मया।।

१०९. ल० 'मञ्जूषा' अन्तिम उपसंहार श्लोक—
अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्रहरिदीक्षितात्।
न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः।।
दृढस्तर्केऽस्य नाभ्यास इति चिन्त्यं न पण्डितैः।
दृषदोऽपि हि संतीर्णाः पयोधौ रामयोगतः।।

(संक्षिप्त चक्र)

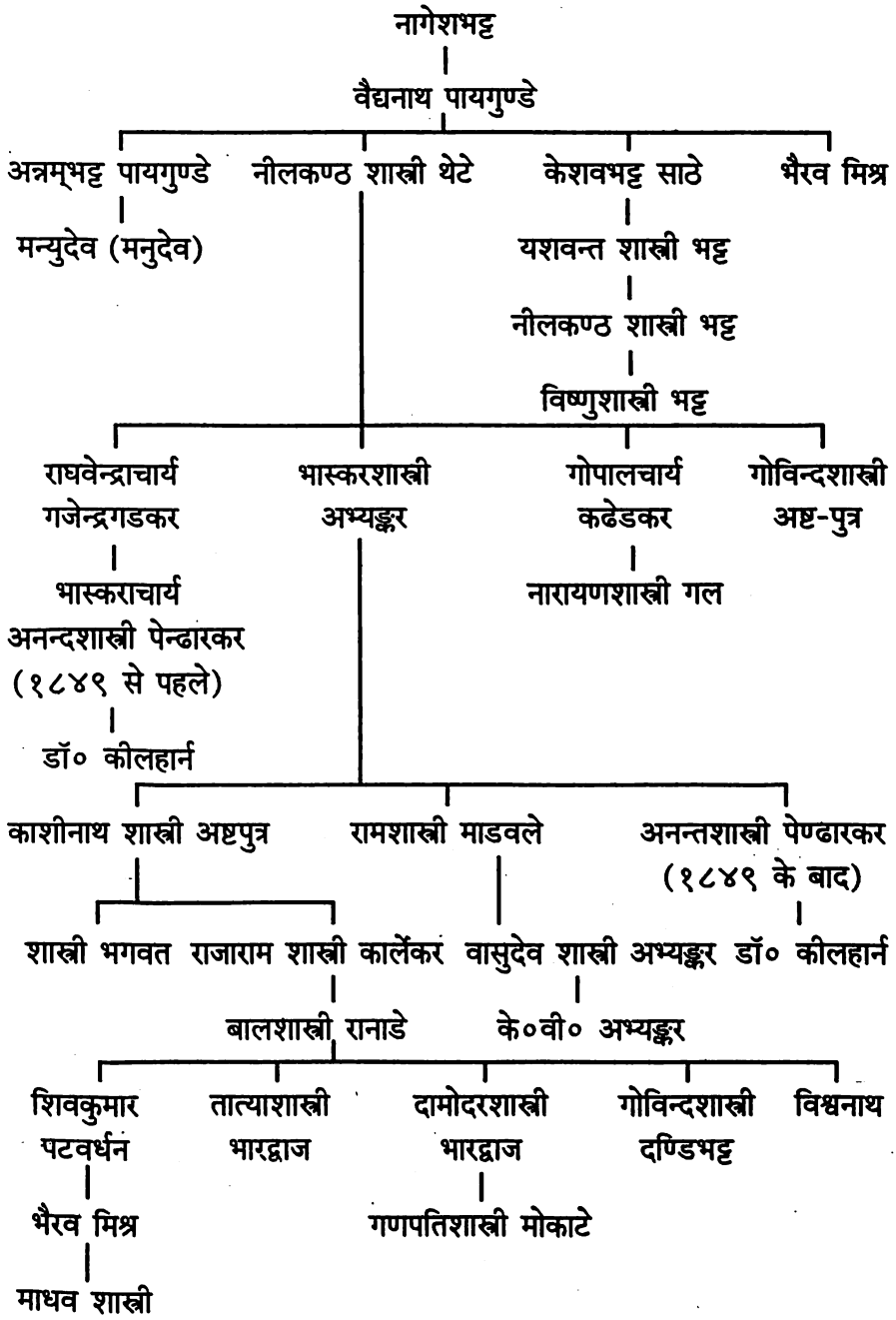

इसी प्रकार आज तक इनके शिष्य-प्रशिष्य की विशिष्ट मण्डली चली आ रही है। विशेष इतिहासों में द्रष्टव्य है।

नागेश का पाण्डित्य— संस्कृत वाङ्मय में वाचस्पति मिश्र के बाद नागेशभट्ट ही ऐसे विद्वान् प्रतीत होते हैं, जिन्होंने प्रत्येक शास्त्र पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। इसीलिये 'लघुमञ्जूषा' के अन्त में इन्होंने स्पष्ट लिखा है— ''सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञः सर्वत्र च निबन्धकृत्''। यद्यपि ये प्रधान रूप से वैयाकरण माने जाते हैं तथापि दर्शन एवं साहित्य में भी इनके मतों का लोहा विद्वान् मानते ही हैं। इनके व्याख्या ग्रन्थों का महत्त्व मूल ग्रन्थों से कम नहीं है।

नागेश की कृतियाँ— विविध माध्यमों से यह ज्ञात होता है कि नागेश ने लगभग १०० ग्रन्थों का प्रणयन किया था, परन्तु प्रामाणिक स्रोतों द्वारा ९३ ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त हो सकी है। व्याकरण के २६, दर्शन के ७, अलङ्कार के ९, साहित्य के २, स्तोत्र ६, धर्मशास्त्र ९, स्मृति १६, ज्योतिष ८, तन्त्र ५, गीता १, कोश १, प्रकीर्ण २, कुल संख्या ९३ होती है।

प्रथम अध्याय

सूत्रार्थोपकारक परिभाषाएँ

व्याकरणशास्त्रीय परिभाषा ग्रन्थों में विवेचित परिभाषाओं को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें प्रथम वर्ग में उन परिभाषाओं का समावेश होता है, जो किसी सूत्र के अर्थविषयक सन्देह का निराकरण करने में सहायक होती है। इस प्रकार की परिभाषाओं की संख्या ३२ है। इस प्रकार की समस्त परिभाषाओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रथम अध्याय में किया जा रहा है—

(१) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्।।प०१।।

परिभाषा का उपक्रम— 'अइउण्'[१] 'लण्'[२] इन दो प्रत्याहार सूत्रों में पाणिनि दो बार एक 'ण्' अनुबन्ध ही पढ़ते हैं। इस णकार से 'अण्' और 'इण्' दो प्रत्याहार होते हैं। इस प्रकार जिन सूत्रों में अण्[३] और इण्[४] प्रत्याहारों का ग्रहण किया गया है, वहाँ यह सन्देह होता है कि किस-किस सूत्र में अण् प्रत्याहार 'अइउण्' के ण् तक और किस-किस में 'लण्' के पर ण् तक लिया जाय? और 'इण्' प्रत्याहार किस ण् तक? एक ही अनुबन्ध होने से शंका होना स्वाभाविक है। फलतः सूत्र— (लक्षण) से अभिमत अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि सन्देह के रहते शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। अतः सन्देह की निवृत्ति आवश्यक है, इसीलिये यह प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— शास्त्र में कहीं भी सन्देह होने पर व्याख्यान के द्वारा ही विशेषकिसी एक पदार्थ का निश्चित ज्ञान हो जाता है, क्योंकि सन्देहमात्र से लक्षणशास्त्र को अलक्षण[५]— शब्दसिद्धि न करने वाला मानना तर्कसंगत नहीं है।[६]

---

१. अष्टा०प्रत्या०सू० १। २. वही, प्रत्या०सू० ६।

३. केऽणः अष्टा० ७/४/१३/ आदि।

४. इण्कोः अष्टा० ८/३/५६/ आदि।

५. अननुष्ठापकं लक्षणम्—'अलक्षणम्'-साधु-शब्दप्रयोगाजनकं लक्षणमित्यर्थः- यथेष्ट कार्य का निर्वाहक न हो सकने वाला शास्त्र। इस प्रकार 'अलक्षणम्' में नञ् का लक्षण के साथ अनुष्ठापक अर्थ का अन्तर्भाव करके समासवृत्ति हुई है। —प०शे०, पृ० ८।

६. म०भा० १/१/१।

परिभाषा का आशय— इस परिभाषा में 'व्याख्यान' शब्द से, भाष्यकार आदि शिष्टों के द्वारा प्रतिपादित षड्विध व्याख्यान समझना चाहिए : (१) पदच्छेद, (२) पदार्थ, (३) अन्वय, (४) भावार्थ, (५) शंका, (६) समाधान[१]— से किसी एक अर्थ का निश्चय कर लेना चाहिए, कहीं सन्देह होने से उसको व्यर्थ जानकर उपेक्षित नहीं करना चाहिए।

परिभाषा में हेतु— यह व्याकरण शास्त्र शब्दों के साधुत्व का अनुशासन करता है। इसमें सन्देह होने से कार्य निर्वाहकता नहीं आ सकेगी। अत: शास्त्र-प्रणयनरूप आचार्य का आयास व्यर्थ हो जायगा। ऐसी स्थिति में सन्देहजनक एक ही ण् अनुबन्ध का दो स्थलों पर आसञ्जन करना यह सिद्ध करता है कि शिष्ट वचन में कहीं भी सन्देह होने पर इसकी निवृत्ति शिष्टों के व्याख्यान द्वारा की जाती है।[२] शिष्ट (व्यवहार) इसमें प्रमाण है। उनका व्याख्यान ही सन्देह में निवृत्ति का एकमात्र उपाय है। उपायान्तर (ज्ञापक) आदि) की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसा इस परिभाषा से बोध होता है।[३] (इसमें ज्ञापक शून्य स्थल पर भी सन्देह की निवृत्ति व्याख्यान मात्र से कर लेनी चाहिए।)

परिभाषा का प्रयोजन— इसमें शिष्टों का व्याख्यान ऐसा ही है कि व्याकरण शास्त्र में सर्वत्र 'इण्' पर[४] के णकार तक लिया जाता है और 'अण्'[५] पूर्व णकार तक ही। केवल 'अणुदित्[६] सवर्णस्य चाप्रत्यय:' सूत्र में पठित 'अण्' परवर्ती णकार तक लिया जाता है। इस प्रकार चार[७] सूत्रों में 'अण्' पूर्व णकार तक का बोधक होता है। 'इण्' सभी स्थलों पर परवर्ती णकार तक लिया जाता है।[८] ऐसी आचार्य व्याख्यान-परम्परा है।[९] परन्तु इसमें युक्ति भी दी जा सकती है। यथा 'केऽण:',[१०] 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण:'[११] यहाँ 'अण्' ग्रहण सामर्थ्य से यह निश्चित होता है कि 'अण्' पूर्व णकार

---

१. द्र० निम्न कारिका —

पदच्छेद: पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्।।

द्र०हैम०, पृ० ५ एवं उद्द्योत की छाया टी०नवान्हिक, पृ०२३।

२. प्र०म०भा०, प्रत्या०सू० ६।

३. म०भा० उ०प्रत्या०सू० ६।

४. 'लण्' अष्टा०प्रत्या०सू० ६।

५. 'अइउण्' अष्टा०प्रत्या०सू० १।

६. अष्टा० १/१/६९।

७. अष्टा० केऽण: ७/४/१३, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: ६/३/१११, उरण् रपर: १/१/५१, अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक: ८/४/५७।

८. अष्टा० 'इण्को': ८/३/५७।

९. म०भा० प्रत्या०सू० ६।

१०. अष्टा० ७/४/१३।

११. अष्टा०, ६/३/१११।

तक लिया जाता है। यदि परवर्ती ण् तक हो, तो अच् का ही ह्रस्व एवं दीर्घ होने से 'अचश्च'[१] इस परिभाषा से ही इष्ट सिद्धि हो जाती। 'अण्' ग्रहण व्यर्थ हो जाता।[२] इसी प्रकार 'उऋत्'[३] सूत्र में ऋकार का तपर करना यह सिद्ध करता है कि 'अणुदित्०' सूत्र में 'अण्' पर णकार तक गृहीत करना चाहिए।[४] अन्यथा तपरकरण व्यर्थ है तथा ऐसे ही 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'[५] इस सूत्र में इ तथा उ के लिए लघुभूत 'इण्'[६] न लिखकर 'य्वोः' यह गुरुभूत[७] उल्लेख सिद्ध करता है कि 'इण्' में सर्वत्र परवर्ती 'ण्' ही लेना चाहिए।[८]

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा शास्त्र का प्रवृत्ति विषय स्पष्ट करती है। इस परिभाषा का पाठ इसी रूप में व्याडि प्रभृति[९] सभी प्राचीन आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया हैं केवल जैनेन्द्र ने नहीं पढ़ी है।[१०] सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इस परिभाषा का सम्पूर्ण परिभाषाओं से प्रथम पाठ किया है।[११] भाष्य में भी सबसे पहले इसी का उल्लेख है।[१२] इस कारण नागेश ने भी इसका सर्वप्रथम परिभाषा रूप में पाठ किया है। इसकी सामान्य व्याख्या सभी में समान है। व्याडि, कातन्त्र एवं पुरुषोत्तमदेव ने भी इसकी व्याख्या की है। नागेश ने पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेवादि के आधार पर इसका सामान्य अर्थ किया है। सभी परिभाषा-व्याख्याताओं ने इस परिभाषा के आधार पर यह स्वीकार किया है कि व्याकरण का प्रत्येक सूत्र अथवा नियम, सामान्यतया स्पष्ट व्याख्यात है। यदि कहीं किसी नियम अथवा सूत्र में सन्देह हो जाता हो तो उससे यही समझना चाहिए कि यह हमारी अल्पज्ञता है, क्योंकि हम व्याख्या का तात्पर्य ग्रहण नहीं कर पाते हैं, जो तात्पर्य स्पष्टता के लिए प्राचीन वैयाकरणों ने

---

१. अष्टा०, १/२/२८।
२. म०भा० प्रत्या० सू० ६।
३. अष्टा० ७/४/७।
४. म०भा० प्रत्या० सू० ६।
५. अष्टा० ६/४/७७।
६. 'इणः' ग्रहण में १ मात्रा इ की, १/२ मात्रा ण् की, १ मात्रा अ की, १/२ मात्रा विसर्ग की, सबका योग ३ मात्रा। इस प्रकार इस निर्देश में १/२ मात्रा का लाघव है।
७. 'य्वोः' ग्रहण में १/२ मात्रा य् की, १/२ मात्रा व् की, २ मात्रा ओ की, १/२ मात्रा विसर्ग की, सबका योग ३।। मात्रा। आधी मात्रा का गौरव है।
८. म०भा० प्रत्या०सू० ६।
९. शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।
१०. जैनेन्द्रवृत्ति।
११. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।
१२. द्र० म०भा० प्रत्या०सू० ६।

दिया है। पतञ्जलि ने इस परिभाषा का लगभग आगे दर्जन सूत्रों में उपयोग किया है तथा यह सुझाव दिया है कि यह परिभाषा प्राचीन वैयाकरणों ने पाणिनि के नियमों की प्रवृत्ति में सन्देह की निवृत्ति के लिए बनायी है। परिभाषा के हेतु के विषय में नागेश तथा अन्य व्याख्याकारों में मतभेद है। व्याडि तथा अन्य[१] सभी परिभाषा व्याख्याकार इसके होने में ज्ञापक देते हैं। नागेश भाष्य का अनुगमन करते हुए उपदेश परम्परा से सिद्ध इस परिभाषा को आचार्य के व्यवहार से सिद्ध मानते हैं, ज्ञापक से नहीं।[२] परिभाषा का प्रयोजन सभी ने एक जैसा उदधृत किया है। नागेश केवल यही नवीन निष्कर्ष निकालते हैं कि आवश्यक व्याख्यान से ही सर्वत्र विशेष अर्थ का निर्णय सम्भव होने पर ज्ञापक आदि प्रयास करना व्यर्थ है। ज्ञापक आदि से सन्देह का परिहार करने में गौरव है और ज्ञापक शून्य स्थल में सन्देह निवृत्ति भी नहीं होती है। अत: सर्वत्र व्याख्यान का आश्रयण करके ही अभीष्ट अर्थ का निर्णय करना चाहिए। शेषाद्रि सुधी ने इस परिभाषा का उदाहरण दिया है परन्तु नागेश ने नहीं दिया है। इस परिभाषा की नागेश कृत व्याख्या से सम्यक् आशय विदित हो जाता है।

(२) यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्।।प०२।।

परिभाषा का उपक्रम— व्याकरणशास्त्र में संज्ञा और परिभाषा, जो विधि-शास्त्रों की संस्कारक हैं, उन-उन शास्त्रों से विहित कार्यों की निर्वाहक हैं, अथवा कार्य के निर्वाह में उपकारक हैं, के विषय में दो पक्ष प्रतिष्ठित हैं। इसके लिये दो परिभाषायें हैं। इनमें प्रथम परिभाषा यह है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— संज्ञा तथा परिभाषायें अपने उद्देश (उच्चारण स्थान) को न छोड़ती हुई, अपने-अपने अर्थ को (जो विधि-शास्त्र द्वारा अपेक्षित हैं) स्वलिंग-लिंगित विधिशास्त्र में अर्पित कर देती हैं। संज्ञा और परिभाषा, विधिशास्त्र में उपस्थित नहीं होती हैं। इस प्रकार अपने उपदेश देश में रहकर ही कार्य करती हैं, यही इनका 'यथोद्देशत्व' है।[३]

परिभाषा का आशय— उद्देशमनतिक्रम्य— 'यथोद्देशम्'— यहाँ 'यथा' शब्द के अर्थ— (अनतिक्रमण) में अव्ययीभाव-समास में 'यथोद्देश' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'उद्देश'[४] शब्द का अर्थ उपदेश-स्थल है। अर्थात् जहाँ पर संज्ञा और परिभाषाएँ पठित हैं, वही स्थान उनका मानना चाहिए। उसी पाठ-देश में ही उसके सामान्य अर्थ का

---

१. कातन्त्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर, शेषाद्रि सुधी।

२. प०शे० पृ० ८-९। ३. प०शे० पृ० ११।

४. उद् पूर्वक, दिश् धातु से अधिकरण में घञ् प्रत्यय। उद्दिश्यते- उपदिश्यतेऽस्मिन्निति= उद्देश:।

बोध होकर उसका स्मरण शक्ति से सर्वत्र शास्त्र में व्यवहार सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार परिभाषा के विषय में भी समझना चाहिए। जैसे संज्ञाशास्त्र के सामान्य वाक्यार्थ के बोधोपरान्त उसकी विशेष अर्थ में शक्ति जानकर उसके ही स्मरण से विधि सूत्र में व्यवस्था कर लेते हैं तथा उस विधि सूत्र का पूर्ण तात्पर्य निकल जाता है।[१] इसी प्रकार परिभाषा के नियम का स्मरण करके सम्पूर्ण शास्त्र में कार्य सिद्ध होता है।[२] इस प्रकार संज्ञा और परिभाषा अपने स्थान से ही शास्त्र का उपकार करती हैं।

परिभाषा में हेतु— इसके समर्थन में प्राचीन और नवीन वैयाकरणों ने अनेक हेतु दिये हैं।

(क) कैयट का दृष्टिकोण– इस परिभाषा के विषय में हेतु प्रस्तुत करते हुए कैयट ने 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्'[३] के भाष्य की व्याख्या में यह कहा है कि उपदेश स्थल पर संज्ञा और परिभाषा के वाक्यार्थ बोध के पश्चात्, इसका क्या प्रयोजन है? इसकी जिज्ञासा होने पर भी, इसका कुछ प्रयोजन होगा ही, इस सामान्य प्रयोजन के ज्ञान से सन्तुष्ट होकर प्रयोजन-विशेष या कार्यविशेष जानने की आकांक्षा न रखने वाले यथाश्रुत-ग्राही अधिकारी को ध्यान में रखकर यह 'यथोद्देश-पक्ष' है।[४] आशय यह है कि 'यथोद्देशपक्ष' में संज्ञा और परिभाषायें स्वतन्त्र रहकर ही विधि की उपकारक होती हैं। इस प्रकार 'वाक्यैकवाक्यता'[५] द्वारा अन्वय होकर अर्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार कैयट संज्ञा और परिभाषा के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण रखते हैं। **(ख) नवीन वैयाकरणों का मत–** संज्ञा के विषय में कैयट से सहमत होते हुए भी परिभाषा के सम्बन्ध के विषय में नवीन वैयाकरणों का मतभेद है। नागेश[६] ने इसको अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार परिभाषाशास्त्र यथोद्देश पक्ष में भी विधि सूत्रों के साथ मिलकर, एक-वाक्यता[७] द्वारा वाक्यार्थ बोध में सहायक होते हैं। कारण यह है कि 'तस्मिन्निति

---

१. यथा 'मृजेर्बृद्धिः' (७/२/११४) विधिसूत्र में 'बृद्धि' शब्द से 'बृद्धिरादैव्' संज्ञासूत्र द्वारा लक्षित 'बृद्धि' अर्थ में शक्ति जानकर, उस सूत्र का अर्थ होता है कि "बृद्धि शब्द से लक्षित आत्, ऐच् मृज् के इक् के स्थान में हो"। प॰शे॰, पृ॰ ११,पं॰३।

२. उपर्युक्त टि० में ही 'इको गुणबृद्धी' (१/१/३) परिभाषा के नियम के अनुसार 'इक्' का स्मरण किया गया है।

३. म॰भा॰ १/१/११।

४. प्र॰ १/१/११। 'यदानुद्दिश्य प्रयोजनविशेषम्०' इत्यादि स्थल।

५. संज्ञा और विधि शास्त्र, दोनों अपने-अपने वाक्यस्वरूप अर्थ को एकत्र जोड़कर एक नया वाक्य बनाती है, यही 'वाक्यैक-वाक्यता' है।

६. द्र० प॰शे॰, पृ० १४।

७. अर्थात् पदों की एकवाक्यता करके बोध-परिभाषा तथा विधि शास्त्र के पदों को मिलाकर अर्थ किया जाता है।

निर्दिष्टे पूर्वस्य'[१] इत्यादि[२] परिभाषाओं का सामान्य वाक्यार्थ बोध होने के पश्चात्, सप्तमी से निर्दिष्ट कार्य कहाँ है? इस प्रकार नियम विधि-विशेष-विषय की आकांक्षा होने पर उसी स्थान पर सप्तम्यन्त निर्दिष्ट 'इको यणचि'[३] इत्यादि[४] सप्तम्यन्त पद घटित सम्पूर्ण विधि सूत्र उपस्थित हो जाते हैं। तब उनके वाक्यार्थ बोध के लिये परिभाषा सूत्रों की आवृत्ति करके, उनके साथ एकवाक्यता करके ही नियम होता है। फलत: परिभाषा शास्त्र, अपने समीप आकांक्षित-विधि सूत्र के साथ मिलकर ही वाक्य पूर्ण करते हैं। इस प्रकार अपने देश में ही स्थित होकर एकवाक्यता से यथाद्देश होता है।[५]

'पूर्वत्रासिद्धम्'[६] के सन्दर्भ में परिभाषा की अप्रवृत्ति– यथोद्देशपक्ष में परिभाषा असिद्ध प्रकरण में नहीं प्रवृत्त होती है, क्योंकि सवासात अध्याय वाली परिभाषा की दृष्टि से त्रिपादी[७] की विधियाँ असिद्ध है।[८] अत: इस पक्ष में सपाद सप्ताध्यायीस्थ मानकर त्रिपादी के असिद्ध हो जाने पर प्रवृत्ति नहीं होती है।

यथोद्देश पक्ष में संज्ञा तथा परिभाषा का देश— इस पक्ष में संज्ञा और परिभाषा का, उनका अपना उच्चारण प्रदेश ही अपना स्थान समझा जाता है। यह प्रदीप-दृष्टान्त से समझा जा सकता है। 'षष्ठी स्थानेयोगा'[९] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया है। जैसे दीप-प्रभा के सम्पूर्ण गृह में व्याप्त होने पर भी, दीप का अपना ही स्थान रहता है, इसी प्रकार संज्ञा और परिभाषायें भी अपने पाठ देश का ही बोध कराती हैं।[१०] 'क्ङिति च' के भाष्य में कैयट का भी दृष्टिकोण ऐसा ही है।

विप्रतिषेध-व्यवस्था— इस पक्ष में 'विप्रतिषेधे[११] परं कार्यम्' सूत्र पाठदेश के ही परत्व की व्यवस्था करता है। अर्थात् अष्टाध्यायी में जो सूत्र जहाँ पर पढ़ा गया है, उससे आगे के सूत्र का कार्य पर होगा।

---

१. अष्टा० १/१/६६।

२. 'तस्मादित्युत्तरस्य' १/१/६७, 'क्ङिति च' १/१/५। आदि परिभाषा सूत्र।

३. अष्टा॰ ६/१/७७।

४. अष्टा॰ तिङ्ङतिङः ८/१/२८ 'ईदास:' ७/३/८३।

५. गूढार्थ०, पृ० १३-१४। ६. अष्टा॰ ८/२/१।

७. अष्टा० के अष्टमाध्याय के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पाद वाले सूत्र अथवा कार्य।

८. अष्टा॰ ८/२/१।

९. म॰भा॰, १/१/४९ "अधिकारो नाम त्रिप्रकार:०" इत्यादि स्थल।

१०. प॰शे॰, पृ०, १८, पं० ६/७।

११. प्र० १/१/५ 'अथवा यदेतस्मिन्योगे०' स्थल में 'अथवा' प्रतीक की व्याख्या।

निषेध-विषयक सूत्र का परिभाषात्व— परिभाषायें परार्थ होती हैं तथा निषेध-वाक्य भी निषेध्य-विशेष की आकांक्षा रखते हैं।[१] अत: उनका विधि सूत्र के साथ एकवाक्यता (एकत्र जोड़कर नये वाक्य) से अन्वय होला है। इस प्रकार उन्हें भी परिभाषा के सदृश होने से परिभाषा नाम से कह दिया जाता है।[२] उनकी एकवाक्यता 'पर्युदासन्याय'[३] (तद्भिन्न तत्सदृश) से होती है। इस प्रकार 'क्ङिति च'[४] का अर्थ होगा— 'कित्, ङित्, गित्-भिन्न सार्वधातुक, आर्धधातुक, प्रत्ययों के परे रहते इक् के स्थान में गुण, वृद्धि होते हैं। इस प्रकार इन्हें भी परिभाषा मानकर यथोद्देशपक्ष, कार्य-कालपक्ष होते हैं।

यथोद्देश पक्ष में संज्ञा-परिभाषा का प्रवृत्तिक्षेत्र — (क) परिभाषा असिद्ध प्रकरण में प्रवृत्त नहीं होती है। **(ख)** इस शास्त्र में कुछ संज्ञाओं के विषय में यथोद्देश-पक्ष ही होता है— 'आकडारादेका संज्ञा'[५] इस अधिकार में भ,[६] पद[७] तथा अन्य आकाडारीय नदी[८] आदि[९] संज्ञाओं के विषय में यथोद्देश-पक्ष ही माना जाता है। अतएव पाठदेशस्थ परत्व से ही 'बाध्य-बाधक-भाव' सिद्ध हो जाता है। यथा 'राज्ञाम्'[१०] यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'[११] से पद संज्ञा और 'यचिमम्'[१२] से भ संज्ञा प्राप्त है। यहाँ यथोद्देश-पक्ष मानकर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[१३] से पर कार्य भ संज्ञा होती है, फलत: न-लोप[१४] नहीं होता। इसी प्रकार अन्य[१५] उदाहरण भी इस पक्ष में सिद्ध होते हैं। **(ग)** इन पदादि संज्ञाओं का अपने स्थान पर ही किये गये शक्तिग्रह से ही त्रिपादीस्थ विधिशास्त्र में भी निर्वाध रूप से व्यवहार होता है। अन्यथा संज्ञा के उपकारक होने से त्रिपादीस्थ उपकार्य विधाशास्त्रों का कोई वाक्यार्थ बोध ही नहीं हो सकेगा।[१६] इस प्रकार लक्ष्यानुरोध से 'यथोद्देश-पक्ष' का आश्रयण किया जाता है।

---

१. अष्टा॰ १/४/२।

२. म॰भा॰ १/१/५- "अथवा कार्यकालं॰" स्थल तथा वहीं उ॰ भी।

३. 'तद्भिन्न तत्सदृश रूप अर्थ मानकर कार्य करना' पर्युदासन्याय कहलाता है।

४. अष्टा॰ १/१/५। ५. वही, १/४/१।

६. अष्टा॰ १/४/१८ 'यचि भम्'। ७. अष्टा॰ १/४/१४ 'सुप्तिङन्तम् पदम्'।

८. अष्टा॰ १/४/३ 'यू स्त्र्याख्यौ नदी'।

९. अष्टा॰ १/४/७ 'शेषोघ्यसखि'।

१०. राजन् शब्द, षष्ठी बहु॰ आम् प्रत्यय, अन् के अ का लोप होकर निष्पन्न।

११. अष्टा॰ १/४/१७। १२. अष्टा॰ १/४/१८।

१३. अष्टा॰ १/४/२।

१४. द्र॰ अष्टा॰ ८/२/७। 'नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य'।

१५. दण्डिना, गौर्या आदि उदाहरण। १६. प॰शे॰, पृ॰ २४, पं॰ २।

समीक्षा— व्याकरणशास्त्र में संज्ञा और परिभाषा का, जिनके साथ वे सम्बद्ध हैं उन नियमों के साथ, व्याख्यान करने में दो पक्ष माने गये हैं। उनमें एक साधारण पक्ष है, जिसे सामान्यत: यथोद्देश-पक्ष कहा जाता है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर और नीलकण्ठ ने इस परिभाषा पर आगे चलकर विचार किया है।[१] परन्तु नागेश ने भाष्यकार के लक्ष्यानुरोध से दोनों पक्षों का आश्रयण करने के कारण यही कथन करना उचित समझा है। इस परिभाषा का स्वरूप[२] सभी परिभाषा पाठों में एक समान ही उपलब्ध होता है। परन्तु व्याडि, कातन्त्र, चान्द्र और जैनेन्द्र ने यह परिभाषा नहीं मानी है।[३] परिभाषा के सामान्य अर्थ तथा हेतु के विषय में प्राचीन[४] आचार्यों के साथ नागेश का कोई मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता है। केवल व्याख्या मिलती है, जिससे इसका स्पष्ट तात्पर्य ज्ञात नहीं हो पाता है। इसके विपरीत नागेश ने अति विस्तार से व्याख्या की है। यह किस प्रकार से विधि-शास्त्रों की संस्कारक होती है? इसका तात्पर्य क्या है? वैशिष्ट्य क्या है? आदि विषयों का स्पष्ट कथन किया गया है। यह स्यात् इनका मौलिक चिन्तन है।[५] इस पक्ष की उपपत्ति के विषय में नागेश का कैयट से मतभेद है। कैयट मानते हैं कि संज्ञाएँ तथा परिभाषायें अपने उच्चारणस्थान का त्याग न करती हुई, विधि शास्त्र द्वारा अपेक्षित निज अर्थ को अपने चिन्ह से चिन्हित विधिशास्त्र में अर्पित कर देती हैं।[६] परन्तु नागेश परिभाषा के विषय में भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। उनके अनुसार परिभाषायें अपने वाक्यार्थ का पूर्ण निश्चयात्मक बोध करने के लिए विधिशास्त्र का आकर्षण करके कार्य निर्वाह करती हैं।[७] इसका लाभ यह है कि इस पक्ष को मानकर कोई परिभाषा त्रिपादी में नहीं प्रवृत्त होती है।[८] संज्ञा-परिभाषा के स्थान के विषय में सीरदेवादि ने, इस पक्ष में जहाँ संज्ञा और परिभाषा का पाठ किया गया है, वहीं उनका स्थान समझा जाता है— माना है।[९] नागेश ने भी यही माना है। विप्रतिषेध विषय पर किसी प्राचीन परिभाषा व्याख्याकार ने विचार नहीं किया है। परन्तु नागेश ने इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इसी पाठदेशस्थल की ही मानकर विप्रतिषेधकार्य होता है। ऐसा ही कैयट मानते हैं।[१०] नागेश ने इन्हीं का अनुसरण किया है। परिभाषा के प्रयोजनों का नागेश ने केवल संकेत किया है किन्तु पुरुषोत्तम और सीरदेवादि ने प्रयोजनों का स्पष्टत: कथन किया है। इस प्रकार कुछ संज्ञाओं में केवल यथोद्देश-पक्ष ही होता है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है तथा संज्ञाओं का इस पक्ष में त्रिपादीस्थ विधि शास्त्रों

---

१. परि॰ संग्रह तत्तत् परि॰ पाठ।

२. शाकटायन, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

३. परि॰ संग्रह।

४. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेववादि।

५. प॰शे॰, परि॰ सं॰ ३।

६. प॰शे॰, पृ॰ १२।

७. प॰शे॰, पृ॰ १३-१४।

८. वही, पृ॰ १५।

९. परि॰ संग्रह।

१०. म॰भा॰ प्र॰ १/१/६६।

में व्यवहार होता है, इसका भी सहेतुक प्रतिपादन किया गया है। फलतः नागेश के इस व्याख्यान से यथोद्देशपक्ष का स्वभाव, प्रवृत्ति आदि का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। परिभाषा का तात्पर्य, उपपत्ति, विधि वाक्य के साथ सम्बन्ध प्रकार, त्रिपादी में प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति का निर्णय, उनके स्थान का निर्णय, विप्रतिषेध की प्रवृत्ति आदि का निर्णय परिभाषेन्दुशेखर में दृष्टिगोचर होता है।[१]

(३) कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्।।प०३।।

परिभाषा का उपक्रम— संज्ञा और परिभाषा के सामान्यतः उपदेशस्थल में वाक्यार्थ बोध हो जाने के पश्चात् भी प्रयोजनविशेष की जिज्ञासा नियमतः होती ही है। अतः जिज्ञासानिवृत्ति के लिये विधि शास्त्र के देश में सम्बन्ध करके वाक्यार्थ सिद्ध करते हैं और कार्य के प्रधान होने से विधि देश में ही संज्ञा एवं परिभाषा का आक्षेप करना युक्त है। इस प्रकार जो पक्ष सिद्ध होता है उसी का कथन इस परिभाषा में किया गया है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ विधिशास्त्रों के द्वारा अपने समीप में आक्षिप्त कर ली जाती हैं अर्थात् उस-उस विधिशास्त्र में उस-उस परिभाषा की सन्निधि का बोध होता है तथा उनके उपस्थित होने पर ही विधिवाक्यों का पूर्ण निश्चयात्मक बोध होता है।

परिभाषा का आशय— कार्यकाल का कार्यस्य काल : (-देशः) एवं कालो यस्य तत् 'कार्यकालम्'[२] ऐसा कैयट आदि का अभिमत अर्थ ठीक नहीं है। नागेश के अनुसार कार्येण काल्यते-स्वसन्निधिं प्राप्यते इति कार्यकालः, कार्य विधायक शास्त्र अपने तात्पर्य के निश्चित अर्थ के बोध के लिए अपने में रहने वाले चिन्ह से चिन्हित परिभाषाओं का आक्षेप करता है, ऐसा अर्थ है।[३]

परिभाषा में हेतु— प्रस्तुत परिभाषा होने के कारण 'पूर्वत्रासिद्धम्'[४] के भाष्य में त्रिपादी के असिद्ध होने से सपाद सप्ताध्यायीस्थ परिभाषाओं की प्रवृत्ति त्रिपादी शास्त्र में नहीं होनी चाहिए, ऐसी शंका की गई है। 'यथोद्देशपक्ष' में परिभाषा के सिद्ध होने पर भी, विधिशास्त्र के असिद्ध होने से आकांक्षा का अभाव है। अतः संस्कार नहीं हो सकता? इसका समाधान कार्यकाल-पक्ष का आश्रयण करके किया जा सकता है। फलतः इस पक्ष में किसी एक की आकांक्षा से भी सम्बन्ध होता है, यह ज्ञात होता है। अदृष्टपिशाचन्याय[५] से त्रिपादीस्थ शास्त्र से आकृष्ट किया जाता है, इस प्रकार कार्यकाल

---

१. प०शे०, पृ० ११-२५। २. प्र० १/१/५ एवं १/१/३।

३. प०शे०, पृ० २७। ४. म०भा० ८/२/१।

५. अप्रत्यक्ष रूप से जिसका आकर्षण होता है।

पक्ष भाष्यानुगृहीत[१] है। जहां विधि (कार्य) अपने संस्कार के लिए संज्ञा और परिभाषा का आक्षेप करता है, वही 'कार्यकाल-पक्ष' कहलाता है।

बोध प्रकार— 'तस्मिन्निति०'[२] 'तस्मादित्युत्तरस्य'[३] आदि परिभाषाओं की विधि प्रदेशों में, परिभाषा के अर्थ का ज्ञान होने पर अव्यवहित पूर्व इत्यादि अंश की, विधि सूत्रों के पदों के साथ एकवाक्यरूपता होती हैं। पश्चात् कार्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार अलोऽन्त्यस्य,[४] इको गुणबृद्धी,[५] क्ङिति[६]च आदि परिभाषाएँ तथा प्रगृह्य,[७] वृद्धि[८] आदि संज्ञाएँ विधिशास्त्र के द्वारा आकांक्षित होकर विधि प्रदेश में उपस्थिति का ज्ञान करवाती हैं।

कार्यकाल में संज्ञा तथा परिभाषा देश– (क) परिभाषा का देश— परिभाषा की अपने ही देश में स्थिति मानकर तत्तत् विधि प्रदेश में अपनी बुद्धि से वहाँ उपस्थिति का बोध करके कार्य किया जाता है। अत: उसका पाठकृत देश ही अपना देश होता है। विधिदेश में तो उस बुद्धि से एकवाक्यता होती है। इसमें षष्ठी स्थानेयोगा[९] सूत्र का भाष्य प्रमाण है। (फलत: कार्यकाल में तद्देशीय-व्यवहार परिभाषा के विषय में नहीं होता है।) **(ख) कार्यकाल में संज्ञा का मुख्य स्थान**— संज्ञा शास्त्र का, कार्यकाल पक्ष में, जो विधि का देश होता है, वही उसका देश माना जाता है।[१०] क्योंकि इस पक्ष में संज्ञा-शास्त्र का कुछ पृथक् अर्थ बुद्धिस्थ नहीं होता है। इसका लक्ष्य संस्कार में अनुपयोग रहता है जब तक कि इसका विधि के साथ एकवाक्यता से योग नहीं हो जाता। सफल वाक्यार्थ बोध विधिदेश में ही होता है। अत: युक्त ही है कि यह विधिदेश हो। इसमें भाष्य का प्रमाण है। इसलिए अदसो मात्[११] सूत्रस्थ यह भाष्य 'अयादिभ्य: परैव प्रगृह्यसंज्ञा' संगत होता है। अदसो मात् प्रगृह्यसंज्ञा विधायक शास्त्र की अणोऽ प्रगृह्यस्यानुनासिक:[१२] के साथ एकवाक्यता होने पर, अदसो मात् के प्रति 'अमी' में अदसोऽसेर्दादु दो म:[१३] से विहित मुत्व असिद्ध नहीं है। असिद्धता शास्त्रीय कार्य के लिए होती है। और वह कार्य-ज्ञान के होने पर ही हो सकती है और कार्यज्ञान विधिप्रदेश में ही हो सकता है। इस प्रकार विधि देशस्थ होने से अदसो मात् शास्त्र पूर्व नहीं रहता।[१४]

---

१. प्र० ८/२/१, म०भा० ८/२/१, १/१/५।
२. अष्टा० १/१/६६।
३. वही, १/१/६७।
४. वही, १/१/५२।
५. वही, १/१/३।
६. वही, १/१/५।
७. अष्टा० १/१/११।
८. अष्टा० १/१/१।
९. म०भा० १/१/४९ ता उ० भी।
१०. प०शे०, पृ० २२।
११. द्र० म०भा० १/१/१२।
१२. अष्टा० ८/४/५७।
१३. अष्टा० ८/३/८०।
१४. उ० १/१/११।

विप्रतिषेध-सूत्र की प्रवृत्ति— इस पक्ष में संज्ञाओं का विधि देशगत पौर्वापर्य मानकर विप्रतिषेधे पर कार्यम्[१] से परत्व व्यवस्था होती है, क्योंकि प्रदेश देश में ही वाक्यार्थ का बोध होने पर ही विरोध का ज्ञान होता है। अत: विप्रतिषेध[२] सूत्र की प्रवृत्ति के लिये प्रदेश-देशस्थ परत्व लिया जाता है। अत: एचोऽयवायाव:[३] से अदसो मात्[४] विहित प्रगृह्य संज्ञा परवर्ती हो जाती है। यह उक्त भाष्य-वचन सूपपन्न हो जाता है।

कार्यकाल-पक्ष में परिभाषाओं का मुख्य देश— यहाँ यह विचार्य है कि परिभाषाओं का कार्यकाल पक्ष में मुख्य देश कौन सा है। कैयट का इको गुणबृद्धी[५] सूत्र के भाष्य की व्याख्या में कथन है— यथोद्देश पक्ष में पाठ-देश के अनुसार परिभाषाओं का पौर्वापर्य होता है, कार्यकालपक्ष में उनके विधिदेशीय होने से, एकदेशस्थ होने से पौर्वापर्य का प्रसंग ही नहीं। परन्तु भाष्यकार[६] ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्[७] इस सूत्र के प्रसंग में तस्मादित्युत्तरस्य, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य इन दो परिभाषाओं की उपस्थिति होने पर, पर होने से 'उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशों बलीयान्' ऐसा कहते हैं। स्पष्ट ही यहाँ सूत्रपाठ की अपेक्षा करके परत्व गृहीत किया गया है।

कैयट को प्रमाण मानने पर यह भाष्य असंगत होने लगता है?[८] उक्त असंगति तभी दूर हो सकती है, जब यह मानें कि विप्रतिषेध सूत्र की प्रवृत्ति के लिये कार्यकाल पक्ष में भी अष्टाध्यायी-पाठकृत-परत्व ही लिया जाता है। अर्थात् परिभाषाओं का मुख्य देश उनका पाठ-देश है, विधिदेश नहीं। कारण यह है कि दोनों पक्षों में परिभाषायें अपने विधेय अर्थ को विधिशास्त्र में समर्पित करती हैं। इस अंश में दोनों में कुछ भी भेद नहीं है। कार्यकालपक्ष में भी अचेतन शास्त्र का अपने देश को त्याग कर विधिशास्त्र में जाना सम्भव नहीं। अध्येता के द्वारा विधिशास्त्र में परिभाषार्थ का योग कर देने से परिभाषाओं के अपने देश का त्याग नहीं हो जाता है। फलत: पाठकृत देश रहता ही है। कैयट भी 'तस्मिन्निति[९] निर्दिष्टे पूर्वस्य' सूत्र में अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ के आधार पर परत्व-व्यवस्था को स्वीकार करते हैं।

(क) कैयट का खण्डन— अत एव नागेश ने 'इको गुणबृद्धी'[१०] सूत्र के कैयट के वचन को, व्याघात-दोष-दूषित होने से चिन्त्य कहा है,[११] क्योंकि

---

१. अष्टा॰ १/४/२। २. अष्टा॰ १/४/२।

३. अष्टा॰ ६/१/७८। ४. अष्टा॰ १/१/१२।

५. प्र॰ १/१/३ यथोद्देशपक्षे परिभाषयो: पौर्वापर्यम् न तु कार्यकालतायाम्।

६. म॰भा॰ १/१/६६। ७. अष्टा॰ ८/३/३२।

८. उ॰ १/१/३।

९. प्र॰ १/१/६६ पर 'विप्रतिषेधात्' की व्याख्या।

१०. अष्टा॰ १/१/३। ११. प॰शे॰, पृ॰ ३०, पं॰ ७।

'तस्मिन्निति०'[१] के उनके कथन से तथा भाष्य[२] से विरोध प्राप्त होने से खण्डित अथवा व्यर्थ हो जाता है।

(अ) उपर्युक्त खण्डन में हेतु — कैयट के खण्डन में नागेश ने तीन हेतु दिये हैं — **(१)** कैयटोक्त विधि के अनुसार बौद्धिक सन्निधान से स्वदेश का त्याग मानने पर उन सूत्रों में परत्व कहीं भी नहीं रहेगा, क्योंकि सभी शास्त्र व्यवहार्यशब्द की सिद्धि के लिये हैं। फलत: प्रयोग-सिद्धि में प्रवृत्त हुये ये सभी एकदेशस्थ हो जायेंगे।[३] **(२)** कैयट की रीति के ही अनुसार, यथोद्देश पक्ष में विधिशास्त्र परिभाषाशास्त्र के साथ मिल जायेंगे। ऐसा होने पर उनमें भी पूर्वत्व तथा परत्व की व्यवस्था नहीं रहेगी।[४] **(३)** पूर्वत्व-परत्व व्यवस्था के नष्ट हो जाने से 'वृक्षेभ्य:' यहाँ 'सुपि[५] च' को बाधकर पर होने से 'बहुवचने[६] झल्येत्' से जो एत्व होता है, वह नहीं हो सकेगा। इस प्रकार परिभाषाएँ विधि देशीय नहीं होती हैं एवं परत्व पाठकृत देश का आश्रयण करके प्रवृत्त होता है— यही मानना चाहिये।

कार्यकाल पक्ष में परिभाषा का प्रवृत्ति क्षेत्र— (क) इस पक्ष में परिभाषा त्रिपादी में उपस्थित होती है। किसी की दृष्टि में असिद्ध नहीं मानी जाती है। (ख) इस पक्ष का लाभ यह भी है कि— 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:'[७] में गुण होने का काल है, वहाँ पर अलोऽन्त्यस्य,[८] इको गुणवृद्धी[९] इन दो परिभाषाओं की उसके साथ एकवाक्यता होनी चाहिए। इसलिए कार्यकालपक्ष है। इस पक्ष में एकवाक्यता हो जाती है।

समीक्षा— यह परिभाषा प्राय:[१०] व्याडि आदि सभी प्राचीन आचार्यों ने मानी है तथा इसका स्वरूप भी समान रूप में प्रस्तुत किया है। इस परिभाषा का सभी ने विस्तृत व्याख्यान किया है। सर्वप्रथम व्याडि ने इसका अर्थ प्रस्तुत किया है तथा उदाहरण देते हुए विस्तार से इसका ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है।[११] इसी का अनुकरण नीलकण्ठ ने किया है। उक्त विद्वानों के अनुसार 'कार्यकाल' का अर्थ यह है कि जो विधिसूत्र का

---

१. अष्टा० १/१/६६।

२. म०भा० १/१/४९ पर 'कश्चिदेकदेशस्थ०' इत्यादि स्थल।

३. गूढार्थ; पृ० ३१।

४. प०शे०, पृ० ३१, पं० ३-४।

५. अष्टा० ७/३/१०२।

६. अष्टा०, ७/३/१०३।

७. अष्टा०, ७/३/८४।

८. वही, १/१/५२।

९. वही, १/१/३।

१०. जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

११. परि० संग्रह व्याडि परि० सूचनम्।

काल (पाठ स्थान) है, वही इसका काल (स्थान) है।[१] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेवादि ने भी अति संक्षिप्त अर्थ किया है। नागेश ने भी इसका अर्थ किया है। कार्यकाल के अर्थ के विषय में इनका मतभेद है। इसका इन्होंने अति विस्तार से सप्रमाण निम्न अर्थ प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार 'कार्य शास्त्र द्वारा अपने (कार्यशास्त्र के) अन्वित निश्चित अर्थ के बोध के लिये अपने में स्थित चिन्ह से चिन्हित परिभाषाओं का आक्षेप होता है' यह अर्थ है।[२] इस पक्ष में परिभाषायें किस स्थान वाली समझी जाती हैं? इसका स्पष्ट विवेचन पूर्ववर्ती किसी परिभाषाव्याख्या में नहीं प्राप्त होता है। नागेश ने स्पष्ट कहा है कि इस पक्ष में भी परिभाषाओं का अपना पाठदेश ही उनका देश समझा जाता है एवं उसी स्थान को मानकर पौर्वापर्य को निर्णय किया जाता है।[३] परिभाषाओं का विधिदेश नहीं माना जाता है। इस प्रसंग में कैयट ने यह माना है कि इस पक्ष में परिभाषाओं का विधिदेश ही अपना देश हाता है। फलत: पौर्वापर्य का प्रसंग ही नहीं उठता। इसका नागेश ने विस्तार से खण्डन किया है। इस परिभाषा का व्याख्यान कैयट की प्रतिद्वन्द्विता में किया गया प्रतीत होता है। अनेकत्र कैयट का उल्लेख भी किया गया है। जैनेन्द्र ने भी विधि देशस्थ मानकर, उसी स्थान से पौर्वापर्यभाव माना है।

इस पक्ष को मानने में नागेश तथा प्राचीन आचार्यों में मतभेद है। व्याडि तथा नीलकण्ठ ने ज्ञापक सिद्ध माना है। हरिभास्कर ने भाष्य-प्रामाण्य से इसका स्वीकार किया है। पुरुषोत्तम तथा सीरदेव ने व्युत्पन्न प्रतिपत्तृभेद से इस पक्ष की उपपत्ति मानी है। कैयट अधिकारभेद से उत्तमाधिकारी के भेद से यह पक्ष है, ऐसा मानते हैं।[४] परन्तु नागेश ने कोई भेद नहीं माना है। इस पक्ष की विशेषता यही है कि परिभाषायें त्रिपादी में भी प्रवृत्त हो जाती है तथा इस पक्ष का आश्रयण करके किसी एक की आकांक्षा से भी सम्बन्ध हो सकता है, जिसे उक्त प्रवृत्ति सिद्ध सिद्ध हो जाती है। प्राचीन सभी विद्वानों ने इस परिभाषा के प्रयोजन का स्पष्ट कथन किया है परन्तु नागेश ने कोई संकेत नहीं किया है। नागेश ने व्याख्यान से इस पक्ष की विशेषता, आवश्यकता, पौवापर्य-निर्णय दोनों पक्षों में अन्तर आदि का सम्यक् बोध हो जाता है।

(४) अनेकान्ता अनुबन्धा:।।प०४।।

परिभाषा का उपक्रम— पाणिनीय व्याकरण में इत्संज्ञाक वर्णों का बहुत महत्त्व है। अनेक कार्य उनको मानकर किये जाते हैं। परन्तु इत्संज्ञक वर्ण जो कि 'अनुबन्ध' कहे जाते हैं,[५] विधेय स्थल में नहीं देखे जाते हैं। अत: यह शङ्का स्वाभाविक है कि इन इत्संज्ञकों को विधेय का अवयव माना जाय? अथवा न माना जाय? कुछ कार्य

---

१. परि० संग्रह व्याडि परि०सं० ५०। २. प०शे०, पृ० २७।

३. प०शे०, पृ० २९। ४. वही, १/१/११।

५. प०शे०, पृ० ३२ इत्संज्ञका अनुबन्धा:।

अवयव मानने पर होते हैं और कुछ कार्यों में अनुपपत्ति होती है। यही स्थिति अवयव न मानने पर भी सम्भव है।[१] अत: निर्णय के लिये दो परिभाषाएँ मानी गई हैं। उनमें प्रथम पक्ष इस परिभाषा द्वारा सिद्ध होता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अनुबन्ध (जिसके साथ लगे हुए हों, उसके वे) अवयव नहीं होते हैं।

परिभाषा का आशय— इस परिभाषा में 'एकान्त' पद अवयव का वाचक है, अत: अनेकान्त शब्द से 'अवयव नहीं है', यह अर्थ समझना चाहिए। आशय यह है कि अनुबन्ध धातु, प्रत्यय आदि के अवयव नहीं होते हैं।

परिभाषा में हेतु— नागेश ने नैयायिक शैली का अवलम्बन कर परार्थानुमान के तीन अवयव — (क) प्रतिज्ञा, (ख) हेतु तथा (ग) उदाहरण द्वारा अनुबन्ध का अनवयवत्व सिद्ध किया है। इसको सामान्यतया इस प्रकार समझ सकते हैं। **(क) प्रतिज्ञा**— जो अवयव होते हैं, वे कभी न कभी उनमें दिखाई देते हैं, जिसके वे अवयव होते हैं। **(ख) उदाहरण**— वृक्ष की शाखा कटने के पश्चात् यद्यपि वृक्ष पर नहीं दिखाई देती, कटने से पूर्व तो वहाँ दिखाई देती है। अत: अवयव है। **(ग) हेतु**— परन्तु ऐसा अनुबन्धों के विषय में नहीं है। अच्[२], इञ्[३] आदि प्रत्ययों के बोध्य अ, इ आदि ही प्रयोग में देखे जाते हैं। उनके अनुबन्ध च्, ञ् आदि कभी नहीं। क्योंकि अनुबन्ध का सर्वत्र लोप हो जाता है। अनुबन्ध यदि धातु, प्रत्यय आदि का अवयव होता तो 'अण्'[४] आदि का ण् 'औपगव:'[५] आदि के अकार के साथ दिखाई देता? इस प्रकार कभी भी अवयवावयवि-भाव से उपलब्ध न होने के कारण अनुबन्ध अवयव नहीं होते हैं, ऐसा जाना जाता है।[६]

परिभाषा से उत्पन्न दोष की शंका एवं उसका परिहार— (क) दोष— अनुबन्धों को अवयव न मानने पर कित्,[७] शित्,[८] ङित्[९] आदि में बहुव्रीहि समास नहीं हो सकता, क्योंकि 'क्' इत् यस्य स:-कित्-विग्रह होता है।[१०] पुन: अवयवावयवि-भाव सम्बन्ध से 'कित्' आदि निर्देश कैसे हो सकता है।[११]

परिहार— (समाधान) इस पक्ष में 'कित्' आदि में समीपस्थ श् क् को अवयव

---

१. गूढार्थ; पृ० ३२-३३। २. अष्टा०, ३/३/५६ 'एरच्'।
३. अष्टा० ४/१/९५ अत् इञ्। ४. अष्टा० ४/१/८३।
५. उपगोरपत्यम् औपगव:, उपगु शब्द, अण् तद्धित प्रत्यय।
६. गूढार्थ०, पृ० ३३। ७. अष्टा० १/२/५।
८. अष्टा० ३/४/११३। ९. अष्टा० १/२/१।
१०. क् जिसका इत् हो, वह 'कित्' है। ११. द्र० उ० १/३/९।

मानकर बहुव्रीहि समास सिद्ध होता है। विधेय के सामीप्य रूप अयवव का आरोप कर षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि है। 'क्' इत् समीपस्थो यस्य स:-कित् (क् जिसका समीप-अवयव इत् संज्ञक है वह कित् होता है)। इसी प्रकार शित्, ङित् आदि प्रयोगों में समझना चाहिए।[१] **(ख) दोष**— इस पक्ष में समीप में अवयवत्व का आरोप मानकर, बहुव्रीहि करने पर, वुञ्छण्कठ०[२] आदि सूत्र में ण् को पूर्ववर्ती छ[३] तथा परवर्ती क[४] दोनों का अनुबन्ध मान सकते हैं, क्योंकि दो प्रत्ययों के मध्य में पठित होने से दोनों के समीप है। इस प्रकार क प्रत्यय में भी इत्संज्ञक णकार के समीपस्थ होने रूप णित् रूप के विद्यमान होने से णित्व-प्रयुक्त कार्य प्राप्त होता है।[५] **परिहार**— इस सूत्र में अनुबन्ध का एक दूसरे से सम्बन्ध करने में व्याख्यान[६] निर्णायक है। उसी से समाधान हो जाता है। पूर्वपठित छ प्रत्यय के साथ ही ण् अनुबन्ध का योग होता है। अनन्तर क् के साथ नहीं। इस प्रकार के व्याख्यान से णित् को मानकर होने वाला कार्य छ का ही होता है, क का नहीं।[७] **(ग) दोष**— अनुबन्धों को अवयव न मानने में अइउण्[८] आदि में ण् आदि की इत्संज्ञा नहीं हो सकती है क्योंकि हलन्त्यम्[९] सूत्र में अन्त्य-अन्त के अवयव की इत्संज्ञा कही गयी है। यहाँ अवयव नहीं है, अत: अन्त्य का अर्थ अनुपपन्न हो सकता है? **परिहार**— यहाँ 'अन्त्य' शब्द लक्षणा से पर-समीप का बोधक है।[१०] इस प्रकार धातु आदि से आगे-समीप का अर्थ जाना जाता है। इसीलिये सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ हुआ कि धातु आदि से आगे-समीपवर्ती हल् की इत्संज्ञा होती है। इसी प्रकार आदिर्ञिटुडव:[११] आदि में भी आदि शब्द का लक्षणा से धातु से पूर्व-समीप अर्थ समझा जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत परिभाषा के स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा द्वारा यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि अनुबन्ध जिसके साथ सम्बद्ध हैं, उस शब्द के वस्तुत: अवयव होते हैं या नहीं होते? इस प्रसंग में दोनों प्रकार के हेतु प्राप्त होते हैं। प्रसंगत: अवयव नहीं माने जाते हैं, इस पक्ष का उपस्थान इस परिभाषा में किया गया है। भाष्य में भी यह पक्ष प्रस्तुत किया गया है।

---

१. 'श्' इत् समीपस्थो यस्य शित्, 'ङ्' इत् समीपस्थो यस्य ङित्।

२. द्र० अष्टा० ४/२/८०।

३. उपर्युक्त टि० के सूत्र में छण्।

४. छण्क यह निर्देश।

५. यथा ऋश्यक: में णित्व-प्रयुक्त आदि-वृद्धि अष्टा० ७/२/११७ से प्राप्त विशेष द्र० गुढार्थ, पृ० ३६।

६. गूढार्थ; पृ० ३६।

७. म०भा० १/३९।

८. अष्टा०, प्रत्या० सू० १।

९. अष्टा० १/३/३।

१०. प०शे०, पृ० ३७।

११. अष्टा० १/३/५।

यह परिभाषा किसी भी प्राचीन परिभाषा-पाठ में नहीं है।[१] इस परिभाषा की व्याख्या नागेश ने संक्षेप में नैयायिक शैली में की है। व्याख्या में इस पक्ष का आशय स्पष्ट हो जाता है। इस प्रसंग में आने वाले दोषों का भी निराकरण किया गया है। परन्तु यह सिद्धान्त पक्ष नहीं है, अपितु पूर्वपक्ष है।[२] फिर भी सिद्धान्त पक्ष की सिद्धि के लिये पूर्वपक्ष की आवश्यकता स्पष्ट है। इस प्रकार इनकी व्याख्या से 'अनेकान्त पक्ष' का आशय स्पष्ट हो जाता है।

(५) एकान्ताः।।प०५।।

परिभाषा का उपक्रम— यद्यपि पूर्व परिभाषा से अनुबन्धों को अवयव न मानने पर भी 'शित्' आदि में बहुव्रीहि समास एवं 'अन्त्य' और 'आदि' शब्दों का लक्षणा द्वारा अर्थ सिद्ध कर लिया जाता है। तथापि यह प्रयत्नविशेष अल्प बुद्धि द्वारा बोध्य नहीं है तथा लक्षणा आदि का गौरव होने से आपाततः रमणीय है, उचित नहीं हैं। वस्तुतः इन्हें अवयव ही मानना चाहिए। इसलिये द्वितीय पक्ष का इस परिभाषा द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— वस्तुतः अनुबन्ध जिस प्रत्यय आदि के साथ पढ़े गये हैं, उनके अवयव ही होते हैं।

परिभाषा का आशय— जो अनुबन्ध धातु, प्रत्यय आदि के साथ उच्चरित हुए है, वे उनके अंग होकर कार्य सम्पन्न करते हैं। अर्थात् अवयव-रूप से मानकर तत्तत् निमित्तक कार्य होता है।

परिभाषा का हेतु— अनुबन्धों को अवयव मानना ही ठीक है, क्योंकि ये अनुबन्ध शास्त्र[३] विधेय-बोधक[४] पद में ही उपलब्ध होते हैं,[५] अन्यत्र-विधेय (प्रयोग आदि में) नहीं उपलब्ध होते हैं।[६] लौकिक दृष्टान्त से इस प्रकार समझ सकते हैं। जैसे गृह से भिन्न काक आदि संयोग आदि सम्बन्ध से कमी गृह में, कमी वृक्ष आदि में बैठा दिखाई देता है। परन्तु गृह आदि का अवयव नहीं होता। इसी प्रकार अनुबंध का दर्शन, जिसके साथ निर्दिष्ट है, उससे पृथक् भी होना चाहिए, परन्तु अनुबन्ध इसके विपरीत एकत्र औपदेशिक प्रत्यय आदि में ही दृष्टिगोचर होता है। अतः अवयव ही होता है।

---

१. परि॰ संग्रह। २. म॰भा॰, १/३/९।

३. अष्टा॰ 'इदम इश्' ५/३.३। इत्यादि शास्त्र।

४. अवयवी रूप से अभिमत उपस्थापक 'इश्' इत्यादि में।

५. लोप-शास्त्र के ज्ञान से पूर्व सर्वदा उपलब्ध होता ही है— द्र० गूढार्थ; पृ॰ ३८।

६. प्र॰ १/१/९। 'एकान्तस्तत्रोपलब्धेः' की व्याख्या।

यदि अवयव नहीं होता तो काक के समान अन्यत्र 'भवति'[१] आदि में भी उपलब्ध होता। परन्तु प्रत्यय से पृथक् इसका सम्बन्ध नहीं देखा जाता है। अतः अनुबन्ध एकत्र उपलब्ध होने से अवयव ही माने जाते हैं।[२]

परिभाषा का प्रयोजन— (क) अवयव मानने पर शित्, कित् आदि बहुव्रीहि समास अवयवावयविभाव से विधिवत् उत्पन्न हो जाते हैं। समीप में अवयव के आरोप की आवश्यकता नहीं पड़ती है। 'क्' इत् यस्य सः-कित्, 'श्' इत् यस्य सः- शित् आदि विग्रह युक्त हो जाते हैं। **(ख)** 'हलन्त्यम्'[३] सूत्र में 'अन्त्य' शब्द की समीप अर्थ में लक्षणा (धातु के समीपस्थ हल् की इत्संज्ञा होती है, ऐसा अर्थ) भी नहीं माननी पड़ती है। स्वतः ही अन्त्य अवयव का बोध हो जाता है। इसी प्रकार 'आदिर्ञिटुडवः'[४] आदि में भी 'आदि' शब्द में लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं रहती है। स्वाभाविक रूप से अर्थ उपपन्न हो जाता है।

परिभाषा न स्वीकार करने पर अनुपपत्ति— (क) अवयव न मानने पर प्रत्यय के आदि में वर्तमान (प्रत्यय के आद्य-अवयव) 'लशक्वतद्धिते'[५] सूत्र से ल्, श्, कु आदि की हत्संज्ञा नहीं हो सकेगी। कारण यह है कि इस अनेकान्त पक्ष में ल् श् कु आदि प्रत्यय के आदि अवयव नहीं है।[६] **(ख)** और इस पक्ष में 'प्रमाणे द्वयसज्दध्नञ्मात्रचः'[७] सूत्र में 'पध्नच्' के च् की व्यर्थता प्राप्त होने लगती है, क्योंकि 'द्वयसच्' के च् से 'दध्नच्' में चित् कार्य (स्वर)[८] हो जायगा क्योंकि वह समीपवर्ती है। पुनः चकार व्यर्थ ही है। इस प्रकार ये दोष उपपन्न होते हैं। इनकी निराकृति हेतु यह पक्ष मानना चाहिए।[९]

समीक्षा— यह परिभाषा किसी भी प्राचीन परिभाषा पाठ में नहीं मिलती है।[१०] जबकि यह परिभाषा व्याकरण शास्त्र के मूलभूत अनुबन्ध के विषय में विचार प्रस्तुत करती है। नागेश ने इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार करके भाष्य के आधार पर इस परिभाषा का पाठ करके अपनी प्रौढ़ता का परिचय दिया है। विचार यह है कि अनुबन्ध जिसके साथ लगे हुए हैं, उस शब्द के वस्तुतः अवयव होते हैं या नहीं होते? नागेश

---

१. भू धातु, लट् लकार, प्र०पु०ए० में तिप्, शप्, गुणादि होकर निष्पन्न। उक्त रूप में 'शप्' के शकार, पकार रूप अवयव नहीं दिखाई देते हैं।

२. म०भा०, १/३/९।

३. अष्टा० १/३/३।

४. अष्टा० १/३/५।

५. अष्टा० १/३/८।

६. गूढार्थ; पृ० ३९।

७. अष्टा० ५/२/३७।

८. अष्टा० ६/१/१६३- 'चितः'। 'चित्' का अर्थ इत्संज्ञक चकार का समीपवर्ती होता है। अतः च् के समीप दध्नच् को भी 'चित्' कह सकते हैं।

९. परि० संग्रह।

१०. गदा०, पृ० १२।

ने अपना सैद्धान्तिक दृष्टिकोण दिया है कि अनुबन्ध जिसके साथ युक्त होते हैं, उसी के अवयव माने जाते हैं। अनुबन्ध की नागेश ने संक्षेप में परिभाषा के उपक्रम में परिभाषा दी है कि जिनका इत्संज्ञा के द्वारा अपना लोप हो जाता है तथा लोप होकर अन्य विशिष्ट कार्य के कारण होते हैं।[१] परन्तु अनुबन्ध का लक्षण एक स्वतंत्र परिभाषा द्वारा व्याडि, चन्द्रगोमी तथा कातन्त्र ने किया है।[२] इस प्रकार नागेश ने एकान्त पक्ष को सिद्धान्त मानते हुए उसकी व्याख्या सहेतुक की है। साथ ही उसका लाभ दिखाते हुए न मानने में दोष दिखलाया है। इस प्रकार भाष्यप्रामाण्य के आधार पर अनुबंधों में अवयवत्व न्याय्य है तथा प्रतिपत्ति में लाघव होने से स्वीकार करना उचित है।

(६) नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्।।प०६।।

परिभाषा का उपक्रम— इससे पूर्व की परिभाषा 'एकान्ता:'[३] में यह सिद्धान्त पक्ष स्वीकार किया गया है कि अनुबन्ध अवयव होते हैं। यहां यह शंका हो सकती है कि यदि अनुबन्ध एकान्त (-अवयव) हैं, तो अष्टाध्य औश्[४] आदि में औश के अनेकाल् (अनेक अल्- औ और श्- जिसमें) होने से ही जस्, शस्[५] के स्थान में सर्वादेश (-सम्पूर्ण के स्थान में आदेश) हो जाता पुन: अनेकाल्शित्सर्वस्य[६] सूत्र में शित् यह पढ़ने का क्या लाभ है? शित् ग्रहण व्यर्थ है। इस दोष के निराकरण के लिये यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अनुबन्ध के कारण (यद्यपि अनुबन्ध अवयव हैं) अनेकाल्-रूपता नहीं मानी जाती है अर्थात् अनुबन्ध के कारण कहीं भी अनेक अल् रूप का व्यवहार नहीं किया जाता है। फलत: जो अनुबन्धरहित अनेकाल् होता है वही अनेकाल् माना जाता है। इस प्रकार अवयव होते हुए भी अनुबन्ध के कारण अनेकाल् रूपता गृहीत नहीं होती है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा में अनेकाल्शित्सर्वस्य में शित् ग्रहण ही ज्ञापक है। परिभाषा के ज्ञापित होने पर औश्[७] आदि एकाल् ही है। अनेकाल् न होने से, शित् ग्रहण के बल पर ही वे सम्पूर्ण स्थानी के आदेश होते हैं। जब तक यह परिभाषा ज्ञापित नहीं होती, शित् ग्रहण व्यर्थ ही रहता, क्योंकि अनुबन्धों के अवयव

---

१. इत्संज्ञका अनुबन्धा:' द्र० प०शे०, पृ० ३२।

२. परि० संग्रह—तत्तत् परिभाषा पाठ— 'उच्चरितप्रध्वसिनोऽनुबन्धा:'।

३. प०शे०, सं० ५। ४. अष्टा०, ७/१/२१।

५. जस् प्र०वि०बहु० प्रत्यय, शस् द्वितीया वि०बहु० प्रत्यय, द्र० अष्टा० ४/१/२।

६. अष्टा० १/१/५५।

७. अष्टा० ७/१/२१ जस्, शस् के स्थान में आदेश।

होने से अनेकाल्त्व सिद्ध हो ही जाता है। परिभाषा के ज्ञापित होते ही शित् ग्रहण चरितार्थ (सार्थक) हो जाता है।

परिभाषा का प्रयोजन— अनुबन्धकृत अनेकाल्त्व न होने से 'अर्वणस्त्रसावनञः'[१] सूत्र में तृ सम्पूर्ण अर्वन् के स्थान में (-त्+ऋ) न होकर यह केवल अन्त्य अल्[२] 'न्' के स्थान में होता है। क्योंकि (ऋ) अनुबन्ध रहित होने पर 'तृ' अनेकाल् नहीं है। इसी प्रकार 'दिव औत्;[३] 'ऊदनोर्देशे,[४]' 'गन्धस्येदुत्पूतिसुरभिभ्यः'[५] इत्यादि में भी सर्वादेश न होकर अन्त्य के स्थान में ही होता है।

'अनेकाल्त्व' मानने में शंका और उसका समाधान— (क) शंका यह होती है कि अनुबन्धों के कारण यदि अनेकाल्ता नहीं मानी जाती है तो 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः'[६] से लुट्, प्रथम पुरुष एक० 'तिप्' के स्थान में विहित डा, 'जसः शी'[७] से विहित शी, 'सुपां सुलुक्०'[८] आदि सूत्र से विहित 'शे' आदि आदेश एकाल् हैं। अतः 'तिप्' आदि सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में कैसे हो सकते हैं, क्योंकि अनुबन्ध रहित ये आदेश एकाल् हो जाते हैं।

समाधान— उपर्युक्त शंका नहीं करनी चाहिए। इन डा आदि किसी भी आदेशों में औपदेशिक[९] प्रत्ययत्व नहीं है, क्योंकि प्रत्यय के अधिकार में नहीं पठित हैं। जब तक इन्हें तिप् आदि के स्थान में सर्वादेश न माने, तब तक इनमें प्रत्ययत्व (स्थानिवद्भाव से आतिदेशिक प्रत्ययत्व) नहीं आ सकता।[१०] प्रत्ययत्व में अभाव में ड् (डा) आदि अनुबन्ध नहीं बन सकते और इनकी इत्संज्ञा न होकर लोप नहीं हो सकता।[११] तथा आदेश कर लेने पर स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व मानने के पश्चात् ही 'इत्' संज्ञा हो सकती है। इस प्रकार आदेश करने से पहले इत्संज्ञा का अभाव होने से अनुबन्धत्व के न होने से 'अनेकाल्ता' सिद्ध है। अतः अन्य उपाय के न होने से 'ड आ' रूप आनुपूर्वी वश से ही अनेकाल् होने से इन्हें पहले सर्वादेश हो जाता है। **(ख) शंका**— लिडादेश तिप्, मिप् के स्थान में 'णल्'[१२] सर्वादेश कैसे हो जाता है। यदि अनुबन्ध कृत अनेकाल्त्व नहीं लिया जाता तो तिप्, मिप् के अन्त्य 'इ' के स्थान में ही 'णल्' होना चाहिए। **समाधान**— 'णल्' में 'अ' का प्रश्लेष (अ+अ- आ) मानकर अनेकाल्त्व

---

१. अष्टा० ६/४/१२७।
२. अनुबन्ध ऋ सहित त् रूप अल्।
३. अष्टा० ७/१/८४।
४. अष्टा० ६/३/९८।
५. अष्टा० ५/४/१३५।
६. अष्टा० २/४/८५।
७. अष्टा० ७/१/१७।
८. अष्टा० ७/१/३९।
९. उपदेश-सूत्र द्वारा संज्ञा विधान, द्र० अष्टा० ३/१/१। प्रकरण।
१०. गदा०, पृ०१२, पं०१४-१५।
११. अष्टा० ३/४/८२।
१२. अष्टा० ३/४/८२।

सिद्ध किया जाता है, तब सर्वादेश हो जाता हैं।[१]

समीक्षा— अनुबन्धों को अवयव मानने पर कुछ दोष उपस्थित होते हैं, जिनका निराकरण इस परिभाषा द्वारा किया गया है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ दीक्षित तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[२] इस परिभाषा का क्रम नागेश ने भाष्य क्रम से विपरीत व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा नीलकण्ठ के अनुसार पहले रखा है।[३] शेषाद्रि सुधी ने भाष्यक्रम के अनुसार ही व्याख्यान किया है।[४] परिभाषा के ज्ञापक तथा प्रयोजन में नागेश ने प्राचीन व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और नीलकण्ठ का अनुकरण किया है, शैली केवल भिन्न है। अनुबन्धकृत अनेकाल्ता न मानने पर आपाततः डा, जस् के स्थान में शी, सुप् के स्थान में विहित 'शे' सर्वादेश कैसे होते हैं? इस शंका का नागेश ने सीरदेव के अनुसार ही समाधान दिया है।[५] पुरुषोत्तमदेव ने इनका समाधान कर लेना चाहिए, इतना मात्र कहा है। सीरदेव ने समाधान रूप आनुपूर्वी का स्पष्टीकरण किया है। परन्तु नागेश ने नहीं किया है। नागेश ने शंका में 'णल्' का उल्लेख नहीं किया है। पुरुषोत्तम और सीरदेव ने किया है। नागेश के अनुसार उनका वचन खण्डित हो जाता है, क्योंकि 'णल्' में औपदेशिक प्रत्ययत्व है ही। फलतः नागेश की व्याख्या से परिभाषार्थ अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

(७) नानुबन्धकृतमसारूप्यम्।।प०८।।

परिभाषा का उपक्रम— 'कर्मण्यण्'[६] सूत्र 'अण्' प्रत्यय का विधान करता है, यह उत्सर्ग शास्त्र है। 'आतोऽनुपसर्गे कः'[७] सूत्र आकारान्त अनुपसृष्ट (उपसर्गरहित) धातु से 'क' प्रत्यय का विधान करता है, यह अपवाद है। अपवाद उत्सर्ग का बाधक होता है, इसमें ही इसकी चरितार्थता है। परन्तु 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्'[८] सूत्र से असरूप[९] अपवाद उत्सर्ग का विकल्प से बाध करता है, पक्ष में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति होती है।

---

१. उ० १/१/५५, 'धातु' ग्रहण प्रयोजन विचार।

२. परि० संग्रह-भोज तथा हेम पाठ में यह तथा अग्रिम, दोनों के स्थान में एक ही परिभाषा पढ़ते हैं। नानुबन्धकृतान्यसारूप्येनिजन्तत्वानेकाल्त्वानि- द्र० भोज तथा हेम० पाठ।

३. म०भा० १/३/९ 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' इत्यादि तथा द्र० परि० संग्रह।

४. परि संग्रह।

५. सीरदेव वृत्ति।

६. अष्टा० ३/२/१।

७. वही, ३/२/३।

८. वही, ३/१/९४।

९. प्रयोग में भिन्न-भिन्न आकृति वाला 'असरूप है'। यथा- क (अष्टा० ३/१/१३५) विषय में ण्वुल्, तृच् 'क' से असरूप हैं।

यदि अनुबन्धों को अवयव माना जाता है तो 'क' और 'अण्' स्पष्टत: असरूप हैं। अत: 'क' के विषय में भी 'अण्' की वैकल्पिकी प्रवृत्ति होने[१] लगेगी। परिणामत: 'गोद:'[२] के साथ 'गोदाय:' यह प्रयोग भी साधु होने लगेगा। इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— भिन्न-भिन्न अनुबन्धों से युक्त होने पर भी असरूपता नहीं मानी जाती है। अर्थात् प्रत्यय आदि की असरूपता में, अनुबन्धकृत असरूपता का ग्रहण नहीं होता है।

परिभाषा का आशय— आशय यह है कि स्वरों, व्यञ्जनों के सदृश होते हुए भी अनुबन्धकृत भिन्नता से जो असरूपता दिखलाई देती है, मात्र उससे ही असरूपता का ग्रहण नहीं होता है। अनुबन्ध की भिन्नता से असारूप्य का ग्रहण अपेक्षित नहीं होता है। वह सरूप ही माना जाता है। अनुबन्धनिनिर्मुक्त भिन्न रूपता ही असरूप की प्रयोजिका है।[३]

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा में 'ददातिदधात्योर्विभाषा'[४] सूत्र का 'विभाषा' ग्रहण ज्ञापक है। यह सूत्र दा तथा धा धातुओं से 'ण' के बाधक 'श' प्रत्यय का विकल्प से विधान करता है। 'श्याद्व्यधास्रु०'[५] आदि सूत्र से आकारान्त धातु से कर्ता अर्थ में 'ण' प्रत्यय का विधान किया गया है। यदि अनुबन्धकृत असरूपता मानी जाय तो 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्'[६] के अनुसार 'ण' प्रत्यय का 'श' प्रत्यय से विकल्प से बाध होगा, जिससे दद:[७] दाय:,[८] धाय: ये वैकल्पिक इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। पुन: 'ददातिदधात्योविर्भाषा' सूत्र में 'विभाषा' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। पुन: व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि अनुबन्धकृत असरूपता नहीं होती। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'विभाषा' ग्रहण सार्थक होता है।

परिभाषा का प्रयोजन— अनुबन्धकृत असरूपता न होने से 'गोद:' आदि

---

१. अष्टा॰ ३/१/९४ सूत्र।

२. गां ददाति- 'गोद:' गो पूर्वक 'दा' धातु, क प्रतयय, आ लोप होकर प्र॰वि॰ए॰ में निष्पन्न।

३. म॰भा॰ ३/१/९४ यत्तु रूपान्यत्वेनासारूप्यं तदाश्रयिरूप: इत्यादि।

४. म॰भा॰ ३/१/१३९। 'विभाषा' ग्रहण प्रयोजन।

५. अष्टा॰ ३/१/१४१। ६. वही, ३/१/९४।

७. दा तथा धा धातु, श प्रत्यय सार्वधातुक होने से श्लु, द्वित्व, ह्रस्व, आलोप होकर उक्त रूप निष्पन्न।

८. दो तथा धा धातु, ण, 'युक्' आगम होकर निष्पन्न रूप।

(अपवाद क प्रत्यय) के विषय में उत्सर्ग 'अण्' प्रत्यय का अति प्रसंग नहीं होता है। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी समझने चाहिए।

समीक्षा— एकान्त पक्ष में अनुबन्धकृत असरूपता होने से असरूप विधि में दोष उपस्थित होता है। इस दोष का ही इस परिभाषा से निराकरण किया जाता है। यह परिभाषा व्याडि आदि[१] के ग्रन्थों में समान रूप में प्राप्त है। नागेश ने इसका क्रम नीलकण्ठ के अनुसार अपनाया है।

इस परिभाषा के ज्ञापक विषय में मतभेद प्राप्त होता है। नागेश ने सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर के अनुसार 'ददातिदधात्योर्विभाषा'[२] सूत्र को ज्ञापक रूप में प्रस्तुत किया है। परन्तु व्याडि एवं पुरुषोत्तमदेव ने 'विभाषा[३] कृवृषो:' सूत्र को ज्ञापक दिया है। यहां पर नागेश प्रदत्त ज्ञापक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि भाष्य[४] में इसी का ज्ञापकत्व उपपादित है। परिभाषा का प्रयोजन भी सभी में समान रूप में मिलता है। इस प्रकार नागेश ने कोई विशेष व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है।

(८) उभयगति[५]रिह भवति।।प०९।।

परिभाषा का उपक्रम— इस परिभाषा में संख्या आदि[६] संज्ञाओं के अर्थ विशेष का निर्णय किया गया है। संख्या दो प्रकार की है— (१) लोक-प्रसिद्ध एक, द्वि आदि है (जो अकृत्रिम संख्या है) और (२) बहु[७] आदि शब्दशास्त्र द्वारा परिभाषित संख्या संज्ञक हैं तथा ऐसा न्याय है कि 'कृत्रिमाकृत्रिमयो: कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्यय:'[८] अर्थात् जहां यह संन्देश हो कि जो शास्त्रीय कार्य विधान किया जा रहा है, वह कृत्रिम (संज्ञा) को उद्देश्य करके होना चाहिए अथवा अकृत्रिम को उद्देश्य करके? वहां कृत्रिम संज्ञक का ही ग्रहण समझना चाहिए। इस न्याय से अर्थ का नियमन हो जाता है। यथा 'सैन्धवमानय' इत्यादि में प्रकरण-वशात् सैन्धव के अर्थ का एक स्थल पर नियमन हो जाता है। सैन्धव शब्द लवण और अश्व का वाचक है। भोजन के प्रकरण में सैन्धव से लवण का ग्रहण

---

१. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

२. अष्टा० ३/१/१३९। ३. वही, ३/१/१२०।

४. म०भा० ३/१/९४।

५. यहाँ 'उभयगति' का अर्थ है उभयो गति:- उभयगति अर्थात् दोनों कृत्रिम, अकृत्रिम, केवल कृत्रिम, केवल अकृत्रिम का ग्रहण।

६. गण, वत्वन्त, डत्यन्त की संख्या संज्ञा, द्र० अष्टा० १/१/२३।

७. म०भा० १/१/२३ पर न्याय। यह अन्य परिभाषा ग्रन्थों में स्वतंत्र परिभाषा मानी गई है। द्र० परि० संग्रह, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेवादिकृत ग्रन्थ।

८. अष्टा० १/१/२३।

होता है, अश्व का नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी (संख्या के ग्रहण में) कृत्रिम 'बहुगुणवतुडति[१] संख्या' सूत्र से परिभाषित (कृत्रिम) बहु आदि का ही ग्रहण होना चाहिए, क्योंकि शास्त्र में 'बहु' आदि की संज्ञा की गई है। फलतः एक, द्वि आदि अर्थ वाले संख्या संज्ञक शब्दों का ग्रहण नहीं हो सकता है। इनका भी ग्रहण हो, इसके लिये यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— इस शास्त्र में दोनों (कृत्रिम तथा अकृत्रिम) संज्ञाओं का ग्रहण होता है।

परिभाषा का आशय— एक ही स्थल पर कभी दोनों प्रकार की संज्ञाओं का, कभी कृत्रिम का ही और कहीं कभी अकृत्रिम का ही ग्रहण होता है, ऐसा लक्ष्यानुसार समझना चाहिए।

परिभाषा का ज्ञापक— 'संख्याया अतिशदन्तायाः[२] कन्' इस सूत्र में 'अतिशदन्तायाः' का ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। इसका अर्थ यह है कि 'त्यन्त (ति जिसके अन्त में है) तथा शदन्त (शत् जिसके अन्त में है) संख्यावाचक शब्द से कन् प्रत्यय नहीं होता है'। यह निषेध सप्तति, चत्वारिंशत् आदि संख्याओं के विषय में ही हो सकता है, जो त्यन्त तथा शदन्त है। परन्तु शास्त्र में कहीं भी त्यन्त तथा शदन्त शब्द की संख्या संज्ञा नहीं की गई है। सप्तति तथा चत्वारिंशत् आदि लौकिक संख्याओं के ही अन्त में ति तथा शत् देखा जाता है। अतः पाणिनीय व्याकरण में 'संख्या' शब्द से पारिभाषिक संख्या ही नहीं ली जाती, अपितु लौकिक भी ली जाती है, ऐसा मानना आवश्यक है। फलतः उपर्युक्त सूत्र में निषेध सार्थक हो जाता है।[३]

परिभाषा का प्रयोजन[४]— (क) इस परिभाषा को स्वीकार करने से 'कर्तरि[५] कर्म व्यतिहारे' सूत्र में 'कर्म' से लौकिक क्रिया का ग्रहण होता है, कर्म कारक का नहीं। (ख) 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेधेभ्यः[६] करणे' सूत्र में 'करण' से लौकिक क्रिया (करना) का ग्रहण होता है, करण कारक का नहीं। (ग) 'विप्रतिषिद्धम् चानधिकरणवाचि'[७] में 'अधिकरण' शब्द से द्रव्य (अर्थ) का ग्रहण होता है, अधिकरण कारक का नहीं।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त— कहाँ कृत्रिम और अकृत्रिम दोनो[८] का, कहां

---

१. कर्म, करण, अधिकरण आदि। २. अष्टा॰ ५/१/२२।

३. गूढार्थ॰, पृ॰ ५४, पं॰ २-१२ तक।

४. यहाँ केवल अकृत्रिम ग्रहण का ही उदाहरण दिया गया है, अन्य उदाहरण लक्ष्यानुसार द्रष्टव्य हैं।

५. अष्टा॰ १/३/१४। ६. अष्टा॰ ३/१/१७।

७. अष्टा० २/४/१३।

८. 'संख्या' शब्द से कृत्रिम एवं अकृत्रिम दोनों का ग्रहण— द्र० का॰ ५/१/२२।

केवल अकृत्रिम[१] का और कहाँ केवल कृत्रिम का ग्रहण[२] होता है। यह लक्ष्यानुरोधी व्याख्यान[३] से ही ज्ञात होता है। यही कारण है कि 'तस्य परमाम्रेडितम्'[४] में 'आम्रेडित' शब्द से कृत्रिम संज्ञा वाले आम्रेडित का ही ग्रहण होता है, दो या तीन बार उच्चारित शब्द का नहीं।

हेतु-सम्बन्धी प्राचीन एवं नवीन मत— (क) प्राचीन कैयट का मत— कैयट[५] यह मानते हैं कि शास्त्र में जो संज्ञाएं की गई हैं, वे नियमार्थ हैं। अतएव इन्हीं का ग्रहण होता है, लौकिक संज्ञाओं का नहीं होता है। फलत: कृत्रिम तथा अकृत्रिम संज्ञाओं के विषय में, जो 'कृत्रिमाकृत्रिमयो:[६] कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्यय:' यह न्याय उद्धृत किया गया है। वह संज्ञा शास्त्र की नियामकता पर ही आधारित है। इस प्रकार संज्ञाओं के नियमार्थ होने से ही उक्त न्याय सिद्ध होता है।[७] **(ख) नागेश मत—** नागेश को कैयट अभिमत युक्ति मान्य नहीं है। जहां विधि ही संभव हो सकती है, वहां नियम मानना सर्वथा अयुक्त है। लोक में 'वृद्धि' शब्द के आत् और ऐच् का ज्ञान किसी को नहीं होता है। 'वृद्धिरादैच्'[८] सूत्र इसी अज्ञात अर्थ की शक्ति का बोधक होता है। ऐसा होने से इन्हें जब विधि शास्त्र माना जा सकता है, तो नियम शास्त्र मानना सर्वथा असंगत है। इस प्रकार संज्ञा शास्त्र विधि शास्त्र के रूप में हो जाते हैं।[९] **(अ) विधि मानने में शंका—** जब यह वस्तुस्थिति है कि "सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक होते हैं" तो संज्ञा शास्त्र अपूर्व नये अर्थ का कैसे विधान कर सकता है, यदि नहीं कर सकता, तो यह विधि शास्त्र कैसे हो सकता है? **समाधान—** नागेश ने इसका समाधान देते हुए कहा है कि उक्त सिद्धान्त केवल योगियों के लिए है।[१०] हम सामान्य जनों के लिए नहीं है क्योंकि हम लोगों को समस्त शब्दों एवं उनके अर्थों का विशेष रूप से

---

१. 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' (२/४/६३), 'गोत्रोक्षोत्रो०' (४/२/३६) में केवल 'लौकिक गोत्र' का ही ग्रहण।

२. का॰ ४/१/७८, ४/२/१११, ४/२/११२, ४/१/९३ सूत्रों में 'कृत्रिम गोत्र' का ग्रहण तथा 'कर्मणि द्वितीया' (२/३/२) 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२/३/१८) 'सप्तम्यधिकरणे च' (२/२/३६) में कृत्रिम संज्ञाओं का ग्रहण।

३. गदा॰, पृ॰१५, पं॰ ८-९। ४. अष्टा॰ ८/१/२।

५. म॰भा॰ १/१/२३।

६. प्र॰ १/१/२३ 'कृत्रिमाकृत्रिमयो०' पर व्याख्या। विस्तार से द्र० गूढार्थ०,पृ॰ ५६, पं॰ ८-१६।

७. प॰शे॰, पृ॰ ५६, पं॰ ३-४। ८. अष्टा॰ १/१/१।

९. गूढार्थ०, पृ० ५६, पं० अंतिम की ३ एवं पृ० ५७, पं० १-३।

१०. गूढार्थ०, पृ॰ ५७, पं॰ ६-१९।

ज्ञान होना संभव नहीं है। यद्यपि सामान्य ज्ञान हो सकता है तथापि उससे बोध होना संभव नहीं है। अत: इसका कोई उपयोग नहीं है। विस्तार से जानने के लिए 'लघुमंजुषा' द्रष्टव्य[१] है।

समीक्षा— इस परिभाषा का विचारणीय विषय यह है कि व्याकरण शास्त्र में सामान्यत: संज्ञा के सदृश प्रतीत होने वाले शब्द को मानकर जिस कार्य का विचार किया जाता है। वह किस प्रकार के अर्थ वाले शब्द का होता है। संज्ञा का रुढ्यर्थ लिया जाता है अथवा पारिभाषिक अर्थ लिया जाता है? नागेश ने इसके उत्तर में यह परिभाषा प्रस्तुत की है। व्याकरणशास्त्र में कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार की संज्ञाओं का ग्रहण होता है। नागेश ने इस परिभाषा के उपक्रम में यह विचार किया है कि बहुत स्थलों पर संज्ञा के रुढ्यर्थ की अपेक्षा पारिभाषिक अर्थ स्वीकार किया जाता है। इसमें 'कृत्रिमाकृत्रिमयो:' परिभाषा प्रमाण है। प्राचीन व्याडि आदि सभी ने इसका पृथक् उल्लेख किया है।[२] परन्तु आश्चर्य की बात है कि नागेश ने 'कृत्रिमाकृत्रिमयो:०' परिभाषा का स्वतंत्र रूप से पाठ नहीं किया। प्रस्तुत परिभाषा का स्वतंत्र रूप से उल्लेख केवल व्याडि तथा जैनेन्द्र ने किया है।[३] पुरुषोत्तम देव, सीरदेव, नीलकण्ठ ने 'कृत्रिमाकृत्रिमयो:०' की व्याख्या में 'क्वचित्' एवं अनित्य के द्वारा इसको भी मान लिया है। इस परिभाषा का ज्ञापक जो पुरुषोत्तमदेव तथा नीलकण्ठ[४] ने प्रस्तुत किया है, वही नागेश ने भी दिया है। व्याडि आदि[५] ने कोई ज्ञापक नहीं दिया है। इसका प्रयोजन भी सभी ग्रन्थों में समान ही दिया गया है। नागेश ने केवल 'कृत्रिम' का ही उदाहरण दिखलाया है तथा पूर्ववर्ती आचार्यों ने दोनों के उदाहरण दिये हैं। नागेश ने साधारण होने के कारण स्यात् यह नहीं दिया। परन्तु कहां दोनों का, कहाँ कृत्रिम का, कहां अकृत्रिम का ग्रहण होता है? इसका सहेतुक सोदाहरण प्रतिपादन नागेश ने किया है।[६] परिभाषा के हेतु के प्रसंग में कैयट की मान्यता है कि सभी शब्दों के सभी अर्थ होते हैं। अत: अपूर्व नवीन अर्थ न रखने से शास्त्र में जो संज्ञाएं की गई हैं, वे नियमार्थ हैं। उन्हीं का ग्रहण होगा तथा इसी नियमार्थता पर यह 'कृत्रिमाकृत्रिम न्याय' आधारित है। इससे असहमत होते हुए नागेश का कहना है कि पूर्व अविदित अर्थ में शक्ति का ग्रहण कराना संभव होने पर विधि ही मानना उचित है तथा विशेष अर्थ के बोधक संज्ञा विधायक शास्त्रों की अपेक्षा रहती ही है। अत: 'सर्वे सवार्थवाचका:' ज्ञान हमारे लिए अनुपयोगी है।[७]

---

१. ल॰मंजूषा, शक्ति प्रकरण, पृ॰९४-९५, चौखम्बा प्रकाशन, संवत् १९८५।

२. परि॰संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ। जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ,हरिभास्कर।

३. परि॰संग्रह तत्तत् परिभाषा पाठ। ४. वही, परि॰संग्रह।

५. सीरदेव, परि॰संग्रह। ६. उ० १/१/२३।

७. प॰शे॰, पृ० ५७।

प्रकरण का ज्ञान ही इस न्याय का बीज है। इस प्रकार नागेश ने समन्वयात्मक आलोचना प्रस्तुत की है।

(९) अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य।।प० १४।।

परिभाषा का उपक्रम— 'प्र+ऊढवान्'[१] इस अवस्था में 'क्तवतु' प्रत्ययान्त ऊढवान् के एकदेश 'ऊढ' शब्द के परे रहते 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु'[२] इस वार्तिक से (आद् गुण:'[३] के गुण का बाध कर) वृद्धि होनी चाहिये। इसका निवारण करने के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जहाँ अर्थवान् वर्ण-समुदायरूप शब्द का ग्रहण संभव हो, वहां अनर्थक शब्द का ग्रहण नहीं किया जाता है।

परिभाषा का सिद्धि प्रकार— इस परिभाषा का आधार यह है— जब विशिष्ट-रूप-युक्त वर्ण समुदायात्मक शब्द का उपादान (ग्रहण) किया जाता है तो उससे जो अर्थ की उपस्थिति होती है, उसका शब्द के साथ विशेषण-रूप से अन्वय संभव होने पर उसका त्याग नहीं होता है।[४] फलत: शब्द का अर्थ के साथ विशेषण रूप से सम्बन्ध है। और अर्थ का शब्द विशेषण रूप से अन्वय होने पर अर्थ-विशिष्ट शब्द गृहीत किया जाता है, इस प्रकार यह परिभाषा सिद्ध होती है।

परिभाषा के अर्थ में शंका— यहाँ यह शंका होती है कि लोक में प्रयोगार्ह पद अथवा वाक्य ही अर्थवान् होते हैं। अर्थ से लौकिकार्थ ही प्राय: लिया जाता है। अत: केवल प्रकृति तथा प्रत्यय 'तीय' आदि में लौकिक अर्थ नहीं होता है। इसलिए इस परिभाषा के लिए 'ऊढ' और 'ऊढवान्' समान है, क्योंकि अर्थवत्ता तो 'प्र+ऊढ:' तथा 'प्र+ऊढवान्' में है ही?

समाधान— इस परिभाषा में लौकिक के साथ-साथ शास्त्रीय अर्थ भी लिया जाता है। शास्त्र द्वारा कल्पित प्रकृति प्रत्ययादि के अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कल्पित अर्थशास्त्रीय है।[५] **अन्वय**— प्रकृति आदि के होने से अर्थ विशेष प्रतीत होता है अत: वह उसका अर्थ है। **व्यतिरेक**— प्रकृत्यादि के न होने से (-व्यतिरेक से) अर्थ नहीं प्रतीत होता है। इसलिए भी वह उसका अर्थ है। इस प्रकार इनकी 'अन्वय-व्यतिरेक'

---

१. प्र० पूर्वक 'वह्' धातु तथा 'क्तवतु' प्रत्यय में सम्प्रसारण (६/१/१५) पूर्वरूप, ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप, दीर्घ होकर प्र+ऊढवान्।

२. का॰वा॰ ६/१/८९। ३. अष्टा॰ ६/१/८७।

४. प॰शे॰, पृ॰ ९८, पं॰ १-२ तथा द्र० म॰भा॰ एवं उ॰ १/१/६८, गूढार्थ॰ पृ॰९८, पं॰ ६-१३।

५. म॰भा॰ ५/१/२२।

से अर्थवत्ता स्वीकार की जाती है। उपसर्गों का पृथक् रूप से प्रयोग न होने से लौकिक अर्थ के न होने पर भी शास्त्र में इन उपसर्गों की अन्वयव्यतिरेक द्वारा अर्थवत्ता मानी जाती है। **(क) शास्त्रीय अर्थ में प्रमाण**— 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्'[१] सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा वचन रूप से पढ़ी गई है। वहां 'शास्त्रीय'[२] अर्थ ग्रहण करके इस परिभाषा का उपयोग किया गया है। **वर्णमात्र में परिभाषा की अप्रवृत्ति**— (क) इस परिभाषा की केवल वर्ण-मात्र के निर्देश में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए 'यस्येति[३] च' सूत्र से अनर्थक इ, अ का भी लोप होता है। इसमें 'लस्य'[४] इस सूत्र का भाष्य प्रमाण है। यहां वर्ण मात्र का निर्देश है, 'ल्' विवक्षित है। यदि यह परिभाषा वर्ण निर्देश में भी प्रवृत्ति मानी जाय तो 'ई अ' यहां सार्थक होने से 'यण्' हो जायेगा, परन्तु 'भवतु+इति' यहां उकार अनर्थक है। अतः यहां 'यण्' नहीं होगा। **(ख) प्राचीनों की सम्मति**— प्राचीन वैयाकरण भी वर्ण ग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं मानते हैं। इसीलिए बृद्ध लोग 'यह परिभाषा विशिष्ट रूप के ग्रहण के विषय में प्रवृत्त होने वाली है'[५] ऐसा कहते हैं। **(ग) वार्तिककार की सम्मति**— 'येन विधिस्तदन्तस्य'[६] सूत्र पर पढ़े गये वार्तिक 'अलैवानर्थकेनेति वक्तव्यम्'[७] के द्वारा यही सिद्ध होता है कि वर्ण निर्देश में 'अर्थवत्' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। वार्तिक का अर्थ है— 'यदि अनर्थक से तदन्त विधि हो तो वर्ण-मात्र (अल्) से ही हो, अनर्थक वर्ण समुदाय से नहीं'।[८] इसी कारण 'इन्हन्पूषार्यम्णां[९] शौ' सूत्र में अनर्थक वर्ण समुदाय 'हन्' से तदन्तविधि नहीं होती। अतः 'प्लीहानौ' यहाँ दीर्घ होता है।

सूत्र-रीति से परिभाषा की सिद्धि— 'अर्थवत्' परिभाषा की इस प्रकार भी सिद्धि होती है। 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'[१०] इस सूत्र में 'स्व' शब्द आत्मीय अर्थ का वाचक है। रूप शब्द से शब्द का स्वरूप लिया जाता है, अतः 'शब्द' से इन दोनों (रूप और अर्थ) का बोध होता है। अर्थ यहां विशेष्य नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय कार्य अर्थ को नहीं हो सकते, 'अर्थ' शब्द का विशेषण है। इस प्रकार अर्थ विशिष्ट शब्द,

---

१. म॰भा॰, ५/१/२२।

२. अन्वय व्यतिरेक द्वारा अर्थ की परिकल्पना करके गृहीत अर्थ- द्र० प्र॰५/१/२२।

३. अष्टा॰ ६/४/१४८।

४. म॰भा॰ ३/४/७७ "न चैतद् वर्ण-ग्रहणेषु भवति०" आदि एवं वही, प्र॰भी।

५. प॰शे॰, पृ॰ ९९, पं॰ २-३। ६. अष्टा॰, १/१/७२।

७. म॰भा॰वा॰ १/१/७२ तथा उसी पर प्र० भी द्रष्टव्य है।

८. वर्ण समुदाय से यदि तदन्त विधिहो तो अर्थवान् के ही साथ हो, यह अर्थ फलित हो जाता है।

९. अष्टा॰ ६/४/१२। १०. म॰भा॰ १/१/६८ 'रूप' ग्रहण प्रयोजन।

सूत्र घटक 'शब्द' से बोधित होता है। यह सूत्रार्थ होता है। इस प्रकार फलितार्थ रूप में यह परिभाषा सिद्ध होती है।

परिभाषा का प्रयोजन— अर्थवान् और अनर्थक दोनों शब्दों के ग्रहण संभव होने पर अर्थवान् का ही ग्रहण होता है। अतएव 'प्र+ऊढवान्'[१] में 'ऊढ' शब्द के अनर्थक[२] होने से वृद्धि[३] नहीं होती। 'वह' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्ययान्त 'ऊढ' शब्द अर्थवान् होता है। परन्तु 'ऊढवान्' घटक 'ऊढ' शब्द अनर्थक है। फलत: 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु'[४] इस वार्तिक में इस परिभाषा से अर्थवान् 'ऊढ' शब्द का ही ग्रहण होता है, अनर्थक का नहीं। इस प्रकार अन्य प्रयोजन[५] बोध्य हैं। जहाँ अर्थवान् का ग्रहण सम्भव नहीं, वहाँ अनर्थक का भी ग्रहण होता है— यथा 'अत्वसन्तस्य चाधातो:'[६] यहाँ सार्थक 'अतु' के संभव न होने से अनर्थक 'अतु' गृहीत किया जाता है।

समीक्षा— शब्द का अर्थ के साथ क्या सम्बन्ध है? तथा शब्द को ग्रहण करके किय गये कार्य में क्या उस शब्द की अर्थवत्ता ली जाती है? अथवा केवल शब्द स्वरूप की समानता को लेकर, सार्थक, अनर्थक सभी रूपों में कार्य होता है? एवं किस प्रकार के शब्द को व्याकरण शास्त्र में कार्य के लिए स्वीकार किया जाता है? इन सभी का निर्णय प्रस्तुत परिभाषा द्वारा किया जाता है। इस परिभाषा की प्रसिद्धि 'अर्थवद् परिभाषा' नाम से है। यह परिभाषा व्याडि ने अपने ग्रन्थ में प्रथम परिभाषा के रूप में पढ़ी है। इसके पश्चात् शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र[७] आदि सभी ने यह परिभाषा स्वीकार करके व्याख्या प्रतिपादित की है। विशेष रूप से व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसका विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया है। इसके अर्थ विषय में सभी एक मत हैं। इस परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीन एवं नागेश में कुछ मतभेद है। व्याडि 'स्वं रूपं शब्दस्या०'[८] सूत्र में 'रूप' ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक मानते हैं। कातन्त्र अन्य

---

१. प्र० पूर्वक 'वह्' धातु, कर्ता अर्थ में क्तवतु प्रत्ययान्त 'ऊढवान्' शब्द है।

२. कर्त्ता अर्थ में 'ऊढवान्' सम्पूर्ण शब्द ही सार्थक है। इसका 'ऊढ' यह अंश अनर्थक ही है। 'क्त' प्रत्ययान्त निष्पन्न 'ऊढ' शब्द सार्थक है। परन्तु 'ऊढवान्' का 'ऊढ' अंश किसी अर्थ का वाचक नहीं है।

३. का०वा० ६/१/८९।

४. उपर्युक्त ठि०।

५. अष्टा० ४/१/७ में क्वनिप्, वनिप् कर्त्ता रूप अर्थवाले 'वन्' का ग्रहण होता है, निरर्थक का नहीं। अतिशुनी, अतियूनी इत्यादि।

६. अष्टा० ६/४/१४।

७. जैनेन्द्र, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर तथा शेषाद्रिकृत परिभाषा पाठ।

८. अष्टा० १/१/६८।

को ही इसका ज्ञापक स्वीकार करते हैं। जैनेन्द्र ने कोई आधार नहीं प्रस्तुत किया है। पुरुषोत्तमदेव ने न्यायमूलक मानने के साथ ही 'अथवा' के रूप में 'व्रश्चादि०'[१] सूत्र में 'भ्राज्' ग्रहण रूप ज्ञापक भी दिया है। सीरदेव 'स्व रूपं०' में 'रूप' ग्रहण तथा 'भ्राज्' ग्रहण दोनों को ही इसका ज्ञापक मानते हैं। नीलकण्ठ इसे न्याय-मूलक मानते हैं। हरिभास्कर ने सीरदेव के अनुसार ज्ञापक माना है। नागेश नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए परिभाषा को प्रत्यासत्ति-न्यायमूलक मानते हैं तथा उसी के आधार पर इसकी सिद्धि करते हैं। इसके साथ ही सूत्र मत में 'स्वं रूपं०' सूत्र का अर्थ रूप ही यह परिभाषा है, यह भी विस्तार से उपपादित करते हैं। इस प्रकार नागेश का स्यात् यह नवीन दृष्टिकोण है। भाष्य में भी यह स्पष्ट किया है।[२]

परिभाषा के प्रवृत्ति-विषय में कुछ प्राचीन एवं नागेश में व्याख्या शैली का अन्तर है। यह परिभाषा वर्ण मात्र के निर्देश में नहीं प्रवृत्ति होती है। नागेश 'लस्य'[३] सूत्र के भाष्य के आधार पर उपर्युक्त विषय में अप्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। इसके समर्थन में वृद्ध (कौस्तुभकार आदि का) वचन[४] तथा वार्तिककार का प्रमाण दिया है। प्राचीन ग्रन्थों में भी यही माना गया है। परन्तु कुछ परिभाषा व्याख्याकारों ने इसके लिए 'न वर्णग्रहणेषु' स्वतंत्र दूसरी परिभाषा गृहीत की है। व्याडि, शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसे स्वतंत्र परिभाषा मानी है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव पूर्व परिभाषा की अपवादभूत इस परिभाषा को मानते हैं तथा उसका ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं। सीरदेव ने 'उञः'[५] सूत्र तथा पुरुषोत्तमदेव के अनुसार 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्'[६] का भी अथवा— रूप में ज्ञापक प्रस्तुत किया है। हरिभास्कर ने 'ईदूतौ सप्तम्यर्थे'[७] निर्देश का ज्ञापक दिया है। परन्तु नागेश के अनुसार पूर्वोक्त अप्रवृत्ति के लिए स्वतंत्र परिभाषा मानना उचित नहीं है। जब इसकी उस विषय में अप्रवृत्ति से ही कार्य निर्वाह संभव है, तब वचनान्तर की कल्पना करना ठीक नहीं है। इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में परिभाषा के सम्पूर्ण विषयों पर विचार किया है। इसका ज्ञापक प्रस्तुत करना भाष्य विरुद्ध है, भाष्य में कहीं नहीं कहा गया है।

(१०) गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः।।प०१५।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'अर्थवत्' परिभाषा मानने पर भी

---

१. अष्टा० ८/२/३६। २. म०भा० १/१/६९।

३. अष्टा० ३/४/७७।

४. प०शे०, पृ० ९९ 'विशिष्टरूपोपादानविषया'।

५. अष्टा० १/१/१७। ६. वही, २/१/३५।

७. वही, १/१/१९।

निम्न उदाहरण में दोष आता है। 'महद्भूतश्चन्द्रमा:'[१] में 'महद्भूत:' इसका 'अमहान्महान्भूत:' ऐसा विग्रह है। 'चन्द्र जो महान् सा हो गया है' ऐसा अर्थ है। इस प्रकार आरोपित महत्त्व से अमहान् अर्थ का बोधक होने से 'महत्' यहां सार्थक है और 'भूत' के साथ समानाधिकरण भी है। इस प्रकार 'आन्महत: समानाधिकरणजातीययो:'[२] सूत्र से 'आ' आदेश होना चाहिए— क्यों नहीं होता? इस शंका का समाधान निम्न परिभाषा से किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जब किसी शब्द का मुख्यार्थ के अतिरिक्त 'गौण' अर्थ भी सम्भावित होता है तो ऐसे शब्द को शास्त्र से विधान किया गया कार्य तभी होता है, जब वह मुख्यार्थ का बोधक होता है अर्थात् गौण और मुख्य दोनों ही अर्थों में कार्य के प्रसंग में मुख्य अर्थ को ही मानकर कार्य की प्रवृत्ति होती है।

परिभाषा का आशय— इस परिभाषा में 'गौण' शब्द का अप्रधान अर्थ नहीं है। नागेश ने 'गौण' पद की इस प्रकार निरुक्ति की है— गुणादागत:-गौण:।[३] 'जो गुण से आया हो, वह 'गौण' कहलाता है। इस प्रकार मुख्यार्थ के गुणों के सदृश गुण होने के कारण जिसका आरोप करके व्यवहार किया जाता है वह 'गौण' कहलाता है। जैसे 'गो' शब्द का जाड्यादि गुणों के सादृश्य के कारण 'वाहीक' अर्थ में व्यवहार होता है। और जिस प्रकार राम से भिन्न पुरुष को रघुनाथ कह दिया जाता है, रामगत गुणों के आरोप से ही भिन्न पुरुष के लिए व्यवहार होता है। इसी प्रकार अप्रसिद्ध संज्ञा आदि भी 'गौण' होती हैं क्योंकि वे भी गुणों के आरोप से व्यवहृत होती हैं। 'मुख्य' शब्द का मुखभिव मुखं- मुख्य:[४]=प्रधान-प्रथम:— अर्थ है, 'मुख के समान जो प्रधान हो', जिसकी शब्द के सुनते ही, प्रथम उपस्थिति होती है, ऐसा अर्थ 'मुख्य' होता है।[५] 'गौण' अर्थ में जब शब्द प्रयुक्त होता है तब मुख्यार्थ के आरोप से ही होता है, उसके बिना नहीं। मुख्यार्थ के आरोप के लिए मुख्यार्थ[६] की पहले उपस्थिति अवश्य होती ही है।

---

१. अमहान् महान् संपन्न- महद्भूत:, 'महत्' शब्द, 'भू' धातु से निष्पन्न 'भूत' शब्द के योग में 'च्वि' प्रत्यय (अष्टा॰ ५/४/५०) उसका लोप होकर उक्त रूप ।

२. अष्टा॰, ६/३/४६।

३. 'गुण' शब्द से 'आगत' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय (४/३/७४) होकर निष्पन्न।

४. मुखमिव- मुख्य:, 'मुख' शब्द, 'इव' अर्थ में 'य' प्रत्ययान्त (अष्टा॰५/३/१०३)रूप।

५. प॰शे॰, पृ॰ १०४, सं॰ १।

६. 'वाहीक' रूप अर्थ में प्रयुज्यमान 'गो' शब्द अपने मुख्य अर्थ तथा गुण का आरोप करके ही 'वाहीक' अर्थ का वाचक है। स्पष्ट ही मुख्य अर्थ प्रथम उपस्थित होता है।

(क) गौण का अर्थ— इस परिभाषा में 'गौण' अर्थ से अभिप्राय अप्रसिद्ध आरोपित या आधुनिक संकेतित अर्थ तथा गौण लाक्षणिक— 'सादृश्य मूलक आरोप का विषय' रूप[१] अर्थ है। फलत: 'गौण' का अर्थ यह होता है, जो आरोपित हो और वह आरोप सादृश्य की प्रतीति कराता हो, ऐसे 'गौण' अर्थ में कार्य न होकर मुख्य-प्रथम उपस्थित अर्थ वाले शब्द में कार्य होता है। **(१) उक्त अर्थ का लाभ**— इसी कारण 'अमहान् ब्राह्मण:' यहां 'नञ्' से महत्त्व का आरोप धोतित होता है, परन्तु आरोपित महत्त्व की प्रतीति होने पर भी सादृश्य मूलक आरोप प्रतीत नहीं होता है, अत: 'गौण लाक्षणिकत्त्व' रूप गौणत्त्व नहीं है, अत: 'महत्' का आत्त्व हुआ है। इस प्रकार 'प्रियत्रयाणाम्' इत्यादि उदाहरणों में 'त्रि' (जो उपसर्जन है) का 'त्रय' आदेश 'त्रेस्त्रय:'[२] सूत्र से हो जाता है, क्योंकि उक्त रूप गौणत्व नहीं है।[३]

प्रातिपदिक कार्य में परिभाषा की प्रवृत्ति— (क) यह परिभाषा प्रातिपदिक का कार्य करने में प्रवृत्त नहीं होती है। यह युक्ति सिद्ध बात है। जहाँ अपने निजी अर्थ को कहने के लिए आनुपूर्वी-विशेष-विशिष्ट पद का उच्चारण किया गया हैं अथवा अनुवृत्ति से लभ्य है, उस पद का कार्य करने में ही इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है,[४] क्योंकि निष्पन्न सुबन्त एवं तिडन्त प्रयोगार्ह शब्द का, वाक्य में पदान्तर के साथ सम्बन्ध होने पर ही 'गौर्वाहीक:' (वाहीक बैल है) इत्यादि में 'गौणत्त्व' की प्रतीति होती है। जब प्रातिपदिक कार्य किया जा रहा है तब गौणत्व प्रतीति नहीं होती है। अतएव उस समय 'गौण-मुख्यन्याय' की प्रवृत्ति न होने से वृद्धि एवं आत्त्व रूप कार्य हो जाता है।

(ख) विशेष विषय का फल— विशेष रूप से उपादान में ही परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। अत: 'अत इञ्'[५] सूत्र से अदन्त प्रातिपदिक से 'श्वशुरसदृशस्यापत्यम्'- 'श्वाशुरि:' इस गौण अर्थ वाले 'श्वशुर' से 'इञ्' प्रत्यय हो जाता है क्योंकि इस परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होती है, जहां उपात्त[६] विशेष धर्म (विशेषण) से युक्त अर्थ के उपस्थापक विशिष्ट रूप (अर्थवान् वर्ण समुदाय रूप) को मानकर किसी पद के कार्य का विधान किया जाता है, वही इसकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिए 'अत इञ्' सूत्र के कार्य में यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है, क्योंकि यहाँ सूत्र में विशेष धर्म प्रकारक उपस्थिति के जनक, अर्थविशिष्ट वर्ण समुदाय का ग्रहण नहीं है, प्रत्युत सामान्य रूप से अकारान्त प्रातिपदिक

---

१. गौणी लक्षणा द्वारा प्रतीत अर्थ, द्र० मंजूषा, लक्ष्णावाद प्रकरण एवं द्र० काव्य प्रकाश, प्र० उल्लास, एवं द्वितीय।

२. अष्टा० ७/१/५३।

३. अप्रसिद्धत्व, गौण लाक्षणिकत्व रूप 'गौण' अर्थ नहीं है— द्र० उ० १/१/२७।

४. प०शे०, पृ० १०५। ५. अष्टा०, ४/१/९५।

६. प्रस्तुत शास्त्रीय वाक्यार्थ के बोधकत्व रूप से उच्चारित। द्र० गूढार्थ, पृ० १०५।

का ग्रहण है।[१] अत: सर्वत्र सूत्र प्रवृत्त हो जाता है। **(ग) शंका**— यदि उपर्युक्त व्याख्यान स्वीकार किया जाता है तो 'ओत्'[२] इस सूत्र में भी प्रस्तुत परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। इसके फलस्वरूप 'गोऽभवत्'[३] प्रयोग घटक 'गो' शब्द की प्रगृह्य संज्ञा होनी चाहिए? यह शंका हो सकती है।[४] **समाधान**— यह है कि 'ओत्' सूत्र में अनुवृत्त[५] निपात पद, निपात सामान्य रूप से ओदन्त का बोधक नहीं है, अपितु चादि[६] विशेष निपात रूप से ही ओदन्त निपात का बोधक है।[७] 'गोऽभवत्' में 'गो' शब्द चादि से बहिर्भूत है, फलत: 'गो' शब्द गौण ओदन्त निपात होता है, प्रस्तुत परिभाषा की प्रवृत्ति होने से उसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती, अत: कोई दोष नहीं।[८] **(घ) शंका**— इस परिभाषा को स्वीकार करने पर 'अग्नीषोमौ माणवकौ'[९] इस प्रयोग में ईत्व तथा षत्व 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः'[१०] और 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः'[११] सूत्रों से नहीं होने चाहिए?[१२] **समाधान**— यहाँ 'अग्निषोमौ' (देवते)- इस प्रसिद्ध देवता वाचक द्वन्द्व में ईत्व और षत्व प्रथमत: हो जाते हैं। इसके पश्चात् 'माणवक' के साथ, उसका सम्बन्ध होता है तब गौर्थणा की प्रतीति होती है। परन्तु इस गौणार्थ-बोध से पूर्व ही समास अवस्था में प्रातिपदिक में अन्तरंग होने से जो **ईत्व और षत्व**[१३] का विधान हुआ है,

---

१. 'अ' सामान्य का उच्चारण है, विशिष्ट रूप वाले विशेष अर्थ के अभिधायक प्रातिपदिक का ग्रहण नहीं है। फलत: गौणार्थ या मुख्यार्थ दोनों ही अर्थ वाले अदन्त प्रातिपदिक से प्रतयय होता है।

२. अष्टा० १/१/१५।

३. अगौ: गौ: समपद्यत- 'गोऽभवत्' में सदृश लाक्षणिक 'गो' शब्द से 'भू' धातु के 'लड:' के रूप 'अभवत्' के अनुप्रयोग में 'च्वि' प्रत्यय, उसका लोप, च्व्यन्त की निपात संज्ञा, प्रगृह्य संज्ञा न होकर 'अ' का पूर्व रूप होकर निष्पन्न।

४. इस सूत्र में अनुवृत निपात पद से विशिष्ट रूप विशिष्ट अर्थ का उपस्थापक पद किस प्रकार गृहीत हो सकता है।

५. अष्टा॰ १/१/१४ से निपात की अनुवृत्ति। सूत्र सं० १/१/१५ में।

६. अष्टा॰ 'चादयोसत्वे' १/४/५७। ७. प॰शे॰, पृ॰ १०८।

८. पूर्वरूप होकर 'गोऽभवत्' निष्पन्न।

९. अग्निश्च सोमश्च (देवते)— 'अग्नीषोमौ माणवकौ' में प्रसिद्ध देवता वाचक शब्दों का द्वन्द्व है।

१०. अष्टा॰ ६/३/२७। ११. वही, ८/३/८२।

१२. 'अग्नि-सोम देवता के सदृश वाले माणवक', इस विशिष्ट में गौणार्थ प्रतीत होता ही है।

१३. अष्टा॰ ६/३/२७ तथा अष्टा॰ ८/३/८२।

वह गौणार्थता की प्रतीति होने पर भी इस परिभाषा द्वारा हटाया नही जा सकता। प्रातिपदिक कार्य के करने में सर्वत्र निर्विशेष रूप से यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती, ऐसा नहीं समझना चाहिए। कार्य-प्रवृत्ति-काल में जहां गौणार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ प्रवृत्त होती है और जहाँ नहीं होती वहाँ नहीं होती है। **(ङ) विशेष स्थलों पर प्रवृत्ति में प्रमाण**— इसमें 'अग्ने: स्तुत्स्तोमसोमा:'[१] सूत्र का भाष्य प्रमाण है, क्योंकि 'अग्नि-सोमौ माणवकौ' इस उदाहरण में 'गौण-मुख्य-न्याय' से षत्व का वारण किया गया है। यहाँ यदि सदृश लाक्षणिक अग्नि तथा सोम पदों का द्वन्द्व समास करें अथवा अग्नि नामक या सोमनामक अग्नि या सोम का द्वन्द्व करें, तब 'अग्निसौमौ माणवकौ' बनता है। यहाँ अप्रसिद्धि के कारण आरोप-वश अग्नि और सोम नाम को अग्नि एवं सोम कहा जाता है, अत: प्रातिपदिक अवस्था में ही गौणता की प्रतीति होने से प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। जिससे अग्नि और सोम को विधान किये गये ईत्व[२] और षत्व यहाँ नहीं होते हैं।

पद कार्य में परिभाषा की प्रवृत्ति और प्रमाण— इस परिभाषा की प्रवृत्ति पद कार्य के विषय में ही होती है, 'सर्वादीनि[३] सर्वनामानि' सूत्र पर 'संज्ञोपसर्जन-प्रतिषेध:'[४] इस वार्तिक से संज्ञाभूत सर्वनामों की सर्वनामता का निषेध किया है और 'पूर्वपरावर०'[५] इत्यादि सूत्र में 'असंज्ञायाम्' ऐसा जो कहा है तथा अन्वर्थ संज्ञा द्वारा भाष्यकार ने जो प्रत्याख्यान किया है, इससे यह बात ध्वनित होती है।[६] यदि प्रातिपदिक कार्य के विषय में भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती तो यह वचन व्यर्थ हो जाते। परिभज्ञषा से ही संज्ञा-भूत सर्वनामों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता। **(क) पदकार्य विषयक दोष**— 'गां पाठय' प्रयोग में प्रयोक्ता को, 'गो' शब्द से द्वितीया विभक्ति लाते समय ही, 'गो' प्रातिपदिक गौण अर्थ में प्रयोग कर रहा हूँ,इसकी स्पष्ट प्रतीति होती है, क्योंकि 'पाठय' क्रिया के साथ मुख्यार्थ में अन्वय उपपन्न नहीं होता, 'गो जो पशु उसे पढ़ाओ' यह वचन असंगत होता है। ऐसी अवस्था में प्रकृत परिभाषा को प्रवृत्त होना चाहिए, और उसकी प्रवृत्ति से 'गो' का आत्व नहीं होना चाहिए?

समाधान— इसका समाधान नागेश इस प्रकार करते हैं। प्रयोक्ता की अपनी बुद्धि में गौणता की उपस्थिति होने पर भी श्रोता को तो परिनिष्ठत[७] पद ही गौणार्थ के निश्चय कराने वाले हो सकते हैं, क्योंकि वाक्य में निष्पन्न पद ही प्रयुक्त होते हैं।

---

१. म॰भा॰ ८/३/८२।

२. अष्टा॰ ६/३/२७, तथा अष्टा॰ ८/३/८२।

३. अष्टा॰ १/१/२७।

४. म॰भा॰वा॰ १/१/२७।

५. अष्टा॰ १/१/३४।

६. म॰भा॰ १/१/२७।

७. विभक्त्यादि से निष्पन्न पद (स्वार्थादि॰ प्रयुक्त कार्यों से निष्पन्न रूप)।

इस प्रकार श्रोता को सर्वत्र पद से ही गौण अर्थ की प्रतीति होती है। अत: श्रोता के गौणत्व ग्रहण को ही प्रयोग में नियामक मानना चाहिए।[१] **(ख) इसमें भाष्य का प्रमाण**— भाष्यकार ने अत्वं त्वं सम्पद्यते - 'त्वद्भवति', अमहान् 'महान् भूत:' इत्यादि प्रयोगों में गौणत्व होने पर भी, पद कार्य न होने से, परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं की है। 'त्वम्' तथा 'महत्' यहां स्पष्ट ही गौणार्थ के बोधक हैं, फिर भी नहीं प्रवृत्त की है जिससे युस्मद् के मपर्यन्त भाग का 'त्व'[२] आदेश हो गया है और महत् के 'त्' का 'आ'[३] आदेश होता है। इस प्रकार बोद्धा के गौणार्थ प्रतीति को लेकर ही यह न्याय पद-कार्य में प्रवृत्त होता है। **(ग) 'गां पाठय' शब्द-सिद्धि का समाधान**— नागेश ने इसका इस तरह भी समाधान किया है। वस्तुत: प्रयोक्ता को भी गौणार्थता की प्रतीति निष्पन्न पद से ही होती है। जब वह द्वितीयान्त 'गो' (गाम्) का अन्वय 'पाठय' क्रिया के साथ करता है। यह 'अथर्वदधातुरप्रत्यय:[४] प्रातिपदिकम्' इसके भाष्य[५] में स्पष्ट किया गया है। उस भाष्य का यह तात्पर्य निकलता है कि जब अकेले कारक विभक्त्यन्त नाम-शब्द का प्रयोग होता है, तो सभी योग्य क्रियाओं का अध्याहार प्रसक्त होता है। तब क्रिया-विशेष- वाचक आदि का प्रयोग विवक्षा के नियमन के लिए होता है। इससे हम यह जानते हैं कि जब हम सामान्य क्रिया के फल के आश्रय को कहने के लिए, प्रातिपदिक से द्वितीया विभक्ति लाते हैं, तब हम साधु अन्वाख्यान कर रहे हैं।[६] इसमें कुछ भी दोष नहीं आता है। अत: 'गो' शब्द से, द्वितीया पहले आ जाती है, 'गाम्' रूप सिद्ध हो जाता है। इसके पश्चात् विशेष-क्रिया वाचक 'पाठय' के साथ अन्वय होता है। अर्थात् प्रयोक्ता को 'गो' शब्द के, गौण अर्थबोध होने से पूर्व ही अन्वय हो जाता है, इस प्रकार पद से ही गौणार्थ की प्रतीति प्रयोक्ता को भी होती है।[७] इस परिभाषा के समान ही इस परिभाषा पर आधारित निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है—

अभिव्यक्तपदार्था ये प्रसिद्धा लोकविश्रुता:।
शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्य: शब्देषु न तदुक्तिषु।।[८]

यह श्लोक भी पद कार्य विषयक ही है। कोई स्वतंत्र परिभाषा एवं नियामक नहीं है।

---

१. प॰शे॰, पृ॰ ११०, पं॰ ३।
२. अष्टा॰ ७/२/९४-९७।
३. अष्टा॰ ६/३/४६।
४. म॰भा॰ १/२/४५।
५. प्र॰ १/२/४५।
६. प॰शे॰, पृ॰ १११, पं॰ २-४।
७. उ॰ १/१/१।
८. केवल उद्धरण रूप में प्राप्त होता है, स्पष्टत: किसी ग्रन्थ में नहीं मिला।

'अर्थाश्रय एतदेवं भवति शब्दात्रये च वृद्धयात्वे' इस भाष्य का अर्थ— यह 'ओत्'[१] सूत्र के भाष्य का वचन है। नागेश ने इस भाष्य का अर्थ यह किया है— लौकिक अर्थ को कहने की योग्यता वाले, पद के विषय में ही यह न्याय(परिभाषा) लगता है। बृद्धि[२] (जैसे 'गौ':- यहाँ) तथा आत्व[३] ('गाम्'-यहाँ) शब्दाश्रय है, स्वार्थबोधक प्रातिपदिक रूप शब्द को मानकर हो रहे हैं, जो अभी लौकिक (लोक प्रसिद्ध) अर्थ को कहने की योग्यता से शून्य है। 'गोतो णित्'[४] इस सूत्र में विशिष्टरूप 'गो' का उपादान होने से इस भाष्य का यही व्याख्यान युक्त है। अन्यथा उस पक्ष में विशिष्ट रूप उपादान करने के कारण, अर्थ का आश्रय करने से इस न्याय से 'णिद्वद्भाव' नहीं होगा, पुनः सदृश लाक्षणिक 'गो' शब्द में बृद्धि नहीं हो सकेगी।

परिभाषा का प्रयोजन— सादृश्यमूलक गुणों का आरोप करके गौण अर्थ बोधक शब्दों को, इस न्याय से कार्य का निषेध होने से ही 'महद्भूतश्चन्द्रमाः' इस लक्ष्य में 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः'[५] सूत्र से महत् का 'आत्व' नहीं होता है, क्योंकि उसमें अर्थवान् 'महत्' शब्द का मुख्यार्थ ग्रहण किया जाता हैं यहां 'महत्' शब्द मुख्य अर्थ में नहीं है, महत्त्व का आरोप करके अमहान् अर्थ का बोधक होने के साथ ही सादृश्य की प्रतीति कराता है 'महान सा चन्द्रमा'। इस प्रकार यहाँ गौणार्थ वाले 'महत्' शब्द में उक्त कार्य नहीं होता है। इसी प्रकार जहां मुख्य और सादृश्य मूलक आरोपित गौण अर्थों में कार्य हो रहा हो, वहां उस शब्द के मुख्यार्थ कहने पर ही वह कार्य हो, गौण अर्थ में नहीं।

समीक्षा— शास्त्र में आगम या आदेश करने में जो विशेष अर्थ के उपस्थापक विशिष्ट रूप वाले अर्थवान् शब्द का ग्रहण किया गया है वहां किस प्रकार के अर्थ के प्रवृत्ति निमित्त वाले शब्द का ग्रहण होता है? इसी का यह परिभाषा निर्णय करती है। सभी प्राचीन, अर्वाचीन वैयाकरण यह स्वीहकार करते हैं कि गौण और मुख्य दोनों अर्थों वाले शब्द के कार्य प्रसंग में मुख्य अर्थ में ही कार्य की प्रवृत्ति होती है।

यह परिभाषा प्रायः सभी[६] परिभाषा पाठों में स्वीकार की गई है। इस परिभाषा का सामान्य अर्थ प्रायः सभी में समान है। नागेश के अनुसार केवल 'गौण' पद की व्याख्या में विस्तार है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, गौण शब्द का 'लाक्षणिक' अर्थ ग्रहण करते हैं। नीलकण्ठ 'लाक्षणिक' अर्थ के साथ 'अप्रसिद्ध' अर्थ का समावेश कर लेते हैं। नागेश ने इन्हीं का अनुकरण करते हुए विस्तार से प्रस्तुत अर्थ की सहेतुक व्याख्या

---

१. म॰भा॰ १/१/१५। २. अष्टा॰ ७/२/११५।
३. वही, ६/१/९३। ४. अष्टा॰, ७/१/९०।
५. वही, ६/३/४६।
६. व्याडि, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तम, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर।

की है तथा उसका फल भी दिखलाया है।[१] नागेश ने इस परिभाषा की विस्तृत व्याख्या दीक्षित, कैयट के आधार पर की है।

परिभाषा के हेतु के विषय में नागेश एवं प्राचीनों में परस्पर मतभेद है। व्याडि ने इसका ज्ञापक विस्तार से प्रस्तुत किया है। ज्ञापक[२] में 'अग्नीषोम' शब्द माना है।[३] पुरुषोत्तमदेव न्यायमूलक मानने के साथ ही ज्ञापक मूलक मानते हुए ज्ञापक[४] प्रस्तुत करते हैं।[५] सीरदेव ने भी इन्हीं का अनुकरण किया है।[६] हरिभास्कर ने भी न्यायमूलक माना है।[७] नागेश ने इसका कोई हेतु नहीं लिखा। इस परिभाषा के प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति स्थल को नागेश ने स्पष्ट किया है। इसके पूर्व केवल हरिभास्कर ने कुछ संकेत किया था।[८] नागेश ने दोनों स्थलों का सम्यक् प्रतिपादन किया है। प्रातिपदिक कार्य में यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है; इसका सहेतुक प्रतिपादन किया हैं। कैयट ने भी यही माना है। फलतः यहां कैयट का अनुकरण किया गया प्रतीत होता है।[९] परिभाषा की प्रवृत्ति के विषय में प्राचीन परिभाषाकारों ने कुछ नहीं कहा है, जो कि आवश्यक तत्त्व है। नागेश उच्चारित विशिष्यार्थोपस्थापक विशिष्ट रूप वाले पद को कार्य करने में ही इसकी प्रवृत्ति मानते हैं एवं इसके समर्थन में भाष्य-प्रमाण तथा प्रयोजन प्रस्तुत करते हैं। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव आदि ने इसके विषय को स्पष्ट नहीं किया है। इसीलिए वे लोग 'लक्ष्यवशात्' कहीं गौण अर्थ भी, स्वीकार किया जाता है, यह कहते हैं। नागेश के अनुसार इसकी आवश्यकता नहीं है, स्वतः प्रातिपदिक कार्य में नहीं प्रवृत्ति होने से गौण अर्थ ले ही लिया जायेगा। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव, 'गौर्वाहीकः', 'गां (वाहीकं) आनय या पाठय' प्रयोग में बृद्धि, आत्व की सिद्धि के लिये, उक्त कार्य विधायक सूत्रों में शब्द प्रधान निर्देश मानकर अर्थाश्रित इस न्याय की अप्रवृत्ति मानकर संक्षीप में ही समाधान करते हैं। इसी प्रकार नीलकण्ठ इस परिभाषा को अनित्य मानते हैं।[१०] परन्तु नागेश उक्त रूपों की सिद्धि पद कार्य में ही परिभाषा की प्रवृत्ति मानकर दीक्षित और कैयट के अनुसार विस्तार से वर्णन करते हैं। परिभाषा के प्रयोजन सभी में एक ही समान रूप में उपलब्ध हैं। इस प्रकार नागेश ने इस परिभाषा की व्याख्या में, प्रधानतः कैयट, दीक्षित विषयक विचारों का ही अनुकरण करते हुए व्याख्या की है।

---

१. प॰शे॰, पृ॰ १०४।
२. अष्टा॰ ४/२/३२।
३. व्याडि वृत्ति, परि॰सं॰४।
४. अष्टा॰ ४/२/३२।
५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि॰सं॰५।
६. सीरदेववृत्ति, परि॰सं॰ १००।
७. हरिभास्करवृत्ति, परि॰सं॰ १०२।
८. उपर्युक्त टि०।
९. प्र॰ १/२/४५।
१०. नीलकण्ठवृत्ति परि॰सं॰ १४।

(११) एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः।।प० १७।।

परिभाषा का उपक्रम—यह शंका हो सकती है कि 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु'[१] सूत्र से 'उश्च'[२] सूत्र में केवल 'आत्मनेपदेषु' की ही अनुवृत्ति आनी चाहिए और 'लिङ्', 'सिच्' की अनुवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वह (आत्मनेपद) पद ही अनन्तर (समीप) उच्चारित है, 'लिङ् सिच्' आत्मनेपद की अपेक्षा व्यवहित है इस प्रकार 'लिङ्' 'सिच्' के बिना कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। इस दोष के निवारणार्थ यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— परस्पर सम्बद्धार्थक पदों की एक साथ ही अनुवृत्ति होती है और एक साथ ही निवृत्ति होती है अर्थात् ऐसे पद या तो सभी अनुवृत्त होते है, या सभी निवृत्त हो जाते हैं।[३]

परिभाषा में हेतु— नागेश इस परिभाषा को ज्ञापक-सिद्ध नहीं मानते हैं। यह परिभाषा लोक-न्याय पर आधारित है। हम देखते हैं लोक में ऐसा प्रसिद्ध व्यवहार है कि एक कार्य के सम्पादन में नियुक्त किये हुए सभी व्यक्ति एक साथ काम करते हैं और एक साथ निवृत्त होते हैं। इस प्रकार, शास्त्र में भी परस्पर सम्बद्ध पदों की एक साथ अनुवृत्ति तथा एक साथ निवृत्ति होती है। फलतः यह न्याय-सिद्ध है। इसको ज्ञापक सिद्ध मानना उचित नही है।[४]

परिभाषा की सिद्धि में ज्ञापक विषयक मत तथा उसका खण्डन—(क) प्राचीन मत— कुछ लोगों का विचार है कि यह परिभाषा 'नेड्वशि कृति'[५] सूत्र के 'इट्' ग्रहण से ज्ञापित होती है। ज्ञापक इस प्रकार होता है। 'नेड्वशि कृति' सूत्र में 'इट्' ग्रहण किया है और 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'[६] में भी 'इट्' ग्रहण किया है। जब अनुवृत्ति से 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र में 'इट्' लभ्य था, पुनः इसमें इसका उल्लेख क्यों किया गया है? वह इसलिए है कि इसमें 'न' की अनुवृत्ति न हो। इसका अर्थ यह है कि 'इट्' के साथ प्रतिषेधार्थक 'न' की भी अनुवृत्ति प्राप्त थी, जिसके वारण के लिये पुनः 'इट्' ग्रहण किया गयाहै। दूसरे शब्दों में अन्वितार्थक सभी पदों की अनुवृत्ति होती है, इस प्रकार यह परिभाषा ज्ञापित है। **(ख) नागेश मत**— इनके अनुसार उपर्युक्त ज्ञापक मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'दीधीवेवीटाम्'[७] सूत्र के भाष्य के साथ विरोध

---

१. अष्टा० १/२/११। २. अष्टा०, १/२/१२।

३. यहाँ 'वा' शब्द 'एवार्थक' है तथा 'एकयोग-निर्दिष्ट' का 'एक सम्बन्ध से निर्दिष्ट' यह शाब्दिक अर्थ है।

४. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१९। ५. अष्टा० ७/२/८।

६. वही, ७/२/३५।

७. म०भा० १/१/६। 'इटश्चापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम्०' आदि।

प्राप्त होता है वहाँ उसका (इट् का) दूसरा फल (प्रयोजन) कहा गया है। भाष्यकार का मत है कि 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र में इट्-ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र में पुनः 'इट्' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'इट्' इट् रूप ही रहे, इसको गुण रूप विकार न प्राप्त हो, इसके लिये पुनः इट् ग्रहण है। अतः 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' सूत्र में 'इट्' ग्रहण ज्ञापक नहीं है, यह सिद्ध होता है। इससे इसको परिभाषा का ज्ञापक मानना भाष्य विरुद्ध है।[१] रही 'न' की निवृत्ति की बात, वह 'कहीं-कहीं एकदेश की भी अनुवृत्ति होती है', इस वचन से हो जायेगी।

नागेश का परिभाषा के हेतु में विशेष दृष्टिकोण— नागेश कहते हैं कि वस्तुतः 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र का भाष्य एकदेशी की उक्ति है, सिद्धान्ती की नहीं। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'[२] इस सूत्र में 'इट्' ग्रहण का 'नेड्वशि कृति'[३] सूत्र के भाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया गया है। 'दीधीवेवीटाम्'[४] सूत्र में 'इट्' ग्रहण का प्रत्याख्यान नहीं किया है। गुणाभावरूप कल्पना-रूपी गुरुतर प्रयत्न से इसका प्रत्याख्यान करना अयुक्त है।[५] इस प्रकार यह लोक-न्याय पर ही आधारित समझनी चाहिए, ज्ञापकसिद्ध नहीं।

परिभाषा का प्रयोजन—एकयोगनिर्दिष्ट पदों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति एक साथ ही होती है, ऐसा नहीं होता कि एक की प्रवृत्ति हो और दूसरे की निवृत्ति हो, यह इस परिभाषा द्वारा ज्ञात होता है। **(क) एक साथ प्रवृत्ति का उदाहरण**—इसीलिए 'उश्च'[६] इस सूत्र में 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु'[७] इस सूत्र के सम्पूर्ण पदों की अनुवृत्ति होती है। इसी प्रकार 'विभाषेटः'[८] में 'षीध्वम्' की अनुवृत्ति माननी पड़ती है। लुङ् और लिट्के साथ द्वन्द्वसमास से निर्दिष्ट 'षीध्वम्' की निवृत्ति हो जाय, शेष लुङ्, लिट् की ही अनुवृत्ति रहे, यह नहीं हो सकता। **(ख) एक साथ निवृत्ति का उदाहरण**— इसी प्रकार निवृत्ति भी साथ ही होती है, जैसे 'हनः सिच्'[९] सूत्र में जो पुनः 'सिच्' ग्रहण किया है, उसका यही प्रयोजन है कि 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु'[१०] से अनुवृत्त 'लिङ्' 'आत्मनेपद' की निवृत्ति के साथ, 'सिच्' की भी निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र अनेक स्थलों पर सूत्र और वार्तिकों में यह रीति दिखलाई देती है कि कहीं दो पदों की अनुवृत्ति आती

---

१. पं०शे०, पृ० ११६, पं० ७। २. अष्टा० ७/२/३५।
३. अष्टा० ७/२/८। 'इदमस्ति०' इत्यादि।
४. अष्टा० १/१/६।
५. प०शे०, पृ० ११७, पं० ४-५। ६. अष्टा० १/२/११।
७. वही, १/२/१२। ८. वही, ८/३/७९।
९. वही, १/२/१४। १०. वही, १/२/१२।

है, उनमें से जब एक को त्यागना होता है, तब अपेक्षित द्वितीय पद को पुनः[१] सूत्रादि में पढ़ते हैं।

समीक्षा—प्रस्तुत परिभाषा में अनुवृत्ति के विषय में विशेष बात का निर्णय करते हैं। परिभाषा का स्वरूप प्रायः सभी परिभाषा पाठों में समान है। केवल हरिभास्कर वृत्ति में कुछ भिन्नता है।[२] परिभाषा के अर्थ के विषय में पुरुषोत्तमदेव आदि[३] कृत अर्थ तथा नागेश कृत अर्थों के तात्पर्य में अन्तर नहीं है। परन्तु नीलकण्ठ कृत अर्थ का प्रभाव नागेश द्वारा कृत अर्थ में स्पष्टतः देखा जा सकता है।[४] इस प्रकार नागेश ने 'एकयोगनिर्दिष्ट' का 'एक-सम्बन्ध-निर्दिष्ट' शाब्दिक अर्थ लेते हुए 'परस्पर अन्वितार्थक पद' यह अर्थ माना है, जिससे समास विषय एवं वाक्य विषय में यह न्याय प्रवृत्त हो जाता है। फलतः इनकी दृष्टि से कैयट सम्मत अर्थ अयुक्त है।[५] कैयट ने समास में ही इस न्याय की प्रवृत्ति मानी है।[६]

परिभाषा के मूल के विषय में नागेश एवं प्राचीन परिभाषा व्याख्याकारों में पर्याप्त मतभेद है। नागेश इसे लोकन्याय सिद्ध मानते हैं, ज्ञापक सिद्ध नहीं। क्योंकि इनकी मान्यता है कि न्याय सिद्ध अर्थ रहते हुए ज्ञापकान्तर का अनुसरण करना व्यर्थ है। पुरुषोत्तमदेव ने इस परिभाषा को ज्ञापक-सिद्ध मानते हुये 'हनः सिच्'[७] सूत्र के 'सित्' ग्रहण का ज्ञापकत्व उपपादित किया है।[८] सीरदेव ने भी पुरुषोत्तमदेव का अनुसरण किया है।[९] नीलकण्ठ 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'[१०] सूत्र में पुनः 'इट्' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं।[११] प्रसंगतः नागेश ने इनके मत का उल्लेख करके विस्तार से ज्ञापक का खण्डन करते हुए सर्वथा असंगत ठहराया हैं मुख्य हेतु यह दिया है कि उक्त मत का भाष्य से सर्वथा विरोध[१२] प्राप्त होता है, अतः मान्य नहीं है। हरिभास्कर ने भी 'हनः सिच्' का 'सिच्' ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक माना है।[१३] पुरुषोत्तमदेव, नीलकण्ठ

---

१. यथा— 'सुप्प्रतिना मात्रार्थे' अष्टा० २/१/९ में 'सुप्' ग्रहण किया है, पूर्व सूत्र २/१/२ से अनुवृत्त 'सुप्' अव्यय के साथ सम्बद्ध था, अतः अव्यय को छोड़ने के लिए पुनः 'सुप्' ग्रहण, इसी प्रकार अनेकत्र सूत्रों में द्र० है।

२. 'सन्नियोगशिष्टानाम्' पाठान्तर, हरि भास्करवृत्ति, परि०सं० १४।

३. सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर। ४. नीलकण्ठ वृत्ति, परि०सं० १९।

५. उ० ६/१/९३।

६. प्र० ५/२/२५। 'एकयोगनिर्दिष्ट' पर व्याख्या।

७. अष्टा० १/२/१४। ८. पुरुषोत्तम वृत्ति, परि०सं०२४।

९. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १४। १०. अष्टा० ७/२/३५।

११. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१९। १२. म०भा० १/१/६। तथा ७/२/८।

१३. हरिभास्कर वृत्ति, परि०सं० १४।

इस परिभाषा को अनित्य कहते हैं। हरिभास्कर 'क्वचिदेकदेशोऽनुवर्तते' का ही प्रपंच है, यह मानते हैं। नागेश ने संक्षेप में परिभाषा के प्रयोजन-स्वरूप उदाहरणों का कथन किया है, परन्तु प्राचीनों ने विस्तार से उदाहरणों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में इसकी व्याख्या करते हुए अन्य मत का खण्डन किया है।[१]

(१२) क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते।।प०१८।।

परिभाषा का उपक्रम— एकयोगनिर्दिष्टानाम्०'[२] इस परिभाषा को यदि सर्वत्र स्वीकार किया जाय तो निम्न दोष आते हैं। 'अलुगुत्तरपदे'[३] सूत्र के 'अलुक्' पद की अनुवृत्ति 'आनङ् ऋतो[४] द्वन्द्वे' सूत्र से पूर्व तक है और 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति अंगाधिकार 'अङ्गस्य'[५] सूत्र से पूर्व तक है, यह कथन अयुक्त होने लगता है? क्योंकि 'अलुक्' और उत्तरपदे' परस्पर अन्वितार्थक हैं। इसी प्रकार 'दामहायनान्ताच्च'[६] सूत्र में उसके पूर्व के सूत्र 'संख्याव्ययादेर्ङीप्'[७] से 'संख्यादे:' की ही अनुवृत्ति होती है, 'अव्ययादे:' की नहीं, यह भी कथन व्यर्थ होता है, इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— कहीं-कहीं एक अर्थ में सम्बद्ध पदों में से किसी एक पद की भी अनुवृत्ति होती है।

इस परिभाषा के अर्थ के विषय में प्राचीनों और नवीन विद्वानों में मतभेद है। नागेश ने इसकी व्याख्या में प्रारम्भ में कैयट सम्मत अर्थ प्रस्तुत किया है।

परिभाषा का विशेष अर्थ— (क) कैयट सम्मत परिभाषार्थ— कैयट ने 'पक्षात्ति:'[८] सूत्र के भाष्य की व्याख्या में 'एकयोगनिर्दिष्ट' का निम्न प्रकार से अर्थ किया है- 'एक अर्थ से सम्बद्ध होने से, परस्पर सम्बद्ध रूप समुदाय को कहने वाले द्वन्द्व समास में निर्दिष्ट, दो पक्षों में से किसी एक की भी अनुवृत्ति लक्ष्यवशात् होती है। इस प्रकार द्वन्द्व समास से निर्दिष्ट सूत्र के पदों में से एकदेश की सूत्रान्तर में अनुवृत्ति होती है, ऐसा कैयट का अभिमत अर्थ है। **(ख) नागेश सम्मत परिभाषार्थ**— नागेश इस उपर्युक्त अर्थ से असहमत प्रतीत होते हैं, क्योंकि उपर्युक्त अर्थ कैयट इस प्रतीक द्वारा उद्धृत करते हैं। इनके अनुसार 'एकयोगनिर्दिष्ट' का अर्थ है 'एक सम्बन्ध से निर्दिष्ट' अर्थात् परस्पर सम्बद्ध अर्थ वाले दो पदों या बहुत पदों में से एक की अनुवृत्ति भी होती हैं। फलत: सम्बद्ध अर्थ वाला पद समास में हो या असमास में, दोनों समास,

---

१. प०शे०, पृ० ११६-११७। २. प०शे०, परि०सं० १८।
३. अष्टा० ६/३/१। ४. वही, ६/३/२५।
५. वही, ६/४/१। ६. वही, ४/१/२७।
७. वही, ४/१/२६।
८. प्र० ५/२/२५, एकयोगनिर्दिष्ट' पर व्याख्या।

व्यास से अनुवृत्ति होती है। असमास में भी एक देश की अनुवृत्ति होती है, ऐसा 'औतोऽम्शसो:'[१] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। कैयट के अनुसार असमास में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार भाष्य से विरोध प्राप्त होता है। अत: भाष्य विरुद्ध होने से यह कैयट वचन भ्रान्त है।

परिभाषा की सिद्धि में प्रमाण— 'स्वरितेनाधिकार:'[२] इस वचन से यह परिभाषा सिद्ध होती है। यह 'स्वरितत्त्व' रूप विशेष से जानी जाती है। लक्ष्यानुरोध से जहां समास अथवा असमास में सूत्र के एक देश की, सूत्रान्तर में अनुवृत्ति इष्ट है, वहां आचार्य स्वरित चिह्न कर देते हैं, जितने अंश की अनुवृत्ति इष्ट है, उतने ही अंश में 'स्वरितत्व' की प्रतिज्ञा करते हैं। उसी का ही आगे के सूत्रों में सम्बन्ध होता है अन्य का नहीं, इस प्रकार स्वरित की प्रतिज्ञा विशेष को मानकर यह परिभाषा सिद्ध होती हैं। उस स्वरितत्व का ज्ञान भाष्य आदि व्याख्या ग्रन्थों द्वारा किया जाता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'अलुगुत्तरपदे'[३] सूत्र के 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति 'अङ्गस्य'[४] से पूर्व तक होना सिद्ध हो जाता है तथा 'दामहायनान्ताच्च'[५] इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'संख्या' की अनुवृत्ति आती है और 'अव्यय' की नहीं। इसी प्रकार 'पक्षाति:'[६] इस सूत्र में पूर्वसूत्र[७] से 'मूल' शब्द की अनुवृत्ति आ जाती है, 'पाक' की नहीं आती है। असमास में भी एकदेश की अनुवृत्ति होने से 'औतोऽम्शसो:'[८] इस सूत्र में 'वा सुप्यापिशले:'[९] सूत्र से 'सुप्' की अनुवृत्ति आती है, 'वा' की निवृत्ति हो जाती है, यह भाष्य में स्पष्ट किया है। ये इस परिभाषा के प्रयोजन हैं।

समीक्षा— लक्ष्यानुरोध से कहीं-कहीं परस्पर सम्बद्धार्थक पदों में से एकदेश की अनुवृत्ति देखी जाती है। इसी को इस परिभाषा द्वारा व्यक्त किया गया है। इस परिभाषा का स्वरूप सर्वत्र ग्रन्थों में एक समान नहीं प्राप्त होता है। महाभाष्य प्रदर्शित स्वरूप किसी भी परिभाषा पाठ में नहीं मिलता है।[१०] व्याडि कुछ भिन्न रूप से स्वीकार करते हैं।[११] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर के परिभाषा पाठों में यही स्वरूप उपलब्ध होता है। नागेश ने इन्हीं के आधार पर पाठ रखा है।

---

१. द्र० म॰भा॰ ६/१/९३। २. अष्टा॰, १/३/११।

३. वही, ६/३/१। ४. वही, ६/४/१।

५. अष्टा० ४/१/२७। ६. वही, ५/२/२५।

७. वही, ५/२/२४ 'तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्य: कुणब्जाहचौ'।

८. वही, ६/१/९३। ९. वही, ६/१/९२।

१०. म॰भा॰ ५/२/३५ 'एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशानुवृत्तिर्भवति'।

११. व्याडि वृत्ति परि॰सं॰२३, 'एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशानुवर्तनम्'।

परिभाषा के अर्थ के विषय में सभी परिभाषाकारों का आशय समान है। कहीं एकदेश की अनुवृत्ति होती है और कहीं एकदेश की अनुवृत्ति नहीं होती है, ऐसा व्याडि[१] कहते हैं। पुरुषोत्तमदेव एवं सीरदेव ने अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि स्वरित के बल से कहीं सूत्रैकदेश, पदैकदेश अनुवृत्ति होता है। नागेश ने अति स्पष्ट होने के कारण स्यात् अर्थ नहीं लिखा है। प्रसंगत: कैयट सम्मत अर्थ का उल्लेख किया हैं इनके अनुसार 'द्वन्द्व समास में एकार्थी भाव होने से परस्परान्वित दो पदों में से किसी एक की कहीं अपेक्षावश अनुवृत्ति होती ही है, यही अर्थ है।

परिभाषा के मूल के विषय में मतभेद प्राप्त होता है। नागेश यह न्याय 'स्वरितत्त्व' लभ्य मानते हैं। जहां समास अथवा असमास में सूत्र के एकदेश की सूत्रान्तर में अनुवृत्ति इष्ट है, वहाँ उसे स्वरित-स्वरसहित पढ़ते हैं। फलत: 'स्वरितेनाधिकार:'[२] इस वचन से ही यह न्याय सिद्ध हो जाता है। ज्ञापक आदि मानने की आवश्यकता नहीं हैं नीलकण्ठ भी स्वरितत्त्व प्रतिज्ञालभ्य इस न्याय को मानते हैं।[३] परन्तु पुरुषोत्तम तथा सीरदेव ने ज्ञापक सिद्ध माना हैं। वे 'तस्मादित्युत्तरस्य'[४] सूत्र में 'इति' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं एवं ज्ञापक का उपपादन भी करते हैं।[५] हरिभास्कर 'इको गुणवृद्धी'[६] में 'गुण-वृद्धि' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं।[७] परन्तु नागेश स्वरित के प्रतिज्ञा बल से ही उक्त न्याय की सिद्धि हो जाने से ज्ञापक से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं समझते हैं।[८] इस प्रकार नागेश अपना दृष्टिकोण संक्षेप में ही इस परिभाषा की व्याख्या में प्रकट कर देते हैं।

(१३) उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि।।प०२२।।

परिभाषा का उपक्रम— उणादि प्रत्ययान्त शब्दों के विषय में द्विविध सिद्धान्त हैं। (१) उणादि प्रत्ययान्त शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं। (२) उणादि प्रत्ययान्त शब्द व्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं। इनमें पाणिनि को क्या अभिमत है और अन्य आचार्यों को क्या? इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। पाणिनि ने 'अत: कृकमिकंसकुम्भ०'[९] आदि सूत्र द्वारा विसर्ग को सकार का विधान किया गया है। यदि व्युत्पन्न पक्ष होता तो 'कम्' धातु से 'स'[१०] प्रत्यय होने पर 'कंस' शब्द सिद्ध होता है। इसमें 'कम्' धातु मानकर ही 'सत्व'

---

१. व्याडि वृत्ति परि॰सं॰ २३। २. अष्टा॰ १/२/११।
३. नीलकण्ठवृत्ति, परि॰सं॰१०। ४. वही, १/१/६७।
५. पुरुषोत्तमवृत्ति परि॰सं॰ २५, तथा सीरदेव वृत्ति परि॰सं॰ ८।
६. अष्टा॰ १/१/३। ७. हरिभास्करवृत्ति, परि॰सं॰ ८।
८. गदा॰, पृ॰ ४१, पं॰ १४ से अन्त तक।
९. अष्टा॰ ८/३/४६। १०. उढादि सूत्र।

सम्भव था। पुनरपि 'कंस' शब्द के ग्रहण से यही ज्ञापित होता है कि पाणिनि अव्युत्पन्न पक्ष ही मानते हैं। इसी का प्रतिपादन निम्न परिभाषा द्वारा किया गया है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— उणादि शब्द के दो अर्थ हैं (१) उण् आदि प्रत्ययान्त, और (२) उणादि प्रत्ययान्त रूप से कल्पित (संभावित) प्रातिपदिक। ये दोनों अव्युत्पन्न हैं— इनमें व्युत्पत्ति निमित्तक कार्य नहीं होता है।[१]

परिभाषा की ज्ञापकता— इस परिभाषा की ज्ञापकता के विषय में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं—

(क) कैयट आदि का मत— कैयट, सीरदेव[२] आदि के अनुसार 'अतः कृकमिकंस०'[३] सूत्र में 'कंस' का ग्रहण ही इस परिभाषा का ज्ञापक है। यहाँ ऐसी भी शंका हो सकती है कि 'कंस' धातु से 'कंस' शब्द को व्युत्पन्न मान लेना चाहिए। 'कम्' धातु से नहीं, अतः स्वतन्त्र शब्द होने के कारण 'कंस' ग्रहण सार्थक है? परन्तु ऐसा मानना और इससे ज्ञापक को विघटित करना ठीक नहीं है, क्योंकि 'कंस' धातु से व्युत्पन्न 'कंस' शब्द से कंस के प्रसिद्ध अर्थ का अभिधान नहीं होता है। अतः 'कम्' धातु से ही निष्पन्न 'कंस' शब्द का ग्रहण है। अतः वही इस परिभाषा का ज्ञापक है। **(ख) नागेश मत**— नागेश इसे ज्ञापक-सिद्ध न मानकर भाष्यारुढ़ वाचनिकी मानते हैं।[४]

उणादियों का व्युत्पन्न-पक्ष में मतभेद— उणादि प्रत्ययान्त प्रातिपदिक व्युत्पन्न भी होते हैं, एक ऐसा भी पक्ष भाष्य में प्रतीत होता है। 'ण्वुल्तृचौ'[५] इत्यादि[६] सूत्रों के भाष्य में उणाद्यन्त प्रातिपदिकों को व्युत्पन्न भी माना गया है। वहां यह विचार किया गया है कि उणादि प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों को भी व्युत्पत्त्याश्रित कार्य होता है। 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र में 'तृच्' में जो चकार अनुबन्ध लगाया है, उसका प्रयोजन 'मातृ' (माता) के 'तृ' से विभिन्न करना है। यदि आचार्य पाणिनि 'ण्वुल्तृचौ' सूत्र में तथा 'अप्तृन्तृच०'[७] इत्यादि सूत्र में उसी कारण ग्रहण किये गये 'तृच्' के स्थान में 'तृ' पढ़ते तो 'कर्तृ' से 'कर्तारौ' के समान 'मातृ' से 'मातारौ' यह अनिष्ट रूप निष्पन्न होता। इससे ज्ञापित होता है कि 'मातृ' जो औणादिक प्रत्यय से सिद्ध होता है, पाणिनि उसे व्युत्पन्न मानते हैं। अन्यथा 'अप्तृन्तृच्०' सूत्र की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती और 'तृच्' में 'च्' ग्रहण

---

१. अर्थात् प्रकृति प्रत्यय-विभाग से शून्य मानकर उसके आश्रित कार्य नहीं होता है। ऐसे ही शब्दों को 'रूढ़' कहते हैं।

२. कैयट, सीरदेव, पुरुषोत्तमदेव, नीलकण्ठ दीक्षित आदि।

३. अष्टा० ८/३/४६।

४. प०शे०, पृ० १२९ तथा उ० १/१/६१।

५. म०भा०, ३/१/३३।

६. म०भा०, ६/४/११।

७. अष्टा० ६/४/११।

व्यर्थ होता। फलत: उपर्युक्त सूत्रों के अनुसार उणादि प्रत्ययान्त प्रातिपदिक व्युत्पन्न भी मानने चाहिए। इसके मानने में आचार्यों में मतभेद है। नागेश ने कहा है कि व्युत्पन्न पक्ष शाकटायन, नैरुक्तकार आदि के अनुसार है।[१]

नागेश का मत— नागेश के अनुसार यह व्युत्पन्न-पक्ष सिद्धान्त भाष्यकारीय सिद्धान्त नहीं है। आचार्य पाणिनि का 'उणादयोऽव्युत्पन्नान्येव' अर्थात् अव्युत्पत्ति-पक्ष ही अभीष्ट मत है।[२] नागेश ने अपने ग्रन्थ 'शब्देन्दुशेखर'[३] में उणादि के प्रथम सूत्र की व्याख्या के आरम्भ में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया है। **(क)** इसमें प्रमाण—उपर्युक्त सिद्धान्त पक्ष 'आयनेयीनीयिय:०'[४] सूत्र के भाष्य में भी स्पष्ट है। इस सूत्र के भाष्य के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि' यह पाणिनि मत के अनुसार है। पाणिनि प्रकृति, प्रत्यय के विभाग से शून्य को 'रुढ़' प्रातिपदिक मानते हैं। इस प्रकार सर्वथा पाणिनि का केवल अव्युत्पत्ति पक्ष ही अभिमत है, ऐसा नागेश का सिद्धान्त है। यहां यह शंका हो सकती है कि 'सर्पिषा',[५] 'यजुषा' आदि में प्रत्यय का 'स्' न होने से षत्व कैसे होता है? इसका समाधान 'उणादयो बहुलम्'[६] के 'बहुल' ग्रहण से अव्युत्पन्न में भी प्रत्यय के अवयत्व का आरोप करके षत्त्व हो जाता है, यह मान लेना चाहिए।

परिभाषा का प्रयोजन— अन्य व्याकरणों में अभिमत 'उण्' आदि प्रत्ययान्त प्रातिपदिक पाणिनि के अनुसार अव्युत्पन्न- प्रकृति-प्रत्यय-विभाग से शून्य माने जाने पर 'अत: कृकमिकंसकुम्भ०'[७] आदि सूत्र में 'कंस' शब्द का ग्रहण सार्थक होता है, क्योंकि कंस शब्द 'कम्' धातु से 'स' प्रत्ययान्त निष्पन्न है, इसकी विवेचना नहीं कर सकते हैं। 'कंस' स्वतन्त्र रुढ़ संज्ञा शब्द है। इसलिए 'कम्' धातु मानकर उससे परे 'सत्त्व' नहीं सिद्ध हो सकता। अत: 'कंस' शब्द ग्रहण किया। इसी प्रकार 'परशव्य' शब्द को कहा हुआ लुक्, 'परशु' शब्द में उकार प्रत्यय होने पर भी अव्युत्पन्न पक्ष मानकर 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप:'[८] इस सूत्र से उसके उकार का 'लुक्' नहीं होता है। ऐसे ही शङ्ख:, शण्ठ:[९] आदि प्रातिपदिकों में अव्युत्पन्न मानकर 'ख', 'ठ' आदि प्रत्यय

---

१. प॰शे॰, पृ॰ १३०। २. वही, पृ० १३०।

३. श॰शे॰ 'कृवापा०' सूत्र की व्याख्या।

४. म॰भा॰ ७/१/२।

५. 'सर्पिष्' शब्द, तृतीया वि॰ए॰ में टा प्रत्यय, 'यजुष्' शब्द, तृतीया वि॰ए॰ में टा प्रत्यय होकर निष्पन्न रूप।

६. अष्टा॰ ३/३/१। ७. अष्टा॰ ८/३/४६।

८. वही, १/१/६१। ९. शम् धातु ख तथा ठ उदादि प्रत्यय।

के रूप में न होने पर ईन तथा ढक्[१] आदि आदेश नहीं होते हैं, इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— पाणिनि का एक उपदेश 'उणादि कोष' ग्रन्थ रूप में विख्यात है तथा अष्टाध्यायी में इससे सम्बन्धित 'उणादयो बहुलम्'[२] सूत्र पढ़ा है। इस परिभाषा द्वारा उणादि प्रत्यय के विषय में पाणिनि के सिद्धान्त का बोधन कराया गया है।

यह परिभाषा सर्वप्रथम हैमपाठ में कुछ पाठभेद से प्राप्त होती है।[३] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर के अनुसार ही नागेश ने पाठ स्वीकार किया है। परिभाषा का सामान्य अर्थ सभी परिभाषाकारों के व्याख्यानों के समान है। इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव ने 'अत: कृकमिकंस०'[४] इस सूत्र में 'कमि' ग्रहण से पृथक् 'कंस' ग्रहण को इसका ज्ञापक माना है तथा विस्तार से इसका प्रयोजन प्रतिपादित किया है।[५] सीरदेव 'अर्थवत्०'[६] सूत्र को ही इसका ज्ञापक मानते हैं। इसके साथ ही 'अन्ये' के द्वारा पुरुषोत्तमदेवोक्त ज्ञापक भी मानते हैं तथा प्रयोजन भी प्रतिपादित करते हैं।[७] इसका नीलकण्ठ ने केवल ज्ञापक प्रस्तुत किया है। 'अत: कृकमिकंस०' ग्रहण इस परिभाषा को ज्ञापित करता है, यह माना है।[८] हरिभास्कर ज्ञापक के विषय में तीन मत प्रस्तुत करते हैं। प्रथम इन्होंने सीरदेव अभिमत ज्ञापकत्व का विस्तार से खण्डन किया है। 'केचित्' द्वारा 'अत: कृकमिकंस०' में 'कंस' ग्रहण ज्ञापक माना है एवं 'अन्ये' संकेत द्वारा 'उणादयो बहुलम्'[९] इसके 'बहुल' ग्रहण का ही प्रपंच बताया है। यह स्यात् इनका ही मत है।[१०] नागेश इसको ज्ञापक सिद्ध नहीं मानते क्योंकि भाष्य में कहीं भी ज्ञापक नहीं प्रस्तुत किया गया है। अतएव कैयट मत का उल्लेख करके कहा है कि 'अत: कृकमिकंस०' में 'कंस' ग्रहण ही इसका ज्ञापक है।[११] नागेश सामान्य व्याख्या के उपरान्त ऊहापोह द्वारा अन्यत्र भाष्य विरोध का परिहार करते हुए इस विषय में पाणिनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। 'ण्वुल्तृचौ'[१२] सूत्र के भाष्य में जो उणादि प्रत्ययान्तों को व्युत्पन्न माना गया है, वह वस्तुत: भाष्यकारीय सिद्धान्त नहीं है। शाकटायन तथा नैरुक्त रीति से वैसा प्रतिपादन कर दिया गया है। इस प्रकार

---

१. ख का ईन् द्र० अष्टा० ७/१/२ तथा ठ का 'इक्' द्र० अष्टा० ७/३/५०।

२. अष्टा० ३/३/१।

३. 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि' — हैमपाठ परि०सं० १०३।

४. अष्टा० ८/३/४६।

५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ७०।

६. अष्टा० १/२/४५।

७. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १५।

८. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० २०।

९. अष्टा० ३/३/१।

१०. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १५।

११. प०शे०, पृ० १२९।

१२. अष्टा० ३/१/३३।

नागेश उणादि-विषय में पाणिनि का सर्वथा 'अव्युत्पत्तिपक्ष' ही अभिमत मानते हैं, व्युत्पन्नपक्ष नहीं। नागेशमत विस्तार से जानने के लिए 'कृवापा०'[१] इत्यादि उणादि सूत्र की व्याख्या के आरम्भ में 'लघुशब्देन्दुशेखर' द्रष्टव्य है तथा 'आयनेयी०'[२] भाष्य में उद्योत भी द्रष्टव्य है। इस प्रकार नागेश के अनुसार यह वाचनिकी है।

(१४) उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्त-ग्रहणम्।।प०२५।।[३]

परिभाषा का उपक्रम— जहाँ प्रत्यय का ग्रहण किया जाता है, वहां तदादि, तदन्तविधि होती है, ऐसा पूर्व परिभाषा से सिद्ध है।[४] इस परिस्थिति में 'घरूपकल्पचेलड्'[५] आदि सूत्र में भी 'रूपप्' प्रत्यय का ग्रहण न करके 'रूपप्' प्रत्ययान्त शब्द का ग्रहण करना होगा। इसके फलस्वरूप 'कुमारी ब्राह्मणिरूपा'[६] यहां रूपप् प्रत्ययान्त 'ब्राह्मणिरूपा' को परे मानकर 'कुमारी' का ह्रस्व[७] होने लगेगा और 'ब्राह्मणी' का नहीं हो सकेगा। इस प्रकार इष्ट की असिद्धि और अनिष्ट की प्रसक्ति होती है। इसकी व्यवस्था के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— 'अलुगुत्तरपदे'[८] इस सूत्र के 'उत्तर-पदे' इस अधिकार के अन्तर्गत आने वाले प्रत्यासत्ति से पर-निमित्त-भूत प्रत्यय के आश्रित कार्य विधायक सूत्रों में तदन्त विधि नहीं होती है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा के होने में आचार्य पाणिनि का 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु'[९] सूत्र में 'अण्' से पृथक् 'लेख' शब्द का ग्रहण ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न होती तो 'अण्' प्रत्यय से ही सभी अणन्तों का ग्रहण हो जाता? पुन: अणन्त 'लेख' शब्द का पृथक् ग्रहण व्यर्थ है? इस प्रकार 'लेख' के पृथक् ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि 'अण्' से अणन्त का ग्रहण नहीं होता है, अत: 'लेख' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है।[१०] **(क) लेख में घञन्त की शंका**— यदि 'लेख' शब्द को घञन्त मान लिया जाय तो इसकी ज्ञापकता विघटित हो जाती है। **समाधान**— यह शंका निस्सार है। इस सूत्र में 'लेख' शब्द घञन्त नहीं है, क्योंकि 'हृल्लेख:' (हृदयं लिखति) के अर्थ की प्रतीति घञन्त 'लेख' शब्द से नहीं हो सकती। भाष्य

---

१. उदादि सू०सं० १। २. अष्टा० ७/१/२।

३. प०शे०, परि०सं० २३। ४. अष्टा० ६/३/४३।

५. कुमारी का 'ब्राह्मणि-रूपा' के साथ समानाधिकरण समास।

६. अष्टा० ६/३/४३।

७. अष्टा० १/१/७२ सूत्र से प्राप्त तदन्त विधि।

८. अष्टा० ६/३/१। ९. अष्टा० ६/३/५०।

१०. म०भा० ६/३/५० 'लेख' ग्रहण का प्रयोजन।

प्रमाण[१] से भी 'लेख' शब्द अणन्त ही लिया जाता है।

ज्ञापक की सजातीयापेक्षा— ज्ञापक सजातीयापेक्ष[२] होता है। 'अण्' प्रत्यय है, वह कार्यान्तर-विधान के लिए है, उसके निमित्त से हृदय का 'हृद्' आदेश होता है। ऐसे ही अन्यत्र भी जहां प्रत्यय निमित्त रूप से इष्ट है और उपात्त[३] है अर्थात् आनुपूर्वी विशेषविशिष्ट रूप से पठित है, वहीं तदन्त विधि का निषेध होता है। 'उत्तर-पदाधिकार' में पढ़े हुए प्रत्यय-मात्र के कारण यह निषेध नहीं होता है, यदि ऐसा हो तो 'घरूपकल्पचेलड्०'[४] सूत्र में भी 'ङी' ग्रहण से ही तदन्त ग्रहण न होगा। इसी प्रकार 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य',[५] 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्',[६] 'खित्यनव्ययस्य'[७] में भी तदन्त विधि का निषेध हो जाता। प्रथम में 'ङी' और द्वितीय में 'ङी' तथा 'आप्' निमित्त नहीं है, क्योंकि षष्ठी निर्देश है। 'खिति' में प्रत्यय का बहुव्रीहि से बोध होता है, साक्षात् आनुपूर्वी विशेषविशिष्ट प्रत्यय का उपदान नहीं है। फलतः इस प्रकार विशिष्ट प्रत्यय के ग्रहण में ही यह निषेध करती है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'उत्तर-पदाधिकार'[८] के प्रत्ययाश्रित कार्यों के विधायक सूत्रों में तदन्त विधि का निषेध होने से 'कुमारी ब्राह्मणिरूपा'[९] 'कुमारी गौरितरा'[१०] इत्यादि में 'कुमारी' शब्द का ह्रस्व[११] नहीं होता है। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन हैं।

समीक्षा— 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्०' (परि०सं० २३) इस परिभाषा का 'प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः' के अतिरिक्त एक और संकोच है। यह परिभाषा किसी प्राचीन

---

१. म०भा० ६/३/५०। एवं उ० भी।

२. तात्पर्य यह है कि जहाँ, जिस परिस्थिति में— जैसे रूप से होता है, वह अपने समान रूप की ही अपेक्षा करके तात्पर्य बोध कराता है।

३. अर्थात् एक शब्द- विशेष का ग्रहण।

४. अष्टा० ६/३/४३।

५. वही, ६/३/६१।

६. वही, ६/३/६३।

७. वही, ६/३/६६।

८. 'अलुगुत्तरपदे' अष्टा० ६/३/१ तथा द्र० का० ६/३/१ आपादपर्यन्त उत्तरपदाधिकार।

९. कुमारी चासौ ब्राह्मणि-रूपा च- इस विग्रह में कर्मधारय समास, रूपबन्त 'ब्राह्मणि-रूपा' उत्तरपद परे रहते पूर्ववद 'कुमारी' को ह्रस्वत्व की प्राप्ति।

१०. तरप् प्रत्ययान्त, स्त्रीलिङ्ग 'गौरितरा' के साथ 'कुमारी' का कर्मधारय समास होकर उक्त रूप।

११. अष्टा० ६/३/४३।

परिभाषा ग्रन्थ में नहीं है। महाभाष्य में यह भिन्न रूप[१] से प्राप्त होती है। नागेश ने कुछ पाठान्तर करके प्रस्तुत किया है।[२] तात्पर्य के आधार पर भेद किया गया प्रतीत होता है। आशय भिन्न नहीं है। परिभाषा का अर्थ अति सरल होने के कारण स्यात् नहीं लिखा गया है।

नागेश ने भाष्य के अनुसार परिभाषा का ज्ञापक प्रस्तुत किया है। प्रयोजन आदि का प्रतिपादन नहीं किया है। इस प्रकार अति संक्षिप्त इन्होंने व्याख्या की है। 'अलुगुत्तरपदे'[३] के अधिकार में विधि वाक्य में जब प्रत्यय पर-निमित्त से तथा आनुपूर्वी विशेषविशिष्ट रूप से गृहीत होता है, तब वहाँ तदन्त विधि नहीं होती है, ऐसा टीकाकारों ने इसके प्रवृत्ति-विषय का स्पष्टीकरण किया है।[४]

(१५) संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति।।प०२७।।

परिभाषा का उपक्रम— 'प्रत्यय-ग्रहण' परिभाषा स्वीकार करने पर प्रत्यय के ग्रहण स्थल पर तदन्त विधि प्राप्त होती है? अर्थात् प्रत्यय से प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। फलतः तब 'तरप्तमपौ[५] घः' इत्यादि सूत्र में भी तदन्त-विधि से तरप्, तमप् से तरबन्त, तमबन्त का ग्रहण क्यों नहीं होता? अर्थात् तब तरबन्त, तमबन्त की 'घ' संज्ञा होनी चाहिए? जिसके फलस्वरूप 'कुमारी गौरितरा'[६] आदि में 'घ' संज्ञक के परे 'कुमारी' शब्द का ह्रस्व होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— संज्ञाविधायक शास्त्र में प्रत्ययों की संज्ञा करने में गृहीत प्रत्यय तदन्त का ग्राहक नहीं होता, अर्थात् वहाँ तदन्त विधि नहीं होती है। यदि कहीं किसी प्रत्यय की कोई संज्ञा की जाती है वहाँ उस प्रत्यय का ही ग्रहण होता है, प्रत्ययान्त का नहीं। इस प्रकार वहां तदन्त विधि नहीं होती है।

परिभाषा का ज्ञापक— 'सुप्तिङन्तं[७] पदम्' इस संज्ञा विधायक सूत्र में 'अन्तग्रहण' इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न होती तो 'तदन्तविधि' परिभाषा से ही तदन्त की उपलब्धि से सुबन्त, तिङन्त का ग्रहण हो जाता, पुनः 'अन्त'

---

१. 'प्रत्ययग्रहणे०-----रूग्रहणम् द्रष्टव्यम्' म०भा० ६/३/५०।

२. 'प्रत्ययग्रहणे०-------न तदन्त ग्रहणम्'। प०शे० सं० २३।

३. अष्टा० ६/३/१। ४. गदा, पृ० ५२।

५. अष्टा० १/१/२२।

६. 'कुमारी गौरितरा' में तरबन्त 'गौरितरा' के उत्तरपद परे रहते 'कुमारी' का बहुव्रीहि समासयुक्त प्रयोग। गूढार्थ; पृ० १६०।

७. अष्टा० १/४/१४।

ग्रहण की व्यर्थता प्राप्त होती है, पुनः व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

(क) ज्ञापकत्त्व में शंका— शंका यह है कि यदि 'सुप्तिङन्तं[१] पदम्' सूत्र में सुप् और तिङ् प्रत्ययों की पदसंज्ञा होने पर भी 'प्रत्यय ग्रहण' परिभाषा से ऐसे शब्द रूप का बोध हो जाता है, जिसके अन्त में सुप् एवं तिङ् हैं तथा इस परिभाषा से तदन्त विधि के अभाव के ज्ञापित होने पर भी 'अन्त' ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है, क्योंकि स्वार्थ में चरितार्थता नहीं है। इस प्रकार फलाभाव के कारण ज्ञापकत्त्व की संगति नहीं होती है?

समाधान— उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्रत्यय-ग्रहण परिभाषा की प्रवृत्ति के लिए 'प्रत्ययमात्र'[२] ही गृहीत किया जाता है। जो प्रत्यय हो और प्रत्यय से इतर भी हो, वह नहीं गृहीत किया जाता है। इस प्रकार यहां 'पद' प्रत्यय मात्र[३] का ही बोधक नहीं है, क्योंकि 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'[४] सूत्र के अनुसार 'पद' प्रकृति का भी बोधक है, प्रत्यय मात्र का ही नहीं। अतः 'सुप्तिङन्तं पदम्' यह सूत्र 'प्रत्यय ग्रहण'[५] परिभाषा का विषय नहीं है। अतः 'अन्त' का ग्रहण प्रकृत परिभाषा को ज्ञापित करता है और स्वार्थ में चरितार्थ हो जाता हैं। यह तात्पर्य 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र के भाष्य[६] में स्पष्ट किया गया है।

परिभाषा का प्रयोजन— प्रत्ययों की संज्ञा करने वाले शास्त्र में, प्रत्ययों के ग्रहण से प्रत्ययान्ततदन्त ग्रहण नहीं माना जाता है। इसका फल यह है कि 'तरप्तमपौ घः'[७] सूत्र से तरप्, तमप् प्रत्ययान्त की 'घ' संज्ञा नहीं होती है, अतः 'कुमारी गौरितरा' में 'घरुपकल्पचेलड्०'[८] सूत्र से तरबन्त 'गौरितरा' परे रहते 'कुमारी' का ह्रस्व नहीं होता है, 'तरप्' परे रहते 'गौरी' का ह्रस्व होता है। इसी प्रकार 'कुमारगौरितरा' रूप भी मात्र तरप्, तमप् की 'घ' संज्ञा मानने से सिद्ध होता है अन्यथा 'तदन्त' की संज्ञा मानने से सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि उत्तरपद में स्थित घान्त 'तरबन्त'[९] परे होने से पुंवद्भाव को बाध करके 'कुमारी' शब्द के 'ई' का तरबन्त परे रहने पर ह्रस्व[१०] प्रसक्त होगा,

---

१. अष्टा० १/४/१४।

२. जहाँ प्रत्यय का ही बोधक पद गृहीत किया गया हो- द्र०प०शे० परि०सं० २३ पृ० १३८ तथा म०भा० ४/१/६।

३. सुबन्त, तिङन्त मात्र।

४. अष्टा० १/४/१७।

५. प०शे० परि०सं० २३।

६. म०भा० १/४/१४।

७. अष्टा० १/१/२२।

८. अष्टा० ६/३/४३।

९. अष्टा० ६/३/३५ पुवंद् भाव सूत्र तथा द्र० अष्टा० ६/३/४३ ह्रस्व विधायक सूत्र।

१०. अष्टा० ६/३/४३।

'तरप्' परे रहते 'गौरी' का नहीं होगा, जिससे 'कुमारिगौरितरा' अनिष्ट रूप निष्पन्न होगा। परन्तु प्रकृत परिभाषा के होने से कोई दोष नहीं होता है, अन्य[१] भी अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा शव्दस्वरूप विशेष्य का अध्याहार करके प्राप्त होने वाली तदन्त विधि का संकोच प्रस्तुत करती है। संज्ञाविधायक शास्त्र में जिस प्रत्यय की साक्षात् संज्ञा की जाती है, उस प्रत्यय से तदन्त विधि नहीं होती है। यह परिभाषा भिन्न रूपों में परिभाषा ग्रन्थों में प्राप्त होती है। व्याडि भिन्न रूप में पाठ करते हैं।[२] जैनेन्द्र भी भिन्न रूप में पढ़ते हैं। पुरुषोत्तमदेव[३] और सीरदेव किञ्चित् पाठ भेद से पाठ करते हैं।[४] नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर इसी रूप में पाठ करते हैं। नागेश इन्हीं का अनुकरण करते हैं। भाष्य में 'तदन्तविधिः' पाठ है।[५]

'सुप्तिङन्तं पदम्'[६] में 'अन्त' ग्रहण इसका ज्ञापक है, इसी का सभी ने उपपादन भी किया है। नागेश ने भी 'अन्त' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हुए विस्तार से ज्ञापकत्त्व का उत्पादन किया है।

परिभाषा का प्रयोजन सभी में समान प्राप्त होता है। व्याडि[७] आदि सभी ने 'तरप्तमपौ[८] द्यः' इसके 'तरप्' का उदाहरण दिया है। इस परिभाषा का सीरदेव एवं हरिभास्कर ने विस्तार से शंका आदि पूर्वक व्याख्यान किया है।[९]

(१६) व्यपदेभिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन।।प०३२।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रस्तुत परिभाषा से 'व्यपदेशिवद्भाव' के अपवाद का विषय बताते हैं। शंका यह होती है कि यदि असहाय में व्यपदेशिवद्भाव अंगीकार करते हैं तो जैसे— 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्', [१०] 'दशान्ताड्डः', [११] 'एकगोपूर्वाट्ठञ्नित्यम्'[१२] सूत्रों से क्रमशः जो सूत्रान्त प्रातिपदिक से 'ठक्', दशान्त प्रातिपदिक से 'ड' तथा एक-गो-पूर्वक प्रातिपदिक से 'ठञ्' प्रत्यय विधान किये गये हैं। वैसे ही

---

१. गुढार्थ; पृ० १५९, पं० ११ से अन्त तक।

२. 'संज्ञाविधौ तदन्तविधिर्नास्ति'- व्याडिवृत्ति, परि०सं० ७१।

३. 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्नास्त'- जैनेन्द्र वृत्ति, परि०सं० ५३।

४. दोनों ग्रन्थ, 'ग्रहणम्' के स्थान पर 'विधिः' पाठ है।

५. म०भा० १/४/१४ ६. अष्टा० १/४/१४।

७. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

८. अष्टा० १/१/२२।

९. सीरदेव वृत्ति, परि० सं० २७, हरिभास्कर वृत्ति, परि० सं० २७।

१०. अष्टा० ४/२/६०। ११. वही, अपूर्ण सूत्र ५/२/४५।

१२. वही, ५/२/११८।

व्यपदेशिवद्भाव[१] मानकर केवल सूत्र से, केवल दशन् से तथा केवल एक अथवा गो से भी उन प्रत्ययों की प्रवृत्ति होनी चाहिए? क्यों नहीं होती? इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति विशिष्ट प्रातिपदिक को छोड़कर होती है। अर्थात् सूत्र में उच्चारण किये हुए प्रातिपदिक से व्यपदेशिवद्-भाव नहीं होता।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा के ज्ञापक 'पूर्वादिनि:'[२] एवं 'सपूर्वाच्च'[३] ये दोनों सूत्र हैं। क्योंकि यहाँ यदि व्यपदेशिवद्भाव होता तो 'पूर्वात्सपूर्वादिनि:' (पूर्वान्तादिनि:) ऐसा एकयोग पढ़ने से कार्य सिद्ध हो जाता, पुन: पृथक्-पृथक् योग विभाग से जो 'पूर्वादिनि:', 'सपूर्वाच्च' इस प्रकार पढ़ा है, वही इस परिभाषा का ज्ञापक है कि यहाँ व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता। यदि यह परिभाषा न होती तो 'पूर्वात्सपूर्वादिनि:' इस एक योग से 'कृतपूर्वी' आदि की सिद्धि हो जाती तथा व्यपदेशिवद्भाव से केवल पूर्व को अपूर्व मानकर 'पूर्वी' की सिद्धि भी हो जाती। परन्तु आचार्य जानते हैं कि उपात्त प्रातिपदिक के विषय में व्यवदेशिवद्भाव नहीं होता है। अत: 'सपूर्वाच्च' के साथ 'पूर्वादिनि:' का भी पाठ किया गया है।

(क) ज्ञापकत्व में शंका— यदि यह कहा जाय कि यह योगविभाग इसलिए किया गया है कि उत्तरसूत्र 'इष्टादिभ्यश्च'[४] सूत्र में 'सपूर्वाच्च'[५] की अनुवृत्ति हो, जिससे 'इष्टी' के साथ-साथ 'अनिष्टी' की भी सिद्धि हो जाय। इसलिए योग विभाग आवश्यक है। फलत: इसकी ज्ञापकता खण्डित हो जाती है। **समाधान**— यह प्रयोजन मान्य नहीं हैं। भाष्य-प्रामाण्य[६] से हम जानते है कि 'अनिष्टी' आदि प्रयोग नहीं होते है, वे अनिष्ट रूप हैं। इसी प्रकार आगे के सूत्र[७] में अनुवृत्ति का भी कोई फल न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं जाती है। यदि अनुवृत्ति ले जाना चाहे तब भी कोई बात नहीं, एकयोग होने पर 'सपूर्वात्' इस एकदेश की अनुवृत्ति में कोई बाधा नहीं है। 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते'[८] इस न्याय से अनुवृत्ति सुलभ ही है।

---

१. 'व्यपदेशिवदेकसिमन्' परि०सं० ३० से।

२. अष्टा० ५/२/८६।

३. वही, ५/२/८७।

४. अष्टा० ५/२/८८।

५. वही, ५/२/८७।

६. म०भा० ५/२/८७ ज्ञापक विचार।

७. अग्रिम सूत्र अष्टा० ५/२/८८ 'इष्टादिभ्यश्च' में 'सपूर्वाच्च' की अनुवृत्ति आ सकती है।

८. प०शे० परि०सं० १८।

परिभाषा के होने में सूत्र-प्रमाण— इस परिभाषा के होने पर ही 'नान्तादसंख्यादेर्मट्'[१] सूत्र चरितार्थ होता है। यह सूत्र असंख्यादि (असंख्या पूर्व=जिसके पूर्व समास की अवयव कोई दूसरी संख्या न हो) नान्त प्रातिपदिक से परे पूरणार्थक 'डट्'[२] को 'मट्' का आगम विधान करता है। यदि यह परिभाषा न माने तो 'पञ्चन्' को भी व्यपदेशिवद्भाव से संख्यादि मानने पर 'डट्' को 'मट्' का आगम न हो सकेगा। यहाँ भी 'असंख्यादे:' इससे निषेध हो जायगा एवं फलत: 'पञ्चम:' इत्यादि इसके उदाहरण ही सिद्ध न हो सकेंगे, इस प्रकार उसकी व्यर्थता स्पष्ट ही है। अत: पुन: व्यर्थ होकर यह ज्ञात होता है कि इस परिभाषा से प्रातिपदिक से व्यपदेशिवद्भाव का निषेध हो जाता है। इस कारण वह प्रवृत्त हो जाता है। फलत: 'असंख्यादे:' इस विशेषण के सामर्थ्य से अथवा सूत्रारम्भ सामर्थ्य से इस सूत्र में व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती है, समझनी चाहिए।

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल— इस परिभाषा की प्रवृत्ति प्रातिपदिक ग्रहण मात्र में ही अर्थात् ऐसे शब्द-रूप के ग्रहण में होती है, जो केवल विशिष्ट प्रातिपदिक हो और ऐसा प्रातिपादिक सूत्र में उपात्त हो, वहीं यह प्रवृत्त होती है। जो प्रातिपदिक और अप्रातिपदिक भी हो, उसके ग्रहण में यह नहीं प्रवृत्त होती है।[३] वहाँ व्यपदेशिवद्भाव हो ही जाता है। **(क) उक्त अर्थ का लाभ**— उक्त नियम स्वीकार करने से ही 'उगितश्च'[४] सूत्र में 'उक्' इत् यस्य (शब्द-स्वरूपस्य) 'उगित्'[५] ऐसी व्याख्या प्रमाणित की गई है। उगित् प्रातिपदिक भी है और प्रातिपदिक नहीं भी है। अत: यहाँ प्रातिपदिक का ग्रहण न होने से इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। अत: व्यपदेशिवद्भाव हो जाता है, जिससे 'ङीप्' होकर 'अतिभवती' तथा 'भवती' दोनों साधु होते हैं। इसलिए इस सूत्र में 'भवती' आदि में ङीप्' असिद्धि-रूप दोष नहीं आता। यह उसी सूत्र के भाष्य[६] में भी स्पष्ट किया गया है।

परिभाषा की प्रत्ययविधिविषयता— यह परिभाषा और 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्त०'[७] यह परिभाषा, प्रत्ययविधि के ही विषय में प्रवृत्त होती है। ऐसा 'असमासे निष्कादिभ्य:'[८] सूत्र के भाष्य और कैयट की व्याख्या से ध्वनित होता है और साथ ही कैयट, नागेश आदि का विचार है कि यह 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन'[९] परिभाषा

---

१. अष्टा० ५/२/४९। २. वही, ५/२/४८। 'तस्य पूरणे डट्'।
३. प०शे०, पृ०१८८, पं० २। ४. अष्टा० ४/१/६।
५. यह बहुव्रीहि समास में स्वीकार किया गया है- द्र० का० ४/१/६।
६. म०भा० ४/१/६। 'उगित: प्रातिपदिकात् उगिदन्तत्वाद्वा ङीप्' ।
७. प०शे० परि०सं० ३०। ८. म०भा० ५/१/२०। तथा प्र० भी।
९. प०शे० परि०सं० ३२।

वहीं प्रवृत्त होती हैं, जहाँ प्रत्ययविधायक शास्त्र में 'अन्त' शब्द पढ़ा है। जैसे 'दशान्ताड्ः'[१] यहाँ होती है। ऐसा 'येन विधिस्तदन्तस्य'[२] सूत्र के कैयट[३] और नागेश कृत व्याख्या[४] में तथा 'असमासे निष्कादिभ्यः'[५] सूत्र से उद्योत में स्पष्ट निर्देश निकाला है एवं उक्त सूत्र के प्रामाण्य से इसकी प्रत्यय विधि में ही प्रवृत्ति होती है। **(क) उक्त प्रत्ययविधि विषय का लाभ**— उक्त विषय में प्रवृत्ति मानने से ही 'अहन्'[६] 'ससजुषो रुः'[७] आदि[८] सूत्रों के विषय में यह नहीं प्रवृत्त होती है। 'अहन्' सूत्र 'अहन्' को 'रु' आदेश विधान करता है, अतः यह प्रत्ययविधि नहीं है। फलतः यहाँ तदन्तविधि से 'परमाहन्' में रुत्त्व होगा और व्यपदेशिवद्भाव से केवल 'अहन्' में भी होता है=अहः। इसी प्रकार 'ससजुषो रुः' से सत्त्व केवल 'सजूः' में और 'परमसजूः' में भी प्रवृत्त हो जाता है।

परिभाषा की प्रवृत्ति विशेष का कथन— नागेशकृत सम्पूर्ण व्याख्या से तीन बातें इस परिभाषा में विदित होती हैं— **(क)** ज्ञापक के सजातीय[९] होने से और भाष्य[१०] प्रामाण्य से जहाँ विशिष्ट प्रातिपदिक का ग्रहण है वहीं प्रवृत्ति होती है, जिसका फल 'उगितश्च' में दोष नहीं होता है। **(ख)** यह प्रत्यय-विधि के विषय में ही प्रवृत्ति होती है। **(ग)** उसमें भी जिस सूत्र[११] में 'अन्त' का उपादान किया है, वही प्रवृत्त होती है। अतएव 'रोणी'[१२] सूत्र से 'अण्' तदन्त से और केवल 'रोणी'[१३] से भी व्यपदेशिवद्भाव से सिद्ध होता है। ऐसा सभी टीकाकारों ने निष्कर्ष निकाला है।[१४]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'क्रतूक्थादि०'[१५] सूत्र में केवल सूत्र को सूत्रान्त मानकर 'ठक्' नहीं होता है। सूत्रमधीते- सौत्रः[१६]। इसी प्रकार

---

१. अष्टा० ५/२/४५।
२. म०भा० १/१/७२।
३. प्र० १/१/७२।
४. उ० १/१/७२।
५. उ० ५/१/२०।
६. अष्टा० ८/२/८६।
७. वही, ८/२/६६।
८. 'सान्तमहतः०' (अष्टा० ६/४/१०) 'दादेर्धातोर्घः' (अष्टा० ८/२/३२) 'वसुस्रंसु०' (अष्टा० ८/२/७२) सूत्र।
९. जिस परिस्थिति में जैसे रूप से ज्ञापक है वैसे ही रूपों में प्रवृत्त होना, फलतः तदन्तत्त्व में ज्ञापक होने के कारण अन्त से युक्त सूत्रों में ही निषेध होगा।
१०. म०भा० ४/१/६।
११. अष्टा० ४/१/६।
१२. 'सूत्रान्ताट्ठक्' 'दशान्ताड्ः'।
१३. अष्टा० ४/२/७८।
१४. गूढार्थ; पृ० १८९।
१५. अष्टा० ५/२/६०।
१६. सूत्रमधीते- इस अर्थ में 'सूत्र' शब्द से 'अण्' प्रत्यय, आदि बृद्धि तथा भ संज्ञक 'अ' का लोप होकर निष्पन्न सौत्रः रूप।

'तदस्मिन्नधिक०'[१] सूत्र से केवलशत, सहस्र शब्द से नहीं होता— शती, शतिकः। सहस्री, सहस्रिकः।[२] 'इन्' और 'ठन्' प्रत्यय हो जाते हैं। इसी प्रकार केवल गो से ठक् प्रत्यय न होकर 'मतुप्'[३] प्रत्यय होता है=गोमान्। इसी प्रकार 'नान्तादसंख्यादेर्मट्'[४] सूत्र से पञ्चमः आदि[५] सिद्ध होते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा में व्यपदेशिवद्भाव के अपवाद-विषय का प्रतिपादन किया गया है। यह परिभाषा चान्द्र, कातन्त्र, हेम, भोज को छोड़कर अन्य सभी[६] ग्रन्थों में कुछ भिन्न स्वरूप में प्राप्त है। जैनेन्द्र ने इस परिभाषा को न मानकर 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' की व्याख्या में इस परिभाषा के आशय का कथन कर दिया है।[७] इस परिभाषा की व्याख्या नागेश ने प्राचीनों के अनुसार ही की है। इस परिभाषा के मूल के विषय में सभी एकमत हैं। इस परिभाषा को सभी ज्ञापक सिद्ध मानते हैं। इस परिभाषाका ज्ञापक सभी के अनुसार 'पूर्वादीनिः'[८] 'सपूर्वाच्च'[९] इन दोनों सूत्रों का पृथक्-पृथक् ग्रहण है। नागेश ने भी उक्त सूत्रों को ही इसका ज्ञापक माना है। अतएव विस्तार से ज्ञापकत्व विघटन शंका का निवारण करते हुए ज्ञापक का उपपादन किया गया है। इसके समर्थन में एक अन्य ज्ञापकस्वरूप सूत्रप्रामाण्य नागेश ने प्रस्तुत किया है। इस परिभाषा का प्रयोजन भी सभी ने समान ही स्वीकार किया है। परन्तु इस परिभाषा के प्रवृत्ति विषय का स्पष्टीकरण प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है। व्याडि और जैनेन्द्र इस विषय में मौन है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव प्रत्ययविधि विषय में ही प्रवृत्ति बतलाते हुए परिभाषा के प्रयोजन के अभाव से अनुपयोगिता घोतित करके विस्तार से प्रयोजन पर विचार किया है। परन्तु कैसे प्रातिपदिक का ग्रहण होता है इसको स्पष्ट नहीं किया है।[१०] नीलकण्ठ संक्षेप में प्रत्ययविधि— विषयक इसकी प्रवृत्ति बतलाते हैं तथा हरिभास्कर कुछ नहीं कहते हैं। नागेश ने इसकी प्रवृत्ति को 'येन विधिस्तदन्तस्य'[११] सूत्र के कैयट मत का अनुकरण करते हुए स्पष्ट किया है कि जिस सूत्र में असाधारण प्रातिपदिक 'अन्त' शब्द के साथ उपत्ति है, वही इसकी प्रवृत्ति होती

---

१. अष्टा० ५/२/४५। २. अष्टा० ५/२/११५।

३. गो से मतुप् होकर प्र०वि०ए० का रूप, मतुप् द्र० अष्टा० ५/२/-९५।

४. अष्टा० ५/२/४९।

५. अष्टा॰ ५/२/११८ सूत्र से केवल 'एक' ओर 'गो' से प्रत्यय नहीं होता है।

६. व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर, शाकटायन।

७. जैनेन्द्र वृत्ति, परि॰सं॰१४। ८. अष्टा० ५/२/८६।

९. अष्टा० ५/२/८७।

१०. पुरुषोत्तम वृत्ति, परि०सं० ७९, सीरदेव वृत्ति परि०सं० ५६।

११. अष्टा० १/१/७२।

है तथा वह भी प्रत्ययविधि में ही। इसके समर्थन में भाष्य प्रमाण देकर पुष्ट किया है। साथ ही प्रत्ययविधि विषयक मानने का लाभ भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार प्राचीन रीति के अनुसार ही भाष्य सम्मत व्याख्या की गई है।

(१७) यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे।।प०३३।।

परिभाषा का उपक्रम— पाणिनीय प्रक्रिया में जिस प्रकार कुछ विधियाँ तदन्तत्व को मानकर प्रवृत्त होती है उसी प्रकार कुछ तदादित्व को मानकर। जैसे 'वान्तो यि प्रत्यये'[१] यहाँ पर 'य' रूप प्रत्यय लिया जाय अथवा यकारादि प्रत्यय? अथवा तदन्त-विधि मानी जाय? इन्हीं समस्याओं का समाधान प्रस्तुत परिभाषा द्वारा किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अल्बोधक सप्तम्यन्त विशेषणभूत शब्द को मानकर जिस विधि का विधान किया है वह तदादि (- उपात्त अल् आदि में है जिसके) को मानकर होती है।

परिभाषा का आशय— इस परिभाषा में 'यस्मिन्'[२] यह सप्तम्यन्त का अनुकरण है। इसका अल्ग्रहणे के साथ विशेषणतया सम्बन्ध है। इसमें अल्-ग्रहणे-अल्ग्रहणे में 'ग्रहण' शब्द में करण में 'ल्युट्' है, तब अर्थ हुआ- अल् बोधके। गृह्यते-इतरभिन्नत्वेन ज्ञायते येन तद् ग्रहणं- विशेषणम्। 'ग्रहण' का अर्थ विशेषण हैं इस प्रकार 'अल्ग्रहणे' यह षष्ठी तत्पुरुष समास में है।[३] अल्ग्रहण' विशेषण— रूप अल् के बोधक। 'विधि:' शब्द में कर्म[४] में व्युत्पत्ति (प्रत्यय-विधीयते) से कार्य अर्थ है। 'तदादौ' में बहुव्रीहि है।[५] 'अल्ग्रहणे' के अनन्तर 'गृह्यमाणे' ऐसा अध्याहार करना चाहिए तथा विशेषण से तदन्त विधि कही जा चुकी हैं, अत: यह परिभाषा 'येन विधिस्तदन्तस्य'[६] सूत्र की अपवाद है, इसलिए उत्सर्गापवाद-न्याय से समान विभक्तिक विशेषण-विशेष्य वाचक पदों के सन्निधान में यह प्रवृत्त होती है। फलत: परिभाषा का यह अर्थ होता है जिस अल् वर्ण के बोधक सप्तम्यन्त रूप विशेषण के आश्रय से विधि कार्य होती है वह जिसके आदि में हो, उसके परे वह कार्य होता है, यह जानना चाहिए।

---

१. अष्टा० ६/१/७९। २. यद् शब्द, सप्तमी वि०ए० का रूप।

३. अल: ग्रहणम्=अलग्रहणम्, षष्ठी तत्पुरुष समास।

४. विधीयते इति- विधि: वि पूर्वक 'धा' धातु, कर्म में 'कि' प्रत्यय होकर निष्पन्न विधि-कार्य।

५. तद् (अरूल्पम्) आदिर्यस्य तत् तदादि: तस्मिन् तदादौ अर्थात् "वह अल् रूप (वर्ण) आदि में हो जिसके, ऐसे तदादि समुदाय के परे" अर्थ है।

६. अष्टा० १/१/७२।

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल— प्रथम नियम यह है कि इस परिभाषा का स्वरूप[१] सती सप्तमी (श्रुयमाण सप्तमी) निमित्त है, सप्तम्यर्थ[२] निमित्त नहीं। केवल सप्तम्यन्त पद का श्रवण ही अपेक्षित है, सप्तमी का ही अर्थ हो, यह आवश्यक नहीं है। अत: यदि कहीं सप्तमी अपना अर्थ अभिधान न करके अन्य (विभक्ति) का अर्थ द्योतित करती हो, तब भी यह परिभाषा प्रवृत्त हो जाती है। इसीलिए 'नेड्वशि कृति'[३] सूत्र में वशादिकृत् को 'इट्' निषेध होता है, इस अर्थ का लाभ होता है, अन्यथा उसके षष्ठी का अर्थ होने से वह तदादि (वशादि) अर्थ नहीं लगता। दूसरा नियम यह है कि यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ विशेषण और विशेष्य दोनों सप्तम्यन्त हों, यह बात 'आर्धधातुकस्येड्वलादे:'[४] सूत्र में वलादे: ग्रहण के सामर्थ्य से स्पष्ट है। उक्त सूत्र में दोनों विशेषण और विशेष्य षष्ठी निर्दिष्ट है। अत: तदादि विधि की प्राप्ति न होने से वलि न कहकर वलादि कहा है। इसका लाभ यह है कि 'ड: सि धुट्'[५] सूत्र में सादि पद का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि 'सि' किसी सप्तम्यन्त पद का विशेषण नहीं है।[६]

(क) उक्त अर्थ मानने में शंका— 'तीषसहलुभरुषरिष:'[७] तथा 'सेऽसिचि कृतचृतच्छृददृतनृत:'[८] इत्यादि में 'तादे:' ऐसे अर्थ का लाभ कैसे होता है? क्योंकि विशेष्य 'आर्धधातुकस्य' में सप्तम्यन्त का अभाव है।

समाधान— यहाँ 'ति' यद्यपि सप्तम्यन्त है पर वस्तुत: यहाँ सौत्र होने से प्रथमार्थ में सप्तमी हुई है, उसका 'वलादि' पदार्थ के एकदेश 'वल्' के साथ अभेदान्वय है। 'तकाररूपो यो वल् तदादे:' ऐसा वाच्य अर्थ का लाभ होने से परिभाषा के बिना भी 'तदादि' अर्थ का लाभ हो जाता है।[९] ऐसे ही 'सेऽसिचि०'[१०] में समझना चाहिए। विस्तार से शब्देन्दुशेखर[११] द्रष्टव्य है।

---

१. यहाँ सप्तमी स्वरूप से केवल अपने सप्तमी (विभक्तियुक्त शब्द) का बोध कराती है।

२. जहाँ 'उससे परे' यह अर्थ अथवा अधिकरण अर्थ ही विवक्षित होकर निमित्त बनता हो।

३. अष्टा० ७/२/८। ४. वही, ७/२/३५।

५. वही, ८/२/२९।

६. अष्टा० ८/१/१६ 'पदस्य' इस षष्ठ्यन्त का 'सि' यह विशेषण है, विशेष्य षष्ठ्यन्त है, द्र० उ० ८/३/२९।

७. अष्टा० ७/२/४८। ८. वही, ७/२/५७।

९. गूढार्थ०, पृ० १९५, पं० ११,१५।

१०. अष्टा० ७/२/५२।

११. श०शे० भ्वादिगण 'सेऽसिचि०' तथा 'तीषसहलुभ०' आदि सूत्र की व्याख्या।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'वान्तो यि प्रत्यये'[१] सूत्र में 'यादौ प्रत्यये' यह अर्थ सिद्ध होता है। इस सूत्र में विशेषण रूप 'अल्' सप्तमी निर्दिष्ट है। इसका विशेष्य 'प्रत्यये' भी सप्तमी निर्दिष्ट है। अब यहाँ 'अल्' (-य्), प्रत्यय को आदि रूप से विशिष्ट करता है, अन्तरूप से नहीं। फलत: 'यकारादि प्रत्यय' ऐसा अर्थ होता है। इसी प्रकार 'अचि श्नु-धातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'[२] सूत्र में अजादि प्रत्यय के परे इयङ्, उवङ् होते हैं, जिससे 'श्रिय: भ्रुव:' आदि रूप सिद्ध होते हैं। इसके अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा तदादि विषय का उपपादन करती है। किस स्थल पर और कहाँ तदादि अर्थ मानकर कार्य किया जाता है? यह सर्वप्रथम 'येन विधिस्तदन्तस्य'[३] सूत्र में कात्यायन ने तदन्त विधि के अपवाद रूप में वार्तिक पढ़ा है। इसी को परिभाषा रूप में मान लिया गया है। यह परिभाषा चान्द्र, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने पढ़ी है। सभी लोगों के अनुसार यह 'तदन्त विधि' की अपवाद है तथा वार्तिक को परिभाषा रूप से पढ़ने से वाचनिक है। नागेश भी यही मानते हैं। पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव ने वामन के मत का उल्लेख किया है। वामन इसको ज्ञापक-सिद्ध मानते हैं। उनके अनुसार 'गुणोऽपृक्ते'[४] सूत्र का 'अपृक्त' ग्रहण इसका ज्ञापक है।[५] पुरुषोत्तमदेव एवं सीरदेव ने ज्ञापक का उपपादन भी किया है। हरिभास्कर भी ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार 'न भूसुधियो:'[६] में 'इयङ्' आदेश-करण ज्ञापक है।[७] इस परिभाषा का अर्थ सभी प्राचीन[८] ग्रन्थों में समान ही है। इसका अर्थ है= सप्तमी से निर्दिष्ट (सप्तम्यन्त से युक्त) वर्ण को विशेषण मानकर विधि होती हो तो वहाँ 'तदादि' (आदि) का योग करके कार्य होता है। यहाँ यह नहीं स्पष्ट होता है कि सप्तमी के अर्थ से विशिष्ट शव्द का ग्रहण होता है अथवा अर्थ विशेष रहित केवल सप्तम्यन्त शब्द का ग्रहण है। नागेश ने इसका स्पष्टीकरण किया है कि यह परिभाषा केवल स्वरूपत: सप्तम्यन्त पद के श्रवण की अपेक्षा करती है, अर्थ विशेष का आश्रयण नहीं करती। अर्थान्तर अभिधायिनी सप्तमी होने पर भी प्रवृत्त हो जाती है। साथ ही इसके प्रवृत्ति स्थल विशेष का भी कथन किया है। जहाँ विशेषण, विशेष्य दोनों सप्तम्यन्त हो, वहीं प्रवृत्त होती है। इस पक्ष में प्रसक्त शंका का समाधान भी अपने ग्रन्थ 'शब्देन्दु शेखर' में किया है।[९] पुरुषोत्तमदेव आदि ने परिभाषा का प्रयोजन कुछ

---

१. अष्टा० ६/१/७९। २. वही, ६/४/७७।
३. अष्टा० १/१/७२। ४. अष्टा० ७/३/८६।
५. का० ७/३/८६। ६. अष्टा० ८/४/२५।
७. हरिभास्कर वृत्ति परि०सं० १२।
८. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर कृत, परिभाषा पाठ।
९. श०शे० भ्वादिगण 'सेऽसिचि०' आदि सूत्रों की व्याख्या।

विस्तार से प्रदर्शित किया है। नागेश ने स्यात् अति स्पष्ट होने के कारण नहीं प्रतिपादित किया है।

(१८) येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति।।प०५८।।

परिभाषा का उपक्रम— नित्य शास्त्र से अन्तरंग शास्त्र बलवान् होता है, इस अंश का सप्रपञ्च वर्णन करने के उपरान्त, अन्तरंग से भी अपवाद की बलवत्ता लोकन्यायसिद्ध है— यह प्रतिपादित की जा चुकी है।[१] परन्तु अपवाद पद का क्या अर्थ है तथा अपवाद शास्त्र किन परिस्थितियों में किसका बाध करता है? आदि का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।[२]

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जिसकी अवश्य प्राप्ति होने पर ही जो शास्त्र आरम्भ किया जाता है या प्रणीत होता है, वह (आरम्भ किया जाने वाला) उस अवश्य-प्राप्त शास्त्र का बाधक होता है।[३] (अर्थात् जिस कार्य की अवश्य प्राप्ति में अपवाद का आरम्भ किया जाता है, वह अपवाद उसी कार्य का बाधक होता है और जिसकी प्राप्ति, अप्राप्ति में सर्वथा अपवाद का प्रारम्भ है, उसका बाधक नहीं होता)।

परिभाषा का शब्दार्थ— 'येन' यहाँ कर्त्ता में तृतीया है। 'प्राप्त' शब्द में भाव में 'क्त' प्रत्यय है। प्राप्त-प्राप्ति-जो अवश्य प्राप्त होता हो। 'नाप्राप्ते' यहाँ न अप्राप्ते यह नञ्-द्वय का प्रयोग दृढ़ता के लिए किया गया है, इसीलिए इसका अवश्य-प्राप्ति अर्थ किया जाता है।[४] **नागेश के अनुसार प्रदर्शित अर्थ**— नागेश के अनुसार फलितार्थ यह है कि विशेष शास्त्र का विशेष धर्मावच्छिन्न (विशिष्ट) जो उद्देश्य, उसमें रहने वाला जो सामान्य धर्म, उससे विशिष्ट जो उद्देश्य, ऐसे उद्देश्य[५] वाले शास्त्र का विशेष शास्त्र से बाध हो जाता है तथा (इस प्रकार) सामान्यत्व और विशेषत्व परस्पर अपेक्षा रखने वाले हैं। अत: अन्य की अपेक्षा रखने वालों का बाध्यबाधक-भाव नहीं होता। आशय यह है कि व्यापक धर्मयुक्त उद्देश्य वाले शास्त्र का व्याप्य धर्म युक्त उद्देश्य वाला शास्त्र बाधक होता है।[६]

परिभाषा का हेतु— व्याप्यता बाधकता का कारण है, क्योंकि सामान्य (उत्सर्ग)

---

१. प०शे० परि०सं० ५७, अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्।

२. चित्प्रभा टी० इसी परिभाषा की व्याख्या का उपक्रम।

३. बाधक शब्द का अभिप्रेत अर्थ- गूढार्थ०, पृ० ३४५- पं० ७-८।

४. प०शे० पृ० ३४५, गदा, पृ० १३७।

५. 'उद्देश्यता' यहां साक्षात् परम्परा से साधारण तथा उस सामान्य धर्म के विशेषण के वैशिष्ट्य से संकुचित रूप में गृहीत की जाती है।

६. प०शे० पृ० ३४६ तथा गूढार्थ०, पृ० ३४६, पं० ३-७।

शास्त्र की अप्राप्ति के योग्य विषय में, विशेष (अपवाद) शास्त्र की अचरितार्थता उसकी बाधकता का कारण हैं अर्थात् बाधकत्व का तात्पर्य यह है कि जहाँ उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती हो, ऐसे लक्ष्य में चरितार्थ न होना रूप है।[१] इस प्रकार नागेश उत्सर्ग से अव्याप्त विषय में अप्रवृत्ति ही अपवाद की बाधकता का हेतु मानते हैं।[२]

(क) बाधकता के रूप— नागेश तीन प्रकार के बाधकत्व को स्वीकार करते हैं— **(अ)** जहाँ उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति के पश्चात् विशेष शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकती है, वहाँ विशेष शास्त्र उत्सर्ग शास्त्र का बाध करता है।[३] **(आ)** दूसरी प्रकार की बाधकता यह है, अपवाद, उत्सर्ग का तब भी बाधक होता है जब दोनों की प्रवृत्ति संभव है, इसलिए विषय भेद में भी (जब उत्सर्ग एवं अपवाद के एक शब्द के भिन्न अवयव विषय हैं) अपवाद उत्सर्ग का बाधक होता है।[४] **(इ)** कहीं-कहीं सर्वथा अनवकाशत्त्व ही बाधकता में बीज है अर्थात् एक व्याप्य शास्त्र जब तक दूसरे व्यापक का बाध करता नहीं, तब तक उसकी प्रवृत्ति के लिए कोई अवकाश ही नहीं, दूसरे शास्त्र की प्रवृत्ति होने पर भी जिसके लिए अवकाश नहीं, ऐसा शास्त्र बाधक होता है।[५]

(ख) उपर्युक्त रूपों के उदाहरण— **(अ)** उत्सर्ग से अव्याप्त विषय में अचारितार्थ्यरूप बाधकत्त्व का उदाहरण— 'हो ढः'[६] यह सामान्य शास्त्र है और 'दादेर्धातोर्घः'[७] यह विशेष शास्त्र है, क्योंकि यह दकारादि धातु के 'ह्' का झल् परे रहते 'घ्' आदेश विधान करता है। यह हो ढः' से व्याप्त विषय में ही प्रवृत्त हो सकता है, इससे अव्याप्त में कहीं नहीं प्रवृत्त हो सकता। अतः इस 'हो ढः' का अवश्य बाध करना है, नहीं तो इसके लिए कोई अवकाश नहीं होगा और यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा। **(आ)** 'सत्यपि संभवे' बाधकता का उदाहरण— जैसे 'एकाचो द्वे[८] प्रथमस्य' यह सामान्य शास्त्र धातु के प्रथम एकाच् वाले अवयव का द्वित्त्व विधान करता है। 'अजादेर्द्वितीयस्य'[९] यह विशेष शास्त्र अजादि धातु के द्वितीय एकाच् का द्वित्त्व विधान करता है। यद्यपि विशेष शास्त्र की प्रवृत्ति के पश्चात् भी सामान्य शास्त्र की प्रवृत्ति संभव है, तो भी इस परिभाषा (प्रकृत न्याय) से जानते हैं कि 'अजादेर्द्वितीयस्य'[१०] सूत्र को एकाचोद्वेप्रथमस्य' का बाधक अवश्य होना चाहिए, क्योंकि 'एकाचो०' के व्याप्य विषय में ही 'अजादें०' की प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार 'अलोऽन्त्यस्य'[११] का 'आदेः

---

१. गूढार्थ०, पृ० ३४६-३४८ तक की प्रारम्भ की चार पंक्तियां।
२. प०शे०, पृ० ३४६।
३. वही, पृ० ३४८।
४. प०शे०,पृ०३४९ तथा ३५२।
५. प०शे० पृ० ३५८।
६. अष्टा० ८/२/३९।
७. वही, ८/२/३२।
८. वही, ६/१/१।
९. वही, ६/१/२।
१०. वही, ६/१/२।
११. अष्टा० १/१/५२।

परस्य'[१] यह अपवाद है। 'उदः स्थास्तम्भोः[२] पूर्वस्य' सूत्र में 'आदेः परस्य' की प्रवृत्ति होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृत्ति संभव है, तो भी 'आदेः परस्य' यह 'अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद ही होता है।[३] **(इ)** विषय भेद में बाधकता का प्रमाण— जैसे 'तिसृणाम्' (-तिसृ आम्) में यहाँ 'ह्रस्वनद्यापो नुट्'[४] सूत्र से ह्रस्व से परे आम् को नुट् विधान किया है तथा 'अचि र ऋतः'[५] सूत्र, पूर्वसूत्र 'त्रिचतुरोः स्त्रियाँ तिसृचतसृ'[६] का अपवाद होकर 'र' आदेश का विधान करता है। यहाँ भाष्यकार ने बाध्य-सामान्य-चिन्ता का आश्रयण करके 'र' आदेश में नुट् के अपवादत्त्व की शंका की है। यद्यपि यहाँ स्पष्ट ही र आदेश तथा नुट् का साक्षात् उद्देश्यतावच्छेदक का भेद है। नुट् विभक्ति को होता है तथा र आदेश शब्द के स्थान में होता है। इस प्रकार विषयभेद[७] होने पर, यौगपद्य असंभव-रूप-विरोध का अभाव होने के कारण र आदेश के नुट् के अपवादत्व की शंका हो ही नहीं सकती तथापि भाष्यकार ने शंका की है, नुट् का रादेश अपवाद होना चाहिए?[८] इसका समाधान 'तृज्वत्क्रोष्टुः'[९] के भाष्य में 'न तिसृचतसृ'[१०] इसके ज्ञापक से किया है कि र आदेश नुट् का अपवाद नहीं होता है अर्थात् इन दोनों में बाध्यबाधक भाव नहीं होता है।[११] स्पष्ट ही यहाँ विषयभेद में भी बाध्यबाधकभाव का कथन है। यदि यह न माने तो उनके अपवादत्व की शंका तथा ज्ञापक से इसका वारण करना भाष्यकार का कथन असंगत हो जायगा। **(ई)** सर्वथा अनवकाशत्व का उदाहरण— कहीं-कहीं सर्वथा अनवकाशत्व ही बाधकत्व में कारण बनता है। जैसे 'रमायाम्'— 'रमा+ङि' इत्यादि में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः'[१२] से आबन्त से परे 'ङि' का आम् आदेश प्राप्त होता है तथा ङि को 'याडापः'[१३] सूत्र से याट् आगम भी विधान किया है। यदि याट् आगम पहले हो जाय तो निर्दिश्यमान ङि, याट् आगम होने से आबन्त अंग से व्यवहित हो जाता है। अतः ङि का आम् नहीं हो सकता।[१४] अतः अनवकाश आम् आदेश याट् का बाध करता है। यहाँ बाध का स्वरूप इतना ही है कि पहले आम् आदेश

---

१. अष्टा०, १/१/५४। २. वही, ८/४/६१।

३. म०भा० १/१/४७। ४. अष्टा० ७/१/५४।

५. वही, ७/२/१००। ६. वही, ७/२/९९।

७. आम् विभक्ति को नुट् का आगम तथा अजादि विभक्ति परे रहते शब्द के ऋ को र आदेश, स्पष्टतः दोनों में विषय भेद है।

८. म०भा० ७/१/९५ 'इतरथा हि सर्वथापवादः०' का भाष्य।

९. म०भा० ७/१/९५ 'नुमचिर०' आदि वार्तिक की व्याख्या।

१०. अष्टा० ६/४/४। ११. गूढार्थ०, पृ० ३५२-३५३।

१२. अष्टा० ७/३/११६। १३. वही, ७/३/११३।

१४. नियम 'तस्मादित्युत्तरस्य'- अष्टा० १/१/६७।

हो जाता है। यहाँ बाध के प्रवृत्त होने पर यदि उत्सर्ग की प्राप्ति हो तो वह भी हो जाया करती है। अत: यहाँ आम् में ङि[१] बुद्धि करके याट् आदि हो जाते हैं। यदि उत्सर्ग प्राप्ति सम्भव नहीं होती है तो वह नहीं प्रवृत्त होती है। जैसे 'पचेयु:'[२] में 'पच्+यास्+झि' यहाँ दीर्घ[३] और 'इय्'[४] दोनों में इय् होने पर दीर्घ नहीं होता है, क्योंकि वह सम्भव नहीं है।

परिभाषा के उक्त अर्थ में प्रमाण— (क) यदि इस परिभाषा का उक्त[५] अर्थ न माना जाय तो भाष्य[६] में कथित यह 'येन नाप्राप्ते०' न्याय व्यर्थ हो जाता है, साथ ही इसके समर्थन में उद्धृत 'तक्रकौण्डिन्यन्याय' भी व्यर्थ हो जाता है।[७] ब्राह्मणों को दही दिया जाय और कौण्डिन्य (गोत्रज) को मट्ठा दिया जाय, यह तक्रकौण्डिन्य न्याय का स्वरूप है। यहाँ ब्राह्मणमात्र को सामान्य दधि-दान विधि है। कुण्डिन गोत्रज ब्राह्मण को विशेष तक्रदान विधि है। विशेष विधि सामान्य विधि की बाधक होती है। जिससे ब्राह्मण होने पर भी कौण्डिन्य को दही नहीं दिया जाता। यद्यपि दधि दान पहले हो जाता है तो उसके पश्चात् तक्रदान संभव है, तो भी तक्रदान दधि दान का सर्वथा बाध करता ही है और कौण्डिन्य को दही नहीं दिया जाता।[८] **(ख) उक्त अर्थ में भाष्य प्रमाण—** अचारितार्थ्य होने से ही अपवाद बाधक माना गया है। इसीलिए 'आयादय आर्धधातुके वा'[९] वा' सूत्र के भाष्य[१०] में 'गोपायिष्यति'[११] आदि में पहले यह शंका की गई है कि 'स्यतासी लृलुटो:'[१२] यह पर है, अत: 'स्य' आदि 'आयादय आर्धधातुके वा' सूत्र से विहित आयादि प्रत्ययों का बाध करेंगे? ऐसी शंका करके आयादि अनवकाश हैं, 'स्य' आदि से अव्याप्त इनका कोई विषय नहीं है। अत: अपनी चरितार्थता के लिए 'स्य' आदि का अवश्य बाध करेंगे, ऐसा कहा है।[१३] इसी प्रकार 'गोपायति' आदि

---

१. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ- अष्टा० १/१/५६ से स्थानिवत् मानकर।

२. पच्, विधिलिङ्ग में प्र०पु० बहु०।

३. 'अतो दीर्घो यञि अष्टा० ७/३/१०१।

४. 'अतो येय:' अष्टा० ७/२/८०।

५. विशेष की प्रवृत्ति के पश्चात् भी सामान्य की प्रवृत्ति संभव होने पर उत्सर्ग शास्त्र को विशेष शास्त्र बाध करता ही है।

६. 'क्ङिति च' म०भा० १/१/५। का भाष्य।

७. म० भा० १/१/४७ तथा ७/२/११७।

८. प०शे०, पृ० ३४९।

९. अष्टा० ३/१/३१।

१०. म०भा० ३/१/३१।

११. आय् प्रत्ययान्त 'गोपाय' धातु, लृट्।

१२. अष्टा० ३/१/३३।

१३. म०भा० ३/१/३१।

में भी स्यादि में से एक 'शप्' प्राप्त होता है।[१] शप् के होने या न होने से कोई भेद नहीं होता, यह पृथक् विषय है। परन्तु 'पर्जन्यवत् न्याय' से शप् होता ही है। स्यादियों से अव्याप्त आयादि का विषय नहीं, यदि स्यादि का बाध नहीं करें तो आयादि अनवकाश रहेंगे। आयादियो की, यह अपवादता 'आयादयों वा सार्वधातुके नित्यम्'[२] ऐसे सूत्र न्यास-भेद के आश्रित हैं। अत: यहाँ आयादि शप् के पश्चात् चरितार्थ होने पर भी स्यादियो से अव्याप्त हैं। अत: अनवकाश होने से आयादि स्यादि को बाधता है। फलत: इससे उक्त विषय का समर्थन मिलता है।[३]

विषय भेद में अपवादत्व नहीं : अन्यों का मत— कोई यह मानते हैं कि 'न तिसृचतसृ'[४] सूत्र के ज्ञापक से विषयभेद में अपवाद उत्सर्ग को नहीं बाधता, इसका बोध होता है। फलत: विषय भेद में अपवाद नहीं मानना चाहिए।[५]

विषय भेद में भी अपवादत्व : नागेश का मत— नागेश उपर्युक्त मत का खण्डन करते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा माना जायगा तो 'विन्मतोर्लुक्'[६] यह शास्त्र 'टे:'[७] सूत्र से होने वाले जिस-जिस अंश का लोप विधान करता है, उस-उस सम्पूर्ण अंश का बाध नहीं कर सकेगा। 'स्रजिष्ठ:'[८] में 'टे:' सूत्र से प्रत्यय के अवयव टि का लोप प्राप्त होता है। इसका 'विन्मतोर्लुक्' अपवाद होने से बाध करता है, 'विन्' का लुक् होता है, टि (इन्) का लोप नहीं। इसी प्रकार लुक् होने के पश्चात् 'स्रज्+इष्ठन्+सु' यहाँ पुन: प्रकृति के अवयव टि का लोप प्राप्त होता है। उसका भी पुन: यही अपवाद बाध करता है।[९]

बाधकत्त्व में कैयट का मत— 'दयतेर्दिगि लिटि'[१०] सूत्र के भाष्य-प्रदीप में कैयट का कहना है कि द्वित्त्व होने के पश्चात् देङ् का 'दिगि' आदेश चरितार्थ है, फलत: 'दिगि' आदेश द्वित्त्व का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि अनवकाश नहीं है तथा अवकाश में बाध नहीं होता? इस प्रकार भाष्य विरोध प्राप्त होता है।[११] **नागेश**

---

१. अष्टा० ३/१/६८। २. म० भा० ३/१/३१।

३. गूढार्थ०, पृ० ३५१। 'भाष्ये उक्तम्' पर व्याख्यान।

४. अष्टा० ६/४/४।

५. प०शे०पृ० ३५३ तथा गूढार्थ०, वही।

६. अष्टा० ५/३/६५। ७. अष्टा० ६/४/१५५।

८. अतिशयेन स्रग्वी- 'स्रजिष्ठ:', 'स्रग्वी' शब्द, इष्ठन्, प्रत्यय, विन् का लुक्, टिलोप का प्रकृतिभाव होकर निष्पन्न रूप।

९. 'विन्मतोर्लुक्' अष्टा० ५/३/६५ ही अपवाद होता है।

१०. म०भा० ७/४/९। ११. प्र० ७/४/९। 'यदि तर्हि०' पर टि०।

मत— नागेश कैयट मत का खण्डन करते हैं कि यह मिथ्या कल्पना है। वस्तुत: 'दिगि' आदेश अनवकाश है। जहाँ 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'[१] इस द्वित्त्व विधायक शास्त्र का विषय है, वहीं उसकी प्रवृत्ति होती है, अन्यत्र नहीं। अत: यह द्वित्त्व का बाधक है। अत: कैयट का कथन प्रौढ़िवाद है।[२] वस्तुत: यह[३] उसको भी सम्मत नहीं है। कैयट ने स्वयं ही आगे उसी प्रसंग में इस मत को स्वीकार किया है कि सम्भव होने पर भी उसके अव्याप्त विषय में चरितार्थता के अभाव मात्र से बाध हो जाता है, क्योंकि सामान्य एवं विशेष का आश्रयण करके शास्त्र की प्रवृत्ति होती है।[४] **बाधकत्त्व के विषय में वार्तिककार का मत**— वार्तिककार का यह मत है कि अपवाद उत्सर्ग का तभी बाधक होता है, जब दोनों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि विरोध ही बाधकता का कारण है।[५] **नागेश मत**— नागेश इस मत से सहमत नहीं है। ये भाष्यकार के मतानुसार संभव होने पर भी बाधकत्त्व देखा जाता है,[६] अत: उक्त मत दूषित होने से लक्ष्य का उपयोगी नहीं है, मानते हैं। भाष्यकार को वार्तिककार का मत अभिमत नहीं है। भाष्यकार 'सत्यपि संभवे बाधनम्' इस मत को मानते हैं। फलत: वही उपर्युक्त मत उत्सर्ग से अव्याप्त विषय में अप्रवृत्ति ही अपवाद की बाधकता का कारण है। अव्याप्त विषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अत: सामर्थ्य से अपनी सार्थकता के लिए उत्सर्ग का बाधक हो जाता है।[७]

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त— सामान्यविधि की जहाँ प्राप्ति न हो, वहाँ यह न्याय (तक्रकौण्डिन्य न्याय) प्रवृत्त नहीं होता, तथा यह वहीं प्रवृत्त होता है, जहाँ कुछ विधान किया जाता है। दधि दान की प्राप्ति होने पर ही तक्रदान विधान किया जाता है, वह दधिदान (जो तक्रदान से पूर्व और पश्चात् भी संभव है) तक्रदान से बाधित हो जाता है। इस प्रकार इसका भी विधेय विषय है। इसके अनुसार यह नहीं माना जा सकता कि विधेय सम्बन्धी एक विशेष कथन सामान्य कथन का बाध होता है, क्योंकि इसमें लौकिक दृष्टान्त नहीं है। सामान्य कथन की प्राप्ति होने पर ही विशेष कथन की प्राप्ति हो, इसमें नियम नहीं है। इस प्रकार उक्त विषय (अनवकाशत्त्व तथा विधेय विषयत्व) को 'तद्धितेष्वचामादे:'[८] और 'धातोरेकाचो[९] हलादे: क्रियासमभिहारे यङ्' के भाष्य में

---

१. अष्टा०६/१/८। २. प०शे०,पृ० ३५४।

३. चरितार्थ होने के बाद बाधकत्व का अभाव।

४. प्र० ७/४/९ 'अनवकाशो दिग्यादेश:' आदि तथा उ० भी।

५. गूढार्थ०, पृ० ३५५।

६. म०भा०१/१/४७ 'नैवेश्वर आज्ञापयति०' आदि।

७. गूढार्थ०, पृ० ३५६। ८. म०भा० ७/२/११७।

९. म०भा० ३/१/२२।

स्पष्ट किया गया है।[१] **(क) उक्त विषय के उदाहरण**— (अ) अव्याप्त विषय में चारितार्थ्य का अभाव रूप बाधकत्त्व स्वीकार करने पर ही 'अत उपधाया:'[२] का 'तद्धितेष्वचामादे:'[३] अपवाद नहीं है। यह दूसरी विधि (आदि बृद्धि) वहाँ भी होती है, जहाँ उपधा-बृद्धि का विषय नहीं। जैसे 'सुश्रुत' में आदि-बृद्धि होती है (सौश्रुत:'उपधाबृद्धि का विषय नहीं। (आ) विधेय विषय में ही उक्त न्याय प्रवृत्त होता है। इसलिए 'धातोरेकाचो हलादे:[४] क्रियासमभिहारे यङ्' से धातु-वाच्य क्रिया-समभिहार के द्योतन के लिए यङ् का विधान है। इसी प्रकार 'नित्यं कौटिल्ये गतौ'[५] सूत्र से भी कुटिल गति वाचक धातुओं से कौटिल्य के द्योतन के लिए यङ् का विधान है। यह सब सिद्धार्थानुवाद है। अत: अविधेय होने से 'कौण्डिन्यन्याय' का आश्रयण नहीं होता है। इसलिए यहाँ यह न्याय नहीं प्रवृत्त होता है।[६]

परिभाषा का प्रयोजन— विशेष उदाहरणों का पहले प्रतिपादन हो चुका है। यहाँ सामान्य प्रयोजनों का प्रतिपादन है, जिसकी प्राप्ति तथा अप्राप्ति में सर्वथा अपवाद का आरंभ है, उसका बाध न होने से 'पचेयु:'[७] आदि में जैसे 'पच्+अ+या+उस्' में यास् को 'इय्' आदेश[८] होने पर 'अतो दीर्घो यञि'[९] से दीर्घ की प्राप्ति नहीं रहती है। इस प्रकार यहाँ उत्सर्ग की प्राप्ति न होने से यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। इसी प्रकार नुचियु:, सुनुयु: आदि में यासुट् आश्रय ङित्व-निमित्तक गुण-निषेध का इस परिभाषा से 'जुसि च'[१०] बाध नहीं कर पाता है। अत: उक्त उदाहरणों में गुण निषेध हो ही जाता है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा एक स्वतंत्र नियम के बलवान् होने में श्रेष्ठता का प्रतिपादन करती है। सामान्य नियम का एक विशेष नियम (अपवाद) होता ही है। इसको "अन्तरंग से भी अपवाद बलवान् होता है"[११] के द्वारा कथन किया गया है। अब अपवाद किस कार्य का बाधक होता है तथा कब होता है? एवं किसका बाधक नहीं होता है? क्या अपवाद विधि अपवादत्त्व के ही कारण अन्य विधि का बाध करती है? आदि का निर्णय इस परिभाषा में किया गया है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि,

---

१. गूढार्थ०, पृ० ३५७। २. अष्टा० ७/२/११६।
३. अष्टा० ७/२/११७। ४. अष्टा० ३/१/२२।
५. अष्टा० ३/१/२३।
६. म०भा० ३/१/२३ तथा गदा,पृ० १४१-१४२।
७. पच् धातु, विधिलिङ्ग प्र०पु०बहु०। ८. अष्टा० ७/३/८०।
९. अष्टा० ७/३/१०१। १०. वही, ७/३/८३।
११. 'अन्तरंगादप्यपवादो बलीयान्' प०शे० परि०सं० ५७।

शाकटायन, चान्द्र, भोज, हेम तथा नीलकण्ठ ने पढ़ी है।[१] यहाँ नागेश ने अपवाद विधि क्या होती है तथा सामान्य विधि क्या होती है, इसकी परिभाषा नहीं की है। प्राचीन वैयाकरणों ने इस पर विचार किया है। कातन्त्र ने विशेष विधि को अपवाद तथा सामान्य विधि को उत्सर्ग माना है।[२] इस परिभाषा के हेतु के विषय में नागेश तथा प्राचीनों में मतभेद है। व्याडि ने इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'सनीवन्तर्ध०'[३] आदि सूत्र में 'स्वृ' शब्द का ज्ञापक प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ ने हेतु के विषय में कुछ नहीं कहा है। परन्तु नागेश ने लोकन्याय-सिद्ध मानते हुए सामान्य विधि की अचरितार्थता ही इसका हेतु प्रस्तुत किया है। इस परिभाषा का अर्थ सभी व्याख्याओं में समान रूप में है। नागेश ने परिभाषा की व्याख्या अति विस्तार से प्रतिपादित की है। व्याख्या बड़ी स्पष्ट तथा विशद है। इन्होंने अपवाद की बाधकता दो रूपों स्वीकार की है। (१) विशेष विधि, (२) निरवकाश विधि। इन दो रूपों की ही सिद्धि इस परिभाषा में की गई है। इसके समर्थन में तक्रकौण्डिन्य-न्याय को प्रस्तुत किया है तथा उससे इस परिभाषा की कुछ विशिष्टता प्रख्यापित करते हुए अति विस्तार से सोदाहरण प्रयोजन प्रतिपादित किया है।

परिभाषा के प्रवृत्ति निमित्त का भी स्पष्टीकरण करते हुए नागेश ने विषय-भेद में भी अपवादत्व होता है, वह भी विधेय विषय में ही— यह प्रतिपादित किया है। परिभाषा की व्याख्या में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि बाधक किस स्थिति में होता है। प्राचीन परिभाषाकारों ने इसकी स्पष्टता के लिए भिन्न-भिन्न परिभाषा रूपों में पाठ किया है। व्याडि, शाकटायन, चान्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'असतिसंभवे बाधनं भवति' पृथक् परिभाषा पढ़ी है तथा इसी से सम्बन्धित व्याडि, शाकटायन को छोड़कर 'अस्ति च संभवो यदुभयं स्यात्' परिभाषा पढ़ी है। इसी प्रकार 'सत्यपि संभवे बाधनं भवति' तथा 'सत्यपि संभवे तदुभंय स्यात्' भी पृथक् परिभाषा रूप में पाठ करते हैं।[४] परन्तु नागेश ने पृथक्-पृथक् इसको न मानकर परिभाषा की व्याख्या में ही वर्णित कर दिया है। इस प्रकार नागेश ने उपर्युक्त भिन्न-भिन्न स्थलों में सर्वथा अनवकाश में भी बाधकत्त्व का उपपादन किया है। नागेश की व्याख्या से अपवाद का विषय स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

(१९) क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते।।प०५९।।

परिभाषा का उपक्रम— अपवाद की प्रवृत्ति के पश्चात् कहीं-कहीं उत्सर्ग की

---

१. परि० संग्रह,तत्तत्ग्रन्थ।

२. 'सामान्यविधिरुत्सर्गः, विशेषविधिः अपवादः' कातन्त्र पाठ (भावमिश्रकृत) पाठान्तर से परि०सं० ५३।

३. अष्टा० ७/२/९४।

४. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

भी प्रवृत्ति होती है। इसके लिए उत्तरवर्ती वैयाकरण निम्न परिभाषा स्वीकार करते हैं।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— कहीं अपवाद के विषय में भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है अर्थात् अपवाद की प्रवृत्ति के पश्चात् भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति देखी जाती है।

परिभाषा का आशय— इस परिभाषा में 'अपवाद' शब्द बाधकपरक मात्र है[१] अर्थात् सर्वथा निरवकाश होने के कारण बाधक में 'बाधक' शब्द का तात्पर्य इतना ही है कि पहले वह कार्य हो जाता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कहीं-कहीं बाध प्रसंग होने पर भी बाधक नहीं होता है, सामान्य कार्य हो जाता है।[२]

प्रसङ्गतः अपवाद के प्रकार— **(क)** अपवाद दो प्रकार का होता है— एक वह जो विध्यन्तर को बिना बाध किये अनवकाश रहता है।[३] यहाँ यह कह सकते हैं कि अपवाद अनवकाश होने से बाध करता है। **(ख)** दूसरा वह जो उत्सर्ग की प्रवृत्ति के साथ अथवा उसके पश्चात् भी चरितार्थ होकर उत्सर्ग का बाध करता है, यहाँ हम ऐसा कह सकते हैं कि अपवाद शास्त्र अपवाद होने से बाध करता है।[४] अपवादविधि, उत्सर्गविधि का अत्यन्त बाध करती ही है। अनवकाश अपवाद, उत्सर्ग का इतना ही बाध करता है कि उत्सर्ग की प्रवृत्ति से पहले प्रवृत्त हो जाता है और इसकी प्रवृत्ति के पश्चात् यदि उत्सर्ग की प्रवृत्ति संभव हो तो वह भी प्रवृत्त हो जाता है।[५] **उक्त अर्थ में प्रमाण**— अपवाद और अनवकाश अपवाद के इस भेद में 'गुणो यङ्लुकोः'[६] सूत्र का भाष्य ग्रन्थ निश्चायक है।[७] वहाँ अपवाद उत्सर्गों के बाधक नहीं होते, जब दोनों अभ्यास के विकारों (ह्रस्व, दीर्घ, गुण आदि) का विधान करते हैं,[८] यह परिभाषा पढ़ी है। इस परिभाषा से अनवकाश होने से प्राप्तविधि को बाध करके प्राप्त[९]विधि इसी परिभाषा से नहीं होती है, ऐसा तात्पर्य निकलता है। इस प्रकार उक्त परिभाषा से अपवाद उत्सर्ग के बाधक नहीं होते— कहा है। उसका यही तात्पर्य है कि कहीं अपवाद में भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति हो जाती है।[१०]

---

१. गूढार्थ०, पृ० ३५९ तथा द्र० म०भा० ७/४/८२।

२. यही परिभाषा।

३. प०शे०, पृ० ३५८।

४. वही, पृ० ३४६-३४८।

५. प०शे० पृ० ३५८ तथा उसी पर गूढार्थ० भी।

६. अष्टा० ७/४/८२।

७. म०भा० ७/४/८२। तथा उ० भी।

८. 'अभ्यासविकारेषु अपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते' परिभाषा।

९. ईत्त्व विधि- द्र० अष्टा० ७/४/९७।

१०. गूढार्थ०, पृ० ३५९, तथा तत्त्वां० पृ० १४१।

(क) उदाहरण— 'अभ्यास विकारेषु०' इस परिभाषा की प्रवृत्ति का उदाहरण 'अजीगणत्' दिया है। यहाँ उक्त[१] परिभाषा से 'गण्' को 'ईत्व'[२] अपवाद होने पर भी 'हलादि:[३] शेष:' को नहीं बाधता है। अन्यथा 'हलादिशेष' को अपवाद होने से बाध करके 'ण्' का ईत्व हो जाता तो उक्त रूप नहीं सिद्ध होता।[४] परिभाषा से अभ्यास-विकार में बाधकत्व का निषेध होने से 'हलादि: शेष:' सूत्र से शेषलोप के पश्चात् अभ्यास के अकार को 'ईत्व' करने पर सिद्ध हो जाता है।

उक्त परिभाषा का खण्डन तथा अपवादत्व एवं अनवकाशत्व की एकता का खण्डन—

नागेश उक्त[५] परिभाषा का खण्डन करना चाहते हैं। अपने मत के समर्थन में भाष्यकार का मत प्रस्तुत करते हैं- 'गण् रूप अभ्यास के अन्त्य ण् को ई आदेश विधान करने से 'ई च गण:'[६] अपवाद है, अत: 'हलादिःशेष:' को, जो अन्त्य हल् के लोप का विधान करता है, उसका बाध करता है? ऐसा नहीं है। किन्तु इसलिए कि 'ई च गण:' अनवकाश है, इसकी प्रवृत्ति के लिए कोई अवकाश ही नहीं होगा,[७] यदि यह 'हलादि:शेष:' का बाध न करे'। भाष्य[८] में 'ई च गण:' का अर्थ है— अभ्यास-रूप गण् के अन्त्य ण् का ई आदेश होता है', परन्तु यदि 'हलादिशेष:'[९] के द्वारा ण् की निवृत्ति हो जाय तो वह अनवकाश हो जायेगा। पर यदि ण् के स्थान में ई आदेश पहले करते हैं तो 'हलादि:शेष:' की प्रवृत्ति का कोई अवसर नहीं रहता, क्योंकि उस अवस्था में अन्त्य हल् नहीं रहता है। अत: परिभाषा 'येन नाप्राप्ते०'[१०] के अनुसार अर्थात् उत्सर्ग की प्रवृत्ति के साथ अथवा तदुत्तर अपवाद की प्रवृत्ति न हो सकने से 'ई च गण:' 'हलादि:शेष:' का अपवाद नहीं हो सकता। इस प्रकार अपवाद एवं अनवकाश ये एक पदार्थ नहीं। इसीलिए 'अभ्यासविकारेषु०'[११] परिभाषा से भाष्य में 'अजीगणत्' की सिद्धि की गई है। यदि अनवकाश से बाधक होने पर अपवाद होता तो उक्त 'क्वचिदपवाद०'[१२] परिभाषा से ही सिद्ध हो जाता, परिभाषान्तर की क्या आवश्यकता

---

१. 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते' परिभाषा।

२. अष्टा० ७/४/९७ 'ई च गण:'। ३. अष्टा० ७/४/६०।

४. 'अजीगणत्' न बनकर 'अजेगणत्' अथवा अ ज+ई+गणत्' बनता।

५. 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते'।

६. अष्टा० ७/४/९७।

७. सर्वत्र हलादि शेष होने से 'गण्' रूप अभ्यास का ही अभाव हो जायगा।

८. अष्टा० ७/४/६०। ९. मभा० ७/४/८२।

१०. प०शे० परि०सं० ५८। ११. म०भा० ७/४/८२।

१२. प०शे०, परि०सं० ५९।

थी, वह असंगत भी होगा। फलत: परिभाषान्तर होने से, ऐसी व्यवस्था मानने से पहले, 'हलादि:शेष:'[१] से गण् के ण् का लोप हो जाता है, पश्चात् 'ई च गण:'[२] सूत्र से शिष्ट 'ग' के 'अ' को 'ई' आदेश होता है, ऐसा करने से ही 'ई' च गण:' सूत्र सार्थक रहता है।

'ई च गण:' के अपवादत्व का हेतु— कैयट के अनुसार 'येन नाप्राप्ते०'[३] न्याय से 'ई च गण:' 'हलादिशेष:'[४] का अपवाद माना जा सकता है, क्योंकि 'हलादि:शेष:' की प्राप्ति होने पर ही इसका आरंभ हुआ है।[५] **(क)** खण्डन— नागेश इसे ठीक नहीं मानते, क्योंकि 'येन नाप्राप्ते०' परिभाषा के अनुसार, उत्सर्ग की प्रवृत्ति के पश्चात् भी अपवाद की प्रवृत्ति हो सके और वह प्रवृत्त होकर उत्सर्ग का बाध करे तो वह अपवाद होता है।[६] 'ई च गण:' ऐसा नहीं है, अत: अपवाद नहीं माना जा सकता। **(अ) उक्त अपवादत्व लक्षण में प्रमाण**— अपवाद का उक्त लक्षण भाष्यकार को भी अभिमत है, इसका संकेत 'ईको झल्'[७] सूत्र के भाष्य में मिलता है। वहाँ यह शंका भी है कि 'इको झल्' सूत्र अनावश्यक है, 'चिचीषति'[८] की सिद्धि में 'अज्झनगमां[९] सनि' सूत्र से धातु को दीर्घ प्राप्त होता है और सार्वधातुकार्धधातुकयो:'[१०] सूत्र से गुण। इसमें दीर्घ पहले होता है, क्योंकि गुण करने के पश्चात् यदि दीर्घ हो तो उसका कोई फल नहीं होगा (गुण 'ए' दीर्घ ही होगा) और इसलिए भी पहले होता है कि दीर्घ के लिए कोई अवकाश नहीं होगा, यदि यह गुण का बाध न करे। अत: अनवकाश होने से दीर्घ गुण का बाध करता है। फलत: दीर्घ होकर 'चिचीषति' रूप सिद्ध हो जायगा। परन्तु दीर्घ होने के पश्चात् गुण हो सकता है, उसको रोकने के लिए 'इको झल्'[११] सूत्र जो झलादि सन् को कित्त्व विधान करता है, आवश्यक है। **शंका**— दीर्घ के पश्चात् यदि गुण हो जाय तो अजन्त का दीर्घविधान व्यर्थ[१२] हो जायेगा? **समाधान**— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। दीर्घाभाव में ह्रस्वान्त 'मि' धातु का सन् परे 'सनि मीमाघु०'[१३] सूत्र में 'मी' ग्रहण से ग्रहण न होने से 'मित्सति'[१४] रूप की असिद्धि रहेगी, अत:

---

१. अष्टा० ७/४/६०। २. अष्टा० ७/४/९७।
३. प०शे० परि०सं० ५८। ४. अष्टा० ७/४/६०।
५. प्र० ७/४/८२। ६. प०शे० पृ० ३४६-३४८।
७. अष्टा० १/२/९।
८. चि धातु, सन्, द्वित्व, दीर्घ, ह्रस्वादि होकर 'चिचीष' लट् लकार, प्र०पु०ए०।
९. अष्टा० ६/४/१६। १०. वही,७/३/८४।
११. अष्टा० १/२/९ १२. अष्टा० ६/४/१६।
१३. अष्टा० ७/४/५४। १४. मि धातु, सन् प्रत्यय।

दीर्घविधान सार्थक रहता है। इस प्रकार भाष्य[१] में अनवकाशत्व हेतु द्वारा दीर्घ गुण का बाधक है कहा है और दीर्घोत्तर गुण को संभव कहा है। फलत: दीर्घ को 'येन नाप्राप्ते०' के अनुसार अपवाद मानने पर तो उसके विषय में उत्सर्ग (गुण) की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती थी, तो सूत्र और भाष्य दोनों असंगत हो जाते हैं। इससे सर्वथा अनवकाशत्व के विषय में इस परिभाषा की अप्रवृत्ति ही समझनी चाहिए।[२]

'क्वचिदपवाद०' न्याय के विषय में सीरदेवादि की उक्ति— सीरदेव आदि लोग इस परिभाषा के प्रयोजन स्वरूप 'काञ्चनी वासयष्टि:' इत्यादि में अपवादसूत्र 'नित्यं बृद्धशरादिभ्य:'[३] सूत्र के विहित 'मयट्' के विषय में इस न्याय से 'अण्'[४] उत्सर्ग की प्रवृत्ति मानते हैं, इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी प्रस्तुत करते हैं। **उक्त प्रयोजन का खण्डन (नागेश मत)**— नागेश उनके मत को भ्रान्त बताते हैं। ऐसा मानने से 'अण् कर्मणि च'[५] भाष्य के साथ विरोध प्राप्त होता है। वहाँ यह कहा है कि 'कर्मण्यण्'[६] सूत्र से सामान्य विहित 'अण्' यदि क्रियार्थ क्रिया के उपपद होने पर भी हो जाता, तो इस सूत्र[७] में पुन: 'अण्' क्यों पढ़ा है? इसका उत्तर यह दिया है कि अपवाद[८] के विषय में भी अण् की अनिवृत्ति रहे अर्थात् अपवाद क से बाधित न हो- यथा 'गोदायो व्रजति'[९] में 'क' अपवाद के विषय में अण् हुआ है। यदि प्रकृत न्याय होता तो इसी से उत्सर्ग की प्रवृत्ति कहते और वैसा यत्न क्यों करते? अत: प्रतीत होता है कि यह न्याय नहीं है।[१०] **उक्त रूप सिद्धि प्रकार**— इस प्रकार होने पर निम्न प्रकार से उक्त[११] रूप सिद्ध हो जायेंगे। काञ्चनी में काञ्चन शब्द से निर्मित अर्थ में 'शेषे'[१२] इस सूत्र से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होकर सिद्धि समझनी चाहिए, अन्य भी इसी प्रकार सिद्ध समझने चाहिए।

परिभाषा के विषय में विशेष ज्ञेय विचार तथा सिद्धान्त— नागेश ने इस 'येन नाप्राप्ते०' परिभाषा के विषय में विशेष विचार करते हुए कुछ सिद्धान्त स्थिर किये हैं। साथ ही कुछ अन्य परिभाषाओं पर भी फलस्वरूप कहना चाहते हैं। **विशेष**

---

१. म०भा० १/२/९।

२. गदा,पृ० १४५ तथा गूढार्थ०, पृ०१६२।

३. अष्टा० ४/३/१४४। ४. 'प्राग्दीव्यतोऽण्' अष्टा० ४/१/८३।

५. म०भा० ३/३/१२। ६. अष्टा० ३/२/१।

७. 'अण् कर्मणि च' अष्टा० ३/३/१२।

८. 'आतोऽनुपसर्गे क:' अष्टा० ३/२/२। के विषय में।

९. गो पूर्वपद, दा धातु, अण्, 'यक्' आगम होकर निष्पन्न रूप।

१०. गूढार्थ०, पृ० ३६२ तथा गदा, पृ० १४५-१४६।

११. काञ्चनी, दाशरथ रूप। १२. प्र० अष्टा०, ४/२/९२।

विचार— 'येन नाप्राप्ते०' इस परिभाषा के विषय में निम्न विषयों का परिज्ञान आवश्यक है। **(क)** अपवाद स्थल में प्रवृत्ति— यदि 'येन' पद का अर्थ 'स्वेतरेण' अपवाद से इतर द्वारा है, तो अपवाद के विषय में जो-जो अपवाद से भिन्न प्राप्त होता है, उसे अपवाद बाधता है। क्योंकि अपवाद का ऐसा कोई विषय नहीं है, जहाँ किसी दूसरी विधि की प्राप्ति न हो। इसे ही 'बाध्य-सामान्य चिन्ता' कहते हैं[१] (जो भी बाध्य है उस सबका चिन्तन)। **(ख)** सर्वथा अनवकाशत्व-स्थल में प्रवृत्ति: जहाँ सर्वथाऽनवकाशत्व के कारण बाधकता हो, वहाँ भी बाध्य-सामान्य चिन्ता का विषय है, यदि उदाहरण मिल जाय, क्योंकि यह बाध्य सामान्य चिन्ता 'येन नाप्राप्ते०' परिभाषा द्वारा उत्सर्ग की प्रवृत्ति के पश्चात् भी चरितार्थ होने पर जो बाध करता हो, ऐसे रूपवाले अपवाद के विषय में ही होती है, इसमें कोई विनिगमना नहीं है।[२] **(ग)** जब 'येन' से विधि (-विधायक शास्त्र) अथवा कार्य लिया जाता है तो हमे यह विचार करना होता है कि किस विशेष विधि अथवा कार्य का बाध करना चाहिए। इसे ही 'बाध्य-विशेष-चिन्ता' कहते हैं। यदि उदाहरण मिल सके तो अनवकाश से बाध होने पर भी, किस विशेष विधि अथवा कार्य को बाधने से विधि शास्त्र सार्थक रहता है, यह चिन्ता होती है।[३] इन उपर्युक्त दोनों अर्थों को स्वीकार करने में लक्ष्यानुरोध ही हेतु है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'अजीगणत्' में अनवकाशत्व के कारण 'ई च गण:'[४] 'हलादि:[५] शेष:' का बाध नहीं करता तथा उक्त परिभाषा से इस बाध स्थल में भी उत्सर्ग 'हलादि:[६] शेष:' पहले प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा—सर्वथा अनवकाश से अपवाद द्वारा उत्सर्ग का बाध हो जाने का यही तात्पर्य होता है कि पहले अपवाद की प्रवृत्ति हो जाय उसके पश्चात् उत्सर्ग की प्राप्ति होने पर उसका भी समावेश हो जाता है। यही इस परिभाषा का प्रतिपाद्य विषय है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, कातंत्र, भोज तथा हेम ने नहीं मानी है। कुछ भिन्न रूप में पढ़ी है।[७] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ड तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में पढ़ी है। नागेश इन्हीं का अनुकरण करते हैं। इस परिभाषा के अर्थ के विषय में नागेश तथा पूर्ववर्ती परिभाषा व्याख्याकारों में मतभेद है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ड एवं हरिभाष्कर ने अपवाद का अर्थ अपवाद मानते हुए अपवाद

---

१. प०शे०,पृ० ३६३। २. प०शे०, पृ० ३६३।

३. प०शे, पृ० २६४। ४. अष्टा०, ७/४/९७।

५. अष्टा० ७/४/६०। ६. प०शे० पृ० ३५९-३६४।

७. 'अपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते' द्र० परि० संग्रह- तत्तत् ग्रन्थ।

विषय में उत्सर्ग भी हो जाता है, माना है।[१] नीलकण्ठ ने इनसे भिन्न अर्थ किया है 'अपवाद विषय के अन्य के द्वारा अपवाद निषेध हो जाने पर भी उत्सर्ग हो जाता है'।[२] इसी प्रकार कैयट भी मानते हैं।[३] परन्तु नागेश इनसे अभिमत न रखते हुए अपवाद का अर्थ बाधक परक (सर्वथा निरवकाश) मानते हुए उसका सप्रमाण सहेतुक विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।[४]

इस परिभाषा के हेतु तथा प्रवृत्ति विषय में भी प्राचीन आचार्यों तथा नागेश में मतभेद है। व्याडि इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'शेषे विभाषा कखादा०'[५] सूत्र के 'शेष' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं। इसका उपपादन भी करते हैं। इसका प्रयोजन भी 'इञ्' अपवाद विषय में 'अण्' होने रूप का 'दाशरथाय' उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[६] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर इसका ज्ञापक 'कटं कारको व्रजति' इसमें द्वितीया विभक्ति प्रतिपादनार्थ 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययो:'[७] सूत्र द्वारा षष्ठी प्रतिषेध वचन मानते हुए 'दाशरथाय मैथिली' तथा 'काञ्चनी वासयष्टि:' उदाहरण स्वरूप लिखते हैं। उक्त में क्रमश: 'इञ्' तथा मयट् अपवादों के विषय में अञ् तथा अण् हो जाता है। इस प्रकार इन दोनों ने विस्तृत व्याख्या की है।[८] नीलकण्ठ 'तौ सत्'[९] निर्देश को इसका ज्ञापक मानते हैं। इसका प्रयोजन 'रामौ' में बृद्धि के अपवादभूत पूर्व-सवर्ण दीर्घ का प्रतिषेध होने पर भी बृद्धि हो जाती है, मानते हैं।[१०] परन्तु नागेश इसको ज्ञापक सिद्ध नहीं मानते। युक्ति सिद्ध मानते हैं। अत: ज्ञापक नहीं प्रस्तुत करते हैं तथा प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित अभिमत प्रयोजनों का उल्लेखपूर्वक भाष्यप्रमाण प्रस्तुत करते हुए सम्यक् खण्डन कर दिया है तथा उक्त रूपों की सिद्धि अन्य प्रकार से हो जाती है।[११] प्रतिपादित किया है। इस प्रकार नागेश ने इसकी अपनी अभिमत नूतन व्याख्या की है। मध्य-मध्य में कैयट का खण्डन किया है। अन्त में अपवाद के विषय में कुछ विशेष सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इस प्रकार संक्षेप में भी लिखी व्याख्या आकर्षक और गम्भीर है।

---

१. व्याडि वृत्ति, परि० सं० ११५, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ३३, हरिभास्कर वृत्ति, परि०सं० ३३।

२. नीलकण्ठ वृत्ति, परि०सं० ४४। ३. द्र०प्र०७/४/८२।

४. प०शे० परि०सं० ५८, तथा ग्र० गदा, पृ० १४३।

५. अष्टा० ८/४/१८। ६. व्याडिवृत्ति, परि०सं० ८३।

७. अष्टा० २/३/७०।

८. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ११५, सीरदेववृत्ति परि०सं०३३, हरिभास्कर वृत्ति० परि०सं०३३।

९. अष्टा० ३/२/१२७। १०. नीलकंठ वृत्ति, परि॰सं॰ ४४.

११. विशेष- गदा, पृ० १४४-१४६।

सीरदेव तथा पुरुषोत्तमदेव ने अति विस्तृत व्याख्या लिखी है।

(२०) पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान्।।प०६०।।

परिभाषा का उपक्रम— पूर्वोक्त परिभाषा के विषय में यह विशेष विचार है। वहाँ 'येन नाप्राप्ते०' में 'येन' के तीनों[१] अर्थों में से जब 'कार्येण' (कार्य का बाध करना) अर्थ लिया जाता है, तब यह शंका होती है। इस प्रकार जब पूर्व न्याय से यह निर्धारित हो जाता है कि जहाँ-जहाँ पररूप विधान किया है,[२] वहीं-वहीं 'एत्येधत्यूठ्सु'[३] सूत्र से बृद्धि (भी) विधान की है, अत: बृद्धि अनवकाश होने से पररूप का बाध करती है। अब प्रश्न यह है कि किस-किस शास्त्र-विशेष से विहित पररूप का बाध बृद्धि करेगी? अर्थात् दोनों कार्य विशेषों में किसका बाध करेगी?[४] इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अष्टाध्यायी में पूर्व पठित अपवादशास्त्र, अनन्तर (अव्यवहित उत्तर) पठित (अपवादबाध्य-विषयक) विधि शास्त्रों का ही बाध करते हैं, उससे आगे के व्यवहित शास्त्रों का बाध नहीं करते हैं।

परिभाषा का आशय— अष्टाध्यायी सूत्रपाठक्रम में पहले अपवाद सूत्र और पीछे उत्सर्ग सूत्र पठित हों तो वह अपने समीपस्थ सूत्र (कार्य) का बाधक होता है और जिसमें किसी का व्यवधान है, उसका बाधक नहीं होता है।

परिभाषा में हेतु— यह परिभाषा प्रत्यासत्तिन्यायमूलक युक्तिसिद्ध है।[५] इस न्याय की उपपत्ति यह है कि जब एक शास्त्र को अपनी चरितार्थता के लिए अपने से दूसरे का अवश्य बाध करना है, तो जो शास्त्र अत्यन्त निकट होने से प्रथम (पूर्व) उपस्थित होगा, उसी का बाध करके वह चरितार्थ हो जायगा, तो उससे आगे वाले शास्त्र का बाध नहीं करेगा, यह स्वत: सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसे बाध्य की आकांक्षा ही नहीं रहती।[६] अपवादशास्त्र के इस प्रकार अनन्तर सूत्र को बाधकर चरितार्थ हो जाने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[७] सूत्र से पर (उत्तर शास्त्र) क्यों न प्रवृत्त हो? अर्थात्

---

१. (१) 'स्वेतरेण' (अपवाद से भिन्न द्वारा), (२) लक्षणेन (विधायकशास्त्र द्वारा), (३) कार्येण (कार्य द्वारा), ये तीन अर्थ होते हैं- द्र०प०शे०पृ० ३६३-३६४।

२. 'एङि पररूपम्' अष्टा० ६/१/९४ आदि पररूप विधायक सूत्र।

३. अष्टा० ६/१/८९।

४. 'एङि पररूपम्' को अथवा 'ओमाङोश्च'को।

५. गदा०, पृ० १४७।

६. प०शे०पृ० २६४ तथा गूढार्थ० भी वही, पृ०।

७. अष्टा० १/४/२।

परविप्रतिषेध से वह कार्य प्रवृत्त हो ही जाता है, उसका यह अपवाद बाधक नहीं होता, यही इसका हेतु है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'एत्येधत्यूठ्सु'[१] में एति, एधति अंश में 'एङि पररूपम्'[२] सूत्र से प्राप्त पररूप की बृद्धि बाधक होती है। इस प्रकार बृद्धि 'एङि पररूपम्' की अपवाद बनती है, क्योंकि उक्त सूत्र के अनन्तर 'एङि पररूपम्' ही सूत्र पाठ क्रम में है, अत: उसका ही बाध करेगी, व्यवहित उत्तर का नहीं। अतएव 'ओमाङोश्च'[३] सूत्र से प्राप्त पररूप का बाधक नहीं होता, इसलिए यहाँ नहीं होता 'उप आ इत:' 'उपेत:'[४] यहाँ पररूप ही होता है। इसी प्रकार 'नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च'[५] अपवाद सूत्र 'न क्रोडादिबह्वच:' सूत्र से प्राप्त 'ङीष्' के निषेध का बाधक होता है और सह, नञ्, विद्यमान पूर्वक नासिका से 'सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च'[६] सूत्र से प्राप्त 'ङीष्' के निषेध का बाधक नहीं होता है। फलस्वरूप सनासिका, अनासिका[७] आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी इसका विषय जानना चाहिए।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा द्वारा अपवाद के विषय में विशेष विचार प्रस्तुत किया गया है। कोई सूत्र दो सूत्रों का अपवाद हो तथा दोनों की प्राप्ति में आरम्भ भी हो तो किस सूत्र का अपवाद होकर बाध करेगा? इसी का प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् उभयबाधकत्त्व में व्यवस्थापिका यह परिभाषा है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, चान्द्र, जैनेन्द्र, भोज, हैम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने मानी है। कातंत्र ने नहीं मानी है।[८] इस परिभाषा का अर्थ सभी[९] ने प्राय: एक जैसा किया है। परन्तु नागेश ने इसका अर्थ नहीं लिखा है। स्यात् अति सरल होने के कारण नहीं लिखा है। परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। व्याडि ज्ञापकसिद्ध मानते हुए 'सेऽसिचि कृतचृत०'[१०] सूत्र में 'चृत' से परे रहते वैकल्पिक 'इट्' विधान का ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं।[११] जैनेन्द्र युक्ति-सिद्ध अथवा स्वभावसिद्ध मानते हैं।[१२] पुरुषोत्तमदेव इसका ज्ञापक 'परिमाणाख्यायां[१३] सर्वेभ्य:' में सर्वग्रहण को मानते हुए 'अनन्तरस्य विधिर्वा०' परिभाषा[१४] का प्रपञ्च भी मानते

---

१. अष्टा०, ६/१/८९। २. वही, ६/१/९४।
३. वही, ६/१/९५। ४. अष्टा० ४/१/९५।
५. अष्टा० ४/१/५६। ६. अष्टा० ४/१/५७।
७. सह एवं नञ्पूर्वक नासिका से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् का प्रतिषेध एवं टाप् होकर रूप।
८. कातंत्र पाठ, परि०सं०। ९. परि० संग्रह।
१०. अष्टा० ७/२/५७। ११. व्याडि पाठ० परि०सं० ९।
१२. जैनेन्द्र वृत्ति०, परि०सं० ९२। १३. अष्टा० ३/३/२०।
१४. प०शे० परि०सं० ६२।

हैं।[१] सीरदेव तथा हरिभास्कर ने भी पुरुषोत्तमदेवोक्त उक्त सूत्र को ज्ञापक मानते हुए विस्तार से व्याख्या की है।[२] पुरुषोत्तमदेव एवं सीरदेव ने न्याय का अनुकरण करते हुए विस्तृत व्याख्या की है। नीलकण्ठ न्यायमूलिका मानते हैं तथा भट्टोजि दीक्षित के अनुसार अर्थ मानते हुए संक्षेप में लिखते हैं।[३] नागेश ने इस परिभाषा का केवल हेतु प्रस्तुत किया है। ये दीक्षित के ही अनुकूल युक्तिसिद्ध अथवा प्रत्यासत्ति मूलक मानते हैं। ज्ञापक मानने का कोई औचित्य नहीं समझते। बिलकुल ऐसी ही व्याख्या भट्टोजि दीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में की है।[४] इस परिभाषा के प्रयोजनस्वरूप उदाहरणों का प्राचीन सभी ने विस्तार से प्रतिपादन किया है, परन्तु नागेश ने कोई उदाहरण नहीं दिया है।

(२१) मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्।।प०६१।।

परिभाषा का उपक्रम— जब यह निश्चित हो जाता है कि 'नासिकोदरौष्ठ-जङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च'[५] सूत्र में 'ओष्ठ' आदि अंश में जो-जो 'ङीष्' निषेध-विधान किया गया है, उस सबका बाधक है। अर्थात् इस सूत्र में ओष्ठ आदि पाँच संयोगोपध शब्द हैं, उससे निषेध भी प्राप्त[६] है, उसका बाधक पूर्व परिभाषा[७] नहीं हो सकती, क्योंकि 'नासिकोदरौष्ठ०' सूत्र से भी संयोगोपध का निषेध है। इस सूत्र में 'नासिका' और 'उदर' शब्द तो सह आदि पूर्व होने से, पूर्व और पर दोनों[८] सूत्रों के अपवाद प्रप्त होते हैं और 'ओष्ठ' आदि शब्द सह आदि से पूर्व हो तो 'सहनञ्०'[९] इस परवर्ती सूत्र के और सामान्य उपपद में 'स्वाङ्गाच्चोप०'[१०] इस पूर्ववर्ती सूत्र के भी अपवाद प्राप्त होते हैं। अत: ये दोनों के अपवाद होने चाहिए अथवा किसी एक के? फलस्वरूप यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस-किस शास्त्र विहित ङीष् निषेध का यह बाधक है। इसके उत्तर के रूप में अथवा उक्त सन्देह की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जब पूर्व और पर दोनों ओर उत्सर्ग पढ़ा हो और मध्य में अपवाद पढ़ा हो तो वह अपने से पूर्वविधि का बाधक होता है, उत्तरवर्ती का नहीं।

---

१. पुरुषोत्तमवृत्ति परि०सं० ८।

२. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ४४, हरिभास्कर वृत्ति, परि०सं० ४६।

३. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ४९।

४. श० कौस्तुभ। ५. अष्टा० ४/१/५।

६. 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' अष्टा० ४/१/५४।

७. 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' प०शे० परि०सं० ६०।

८. पूर्व सूत्र अष्टा० ४/१/५४ तथा परसूत्र अष्टा० ४/१/५७।

९. अष्टा० ४/१/५७। १०. वही, ४/१/५४।

परिभाषा का आशय— सूत्र पाठ में दो सामान्य शास्त्रों के मध्य में पठित निषेध शास्त्र अपनी अपेक्षा से जो पूर्व पठित हैं, उन्हीं का बाध करते हैं। अपनी संख्या से आगे वाले सामान्य शास्त्र का बाध नहीं करते हैं, इसका तात्पर्य है।

परिभाषा का हेतु— इस प्रकृत न्यायरूप परिभाषा का हेतु यह है कि अपवाद शास्त्र पूर्वोपस्थित शास्त्र का बाध करने के पश्चात् चरितार्थ हो जाने से निराकांक्ष हो जाता है, उसे बाध्यान्तर की आकांक्षा ही नहीं रहती, इस प्रकार यह आकांक्षा का अभाव ही इस परिभाषा के होने में हेतु है। यह उचित ही है, क्योंकि पूर्व के अनुभव के संस्कार से स्मृति विषया होती है।[१]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'नासिकोदरौष्ठ०'[२] आदि सूत्र में 'ओष्ठ' आदि पाँच के विषय में, इससे युक्त उदाहरणों में संयोगोपध लक्षण 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्'[३] सूत्र से ङीष् का जो निषेध विधान किया है उसी का बाध होता है, आगे पढ़े हुए 'सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च'[४] सूत्र से निषिद्ध ङीष् का बाध नहीं होता। यद्यपि 'येन नाप्राप्ते०' न्यायरूप परिभाषा से 'नासिकोदरौष्ठ०'[२] यह 'स्वाङ्गाच्चोप०'[३] तथा 'सहनञ्'[४] दोनों का अपवाद है तथापि यह परिभाषा पूर्व की ही बाधक होती है। फलस्वरूप विम्बोष्ठी, विम्बोष्ठा आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं तथा इसी प्रकार सदन्ता, अदन्ता, विद्यमानदन्ता[६] निषेध के बाधक न होने से सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र योजना कर लेनी चाहिए।

समीक्षा— पूर्व परिभाषा की भाँति यह भी अपवाद के बाधकत्त्व के विषय में व्यवस्था का निरूपण करती है। दोनों ओर उत्सर्ग हों, मध्य में अपवाद हो तो, वह अपवाद किस उत्सर्ग का बाध करेगा, इसी का निश्चय किया गया है। यह परिभाषा व्याडि तथा कातंत्र के पाठों में नहीं है। अन्य सभी जैनेन्द्र, शाकटायन तथा पुरुषोत्तमदेवादि[७] ने इसी रूप में मानी है। इन्हीं का नागेश ने अनुकरण किया है। परिभाषा का अर्थ सभी ने प्राय: एक ही जैसा माना है, केवल शब्द मात्र का अन्तर है, परन्तु नागेश ने इसका अर्थ नहीं दिया है। इस परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीन एवं नवीनों में मतभेद है। जैनेन्द्र ने कोई हेतु नहीं प्रस्तुत किया है, केवल उदाहरण ही विस्तार

---

१. गदा, पृ० १४८।
२. अष्टा० ४/१/५५।
३. वही,४/१/५४।
४. वही, ४/१/५७
५. प०शे० परि०सं० ५८।
६. अष्टा० ४/१/९७ के नियम से ङीष् का निषेध होकर टाप् प्रत्यय होकर उक्त रूप।
७. चन्द्र, भोज, हेम, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

से प्रस्तुत किया है।[१] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और हरिभास्कर ने इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हुए इसका ज्ञापक 'बहुब्रीहेरूधषो[२] ङीष्' सूत्र में 'ङीष्' का स्वरितत्व आसञ्जन माना है तथा उसका उपपादन भी किया है।[३] नीलकण्ठ ने लोकन्यायमूलक मानते हुए सीरदेवादि के अनुसार ज्ञापक भी उक्त सूत्र में स्वरित प्रतिज्ञा को माना है तथा कैयट, कौस्तुम्भकार के अनुसार उपपादित करते हुए व्याख्या की है।[४] परन्तु नागेश ज्ञापक सिद्ध नहीं मानते हैं। इनके अनुसार यह युक्तिसिद्ध प्रत्यासत्तिमूलक है।[५] इस परिभाषा के प्रयोजन स्वरूप उदाहरणों को प्राचीन सभी[६] ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। नागेश ने भी प्रयोजन का प्रतिपादन किया है। नागेश ने नीलकण्ठ के अनुसार प्रयोजन प्रस्तुत किये हैं। इसका हेतु दीक्षित ने भी यही दिया है। नागेश ने अति संक्षेप में व्याख्या लिखी है, परन्तु सीरदेव आदि ने अति विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

(२२) अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति।।प०६२।।

परिभाषा का उपक्रम— यहाँ यह शंका होती है, 'वा च्छन्दसि'[७] सूत्र जैसे 'सेर्ह्यपिच्च'[८] इस अनन्तरोक्त[९] अपित्त्व का विकल्प करता है, वैसे ही सिप्स्थानिक 'हि' का भी विकल्प होना चाहिए। विकल्प क्यों नहीं होता?[१०] तथा इसी प्रकार 'नेटि'[११] सूत्र जैसे 'अनन्तरोक्त हलन्तलक्षणा वृद्धि 'वदव्रजहलन्तस्याचः'[१२] से विहित का प्रतिषेध करता है, वैसे ही 'सिचि बृद्धिः परस्मैपदेषु' का[१३] तथा 'मृजेर्बृद्धिः'[१४] से विहित वृद्धि का निषेध क्यों नहीं करता? करना चाहिए। अतः उक्त न्यायमूलक,[१५] 'प्रत्यासत्तिन्यायमूलक' प्रस्तुत परिभाषा उल्लेख करते हैं।

परिभाषा का स्वरूप—विधि और प्रतिषेध अनन्तर (अव्यवहित पूर्व या पर) के ही होते हैं।

---

१. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ९३। २. अष्टा० ४/१/२५।
३. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ४९। ४. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०५०।
५. गदा, पृ० १४८।
६. जैनेन्द्रआदि- द्र० परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
७. अष्टा० ३/४/८८। ८. वही, ३/४/८७।
९. 'वा च्छन्दसि' से पूर्व के क्रम में 'सेर्ह्यपिच्च' में 'अपित्व' ही अनन्तरोक्त है।
१०. सि का भी हि विधान करता है, अतः उसका भी विकल्प होना चाहिए, द्र० गूढार्थ०, पृ० ३६५।
११. अष्टा०७/२/४। १२. वही,७/२/३।
१३. वही, ७/२/१। १४. वही, ७/२/२१४।
१५. प०शे० परि०सं० ६० का हेतु, पृ० ३६४।

परिभाषा का आशय— 'वा' शब्द यहाँ समुच्चय अर्थ में है। तात्पर्य यह है कि जिसमें कुछ अन्तर न हो अर्थात् जो अत्यन्त समीप हो, उसका विधि अथवा निषेध होता है, दूरस्थ का नहीं।

परिभाषा में हेतु— यह परिभाषा भी प्रत्यासत्ति-न्यायमूलक ही है। कारण कि अनन्तर अत्यन्त निकट होने से प्रथम उपस्थित का बाधकर चरितार्थ हो जाने से, उसके पश्चात् उपस्थित व्यवहित शास्त्र के बाध में प्रमाण का अभाव ही है। अतएव उक्त तात्पर्य निकल आता है।

न्यायमूलकता में प्रमाण— 'उक्त न्यायमूलक' इस परिभाषा के होने से ही 'संख्याव्ययादेर्ङीप्'[१] सूत्र में ङीप् ग्रहण चरितार्थ होता है। वह 'बहुब्रीहेरूधषो ङीष्'[२] इस अनन्तरोक्त ङीष्वधि के प्रतिषेध के लिए किया है। यदि यहाँ ङीप् न पढ़ते तो इस परिभाषा से 'बहुब्रीहे०'[२] सूत्र में पठित ङीष् के इस सूत्र से प्रत्यासन्न होने से संख्याव्ययादि 'ऊधः' शब्दान्त बहुब्रीहि से ङीष् हो जाता।[३] फलस्वरूप विधि अनन्तर को होती है, यह सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रतिषेध भी अनन्तर का होता है। 'न क्तिचि दीर्घश्च'[४] सूत्र में 'दीर्घ' ग्रहण चरितार्थ होता है। वह 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्०'[५] इस अनन्तर उक्त सूत्र से प्राप्त नलोप के निषेध के लिए ही किया गया है तथा इसलिए भी किया है कि यह 'न क्तिचि दीर्घश्च'[४] सूत्र व्यवहित उत्तर, 'अनुनासिकस्य[६] क्विझलोः क्ङिति' सूत्र से विहित दीर्घ का भी बाध करे। अन्यथा दीर्घ का निषेध न करने से, इस परिभाषा से व्यवहित सूत्र 'अनुनासिकस्य०'[६] के दीर्घ का निषेध नहीं होता। अतः उसका भी निषेध हो, इसलिए 'दीर्घ ग्रहण चरितार्थ है। अन्यथा इस परिभाषा के न रहने से अनन्तर दीर्घ निषेध के समान ही व्यवहित 'अनुनासिक[७] दीर्घ' का भी निषेध सिद्ध होने पर वह अनर्थक ही रहता। **अन्य न्यायों से बलवत्ता**—'मध्येऽपवादा०' न्याय की अपेक्षा प्रकृत न्याय प्रबल है, यह 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र के प्रदीप में स्पष्ट है।[८] वहाँ भाष्य में कैयट ने दो न्यायों के मध्य में 'अनन्तरस्य न्याय' की प्रवृत्ति में युक्ति प्रदर्शित की है, इससे उसका प्राबल्य है, यह ज्ञात होता हैं। इस प्रकार 'मध्ये न्याय' की अपेक्षा 'अनन्तरस्य न्याय' प्रबल सिद्ध होता है।

---

१. अष्टा० ४/१/२६। २. वही, ४/१/२५।

३. वही, ४/१/२५। ४. अष्टा० ६/४/३९।

५. अष्टा० ६/४/३७। ६. वही, ६/४/१५।

७. द्र० अष्टा० ६/४/१५ से अनुनासिक दीर्घ।

८. प्र० ७/१/२९ 'यो वा तस्मादनन्तरः०' प्रतीक की व्याख्या तथा द्र० गदा, पृ० १४९।

परिभाषा का प्रवृत्ति-निमित्त— लक्ष्य के अनुरोध से भी व्यवस्था की जाती है— यह भी एक पक्ष है— ऐसा कैयट ने कहा है।[१] बहुत से सूत्रों में कैयटादि ने कभी-कभी स्वरितत्व प्रतिज्ञा से भी इस न्याय[२] का बाध हो, यह 'वदव्रजहलन्तस्याच:' सूत्र के भाष्य[३] में भी स्पष्ट किया है।

व्यवहित में भी विधि-स्वरूप का उदाहरण— जैसे 'टिड्ढाणञ्'[४] सूत्र से ङीप् का विधान होता है, यद्यपि ङीप् विधायक शास्त्र 'ऋन्नेभ्यो ङीप्'[५] सूत्र का तथा 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्'[६] सूत्र का टाबृचि[७] से डाप्, टाप् से व्यवधान है। यहाँ दोनों की ही अस्वरित होने से अनुवृत्ति नहीं होती, अत: ङीप् की अनुवृत्ति आती है। यही इस 'अनन्तर०न्याय' की बाधकता है। इसी प्रकार निषेध में भी लक्ष्यानुसार व्यवस्था होती है। 'न षट्स्वस्रादिभ्य:'[८] सूत्र से केवल अनन्तर विहित टाप् 'टाबृचि'[९] का ही प्रतिषेध नहीं होता, व्यवहित पूर्व 'ऋन्नेभ्यो ङीप्'[१०] का भी प्रतिषेध होता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'वाच्छन्दसि'[११] यह सूत्र अनन्तर विहित अपित्त्व 'सेर्ह्यपिच्च'[१२] का विकल्प करता है, व्यवहित हि आदेश का नहीं और 'नेटि'[१३] इस परिभाषा से अनन्तर 'समीपस्थ पूर्वसूत्र 'वदव्रजहलन्तस्याच:'[१४] सूत्र से विहित बृद्धि का निषेध हो जाता है— 'अदेवीत्'। सामान्य बृद्धि 'सिचि बृद्धि:[१५] परस्मैपदेषु' व्यवहित पूर्व अथवा 'मृजेर्बृद्धि:'[१६] व्यवहित पर होने से इनका निषेध नहीं होता है। 'अनैषीत्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार इस परिभाषा से 'सुडनपुंसकस्य'[१७] में सुट् करके जो सर्वनामस्थान की प्राप्ति है, उसी का निषेध करता है, 'शि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध नहीं हाता। इससे 'कुण्डानि' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

समीक्षा— सूत्र द्वारा कहीं किसी स्थल पर निषेध अथवा विधान किया जाता

---

१. प्र० ७/१/२१ अथवा आदि टि०।

२. 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' न्याय।

३. म०भा० ७/२/३।

४. अष्टा० ४/१/१५।

५. वही,४/१/५।

६. वही,४/१/१३।

७. वही, ४/१/९।

८. वही, ४/१/९०।

९. वही, ४/१/९१।

१०. अष्टा० ४/१/५।

११. वही, ३/४/८८।

१२. वही, ३/४/८७।

१३. वही,७/२/४।

१४. वही, ७/२/३।

१५. वही, ७/२/१।

१६. वही, ७/२/११४।

१७. वही, १/१/४३।

है तो वह निषेध अथवा विधि सर्वत्र होगी? या कुछ संकोच में प्रवृत्त होगी, इसका निर्णय यह परिभाषा करती है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि आदि सभी ने मानी है।[१] केवल जैनेन्द्र ने नहीं स्वीकार की है। परिभाषा के अर्थ के विषय में कोई मतभेद प्राचीनों तथा नवीनों में नहीं है। सभी ने एक ही जैसा अर्थ किया है। नागेश स्यात् अति सरल होने के कारण इसका अर्थ नहीं लिखते हैं।

परिभाषा के हेतु के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों एवं नागेश में मतभेद है। व्याडि इसको ज्ञापकसिद्ध मानते हुए विस्तार से ज्ञापक का उपपादन करते हैं। 'ताभ्यामन्यत्रोणादय:'[२] 'डाबुभाम्याम्०'[३] सूत्रों में 'उभाम्यां' तथा 'ताम्यां' ग्रहण ज्ञापक हैं।[४] कातंत्रकार भी ज्ञापक सिद्ध मानते हैं।[५] पुरुषोत्तमदेव इसको प्रत्यासत्तिन्यायसिद्ध मानते हुए इसके फलस्वरूप 'अपवर्गे तृतीया'[६] तथा 'न क्तिचि[७] दीर्घश्च' सूत्र में तृतीया एवं दीर्घ ग्रहण का ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं। कहीं-कहीं इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, स्वरितत्त्व प्रतिज्ञान सामर्थ्य से—ऐसा भी मानते हैं।[८] सीरदेव प्रत्यासत्ति-न्यायलब्ध मानने के साथ-साथ 'आहु:' के द्वारा ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं। ज्ञापक 'संख्याव्ययादेर्ङीप्'[९] तथा 'न क्तिचि दीर्घश्च' में ङीप् तथा दीर्घ ग्रहण है। कहीं-कहीं परिभाष नहीं प्रवृत्त होती है, यह मानते हैं।[१०] नीलकण्ठ भी उपस्थिति-न्यायमूलक मानते हए सीरदेव के अनुसार ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं।[११] परिभाषा के प्रवृत्ति के विषय में कुछ नहीं कहते हैं। हरिभास्कर इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हुए उपर्युक्त पुरुषोत्तम देवोक्त ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं। इन्होंने अति विस्तृत व्याख्या की है। प्रवृत्ति के विषय में कुछ नहीं कहा है।[१२] परन्तु नागेश इन सबसे कुछ भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। यह प्रत्यासत्तिन्यायमूलक[१३] मानते हैं तथा सीरदेव तथा पुरुषोत्तमदेव निर्दिष्ट ज्ञापक 'संख्याव्ययादेर्ङीप् तथा 'न क्तिचि दीर्घश्च'[१४] सूत्रों में परिभाषा की चरितार्थता दिलायी है। मध्य में कैयट के मत का भी उल्लेख किया है एवं लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था मानी हैं। इस परिभाषा की स्वरितत्त्व की प्रतिज्ञा-सामर्थ्य से बाधकता स्वीकार करते है, यह पूर्व आचार्यों के अनुकरण पर ग्रहण करते हैं। इसका उदाहरण भी दिया है। परिभाषा के प्रयोज़न-स्वरूप उदाहरणों का प्रतिपादन, व्याडि आदि ने अति विस्तृत रूप में किया

---

१. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
२. अष्टा० ३/४/७५।
३. वही, ४/१/७५।
४. व्याडिवृत्ति, परि०सं० १६।
५. कातंत्र पाठ परि॰सं॰१८।
६. अष्टा० २/३/६।
७. वही, ६/४/३९।
८. पुरुषोत्तमदवृत्ति, परि॰सं॰ १७।
९. अष्टा० ४/१/२६।
१०. सीरदेववृत्ति, परि॰सं॰४८।
११. नीलकण्ठ वृत्ति, परि॰सं॰५१।
१२. हरिभास्करवृत्ति, परि॰सं॰५०।
१३. गदा,पृ० १४९।
१४. अष्टा० ६/४/३९।

हैं। नागेश ने भी उदाहरण दिया है, परन्तु अति संक्षेप में ही। इस प्रकार नागेशकृत व्याख्या परिभाषा के सभी विषयों पर प्रकाश प्रदान करने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

(२३) उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् ।।प०७१।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह होती है कि 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे[१] पूर्वस्य' तथा 'तस्मादित्युत्तरस्य'[२] इन दो सूत्रों से (क्रमशः) सप्तमी-निर्दिष्ट कार्य अव्यवहित पूर्व को और पञ्चमी-निर्दिष्ट कार्य अव्यवहित उत्तर को होता है, यह तो निश्चित् हो जाताहै। परन्तु जहाँ पञ्चमी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का निर्देश हो, वहाँ किसको कार्य होना चाहिए? जैसे 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्'[३] सूत्र में 'ङमुट्' आगम किसे विधान किया गया है? क्या ङम् से परे अच् को ङमुट् होता है? अथवा अच् परे होने पर ङम् को ङमुट् होता है? सन्देह की निवृत्ति के लिएयह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जहाँ सप्तमी तथा पँचमी दोनों विभक्तियों से निर्देश किया गया है, वहाँ पँचमी-निर्दिष्ट कार्य प्रबल होता है।

परिभाषा का आशय— जब किसी विधायक शास्त्र में सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों से पदों का निर्देश किया रहता है, तब पँचमी का निर्देश सप्तमी-निर्देश से बलवान् होता है। अर्थात् पञ्चमी अथवा सप्तमी निर्देशों में से कोई भी जो अन्यत्र कहीं चरितार्थ हो वहाँ अचरितार्थ विभक्ति के बल से निर्णय किया जाता है। जहाँ दोनों ही अन्यत्र चरितार्थ हों, वहाँ भी इस परिभाषा से निर्णय किया जाता है।[४]

परिभाषा में हेतु— (क) पञ्चमी निर्देश की बलवत्ता में हेतु— यह है 'ङमो ह्रस्वात्०' आदि सूत्र में 'तस्मादित्युत्तरस्य'[५] से पञ्चमी निर्देश से विधीयमान कार्य पर को होता है। इसमें इस 'तस्मादित्युत्तरस्य' की ही प्रवृत्ति होती है, क्योंकि पञ्चमी-निर्देश 'ङमः' अनवकाश है। (अन्यत्र कहीं भी चरितार्थ नहीं है)। और 'अचि' यह सप्तमी निर्देश अग्रिम सूत्र 'मय उञो[६] वो वा' सूत्र में सावकाश है। अतः अनवकाश होने से पञ्चमी निर्देश बलवान् होता है। फलतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति होकर कार्य सिद्ध होता है, अन्यथा उक्त लक्ष्य में दोष आता।[७]

(ख) पञ्चमी-निर्देश की बलवत्ता में अन्य हेतु— कहीं-कहीं सूत्रपाठकृत[८]

---

१. अष्टा० १/१/६६। २. वही, १/१/६७।

३. वही, ८/३/३२। ४. पशे०, पृ० ३८६-३८७।

५. अष्टा० १/१/६७। ६. अष्टा० ८/३/३३।

७. अच् परवर्ती रहते हुए ङम् को ङमुट् करने पर कुर्वन्+न्+आस्ते' में समानपदस्थ होने से ८/४/२ सूत्र से णत्व की प्राप्ति।

८. ङः सि धुट्' इत्यादि सूत्र - अष्टा० ८/३/२९।

परत्व भी पञ्चमी-निर्देश की बलवत्ता का कारण होता है, यह परत्व व्यवस्था भी दो स्थलों पर होती है। **(अ) प्रथम**— जहाँ पञ्चमी निर्दिष्ट और सप्तमी निर्दिष्ट दोनों ही अन्यत्र चरितार्थ नहीं रहते हैं अर्थात् अनवकाश रहते हैं। **(१) परत्व व्यवस्था का उदाहरण**— (निम्न उदाहरण) 'ङः सि धुट्'[१] इसमें पढ़े हुए पञ्चमी-निर्दिष्ट 'ङः' तथा उप्तमी निर्दिष्ट 'सि' अन्यत्र किसी भी विधायक शास्त्र में चरितार्थ नहीं है। अतः अष्टाध्यायी पाठक्रमानुसार जो पर है, उससे शास्त्र प्रवृत्ति का निर्णय किया जाता है।[२] 'विप्रतिषेधे[३] परं कार्यम्' से यह होता है) तस्मादित्युत्तरस्य- यह सूत्र 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'[४] की अपेक्षा पर है, अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य'[५] की प्रवृत्ति होगी और पञ्चमी-निर्दिष्ट से उत्तरवर्ती को 'घुट्' का आगम होगा। **(आ) द्वितीय**— वहाँ भी परत्त्व से पञ्चमी निर्दिष्ट बलवान् होता है जहाँ पञ्चमी निर्दिष्ट तथा सप्तमी निर्दिष्ट दोनों ही अन्यत्र चरितार्थ रहते हैं। **(१) उदाहरण**— 'आमि सर्वनाम्नःसुट्'[६] सूत्र में सप्तमी निर्दिष्ट 'आमि' तो 'त्रेस्त्रयः'[७] सूत्र में चरितार्थ है।[८] (सूत्रार्थ इस प्रकार है— 'आम्' को अवर्णान्त सर्वनाम अंग से परे सुट् आगम होता है)। इसी प्रकार 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' में अनुवृत्त 'आत्' यह निर्देश पूर्ववर्ती 'आज्जसेरसुक्'[९] सूत्र में चरितार्थ है। ऐसी अवस्था में भी पञ्चमी निर्देश की प्रकृत परत्व से ही व्यवस्था होती है। जैसे 'आमि सर्वनाम्नःसुट्' से विहित 'सुट्' परसूत्र 'तस्मादित्युत्तरस्य' की प्रवृत्ति से उत्तर को 'आम' होता है। इस प्रकार उक्त रीति से पञ्चमी निर्देश का प्राबल्य बोधित होता है।[१०]

परिभाषा का मूल— यह परिभाषा परत्वानवकाशत्वादि न्यायमूलक है। इस प्रकार परत्व, निरवकाशत्व के द्वारा बाध की बोधिका है, जहाँ उभय निर्देशों में परत्व अथवा अनवकाशत्व रहता हो, वही पञ्चमी-निर्देश बलवान् होता है। **परिभाषा का निष्कर्ष**— जहाँ पञ्चमी-निर्देश और सप्तमी निर्देश हो, वे चाहे अनुवृत्त हो या चाहे उपात्त, वहाँ पञ्चमी-निर्देश प्रबल होता है, फलतः वहाँ 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है।[११] इस परिभाषा की अप्रवृत्ति आदि के विषय में टीकाकारों[१२] ने कुछ

---

१. अष्टा० ८/३/२९।

२. 'तस्मादित्युत्तरस्य' अष्टा० १/१/६७ के नियम की विप्रतिषेध शास्त्र से प्रवृत्ति होगी, फलतः सि सप्तमी षष्ठी के रूप में बदल जाती है। 'सकारादि पद का धुट्' यह अर्थ होता है।

३. अष्टा० १/४/२।

४. अष्टा० १/१/६६।

५. वही, १/१/६७।

६. वही, ७/१/५२।

७. उत्तरवर्ती सूत्र- अष्टा० ७/१/५२।

८. अर्थ है 'आम्' परे रहते 'त्रि' का 'त्रय' होता है।

९. अष्टा० ७/१/५०।

१०. म०भा० १/१/६६ तथा वही प्र०भी।

११. प्र०प०शे० पृ० ३८७।

१२. गूढार्थ०, पृ० ३८७,गदा, पृ० १६१।

हेतु दिये हैं, वे अधोलिखित हैं—

परिभाषा की अप्रवृत्ति— जहाँ कहीं यदि केवल सप्तमी निर्देश ही अनवकाश है, वहाँ सप्तमी निर्देश ही पञ्चमी निर्देश से बलवान् होता है, पञ्चमी को बाधकर षष्ठी विभक्ति में बदल देता है। वहाँ इस परिभाषा की अप्रवृत्ति होती है।

उदाहरण— 'आने मुक्'[१] सूत्र में 'आने' यह सप्तमी निरवकाश है। अनुवृत्त[२] 'अतः' यह पञ्चमी 'अतो येयः'[३] सूत्र में सावकाश है, इसलिए निरवकाश सप्तमी सावकाश पञ्चमी को बाधकर षष्ठी में बदल देती है। जिससे उक्त सूत्र का अर्थ सिद्ध होता है।[४] 'आन' परे रहते अकारान्त अंग को मुक् आगम होता है।' इसी प्रकार अन्य उदाहरण समझने चाहिए।[५]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्'[६] सूत्र में पञ्चमी-निर्देश बलवान् होने से ह्रस्व से परे जो 'ङम्' उससे परे अच् को कार्य सिद्ध होता है। फलतः 'कुर्वन्नास्ते' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्यथा अनिष्ट 'णत्व'[७] की प्राप्ति होती है तथा 'बहोर्लोपो भू च बहोः'[८] सूत्र में 'बहु' शब्द पञ्चमी निर्दिष्ट तथा 'ईयसुन्' सप्तमी निर्दिष्ट है। इसमें परिभाषा से, पञ्चमी निर्देश को कार्य होने से बहु से परे 'इष्ठन्' आदि को कार्य होता है, फलतः पर को विहित 'ईयसुन्' आदि का लोप हो जाता है। भूयान्'[९] भूमा[१०] प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार सर्वत्र 'तिङ्ङतिङः'[११] आदि[१२] की निवृत्ति कर लेनी चाहिए।

---

१. अष्टा० ७/२/८२।

२. का० ७/२/८२ के अर्थ में 'अतः' की अनुवृत्ति- अष्टा० ७/२/८०।

३. अष्टा० ७/२/८०।

४. अर्थ, का० ७/२/८० 'आन परे रहते अकारान्त अंग को मुक् का आगम होता है'।

५. 'शि तुक्' अष्टा० ८/३/३१ 'दीर्घात्', 'पदान्ताद्वा'- अष्टा० ६/१/७६।

६. अष्टा० ८/३/३२।

७. 'ङम्' (न्) का 'नुट्' होने पर अपदान्त 'न्' को अष्टा० ८/४/२ से णत्व की प्राप्ति।

८. अष्टा० ६/४/१५८।

९. 'बहु' शब्द से द्व्यर्थ उपपद रहते अतिशायन अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय, बहु का 'भू' आदेश, ईयस् के 'ई' का लोप।

१०. बहु शब्द, इमनिच् प्रत्यय।

११. अष्टा० ८/१/२८ द्र० का० ८/१/२८।

१२. 'ङः सि धुट्' अष्टा० ८/३/२९।

समीक्षा— यह परिभाषा विप्रतिषेध में बलवत्ता का स्पष्टीकरण करती है। सप्तम्यन्त तथा पञ्चम्यन्त निर्देश में किसकी बलवत्ता मानी जाय? इसी का यह निर्णय करती है। यह परिभाषा शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर ने इसी रूप में प्रस्तुत की है।[१] परिभाषा का अर्थ तो सभी ने समान स्वीकार किया है।

इसके हेतु के विषय में नागेश एवं प्राचीनों में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्'[२] सूत्र का ही अर्थ परिभाषा रूप में माना है तथा इसका उपपादन नहीं किया है।[३] नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने परत्व निरवकाशत्व०-बाध की बोधिका यह परिभाषा मानी है तथा इसका विस्तार से उपपादन भी किया है।[४] नागेश भी इन्हीं के अनुसार उक्त परत्व तथा अनवकाशत्व रूप बाध से ही सिद्ध परिभाषा मानते हैं। नागेश अनवकाश तथा परत्व से बाध का उदाहरण प्रदर्शित करते हुए इसका प्रवृत्ति विषय भी स्पष्ट करते हैं। इसी प्रकार पुरुषोत्तमदेव ने उभयनिर्देश से पञ्चम्यर्थ और सप्तम्यर्थ अर्थात् श्रौती और पठित दोनों अर्थों का गृहीत होना माना हैं। नागेश ने स्पष्ट नहीं किया है। इसी प्रकार परिभाषा की प्रवृत्ति कहाँ नहीं होती, इसका स्पष्ट विवेचन सीरदेव ने किया है। नागेश ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। गदाकार ने स्पष्ट करते हुए इसको अनित्य माना है।[५] सीरदेव कृत व्याख्या अधिक विस्तृत होने से अधिक स्पष्ट है।

(२४) सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्।।प०७४।।

परिभाषा का उपक्रम— 'तस्यापत्यम्'[६] इस सूत्र में 'तस्य' यह पुल्लिंग में षष्ठी का एक वचन है और 'अपत्यम्' शब्द नपुंसकलिङ्ग एकवचनान्त पठित है। अत: इस निर्देश के अनुसार गर्गस्य गोत्रापत्ये- 'गार्ग्यौ'[७] यह प्रयोग नहीं बनना चाहिए। इसी प्रकार कन्याया अपत्यम् 'कानीन:'[८] यहाँ स्त्रीलिङ्ग कन्या शब्द से कानीन शब्द नहीं सिद्ध होना चाहिए, इसके लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— सूत्र में लिङ्ग तथा वचन अतन्त्र (अविवक्षित) होते हैं।

---

१. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। २. अष्टा० १/४/२।

३. पुरुषोत्तमवृत्ति परि०सं० ६३, सीरदेववृत्ति, परि०सं० २३।

४. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ३७, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० २३।

५. गदा, पृ० १६१। ६. अष्टा० ४/१/९२।

७. 'गर्ग से दो गोत्रापत्य' अर्थ को कहने में भी यञ्, आदि-वृद्धि-अ लोप होकर प्र०वि०द्वि० का रूप।

८. कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' तथा कनीन आदेश।

परिभाषा का आशय— जहाँ सूत्र में, स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग अथवा नपुंसकलिङ्ग से तथा एकवचन, द्विवचन, बहुवचन से निर्दिष्ट कार्य किए जाते हैं, वहाँ उसी पठित लिङ्ग अथवा वचन से कार्य लिया जाता है, ऐसा नियम नहीं समझना चाहिए। किन्तु एक किसी लिङ्ग अथवा वचन से शब्द पठित होने पर सभी लिङ्गों एवं वचनों से कार्य हो सकते हैं।

परिभाषा का ज्ञापक— 'अर्धं नपुंसकम्'[१] इस सूत्र में 'नपुंसक-ग्रहण' इस परिभाषा का ज्ञापक है। लिङ्ग के अविवक्षित होने से विशेष-विवक्षा में 'नपुंसक' शब्द चरितार्थ हो जाता है। अन्यथा 'अर्धम्' के नपुंसक-लिङ्ग में पाठ से ही नपुंसक-लिङ्ग 'अर्ध' शब्द का अवयवी वाची के साथ तत्पुरुष समास हो जाता, नपुंसक ग्रहण व्यर्थ होता। यदि यह कहें कि नित्य नपुंसक लिङ्ग के बोध के लिए नपुंसक ग्रहण[२] किया है, जिससे कि समाश वाची अर्ध शब्द लिया जाय, तो यह कथन भी ठीक नहीं है। 'एओङ्'[३] इत्यादि[४] सूत्रों में समांश अर्थ में भी 'अर्ध एकार:, अर्ध ओकार:' में भाष्यकार ने समांशवाची 'अर्ध' शब्द का पुलिङ्ग में प्रयोग किया है। फलत: इस समांशवाची 'अर्ध' शब्द की नित्य नपुंसकता अप्रामाणिक है, अत: नपुंसक ग्रहण ज्ञापक ही है।[५]

परिभाषा की सिद्धि में हेतु—यह परिभाषा न्यायसिद्ध है। 'धान्यपलालन्याय'[६] से प्रातिपदिकार्थ बिना लिङ्ग एवं संख्या के निर्देश के हो ही नहीं सकता, अत: सूत्र में किसी न किसी लिङ्ग अथवा वचन का उपादान करना ही होता है। वहाँ उपात्त लिङ्ग एवं वचन की विवक्षा नहीं होती है।[७] (विवक्षा विशेष होने पर आकडारादेका संज्ञा आदि में 'एका' ग्रहण चरितार्थ होता है)।

परिभाषा का प्रयोजन— सूत्र में लिङ्ग तथा वचन प्रधान न होने से 'तस्यापत्यम्'[८] सूत्र से लिङ्गान्तर तथा वचनान्तर से भी अपत्य अर्थ में प्रत्यय सिद्ध होते हैं— गार्ग्य:, गार्ग्यौ आदि। इसी प्रकार कानीन:' शब्द, स्त्री लिङ्ग 'कन्या' शब्द

---

१. अष्टा० २/२/२।

२. दीक्षितमत, सि०कौ० तत्त्वबोधिनी पृ० ७१३ एवं श०कौ० सीरदेववृत्ति परि०सं० ३०।

३. म०भा० प्रत्या० सू० ३। ४. म०भा० १/१/४८ 'एच इग्घ्रस्वादेशे'।

५. गूढार्थ०, पृ०३९५, गदा, पृ० १६५, 'न तदिति०' व्याख्या एवं श०शे०पृ०।

६. कोई धान्यार्थी अनिच्छया पलाल का भी ग्रहण करता है, क्योंकि उससे पृथक् धान्य तो होता ही नहीं, उसको जितना लेना आवश्यक होता है, उतना ले लेता है, पुन: पलाल आदि का त्याग कर देता है। - द्र०म०भा० ४/१/९२।

७. गूढार्थ०, पृ० ३९४,२९५ गदा, पृ० १६५ श०शे०, पृ०।

८. अष्टा०४/१/९२।

से भी सिद्ध हो जाता है। 'द्वैमातुरः'[१] में द्विवचन से प्रत्ययोत्पत्ति हो जाती है।

समीक्षा— सूत्रों में जिस लिङ्ग और वचन का निर्देश किया गया है, उससे कार्य में तत्तत् लिङ्ग अथवा वचन से ही कार्य होगा या अन्य लिङ्ग एवं वचन वाले शब्दों से कार्य हो जायेगा? इसी का समाधान यह परिभाषा करती है। यह परिभाषा इसी रूप में केवल पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने मानी है। चन्द्र तथा भोज ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[२] नीलकण्ठ ने भी कुछ भिन्न रूप से ही स्वीकार की है।[३]

इस परिभाषा के मूल के विषय में कुछ प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव ने औचित्यमूलक मानते हुए ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है। 'अर्धं नपुंसकम्'[४] में 'नपुंसक' ग्रहण तथा 'आकडारादेका[५] संज्ञा' में 'एका' ग्रहण को ज्ञापक माना है, परन्तु उपपादन नहीं किया है।[६] सीरदेव ने ज्ञापक सिद्ध मानते हुए पुरुषोत्तमदेवोक्त दोनों सूत्रों का ज्ञापक माना है।[७] नीलकण्ठ ने व्याख्यान मूलिका माना है।[८] हरिभास्कर ने ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'अर्धं नपुंसकम्' में 'नपुसंक' ग्रहण तथा 'आकडारादेका संज्ञा' में 'एका' ग्रहण का ज्ञापक प्रस्तुत किया है तथा 'धान्य-पलालन्याय' सिद्ध भी माना है।[९] नागेश ने भी इन्हीं के अनुसार ज्ञापक तथा धान्य-पलाल-न्यायमूलक युक्ति-सिद्ध स्वीकार किया है।[१०] नागेश ने इस परिभाषा का उदाहरण नहीं दिया है। परन्तु पुरुषोत्तमदेव आदि[११] ने विस्तार से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नागेश ने मूल पर ही अधिक ध्यान दिया है। उदाहरण न देने से कुछ काठिन्य का अनुभव अवश्य होता है।

(२५) नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा हयर्थगतिः।।प०७५।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका है कि 'भृशादिभ्यो[१२] भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' सूत्र से अच्व्यन्त 'भृश' आदि प्रातिपादिकों से, च्वि का अर्थ होने पर, भवति अर्थ में

---

१. द्वयोर्मात्रोरपत्यम्—इस अर्थ में 'द्विमातृ+ओस्' से अण् तथा उकार अन्तादेश, रपर 'द्विमातुर्+ओस्+अण्, विभक्ति लोप, आदि वृद्धि होकर निष्पन्न।

२. 'सूत्रे लिङ्गवचनमप्रमाणमविवक्षितत्वात्' चान्द्रपाठ, परि०सं० ७० तथा भोज पाठ, परि०सं० ४७।

३. 'लिङ्गवचनमतन्त्रम्' नीलकण्ठ वृत्ति, परि०सं०४०।

४. अष्टा० २/२/२।

५. अष्टा० १/४/१।

६. पुरुषोत्मवृत्ति, परि॰सं॰११७।

७. सरिद्देवृत्ति, परि०सं० ३०।

८. नीलकण्ठ वृत्ति, परि॰सं॰४०।

९. हरिभास्कर वृत्ति परि०सं० ३०।

१०. गदा, पृ० १६५।

११. सीरदेव, हरिभास्कर।

१२. अष्टा० ३/१/१२।

'क्यङ्' प्रत्यय होता है, अभृशो भृशो भवति- 'भृशायते'[१] तो 'क्व दिवा भृशा[२] भवन्ति' यहाँ भी 'भृश' शब्द से 'क्यङ्' हो जाना चाहिए— ऐसे सन्देह की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— वाक्य में निषेधार्थक नञ् से युक्त और उपमार्थक इव से युक्त पद से उस पदार्थ का बोध होता है, जो उससे भिन्न होने पर भी उसके सदृश हो, क्योंकि लोक में ऐसे शब्दों में ऐसे अर्थ का बोध देखा जाता है।[३]

परिभाषा का आशय— नञ्युक्त जो पद और इवयुक्त जो पद, वह अपने से भिन्न और सदृश अर्थ का बोधक होता है, उसी में शास्त्रीय कार्य होता है। अर्थात् वाक्य में जिस पदार्थ से जिस क्रिया का निषेध होता है, उस पदार्थ से तुल्य धर्म वाले को उसी क्रिया का विधान कर लेना चाहिए। ऐसा ही अर्थ लोक में प्रतीत होता है। परिभाषा में 'सादृश्य' और भेद का पृथक् ग्रहण किया है। यहाँ सादृश्य भेदाघटित सादृश्य है, क्योंकि यहाँ 'अन्य सदृश' शब्द पढ़ा है।[४]

परिभाषा में हेतु— यह उपर्युक्त अर्थ लोक में भी सिद्ध होने से यह परिभाषा लोक-न्याय सिद्ध है। जैसे लोक में किसी को जब यह कहा जाय— 'अब्राह्मणमानय' (अब्राह्मण को लाओ) तो ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि किसी मनुष्य को ही लाता है, क्योंकि ब्राह्मण के तुल्य धर्म वाला मनुष्य ही होता है, किन्तु वह यदि मिट्टी का ढेला ले आता है तो यह नहीं समझा जाता कि उसे जो कार्य करने को कहा गया था, वह उसने कर दिया है। क्योंकि मिट्टी का ढेला यद्यपि ब्राह्मण से भिन्न है, परन्तु तत्सदृश नहीं। क्षत्रियादि ही तद्भिन्न और तत्सदृश है। इसी प्रकार शास्त्रों में भी जिसका निषेध किया है, उसके सदृश दूसरे का विधान करना चाहिए।[५]

परिभाषा का प्रयोजन— प्रकृत 'क्व दिवा भृशा भवन्ति'[६] उदाहरण में 'भृश'

---

१. भृश शब्द, अभूततद्भाव विषय होने पर 'क्यङ्' प्रत्यय, अकार का दीर्घ होकर भृशाय प्रत्ययान्त नामधातु लट्, आत्मनेपद प्र०पु०ए० का रूप।

२. यहाँ भृश शब्द, अभूततद्भाव विषयक नहीं हैं। यहाँ इसका अर्थ 'ये रात्रौ भृशा नक्षत्रादयस्ते दिवा क्व न भवन्ति' है। स्पष्टतः यहाँ भृश की सत्ता विद्यमान है।

३. प०शे०, पृ० ३९६।

४. प०शे०, पृ० ३९७,गूढार्थ०, पृ० ३९७-३९८, गदा०, पृ० १६६ एवं मञ्जूषा, सादृश्य वाद।

५. म०भा० ३/१/१२।

६. 'भृश' शब्द से 'क्यङ्' की प्राप्ति (रात्रि के नक्षत्र दिवस में कहां रहते हैं?) भृश नक्षत्र अर्थ जो पहले था, उसी को कहा रहा है।

च्व्यन्त भिन्न है, पर अभूत-तद्भाव न होने से च्व्यन्त सदृश नहीं है, अत: 'क्यङ्' नहीं हा सकता, उसका प्रसंग ही नहीं क्योंकि सूत्र से 'च्वि' प्रत्ययान्त के तुल्य अर्थ वाले भृशादिकों से 'क्यङ्'[१] होता है। 'च्वि' का अर्थ अभूततद्भाव है, उसी अर्थ में होता है। अत: उपर्युक्त में 'क्यङ्' नहीं होता है तथा दधिच्छादयति'[२] आदि प्रयोगों में 'तुक्'[३] आगम का अभक्त न पूर्वान्त और न परादि, दोनों से पृथक् है तो 'अतिङ्' से परे 'तिङ्' पद को निघात 'तिङ्ङतिङ:'[४] सूत्र से होना चाहिए। इस परिभाषा से 'तुक्' 'तिङ्' से भिन्न 'तिङ्' के तुल्य धर्म वाला पद नहीं है, इससे निघात नहीं प्राप्त है और निघात इष्ट है। इसलिए 'तुक्' को अभक्त न करके पूर्वान्त[५] ही करना चाहिए। ये अनेक प्रयोजन हैं। इसी प्रकार इव युक्त का प्रयोग भी 'सोम्य:' 'शाखादिभ्यो[६] य:'[७] सूत्र से 'इव' अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। सोम के सदृश तद्भिन्न प्रतीत होता हैं, यह अर्थ ज्ञात हो जाता है।[८]

परिभाषा के विषय में अन्यों[९] का मत— सीरदेव आदि 'ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्'[१०] सूत्र के विभक्ति-ग्रहण से इसकी अनित्यता स्वीकार करते हैं, जिससे 'असूर्यम्पश्या' इत्यादि में प्रसज्ज्य-प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है। **नागेश मत**— नागेश के अनुसार उक्त सूत्र अनित्यता का ज्ञापक नहीं है। किन्तु उक्त सूत्र में 'विभक्तौ' का ग्रहण इसके अनित्यत्त्व का ज्ञापक न होकर, परिभाषा द्वारा प्रतिष्ठापित अर्थ का 'अनुवाद मात्र' है। यह परिभाषा नित्य है, इसलिए भाष्य में 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्'[११] सूत्र में 'कारके' का ग्रहण व्यर्थ बतलाया गया है। 'अकर्तरि' कहने से कर्तृ-भिन्न कारक ही लिया जा सकता है। फलत: यह परिभाषा न्याय-सिद्धार्थ का अनुवाद मात्र है तथा नित्य है।[१२]

---

१. अष्टा० ३/१/१२।

२. 'दधि+छादयति' का योग होने पर 'छ' से पूर्व 'तुक्' तथा उसका श्चुत्व होकर निष्पन्न।

३. 'छे च' अष्टा० ६/१/७३। ४. अष्टा० ८/१/२८।

५. म०भा० १/१/४६।

६. 'सोमसदृशस्तद्भिन्न इव प्रतीयते'; इस अर्थ में 'सोम' शब्द से 'य' प्रत्यय होकर निष्पन्न रूप।

७. अष्टा० ५/३/१३२।

८. मञ्जूषा, सादृश्यवाद निपातार्थ प्रकरण।

९. सीरदेव, पुरुषोत्तमदेव आदि। १०. अष्टा० ६/३/१३२।

११. म०भा० ३/१/१९। १२. प०शे० पृ० ३९६।

समीक्षा— शास्त्र में जिसका निषेध किया गया हो, उससे भिन्न किस प्रकार के शब्द का ग्रहण होता है, इसी का प्रतिपादन इस परिभाषा में किया गया है। यदि जिस पदार्थ को जिस क्रिया अथवा वस्तु का निषेध किया गया हो, उससे भिन्न रूप जिस किसी से भी विधान करते हैं तो दोष के अति प्रसंग की प्राप्ति होती है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर के द्वारा व्याख्यात है।[१] हेम तथा भोज ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[२] इस परिभाषा के अर्थ के विषय में नागेश एवं प्राचीनों में मतभेद है। व्याडि, कातन्त्र, जैनेन्द्र तथा नीलकण्ठ ने अन्य का भिन्न अर्थ मानते हुए व्याख्या की है। नागेश ने इन्हीं के अनुसार अर्थ स्वीकार किया हैं। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने अन्य को 'अन्यत्' के सप्तमी विभक्ति प्रतिरूपक निपात मानकर प्रतीति (लाक्षणिक) अर्थ मानते हुए व्याख्या की है।[३] परन्तु नागेश ने इस अर्थ को अयुक्त मानते हुए अर्थ का स्पष्ट कथन किया है।[४] परिभाषा के मूल के विषय में भी प्राचीनों एवं नवीन में मतभेद है। व्याडि ने ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'सिपि धातोरुर्वा'[५] सूत्र में 'धातु' ग्रहण के ज्ञापकत्त्व का उपपादन किया है।[६] कातंत्र ने भी ज्ञापक सिद्ध माना है।[७] जैनेन्द्र ने युक्ति सिद्ध माना है।[८] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने लोकन्यायसिद्ध मानते हुए विस्तार से उपपादन किया है।[९] नागेश ने भी लोक-न्याय-सिद्ध स्वीकार किया है।

पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर तथा नीलकंठ ने इस परिभाषा को प्रायिक तथा अनित्य माना है एवं इसका ज्ञापक 'अकर्तरि च कारके०'[१०] तथा 'ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्'[११] सूत्रों में कारक तथा विभक्ति ग्रहण को माना है। परन्तु नागेश ने इनसे असहमत होते हुए भाष्य प्रमाण सहित उक्त मत अनित्यत्त्व के ज्ञापकता का खण्डन कर दिया है। इनके मतानुसार उक्त सूत्रों में कारक एवं विभक्ति ग्रहण इस न्याय-सिद्ध अर्थ का अनुवाद ही है, ऐसा समझना चाहिए। इस परिभाषा के प्रयोजन स्वरूप उदाहरण सभी ने प्रस्तुत किये हैं। परन्तु नागेश ने एक को छोड़कर अन्य कोई उदाहरण नहीं लिखा है। इस प्रकार नागेश की व्याख्या में परिभाषा का अर्थ स्पष्टत:

---

१. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

२. 'नञ्युक्तस्य तत्सदृशे' हेम पाठ, परि०सं० ९४, भोजपाठ, परि० सं० ७६।

३. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ९७, सीरदेव वृत्ति, परि०सं० ३१।

४. गदा, पृ० १६५-१६६।

५. अष्टा० ८/२/७४।

६. व्याडिपाठ, परि०सं० ५४।

७. कातंत्र पाठ, परि०सं० ४९।

८. जैनेन्द्र पाठ, परि०सं०९७।

९. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

१०. अष्टा० ३/३/१९।

११. अष्टा० ६/३/१३२।

कहा गया है, इतना स्पष्ट पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं कहा है। प्रसंगत: अन्य सदृश के अर्थ का भी स्पष्टीकरण किया है।

(२६) निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य।।प०८२।।

(२७) तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य।।प०८३।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रस्तुत दोनों परिभाषाएँ एक दूसरे से अत्यन्त सापेक्ष हैं। अत: नागेश ने दोनों को साथ ही पढ़कर व्याख्यान किया हैं। दोनों का उपक्रम भी एक साथ ही प्रस्तुत किया है। शंका यह है कि यदि 'पुरणगुणसुहितार्थसदव्यय-तव्यसमानाधिकरणेन'[१] सूत्र में तव्य से तव्यत् का भी ग्रहण हो, तो तव्यत्[२] प्रत्ययान्त के साथ भी षष्ठी समास का निषेध प्राप्त होता है। 'दिव औत्'[३] सूत्र में यदि 'दिव्' से 'क्विबन्त' 'दिव्' धातु का भी ग्रहण हो तो 'अक्षदिव्' से भी 'सु' परे रहते 'दिव्' को 'औ' अन्तादेश प्राप्त होता है। यदि 'यतोऽनाव:'[४] सूत्र में 'यत्' से 'ण्यत्' का भी ग्रहण हो तो ण्यत् प्रत्ययान्त को भी आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि 'ऋदृशोऽङि गुण:'[५] सूत्र से अनुवृत्त 'अङ्' परे होने पर जैसे 'श्वयतेर:'[६] सूत्र से 'श्वि' को अकार अन्तादेश होता है, वैसे ही 'चङ्'[७] परे होने पर भी प्राप्त होता है (क्योंकि तव्यत्, तव्य आदि में अनुबन्ध-कृत भेद है, प्रयोगस्थ प्रत्यय तो एक समान हैं) इसके समाधान के लिए ये परिभाषायें है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अनुबन्ध रहित प्रयोगों के ग्रहण में अनुबन्ध सहितों का ग्रहण नहीं हो सकता है। अर्थात् सूत्र में जब अनुबन्ध रहित प्रत्यय का पाठ है तो वह सानुबन्धक प्रत्यय का बोधक नहीं होता। जिस अनुबन्ध से जो प्रत्यय पठित है, उससे भिन्न अनुबन्ध के सहित प्रत्यय का ग्रहण नहीं होता अर्थात् सूत्र में जब कोई प्रत्यय अथवा अप्रत्यय एक वा दो अनुबन्धों के साथ पढ़ा गया है तो वह उस एक अथवा दो अनुबन्धों से अतिरिक्त अनुबन्ध वाले प्रत्यय आदि का बोध नहीं कराता है।

परिभाषा का ज्ञापक— 'वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ'[८] इस सूत्र में 'ड्यत्' प्रत्ययों का डित्करण इन दो परिभाषाओं का ज्ञापक है। यह 'डित्' इसलिए किया है कि 'ययतोश्चातदर्थे'[९] सूत्र में ड्य, ड्यत् का ग्रहण न हो। यदि य और यत् से ड्य और

---

१. अष्टा० २/२/११।

२. 'तव्यतव्यानीयर:' अष्टा० ३/१/९६, 'स्वकर्तव्यम्' में निषेध प्राप्त होता है।

३. अष्टा० ६/१/८४। ४. अष्टा० ६/१/२१३।

५. अष्टा० ७/४/१६। ६. अष्टा० ७/४/१८।

७. अष्टा० ३/१/४८ से 'चङ्' प्रत्यय तथा 'अशिश्वियत् 'चङ्' प्रत्ययान्त में भी।

८. अष्टा० ४/२/९। ९. वही, ६/२/१५६।

ड्यत् का भी ग्रहण हो जाय तो डित्करण व्यर्थ हो जाय। ड्य और ड्यत् में 'डित्व टेः'[१] सूत्र से टि- भाग के लोप के लिए है, यदि ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि टि-लोप तो 'यस्येति[२] च' सूत्र से सिद्ध है। पुनः 'डित्' करण व्यर्थ है, अतः परिभाषा के ज्ञापन के अतिरिक्त इसका कोई प्रयोजन नहीं। उक्त सूत्र का अर्थ है— "नञ् से परे य, यत् प्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त स्वर होता है"।[३] इस प्रकार 'ययतोश्चातदर्थे' सूत्र के निरनुबन्धक 'य' से सानुबन्धक 'ड्य' का ग्रहण नहीं हो सकता और एकानुबन्धक 'यत्' से द्वयनुबन्धक 'ड्यत्' का बोध नहीं हो सकता।

उक्त ज्ञापक का फल— निरनुबन्धक 'य' से सानुबन्धक 'ड्य' का तथा एकानुबन्धक 'यत्' से द्वयानुबन्धक 'ड्यत्' का ग्रहण न होने से 'अवामदेव्यम्'[४] में 'ययतोश्चातदर्थे' सूत्र में 'य्' और 'यत्' से ड्य और ड्यत् का ग्रहण न होने से अन्तोदात्त स्वर नहीं होता, किन्तु 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०'[५] सूत्र से अव्यय पूर्वपद प्रकृति स्वर ही होता हैं, इसलिए डित् ग्रहण का सार्थक होना स्वार्थ में चरितार्थ है।

परिभाषाओं का प्रवृत्ति स्थल— ये दोनों परिभाषाएँ प्रत्यय और अप्रत्यय विषय में समान रूप से प्रवृत्त होती हैं। **(क) प्रथम परिभाषा**— 'दिव औत्' सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा संचारित है। 'दिव्' प्रातिपदिक अव्युत्पन्न होने से निरनुबन्धक है, अतः 'अक्षदिव्' में सानुबन्धक होने से 'औ' अन्तादेश नहीं होता है। सूत्र के ड्य, ड्यत् के डित्करण रूप प्रमाण से यह परिभाषा, ज़िस एक अनुबन्ध से अथवा दो अनुबन्धों से प्रत्ययादि सानुबन्धक होते हैं उसके अथवा उनके अनुच्चारण में प्रवृत्त होती है।[६] **(क) उपर्युक्त अर्थ का लाभ**— अतएव 'जश्शसोः[७] शिः' सूत्र में शस् से 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्'[८] इत्यादि से विहित निरनुबन्धक तद्धित 'शस्' का ग्रहण होना चाहिए, यह शंका व्यर्थ है। यहाँ 'श्' अनुबन्ध का तद्धित 'शस्' में अनुच्चारण नहीं है, किन्तु उच्चारण है।

(ख) द्वितीय परिभाषा— दो में से एक अथवा तीन अनुबन्धों में से दो के उच्चारण होने पर ही प्रवृत्त होती है।[९] **(अ) उपर्युक्त अर्थ का लाभ**— 'वन्ने

१. अष्टा०, ६/४/१४३।

२. वही, ६/४/१४८, द्र०का० ६/२/१५६।

३. 'वामदेवेन दृष्टं साम' इस अर्थ में वामदेव से ड्य अथवा ड्यत् होकर 'वामदेव्यम्' बनता है। पश्चात् नञ् के साथ समस्त 'अवामदेव्यम्' निष्पन्न।

४. अष्टा०। ५. म०भा० ७/१/८४।

६. गूढार्थ० पृ० ४१२-४१३, गदा, पृ० १०५ एवं प०शे०, पृ० ४१३।

७. अष्टा० ७/१/२०। ८. अष्टा० ५/४/४२।

९. म०भा० ८/३/१। तथा प्र० भी 'वनः पर टि० एवं गदा, पृ० १७५, गूढार्थ० पृ० ४१४।

र[१] च' सूत्र में किसी एक भी अनुबन्ध का उच्चारण न होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, अत: ङ्वनिप्, क्वनिप्[२] दोनों का ग्रहण हो जायेगा।

परिभाषा की अप्रवृत्ति— 'औङ्[३] आप:' सूत्र के भाष्य से विदित होता है कि इन परिभाषाओं की वर्ण ग्रहण में प्रवृत्ति नहीं होती है। यहाँ 'औङ्' में ङ् अनुबन्ध नहीं है, मुख सुखार्थ ङकार पढ़ा है।[४]

अन्यों द्वारा प्रतिपादित द्वितीय परिभाषा का अर्थ— कुछ लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि 'एकानुबन्धक का ग्रहण संभव होने पर द्वयनुबन्धक का ग्रहण नहीं होता'।[५] **नागेश का मत**— इनके अनुसार उक्त अर्थ भाष्य सम्मत नहीं है।[६] यदि ऐसा अर्थ स्वीकार किया जाय तो 'अणिनुण:'[७] सूत्र में एकानुबन्धक का ग्रहण असंभव होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, अत: 'घिनुण्'[८] का भी ग्रहण होना चाहिए।

परिभाषा का प्रयोजन— प्रथम परिभाषा का प्रयोजन— इसके होने से 'पूरणगुणसुहितार्थ०'[९] इस षष्ठी समास के निषेध में निरनुबन्धक का ग्रहण है। सानुबन्धक तव्यत् का नहीं। तथा 'दिव् औत्'[१०] सूत्र से दिवु क्रीडाविजिगीषा आदि अर्थों में पठित दिव् धातु को औत्व नहीं होता, 'अक्षद्यू: में नहीं हुआ। इसी प्रकार 'यतोऽनाव:'[११] सूत्र से 'ण्यत्' सानुबन्धक का ग्रहण नहीं होता, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

द्वितीय परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'श्वयतेर:'[१२] से 'अङ्' प्रत्यय के निमित्त से विधीयमान अकार आदेश चकारानुबन्धकविशिष्ट 'चङ्' के परे नहीं होता है, 'अशिश्वियत्' में नहीं होता है। इसी प्रकार 'चङि'[१३] में चकार से युक्त प्रत्यय निमित्त के द्विर्वचन होता है, चकार से शून्य 'अङ्' के निमित्त से नहीं हाता

---

१. अष्टा० ४/१/७। २. अष्टा० ३/२/७४ से उक्त प्रत्यय।

३. म०भा० ७/२/१८।

४. गूढार्थ०, पृ० ४१३ तथा प्र० ७/१/१८।

५. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर कृत ग्रन्थ।

६. म०भा० ८/३/१ एवं द्र गदा, पृ० १७५, गूढार्थ०, पृ० ४१४।

७. अष्टा० ५/४/१५।

८. अष्टा० ३/२/१४१, ३/२/१४५ सूत्रों से विहित विलासी, प्रलापी आदि घिनुणन्त में 'अण्' की प्राप्ति।

९. अष्टा० २/२/१। १०. वही, ७/१/८४।

११. अष्टा० ६/१/२१३। १२. वही, ७/४/१८।

१३. वही, ६/१/११।

है, अदर्शत्'। इस प्रकार यत् कहने से ण्यत्, अङ् कहने से चङ्, अच् कहने से णच् का ग्रहण नहीं होता— इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— ये दोनों परिभाषाएँ अनुबन्धरहित प्रयोगों के ग्रहण में तथा अनुबन्धयुक्त के ग्रहण में व्यवस्था प्रस्तुत करती हैं। अनुबन्धों के ग्रहण में क्या भिन्न अनुबन्ध वाले का ग्रहण हो सकता है? अथवा अनुबन्ध रहित के ग्रहण में क्या अनुबन्ध युक्त का ग्रहण हो सकता है? आदि ही इसके प्रतिपाद्य विषय हैं।

ये परिभाषाएँ इसी रूप में तथा इसी क्रम में केवल नीलकण्ठ ने स्वीकार करके पढ़ी है। नागेश ने भी इसी का अनुकरण किया है। अन्य परिभाषा—व्याख्याताओं ने भिन्न-भिन्न क्रम तथा पाठ स्वीकार किये हैं। इन लोगों ने इस विषय की तीन परिभाषाएँ 'निरनुबन्धक', 'एकानुबन्धक०', 'तदनुबन्धक०', रूप में स्वीकार की हैं। व्याडि तथा चन्द्र ने भिन्न रूप तथा क्रम के 'एकानुबन्धग्रहणें न द्वयनुबन्धकस्य', 'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य' इस रूप में स्वीकार किया है।[१] शाकटायन ने भिन्न रूप में तीन परिभाषाएँ मानी हैं।[२] कातंत्र ने केवल एक परिभाषा 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्य-ग्रहणम्' के रूप में पढ़ी है।[३] जैनेन्द्र ने भिन्न क्रम में 'एकानुबन्ध०' तथा निरनुबन्धकस्य०' के रूप में पाठ किया है।[४] भोज तथा हेम ने 'निरनुबन्धकग्रहणे०' तथा 'एकानुबन्धक-ग्रहणे०' रूप में मानी है।[५] हेम ने 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्येन' रूप में एक स्वतन्त्र परिभाषा भी मानी है।[६] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने निरनुबन्धकग्रहणे' तथा 'एकानुबन्धकग्रहणे०' रूप क्रम से दोनों का एकत्र ही पाठ माना है तथा 'तदनुबन्धकग्रहणे', नातदनुबन्धकस्य रूप में भी परिभाषा मानी है।[७] इन परिभाषाओं के ज्ञापक के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में किंचित् मतभेद है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'वामदेवाड्ड्यड्यौ'[८] सूत्र में ड्यत्, ड्य का डित्करण इसका ज्ञापक माना है तथा इसका उपपादन भी किया है। कातंत्र ने भिन्न ज्ञापक माना है।[९] जैनेन्द्र ने न्याय सिद्ध मानते हुए दोनों परिभाषाओं की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। नागेश ने पुरुषोत्तमदेव आदि का अनुकरण करते हुए उक्तसूत्र में ड्यत्, ड्य

---

१. व्याडि पाठ, परि०सं० ४६-४७ तथा चान्द्रपाठ परि०सं० ५६।

२. शाकटायन पाठ, परि०सं० ४७,४८,४९।

३. कातंत्र पाठ, परि०सं०४५। ४. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० २२-२३।

५. भोजपाठ, परि०सं० ८१-८२, हेमपाठ, परि०सं० ३२-३३।

६. हेमपाठ, परि०सं०७२।

७. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ३६,३७,३८। सीरदेववृत्ति, परि०सं० ५०,५१,५२। हरिभास्कर वृत्ति, परि०सं० ५२,५३,५४।

८. कातंत्र पाठ, परि०सं०४५। ९. व्याडिपाठ, परि०सं० ४६-४७।

का 'डित् करण' ज्ञापक माना है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने 'तदनुबन्धक०' परिभाषा को तत्तत् अनुबन्धकरण सामर्थ्य-लब्धार्थानुवाद मानी है तथा उसका प्रयोजन भी प्रस्तुत किया है। परन्तु नागेश ने भाष्यप्रमाण पूर्वक इस हेतु का खण्डन करते हुए 'एकानुबन्धक०' परिभाषा का पृथक् पाठ ग्रहण को अयुक्त माना है।

परिभाषा की विषय-प्रवृत्ति तथा अप्रवृत्ति का कथन सभी ने सोदाहरण किया है। व्याडि, जैनेन्द्र तथा कातंत्र ने प्रवृत्ति विषय तथा अप्रवृत्ति विषय का कथन नहीं किया है।[१] पुरुषोत्तमदेव ने प्रवृत्ति का कथन न करके अप्रवृत्ति का कथन करते हुए वर्ण-ग्रहण में प्रवृत्ति नहीं होती है, यह प्रतिपादित किया है। सीरदेव ने दोनों का पृथक्-पृथक् प्रवृत्ति विषय तथा अप्रवृत्ति विषय का कथन प्रस्तुत किया है। इन्होंने अति विस्तृत शंका समाधानपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की हैं, किन्तु पुनरपि परिभाषा का विषय स्पष्ट नहीं होता है।[२] नीलकण्ठ ने केवल इसकी प्रवृत्ति तथा अप्रवृत्ति का कथन मात्र किया है। इसका उपपादन सोदाहरण नहीं किया है। उन्होंने वर्ण-ग्रहण में अप्रवृत्ति तथा प्रत्यय तथा अप्रत्यय विषयक माना है।[३] हरिभास्कर इस विषय में मौन हैं। नागेश ने भी नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए वर्ण ग्रहण में अप्रवृत्ति एवं प्रत्यय तथा अप्रत्यय विषय में प्रवृत्ति मानी है। इसका इन्होंने अति विस्तार से स्पष्टीकरण करते हुए सप्रमाण सोदाहरण परिभाषा का विषय स्पष्ट किया है। इस प्रकार नागेश ने पूर्ववर्ती सभी परिभाषा व्याख्याकारों के आशय का युक्तायुक्त विवेचन करते हुए उत्तम व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे परिभाषा का सम्पूर्ण विषय स्पष्ट हो जाता है।

(२८) धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति।।प०८९।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'कंसपरिमृड्भ्याम्'[४] इत्यादि प्रयोगों में 'भ्याम्' प्रत्यय के परे 'मृजेर्बृद्धिः'[५] सूत्र से बृद्धि होनी चाहिए? क्योंकि क्विबन्त धातु ही होते हैं,[६] तो यहां मृज् धातु पढ़ा है उससे परे 'भ्याम्' प्रत्यय है, अतः मृज् के 'ऋ' को बृद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रकार रज्जुसृड्भ्याम्, उदकमगभ्याम्, 'वार्त्रध्नः, देवगिरौ इत्यादि में भी अम्,[७] नुम्,[८] तत्व,[९] लत्व[१०] आदि की आपत्ति होती है?

---

१. व्याडि पाठ, परि॰सं॰४६-४७। २. सीरदेववृत्ति, परि॰सं॰५०,५१,५२।

३. नीलकण्ठ वृत्ति, परि०सं० ६९-७०।

४. कंस परिपूर्वक मृज् धातु, क्विप्, सर्वापहारी लोप, कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा तृतीया वि०द्वि० में भ्याम्, ज् का ष् तथा उसका ड् होकर निष्पन्न रूप।

५. अष्टा० ७/२/११४। ६. 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति'।

७. अष्टा० ६/१/५८। ८. वही, ७/१/६०।

९. 'हनस्तोऽचिण्णलोः' अष्टा० ७/३/३२।

१०. 'अचि विभाषा' अष्टा० ८/२/२१।

इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— (सामान्य-रूप से एवं विशेष-रूप से गृहीत) धातु सम्बन्धी प्रत्यय निमित्तक कार्य, उस प्रत्यय के परे रहते होता है जो धातु से परे विधान किया जा सकता है।

परिभाषा का आशय—जो धातु को कार्य कहा गया है, वह उसी धातु से विहित प्रत्यय के परे हो, अर्थात् धातु का कार्य प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय के परे नहीं हो सकता है।

परिभाषा के पाठ के विषय में प्राचीनों[१] का मत— पूर्ववर्ती व्याख्याकारों ने इसी परिभाषा को इस रूप में पढ़ा है- 'धातोः स्वरूपग्रहणे' तत्प्रत्यये कार्य विज्ञानम्'[२] अर्थात् जब धातु विशेष का ग्रहण करके धातु सम्बन्धी कार्य विधान किया जाता हो, तो वह तभी होता है जब धातु से परे ऐसा प्रत्यय हो, जो धातु से परे विधान किया जाता हो'।

नागेश का मत— इनके मतानुसार यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह भाष्य[३] में दूषित है, क्योंकि इस पाठ को स्वीकार करने पर 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्'[४] सूत्र से वैकल्पिक अमागम 'प्रसृड्भ्याम्' में भी होने लगेगा, क्योंकि उक्त सूत्र में 'सृज्' का स्वरूपेण ग्रहण नहीं है। अतः 'भ्याम्' से परे रहते भी निर्बाध 'अम्' होगा। अतः यह ठीक नहीं है।[५]

परिभाषा का ज्ञापक— 'दाण्डिनायनहास्तिनायन०'[६] आदि सूत्र में 'भ्रौणहत्य' में 'भ्रूण+हन्' के नकार के स्थान में तकार आदेश का निपातन करना इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'नस्तद्धिते'[७] सूत्र से विधीयमान टि-लोप को बाधकर 'हनस्तोऽचिण्णलोः'[९] सूत्र से 'ष्यञ्'[१०] परे रहते न् के स्थान मं त् हो जाता, पुनः निपातन व्यर्थ रहता तथा परिभाषा के होने पर हन् धातु को कहा तकारादेश 'भ्रौणहत्य' में प्रातिपदिक से विहित तद्धित 'ष्यञ्' के परे नहीं हो सकता, अतः सार्थकता स्पष्ट ही है।[११]

---

१. भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, नीलकण्ठ।

२. वा०म०भा० ७/२/१४ ३. म०भा० ७/२/१४।

४. अष्टा० ६/१/५९।

५. प०शे०पृ० ४३३ तथा द्र०म०भा० ७/२/१४।

६. अष्टा० ६/४/१७४। ७. अष्टा० ६/४/१४४।

८. अष्टा० ६/४/१४४। ९. अष्टा० ७/३/३२।

१०. वही, ५/१/१२४। ११. गदा०, पृ०१८७, गूढार्थ०, पृ०४३३।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त— जो कार्य प्रत्यय निमित्तक है, वह कार्य हो अथवा न हो इसकी व्यवस्था यह परिभाषा करती है। सप्तम्यन्त पद द्वारा जहाँ प्रत्यय का निमित्तत्त्व है, वहाँ अनियम के प्रसंग में यह परिभाषा नियम करती है।[१] अत: 'प्रणग्-भ्याम्' (प्र+नश्+भ्याम्) में 'नशेर्वा'[२] सूत्र से कुत्व (श् का ख्) हो ही जाता है, क्योंकि यह कुत्व प्रत्यय निमित्तक नहीं, किन्तु पदान्त-निमित्तक है। लेकिन नुम् 'मस्जिनशोर्झलि'[३] सूत्र से प्रत्यय की अपेक्षा रखने से अधातु से परे जो भ्याम् आता है, उससे पूर्व नहीं होता है।

परिभाषा का अप्रवृत्ति स्थल— यह परिभाषा 'इयङ्' आदि विधियों में नहीं प्रवृत्त होती हैं। धातु को 'इयङ्' और यण् अधातु से विहित प्रत्यय के निमित्त होने पर भी हो जायेंगे, क्योंकि 'न भूसुधियो:' सूत्र में 'सुधी' का निषेध इस परिभाषा के अनित्यत्व का ज्ञापक है। यदि परिभाषा की प्रवृत्ति नित्य होती है तो यण् का निषेध सिद्ध ही था, 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'[५] सूत्र में 'सुपि अचि' यण् का विधान है, उसको पुन: 'न भूसुधियो:'[४] से क्यों कहते है। 'अचि श्नुधातु०' में यदि परिभाषा प्रवृत्त होती तो सूत्र में 'सुधियो:' यह निर्देश भी अनुपपन्न होता।[७]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने पर धातु को कहा गया कार्य प्रातिपदिक से विहित प्रत्यय के परे न होने से 'कंसपरिमृड्भ्याम्' में प्रातिपदिक से विहित 'भ्याम्' विभक्ति के परे मृज् धातु को कही बृद्धि[८] नहीं होती है। इसी प्रकार 'रज्जुसृड्भ्याम्' आदि में झलादि अकित् विभक्ति के परे सृज् धातु को 'अम्' आगम[९] नहीं होता। इसी प्रकार 'वार्त्रध्न:' तथा देवगिरौ में क्रमश: हनस्तोऽचिण्ण्लो:[१०] तथा अचि विभाषा[११] सूत्रों से तकार एवं वैकल्पिक लत्त्व नहीं होता, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा प्रत्यय परे रहते धातु के कार्य के विषय में व्यवस्था का निश्चय करती है। धातु का कार्य उसी धातु से विहित प्रत्यय के परे होता है, अन्य से विहित प्रत्यय के परे नहीं, यही इसका प्रतिपाद्य है। यह परिभाषा इसी रूप में पूर्ववर्ती किसी ने भी नहीं मानी है। सीरदेव तथा हरिभास्कर ने 'एव' शब्द के पाठ सहित माना

---

१. प०शे० पृ० ४३३। २. अष्टा० ८/२/६३।
३. वही, ७/१/६०। ४. अष्टा० ६/५/८५।
५. अष्टा० ६/४/८२। ६. अष्टा० ६/४/७७।
७. म०भा० ७/२/११४ तथा द्र० गूढार्थ०, पृ० ४३४, गदा, पृ० १८८।
८. अष्टा० ७/२/११४। ९. अष्टा० ६/१/५८।
१०. अष्टा० ७/३/३२। ११. अष्टा० ८/२/२१।

है।[१] जैनेन्द्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, तथा नीलकण्ठ ने भिन्न रूप में परिभाषा मानी है।[२] व्याडि, शाकटायन, चन्द्र तथ कातंत्र ने नहीं प्रस्तुत की है। नागेश ने पुरुषोत्तम आदि के पाठ का उल्लेख करते हुए सहेतुक खण्डन कर दिया है। परिभाषा के अर्थ के विषय में कोई मतभेद नहीं हैं, सभी में समान अर्थ है। इस परिभाषा के ज्ञापक के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कोई मतभेद नहीं है। जैनेन्द्र ने कोई ज्ञापक नहीं माना हैं। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव आदि[३] इसका ज्ञापक 'दाण्डिनायन'[४] सूत्र में भौणहत्य' में त का निपातन मानते हैं। नागेश ने उक्त सूत्र के द्वारा 'भ्रौणहत्व' में तकार निपातन को इसका ज्ञापक माना है। इस परिभाषा की प्रवृत्ति का नागेश ने स्पष्टत: कथन करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्ती पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने साक्षात् प्रवृत्ति निमित्त का कथन न करके अन्य उपायों से उदाहरण सिद्ध किया है। इस परिभाषा की अपवृत्ति-विषय का सभी ने कथन किया है, परन्तु इसमें कुछ मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव 'क्षिय:'[५] इस ज्ञापक से इयङ्, उवङ् में इसकी प्रवृत्ति नहीं मानते हैं। सीरदेव और हरिभास्कर इयङादि विधि में परिभाषा की अप्रवृत्ति मानते हैं। इसके लिए परिभाषा को अनित्य मानते हैं तथा इसका ज्ञापक 'ओ: सुपि'[६] 'वर्षाभ्वश्च'[७] सूत्रों का आरम्भ मानते हैं। नीलकण्ठ ने पदान्त-निमित्तक कार्य में अप्रवृत्ति मानी है। उसका ज्ञापक 'अप्रशान्'[८] यह निषेध माना है। इसी प्रकार इयङादि विधि में भी अप्रवृत्ति के लिए परिभाषा को अनित्य मानते हुए इस अनित्य का ज्ञापक 'न भूसुधियो:'[९] के निषेध को माना है।[१०] नागेश ने इयङादि विधि में अप्रवृत्ति का हेतु परिभाषा की अनित्यता मानी है तथा इसका ज्ञापक 'न भूसुधियो:' को ही माना है तथा पदान्तकार्य में अप्रवृत्ति का तो परिभाषा के प्रत्यय-निमित्तक मानने से ही सिद्ध हो जाता है। इसके लिए इन्होंने पृथक् ज्ञापक की आवश्यकता नहीं समझी है। परिभाषा के प्रयोजनों का जैनेन्द्र और पुरुषोत्तमदेव आदि ने विस्तार से प्रतिपादन किया है। नागेश ने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ ने प्रयोजन स्वरूप कोई उदाहरण नहीं दिया है। नीलकण्ठ की व्याख्या

---

१. 'धातो: कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये एव भवति' सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७४, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७६।

२. 'धातो: स्वरूप ग्रहणे तत्प्रत्यये कार्य-विज्ञानम्' जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० ३१, भोजपाठ, परि०सं० ७५, हेमपाठ, परि०सं० २६, पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ५५, नीलकण्ठ वृत्ति, परि०सं० ८०, तथा जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० ३१।

३. नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

४. अष्टा० ६/४/१७४।

५. अष्टा० ६/४/५९।

६. वही, ६/४/८३।

७. वही, ६/४/८५।

८. वही, ८/३/७।

९. वही, ६/४/८५।

१०. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ८०।

नागेश की व्याख्या कुछ आधार प्रतीत होती है। इन्होंने इसी का स्पष्टीकरण सम्यक् किया है। इस व्याख्या से परिभाषा का विषय स्पष्ट हो जाता है।

(२९) विधिनियम-सम्भवे विधिरेव ज्यायान्।।प०१०९।।

परिभाषा का उपक्रम— इस परिभाषा का उपक्रम नागेश ने नहीं लिखा है तथापि विधि और नियम एकत्र संभव होने पर किसकी प्रवृत्ति होगी? इसके निर्णय के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अपूर्व विधि और नियम दोनों एक शास्त्र के सम्भव हो रहे हों, तो वहां विधि ही बलवान् होती है।

परिभाषा का आशय— यहाँ 'विधि' का अर्थ है— अपूर्व विधान करना। तात्पर्य यह है कि जब यह सम्भव हो कि कोई एक शास्त्र कुछ अपूर्व विधान कर रहा है अर्थात् (अपूर्व) विधि है और यह भी सम्भव हो कि वही शास्त्र अन्यत्र विहितों का नियम कर रहा है अर्थात् नियम विधि है तो वहां विधि मानी जाती है, नियम नहीं। इस शास्त्र में 'परिसंख्या' को भी नियम के नाम से व्यवहृत किया गया है।[१]

परिभाषा का हेतु— इस परिभाषा का अर्थ लाघवमूलक न्याय से सिद्ध है, क्योंकि इस व्याकरण शास्त्र में परिसंख्या को भी नियम के नाम से व्यवहृत किया गया है।[२] अत: परिभाषा में कुछ न्यूनता रूप दोष नहीं है तथा नियम शास्त्रों की विधिमुख से प्रवृत्ति होती है, यह सिद्धान्त है। अत: नियमविधि मानने पर तीन दोष प्रादुर्भूत होते हैं। **(क)** नियम में अश्रुत प्रतिषेध वाक्य की कल्पना करनी होती है अर्थात् नियम का स्वरूप ही ऐसा है कि हमें यह मानना पड़ता है कि जो कार्य विधान किया जाता है, उसका अन्यत्र अभाव होता है। यद्यपि यह अभाव शब्दोक्त नहीं होता, यह एक दोष है। **(ख)** नियम में उक्तानुवाद होता है अर्थात् जो पहले कहीं कहा जा चुका है, उसे पुन: कहा जाता है, यह दूसरा दोष है। **(ग)** नियम में अन्यत्र विहित (प्राप्त) का बाध भी होता है यह तीसरा दोष है।

इस कारण विधि की अपेक्षा नियम-पक्ष गौरवयुक्त है, अत: लाघव के कारण विधि का आश्रयण किया जाता हैं विधि में न प्रापत का बाध हाता है और न उक्तानुवाद। यही लाघव है। इस प्रकार यह परिभाषा लाघव मूलक सिद्ध होती है।[३] **नियम विधि का उदाहरण**— 'उपसर्गात् खल्घञो:'[४] यह नियम विधि है। यह नियम करता है कि लभ् को खल् और घञ् परे रहते लभ् को नुम् नहीं होता, जब लभ् से पूर्व उपसर्ग नहीं, यह अश्रुत अन्यार्थ की निवृत्ति है। साथ ही यहाँ जो नुम् का विधान है, वह पहले

---

१. गूढार्थ०, पृ० ४६१। २. गदा, पृ० २०९।
३. प०शे०, पृ० ४६१, ४. अष्टा० ७/१/६७।

ही 'लभेश्च'[१] सूत्र से कहा जा चुका है, अतः यह उक्तानुवाद भी है।

परिभाषा का प्रयोजन एवं प्रवृत्ति-निमित्त— इस परिभाषा की प्रवृत्ति 'यस्य हलः'[२] सूत्र के भाष्य में दिखायी गई है। 'यस्य हलः' सूत्र में जब संघात 'य' (य्+अ) का ग्रहण माना जाता है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह अपूर्व विधि है? 'य' सम्पूर्ण के लोप का विधान है जो पहले कहीं नहीं किया गया है, अथवा 'य' के अन्त्य अ का लोप, जो पहले ही पूर्व सूत्र 'अतो[३] लोपः' से विहित हो चुका है, उसका नियामक है। नियम करता है कि वह लोप तभी हो, जब य से पूर्व हल् हो। इस संशय में यही निश्चित किया गया है कि यह अपूर्व विधि है, नियम नहीं है।[४] इसी प्रकार इस परिभाषा से 'ह्वावामश्च'[५] सूत्र में सोपसर्गक 'ह्वे' आदि से अण् प्रत्यय सिद्ध होता है। इन्हीं सोपसर्गक 'ह्वे' आदि धातुओं से अण् होता है औरों से नहीं, ऐसा नियम नहीं होता, इत्यादि प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा विधि और नियम की एक साथ संभावना होने पर सन्देह का निवारण करती है। विधि और नियम में विधि बलवान् होकर कार्य करती है, यही परिभाषा का विषय है। हेम, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[६] व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र, भोज, जैनेन्द्र, तथा पुरुषोत्तमदेव ने नहीं मानी है।

परिभाषा का अर्थ तो सभी में समान हैं, परन्तु परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। सीरदेव ने अन्तरंग न्याय-सिद्ध अर्थ मानते हुए विस्तार से प्रमाणपूर्वक उपपादित किया हैं।[७] नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने नियम रूप परिसंख्या के त्रिदोष रूप होने की अपेक्षा विधिलाघवमूलिका परिभाषा मानी है तथा नियम की अपेक्षा विधि की सप्रमाण सोदाहरण व्याख्या मानी है।[८] नागेश ने भी विधि को लाघव मूलक माना है। उन्होंने नीलकण्ठ के अनुकरण पर संक्षेप में हेतु का प्रतिपादन किया है। इस परिभाषा का प्रयोजन सीरदेव तथा हरिभास्कर ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ ने कोई उदाहरण नहीं दिया है। नागेश ने भी कोई उदाहरण नहीं दिया है। इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में व्याख्या की है, परन्तु सीरदेव ने विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

---

१. अष्टा० ७/१/६४। २. म०भा० ६/४/४९।

३. अष्टा० ६/४/४८।

४. गदा, पृ० २१०, म०भा० ६/४/४९, एवं प्र० ८/४/३२।

५. अष्टा० ३/२/२। ६. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

७. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १०९।

८. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ९६, तथा हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १११।

(३०) सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः।।प०११०।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'आशंसायां भूतवच्च'[१] यह सूत्र आशंसा- प्रिय पदार्थ के इच्छा सम्बन्धी भविष्यत् काल में भूतवत् और वर्तमानवत् प्रत्ययों का विधान करता है। (अर्थात् भूतकालिक जिस अर्थ में प्रकृत्ति से जो प्रत्यय कहा है, वह प्रत्यय उसी अर्थ में उसी प्रकृति से होना चाहिए) तथा सामान्यभूत में लुङ्[२] और निष्ठा[३] आदि प्रत्यय होते हैं और अनद्यतन भूत में लङ्[४] तथा परोक्षानद्यतन-भूत में लिट्[५] प्रत्यय होता है। इसमें यह सन्देह होता है कि जैसे भूतकाल के कहने के लिए सामान्य भूतकालिक लुङ् होता है, वैसे ही लङ् और लिट् भी हो जाने चाहिए? क्योंकि वे भी भूत में विहित हैं। अर्थात् भूतवत् से सामान्य का अतिदेश माने या सामान्य, विशेष दोनों का। इसके निर्णय के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जहाँ सामान्य और विशेष दोनों का अतिदेश सम्भव हो अथवा प्राप्त हो, वहां विशेष का अतिदेश नहीं होता है। अर्थात् सामान्य धर्मवान् का अतिदेश जब कहा जाता है, तब विशेष धर्मवान् का अतिदेश नहीं होता है।

परिभाषा का आशय— परिभाषा का आशय यह है कि सामान्य धर्मवान् को निमित्त मानकर जो कार्य अतिदिष्ट किया जाता है, वह विशेष धर्मवान् को निमित्त मानकर नहीं होता। निष्कर्ष यह निकलता है कि सामान्य अतिदेश के सम्भव न होने पर ही विशेष का अतिदेश होता है, यह जानना चाहिए।

परिभाषा का हेतु— नागेश ने इस न्याय का हेतु यह दिया है कि जब कोई पदार्थ हमारी बुद्धि में उपस्थित होता है, उस समय सामान्य धर्म ही उपस्थित होते हैं। विशेष धर्मों की उपस्थापक कारण-सामग्री के उपस्थित न होने से अभी हमें उन विशेष धर्मों का बोध नहीं होता, यही इसका मूल है।[६]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'आशंसायां भूतवच्च'[७] सूत्र से भूतवत् कहने से सामान्य भूत के अतिदेश में विशेषभूत में विहित लङ् एवं लिट् का अतिदेश नहीं होता है। फलतः भूत सामान्य में विहित लुङ् का ही अतिदेश होगा, अनद्यतन भूत रूप विशेष अर्थ में विहित विशिष्ट लङ्, लिट् का अतिदेश नहीं होता है, इत्यादि प्रयोजन हैं।

---

१. अष्टा० ३/३/१३२।
२. अष्टा० ३/२/११०।
३. अष्टा० ३/२/१।
४. अष्टा० ३/२/१११।
५. अष्टा० ३/२/११५।
६. प०शे०, पृ० ४६२।
७. अष्टा० ३/३/१३२।

परिभाषा की अनित्यता— यह परिभाषा अनित्य है। इसकी अनित्यता में 'न ल्यपि'[१] यह सूत्र लिङ्ग है। 'न ल्यपि' सूत्र 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि'[२] सूत्र से प्राप्त ईत्व का निषेध करता है। जब तक ल्यप् कित् न हो अर्थात् क्त्वा का जो विशेष धर्म कित्व है, वह ल्यप् में अतिदिष्ट न हो, तब तक ईत्व की प्राप्ति ही नहीं, तो निषेध कैसे होगा? अत: यहाँ विशेष धर्म का भी अतिदेश मानना होगा, अन्यथा निषेध व्यर्थ होगा। आचार्य क्त्वा के कित्व को विशेष धर्म मानते हैं, इसमें 'न क्त्वा[३] सेट्' सूत्र प्रमाण हैं, इस प्रकार इस सूत्र से यह अनित्य ज्ञात होती है। **(क) अनित्यत्व का फल**— अनित्य होने के कारण ही 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[४] सूत्र से विशेष धर्म का भी अतिदेश सिद्ध होता है तथा फल यह है कि अग्रहीत् इत्यादि में 'ग्रहोऽलिटि[५] दीर्घ:' सूत्र से दीर्घ होने पर (अग्रह्+ई+सि+ई+त्) पुन: उसको 'स्थानिवदादेशो०'[६] सूत्र से 'ईट्'[७] के स्थानिवद्भाव से 'इट्' रूप होने से 'इट्' सूत्र से सिच् का लोप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रखाय, प्रखन्यं इत्यादि में क्त्वा को 'समासेऽनम्पूर्वे' क्त्वो[८] ल्यप्' सूत्र से ल्यप् हो जाने पर उसको स्थानिवद्भाव करने में प्रकृत परिभाषा के अनित्य होने से प्रवृत्त नहीं हो सकती, अत: क्त्वा के विशेष धर्म कित्व का ल्यप् में अतिदेश हो जाने से 'ये विभाषा'[९] सूत्र से यकार कित् परे रहते विकल्प से आत्व होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा अतिदेश के प्रसंग में उत्पन्न सन्देह का वारण करती है। सामान्य और विशेष दोनों का अतिदेश प्राप्त हो, वहाँ किस प्रकार के अतिदेश का ग्रहण किया जाय? इसी के समाधान रूप यह परिभाषा है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाक्टायन, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[१०] चन्द्र, कातंत्र, भोज एवं जैनेन्द्र ने नहीं मानी है।

परिभाषा का अर्थ सभी ने समान माना है। इस परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। व्याडि ने इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'गोत्रादङ्कवत्'[११] सूत्र का ज्ञापक प्रस्तुत किया है।[१२] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और हरिभास्कर ने इसको 'ब्राह्मणवत्' क्षत्रिये वर्तितव्यम्' इस लोकन्यायसिद्ध अर्थ मूलक

---

१. अष्टा० ६/४/६९।
२. अष्टा० २/४/६६।
२. अष्टा० १/२/१८।
४. अष्टा० १/१/५६।
५. अष्टा० ७/२/३७।
६. अष्टा० ७/३/९६।
७. अष्टा० ८/२/२८।
८. अष्टा० ७/१/३७।
९. अष्टा० ६/४/४३
१०. परिसंग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।
११. अष्टा० ४/३/८०।
१२. व्याडिपाठ, परि०सं० ९१।

माना है तथा विस्तार से उपपादन किया है।[१] नीलकण्ठ ने सामान्य की उपस्थिति के काल में नियम से विशेष उपस्थापक सामग्री का अभाव रहता ही है अतः इसी सामान्य विशेष न्यायमूलक यह परिभाषा मानी है।[२] नागेश ने इन्हीं का अनुकरण कर उक्त सामान्य विशेष मूलक परिभाषा स्वीकार की है तथा लाभ भी प्रदर्शित किया है।

सभी ने इस परिभाषा को अनित्य माना है, परन्तु इस अनित्यत्व के ज्ञापक के विषय में मतभेद है। व्याडि एवं पुरुषोत्तमदेव ने अनित्य नहीं माना है। सीरदेव ने सभी अनित्यता का ज्ञापक 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[३] सूत्र का विधि ग्रहण माना है तथा विस्तार से उपपादन भी किया है। नीलकण्ठ 'न ल्यपि'[४] सूत्र को ज्ञापक मानते हैं। हरिभास्कर ने सीरदेवोक्त ज्ञापक का विस्तार से खण्डन करते हुए 'न ल्यपि' सूत्र का ज्ञापकत्व प्रस्तुत किया है। नागेश ने भी उक्त के अनुसार 'न ल्यपि' सूत्र को ज्ञापक माना है। तथा इसके प्रयोजन का भी कथन किया है। इस परिभाषा के प्रयोजनों का व्याडि, सीरदेव, पुरुषोत्तमदेव एवं हरिभास्कर ने विस्तार से कथन किया है। नीलकण्ठ ने कोई उदाहरण नहीं दिया है। नागेश ने भी उदाहरणादि नहीं प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार नागेश ने अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या की है। उदाहरण न देने से कुछ काठिन्य का अनुभव होता है।

(३१) प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः।।प०११६।।

परिभाषा का उपक्रम— 'वृद्धिरादैच्'[५] सूत्र आ, ऐ, औ इन तीन वर्णों की बृद्धि संज्ञा होती है। इसमें यह सन्देह होता है कि आदेश (समुदाय) की एक साथ वृद्धि संज्ञा होती है या प्रत्येक की पृथक्-पृथक् यदि समुदाय की हो तो 'कारकः' आदि शब्द समूहों में बृद्धिसंज्ञक तीनों वर्ण एक साथ होने चाहिए।[६] इसके उत्तर के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— वाक्य की परिसमाप्ति-परिपूर्णता प्रत्येक अवयव के साथ होती है। अर्थात् जहाँ समुदाय को कार्य कहा है, वहाँ वाक्यस्थ क्रिया जब प्रतयेक अवयव के साथ सम्बन्ध कर लेती है, तभी उस वाक्य की परिपूर्णता मानी जाती है।

परिभाषा का आशय— यहाँ 'वाक्य' से तात्पर्य वाक्यार्थ से है। वाक्य-जन्य-

---

१. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ६४, सीरदेववृत्ति, परि०सं०१०६, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १०८।

२. नीलकण्ठवृत्ति, परि.सं.९७। ३. अष्टा० १/१/५६।

४. अष्टा० ६/४/६९। ५. अष्टा० १/१/१।

६. फलतः मृजेर्वृद्धिः 'इत्यादि विषय में समुदाय ही आदेश होगा।

बोध का पूर्ण रूप से सम्बन्ध वाक्य के सभी घटकों में होता है, वाक्य में जो विधान किया जाता है, जो उद्देश्य के विषय में कहा जाता है, वह प्रत्येक उद्देश्य के विषय में पृथक्-पृथक् कहा हुआ समझना चाहिए।

परिभाषा का हेतु— नागेश के अनुसार है लोकसिद्धन्याय है। जैसे लोक में किसी ने कहा कि 'देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्' यहाँ भोजन क्रिया का सम्बन्ध देवदत्त आदि प्रत्येक से पृथक्-पृथक् होता है। उनके समुदाय से एकरूप से भुजि क्रिया का सम्बन्ध नहीं होता है। यद्यपि किसी ने यह नहीं कहा कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को पृथक्-पृथक् भोजन कराओ, तथापि भोजन क्रिया प्रत्येक के साथ सम्बन्ध रखती है। इसी प्रकार शास्त्र में भी वाक्य की समाप्ति प्रत्येक अवयव के साथ होती है— ऐसा समझना चाहिए।[१]

परिभाषा का प्रयोजन— इसी प्रकार यहाँ शास्त्र में आ, ऐ, औ की बृद्धि संज्ञा पृथक्-पृथक् कही है। तथा इसके प्रत्येक वर्ण के साथ वृद्धि का सम्बन्ध पृथक्-पृथक् रहता है। समुदाय की संज्ञा होने का सन्देह नहीं रहता है। ऐसे ही गुण आदि संज्ञा भी प्रत्येक की होती है।[२]

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा समुदाय के कार्य के विषय में स्पष्टीकरण करती है। जहां अनेक- (समुदाय) को कार्य या संज्ञा का विधान किया गया है, वहाँ क्रिया या संज्ञा प्रत्येक के साथ सम्बद्ध रहेगी? या सम्पूर्ण (समुदाय) के साथ वाक्य की समाप्ति (निराकाङ्क्षता) प्रत्येक अवयव के साथ होती है। व्याडि, शकाटायन, चान्द्र, भोज, सीरदेव, नीलकण्ठ और हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[३] पुरुषोत्तमदेव ने भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[४] कातंत्र, जैनेन्द्र और हेम ने इसे नहीं माना है। नागेश ने इसकी अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या की है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इस परिभाषा का अर्थ भी प्रस्तुत किया है। व्याडि आदि[५] ने नहीं किया है। नागेश ने भी कोई अर्थ नहीं प्रस्तुत किया है। परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कोई विशेष मतभेद नहीं है। व्याडि ने लोकन्यायसिद्ध मानते हुए भी ज्ञापक 'णलुत्तमो[६] वा' सूत्र को विस्तार से प्रस्तुत किया है।[७] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने भी लोकन्यायसिद्ध मानते हुए भी ज्ञापकसिद्ध माना है। इन्होंने भी

---

१. गूढार्थ०, पृ० ४७२। २. गदा, पृ० २१८।

३. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

४. 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्ज्ञेया' पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० २९।

५. नीलकण्ठ। ६. अष्टा० ७/१/९१।

७. व्याडिपाठ, परि०सं० २८।

'णलुत्तमो वा' सूत्र में 'उत्तम' ग्रहण को ज्ञापक माना है।[१] नीलकण्ठ ने संक्षेप में लोकन्यायसिद्ध माना है।[२] नागेश ने भी संक्षेप में लोक-न्याय का उल्लेख मात्र कर दिया है। उदाहरण आदि सभी के एक समान हैं।

(३२) क्वचित् समुदायेऽपि।।प०११७।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह होती है कि प्रत्येक में वाक्य की परिपूर्णता होती है, यह मानने से सर्वत्र प्रत्येक के वाक्य की परिसमाप्ति होने पर संयोगसंज्ञा,[३] समाससंज्ञा[४] तथा अभ्यस्त संज्ञा[५] भी प्रत्येक की होने लगेगी? फलत: प्रत्येक वर्ण की उक्त संज्ञाएं रहें तो तत्तत् उदाहरणों में प्रत्येक का तन्निमित्तक कार्य प्राप्त होने लगेगा। फलत: अनेक दोष आयेंगे। इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— कहीं-कहीं लक्ष्यानुसार समुदाय में भी वाक्य की परिसमाप्ति (निराकाङ्क्षता) होती है।

परिभाषा का आशय— भाव यह है कि कहीं ऐसा भी होता है कि वाक्यस्थ क्रिया का केवल समुदाय के साथ सम्बन्ध रहता है और प्रत्येक अवयव के साथ पृथक्-पृथक् सम्बन्ध नहीं होता है। वाक्यार्थ सम्बन्ध की परिपूर्णता समुदाय में भी देखी जाती है।

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा भी लोक-न्याय से सिद्ध है। लोक में जैसे राजा ने आज्ञा दी कि 'गर्गा: शतं दण्ड्यन्ताम्'[६] यहाँ गर्ग कुलोत्पन्न व्यक्तियों पर सौ रुपये दण्ड कहा गया तो उनमें प्रत्येक पर सौ-सौ रुपये का दण्ड किया जाए अथवा समुदाय पर? तो जैसे समुदाय पर दण्ड होता है, वैसे ही उक्त संज्ञाएं भी समुदितों की ही होंगी। जिस प्रकार शत-दण्डन-रूप क्रिया का गार्ग्य समूह के साथ पर्याप्त सम्बन्ध है, फलत: समुदाय में वाक्यार्थ-समाप्ति विवक्षित है, उसी प्रकार शास्त्र में संयोग, समासादि रूप संज्ञा के विधेयता से निरुपित उद्देश्य की विश्रान्ति समुदाय में होती है।[७] अर्थात् समुदाय ही उद्देश्य होता है, प्रत्येक नहीं।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त— लक्ष्य[८] के अनुसार यह परिभाषा प्रवृत्त होती है।

---

१. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७६, हरिभास्करवृत्ति परि०सं० ८०।

२. नीलकण्ठ वृत्ति, परि॰सं॰१०४। ३. अष्टा० १/१/७।

४. अष्टा० २/१/३ 'प्राक्कडारात् समास:' सूत्राधिकार।

५. अष्टा० ६/१/५ 'उभे अभ्यस्तम्'।

६. म०भा० १/१/१। ७. गूढार्थ०, पृ० ४७३।

८. गदा, पृ० २१८।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'हलोऽनन्तराः संयोगः'[१] सूत्र से प्रतयेक वर्ण की संयोग संज्ञा न होकर समुदित हलों की संयोग संज्ञा होती है। इसी प्रकार उभे अभ्यस्तम्'[२] सूत्र में दोनों की अभ्यस्त संज्ञा होती है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा समुदाय के कार्य के विषय में कुछ विशेष निर्देश करती है। पूर्व परिभाषा 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' नियम मानने से कुछ दोष उपस्थित होता है, इसी का निवारण इससे किया जाता है। यह परिभाषा इसी रूप में किसी ने नहीं मानी है।[३] व्याडि ने 'क्वचित्' शब्द रहित कुछ भिन्न रूप में स्वीकार की है।[४] शाकटायन, चन्द्र और भोज ने कुछ पाठान्तर से पढ़ी है।[५] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[६] हरिभास्कर ने भी भिन्न रूप में पढ़ी है। परिभाषा का अर्थ सभी ने एक समान माना है।

प्राचीनों एवं नागेश में इस विषय में भी कोई विशेष मतभेद नहीं दृष्टिगत होता है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा हरिभास्कर ने लोकन्यायसिद्ध मानते हुए ज्ञापक सिद्ध भी मानी है। इनके अनुसार 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'[७] में 'प्रथमयोः' पद ज्ञापक है तथा इसका उपपादन भी किया है। सीरदेव ने भी उक्त लोकन्यायसिद्ध तथा ज्ञापक सिद्ध मानते हुए युक्ति सिद्ध भी मानी है। नीलकण्ठ ने संक्षेप में लौकिक-न्याय का कथन किया है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करके संक्षेप में लौकिक-न्याय का कथन किया है।

इसके उदाहरण सभी ने एक समान दिये हैं। नागेश ने भी संक्षेप में उदाहरण का कथन मात्र किया है। 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' तथा इस परिभाषा की प्रवृत्ति के विषय तथा इष्ट-व्यवस्था के विषय में कुछ मतभेद है। व्याडि ने कहाँ प्रत्येक में वाक्य परिसमाप्ति होगी, कहाँ समुदाय में होती है? इस विषय में कुछ नहीं कहा है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने लक्ष्यानुरोध से इनकी प्रवृत्ति स्वीकार की है तथा केचित् से 'उभयथा 'वाक्य-परिसमाप्तिः' इस परिभाषान्तर का निर्देश करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किया

---

१. अष्टा० १/१/७। २. अष्टा० ६/१/५।

३. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

४. समुदायेऽपि वाक्यपरिसमाप्तिः' व्याडिपाठ, परि०सं० २९।

५. 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' द्र० परिसंग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ३०, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७९, 'क्वचित् समुदायेन वाक्यपरिसमाप्तिः'।

७. अष्टा० ६/१/१०२।

है। नीलकण्ठ, हरिभास्कर, शाकटायन तथा चन्द्र ने इष्ट-व्यवस्था के लिए स्वतंत्र 'उभयथा वाक्यपरिसमाप्तिः' परिभाषा ही प्रस्तुत की है तथा उसका प्रयोजन भी प्रतिपादित किया है। परन्तु नागेश ने इष्ट-व्यवस्था के लिए पृथक् परिभाषा की आवश्यकता नहीं समझी है। लक्ष्य के अनुरोध से ही व्यवस्था सिद्ध हो जाती है।

●

द्वितीय अध्याय

शब्दरूपोपकारक परिभाषाएँ

व्याकरणशास्त्र के परिभाषा ग्रन्थों की समस्त परिभाषाओं को जिन चार वर्गों में विभक्त किया गया है, उनमें प्रथम वर्ग में सूत्रार्थ विषयक सन्देह की निर्वर्तिका परिभाषाओं को समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार की समस्त परिभाषाओं का समीक्षात्मक विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। द्वितीय वर्ग में उन परिभाषाओं का समावेश है, जो किसी शब्द (लक्ष्य) की रूप सिद्धि में उत्पन्न सन्देह की निवृत्ति में सहायक होती हैं। इस वर्ग की समस्त परिभाषाओं की संख्या ३० है। इनका तर्कसङ्गत वर्णन इस द्वितीय अध्याय में किया जा रहा है —

(३३) नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्।।प०७।।[१] [२]

परिभाषा का उपक्रम : अनुबन्धों को अवयव मानने में एक यह भी दोष है, घुसंज्ञा विधायक 'दाधा घ्वदाप्'[३] सूत्र में जो 'अदाप्' ग्रहण किया है, उससे 'दैप्' (शोधने) की घुसंज्ञा का निषेध नहीं हो सकता है, क्योंकि उपदेश अवस्था के 'एच्' का आत्व होने पर पकारान्त होने से 'दैप्' एजन्त नहीं है। अत: आत्व न होने से 'दाप्' रूप नहीं है और पकार का लोप होने पर आत्व[४] हो सकता है। परन्तु उस अवस्था में भी 'दाप्' रूप नहीं रहता। अत: निषेध सिद्ध नहीं हो सकेगा। फलत: 'अवदातं मुखम्'[५] में धुसंज्ञा का निषेध न हो सकने से 'दा' का 'त'[६] आदेश होकर 'अवत्तम्' यह अनिष्ट रूप बनेगा। इस दोष की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है—

परिभाषा का सामान्य अर्थ : अनुबन्ध के कारण (-अर्थात् अनुबन्ध के होते हुए भी) धातु तथा प्रत्यय आदि अनेजन्त नहीं होते हैं।

---

१. अनुबन्धेन कृतम् — 'अनुबन्धकृतम्' तृतीया तत्पुरुष समास।

२. एच: अन्त:—एजन्त:, न—आरोपितमेजन्तम्—अनेजन्तम्, तस्य भाव:-अनेजन्तत्वम् षष्ठीतत्पुरुषगर्भनञ्समास।

३. अष्टा० १/१/२०।

४. वही, ६/१/४५।

५. अवपूर्वक 'दैप्' धातु का निष्ठान्त रूप।

६. अष्टा० 'अच उपसर्गात्त:' — ७/४/४७।

परिभाषा का आशय : आशय यह है कि अनुबन्ध के रहने पर भी, इनके कारण एजन्त होने में कोई बाधक नहीं है। अनुबन्धों को छोड़कर एजन्त होने पर, एजन्त ही माना जाता है।

परिभाषा का ज्ञापक : पाणिनि ने 'उदीचां माङो[१] व्यतिहारे' सूत्र में सानुबन्धक 'मेङ्' के स्थान में आत्व करके 'माङ्' निर्देश किया है, यही इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'आदेच[२] उपदेशेऽशिति' सूत्र उपदेश में एजन्त का आत्व विधान करता है। 'मेङ्' (प्रणिदाने) धातु, उपदेश अवस्था में एजन्त नहीं है, ङकारान्त है। यदि यह परिभाषा नहीं मानी जायगी तो आचार्य द्वारा 'माङ्' ऐसा प्रयोग असंगत हो जायेगा। 'उदीचां माङो व्यतिहारे' सूत्र में 'माङ्' धातु का ग्रहण नहीं है, अपितु 'मेङ्' धातु का ही है।[३] क्योकि 'मेङ्' धातु ही व्यतीहार अर्थ में नित्य प्रयुक्त है। 'माङ्' को उस अर्थ में अन्य पद की अपेक्षा होती है। **(क) ज्ञापक में शङ्का**— यह है कि अनुबन्ध सहित 'मेङ्' की धातु संज्ञा नहीं हो सकती है, धातु न होने से आत्व नहीं होना चाहिए। पुनः 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र से आत्व कैसे हो गया है क्योंकि 'न धातुलोप[४] आर्धधातुके' सूत्र के भाष्य तथा कैयट[५] की व्याख्या में यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि "अनुबन्ध विनिर्मुक्त से ही क्रिया वाचकतारूप पदार्थ की उपस्थिति होती है"। अतः अनुबन्धलोप के पश्चात् प्रयोग में शब्द की ही धातु संज्ञा होती है। अनुबन्ध से तो केवल उसका ङित्निमित्तक कार्य होता है। अतः अनुबन्ध लोप से पूर्व 'मेङ्' धातु नहीं है? **समाधान**— 'आदेच उपदेशेऽशिति'[६] सूत्र में 'धातोः'[७] इस अंश की निवृत्ति हो जाती है, ऐसा माना जाता है।[८] अतः यहाँ धातुत्व की अपेक्षा नहीं रहती है।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से 'माङ्' इस निर्देश की युक्तता सिद्ध हो जाती है तथा 'दाधाघ्वदाप्'[९] सूत्र से 'दैप्' का 'दाप्' रूप हो जाने पर धुसंज्ञा का प्रतिषेध[१०] हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : अनुबन्धों को अवयव मानने पर, एजन्तता में दोष-रूप द्वितीय शङ्का का समाधान ही, इस परिभाषा का प्रतिपाद्य है। यह व्याडिकृत ग्रन्थ में नहीं मिलती

---

१. अष्टा० ३/४/१९। २. वही, ६/१/४५।

३. प्र०, ३/४/१९। ४. म०भा० १/१/४।

५. प्र०, १/१/४। ६. अष्टा० ६/१/४५।

७. 'लिटि-धातोरनभ्यासस्य' से अनुवृत्त धातु— द्र०प्र० ६/१/८।

८. म०भा० ६/१/४५ 'तस्मात् प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः०' इत्यादि प्रकरण तथा म०भा० ६/१/८ पर भी 'तदेतत् धातुग्रहणं सांन्यासिकं तिष्ठतु' एवं श०शे० 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र पर व्याख्या।

९. अष्टा० १/१/२०। १०. का० १/१/२० पर उदाहरण।

है।[१] जैनेन्द्र तथा पुरुषोत्तमदेव आदि के ग्रन्थों में इसी रूप में प्राप्त होती है। इस परिभाषा का पाठक्रम नागेश ने नीलकण्ठ के अनुसार अपनाया है।[२] इसकी युक्तता विस्तार से उपक्रम के द्वारा दिखाई गई है। परिभाषा का ज्ञापक जो नागेश ने दिया है, वही पुरुषोत्तमदेव सीरदेवादि[३] सभी प्राचीनों ने भी दिया है। नागेश ने किञ्चित् स्पष्टता के साथ उसी को अपना लिया है। प्राचीन विद्वानों ने इस परिभाषा का जो प्रयोजन एवम् अर्थादि प्रस्तुत किया है, वही नागेश ने माना है। केवल ज्ञापकत्व का उपपादन, शङ्का आदि के द्वारा नागेश ने विस्तार से किया है और कोई विशेष विचार दृष्टिगत नहीं होता है। इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में अपना अभिमत प्रकट किया है।

(३४) एकदेशविकृतमनन्यवत्।।प० ३७।।

परिभाषा का उपक्रम : प्रश्न यह है कि राम+औ 'रामौ' में वृद्धिरूप एकादेश[४] होने पर 'सुप्तिङन्तं पदम्'[५] सूत्र से कार्यकाल-पक्ष में पद संज्ञा कैसे होगी? क्योंकि कार्यकालपक्ष[६] में संज्ञाशास्त्र 'सुप्तिङन्तं पदम्' वृद्धि एकादेश के पश्चात्[७] ही प्रवृत्त होता है, उस समय सुबन्तत्व का अभाव है, अत: पदत्व की प्राप्ति नहीं होती है। उक्त सूत्र से 'पदसंज्ञा' उस शब्दरूप समुदाय की होगी जो तदादि तथा तदन्त रूप से सुबन्त तिङन्त हो' तथा यदि 'रामौ' में एकादेश 'औ' को पूर्व (राम्) का अन्तवत्[८] मानते हैं तो परे (अन्त में) सुप् (औ) नहीं रहता। यदि प्रत्यय का आदि मानते हैं तो पूर्व प्रकृति 'राम' (जिससे परे 'औ' प्रत्यय आया है) नहीं रहती। 'अ' के एकादेश से अपहृत हो जाने से प्रकृति मान्त (राम्' हो जाती है। अब यदि एकादेश पूर्व के अन्त की तरह हो और साथ ही पर के आदि की तरह हो तब तो कार्य हो जायगा? परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्'[९] ऐसी परिभाषा है। इसका फल यह होगा कि 'रामौ पश्य' में सुबन्तत्व के अभाव में पद संज्ञा न होने से 'तिङ्ङतिङः'[१०] सूत्र से निघात नहीं हो सकेगा तथा इसी प्रकार अन्य विकृत निर्देशों में पद संज्ञा नहीं हो सकेगी? इस प्रकार की समस्याओं के निरास के लिए इस परिभाषा का आश्रयण किया जाता है।

---

१. परि०संग्रह व्याडि वृत्ति। २. नीलकण्ठ वृत्ति।

३. जैनेन्द्र— नीलकंठ हरिभास्कर। ४. अष्टा० ६/१/१०२।

५. वही, १/४/१४।

६. प०शे० सं० २, पृष्ठ २१, प० ४ तथा पृष्ठ १२, प० १।

७. गूढार्थ०, पृष्ठ २०३, पं० १-४ तक।

८. अष्टा० ६/१/८५। ९. म०भा०, ६/१/८५।

१०. अष्टा० ८/१/२८।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : जो (अवयवी) एकदेश (एक अंश, एक अवयव) का विकार होने से विकृत हो गया है वह विकार से पूर्व जो था, वही रहता है उससे भिन्न नहीं हो जाता है, ऐसा मानना चाहिए।

परिभाषा का आशय : 'एकदेशविकृतम्' में बहुव्रीहि समास है। सामान्य में नपुंसक है। यहाँ विकृत शब्द 'भाव' में क्तान्त है— एकदेशे विकृतं विकारोऽस्य-एकदेशविकृतम्। आहिताग्नि आदि गण में पठित होने से क्तान्त का 'वाहिताग्न्यादिषु च'[१] सूत्र से परनिपात हुआ है। फलतः एकदेश के विकार विशिष्ट वाला यह अर्थ होता है। कैयट[२] कर्म में क्तान्त मानकर उसके साथ तृतीया समास मानते हैं— एकदेशेन विकृतम्एकदेशविकृतम्। 'अनन्यवत्' का अर्थ है— अन्येन तुल्यंअन्यवत् न- 'अन्य के समान (भिन्न) नहीं होना'। अनन्यवत् में वति[३] प्रत्यय है, उसी वत्यन्त के साथ नञ् समास है। न कि नञ् समास के पश्चात् 'वति' प्रत्यय।[४] उसमें अन्य के सादृश्य का निषेध करने से अन्यत्व का निषेध स्वतः सिद्ध हो जाता है। अन्यत्व का अभाव होने से ही विकार विशिष्ट से अर्थ का बोध होता है। 'स्वावयव-विकार-विशिष्टं स्ववद् भवति' ऐसा तात्पर्य है। इस कैमुतिक- न्याय के बल पर एकदेश विकृत से भी वही अर्थबोध होता है जो अविकृत से होता था। वर्णानुपूर्वी के किञ्चित् विकृत होने पर भी पद में पूर्ववत् शक्तता अवस्थित रहती है। अतः मान्त 'राम्' भी सुप् प्रत्यय 'औ' के लिए तदादि राम ही है और 'औ' यह परादिवद्भाव से सुप् है, अतः तदादि तदन्त होकर सुबन्त होने से 'रामौ' यह पद आर्थ-समाज-ग्रस्त[५] सम्पन्न होता है।

परिभाषा का हेतु : यह परिभाषा लोकन्याय सिद्ध है। लोक में कटी पूंछ वाले कुत्ते को भी कुत्ता कहकर ही पुकारते हैं, घोड़ा या गदहा नहीं कहते हैं क्योंकि बहुत से अवयव जाति के व्यञ्जक होते हैं। किसी एक के न रहने पर भी यह व्यक्ति किस जाति का है, इसका बोध हो ही जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में मान्त 'राम्' (जिसके एक अवयव का अपहार हो गया है) अकारान्त 'राम' ही है उससे भिन्न नहीं है।[६] लोकन्याय से सिद्ध होने पर भी यह परिभाषा इस शास्त्र में आश्रित की जाती है, इसमें भाष्य का प्रमाण भी है।

---

१. अष्टा० २/४/३७। २. प्र० १/१/७२।

३. अष्टा० ५/१/११५। ४. गूढार्थ०, पृष्ठ २०४, पं० ९।

५. अर्थानामयमार्थः, च चासौ समाजस्तेनग्रस्तम्, अर्थ-सम्बन्धि-समुदायान्तर्वृत्तमित्यर्थः। अर्थ के समूह में सम्पन्न हुआ पद। प्रकृति-प्रत्यय रूप अर्थ समुदाय के अन्तर्भूत मान लिया जाता है, तभी अर्थ का बोक होता है। — द्र० मञ्जूषा।

६. प०शे०, पृष्ठ २०५, पं० २।

(क) परिभाषा का ज्ञापक— 'प्राग्दीव्यतोऽण्'[१] सूत्र के भाष्य में यह परिभाषा कही है। वहाँ 'दीव्यति' शब्द के एकदेश 'दीव्यत्' शब्द का यह अनुकरण है, ऐसा कहकर विकृत निर्देश क्यों किया? जब कि 'दीव्यत्' शब्द कहीं नहीं है किन्तु 'दीव्यति' शब्द है? यह इसलिए कि ऐसा करने से आचार्य ज्ञापित करना चाहते हैं कि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' ऐसी परिभाषा है। इसके ज्ञापित होने पर शब्दलाघव से निर्देश स्वांश में चरितार्थ हो जाता है। इस प्रकार इससे लोकन्यायसिद्ध अर्थ को परिभाषा रूप से इस शास्त्र में ग्रहण किया गया है— सूचित होता है। **(अ) उक्त ज्ञापक का फल**— इसी 'प्राग्दीव्यतोऽण्'[१] भाष्य ग्रन्थ से लोकन्यायसिद्ध अर्थ अशास्त्रीय विकृत निर्देश से अर्थ ज्ञापित होने से प्रकृत परिभाषा 'शास्त्रीय विकार (शास्त्रोपदिष्ट आदेश) अथवा शास्त्रीय कार्य में ही प्रवृत्त होती है,'[२] यह बात स्वयमेव खण्डित हो जाती है। कारण यह है कि[३] ज्ञापक के सजातीय होने से अशास्त्रीय विकार में भी प्रवृत्ति न्याय्य है तथा यह भी कारण है कि 'दीव्यति' के 'इ' का लोप न तो शास्त्रीय विकार (आदेश) है और न शास्त्रीय कार्य। परन्तु भाष्यकार इस न्याय से इसका समाधान करते हैं।[४]

परिभाषा के अप्रवृत्ति स्थल : यदि किसी विकृत अवयव को ही निमित्त मानकर कोई कार्य विहित होगा तो वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी।[५] यथा कटी पूँछ वाले कुत्ते के विषय में यह पुच्छ्वान् है, ऐसा व्यवहार नहीं होता क्योंकि पुच्छ का अभाव है तथा ऐसे ही शास्त्र में शब्द का जो अवयव समाप्त हो गया है उसकी भी सत्ता है ऐसा जानकर शास्त्रकार्य नहीं होता है। विद्यमान बहुत से अवयव नहीं बता सकते कि जो एक अवयव चला गया है, वह कैसा था। अतः उस अवयव से युक्त का व्यवहार नहीं होने से अवयव विशेष को मानकर होने वाले कार्य में यह नहीं प्रवृत्त होती है। इस प्रकार का आशय 'ऋलृक्'[६] सूत्र के भाष्य में उपलब्ध होता है। उपर्युक्त परिस्थिति के सदृश ही जहाँ अक्त-परिमाण (परिच्छिन्न परिमाण) वाची शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।[७] (संख्या, परिमाणवाची शब्द अक्त परिमाण होते है) वे एक, द्वि, त्रि, (संख्या वाचक) खारी, द्रोण आदि (परिमाण वाची) स्वार्थ से अधिक अथवा न्यून को नहीं कहते हैं। वे आनुपूर्वी विशिष्ट से रहित होने पर शास्त्र-व्यापार के बिना अर्थ के बोधक नहीं होते हैं। यह उपर्युक्त विवेचन 'येन विधिस्तदन्तस्य'[८] सूत्र के भाष्य और कैयट[९] में ध्वनित है, वहीं द्रष्टव्य है।

---

१. अष्टा० ४/१/८३। २. प०शे०, पृष्ठ २०५।
३. म०भा० तथा उ०१/१/५७। ४. प०शे० पृष्ठ २०५, पं० ३-६।
५. प०शे० पृष्ठ २०५, पं० ८। ६. म०भा०, 'ऋलृक्' सूत्र।
७. प०शे० पृष्ठ २०६, पं० १।
८. म०भा० १/१/७२ एवं गूढार्थ०, पृष्ठ २०६, पं० १३-२१।
९. प्र० १/१/७२।

'स्थानिवद्०' सूत्र की प्रवृत्ति में शङ्का : विकार होने पर यदि सर्वत्र इस न्याय की प्रवृत्ति होगी तो 'स्थानिवत्' सूत्र व्यर्थ हो जायेगा? **समाधान**— यह सूत्र व्यर्थ नहीं होता है। जहाँ यह न्याय प्रवृत्त नहीं होगा वहाँ उस व्यवहार के सम्पादन के लिए 'स्थानिवत्' सूत्र आवश्यक है। जहाँ शब्द के अर्थ भाग[१] का, अथवा अर्धभाग से अधिक[२] का विकार हुआ हो, वहाँ यह न्याय प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि वहाँ जाति के व्यञ्जक बहुत से अवयव नहीं होते हैं।[३] उस अवस्था में वहाँ 'स्थानिवत्' सूत्र की ही प्रवृत्ति होती है। पूर्वोक्त परिभाषा के अप्रवृत्तिस्थल, विकृत अवयव के निमित्त के कार्य के लिए 'स्थानिवत्' सूत्र की आवश्यकता है।[४] विकृत 'अनल्' रूप अवयव की प्रतीति के लिए भी 'स्थानिवत्' सूत्र है, विकृत (- आदिष्ट, लुप्त) अवयव, अब भी स्थानी का अवयव है, इस अर्थ की प्रतीति के लिए। इसी प्रकार अन्य प्रयोजनों के लिए 'स्थानिवत्'[५] सूत्र आवश्यक है।

परिभाषा की अनित्यता : कहीं-कहीं लक्ष्यानुरोध से प्रकृत परिभाषा का आश्रयण नहीं होता है। इसी से 'अभीयात्'[६] आदि की सिद्धि होती है। अभीयात् में 'अभि+ईयात्' में एकादेश होने पर पूर्व 'अभि' के 'इ' का अपहार होने से पूर्व में 'अभ्' रह जाता है। अब यहाँ यदि इस 'अभ्' को प्रकृत परिभाषा से 'अभि' की तरह पद मान लिया जाता है तो 'झलां जशोऽन्ते'[७] सूत्र से 'भ्' को जश्त्व से 'ब्' हो जायेगा तथा भान्त को उपसर्ग मानने से 'ई' को परादिवद् भाव से 'इण्' मानने से 'एतेर्लिङि'[८] सूत्र से ह्रस्व की आपत्ति होगी? अतः इस प्रकार के लक्ष्यों के अनुरोध से प्रकृतन्याय का कहीं-कहीं आश्रयण नहीं भी किया जाता है। इसी अर्थ को कैयट ने 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'[९] इस सूत्र के भाष्य की व्याख्या में स्पष्ट किया है (कि कहीं-कहीं न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है)।[१०] "कहीं-कहीं परिभाषा के अनाश्रयण का प्रतिपादन" अन्य विद्वानों के मतानुसार है। नागेश का मत ऐसा नहीं है- ऐसा सभी टीकाकारों ने सिद्ध

---

१. यथा 'त्वर्' धातु का क्त प्रत्यय परे ऊठ् होने पर 'तूर्णः' आदि प्रयोग, अष्टा० ६/४/२०।

२. जैसे 'म-पर्यन्त' होने वाले आदेशों के उदाहरण— त्वदीयः, मदीयः आदि- अष्टा० ७/२/९१ प्रकरण।

३. प०शे०, पृष्ठ २००, पं० १-२।

४. वही, पृष्ठ २०९, पं० २।

५. म०भा०, १/१/५६ सूत्र का प्रयोजन।

६. अभि पूर्वक 'इण्' धातु, आशीर्लिङ्, प्र०पु०ए० के रूप 'ईयात्' का अभि के साथ सवर्ण दीर्घ होकर निष्पन्न रूप।

७. अष्टा० ८/२/३९।

८. अष्टा० ७/४/२१।

९. प्र० ६/१/१०२।

१०. म०भा० ६/१/१०२ पर प्र०।

किया है।[१] नागेश के अनुसार तो लोक दृष्टान्त से ही उक्त रीति से अप्रवृत्ति के विषय की कल्पना हो जाने से सकल इष्ट की सिद्धि हो जाती है, अनाश्रयण की आवश्यकता ही नहीं है। यह परिभाषा भाष्यकार को भी अभिमत है। ऐसा 'अच: परस्मिन् पूर्वद्ध-विधौ'[२] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। श्रेयसि भवं- 'श्रायसौ'। यहाँ 'श्रेयस्' शब्द से 'अण्' प्रत्यय आने पर 'श्रेयस्' के 'ए' को 'देविकाशिंशपा०'[३] सूत्र से 'आ' हो जाता है। द्विवचन में 'औ'[४] आने पर एकादेश[५] द्वारा पूर्व 'अ' का अपहार हो जाने से पूर्व में 'श्रायस्' ऐसा सकारान्त शब्द रूप रहता है, जो उगित् है, अत: इसे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो:'[६] सूत्र से 'नुम्' प्राप्त होता है जिसको 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' से भाष्यकार रोकते हैं। परन्तु यदि यह परिभाषा न हो तो 'श्रायस्' के अंग न होने से 'नुम्' की प्राप्ति ही सम्भव नहीं थी, पुन: उसके वारण के लिए यह प्रयास क्यों किया जाता? इस भाष्य के अभिप्राय से इस परिभाषा की सिद्धि होती है।[७]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा से भवतु, पचतु[८] आदि की इकार के स्थान में उकार हो जाने पर भी पदसंज्ञा[९] हो जाती है। 'रामौ'[१०] आदि में मान्त 'राम्' इस परिभाषा से अकारान्त राम ही है उससे भिन्न न होकर सुबन्त होने से 'सुप्तिङन्तं पदम्'[११] से पद संज्ञा सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'अभवत्' यहाँ 'इतश्च'[१२] सूत्र से इकार का लोप होने पर भी तिङ् आश्रित सार्वधातुक-संज्ञा[१३] एवं पदसंज्ञा सिद्ध होती है। 'प्रहिणोति'[१४] में एकदेश विकृत होने पर भी 'हिनुमीना'[१५] से णत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : किसी शब्द का कोई अवयव यदि विकृत या विपरीत हो जाय तो

---

१. गूढार्थ०, गदा, विजया, शा० कला, भैरवी, भूति, हैमवती आदि टीकाकार, प०शे० सं० ३७ पर 'कैयटेन' प्रतीक पर किया गया व्याख्यान।

२. म०भा० १/१/५७।

३. अष्टा० ७/३/१।

४. वही, ४/१/२।

५. वही, ६/१/१०२।

६. वही, ७/१/७०।

७. उ० १/१/५७।

८. 'भू' एवं 'पच्' धातु का लोट् लकार।

९. अष्टा० १/४/१४।

१०. राम शब्द, प्र०वि०द्वि० में 'औ' प्रत्यय तथा पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर निष्पन्न रूप।

११. अष्टा० १/४/१४।

१२. अष्टा० ३/४/१००।

१३. अष्टा० ३/४/११३।

१४. उपसर्ग, स्वादिगणीय 'हि' धातु, लट् लकार, प्र०पु०ए०।

१५. अष्टा० ८/४/१५।

क्या उसे वही शब्द मानकर कार्य होगा या भिन्न शब्द समझकर नहीं होगा? इसी का समाधान इस परिभाषा में किया गया है। अवयव में विकृति आने से वह शब्द दूसरा नहीं माना जाता, अपितु उसी शब्द के सदृश व्यवहार वाला होता है। यह परिभाषा व्याडि को छोड़कर सभी ने इसी रूप में पढ़ी है। प्राचीन सभी परिभाषाकारों ने इस परिभाषा की व्याख्या संक्षिप्त की है परन्तु नागेश ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। परिभाषा के सभी अंगों पर विचार किया है। इस परिभाषा के मूल के विषय में प्राचीन एवं नागेश में भिन्न-भिन्न मत हैं। कातन्त्र इसे लोकन्यायसिद्ध मानते हुए छिन्नपुच्छ श्वा का लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत करते है तथा इस लोकन्यायसिद्ध अर्थ के आश्रयण के प्रमाण रूप में ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'[१] रूप निषेधवचन इसका ज्ञापक है।[२] जैनेन्द्र केवल लोकन्यायसिद्ध मानते हुए दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं।[३] पुरुषोत्तमदेव इस परिभाषा को 'प्राग्दीव्यतोऽण्'[४] में भाष्यकार द्वारा पठित मानते हैं तथा इसका ज्ञापक भी 'आढ्यसुभग०'[५] आदि सूत्र में 'अच्वौ' इस प्रतिषेध वचन को मानते हैं एवं तस्मै, तस्मात् आदि आचार्य के निर्देशों में सर्वनामसंज्ञा का कार्य करना भी इसका ज्ञापक है, ऐसा मानते हैं।[६] सीरदेव के अनुसार यह लोकन्यायसिद्ध तथा ज्ञापक-सिद्ध दोनों है। इसका ज्ञापक 'आढ्यसुभग०' में 'अच्वौ' यह प्रतिषेध है।[७] नीलकण्ठ 'स्थानिवत्०'[८] सूत्र के भाष्य में वार्तिक रूप से पठित मानते हैं तथा 'स्थानिवत्०' सूत्र के आदेश ग्रहण से सिद्ध अर्थ का कथनमात्र मानते हैं। इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते हैं।[९] हरिभास्कर ने सीरदेव के अनुसार 'आढ्यसुभग०' सूत्र में 'अच्वौ' प्रतिषेध वचन को ज्ञापक माना है।[१०] नागेश भी इसको लोकन्यायसिद्ध मानते हुए छिन्नपुच्छ श्वा का दृष्टान्त देते हैं तथा लोकन्यायसिद्ध अर्थ के आश्रयण में प्रमाण रूप में 'प्राग्दीव्यतोऽण्'[११] सूत्र के भाष्य का प्रमाण भी देते हैं। इन्होंने उक्त सूत्र में 'दीव्यत्' निर्देश को इस परिभाषा का ज्ञापक माना है। प्रसङ्गतः ज्ञापक साजात्य होने से प्राचीन किसी के इस मत का कि "यह न्याय शास्त्रीय विकार, शास्त्रीय कार्य में ही प्रवृत्त होता है," खण्डन कर देते हैं।[१२] इस परिभाषा का अर्थ कातन्त्र, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव ने स्पष्टतः कहा है। नागेश भी 'अनन्यवत्' के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए परिभाषार्थ की सङ्गति दिखलाते हैं।

---

१. अष्टा० ६/१/३७।
२. कातंत्रवृत्ति, परि०सं० १।
३. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ११।
४. अष्टा० ४/१/८३।
५. अष्टा० ३/२/५९।
६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १४।
७. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ४०।
८. अष्टा० १/१/५६।
९. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० १३२।
१०. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ४२।
११. अष्टा० ४/१/८३।
१२. प०शे०, पृष्ठ २०५, पं० ८।

परिभाषा के प्रयोजन— स्वरूप उदाहरणों के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। कातन्त्र इसका प्रयोजन घातः, अनुडुद्भ्यां, एधि आदि देते हैं तथा इसका फल भी बताते हैं। जैनेन्द्र अतिजरांसि, अतिजरसम्, त्रये, त्रयः में क्रमशः असङ् एवं जस् में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा सिद्ध होती है, मानते हैं। इसी प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करते हैं कि यह न्याय स्थान-षष्ठी-निर्दिष्ट शब्द के विषय में ही प्रवृत्त होता है।[१] इसका लाभ यह है कि 'राजकीयम्' में 'अन्' का लोप नहीं होता है। पुरुषोत्तमदेव ने अतिजरसैः, प्रहिणोमि, कारिषीष्ठ आदि प्रयोजन बताये हैं। सीरदेव ने भी इन्हीं प्रयोजनों को मानते हुए 'अभवत्' यह नया उदाहरण भी दिया है। हरिभास्कर भी 'अभवत्' उदाहरण देते हैं। नागेश ने 'रामौ' उदाहरण दिया है। इस प्रकार पूर्वोक्त परिभाषा व्याख्याकारों ने परिभाषा के अति प्रसङ्ग का वारण न करके, अप्रवृत्ति स्थल का भी निर्देश नहीं किया है तथा 'स्थानिवत्' सूत्र और इस परिभाषा में भेद तथा 'स्थानिवत्' के रहते हुए इस परिभाषा की आवश्यकता भी नहीं प्रतिपादित की है। नागेश ने इसके अप्रवृत्ति स्थल का स्पष्ट निर्देश किया है, इसके समर्थन में भाष्य एवं कैयट का प्रमाण भी दिया है। 'स्थानिवेत्' सूत्र में इसकी गतार्थता का निवारण किया है। इनके अनुसार 'स्थानिवेत्' सूत्र का अन्य विषय है जिसके लिए उसकी आवश्यकता है तथा परिभाषा का अन्य विषय है, यह स्वतन्त्र रूप में परिभाषा रूप से आश्रित है। 'स्थानिवत्'[२] सूत्रस्थ भाष्य का वार्तिक नहीं है, 'स्थानिवत्' सूत्र के विषय से भिन्न ही इसके उदाहरण हैं। 'स्थानिवत्' सूत्र का भिन्न प्रयोजन है इसी प्रसङ्ग में कहीं-कहीं यह न्याय नहीं आश्रित किया जाता है। इसे कैयट मत को प्रस्तुत करते हुए प्रयोजन प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार यह न्याय स्थान-षष्ठी-निर्दिष्ट में ही होता है, कथन खण्डित हो जाता है। यह शास्त्रीय और अशास्त्रीय दोनों विकारों में होता है। जहाँ 'स्थानिवत्' से अतिदेश नहीं प्राप्त है, वहीं प्रवृत्त होता है। इस प्रकार नागेश ने विस्तृत तथा स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है।

(३४) पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः।। प०३८।।

परिभाषा का उपक्रम : आचार्य पाणिनि ने अपनी प्रक्रिया को सुव्यवस्थित तथा असन्दिग्ध रूप देने के लिए अष्टाध्यायी में सूत्रों का विन्यास अत्यन्त तर्कपूर्ण रूप से किया है। किसी लक्ष्य विशेष में यदि एक ही काल में अनेक लक्षणों (सूत्रों) की प्रवृत्ति सम्भव[३] हो तो वहाँ क्या करना चाहिए? इसका निर्णय आवश्यक है। इसी के लिए यह परिभाषा स्वीकार की गई है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद इनमें

---

१. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ११। २. अष्टा० १/१/५६।

३. यथा 'वृक्ष+भ्यस्' इस स्थिति में 'सुपि च' (७/३/१०२) से दीर्घ तथा 'बहुवचने झल्येत्' (७/३/१०३) से एत्व की युगपत् प्राप्ति।

पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर (शास्त्र या कार्य) बलवान् होता है अर्थात् लक्ष्य में इसी प्रकार की बलवत्ता मानकर कार्य किया जाना चाहिए।

परिभाषा का आशय : इस परिभाषा में पूर्व, पर आदि शब्दों से पूर्व, पर आदि शास्त्र और उनके द्वारा विहित कार्य दोनों का ग्रहण होता है। इस परिभाषा का फलित अर्थ दो प्रकार से समझ सकते हैं[१] — **(क) प्रथम प्रकार** — (१) पूर्व से पर, (२) पर से भी नित्य, (३) नित्य से भी अन्तरङ्ग, (४) अन्तरङ्ग से भी अपवाद, इस क्रम से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर बलवान् होता है। **(ख) द्वितीय प्रकार**— (१) पूर्व की अपेक्षा पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद, (२) पर की अपेक्षा नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद, (३) नित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग तथा अपवाद, (४) अन्तरङ्ग की अपेक्षा भी अपवाद इस क्रम से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर बलवान् होता है। **क्रमशः पूर्वोक्त विधियों में बलवत्ता का हेतु :** यद्यपि इस परिभाषा में पूर्व पर आदि पाँच विधियों में उत्तरोत्तर जो बलवत्ता बतायी गयी है। उसमें हेतु नहीं प्रदर्शित किया गया है, केवल बाध्य-बाधक भाव का वर्णन कर दिया गया है कि निम्न विधियाँ उत्तरोत्तर बलवान् होती हैं तथापि नागेश तथा टीकाकारों[२] ने इनकी परस्पर उत्तरोत्तर बलवत्ता में विचार करते हुए हेतु दिया है। **पूर्व से पर की बलवत्ता :** पूर्व की अपेक्षा पर (शास्त्र या कार्य) के प्रबल होने में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[३] सूत्र प्रमाण है। यहाँ परिभाषास्थ पूर्व, पर शब्द सूत्रपाठ-क्रम के सङ्केतक हैं। विप्रतिषेध तुल्यबल[४] विरोध होने पर पूर्व (शास्त्र) की अपेक्षा पर (शास्त्र या कार्य) बाधक होता है, इसी कारण से पर बलवान् माना जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि तुल्यबल वाला पर शास्त्र या कार्य बलवान् मानने के कारण[५] ही 'पर' शास्त्र या कार्य ऐसा गृहीत किया जाता है जो बहिरङ्ग रूप न हो, अनित्यत्व रूप न हो, उत्सर्ग रूप न हो अर्थात् इन तीनों लक्षणों से रहित पर शास्त्र पूर्व का बाधक होता है, क्योंकि बहिरङ्ग, अनित्य, उत्सर्ग धर्म दुर्बलता के हेतु हैं।[६] इसको इस प्रकार समझ सकते है कि इस शास्त्रीय कार्य में बाध्य-बाधक भाव का निर्णय दो ही शास्त्रों या कार्यों से किया जाता है और वह पूर्व, पर रूप में ही गृहीत होता है। इन्हीं दो में ही नित्य, अनित्य, अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, अपवाद-उत्सर्ग की कल्पना की जाती है। इस प्रकार उक्त पूर्व एवं पर शास्त्र में जो नित्य या अन्तरङ्ग अथवा अपवाद

---

१. तत्त्वा०, पृष्ठ ६४, तथा शा०कला०, पृष्ठ २१५।

२. तत्त्वा० और शा० कला। ३. अष्टा० १/४/२।

४. म०भा० १/४/२ 'द्वौ प्रसंगौ अन्यार्थौ०' इत्यादि स्थल तथा का० १/४/२ 'तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः'।

५. 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' — अष्टा० १/४/२।

६. 'उत्सर्गापवादनित्यानित्यान्तरङ्गबहिरङ्गेषु तुल्यबलता नास्तीति।' — का०।

होगा, वही अन्य का बाध कर लेगा क्योंकि नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद अधिक बलवान् माने जाते हैं। इनके होने पर 'पर' ही बलवान् हैं यह नहीं समझा जाता है, चाहे इन लक्षणों से युक्त पूर्वशास्त्र हो या पर शास्त्र हो। इनमें तुल्यबलता नहीं मानी जाती। तुल्यबलता इन सबकी कल्पना से रहित पूर्व, पर शास्त्र हों या दोनों ही नित्य या अनित्य, दोनों ही अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग, दोनों ही अपवाद या उत्सर्ग हो तो तभी मानी जा सकती है, तब पूर्व की अपेक्षा 'पर' पर बलवान् माना जाता है अन्यथा पूर्व ही बलवान् होता है।[१] **(क) उक्त हेतु का लाभ–** पूर्व का 'पर' शास्त्र तभी बाध करता है जब वह अनित्य, बहिरङ्ग अथवा उत्सर्ग रूप नहीं होता है। इससे अन्यत्र पूर्व ही पर की अपेक्षा प्रबल होता है। निम्न रूपों में पूर्व की बलवत्ता— **(१)** यदि पर की अपेक्षा 'पूर्व' नित्य होता है तो वही प्रबल होता है।[२] **(२)** 'पूर्व' यदि अन्तरङ्ग होता है तो वह भी पर की अपेक्षा प्रबल होता है।[३] **(३)** 'पूर्व' अपवाद होता है तब भी वह प्रबल होता है।[४] **पर से नित्य की बलवत्ता में हेतु :** 'पर से नित्य प्रबल होता है', इसमें लौकिक न्याय तथा परिभाषा द्रष्टव्य है।[५] कृताकृतप्रसङ्गी विधि नित्य होती है।[६] **नित्य से अन्तरङ्ग की बलवत्ता में हेतु :** पर और नित्य दोनों की अपेक्षा अन्तरङ्ग के प्रबल होने में हेतु अन्तरङ्ग परिभाषा है।[७] पर को असिद्ध मानने से अन्तरङ्ग बलवान् हो जाता है तथा नित्य और अन्तरङ्ग दोनों होने पर नित्य को असिद्ध मानने से अन्तरङ्ग बलवान् हो जाता है। **अन्तरङ्ग से अपवाद की बलवत्ता में हेतु :** पर, नित्य तथा अन्तरङ्ग— इन तीनों से अपवाद के बलवान् होने में अपवाद परिभाषा द्रष्टव्य है।[८] अपवाद रूप सूत्र का प्रणयन सामर्थ्य ही अपवाद की बलवत्ता में हेतु है। अन्यत्र चरितार्थ न होने के कारण ही अपवाद अन्तरङ्ग आदि विधियों का बाधक होता है। यदि अपवाद अन्यत्र चरितार्थ है तो पर और अन्तरङ्ग के द्वारा ही बाधित होता है।[९]

परिभाषा का प्रयोजन : इसके प्रयोजन स्वरूप उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत किये जाते हैं— **(क) पूर्व से पर बलवान्**— 'वृक्षेभ्यः' इत्यादि उदाहरणों में 'वृक्ष भ्यस्'

---

१. विजया०, पृष्ठ १७१ तथा शा०कला, पृष्ठ २१५।

२. प०शे० परि०सं० ४२ 'परान्नित्यं बलवत्'।

३. प०शे० परि०सं० ५० 'असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे'।

४. प०शे० परि०सं० ५७ 'अन्तरङ्गादप्यपवादो बलवान्'।

५. प०शे०, परि०सं० ४२।

६. वही, पृष्ठ २३०, 'कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्'। कृते अकृतेऽपि यत् प्राप्यतेतन्नित्यम्।

७. प०शे० परि०सं० ५०। ८. वही, परि०सं० ५७।

९. वही, परि०सं० ६६ से अन्तरंग के द्वारा अपवाद का बाध। सि०कौ०तत्त्वबोधिनी, पृष्ठ ५३।

इस स्थिति में 'सुपि च'[१] से दीर्घ की तथा 'बहुवचने झल्येत्'[२] सूत्र से एत्व की युगपत् प्राप्ति होती है तथा दोनों ही तुल्य बल विरोध वाले हैं, अत: यहाँ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[३] सूत्र के साहाय्य से पर की बलवत्ता ज्ञात होती है। यहाँ 'सुपि च' पूर्व का सूत्र है तथा 'बहुवचने झल्येत्' पर का सूत्र है। अत: यहाँ पूर्वशास्त्र विहित दीर्घ विधि का बाध करके 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र से 'एत्व' हो जाता है। इस प्रकार उक्त उदाहरण सिद्ध हो जाता है। **(ख) पर की अपेक्षा नित्य, अन्तरङ्ग तथा अपवाद की बलवत्ता के उदाहरण : (अ) पर से नित्य बलवान्**— जैसे 'तुदति' में 'तुदादिभ्य:'[४] श:' सूत्र से विहित 'श' प्रत्यय को बांधकर, पर होने से लघूपधगुण[५] प्राप्त होता है। यहाँ 'श' प्रत्यय नित्य[६] होने से पर गुण को भी बांधकर प्रथमत: हो जाता है। इसी प्रकार 'रुणद्धि' में पर लघूपधगुण को भी बाधकर, नित्य होने से 'श्नम्'[७] हो जाता है। **(आ) पर से अन्तरङ्ग बलवान्**— जैसे 'उभये देवमनुष्या:' में 'प्रथमचरम०'[८] आदि सूत्र से 'उभय+जस्' में सर्वनाम संज्ञा के विहित विकल्प को, पर होने पर भी बाध करके अन्तरङ्ग[९] होने से 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[१०] सूत्र से सर्वनाम संज्ञा नित्य ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'असुस्रुवत्' में द्वित्व करने के पश्चात् 'अ+सु+स्रु+अ+त्' स्थिति में पर लघूपधगुण का भी बांधकर अन्तरङ्ग होने से 'उवङ्'[११] होकर रूप सिद्ध हो जाता है। **(इ) पर से अपवाद बलवान्**— जैसे 'अनेकाल्शित् सर्वस्य'[१२] सूत्र के सर्वादेश के पर होने पर भी, उसको बांधकर अपवाद होने से 'ङिच्च'[१३] सूत्र से अन्तादेश होता है। उदाहरणस्वरूप 'दध्ना' में 'अस्थिदधि०'[१४] सूत्र से अन्त के स्थान में 'अनङ्' आदेश हो जाता है।

(ग) नित्य की अपेक्षा अन्तरङ्ग तथा अपवाद बलवान् : (अ) नित्य से अन्तरङ्ग बलवान्— 'ग्रामणिनी कुले' में 'इकोऽचि विभक्तौ'[१५] सूत्र से विहित नित्य 'नुम्'[१६] को बाधकर 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'[१७] सूत्र से ह्रस्व हो जाता है।

---

१. अष्टा० ७/३/१०२। २. वही, ७/३/१०३।
३. वही, १/४/२। ४. वही, ३/१/७७।
५. अष्टा० ७/३/८६।
६. लघूपधगुण करने अथवा न करने पर भी 'श' प्रत्यय होता है।
७. अष्टा० ३/१/७८। ८. अष्टा० १/१/३३।
९. विभक्ति निरपेक्ष होने से अपर-निमित्तक रूप 'अन्तरङ्ग'।
१०. अष्टा० १/१/२७। ११. अष्टा० ६/४/७७।
१२. अष्टा० १/१/५५। १३. वही, १/१/५३।
१४. अष्टा० ७/१/७५। १५. अष्टा० ७/१/७३।
१६. ह्रस्व होने या न होने में दोनों अवस्था में 'नुम्' प्राप्त है।
१७. अष्टा०, १/१/४७।

(आ) नित्य से अपवाद बलवान्– यथा 'अवदिग्ये' में लिट् परे रहते 'लिटि धातोरनभ्यासत्य'[१] सूत्र से विहित नित्य द्वित्व का भी अपवाद[२] होने से 'दयतेर्दिगि लिटि'[३] सूत्र से विहित 'दिगि' आदेश द्वारा बाध कर दिया जाता है। फलत: द्विर्वचन न होकर 'अवदिग्ये' उक्त रूप सिद्ध हो जाता है।

(घ) अपवाद की बलवत्ता के उदाहरण : (अ) अन्तरङ्ग से अपवाद बलवान्— जैसे 'दैत्यारि:', 'श्रीश:' इत्यादि में परवर्ती सवर्ण दीर्घ का भी बाध कर अन्तरङ्ग होने से 'आद् गुण:'[४] सूत्र से गुण तथा 'इको यणचि'[५] सूत्र से यण् की प्राप्ति होने पर, अपवाद होने से सवर्ण दीर्घ हो जाता है। इसी प्रकार उन्न्यौ, उन्न्य: तथा 'सुल्वौ, सुल्व:' में अन्तरङ्ग होने से इयङ् तथा उवङ् प्राप्त होता है। अपवाद होने से क्रमश: 'एरनेकाचो०'[६] सूत्र से यण् तथा 'ओ: सुपि'[७] सूत्र से यण् आदेश हो जाते हैं।

(आ) पर,नित्य,अन्तरङ्ग से अपवाद बलवान्— 'बभूव' प्रयोग में 'भू+अ' इस अवस्था में द्वित्व, यणादेश, उवङ्, गुण, वृद्धि और वुक् आगम युगपत् प्राप्त हैं। द्विर्वचन[८] से परवर्ती होने के कारण यण् आदेश प्राप्त है। परन्तु द्विर्वचन नित्य[९] होने से परवर्ती यणादेश का बाधक है तथा नित्य द्वित्व का भी उवङ्,[१०] अन्तरङ्ग[११] होने से बाधक है, अन्तरङ्ग उवङ् का भी अपवाद होने से गुण[१२] बाधक है, गुण का भी अपवाद वृद्धि[१३] है तथा इन दोनों का अपवाद वुक्[१४] निवरकाश होने से हो जाता है। इस प्रकार उक्त रूप सिद्ध हो जाता है।

समीक्षा : दो सूत्रों में परस्पर विप्रतिषेध होने पर कौन-सा सूत्र बलवान् होगा तथा किसी लक्ष्य में परस्पर विप्रतिषेध वाली विधियां प्राप्त होती हों तो वहाँ कौन सी विधि होगी? इसका निर्णय प्रस्तुत परिभाषा द्वारा प्रतिपादित किया गया है। निम्न विधियों में बाध्यबाधक-भाव होता है, उत्तरोत्तर विधि पूर्व की अपेक्षा बलवत्तर होती है। यह परिभाषा प्रस्तुत रूप में प्राचीन किसी भी परिभाषा ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती है। नागेश ने ही सम्भवत: इस रूप में प्रस्तुत किया है। स्यात् नागेश का आधार 'शब्दकौस्तुभ'[१५]

---

१. अष्टा० ६/१/८।

२. द्विर्वचन की अवश्य प्राप्ति में ही 'दिगि' आदेश का विधान होने से 'अपवाद' है।

३. अष्टा० ७/४/९।

४. अष्टा० ६/१/८७।

५. अष्टा० ६/१/७७।

६. वही, ६/१/८२।

७. वही, ६/१/८३।

८. अष्टा० ६/१/८।

९. कृताकृतप्रसङ्गी-रूप नित्यता।

१०. अष्टा० ६/४/७७।

११. अल्पनिमित्तकत्व-रूप अन्तरङ्ग।

१२. अष्टा० ७/३/८४।

१३. वही, ७/२/११५।

१४. वही, ६/४/८८।

१५. श०कौ०।

रहा हो। प्राचीन आचार्यों ने इस परिभाषा के परिगणित विषय का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। जैनेन्द्र ने पर से नित्य की, नित्य से अन्तरङ्ग की, उत्सर्ग से अपवाद की बलवत्ता पृथक्-पृथक् परिभाषाओं से प्रतिपादित की है।[१] हेमचन्द्र ने भी स्वतन्त्र परिभाषाओं द्वारा इसका विषय प्रस्तुत किया है।[२] भोज और कातन्त्र ने भी स्वतन्त्र परिभाषाओं द्वारा इसके विषय का वर्णन किया है।[३]

इस प्रकार नागेश ने भाष्यानुकूल सभी विप्रतिषेध विषयक विधियों की उत्तरोत्तर बलवत्ता प्रतिपादक परिभाषा उपात्त की है। नागेश ने अत्यन्त सरल होने से इसके अर्थ आदि को प्रतिपादित किया है। परन्तु उदाहरण न देने से कुछ काठिन्य का अनुभव स्वाभाविक है, उदाहरण देना आवश्यक था।

(३६) पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् ।।प०३९।।

परिभाषा का उपक्रम : 'पूर्वपरनित्य०'[४] इस परिभाषा से पर के द्वारा पूर्व का बाधक स्वीकार करने पर यहाँ यह शङ्का होती है कि पर का कार्य होने के पश्चात् पुनः दूसरे पूर्व सूत्र द्वारा सामान्य कार्य प्राप्त हो तो वह होता है अथवा नहीं? यदि नहीं तो 'भिन्धि'[५] रूप दुर्लभ होने लगेगा, क्योंकि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः'[६] सूत्र जो हि[७] का धि आदेश विधान करता है, वह पूर्ववर्ती सूत्र[८] है और 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्'[९] यह परवर्ती[१०] सूत्र है, यह हि के स्थान में वैकल्पिक तातङ् आदेश विधान करता है। अब पूर्व के पर शास्त्र से सर्वथा बाधने[११] पर पुनः (विकल्पपक्ष में) हि को धि का प्रसङ्ग ही नहीं। अर्थात् इस प्रकार तातङ् पक्ष में हि के स्थान में परत्व से तातङ् आदेश होने से पुनः अभाव पक्ष में 'हि' को 'धि' नहीं होना[१२] चाहिए? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : लक्ष्यानुरोध से (कभी-कभी) किसी शब्द रूप की सिद्धि में परत्व अथवा किसी प्रकार से पूर्वशास्त्र के बाधित होने पर भी पूर्व सूत्र

---

१. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ७७,८०,९०।

२. हैमपाठ परि०सं० ५२-५५ तथा १३०।

३. भोजपाठ, परि०सं० ८५, कातंत्रपाठ, परि०सं० ६३।

४. प०शे० परि०सं० ३८।

५. भिद् धातु, लोट् लकार, म०पु०ए०।

६. अष्टा० ६/४/१०१।

७. वही, ३/४/८७।

८. वही, ६/४/१०१।

९. वही, ७/१/३५।

१०. वही, ७/१/३५।

११. वही, १/४/२।

१२. गूढार्थ०, पृष्ठ २१३, पं० ७-१० तथा तत्त्वा०, पृष्ठ ६५, परि०सं० ३९ पर टिप्पणी।

का पुनः प्रसङ्ग (प्रवृत्ति) माना जाता है।

परिभाषा का आशय : 'सिद्धम्' यह शब्द सामान्य अर्थ में नपुंसक लिंग है। अर्थ है — लक्ष्यं सिद्धं भवति। 'प्रसङ्ग' यह लुप्तसप्तमीक पद है। 'प्रसङ्गे' प्राप्ति होने पर। विज्ञानम्-शास्त्र की प्रवृत्ति। फलितार्थ यह हुआ कि परत्व से अथवा अन्य किसी प्रकार से प्रथम बाधक (कार्य) हो जाने पर पुनः यदि उत्सर्ग कार्य की प्राप्ति होती हो तो वहाँ उत्सर्ग भी प्रवृत्त हो जाता है। वह भी जहाँ प्रथम प्रवृत्त हुआ कार्य कुछ न बिगड़े, वहीं वह कार्य होता है।[१]

परिभाषा का सिद्धि प्रकार (हेतु) : नागेश इससे परिभाषा की सिद्धि लोक दृष्टान्त-मूलक मानकर 'विप्रतिषेध शास्त्र' से करते हैं। इसकी सिद्धि इस प्रकार होती है। लोक में यह रीति है कि समान बल वाले दो पुरुषों का प्रेष्य, (नौकर जो काम पर भेजा जाता है) उन दोनों का पर्याय से कार्य करता है। परन्तु जब वे दोनों उसे एक ही समय में ऐसे कार्य पर भेजते हैं, जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में करना होता है, वह एक ही समय दोनों को करने में असमर्थ होने से किसी एक का भी कार्य नहीं करता है। इसी प्रकार दो शास्त्रों का अपना-अपना विषय होने पर, जहाँ एक प्रवृत्त होता है, वहाँ दूसरा प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रकार किसी एक लक्ष्य में दोनों की एक साथ प्राप्ति होने पर प्रवृत्ति न हो सकेगी। फलतः अप्रतिपत्ति (कार्य न करना) होती है। अतः अप्रतिपत्ति के वारण के लिए 'विप्रतिषेध'[२] सूत्र पर विधि के लिए है, पर शास्त्र प्रवृत्त हो, इस विधान के लिए है। विधि सूत्र मानने पर ही, पर शास्त्र की प्रवृत्ति के पश्चात् यदि पूर्व शास्त्र का प्रसङ्ग हो तो वह भी प्रवृत्त होता है, क्योंकि पर ही होता है, इस नियम के अभाव से सर्वथा पूर्व की निवृत्ति नहीं बाध ली जाती है। यह सब 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[३] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। इस प्रकार लोकन्याय-दृष्टान्त के आश्रयण से लब्ध यह न्याय है, सिद्ध हो जाता है। प्रसङ्गतः कैयटादि के मत का उल्लेख कर विस्तार से खण्डन किया है।[४] कैयटादि अन्य प्रकार से परिभाषा की सिद्धि मानते हैं। उसका अग्रिम परिभाषा में उल्लेख किया जायेगा।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त : नागेश इस परिभाषा की प्रवृत्ति में पूर्व कार्यप्रवृत्ति की सम्भावना मात्र मानते हैं तथा लक्ष्यानुरोध का ही आश्रयण करते हैं।[५] **(क) कैयट मत** – कैयट तथा अन्यों[६] के मतों का उल्लेख प्रायः सभी टीकाकारों[७] ने किया है। कैयट के अनुसार इस परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होती है, जहाँ पूर्व शास्त्र की प्रवृत्ति

---

१. म०भा० १/४/२ तथा उ०भी०। २. अष्टा० १/४/२।
३. म०भा०, १/४/२। ४. गूढार्थ०, पृष्ठ २१७।
५. प०शे०, पृष्ठ २१६। ६. सीरदेव, हरदत्त, कौस्तुभकार आदि।
७. गदा, गूढार्थ०।

से परशास्त्र की प्रवृत्ति असम्भव नहीं होती है।[१] इस प्रकार जहाँ पर शास्त्र की प्रवृत्ति सम्भव हो, विरोध नहीं, वहाँ इसी न्याय की प्रवृत्ति होती है अन्य की नहीं। इस प्रकार इसके निश्चित विषय का कथन कर दिया गया है।

(ख) नागेश मत – नागेश कैयट के इस मत को नहीं स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इस न्याय की प्रवृत्ति का विषय निश्चित नहीं किया जा सकता है। लक्ष्यानुरोध से ही इसकी प्रवृत्ति का निर्णय हो सकता है। अन्यत्र स्वयं कैयट भी अपने इस मत का अर्थत: प्रतिवाद करते हैं। 'ई च द्विवचने'[२] सूत्र के भाष्य की व्याख्या में यह कहा है कि 'अक्षि+औ' में 'इ' का दीर्घ ईकार आदेश विधान होता है। उपर्युक्त सूत्र पर होने से नुम्-विधायक 'इकोऽचि विभक्तौ'[३] को बाधता है। पर सूत्र से सकृत्[४] बाधित हो जाने से पूर्व सूत्र की पुन: प्रवृत्ति नहीं होती है। उसके अभाव में विभक्ति का 'शी'[५] आदेश हो जाता है। पश्चात् अंग के ई, तथा विभक्ति के ई के स्थान में पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश ई होकर 'अक्षी' यह रूप सिद्ध होता है। यहाँ कैयट रीति से पुन: प्रसङ्ग न्याय का विषय है, दूसरे न्याय का नहीं होना चाहिए? इसी प्रकार 'साक्षात्०'[६] आदि सूत्र के ही कैयट के अनुसार भी उपर्युक्त कैयट मत खण्डित हो जाता है।

परिभाषा के उपक्रम का पाठान्तर : इस परिभाषा का ऐसा 'नन्वेवं भिन्द्धकीत्यत्र परत्वाद्धिना बाधितोऽकच् न स्यात्'[७] अवतरण भी पढ़ा जाता है। इस अवतरण में 'धि' के अन्तरङ्ग होने से और 'अकच्' के नित्य होने से अतुल्यबल विरोध के कारण परत्व होने से ही बाध न हो सकेगा, अत: इस परिभाषा की आवश्यकता है, परन्तु इस अवतरण का भी कुछ टीकाकारों ने खण्डन किया है।[८]

परिभाषा का प्रयोजन : पुन: प्रसङ्ग के विज्ञान से बाध्यशास्त्र की प्रवृत्ति का उपाय सिद्ध हो जाने से 'ईजतु:' प्रयोग में यज् धातु को परत्व से सम्प्रसारण हो जाने के पश्चात् भी पुन: प्रसङ्गविज्ञान से द्वित्व हो जाता है। इसी प्रकार 'भिन्द्धि'[९] में विकल्प पक्ष[१०] में हि का धि हो जाता है। फलत: 'भिन्द्धि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : किसी लक्ष्य में विप्रतिषेध से कोई नियम बलवान् होकर एक बार

---

१. प्र० १/२/२८ 'तितउच्छत्रम्' पर टिप्पणी।

२. प्र० ७/१/७७।

३. अष्टा० ७/१/७२।

४. प०शे० परि०सं० ४०।

५. अष्टा० ७/१/१९।

६. प्र० १/४/७४।

७. गदा, पृष्ठ ७२।

८. गूढार्थ०, पृष्ठ २१४।

९. भिद् लोट्, म०पु०ए० में सिप्, हि।

१०. अष्टा० ७/१/३५ से तातङ् के अभाव में।

प्रवृत्त हो जाय अथवा विप्रतिषेध में जो बाधक हो गया, उसके होने के पश्चात् पूर्व या सामान्य नियम की पुन: प्रवृत्ति होती है या नहीं? इसी का निर्णय इस परिभाषा में किया जाता है। यह परिभाषा इसी रूप में सभी प्राचीन परिभाषा व्याख्याकार व्याडि आदि आचार्यों ने पढ़ी है।[१] केवल कातन्त्र एवं हेमचन्द्र ने नहीं पढ़ी है।[२] यह सर्वप्रथम महाभाष्य में पढ़ी है।[३] उसी पाठ का सभी परिभाषा—व्याख्याताओं ने अनुकरण किया है। इस परिभाषा का अर्थ सभी में समान रूप से प्राप्त है तथा पूर्ववर्ती सभी व्याख्याकारों ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। नागेश ने अर्थ एवम् उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया है। स्यात् अति सरल होने के कारण अर्थ एवम् उदाहरण नहीं प्रस्तुत किए हैं।

इस परिभाषा के हेतु के विषय में नागेश एवं प्राचीनों में मतभेद है। व्याडि इस विषय में कुछ नहीं कहते हैं। जैनेन्द्र ने भी कुछ नहीं कहा है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर जातिपदार्थ में विप्रतिषेध सूत्र द्वारा यह न्याय फलित मानते हुए विस्तार से उपपादित करते हैं।[४] नागेश इसको नहीं मानते हैं। इनके अनुसार लोक-दृष्टान्त-मूलक विप्रतिषेध सूत्र द्वारा फलित यह न्याय मानना चाहिए। जाति का आश्रयण करके यह नहीं सिद्ध हो सकता है। इस परिभाषा के प्रवृत्ति-निमित्त-विषय का भी नागेश ने स्पष्टीकरण किया है। सीरदेव को छोड़कर अन्य किसी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है। सीरदेव इस न्याय के आश्रयण में लक्ष्यानुरोध ही हेतु मानते हैं।[५] नागेश भी इन्हीं अनुकरण करते हुए लक्ष्यसिद्धि ही हेतु मानते हैं। इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में परिभाषा के मूल और प्रवृत्ति-निमित्त पर विशेषत: अपना मन्तव्य प्रकट किया है।

(३७) सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव।।प०४०।।

परिभाषा का उपक्रम : यहाँ यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि सर्वत्र प्रसङ्ग-प्राप्ति होने पर पूर्वत: बाधित पूर्व शास्त्र की पुन: प्रवृत्ति हो जाती है तो 'तिसृणाम्'[६] (-त्रि+नाम्) प्रयोग में त्रि के स्थान में, जो आम् (षष्ठी बहु०) के परे 'त्रेस्त्रय:'[७] सूत्र से त्रय आदेश विधान किया है, इसे बाधकर[८] स्त्रीत्व विवक्षा में 'त्रिचतुरो:स्त्रियां

---

१. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। २. कातंत्र पाठ हेम पाठ।

३. म०भा० १/४/२।

४. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ४०, सीरदेववृत्ति, परि०सं० २१, नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० २६, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० २१।

५. सीरदेववृत्ति, परि०सं० २१। ६. 'त्रि' शब्द स्त्रीलिंग में षष्ठी वि०बहु०।

७. अष्टा० ७/१/५३। ८. परत्व होने से द्र० अष्टा० १/४/२।

तिसृचतसृ'[१] सूत्र से 'तिसृ' आदेश होता है, जो स्थानिवद्भाव[२] से त्रि ही है, इसको पुनः 'त्रय' आदेश हो जाना चाहिए? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— विप्रतिषेध होने पर जो शास्त्र एक बार बाधित हो जाता है, वह पुनः प्राप्त होने पर भी बाधित ही रहता है, पुनः प्रवृत्त नहीं होता है। **परिभाषा का आशय :** परिभाषा में गतौ-प्राप्तौ (प्राप्ति होने पर) यह अर्थ है। 'सकृद्' का अन्वय 'बाधित' के साथ है। 'विप्रतिषेध' का अर्थ तुल्यबल विरोध है, इस प्रकार अर्थ हुआ। किसी और लक्ष्य सिद्धि में भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले दो शास्त्रों के सफल हो चुकने पर एक प्रयोग में युगपत् कार्य की प्राप्ति होने पर, एक बार जो बाधित हो गया, वह बाधित ही समझा जाता है, पुनः प्रवृत्त नहीं होता है।[३]

परिभाषा-सिद्धि प्रकार : यह परिभाषा विप्रतिषेध शास्त्र के आधार पर मानी जाती है। इस 'सकृद्गतौ०' न्याय की सिद्धि निम्न प्रकार से होती है— जब किसी शब्द रूप लक्ष्य की सिद्धि में दो भिन्न-भिन्न कार्य, जो किसी और शब्दरूप लक्ष्य की सिद्धि में चरितार्थ हो चुके हैं तथा अब एक साथ प्राप्त होते हैं, परन्तु एक साथ प्रवृत्ति असम्भव है, इस प्रकार बाधक का अभाव होने के कारण उनके विधायक शास्त्रों की प्रवृत्ति पर्याय से (एक के पीछे दूसरे की) होगी, इसमें दृष्टान्त है। जैसे ण्वुल्,[४] तृच्[५] कर्ता अर्थ में 'धातु मात्र' से पर्याय से होते हैं। जैसे कर्तृ - (कृ+तृच्) कारक- (कृ+ण्वुल्)[६], क्योंकि उन दोनों की प्रवृत्ति की कोई रोकथाम नहीं है, ऐसे ही प्रकृत में भी दो शास्त्रों का पर्याय से प्रसङ्ग होने पर विप्रतिषेध शास्त्र 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[७] सूत्र नियम करता है[८] कि 'पर' (कार्य) ही हो, पूर्व (कार्य) न हो'। इस प्रकार विप्रतिषेध शास्त्र को शास्त्रीय दृष्टान्त के आश्रयण का मूलक नियामक सूत्र मानने से यह न्याय सिद्ध होता है।[९]

(क) कैयट आदि के मत में दो परिभाषाओं की सिद्धि : इस परिभाषा की तथा पूर्व परिभाषा की सिद्धि कैयट आदि अन्य प्रकार से मानते हैं, उसी का वर्णन

---

१. अष्टा० ७/२/९९। २. वही, १/१/५६।

३. प०शे०, पृष्ठ २१५। ४. अष्टा० ३/१/१३३।

५. वही, ३/१/१३३।

६. कृ धातु, तृच् प्रत्ययान्त कर्तृ तथा कृ, ण्वुल।

७. अष्टा० १/४/२।

८. नियम की परिभाषा निम्न कारिका में की गई है— "विधिरत्यन्त्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।" द्र० कुमारिल भट्टकृत तन्त्रवार्तिक-कारिका।

९. गूढार्थ०, पृष्ठ २१६, पं० ३-४ तथा उ० १/४/२।

प्रसङ्गतः किया जाता है। यहाँ पर कैयट आदि[१] के अनुसार व्यक्ति पदार्थ में 'सकृद्गति-न्याय' की सिद्धि होती है और जाति पदार्थ में 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानन्याय' की सिद्धि होती है। इसका नागेश ने विस्तृत विवेचन किया है। **(अ) कैयट आदि के अनुसार 'सकृद्गति' परिभाषा सिद्धि प्रकार :** कैयट और उनके अनुगामी सीरदेव, हरदत्त और कौस्तुभकार आदि निम्न प्रकार से सिद्ध करते हैं, इनके अनुसार पद का वाच्यार्थ व्यक्ति है, इस पक्ष में प्रतिलक्ष्य लक्षण का भेद होने से (जितने लक्ष्य-साध्यरूप हैं,[२] उतने ही साधक सूत्रों[३] के होने से) उस-उस व्यक्ति विषयक नव कल्पित दो सूत्रों[४] के पूर्वत्र अपने विषय में अचरितार्थ होने से एक ही लक्ष्य[५] में इनके प्रथम बार प्राप्त होने के कारण प्रसक्त होने से पर्याय से प्राप्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[६] यह शास्त्र नियामक हो जाता है, पर शास्त्र ही प्रवृत्त हो, पूर्व न हो, ऐसा नियम करता है, इससे 'सकृद्गतौ न्याय' की सिद्धि होती है। इस नियम पक्ष में विप्रतिषेध होने पर 'पर ही हो' ऐसा नियम होने से ही, पर शास्त्र-विषयक उदाहरण में पूर्व शास्त्र[७] का उपप्लव-भेद नहीं होता है (अर्थात् पर की ही प्रवृत्ति होने से उस व्यक्ति विषयक कल्पित पूर्वशास्त्र की व्यर्थता हो जाती है? ऐसी शङ्का नहीं होती है)।[८] **(आ) इन्हीं के मत में 'पुनः-प्रसङ्गन्याय' की सिद्धि :** जाति पक्ष में (जब पद का वाच्यार्थ जाति है) उद्देश्य के जाति से आक्रान्त हो जाने पर जाति के अंगभूत किसी एक अथवा दो व्यक्तियों (लक्ष्यों) में दो शास्त्रों[९] के चरितार्थ होने से किसी एक लक्ष्य[१०] (जो शास्त्रविहित कार्य का उद्देश्य है) में युगपत् (एक साथ) दोनों कार्यों के असम्भव होने से दोनों की अप्रवृत्ति प्रसक्त होती है, जैसे 'सत्प्रतिपक्षन्याय'[११] में होता है। सत्प्रतिपक्ष स्थल में परस्पर प्रतिबन्धक हेतु होने से किसी भी एक साध्य की भी अनुमिति नहीं होती। इसी प्रकार युगपत् दोनों कार्यों के 'असम्भव रूप विरोध-स्थल'[१२] में दोनों की

---

१. सीरदेव, हरिदत्त, दीक्षित आदि। २. बृक्षेभ्यः, बृक्षाभ्याम् इत्यादि लक्ष्य।

३. लक्ष्य भेद से 'सुपि च' का अर्थ दो प्रकार से हो जाता है, (१) भ्याम् परे रहते बृक्ष शब्द का दीर्घ (२) तथा भ्यस् परे रहते बृक्ष शब्द का दीर्घ, इस रूप में विशिष्ट दीर्घ का विधायक होने से भिन्न है।

४. 'बृक्षेभ्यः' से सम्बद्ध 'सुपि च' एवं 'बहुवचने झल्येत्' सूत्र।

५. बृक्षेभ्यः (बृक्ष+भ्यस्) में दीर्घ, एवं एत्व।

६. अष्टा० १/४/२। ७. 'सुपि च' ७/३/१०२ शास्त्र।

८. प०शे०, पृष्ठ २१७ पं० ६।

९. 'सुपि च' ७/३/१०२ तथा 'बहुवचने झल्येत्' ७/३/१०३।

१०. 'बृक्षेभ्यः' में। ११. दीर्घ तथा एत्त्व।

१२. बृक्षेभ्यः में 'बृक्ष+भ्यस्' स्थिति में।

ही प्राप्ति नहीं होती है। फलत: (जिससे) शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से इष्ट रूप की असिद्धि का प्रसङ्ग हो जाता है। इस प्रकार इस पक्ष में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[१] 'अत्यन्त अप्राप्ति'[२] में पर शास्त्र की प्रवृत्ति हो, इस प्रकार विधि शास्त्र बन जाता है। (पूर्व शास्त्र का निषेध नहीं करता, पर शास्त्र के प्रवृत्त होने पर यदि पूर्व शास्त्र की प्रवृत्ति का अवसर हो तो, वह भी हो सकता है) इससे 'पुन: प्रसंगविज्ञानात् सिद्धम्' यह परिभाषा सिद्ध होती है। उपर्युक्त सन्दर्भ में कैयट आदि 'प्रतिलक्ष्यं लक्षणभेदात्' एक-एक लक्ष्य के लिए लक्षण-भेद स्वीकार करने से व्यक्ति पक्ष में शास्त्र सभी लक्ष्यों को व्याप्त करता है, अपना विषय बनाता है और जाति पक्ष में किसी एक दो लक्ष्यों में चरितार्थ होने से अव्यापक रह जाता है, ऐसा अभिप्राय प्रकट करते हैं।[३] **(ख) उपर्युक्त मत का खण्डन— (अ)** नागेश इस मत का प्रत्याख्यान करते हैं। इसके समर्थन में इन्होंने हेतुओं द्वारा विस्तार से प्रत्याख्यान किया है। इनका कहना है कि व्यक्ति-पक्ष में शास्त्र लक्ष्य मात्र को व्याप्त करता है, जाति पक्ष में नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।[४] क्योंकि इसके विपरीत जाति पक्ष में भी सर्व लक्ष्य को व्याप्त करता है। इसमें 'सरूपाणामेकशेष०'[५] सूत्र का भाष्य प्रमाण है। 'ब्राह्मण को मारे'- यह निषेध जात्याश्रित सभी ब्राह्मण व्यक्तियों में लागू हो, इसीलिए जाति पक्ष का आश्रयण भाष्य में किया है।[६] **(१) उपर्युक्त के समर्थन में हेतु** — जाति-पक्ष में शास्त्र लक्ष्य मात्र का व्यापक होता है, ऐसा मानने से ही 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'[७] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार का यह कहना संगत होता है "जाति" के पदार्थ होने पर जात्याश्रित सकल व्यक्तियों में शास्त्र प्रवृत्ति का प्रसंग होने से 'गौरनुबन्ध्य:' (बैल को बांधे) इस शास्त्र की विधि में सकल गौ व्यक्तियों का अनुबन्धन असम्भव होने से शास्त्रीय कार्य (एक गौ का बन्धन रूप कर्म) विकलांग रह जायगा। फलत: उससे फल की प्राप्ति नहीं हो सकेगी"। इस प्रकार इस भाष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति पक्ष में भी शास्त्र सकल लक्ष्यमात्र को व्याप्त करता है। **(आ) व्यक्ति पक्ष में भी शास्त्र की सकल लक्ष्य अव्यापकता—** कैयट से विपरीत अर्थ में प्रमाण भी है। व्यक्तिपक्ष में (द्रव्य-वाद में तो) व्यक्ति के पदार्थ होने पर सकल गो व्यक्तियों का बुद्धया ग्रहण न होने से 'गौरनुबन्ध्य:' इस विधि के अनुष्ठान में एक बैल का अनुबन्धन तो शास्त्रविहित अनुष्ठान होगा और उससे अतिरिक्त अन्य गौ का अनुबन्धन अशास्त्रविहित अनुष्ठान ठहरेगा, ऐसा भी कहा है।[८] इससे व्यक्तिपक्ष में शास्त्र अव्यापक रहता है यह अत्यन्त स्पष्ट है। **(इ) उक्त मत का विप्रतिषेध**

---

१. अष्टा० १/४/२।

२. तन्त्र कारिका, 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' अन्य की अत्यन्त अप्राप्ति में विधि होती है।

३. प्र० १/४/२।

४. प०शे०, पृष्ठ २१८।

५. म०भा० १/२/६४।

६. विस्तार से गूढार्थ०, पृष्ठ २१८।

७. म०भा० १/२/६४।

८. वही, १/२/६४।

भाष्य से विरोध — कैयट का मत, दोनों न्यायों की सिद्धि प्रतिपादन करने वाले 'विप्रतिषेध सूत्र' के भाष्य के विरुद्ध है। उस सूत्र के भाष्य में दोनों ही (जाति-व्यक्ति) पक्षों को मानकर 'तृच्' आदि का दृष्टान्त दिया है तथा दृष्टान्त-भेद से पर्याय तथा अप्रतिपत्ति की प्राप्ति दिखाकर उसके आश्रय से नियम एवं विधि मानकर दोनों न्यायों की सिद्धि की है। जाति अथवा व्यक्ति का आश्रयण करके उनकी सिद्धि नहीं दिखाई गई है। इस प्रकार कैयटोक्त मत "व्यक्तिपक्ष में ही 'तृच्' आदि सम्पूर्ण लक्ष्य विषय वाले हैं, जाति पक्ष में नहीं," यह खण्डित हो जाता है। भाष्य में यदि कैयटोक्त रीति से व्यक्ति पक्ष में तृजादि दृष्टान्त से पर्याय तथा जाति पक्ष में प्रेष्य-दृष्टान्त से अप्रवृत्ति माने, तो जातिपक्ष में अप्रवृत्ति का प्रारम्भ कर तव्यतादि दोष-शङ्कापरक भाष्य असङ्गत हो जायेगा[१] तथा वहाँ के कैयट की असङ्गति भी प्राप्त होती है।[२] इस प्रकार वहाँ के भाष्य से प्रतीत होता है कि जाति एवं व्यक्ति पक्ष का आश्रयण करके दृष्टान्तों का कथन नहीं है। दोनों ही पक्षों में शास्त्रीय एवं लौकिक दृष्टान्त के आश्रयण से उक्त न्याय सिद्ध होते हैं।[३]

(ई) कैयटयुक्ति की अयुक्तता : (१) कैयट की दोनों उक्तियां परस्पर व्यभिचरित हैं। अन्यथा भी व्यक्तिपक्ष में शास्त्र की लक्ष्य मात्र में व्यापकता सिद्ध की जा सकती है। व्यक्ति पक्ष में भी ऐसी कल्पना की जा सकती है कि कोई एक व्यक्ति[४] अन्य व्यक्ति[५] रूप विषय को प्राप्त करके 'चरितार्थ हुए दो शास्त्रों'[६] का अपने आपको विषय न बनाये। जब वे उस एक व्यक्ति में, प्रवृत्ति समय में परस्पर विरोधी हो जाते हैं। परिणामस्वरूप इस पक्ष में भी उक्त स्थल में दोनों की अप्रतिपत्ति प्राप्त होती है, इसलिए 'विप्रतिषेध शास्त्र' विध्यर्थक माना जाता है। **(२)** जाति पक्ष में उस जाति के आश्रयभूत किसी एक व्यक्ति[७] में (किन्हीं व्यक्ति विशेषों में शास्त्र की प्रवृत्ति हो और किसी दूसरी उस जात्याश्रय[८] व्यक्ति अथवा व्यक्तियों में न हो, इसमें कोई विनिगमना नहीं है। फलतः पर्याय की प्रवृत्ति प्राप्त होने पर 'विप्रतिषेध सूत्र'[९] नियामक माना जाता

---

१. म०भा० १/४/२, 'तव्यादादीनां त्वप्रसिद्धि०' इत्यादि प्रकरण।

२. प्र० १/४/२, 'त व्यादादीनां तु कार्यस्य' पर टिप्पणी।

३. गूढार्थ०, पृष्ठ २२०।

४. विरोध की आधारभूत 'बृक्षेभ्यः' इत्यादि व्यक्ति।

५. परस्पर अविषय वाले बृक्षाभ्याम्, बृक्षेभ्यः, बृक्षेषु आदि।

६. 'सुपि च' तथा 'बहुवचने झल्येत्' शास्त्र।

७. विरोध की आधारभूत व्यक्ति 'बृक्षेभ्यः' आदि।

८. परस्पर अविषयवाली बृक्षाभ्याम्, बृक्षेषु आदि।

९. अष्टा० 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्', १/४/२।

है। इस प्रकार कैयट आदि का मत सर्वथा युक्त नहीं है।[१] **(उ)** इस प्रकार इन दोनों न्यायों के आश्रयण में लक्ष्यसिद्धि ही मूल है। लक्ष्यानुरोध से कहीं[२] शास्त्रीय दृष्टान्त (तृजादि रूप का) का आश्रयण होता है और कहीं[३] लौकिक दृष्टान्त (दूत रूप) का आश्रयण करके उक्त न्याय की प्रवृत्ति होती है, यही भाष्य सम्मत मार्ग है।[४] उभय दृष्टान्त-समर्थित दोनों परिभाषायें मान्य हैं। **प्रसङ्गतः विप्रतिषेध अर्थ का स्पष्टीकरण**— शङ्का यह है कि विप्रतिषेध कहाँ-कहाँ होता है? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। विप्रतिषेध दो प्रकार का कहा गया है — द्विकार्ययोगः, असम्भवश्च। **(क)** एक ही स्थान में युगपत् कार्यद्वय की प्राप्ति।[५] **(ख)** दो विरोधी कार्यों का एक स्थल में एक साथ न हो सकना। इस प्रकार अन्यत्र अवकाश प्राप्त कर चुके दो शास्त्रों की एक साथ प्रवृत्ति में असम्भव मात्र में भी विप्रतिषेध ग्रहण किया जाता है।[६] 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए असम्भव रूप विप्रतिषेध भी उपयोगी है। **(अ) उक्त अर्थ में प्रमाण** — यह बात 'इको गुणवृद्धी'[७] सूत्र के भाष्य में कैयट की व्याख्या में स्पष्ट की गई है। भाष्य[८] में भी इसका उक्त अर्थ स्पष्ट किया है। इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं— **(१)** 'शिष्टात्'[९] की सिद्धि में 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्'[१०] सूत्र से हि[११] के स्थान में तातङ् आदेश होता है और 'शा हौ'[१२] सूत्र से हि परे रहते शास् को शा आदेश होता है। जब वे आदेश युगपत् प्रवृत्त होने लगते हैं, तो इनका अपने-अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य नहीं रह सकता है, क्योंकि तातङ् करते हैं तो शा आदेश का निमित्त 'हि' चला जाता है, यदि शास् को शा करते हैं, तो तातङ् के लिए 'शास्' रूप अंग जो तातङ् रूप आदेश का एक निमित्त है, नहीं रहता। इस प्रकार आनन्तर्य असम्भव है। यद्यपि हि को तातङ् आदेश होने के पीछे स्थानिवद्-भाव से हि मानकर अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य बना रहने से 'शा' किया जा सकता है, पर फिर भी आदेश की प्रवृत्ति के काल में अपने-अपने निमित्त के आनन्तर्य का असम्भव ही रहता है। इस प्रकार तत्प्रवृत्तिकालिक **असम्भव** को लेकर विप्रतिषेध शास्त्र प्रवृत्त होता है।[१३] **(२) असम्भव विप्रतिषेध का अन्य उदाहरण**— इसी प्रकार

---

१. प०शे०, पृष्ठ २२०।

२. 'तिसृणाम्' इत्यादि.

३. प०शे०, पृष्ठ २२१।

४. 'भिन्धि' इत्यादि उदाहरण।

५. म०भा० १/४/२ तथा १/१/३।

६. म०भा० १/१/३ तथा प्र० भी० 'नावश्यं०' टि०।

७. प्र० १/१/३।

८. म०भा० १/१/३।

९. शास् धातु, लोट् लकार, म०पु०ए०।

१०. अष्टा० ७/१/३५।

११. वही, ३/४/८७।

१२. अष्टा० ६/४/३५।

१३. प०शे०, पृष्ठ २२२।

'प्रियक्रोष्टूनि'[१] शब्द की सिद्धि में 'प्रियकोष्टु+शि (-इ)' इस अवस्था में 'नुम्'[२] और तृज्वद्भाव[३] का युगपत् होना असम्भव है। यदि 'इकोऽचि विभक्तौ'[४] सूत्र से नुम् करते हैं तो अंग क्रोष्टुन् हो जाता है और 'तृज्वत्क्रोष्टुः'[५] से तृज्वद्भाव क्रोष्टु को कहा है, क्रोष्टुन् को नहीं। नुमागम होने के पीछे 'यदागम०'[६] परिभाषा से 'क्रोष्टुन्' को 'क्रोष्टु' मानकर तृज्वद्भाव प्राप्त होता है, परन्तु नुम् के प्रवृत्ति के काल में नहीं। **(३) अन्य प्रकार के असम्भव का उदाहरण** — प्राचीन लोग 'भिन्द्धि'[७] रूप की सिद्धि में 'तातङ्' और धि'[८] आदेशों की युगपत् प्रवृत्ति में इनका एक ही स्थानों के साथ युगपत् सम्बन्ध तथा अङ्ग रूप निमित्त के साथ आनन्तर्य नहीं हो सकता है। वहाँ एक ही स्थानी 'हि' को दो आदेश तातङ् और धि एक साथ नहीं हो सकते और दोनों आदेशों के साथ अंग (जो आदेश के निमित्तों में से एक है) का आनन्तर्य भी नहीं हो सकता।[९] **(४)** इसी प्रकार 'वारीणाम्-' (वारि+आम्) इस अवस्था में 'इकोऽचि विभक्तौ'[१०] सूत्र से नुम् तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्'[११] सूत्र से नुट् आगम युगपत् नहीं हो सकते हैं। वे एक दूसरे को रोकते हैं। यदि नुम् करते हैं, तो अंग अजन्त नहीं रहता।[१२] यदि नुट् करते हैं तो अजादि विभक्ति परे न रहने से नुम् की प्राप्ति नहीं रहती है।[१३] फलतः असम्भव होने से विप्रतिषेध हो जाता है। इस प्रकार सर्वत्र दो कार्यों की युगपत् प्रवृत्ति में अपने-अपने निमित्त के आनन्तर्य का असम्भव रूप ही विप्रतिषेध शास्त्र की प्रवृत्ति का उपयोगी है, ऐसा समझना चाहिए।

पर विप्रतिषेध में विशिष्ट कथन— सर्वत्र पूर्व से पर बलवान् नहीं होता, कहीं-कहीं पर से 'पूर्व विप्रतिषेध' मानकर कार्य किया जाता है। पूर्व विप्रतिषेध के विषय में कहीं-कहीं इष्ट रूप की सिद्धि के लिए पूर्व शास्त्र के विधेय में स्वरित (चिह्न) की प्रतिज्ञा मान लेते हैं। अतः उसमें अधिक बल हो जाने से पूर्व-शास्त्र भी पर-शास्त्र का बाध कर लेता है।[१४] तथा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[१५] सूत्र में **पर** शब्द को इष्टवाची[१६]

---

१. प्रियाः क्रोष्टारो येषां तानि कुलानि 'प्रियक्रोष्टूनि'।

२. अष्टा० ७/१/७३। ३. वही, ७/१/६५।

४. वही, ७/१/७३। ५. वही, ७/१/९५।

६. प०शे० परि०सं० ११। ७. भिद् धातु, लोट्, म०पु०ए०।

८. अष्टा० ६/४/१०१।

९. गूढार्थ०, पृष्ठ २२३ तथा तत्त्वा०, पृष्ठ ६९।

१०. अष्टा० ७/१/७३। ११. वही, ७/१/५४।

१२. वही, १/१/४७। १३. वही, १/१/४६।

१४. म०भा० १/३/११। १५. अष्टा० १/४/२।

१६. वही, १/४/२।

मानने से शास्त्र में जो भी पूर्व विप्रतिषेध[१] कहे हैं, वे सभी संगृहीत होजाते हैं। ऐसा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[२] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार (असम्भव रूप) विप्रतिषेध होने पर परवर्ती न होने पर भी पूर्व-विप्रतिषेध मानकर कार्य हो जाता है— ऐसा 'स्वरितेनाधिकार:'[३] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

परिभाषा का प्रयोजन : विप्रतिषेध के होने पर जब एक बार शास्त्र बाधित है तो बाधित ही रहता है। अतएव 'तिसृणाम्' में पर-विप्रतिषेध से प्रथम 'तिसृ'[४] आदेश हो जाने पर पुन: स्थानिवत् मानकर 'त्रय'[५] आदेश नहीं होता है। इसी प्रकार 'स्तात्'[६] (त्वम्) में हि को तातङ् आदेश परवर्ती[७] होने से बाधता है। तातङ् को स्थानिवद् भाव से हि मानकर[८] धि नहीं होता है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : विप्रतिषेध से बलवान् विधि के प्रवृत्त हो जाने पर पुन: प्रसङ्ग विज्ञान मानने पर प्राप्त अतिप्रसङ्ग का निराकरण प्रस्तुत परिभाषा करती है। यह न्याय भी विप्रतिषेध विषय को स्पष्ट करने के कारण पूर्व न्याय से सम्बद्ध है। यह परिभाषा इसी रूप में प्राचीन सभी परिभाषा पाठों में उपलब्ध होती है। यह परिभाषा व्याडि, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर ने 'पुन: प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम' से पूर्व पढ़ी है।[९] परन्तु नागेश ने इसको पश्चात् पढ़ी है। इस परिभाषा का अर्थ सभी व्याख्याओं में समान है। इसके मूल के विषय में नागेश का प्राचीनों से मतभेद है। इसका इन्होंने अति विस्तार से प्रतिपादन किया है। व्याडि इसको ज्ञापक-सिद्ध तथा विप्रतिषेध सूत्र की नियामकता मूलक मानते हैं।[१०] कातन्त्रकार भी ज्ञापक सिद्ध मानते हैं।[११] जैनेन्द्र विप्रतिषेध सूत्र के नियामक मूलक मानते हैं।[१२] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर व्यक्तिपदार्थ में विप्रतिषेध शास्त्र का प्रपञ्च मानते हैं।[१३] परन्तु नागेश उक्त मतों का खण्डन करते हुए शास्त्रीय दृष्टान्तमूलक विप्रतिषेध शास्त्र से फलित यह न्याय मानते हैं। परिभाषा का प्रयोजन एवं प्रवृत्तिविषयक हेतु प्राचीन आचार्यों ने संक्षेप में

---

१. 'गुणवृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषिद्धम्' तथा 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट्' — वा० म०मा० १/४/२।

२. म०भा० १/३/११।

३. अष्टा० ७/२/९९।

४. वही, ७/१/५३।

५. अस् धातु, लोट्, म०पु०ए०।

६. अष्टा० ३/४/८७।

७. वही, ७/१/३५।

८. वही, ६/४/१०१।

९. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

१०. व्याडिवृत्ति, परि०सं० ८१।

११. कातंत्र पाठ, परि०सं० ३६।

१२. जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० ७३।

१३. पुरुषोत्तमवृत्ति परि०सं० ३९, सीरदेववृत्ति, परि०सं० २०, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० २५, हरिभास्करवृत्ति०, परि०सं० २०।

दिया है। नागेश ने इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। प्रवृत्ति के विषय में नागेश का कैयट से मतभेद है तथा नागेश प्रसङ्गतः इनकी व्याख्या में विप्रतिषेध का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं। कहाँ-कहाँ, किस-किस परिस्थिति में विप्रतिषेध होता है तथा पर शब्द से इष्टवाची गृहीत होने से पूर्व विप्रतिषेध का भी स्पष्ट व्याख्यान कर दिया है। इसप्रकार इनके द्वारा कृत व्याख्यान प्राचीनों के व्याख्यान की अपेक्षा अधिक समीचीन है।

(३८) विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्।।प०४१।।

परिभाषा का उपक्रम : सर्वत्र[१] पर के द्वारा पूर्व का बाध हो जाने पर यह समस्या उपस्थित होती है कि धातुओं के बाद लकारों के स्थान में 'तिप्'[२] आदि 'परस्मैपद',[३] आत्मनेपद[४] प्रत्यय पहले किये जायें? अथवा शबादि विकरण? यहाँ तात्पर्य यह है कि 'एधते' (एध्+शप्+त) इत्यादि प्रयोगों में नियम और विकरण दोनों की प्राप्ति होने पर 'ल्' के स्थान से सामान्य रूप से पहले तिबादि प्रत्यय होने पर 'कर्तरि शप्'[५] सूत्र के पर[६] होने से प्रथम शप् विकरण हो जायगा। तत्पश्चात् 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'[७] सूत्र से आत्मनेपद नियम की प्राप्ति अथवा प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी? क्योंकि 'धातोः'[८] इस सूत्र से पंचमी-निर्दिष्ट कार्य व्यवधान रहित उत्तर का होगा,[९] जो शप् का व्यवधान होने से नहीं हो सकता। फलतः पूर्व विहित परस्मैपद की व्यावृत्ति नहीं होगी, इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : विकरणशास्त्र के परवर्ती होने पर भी 'अनुदात्तङित[१०] आत्मनेपदम्' इत्यादि नियम शास्त्र उससे बलवत्तर माने जाते हैं। अर्थात् विकरणविधि से आत्मनेपद, परस्मैपद नियम विधान बलवान् होते हैं।

परिभाषा का हेतु : इसके हेतु के विषय में नागेश ने विस्तार से विचार किया है। इन्होंने इसके तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं— **(क) ज्ञापक :** इस परिभाषा के अस्तित्व में 'वृद्भ्यः स्यसनोः'[११] सूत्र द्वारा स्य परे होने पर 'वृत्' आदि धातुओं से परस्मैपद का, जो वैकल्पिक विधान किया है, वह ज्ञापक है। अन्यथा इस परिभाषा

---

१. पूर्व-विप्रतिषेध विषय को छोड़कर।

२. अष्टा० ३/४/७८। ३. वही, १/४/९९।

४. वही, १/४/१००। ५. अष्टा० ३/१/६८।

६. आत्मनेपद नियम विधायक सूत्र की अपेक्षा परवर्ती है, द्र० अष्टा० १/३/१२।

७. अष्टा० १/३/१२। ८. वही, ३/१/९१।

९. वही, १/१/६७। १०. वही, १/३/१२.

११. अष्टा० १/३/९२.

को स्वीकार न करने पर यदि पर होने[१] से नियम की प्रवृत्ति से पहले 'स्य' विकरण[२] हो जाये तो 'स्य' के व्यवधान के कारण नियम शास्त्र की प्रवृत्ति रुक जायेगी और सामान्य शास्त्र[३] से 'ल्' के स्थान में जो तिबादि हुए हैं, उन्हीं से दोनों रूप सिद्ध हो जायेंगे। 'वृद्भ्यः स्यसनोः' सूत्र से पाक्षिक परस्मैपद विधान व्यर्थ हो जायेगा। इस प्रकार व्यर्थ होकर यह परिभाषा ज्ञापित होती है। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'स्ये' में विषय-सप्तमी समझी जाती है।[४] 'स्य' के विषय में अर्थात् जहाँ स्य विकरण 'वृत्' आदि धातुओं से होना है। इस अर्थान्तर में विकरण से पूर्व आत्मनेपद का होना ही कारण है। इस प्रकार यह सूत्र नियम का बाध करने के कारण चरितार्थ है।[५]

(ख) सूत्र की चरितार्थता में पक्षान्तर— विकरण-रूप व्यवधान होने पर भी 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'[६] आदि नियम शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है, इसमें यही उक्त ज्ञापक है।[७] इसकी अभिव्यंजना 'शदेः शितः'[८] सूत्र के भाष्य में मिलती है।[९] इस प्रकार उक्त सूत्र के ज्ञापक से इस परिभाषा की सिद्धि न करके यह ज्ञापित करने का यत्न किया गया है कि विकरण से धातु को तिङ् से व्यवहित करने पर भी आत्मनेपद नियम प्रवृत्त होता है।[१०]

(ग) ज्ञापक के अभीष्ट सिद्धान्त पक्ष— वस्तुतः 'वृद्भ्यः स्यसनोः' इस ज्ञापक से यह सिद्ध होता है कि 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यादि सूत्र 'लस्य',[११] 'तिप्तझि०'[१२] इत्यादि सूत्र के साथ एकवाक्यता को प्राप्त होकर विधायक शास्त्र बनता है, नियामक नहीं होता है।[१३] यह एकवाक्यता कार्यकाल पक्ष में ही होती है, यथोद्देश पक्ष में नहीं, वहाँ वाक्यभेद ही रहता है।[१४] उस तिबादि-विधि में 'धातोः'[१५] सूत्र से पञ्चम्यन्त 'धातोः' की अनुवृत्ति आ रही है, यह पंचमी विहितपंचमी है— 'धातु से

---

१. वही, ३/१/३३, नियमसूत्र सं० १/३/१२ की अपेक्षा परवर्ती है।
२. अष्टा० ३/१/३३।
३. वही, ३/४/७८।
४. म०भा० तथा प्र० १/३/१२।
५. गूढार्थ०, पृष्ठ २२४।
६. अष्टा० १/३/१२।
७. 'वृद्भ्यः स्यसनोः' में स्य परे विकल्प करके परस्मैपद विधान।
८. म०भा० १/३/६०।
९. गूढार्थ०, पृष्ठ २२५, पं०८ से अन्त तक।
१०. प्र० १/३/७।
११. अष्टा० ३/४/७७।
१२. अष्टा० ३/४/७८।
१३. गूढार्थ०, पृ० २२६।
१४. गदा, पृष्ठ ७८।
१५. अष्टा० ३/१/९१।

जो विहित'। 'स्यसनोः'[१] में पर सप्तमी नहीं है। 'अनुदात्तङित०'[२] आदि भी पञ्चम्यन्त है, यह पंचमी भी विहित पंचमी है। इन दोनों शास्त्रों की एकवाक्यता (वाक्यैक्यवाक्यता) इस प्रकार होगी— 'धातु से विहित 'ल्' के स्थान में तिबादि होते हैं, वे अनुदात्त, ङित् धातुओं से ल् के स्थान में ऐसे होते हैं कि जिनके होने पर उनकी आत्मनेपद संज्ञा होती है।' इस प्रकार विहित विशेषण मानकर एकवाक्यता करने पर लावस्था में ही 'स्य' प्रत्यय होने से तत्कृत व्यवधान न होने पर आत्मनेपद हो जाता है। फलतः 'एधिष्यते' इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं।[३] **(अ) उक्त अर्थ में शंका**— 'अनुदात्तङित०'[४] आदि को विधायक मानने का 'एधते' आदि में 'शप्' आदि के व्यवधान में तङ्सिद्धि रूप फल क्यों नहीं मान लिया जाता? **समाधान**— 'शप्' आदि सार्वधातुक प्रत्यय की अपेक्षा रखते हैं।[५] अतः नियम शास्त्र (जिसे अभी विधायक सिद्ध किया गया है) की प्रवृत्ति हो चुकने पर सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर 'शप्' आदि प्रत्यय होंगे। इस प्रकार 'ल्' आदेश-तिबादि से पहले, 'शप्' आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

(घ) कैयट का पक्ष : यदि कैयट के अनुरोध से यह माना जाय कि 'ल्' मात्र के स्थान में होने से तिबादि आदेश अन्तरंग है और लकार विशेष लृट् आदि को मानकर होने वाले 'स्य' आदि बहिरंग है।[६] अतः बहिरंग स्यादि लादेश तिबादि के प्रति असिद्ध हैं। अतः व्यवधायक नहीं हैं। इस प्रकार 'धातोः' और 'अनुदात्तङितः-धातोः' में दिग्योग लक्षणा पंचमी[७] मॉनने में भी कोई दोष नहीं है। इस पक्ष में 'स्य'[८] सप्तम्यन्त का स्य विषय में, (जहाँ स्य होगा) ऐसा अर्थ करना चाहिए। इसी प्रकार एकवाक्यतापक्ष में आत्मनेपद आदि शब्दों में भाविसंज्ञा[९] का आश्रयण किया जाता है। इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय-रूप दोष नहीं होता है। **(ङ) आद्य (नियम) पक्ष में दोष :** (खण्डन) यदि 'लस्य तिबादयः' यह सामान्य शास्त्र तथा 'अनुदात्तङित०'[१०] आदि नियम शास्त्र

---

१. बृद्भ्यः स्यसनोः' अष्टा० १/३/९२ में गृहीत 'स्यसनोः' पद।

२. अष्टा० १/३/१२। ३. उ० ३/१/३।

४. अष्टा० १/३/१२।

५. अष्टा० ३/१/६८ से ८४ पर्यन्त विकरण प्रकरण।

६. प्र० १/३/१२ 'यदि पुनः' पर टि०।

७. अष्टा० २/३/३९।

८. 'वृद्भ्यः स्यसनोः' में स्यसनो : में विषय सप्तमी है।

९. जिसकी संज्ञा कार्य होने के पश्चात् होती है या मानी जाती है। — म०भा०, १/३/१२।

१०. अष्टा० १/३/१२।

भिन्न-भिन्न वाक्य हैं तथा नियम शास्त्र सामान्य-शास्त्र का संकोच करते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि सामान्य शास्त्र से विहित तिबादि आदेश, जो हो चुके हैं, उनकी निवृत्ति ऐसे हो जाती है जैसे 'लुक्'[१] से पूर्व उत्पन्न प्रत्यय आदि की निवृत्ति को जाती है।[२] इस प्रकार नियम पक्ष में जातनिवृत्ति[३] माननी पड़ेगी। **(अ) जातनिवृत्ति प्रकार के विधि वाले 'भुक्तवन्तं न्याय' का निषेध :** जो खा चुके व्यक्ति के प्रति कहे कि 'नहीं खाना है' तो उसके उस कथन से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अर्थात् वह निषेध व्यर्थ है, यह न्याय है। इस न्याय का शास्त्र में आश्रयण युक्त नहीं है, क्योंकि न्याय का आश्रयण करने पर नियम आदि शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे और शास्त्र कभी व्यर्थ नहीं होता। 'वृद्धिरादैच्'[४] सूत्र के भाष्य में 'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भ-पवित्र-पाणि:०'— इत्यादि वाक्य से इस आशय का ज्ञान होता है। इस प्रकार इस शास्त्र में नियमादि शास्त्र अनर्थक न होने से, जात की निवृत्ति ही स्वीकार कर लेनी चाहिए, शास्त्र की व्यर्थता नहीं। यह प्रसंग 'स्थानेऽन्तरतम:' सूत्र के भाष्य के उद्घोत में नागेश ने स्पष्ट किया है।[५] **(आ) नियम से जातनिवृत्ति में शंका**— एक ही प्रकृति से अव्यवहित परत्व मानकर अनेक प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते, पुन: उत्पन्न हुए प्रत्ययों की नियम से निवृत्ति कैसे हो सकती है? **समाधान**— पूर्वोक्त शंका का उत्तर यह है कि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'[६] इस सूत्र में प्रदर्शित कैयट की रीति से जब अठारह प्रत्यय 'ल्'[७] के स्थान में आदिष्ट होते हैं और वे सभी एक ही प्रकृति से आनन्तर्य न होने से हो नहीं सकते, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उतनी ही प्रकृतियाँ हों। एक प्रत्यय के लिए एक प्रकृति की कल्पना की जाती है और जब किसी एक प्रत्यय की नियम शास्त्र से निवृत्ति होती है, तो उसके कारण कल्पित प्रकृति की भी निवृत्ति हो जाती है। प्रधान (विधेय-प्रत्यय) के अनुसार गुण (गौण प्रकृति) की कल्पना होती है। यथा 'गर्ग के बहुत से अपत्य'[८] इस अर्थ में गर्ग से 'यञ् की[९] उत्पत्ति बार-बार होगी और जितनी बार 'यञ्' की उत्पत्ति होगी, उतनी ही गर्ग रूप प्रकृतियों की कल्पना करनी होगी। गर्ग से 'यञ्' का विधान होने से तथा गर्ग प्रातिपदिक कार्य के विशेषण होने से यञ् प्रधान हैं, गर्ग प्रकृति गौण है। इस प्रकार (१) जात निवृत्ति, (२) प्रकृति कल्पना,

---

१. अष्टा० १/१/६१ तथा 'षड्भ्यो लुक्' ७/१/२२, इत्यादि शास्त्र द्वारा।

२. म०भा० एवं उ० १/१/५०।

३. 'अनुदात्त०' १/३/१२ नियम करने पर परस्मैपद की निवृत्ति करनी पड़ेगी।

४. म०भा० १/१/१। ५. उ० १/१/५०।

६. प्र० १/२/६४। ७. अष्टा० ३/४/७८।

८. 'गर्गस्य बहूनि अपत्यानि इति='गर्गा:' द्र० अष्टा० ४/१/९२।

९. अष्टा० ४/१/१०५।

(३) कल्पित प्रकृति की निवृत्ति, तीन दोषों के यत्नसाध्य समाधान के कारण यह पक्ष गौरव-दोष युक्त है। इस प्रकार भिन्न वाक्यैकवाक्यता से नियम सूत्र मानने पर तथा 'यद् वा'[१] पक्ष में उपर्युक्त दोष आने से विधायकत्व (ही) पक्ष माना जाता है। यह नागेश का अभिमत है।[२] इस प्रकार नागेश इस परिभाषा का ज्ञापक न स्वीकार करके सूत्र द्वारा ही इसकी सिद्धि स्वीकार कर लेते हैं। पूर्वोक्त मत उपर्युक्त दोनों सूत्रों में इसके ज्ञापक कथनपरक भाष्य तथा कैयट के आधार पर है।

परिभाषा का प्रयोजन : शप् आदि विकरण से पूर्व 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'[३] इत्यादि नियम शास्त्रों की पहले प्रवृत्ति होने से एधते, स्पर्द्धते आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। इन प्रयोगों मे विकरण नित्य और पर है तो भी नियम हो जाता है। अत: 'एध्+लट्' में अनुदात्त-नियम बलवान् होने से पूर्व ही आत्मनेपद में 'त' होने के पश्चात् विकरण होकर कार्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन हैं।

समीक्षा : पाणिनि ने धातुओं से परे लकारों के स्थान में तिप् आदि परस्मैपद, आत्मनेपद प्रत्ययों का विधान किया है तथा लकार परे रहते विकरण भी विधान किये हैं। इनमें से कौन प्रथमत: होगा? और कौन पश्चात्? इसका निर्णय यह परिभाषा करती है। यह परिभाषा व्याडि, शाकटायन, चांद्र, कातंत्र, जैनेन्द्र, भोज और हेम के पाठों में नहीं उपलब्ध होती है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकंठ और हरिभास्कर के पाठों में प्राप्त होती है।[४] नागेश ने इन्हीं का अनुकरण किया है। इस परिभाषा का अर्थ सभी में समान है। परन्तु नागेश ने स्यात् अति सरल होने के कारण अर्थ नहीं लिखा है। नागेश ने इस परिभाषा का व्याख्यान पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और नीलकंठ आदि का अनुकरण करते हुए अपने विशेष दृष्टिकोण को विस्तार से समझाया है। इस परिभाषा के ज्ञापक से अभिप्रेत अर्थ के विषय में सभी में समानता है। पुरुषोत्तमदेव 'बृद्भ्य: स्यसनो:'[५] का वैकल्पिक परस्मैपद विधान इसका ज्ञापक मानते हुए इस परिभाषा को प्रायिक भी मानते हैं। सीरदेव इस परिभाषा का अति विस्तृत अर्थ करते हुए 'वृद्भ्य: स्यसनो:' का विकल्प से अतङ्-विधान इस परिभाषा का ज्ञापक मानते हैं तथा 'अन्ये तु' के द्वारा इस ज्ञापक से विकरण कर लेने पर नियम प्रवृत्त होता है, यह अर्थ भी स्वीकार करते हैं।[६] नीलकंठ इसका ज्ञापक 'वृद्भ्य: स्यसनो:' सूत्र में 'स्य' ग्रहण मानते हैं तथा 'शदे: शित:'[७] सूत्र-भाष्य का प्रामाण्य मानते हुए 'स्य' ग्रहण से विकरण के

---

१. 'यद् वा' यह कैयट मत है। द्र०प्र० १/३/१२ 'लमात्रापेक्षत्वात्०' आदि।

२. प० शे०, पृष्ठ २२९।

३. अष्टा० १/३/१३।

४. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

५. अष्टा० १/३/९२।

६. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १९।

७. अष्टा० १/३/६०।

व्यवधान में भी नियम की प्रवृत्ति हो जाती है, यह ध्वनित मानते हैं।[१] हरिभास्कर इसका ज्ञापक 'अनुपसर्गाद्वा'[२] सूत्र से क्रम से आत्मनेपद विधान को मानते हैं। इसमें भाष्य का प्रमाण है तथा कैयट, हरदत्तादि के नामोल्लेखपूर्वक 'वृद्भ्य: स्यसनो:' का वैकल्पिक 'अतङ्' विधान भी इसका ज्ञापक कहते हैं। इस प्रकार विविध मतों का उल्लेख विस्तार से करते हैं।[३] नागेश ने उक्त विद्वानों का अनुकरण करते हुए इस परिभाषा का वही ज्ञापक तथा उससे ध्वनित उक्त अर्थ को भी मानते हुए ज्ञापक से अपना विशेष आशय गृहीत किया है तथा उसका विस्तार से उपपादन भी किया है। अपने समर्थन में मध्य-मध्य में कैयट मत को रक्खा है तथा कहीं-कहीं अपने मत से विरुद्ध उनके मत का खंडन भी किया है। इसका उदाहरण पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकंठ एवं हरिभास्कर ने प्रस्तुत किया है। नागेश ने उदाहरण नहीं दिया है। परिभाषा के हेतु की ही विस्तार से समालोचना की है। इस प्रकार परिभाषा का स्पष्ट अभिप्रेत अर्थ इनकी व्याख्या से प्रकट हो जाता है।

(३९) परान्नित्यं बलवत्।।प०४२।।

परिभाषा का उपक्रम : पूर्व-परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीय:' परिभाषा में परस्पर एक दूसरे की उत्तरोत्तर बलवत्ता स्वीकृत की गई है। जहाँ पर और नित्य दो कार्यों की एक साथ प्राप्ति होती है, वहाँ पर कौन सा कार्य पहले होता है और कौन सा बाद में होता है? इस समस्या का समाधान निम्न परिभाषा द्वारा किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : पर शास्त्र की अपेक्षा नित्य शास्त्र बलवत्तर होता है। (यदि पर होते हुए नित्य भी हो तो वही बलवान् समझना चाहिए)।

परिभाषा का आशय : पर शास्त्र से नित्य शास्त्र[४] के बलवत्तर होने में निम्न हेतु है, अन्य शास्त्र के प्रवृत्त होने पर और प्रवृत्त न होने में, दोनों परिस्थितियों में जिस शास्त्र का प्रसंग रहता है वह 'नित्य' होता है, इस प्रकार यह स्वत: ज्ञापित हो जाती है।[५]

परिभाषा का हेतु : पर तथा नित्य के मध्य में जिस शास्त्र का अभाव (प्रवृत्त न होना) सम्भव ही नहीं (जब तक हम उसे यत्नपूर्वक न बनायें) उसकी अप्रवृत्ति की कल्पना की अपेक्षा जिसका कभी अभाव बनता है उस शास्त्र की ही अप्रवृत्ति माननी उचित है, जिसका अभाव (प्रवृत्त न होना) किसी अवस्था विशेष में स्वत: सिद्ध है।

---

१. नीलकंठवृत्ति, परि०सं०२४। २. अष्टा० १/३/४३।

३. 'हरिभास्करवृत्ति', परि०सं० १९।

४. कृताकृतप्रसंगी शास्त्र 'नित्य' है। — प०शे०, पृष्ठ २३०.

५. गूढार्थ०, पृष्ठ २३०।

यही **पर** से नित्य के बलवत्तर होने में लाघव रूप अनुकूल तर्क है। वाचनिक बलवत्ता नहीं है। नित्य शास्त्र का, पर शास्त्र की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों अवस्थाओं में प्रसंग होने से सर्वथा अभाव सम्भव ही नहीं है। पर-शास्त्र नित्यशास्त्र की प्रवृत्ति के अनन्तर प्रवृत्त नहीं हो सकता, तब उसका अभाव स्वत: सिद्ध है। फलत: दोनों के एक लक्ष्य के प्रसंग में सर्वथा अभाव न बनने की अप्रवृत्ति की कल्पना की अपेक्षा, किसी अवस्था विशेष में अभाव स्वत: सिद्ध-शास्त्र की अप्रवृत्ति करनी उचित है, ऐसा आशय है। तुल्यबल न होने से यहाँ विप्रतिषेध शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार नित्य के विषय में यह ध्यातव्य है।[१] जैसी शब्द-प्रवृत्ति को उद्देश्य करके पूर्व कार्य प्रवृत्त होता है यदि उसी शब्द को उद्देश्य करके पुन: प्रवृत्ति होती है तो उसे नित्य कहते हैं।'[२]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से ही 'तुदति' आदि में तिप् को मानकर जो लघूपधगुण[३] प्राप्त होता है वह 'श'[४] (विकरण) से परे[५] है, परन्तु 'श' नित्य है, गुण होने पर भी इस 'श' का प्रसंग है और गुण होने से पहले (न होने पर भी), अत: गुण परे होने पर भी उससे नित्य होने से 'श' विकरण पहले हो जाता है, फलत: विकरण के ङित्व[६] को मानकर गुण का बाध होकर रूप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'रुणद्धि'[७] आदि में भी गुण से पूर्व 'श्नम्'[८] विकरण होकर रूप सिद्ध होता है।

समीक्षा : परस्पर दो नियमों में विप्रतिषेध होने पर किसकी प्रवृत्ति को प्राथमिकता दी जाय, इसके लिए वार्तिककार ने नित्यत्व की कल्पना की है। उसी को वैयाकरणों ने उक्त परिभाषा की भांति स्वीकार किया है। पर तथा नित्य में कौन सी विधि बलवान् है? इसका प्रतिपादन इस परिभाषा का लक्ष्य है। यह परिभाषा व्याडि आदि[९] आचार्यों ने नहीं लिखी है। इस रूप में केवल यह कालाप पाठ तथा हेमपाठ में प्राप्त होती है।[१०]

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ २३० तथा विजया, पृष्ठ १८०।

२. प०शे०, पृष्ठ २३० 'कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्, तद्विपरीतमनित्यम्'।

३. 'पुगन्तलघूपधस्य च', अष्टा० ७/३/८६।

४. 'तुदादिभ्य: श:' — अष्टा० ३/१/७७।

५. लघूपधगुण विधायक सूत्र सं० ७/३/८६।

६. 'सार्वधातुकमपित्' — अष्टा० १/२/४।

७. वही, 'क्ङिति च' १/१/५।

८. रुध् धातु, लट्, तिप्, श्नम्, णत्व होकर प्र०पु०ए० का रूप।

९. शाकटायन, चान्द्र, कातंत्र, जैनेन्द्र, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ हरिभास्कर।

१०. कालाप पाठ परि०सं० ५१, हेमपाठ, परि०सं० ५२।

नागेश ने स्यात् इसका पाठ दीक्षित, न्यासकार तथा हरदत्त के आधार पर किया है।[१] नागेश ने इस परिभाषा की व्याख्या में सभी अंगों पर विचार किया है। नित्यत्व की परिभाषा 'कृताकृतप्रसङ्गित्व' जो नागेश ने मानी है, वह व्याडि, चन्द्रगोमिन्, कालाप और जैनेन्द्र ने स्वतन्त्र रूप से परिभाषा रूप में स्वीकार की है[२] एवं पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने भी नित्यत्व की यही परिभाषा की है। नागेश ने इसका हेतु दीक्षित के अनुसार दिया है।[३] शेष सभी उदाहरण आदि व्याख्यान पर दीक्षित तथा न्यासकार आदि का स्पष्ट प्रभाव है। इस परिभाषा को नागेश ने युक्ति-सिद्ध माना है।

(४०) असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे।।प०५०।।

परिभाषा का उपक्रम : सामान्यत: पर, नित्य, अन्तरंग और अपवाद में उत्तरोत्तर बलवत्ता है[४] तथा इसी क्रम से एक-एक विषय की बलवत्ता का सहेतुक वर्णन 'परिभाषेन्दुशेखर' में किया गया है। इस परिभाषा से पहले पूर्व शास्त्र से पर शास्त्र बलवान् होता है तथा पर शास्त्र और नित्य शास्त्र की समकाल-प्राप्ति में नित्य शास्त्र बलवान् होता है, यह प्रतिपादित किया गया है। क्रम-प्राप्त अन्तरंग की बलवत्ता का सहेतुक वर्णन अपेक्षित है। सामान्यत: नित्य शास्त्र तथा परशास्त्र से अन्तरंग शास्त्र की बलवत्ता प्रतिपादित की जा चुकी है तथापि यदि किसी स्थल पर, पर तथा नित्य शास्त्र एक साथ ही अन्तरंग शास्त्र के साथ प्राप्त होते हैं तो वहाँ किस शास्त्र की प्रवृत्ति की जाय। इसका निर्णय करना आवश्यक है। इसीलिए इस परिभाषा की कल्पना की गयी है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : अन्तरंग शास्त्र के कार्य के करने में बहिरंग शास्त्र असिद्ध[५] माना जाता है।

परिभाषा का पदानुसारी अर्थ : परिभाषा में प्रयुक्त अन्तरंग और बहिरंग शब्दों में बहुव्रीहि समास है।[६] इस प्रकार ये शब्द शास्त्र के अथवा शास्त्रविहित कार्य के विशेषण

---

१. श०कौ०, न्यास, पदमंजरी।

२. व्याडि पाठ, परि०सं० ११७, चान्द्रपाठ परि०सं० ७६, कालाप पाठ परि०सं० ५३, जैनेन्द्रपाठ परि०सं० ७८।

३. श०कौ०।

४. 'पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीय:'— प०शे०परि०सं० ३८।

५. असिद्ध-सिद्ध न रहना-अविद्यमान रहना सा, समझा जाता है तथा असिद्ध का=प्रवृत्त न होना भी अर्थ होता है— शा०कला, पृष्ठ २३७ तथा श०शे० पृष्ठ १०९।

६. अन्तर्मध्ये अन्तर्भूतानि-अङ्गानि-निमित्तानि यस्य तदन्तरङ्गम् तथा तदीय अन्तरङ्ग-निमित्त-समुदायाद् बहि:-बहिर्भूतानि अङ्गानि-निमित्तानि यस्य तद् 'बहिरङ्गम्' — द्र० प०शे०, पृष्ठ २३७-२३९.

हैं। बहिस् और अन्तर् इन शब्दों के साथ प्रयुक्त 'अंग' शब्द निमित्त वाची है।[१] अन्तरंग और बहिरंग शब्दों का अर्थ परस्पर सापेक्ष है। बहिरंग की अपेक्षा अन्तरंग हैं तथा अन्तरंग की अपेक्षा ही बहिरंग होता है। फलत: ये प्रतिद्वन्द्वीभाव वाले अर्थ वाले हैं।[२] जिसके प्रकृति-प्रत्यय आदि समुदाय में जिस कार्य के निमित्त अवयव, दूसरे कार्य की अपेक्षा अन्तर्भूत होते हैं, उसे 'अन्तरंग' कहते हैं। जिसके प्रकृति आदि निमित्त-समुदाय में जिस कार्य के निमित्त अवयव अन्य कार्य की अपेक्षा बहिर्भूत (अधिक) रहते हैं उसे 'बहिरंग' कहते हैं।

परिभाषा का आशय : परिभाषा का आशय यह है कि अन्तरंग शास्त्र के द्वारा कार्य करने में जिस बहिरंग[३] शास्त्र का कार्य पहले हो चुका रहता है, वह असिद्ध (अप्रवृत्त अथवा अविद्यमान) माना जाता है तथा अन्तरंग कार्य की प्राप्ति के काल में जो बहिरंग[४] कार्य प्राप्त होता है, वह भी असिद्ध (अप्रवृत्त) माना जाता है।

परिभाषा का ज्ञापक : इस परिभाषा के इन दोनों अर्थों में भिन्न-भिन्न ज्ञापक हैं। उनमें से प्रथम अर्थ का ज्ञापक प्रस्तुत है— **(क) प्रथम प्रवृत्त (जात) बहिरङ्ग की असिद्धता का ज्ञापक**— 'वाह[५] ऊठ्' सूत्र में 'ऊठ्' ग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित होती है। ज्ञापक इस प्रकार है— 'वाह ऊठ्' सूत्र में 'ऊठ् का ग्रहण नहीं करना चाहिए। पूर्वसूत्र 'वसो: सम्प्रसारणम्'[६] सूत्र से सम्प्रसारण की अनुवृत्ति करके 'प्रष्ठ+वाह्+ण्वि+अस्' इस अवस्था में ण्वि[७] प्रत्यय के परे रहते भ[८] संज्ञक 'वाह्' के व का उ सम्प्रसारण तथा (आ का) पूर्वरूप[९] होकर 'प्रष्ठ+उह+अस्' इस अवस्था में लुप्त ण्वि प्रत्यय निमित्तक उपधा गुण (उ का औ) होकर 'प्रष्ठ+ओह्+अस्' यह निष्पन्न होता है। पुन:

---

१. यहाँ 'अङ्ग' शब्द से शब्द रूप निमित्त ही लिया जाता है। जो शब्द-रूप निमित्त से उपस्थित होकर कार्य सिद्ध करता हो, उसी का ग्रहण होता है।

२. म०भा० ८/३/१५ 'खरवसानयोर्विसर्जनीय:' तथा म०भा० ६/४/२२ 'असिद्धवदत्राभात्।'

३. 'जात-बहिरङ्ग' का तात्पर्य है, जहाँ लक्ष्य में बहिरङ्ग रूप से अभिमत शास्त्र का कार्य पहले सम्पन्न हो चुका है। यथा प्रठौह: में 'पृष्ठ+ऊह्+अस्' में बहिरङ्ग रूप से अभिमत सम्प्रसारण हो चुका है।

४. 'समकाल-प्राप्तिक-बहिरङ्ग' उसे कहते हैं, जहाँ दोनों कार्य एक काल में प्राप्त होते हैं। यथा खट्वोढा—'खट्वा+आ+ऊढा' में 'आ+उ' में गुण तथा 'खट्वा+आ' में सवर्ण दीर्घ एक ही साथ प्राप्त हैं।

५. अष्टा०, ६/४/१३२। ६. वही, ६/४/१३१।

७. 'वहश्च', अष्टा० ३/२/६४। ८. 'यचि भम्' अष्टा० १/४/१८।

९. 'सम्प्रसारणाच्च' अष्टा० ६/१/१०८।

'प्रष्ठ+ओह:' यहाँ ओकार के साथ 'वृद्धिरेचि'[१] सूत्र से वृद्धिरूप एकादेश औ होकर 'प्रठौह:' यह रूप सिद्ध हो जायेगा। इसलिए उक्त सूत्र में 'ऊठ्' ग्रहण व्यर्थ होता है और यह ज्ञापित करता है कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' ऐसी परिभाषा है। इस परिभाषा के होने पर 'ऊठ्' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि अन्तर्भूत ण्वि प्रत्यय को मानकर[२] होने वाला लघूपध गुण अन्तरंग है और बहिर्भूत शस् को मानकर होने वाला सम्प्रसारण बहिरंग है। बहिरंग सम्प्रसारण के असिद्ध होने से ('उ' का अभाव हो जाता है) लघूपधगुण नहीं हो सकता है, जब गुण नहीं होता है तो वृद्धि भी नहीं हो सकती। अत: 'प्रठौह:' आदि प्रयोग भी नहीं बन सकते। अत: वृद्धि करने के लिए 'ऊठ्' ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। 'ऊठ्' होने पर 'एत्येधत्यूठ्सु'[३] सूत्र से वृद्धि रूप एकादेश होकर इष्ट रूप सिद्ध होकर स्वांग में चरितार्थ होता है। **(अ) ज्ञापकता का विघटन प्रयास :** इस उक्त ज्ञापक में कुछ लोग शंका करते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि— 'पुगन्तलघूपधस्य च'[४] सूत्र में सार्वधातुकप्रत्यय उपधा गुण का निमित्त होने से 'इक्'[५] का विशेषण होता है। सूत्रार्थ इस प्रकार है— 'ऐसी इक् रूप लघु उपधा का गुण होता है जिसके बाद (परे) सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय हों।' इसका लाभ यह होता है कि जहाँ 'भिनत्ति' आदि में इ के अव्यवहित उत्तर ति नहीं है, वहाँ इ का गुण नहीं होता है तथा इस अर्थ के आश्रयण करने से 'प्रष्ठ+उह्+अस्' (यहाँ सम्प्रसारण[६] होने पर) में गुण प्राप्त होता है और वह प्रकृत परिभाषा से रोका नहीं जा सकता, क्योंकि 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्ति:'[७] परिभाषा प्रस्तुत परिभाषा की अपवाद है। इस प्रकार उपधा गुण और वृद्धि होकर 'प्रष्ठौह:' रूप सिद्ध हो जाता है। 'ऊठ्' ग्रहण व्यर्थ ही है। अत: अपने लक्ष्य (स्वांश) में अचरितार्थ होने से ज्ञापकता विघटित हो जाती है।

(१) पूर्वोक्त कथन का खंडन : उपर्युक्त ज्ञापक विघटन प्रयास व्यर्थ है। प्रत्यय (सार्वधातुकादि) स्वभाव से ही स्वार्थ पूर्ण करने के लिए अंग-संज्ञक शब्द रूप की आकांक्षा करता है। अत: अंक से व्यतिरिक्त किसी अन्य का विशेषण नहीं बन सकता।[४]

---

१. अष्टा० ६/१/८८।

२. 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' अष्टा० १/१/६२।

३. अष्टा० ६/१/८९। ४. अष्टा० ७/३/८६।

५. 'इको गुणवृद्धी', अष्टा० १/१/३।

६. अष्टा० ६/४/१३२, 'वाह:' रूप से ऊठ् की अपेक्षा सम्प्रसारण।

७. प०शे० परि०सं० ५१।

४. निमित्तभूत सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय 'इक्' का विशेषण नहीं हो सकते क्योंकि स्वार्थ पूर्ति की आकांक्षा के कारण 'अङ्ग' की अपेक्षा पहले होती है।

— द्र० प०शे०, पृष्ठ २५५.

ऐसा होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च'[१] का अर्थ होगा 'प्रत्यय परक जो अङ्ग, उसकी अवयवभूत लघूपधारूप इक् का गुण होता है।' इस व्याख्यान के अनुसार गुण लघ्वी, उपधा रूप इक् तथा प्रत्यय (ण्वि) इनके आनन्तर्य पर आधृत नहीं है। इस प्रकार 'प्रष्ठ+उह+अस्' में 'नाजानन्तर्ये०' परिभाषा के आधार पर असिद्ध परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं रोकी जा सकती है, अत: सम्प्रसारण 'उ' के असिद्ध होने से गुण नहीं हो सकता। फलत: 'ऊठ्' ग्रहण स्वार्थ में चरितार्थ होता है और ज्ञापकता बनी रहती है। साथ ही उपर्युक्त अर्थ मानने से 'भिनत्ति' आदि में भी कोई दोष नहीं आता है। 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र में 'लघूपध' को अंग का विशेषण बहुव्रीहि समास न मानकर कर्मधारय[२] समास मानते हैं। फलत: अर्थ यह होता है— 'प्रत्यय परक जो अंग, उसकी लघु उपधा रूप 'इक्' का गुण होता है।' 'भिनद्+ति' में 'ति' प्रत्यय-परक जो 'मिनद्' अंग, उसकी लघु उपधा (नकारोत्तर) अ है, इ नहीं हैं, अत: गुण की प्राप्ति नहीं है। यहाँ प्राचीन वैयाकरण ऊठ् ग्रहण का अन्य प्रयोजन बताकर ज्ञापक विघटन का प्रयास करते हैं। परन्तु नागेश ने उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरणों का अप्रयोग (अनभिधान) दिखलाकर उनकी युक्ति को निस्सार कर दिया है। अधिक विस्तार से 'शब्देन्दुशेखर' द्रष्टव्य है।[३]

(ख) परिभाषा के द्वितीय अर्थ-समकाल-प्राप्ति[४] वाले बहिरङ्ग के असिद्ध होने में ज्ञापक : कहीं-कहीं अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शास्त्र एक साथ प्राप्त होते हैं। वहाँ भी बहिरङ्ग असिद्ध हो जाता है। इस अर्थ में 'ओमाङोश्च'[५] सूत्र में 'आङ् ग्रहण' ज्ञापक है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए— 'खट्वोढा' का जब 'खटवा+आङ्+ऊढा' इस प्रकार विभाग पूर्वक अन्वाख्यान[६] करते हैं, तब 'आ+ऊढा' में गुण[७] प्राप्त होता है तथा साथ ही 'खट्वा+आ' में सवर्ण दीर्घ[८] भी। प्रक्रिया सिद्धान्त[९] के अनुसार गुण

---

१. अष्टा० ७/३/८६।

२. 'इको गुणबृद्धी'— म०भा० १/१/३। पुक्यन्त: पुगन्त:, लघ्व्युपधा लघूपधा। पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधाम्-पुगन्तलघूपधस्येति। इस प्रकार यह इक् का विशेषण हो जाते हैं। यहाँ अंग के द्वारा 'इक्' विशेषित की जाती है।

३. ल०श०शे०, पृष्ठ सू०सं०।

४. एक साथ ही प्राप्त होने वाला बहिरंग।

५. अष्टा० ६/१/९५।

६. शास्त्रीय प्रक्रिया में अन्वाख्यान का यह एक पक्ष माना जाता है। लक्ष्य के सभी पदों को एक साथ रखकर पृथक्-पृथक् पद का विभाग करके कथन होता है। इसी को 'पद-संस्कार-पक्ष' भी कहा जाता है।

७. 'आद् गुण:' — अष्टा० ६/१/८७।

८. 'अक: सवर्णे दीर्घ:' — अष्टा० ६/१/१०१।

९. शब्द की साधनिका में मान्य शास्त्रीय सिद्धान्त, जिसके आधार पर उसी क्रम से कार्य किया जाता है— द्र० प०शे०, पृष्ठ २६२, पं० ४-५ तथा पृष्ठ २६५, पं० ३-५।

का निमित्त प्रथमत: उपस्थित होता है। अत: गुण अन्तरंग है और सवर्ण दीर्घ बहिरंग।[१] फलत: अन्तरंग होने से 'आ+ऊढा' — ओढा रूप होने पर 'खट्वा+ओढा' में बृद्धि प्राप्त होती है।[२] वह न हो, आङ्त्व मानकर[३] पररूप एकादेश हो, इसके लिए सूत्र में 'आङ्' का पाठ किया गया है। यदि यहाँ समकाल-प्राप्तिक बहिरंग असिद्ध न हो, तो सुवर्ण दीर्घ के परवर्ती होने से 'खट्वा+आ' में पहले सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर 'खट्वा' हो जायेगा। तब खट्वा के आ तथा ऊढा के ऊ के स्थान में गुण होकर 'खट्वोढा' रूप सिद्ध हो जायगा। फलत: सूत्र में 'आङ्' ग्रहण व्यर्थ हो जायगा। इस प्रकार उक्त अर्थ का ज्ञापक होकर आङ् ग्रहण चरितार्थ होता है। **(अ) पूर्वोक्त ज्ञापकता के विघटन का प्रयास :** प्राचीन वैयाकरण ज्ञापक में शंका करके 'आङ्' ग्रहण का अन्य प्रयोजन बताते हैं, वह यह है— शिव+'एहि' (हे शिव एहि—यह शब्द कहो इस अनुकरण) में शिव सम्बोधन है और 'एहि' (अनुकार्य आङ्पूर्वक 'इण्', लोट्, म०पु०ए०) एहि का अनुकरण है। अनुकार्य 'एहि'- (आङ्+एहि) 'अन्तवद्भाव'[४] से 'आङ्' आदि (वाला) है तथा 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति'[५] यह न्याय है। अत: इससे अनुकरण में 'एहि' भी आङादि हो जाता है, क्योंकि अतिदेश से 'आङ्' की प्राप्ति होती है। अत: 'शिव+एहि' में बृद्धि के वारणार्थ और पररूप करने के लिए सूत्र में 'आङ्' ग्रहण आवश्यक है। पुन: इसकी ज्ञापकता कैसे हो सकती है? **(१) पूर्वोक्त कथन का खंडन :** उपर्युक्त कथन के खंडन में नागेश हेतु देते हैं कि 'सम्प्रसारणाच्च'[६] सूत्र के भाष्य में 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इस न्याय को अनित्य माना गया है। अत: अनुकरण में आतिदेशिक आङ्त्व सम्भव नहीं है। फलत: आङ्त्व के अभाव में 'ओमाङोश्च'[७] सूत्र का विषय ही नहीं रहता है। अन्य हेतु यह है कि शास्त्रकार्य लोक-प्रसिद्ध विज्ञातार्थक शब्दों में ही होता है, समान श्रुति वाले अनुकरण-रूप अप्रसिद्ध

---

१. उपसर्ग से सम्बद्ध हो जाने के पश्चात् धातु का खट्वा शब्दान्तर से सम्बन्ध होता है। अत: सवर्ण दीर्घ का निमित्त बाद में उपस्थित होने से 'बहिरंग' है। द्र० व्या०, बहि० प्रकार।

२. 'वृद्धिरेचि', अष्टा० ६/१/८८।

३. 'अन्तादिवच्च', अष्टा०६/१/८५।

४. 'अन्तादिवच्च', अष्टा० ६/१/८५।

५. प०शे० परि०सं० ३६। अनुकरण को उसकी प्रकृति के समान ही समझना चाहिए।

६. म०भा० ६/१/१०८ स्पष्ट नहीं प्राप्त होता है।

७. अष्टा० ६/१/९५।

अर्थ वाले शब्दों में नहीं होता है।[१] इस प्रकार उक्त दोनों[२] ज्ञापकों से परिभाषा का उक्त अर्थ (जात और समकाल-प्राप्त का असिद्धत्व) सम्यक् प्रतिपादित हो जाता है।

अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग से अभिप्रेत अर्थ : अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग ये दोनों शब्द प्रतिद्वन्द्वी[३]— भाव अर्थ वाले हैं, यह कहा जा चुका है। नागेश ने इनका अर्थ एवं अभिप्राय इस प्रकार बताया है— 'अन्तरङ्ग' में अन्त: का अर्थ है मध्य। 'अङ्ग' शब्द यहाँ संज्ञापरक नहीं है और न ही अवयववाची है। किन्तु निमित्त वाची है। फलत: अर्थ हुआ— बहिरङ्गशास्त्र सम्बन्धी निमित्तों के समुदाय में अन्तर्भूत निमित्त वाला कार्य 'अन्तरङ्ग'[४] कहलाता है। इसी प्रकार बहिरंग भी उसको कहते हैं जो अन्तर्भूत निमित्तों की अपेक्षा बाहर या दूर के निमित्तों की अपेक्षा करने वाला है।[५] इस प्रकार अन्तरङ्ग बहिरङ्ग की अपेक्षा होता है और बहिरङ्ग अन्तरङ्ग की अपेक्षा होता है। **(क) अंग से अभिप्रेत अर्थ :** इस परिभाषा में गृहीत निमित्तवाची अङ्ग शब्द से शब्दरूप निमित्त का ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यह शास्त्र जिसमें शब्दों का अनुशासन है, उसमें शब्द की ही प्रधानता रहती है। शब्द-रूप निमित्त का तात्पर्य यह है कि जहाँ कार्य (प्रयोग) में स्थित शब्द (रूप) को निमित्त मानकर जो प्राप्त होता है— ऐसे अन्तर्भूत शब्द को निमित्त मानकर होने वाला अन्तरङ्ग तथा जो अन्तर्भूत शब्द निमित्तक की अपेक्षा बाहर के शब्द रूप निमित्त को मानकर होने वाला कार्य है, बहिरंग होता है अर्थात् शब्द रूप निमित्त की अपेक्षा करके जो मध्य में हो या बाहर हो, उसे 'अन्तरङ्ग' या 'बहिरङ्ग' कहते हैं। **(अ) निमित्त के दो रूप**— शास्त्र में निमित्त का ग्रहण दो रूपों में प्राप्त होता है।

(१) सप्तमी से निर्दिष्ट निमित्त— सप्तमी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट पद का निमित्त रूप से ग्रहण किया जाता है।[६] इससे निर्दिष्ट पद का 'वह वस्तु परे रहते पूर्व का ही

---

१. निम्न श्लोक—

अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुता:।
शास्त्रार्थस्तेषु न कर्तव्य: शब्देषु न तदुक्तिषु।। — वा०प०

इसके आधार पर मुख्य 'एहि' में कार्य प्रवृत्त होगा, अमुख्य अनुकरण 'एहि' में नहीं।

२. दो ज्ञापक— प्रथम 'वाह ऊठ्' का ऊठ् ग्रहण तथा द्वितीय 'ओमाङोश्च' का 'आङ्य' ग्रहण। — द्र० क्रमश: अष्टा० ६/४/१३२, ६/१/९७।

३. म०भा० ६/४/२२ तथा ८/३/१५।

४. प०शे०, पृ०२३७, पं० १-२। ५. वही, पृष्ठ २३९, पं० १।

६. 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य', अष्टा० १/१/६६।

कार्य होता है', यह अर्थ लिया जाता है। यथा 'इको यणचि'[१] में सूत्र में 'अचि' सप्तम्यन्त है, अत: यह निमित्त माना जाता है— 'अच् परे रहते पूर्व का कार्य हो— यह अर्थ होता है।' अब जहाँ इस सप्तम्यन्त से निर्दिष्ट निमित्त का, शब्द-रूप निमित्त के रूप से ग्रहण करके कार्य की प्राप्ति होती हो वहाँ उस आधार पर निमित्तता का ग्रहण होता है।[२] **(२) पंचमी से निर्दिष्ट निमित्त**— शास्त्र में जहाँ पञ्चम्यन्त के द्वारा कार्य किया जाता है, वहाँ उसका निमित्त रूप से ग्रहण होता है। उसी निमित्त का जब प्रयोग में शब्द रूप से ग्रहण होकर कार्य होता है, तब शब्दरूप निमित्तता मानी जाती है। **(३) स्थानी निर्दिष्ट निमित्त नहीं**— यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि षठ्यन्त से बोध्य स्थानी का कार्य करते समय निमित्त रूप से ग्रहण नहीं होता है।[३] अत: स्थानी अथवा षष्ठ्यन्त का शब्दरूप से ग्रहण होने पर भी निमित्त न होने से इसे मानकर होने वाले कार्य को 'अन्तरङ्ग' नहीं कह सकते हैं। **(४) परम्परया[४] निमित्तता नहीं**— यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिए कि साक्षात् निमित्त अर्थात् कार्य में जो साक्षात् निमित्त होता है, उसी का यहाँ ग्रहण होता है, परम्परा से जो निमित्त बनता है, उसका ग्रहण नहीं होता है।

(आ) अन्तरङ्ग बहिरङ्ग का अर्थ निमित्तता का खण्डन : यदि कोई शास्त्रीय कार्य अर्थ को आश्रित करके होता है, वह अर्थ-रूप निमित्त कहलाता है। इस अर्थ को निमित्त मानकर 'बहिरङ्ग' नहीं माना जाता है।[५]

(१) इसके खण्डन में सूत्र प्रमाण– अर्थ-निमित्तक बहिरङ्ग न मानने से ही 'न तिसृचतसृ'[४] यह निषेध शास्त्र चरितार्थ होता है। यदि अर्थ सापेक्षता से भी बहिरङ्गता अभिमत हो तो स्त्रीत्व अर्थ की अपेक्षा करके जो 'त्रिचतुरो: स्त्रियां तिसृचतसृ'[५] सूत्र से त्रि को तिसृ आदेश होता है, वह अर्थ निमितकत्व की अपेक्षा करने से बहिरङ्ग होने के कारण असिद्ध हो जायगा, फलत: 'तिसृणाम्' (षष्ठी बहु०स्त्री०) में 'त्रेस्त्रय:'[६] सूत्र

---

१. अष्टा० ६/१/७७!

२. अन्तर्भूत निमित्तक अंतरंग मानने में तथा समकाल प्राप्तिक बाहरग के ग्रहण में दोनों स्थल पर सप्तम्यन्त शब्द उपात्त रहना चाहिए। अन्यत्र एक स्थल पर भी ठीक है— द्र० विजया, पृष्ठ १८८, पं ८-९।

३. 'कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते' — प०शे०परि०सं० १०।

४. किसी के निमित्त के निमित्त को मानकर कार्य करना, द्र०प०शे०, पृष्ठ २५०, पं० ५-७ तथा पृष्ठ २५१ एवं द्र० उ० ८/२/२।

५. अर्थ रूप अधिक को निमित्त मानकर बहिरंग नहीं होता— द्र०प०शे०, पृष्ठ २४०.

४. द्र० अष्टा० ६/४/४. ५. द्र० अष्टा० ७/२/९९.

से त्रय आदेश प्रसक्त होने लगेगा, क्योंकि यह अर्थ-रूप निमित्त की अपेक्षा न करने से 'अन्तरङ्ग' है। अत: उक्त रूप में 'न तिसृचतसृ' की दृष्टि में बहिरङ्ग तिसृ आदेश असिद्ध होने से आदेश में दीर्घ[१] की प्राप्ति न होने से 'न तिसृचतसृ' यह, दीर्घत्व का निषेध व्यर्थ हो जाने से असंगत ही ठहरता है। अत: इस निषेध की सार्थकता मानने के कारण यह सिद्ध होता है कि अर्थ को निमित्त मानकर बहिरंग की कल्पना नहीं की जा सकती है। उपर्युक्त व्यवस्था के कारण ही 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[२] सूत्र पर पठित 'त्रयादेशे स्त्रन्तस्य[३] प्रतिषेध:' यह वार्तिक संगत होता है। इस वार्तिक का अर्थ है 'त्रि का त्रय आदेश करने में, (त्रि का आदेश) 'तिसृ' स्थानिवत् नहीं होता है।'' यदि अर्थापेक्ष बहिरंगता हो तो 'तिसृ' आदेश के असिद्ध होने पर स्थानिवद्भाव का निषेध करना पूर्वोक्त प्रकार से व्यर्थ होगा। इस प्रकार भाष्यकार एवं वार्तिककार के अनुसार यह प्रतीत होता है कि अर्थ को निमित्त मानकर बहिरङ्गत्व नहीं होता है।

अन्तरङ्ग बहिरङ्ग स्वरूप : अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग की क्रमश: निमित्तों की अपेक्षा जो अन्तर्भूतता (या सन्निहतता) तथा बहिर्भूतता है, वह प्रयोग में निमित्तों के विविध प्रकार से अन्तर्भूत होने से निम्न चार रूपों में प्राप्त होती है। इनका सोदाहरण विवेचन इस प्रकार है —

(क) अन्तरङ्ग प्रकार— (अ) पूर्वस्थित-निमित्तकमन्तरङ्गम्— जिसका निमित्त अन्य के निमित्त की अपेक्षा पहले स्थित हो, ऐसे निमित्त वाले शास्त्र को 'अन्तरङ्ग' कहते हैं।[४] उदाहरणार्थ— 'विश्वौह:'— (विश्व+उह्+अस् (—शस्) में सम्प्रसारण[५] की निमित्तभूत (शस्) विभक्ति की अपेक्षा लघूपधगुण[६] का निमित्त 'ण्वि' उससे पहले है, अत: सम्प्रसारण की अपेक्षा गुण अन्तरंग हो जाता है। **(आ) समुदाये पूर्वस्थितनिमित्तकमन्तरङ्गम्**— बहिरंग के निमित्त समुदाय की अपेक्षा पूर्व स्थित अर्थात् उससे पूर्व के न्यून (अल्प) को निमित्त मानकर होने वाला जो कार्य है, वह 'अन्तरङ्ग' कहलाता है।[८] उदाहरण— 'अतिष्ठिपत्'— में 'तिष्ठतेरित्'[९] सूत्र से इत्व के

---

१. अष्टा०, ७/१/५३।

२. 'नामि' अष्टा ६/४/३ से दीर्घ की प्राप्ति।

३. अष्टा० १/१/५६।

४. म०भा०वा० १/१/५६। ५. उ० १/४/२।

६. म०भा० ६/४/१३२ 'वाह ऊठ्' सूत्र से ऊठ् की अपेक्षा सम्प्रसारण।

७. 'पुगन्तलघूपधस्य च', अष्टा० ७/३/८६।

८. यदि किसी का निमित्त, निमित्त के समुदाय में से पूर्व के शब्द को मानकर होता हो तो वह भी पूर्वस्थित-निमित्तक रूप 'अन्तरंग' कहलायेगा। द्र० 'येनविधिस्तदन्तस्य' — म०भा० १/१/७२।

९. अष्टा० ७/४/५।

निमित्त-भूत चङ्परक 'णि' रूप समुदाय की अपेक्षा उसी समुदाय में पूर्व स्थित णिनिमित्तक लघूपधगुण अन्तरंग माना जाता है। अतः इस अन्तरङ्ग गुण को करने में बहिरङ्ग (जो इदादेश हो चुका है) के असिद्ध हो जाने से इकार का गुण नहीं होता है।

(इ) पूर्वोपस्थितनिमित्तकमन्तरङ्गम्— जिसका निमित्त पहले उपस्थित होता है, वह भी अन्तरङ्ग माना जाता है। इसका सप्रमाण विस्तार से आगे निरूपण किया जाता है।

(१) पूर्वोपस्थितनिमित्तक अन्तरङ्ग का स्वरूप— यह अन्तरङ्ग दो प्रकार से लक्ष्य में लक्षित होता है— **(य)** शास्त्रीय (सिद्धान्त) प्रक्रिया क्रम के उच्चारण के अनुसार जिसका निमित्त पूर्व-प्रथम उपस्थित हो।[१] इसमें शास्त्रीय[२] प्रक्रिया के उच्चारण क्रम से पूर्व उपस्थित निमित्त वाला अन्तरङ्ग का यदि 'पद का विभाग करके कथन'[३] करना हो (तथा) तब 'युगपत्[४] प्राप्ति के प्रसंग' में इस अन्तरङ्ग का यही अर्थ समझना चाहिए कि (उस अन्तरङ्ग की) पूर्व प्रवृत्ति हो जाती है।[५] शास्त्रीय क्रम अर्थ आदि के बोधक्रम के आधार पर समीपता— प्रथम उपस्थिति गृहीत की जाती है, जिसका स्पष्टीकरण बाद में किया जायगा। इस अन्तरङ्ग के विषय में 'ओमाङोश्च'[६] इसका 'आङ्' ग्रहण प्रमाण है। इस प्रकार यह 'शास्त्रीय अन्तरङ्ग' है। **(व)** लौकिक प्रयोग के उच्चारण रूप श्रुतक्रम से जिसका निमित्त (प्रत्यासन्न होने से) प्रथम उपस्थित होता हो, वह द्वितीय प्रकार का अन्तरङ्ग कहलाता है।[७] इस प्रकार का अन्तरङ्ग लोकव्यवहार से सिद्ध होने के कारण 'लौकिक अन्तरङ्ग' कहा जा सकता है। इसमें लक्ष्य के शब्दों के क्रम के उच्चारण में जिसका निमित्त प्रथम उपस्थित हो, वह 'अन्तरङ्ग' समझा जाता है। शेष पूर्व का ही नियम पदविभाग करके एवं युगपत्-प्राप्ति में पूर्व की प्रवृत्ति होती है— समझना चाहिए। **(क) पूर्वोपस्थित-निमित्तकत्व अन्तरङ्ग मानने में शङ्का :** इस द्वितीय प्रकार के अन्तरङ्ग के मानने में नागेश ने शङ्का समाधानादि का अवतरण कर सहेतुक विस्तार से विचार किया है। यदि 'अन्तर्भूतनिमित्तकमन्तरंगम्, बहिर्भूतनिमित्तकं बहिरंगम् अथवा प्रथम प्रकार के (शास्त्रीय प्रक्रिया क्रम से) पूर्वोपस्थितनिमित्तकमन्तरंगम् पश्चादुपस्थितनिमित्तकं बहिरङ्गम्' यही सिद्धान्त है तो 'असुस्रुवत्'[८] में ('स्रु लुङ् असुस्रु अ (चङ्) त्') 'उवङ्'[९] के किसी[१०] भी प्रकार से अन्तरङ्ग न होने से धातु के 'उ'

---

१. प०शे०, पृष्ठ २७८, पं०१-४।

२. म०भा० १/१/५७।

३. 'पट्व्या' का 'पट् उ+ई+आ' रूप।

४. म०भा० ६/१/९५।

५. द्र० प्र० ६/४/१३२।

६. अष्टा० ६/१/९५।

७. प०शे०, पृष्ठ २७७, पं० २-३ तथा म०भा० १/१/५७।

८. 'सु' णिजन्त, लुङ्, लकार, प्र०पु०ए० का रूप।

९. 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'— अष्टा० ६/४/७७।

१०. पूर्वोक्त पूर्वस्थित तथा समुदायेपूर्वस्थित रूप से निरूपित 'अन्तरंगत्व' नहीं है।

का 'उवङ्' नहीं होना चाहिए? तथा दीक्षितादि के द्वारा स्वीकृत 'अल्पापेक्ष अन्तरङ्ग और बह्वपेक्ष बहिरङ्ग होता है; के मतानुसार भी यहाँ 'उवङ्' को अल्पापेक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उवङ् चङ् की अपेक्षा करता है एवं गुण भी 'त्' प्रत्यय की अपेक्षा करता है, इस प्रकार दोनों में समान निमित्त है। **समाधान** — यहाँ अन्तरङ्ग का 'अन्तःकार्य' अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। अन्त: पूर्व होता है, फलत: 'अन्तःकार्य' वह होता है जिसका निमित्त पूर्व उपस्थित हो— लौकिक प्रयोग के उच्चारण क्रम से प्रथम जिसका निमित्त उपस्थित—उच्चारित हो। इस प्रकार उक्त अर्थ स्वीकार करने से 'उवङ्' में अन्तरंगता बनी रहती है। प्रयोग के उच्चारण क्रम से उक्त ('असुस्नु+अ+त्') उदाहरण में 'उवङ्' का निमित्तभूत चङ् का अकार, गुण[१] के निमित्त 'त्' की अपेक्षा प्रथम उपस्थित है। अत: अन्तरङ्ग होने से प्रथम प्रवृत्ति हो जाती है। **(ख) उक्त अन्तरङ्गत्व में प्रमाण :** इस प्रकार का अन्तरङ्ग लोकव्यवहार से भी सिद्ध होता है। लोक में भी अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध ही माना जाता है। यह देखा जाता है कि मनुष्य प्रात:काल उठकर अन्य कार्यों की अपेक्षा प्रथम उपस्थित या अत्यन्त सन्निहित होने से निज शरीर सम्बन्धी कार्यों को सबसे पहले करता है, पश्चात् मित्रों के, पुन: सम्बन्धियों के कार्यो को करता है, क्योंकि मित्र आदि के कार्य निज शरीर की अपेक्षा पश्चात् उपस्थित होने से 'बहिरङ्ग' हैं। इस प्रकार प्रयोग में जो उच्चारित क्रम से प्रथम उपस्थित को निमित्त मानता हो, वह भी 'अन्तरङ्ग' होने से प्रथम प्रवृत्त हो जाता है,[२] यही इसका अभिप्राय है।

(ग) प्रथम प्रकार के पूर्वोपस्थित निमित्तक अन्तरङ्ग का स्वरूप : शास्त्रीय प्रक्रिया के उच्चारण क्रम से पूर्वोपस्थित निमित्तक रूप अन्तरंगता जो गृहीत की जाती है, वह प्रक्रिया दो प्रकार से जानी जा सकती है— **(१)** जो शास्त्रीय सिद्धान्त शब्दों की साधनिका में स्वीकार किये जाते हैं। **(२)** जो अर्थ आदि की उत्पत्ति के क्रम से शब्द की सिद्धि में प्रक्रिया आश्रित की जाती है, इस अर्थक्रम से उपस्थित प्रक्रिया के आधार पर जानी जाती है। इसको निम्न रूप से स्पष्टतया समझा जा सकता है— **(१) का स्पष्टीकरण** — शास्त्रीय सिद्धान्त यह है कि पहले धातु का साधन (कारक) के साथ योग होता है, उसके पश्चात् धातु और उपसर्ग का योग होता है, उसके पश्चात् शब्दान्तर से सम्बन्ध होता है।[३] इस प्रकार उक्त प्रक्रिया से धातु और उपसर्ग का कार्य 'अन्तरङ्ग' कहलाता है, जिससे 'खट्वा+आ+ऊढा' में 'आ+ऊढा' को होने वाला शब्द-निमित्तिक कार्य अन्तरङ्ग होगा, फलत: 'आद्गुण:'[४] सूत्र से होने वाला गुण

---

१. 'पुगन्तलघूपधस्य च' अष्टा० ७/३/८६।

२. म०भा० १/१/५७।

३. म०भा० ६/१/१०८। ४. अष्टा० ६/१/८७।

'अन्तरङ्ग' कहलाता है। इस प्रकार शास्त्रीय प्रक्रियाक्रम से पूर्व उपस्थित निमित्तक 'अन्तरङ्ग' होता है, समझना चाहिए। **(२) का स्पष्टीकरण** — उक्त प्रकार के समान ही प्रक्रिया दशा में प्रकृति आदि अर्थ का आश्रयण करके अर्थ क्रम की कल्पना की जाती है। अर्थ-रूप-जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या, कारक का बोध क्रमशः निम्न प्रकार से होता है। सर्वप्रथम शब्दश्रवण के अनन्तर सामान्यभूत अर्थ जाति-बुद्धि की उपस्थिति होती है, पश्चात् जाति के आश्रयभूत व्यक्ति का बोध, तब जाति विशिष्ट व्यक्ति में विशेष के चिन्तन से लिंग का बोध, उसके पश्चात् सजातीय पदार्थान्तर में सापेक्ष अपेक्षा-बुद्धि के द्वारा संख्या, तब विजातीय क्रिया में सापेक्ष कारकत्व बुद्धि का ज्ञान होता है। इसी क्रम से उस-उस अर्थ के बोधक शब्द का प्रादुर्भाव होता है तथा उसी के शब्द-क्रम से शब्द के कार्य होते हैं। इस प्रकार जैसे अर्थक्रम का प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही शब्दों के क्रम की उपस्थिति होती है तथा उनमें उसी प्रकार अर्थ क्रम से उपस्थित शब्द-क्रम के अनुसार कार्य करना चाहिए।[१] यही 'अर्थक्रम से उपस्थिति' कहलाती है, इनमें जिसकी प्रथम उपस्थिति होती है वह 'अन्तरङ्ग' है। फलतः कोई शब्द पहले अर्थवान् होता है, फिर प्रातिपदिक संज्ञा, पुनः लिङ् बोधक ङीप्, फिर 'सु' आदि का विधान किया जाता है। इस प्रकार अर्थक्रम रूप शास्त्रीय प्रक्रिया के उच्चारण क्रम से जिसका निमित्त पूर्व उपस्थित हो, वह 'अन्तरङ्ग' होता है। **(अ) उदाहरण**— जैसे 'पट्व्या' इस पद का विभाग कर अन्वाख्यान (पट्+उ+ई+आ-(टा) में 'उ' तथा 'ई' को युगपत् यण् की प्राप्ति होती है। इसमें अर्थक्रम से जिसका निमित्त प्रथम उपस्थित होता हो उसको मानकर होने वाला कार्य 'अन्तरङ्ग' रूप से माना जाता है। प्रकृत में पूर्व का (पट्+उ+ई) 'यण्' आदेश अन्तरङ्ग माना जाता है, क्योंकि पूर्व यण् का निमित्त 'ई', अर्थक्रम से प्रथम प्रादुर्भाव होने से प्रथम उपस्थित होता है। फलतः पूर्व यणादेश अन्तरङ्ग होने से यण् कार्य पहले होता है, पश्चात् उपस्थित होने से पर-यणादेश बहिरंग है, अतः असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पश्चात् क्रम से पूर्व-पूर्व का कार्य प्रथम हो जाता है। यही अर्थक्रम रूप प्रक्रिया के उच्चारण क्रम से प्रथमोपस्थित निमित्त वाले कार्य का ग्रहण होता है। **(आ) पूर्वोक्त अन्तरंगत्व की प्रवृत्ति**— यह अन्तरंगत्व जात-बहिरङ्ग, के असिद्ध करने में नहीं प्रवृत्त होता है।[२] अर्थात् जातबहिरङ्ग पक्ष में इस प्रकार के अन्तरङ्ग का ग्रहण नहीं होता है, यह अर्थ उक्त लोकव्यवहार से ही ज्ञात होता है। विस्तार से जानने के लिए 'वाह ऊठ्'[३] सूत्र का कैयट द्रष्टव्य है। दूसरी बात यह कि 'पद का विभाग करके अन्वाख्यान पक्ष' में समकालप्राप्तिक[४] बहिरंग के असिद्ध करने में जब इस अन्तरङ्ग का ग्रहण करते हैं तब 'असिद्धत्व' का तात्पर्य 'पहले प्रवृत्ति होती है' अर्थात् उसकी

---

१. प०शे०, पृष्ठ २७८, पं० ३ तथा म०भा० १/१/५७।

२. प०शे०, पृष्ठ २७८। ३. अष्टा० ६/४/१३२।

४. अन्तरङ्ग के साथ ही बहिरंग की प्राप्ति में।

प्रवृत्ति पहले करनी चाहिए, ऐसा नियम करने वाला है। **(इ) उक्त प्रवृत्ति में प्रमाण**— इस अन्तरङ्ग के नियामक मानने में 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ'[१] का भाष्य प्रमाण है। जातबहिरङ्ग में नहीं प्रवृत्त होने के कारण ही भाष्य में भाष्यकार ने 'वायूवो:' (वायु+ओस्) में 'लोपो व्योर्वलि'[२] सूत्र से प्राप्त 'य्' के लोप को, जो 'उ' के स्थान में यण् (व्) हुआ है, उसे 'स्थानिवद्भाव'[३] मानकर रोका है।[४] यहाँ पूर्वोपस्थितनिमित्तक[५] होने से वलि (वल् परे रहते) लोप अन्तरङ्ग है, पश्चात् उपस्थित निमित्तक ('ओ' के निमित्त) होने से यण् बहिरङ्ग है। यहाँ अन्तरङ्ग से पूर्व ही बहिरङ्ग यण् हो चुका है। यदि अन्तरङ्ग परिभाषा यहाँ भी प्रवृत्त होती तो उसी से जात-बहिरङ्ग की असिद्धि होने से अन्तरङ्ग 'य्' का लोप - (वलि लोप) रुक जाता, तो 'स्थानिवद्भाव' आश्रयण की आवश्यकता नहीं होती? इसीलिए यहाँ जातबहिरङ्ग की असिद्धि में इस अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसा भाष्यकार के अभिप्राय से जाना जाता है।

(ई) क्रम से अन्वाख्यान में अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-भाव— यह 'अन्वाख्यान' का दूसरा पक्ष है। 'पट्व्या' प्रयोग में जब हम क्रम से अन्वाख्यान करते हैं अर्थात् इस पद के वाचक (सार्थक) घटक अवयवों को क्रम से रखकर व्याख्यान करते हैं, तब पूर्व प्रवृत्ति वाले (होना भी) अन्तरङ्ग का ग्रहण होता है, क्योंकि पहले (क्रम से) स्थित होने से अन्य निमित्त का अभाव होने के कारण प्रथम प्रवृत्ति-रूप वाला 'अन्तरङ्ग' है तथा इस पक्ष में जो बहिरङ्ग का असिद्धत्व-कथन होता है, उसका भी उस समय किसी निमित्त न होने के कारण 'उस कार्य की अप्राप्ति' रूप ही- असिद्ध द्वारा कथित होता है— यह अर्थ जानना चाहिए। उदाहरणस्वरूप 'पटु ई'[६]- पट्वी यणादेश के निमित्त 'ई' के क्रम से प्रथम रखने से कार्य की प्रथम प्रवृत्ति कराने वाला रूप अन्तरङ्ग 'यण्' हो जाता है। इसी क्रम से 'पट्वी' के पश्चात् ही 'टा' विभक्ति होती है, इसलिए पूर्व यण्[७] के समय बहिरङ्ग परयण्[८] (टा निमित्तक) अभी प्राप्त नहीं है, क्योंकि टा-निमित्त अभी नहीं आया है। अत: उस 'यण्' की अप्राप्ति रूप को ही असिद्ध कहते हैं। इस प्रकार 'पट्वी' की सिद्धि के पश्चात् 'टा' आने से 'पट्व्या' सिद्ध होता है। इस पक्ष में परिभाषा का कोई उपयोग नहीं प्रतीत होता है।

(उ) अपरनिमित्तकमन्तरङ्गम्— जहाँ किसी परनिमित्त की अपेक्षा नहीं है, ऐसा

---

१. अष्टा० १/१/५७। २. अष्टा० ६/१/६६।

३. 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' — अष्टा० १/१/६६।

४. 'वायूवो:' के उ का व् सम्प्रसारण हुआ है तथा वही 'य्' के लोप का निमित्त है।

५. म०भा० १/१/५७। ६. 'वोतो गुणवचनात्' अष्टा० ४/१/४४।

७. पूर्व का तात्पर्य पटु के 'उ' का यण्।

८. ई का यण् (य्) आ (-टा) परे रहते हुए।

कार्य[१] भी अन्तरङ्ग समझा जाता है। उदाहरणस्वरूप 'एधते' (एध्+लट्) में शप् विकरण परनिमित्त (सार्वधातुक) की अपेक्षा करता है। अत: विकरण की अपेक्षा 'लस्य'[२] के स्थान में होने वाला 'तिप्तस्झि०'[३] आदि सूत्र से लादेश 'त' किसी परनिमित्त की अपेक्षा नहीं करता है, अत: परनिमित्ताभाव होने से अन्तरङ्ग है। फलत: 'अन्तरङ्ग' होने से प्रथम प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार प्राय: उक्त चार प्रकार का अन्तरङ्ग माना जाता है। इस प्रकार के अन्तरङ्ग का उपयोग दोनों प्रकार[४] के बहिरङ्ग में होता है, उदाहरण द्रष्टव्य हैं। यह अपर-निमित्तकत्वरूप अन्तरङ्ग भी 'आदेशविधायक के रूप' में ही गृहीत होता है।[५]

पूर्वस्थानिकमन्तरङ्गम्— भट्टोजिदीक्षितादि कुछ लोग **पूर्वस्थानिक**[६] को भी अन्तरङ्ग मानते हैं, उसका खण्डन किया जाता है— **(ए) पूर्वस्थानिक अन्तरङ्ग का स्वरूप**— दीक्षित आदि वैयाकरण पूर्व में श्रुत को निमित्त मानकर होने वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है, यह मानते हुए 'पूर्व के स्थान में होने वाले कार्य को भी अन्तरङ्ग मानते हैं?'[७] **(ऐ) नागेश मत** — नागेश इस मत को नहीं मानते हैं, इसको चिन्त्य बताते हुए खण्डन करते हैं। उसमें निम्न हेतु हैं— **(१)** हेतु यह है कि भाष्यकार को यह मत नहीं मान्य है, अत: उक्त अन्तरङ्गता का कथन अयुक्त है। 'प्रकृत्यैकाच्'[८] सूत्र में भाष्यकार का निम्न उल्लेख है उच्चारण क्रम से पूर्वोपस्थित-निमित्तक कार्य को अन्तरङ्ग कहा है, पूर्व स्थानिक कार्य को नहीं, यदि उसे भी अन्तरङ्ग माना जाय, तो 'स्रजिष्ठ:' (स्रज्+विन्+इष्ठन्+सु) इत्यादि में 'टे:'[९] सूत्र से टि लोप ('इन्' मात्र का लोप) प्राप्त होता है। उसका 'विन्मतोर्लुक्'[१०] सूत्र अपवाद है, अत: इससे टि लोप का बाध हो जाता है। इस प्रकार 'स्रज्+विन्) में 'विन्' का लुक् होने पर, पश्चात् पुन: 'स्रज्' के टि (अज्) का लोप प्राप्त होता है, वह क्यों नहीं होता? **(२)** हेतु यह है

---

१. कार्य से यहाँ 'आदेशरूप कार्य' समझा जाता है। — द्र० शा०कला, पृष्ठ २४० पं० ७-८।

२. अष्टा० ३/४/७७। ३. अष्टा० ३/४/७८।

४. प्रथमजात बहिरंग, समकालप्राप्तिक बहिरंग।

५. यथा 'दिव्+स्' में ऊठ् तथा द्विर्वचन की प्राप्ति में अपरनिमित्तक अन्तरङ्गता नहीं। उ० १/३/१२।

६. पूर्व के स्थान में होने वाला कार्य भी, पूर्वस्थानी का निमित्त होता है।

७. सि०कौ० 'काव्यं कलत्रं०' इत्यादि प्रकरण।

८. म०भा० ६/४/१६३। ९. अष्टा० ६/४/१५५।

१०. वही, ५/३/६५।

कि विषयभेद से टि लोप के भिन्न-भिन्न होने से पूर्व टि लोप ('विन्' में टि लोप) का 'विन्मतोर्लुक्'[१] अपवाद सूत्र से बाध होने पर भी पुनः प्राप्त अपर[२] टि लोप ('स्रज् का टि) का बाध किस प्रकार होता है? इन दोनों आपत्तियों के वारण के लिए भाष्यकार इस सूत्र[३] में जातिपक्ष का आश्रयण करते हैं। इस पक्ष में टि-लोप मात्र- 'जो भी टि लोप जब-जब प्राप्त होता है', का ग्रहण हो जाने से 'विन्मतोर्लुक्' सूत्र से पुनः प्राप्त टि लोप का भी लुक् द्वारा बाध हो जाता है। यदि 'पूर्वस्थानिक कार्य अन्तरङ्ग होता है', माने तो सहज में जातिपक्ष के आश्रयण के प्रयास के बिना ही पुनः प्राप्त टि लोप का वारण हो जायेगा। क्योंकि अपर अथवा पुनः प्राप्त का टि-लोप पूर्व (स्रज्) के स्थान में होने से 'उक्त अन्तरङ्गत्व' से अन्तरङ्ग है तथा पूर्व टि लोप ('विन्' का लोप) पर-स्थानिक होने से बहिरङ्ग है। अतः पुनः टि-लोप अन्तरङ्ग की दृष्टि में 'विन्मतोर्लुक्' से बाधित टि-लोप बहिरङ्ग होने से असिद्ध है, इस प्रकार अन्तरङ्ग परिभाषा से ही पुनः टि लोप प्राप्त नहीं है। फलतः भाष्यकार का प्रयास निष्फल ही प्रतीत होने (लगेगा) लगता है।[४] **(३)** हेतु है कि परिभाषा में 'अङ्ग' शब्द निमित्तवाची है, यह निर्विवाद बात है तथा 'स्थानी' का निमित्त रूप से ग्रहण नहीं होता है। अतः निमित्त न हो सकने से 'पूर्व स्थानिकत्व' निमित्तक को अन्तरङ्ग नहीं मान सकते। **(४)** भाष्य में भी इस प्रकार की रीति से बहिरङ्ग के असिद्धत्व के कथन का कहीं भी आश्रयण नहीं किया गया है, अतः यह मत मान्य नहीं है। इस प्रकार पूर्वस्थानिक कार्य का अन्तरङ्ग होता है, यह मत खण्डित हो जाता है।

(ख) बहिरङ्ग प्रकार : नागेश के अनुसार 'बहिरङ्ग' शब्द भी बहुव्रीहि समासान्त तथा परस्परापेक्ष प्रतिद्वन्द्विभावी अर्थवान् है। बहिः- बहिर्भूत, अंग-निमित्त। सूत्र में सप्तम्यन्त पंचम्यन्त से जो गृहीत हो, उसी के प्रयोग में शब्द-रूप निमित्त से ग्रहण होता है।[५] उक्त रीति से इसका यह अर्थ है— 'अन्तरङ्ग शास्त्र अथवा कार्य के निमित्त समुदाय से बहिर्भूत है अंग-शब्द-रूप निमित्त जिसके, वह बहिरङ्ग है'।[६] अन्तरङ्ग के समान ही बहिरङ्ग भी निम्न रूपों में समझा जा सकता है— **(अ) पश्चात्स्थितनिमित्तक**— जो अन्तरङ्ग के निमित्त की अपेक्षा पश्चात्-बाद में स्थित हो, ऐसे निमित्त को मानकर होने वाला कार्य 'बहिरङ्ग' है। **(आ) समुदाये पश्चात्स्थितनिमित्तक** — अन्तरङ्ग के निमित्त समुदाय की अपेक्षा पश्चात् स्थित अर्थात् उसके आगे के अधिक समुदाय को

---

१. अष्टा० ५/३/६५।

२. 'स्रज्' के टि का लोप पुनः 'टेः' अष्टा० ६/४/१५५ से प्राप्त होता है।

३. 'विन्मतोर्लुक्' अष्टा० ५/३/६५ सूत्र।

४. प०शे०, पृष्ठ २८०, पं० ३। ५. प०शे०, पृष्ठ २४६, पं० ३-४।

६. प०शे०, पृष्ठ २३९, पं०१।

मानकर होने वाला जो कार्य है वह 'बहिरङ्ग' है।[१] **(इ) पश्चात् उपस्थित निमित्तक**— जिसका निमित्त प्रथम उपस्थित न हो, वह भी 'बहिरङ्ग' कहलायेगा। वह दो प्रकार से हो सकता है — (१) अर्थ के क्रम से, (२) लौकिक प्रयोग के उच्चारण क्रम से जिसकी पश्चात् उपस्थिति होती है। **(ई) परनिमित्तकत्व रूप बहिरङ्ग**— किसी दूसरे निमित्त की अपेक्षा करके जो कार्य होता है वह भी 'बहिरङ्ग' कहलाता है। **(उ) बहिरङ्ग के अन्य प्रकार**— दीक्षितादि तथा कुछ प्राचीन विद्वान् निम्न प्रकार से भी बहिरङ्ग मानते हैं — **(१)** संज्ञासापेक्ष बहिरङ्ग। **(२)** बह्वपेक्षरूप बहिरङ्ग। **(३)** विशेषापेक्षत्व रूप बहिरङ्ग। उक्त तीन प्रकार के बहिरङ्गों का नागेश ने प्रसङ्गवश कथन किया है, परन्तु इनको ये बहिरङ्ग रूप में मान्य नहीं हैं। इनका स्वरूप तथा सिद्धान्त क्रमशः निम्नलिखित रूप से है— **(१) संज्ञासापेक्ष बहिरङ्ग** — इस मत पर प्रधानतया कैयट ने विचार किया है। नागेश उनके कुछ सूत्रों में उक्त मत का कथन करके अपना अभिमत प्रकट करते हैं। 'संज्ञा की अपेक्षा करके होने वाला कार्य भी बहिरङ्ग होता है', ऐसी कुछ लोगों की मान्यता है। वे निम्न उदाहरण में इसी के आधार पर दोष-सिद्धि दिखलाते हैं। 'गौधेरः' की निष्पत्ति में 'गोधायाः ढ्रक्'[२] सूत्र से अपत्यार्थ[३] में ढ्रक्' प्रत्यय होता है। 'ढ्रक' प्रत्यय के आदि 'ढ्' का 'आयनेयीनीयियः०'[४] आदि सूत्र से 'एय्' आदेश हो जाता है। 'गौधेय् र्' इस अवस्था में 'लोपो व्योर्वलि'[५] सूत्र से 'य्' का लोप होता है। परन्तु यहाँ 'एय्' आदेश अंग संज्ञा की अपेक्षा करने से बहिरङ्ग है, अतः असिद्ध हो जाने से 'लोपो व्योर्वलि' सूत्र से 'य्' का लोप नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'पचेत्'[६] में 'अतो येयः'[७] सूत्र से विहित 'इय्' आदेश भी अंग संज्ञा[८] की अपेक्षा करने से बहिरङ्ग होने के कारण असिद्ध हो जाने से 'य्' का लोप नहीं हो सकता?[९] **(य) खण्डन : नागेश मत :** नागेश उपर्युक्त कैयट मत को निस्सार मानते हैं। उनका कथन है कि जिस सूत्र में सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त रूप से निमित्त का ग्रहण किया गया हो, यदि वही प्रयोग में शब्द रूप से गृहीत होकर निमित्त का कार्य सिद्ध कराता हो तो ऐसे शब्द-रूप निमित्त वाले को बहिरङ्ग माना जाता है। इस आधार पर संज्ञा की सापेक्षता को शब्द रूप निमित्त नहीं कह सकने से बहिरङ्ग का हेतु नहीं मान सकते हैं, क्योंकि संज्ञा में

---

१. यथा 'अतिष्ठाप्+णि+अत्' में 'इत्' आदेश 'णि+अ' निमित्त रूप सम्पूर्ण समुदाय का ही निमित्तक है।

२. अष्टा० ४/१/१२९।

३. 'तस्यापत्यम्' अष्टा० ४/१/९२।

४. अष्टा० ७/१/२।

५. वही, ६/१/६६।

६. पच् धातु, विधि लिंग, प्र०पु०ए० में तिप्, शप्, यासुट्।

७. अष्टा० ७/२/८०।

८. अष्टा० १/४/१३।

९. 'लोपो व्योर्वलि' अष्टा० ६/१/६६।

शब्द रूप का अभाव रहता है। अतः संज्ञासापेक्ष बहिरङ्ग नहीं माना जा सकता है। फलतः 'गौधेरः' में 'एय्' आदेश में बहिरङ्ग का अभाव ही जानना चाहिए। उपर्युक्त उदाहरण के समाधान में दूसरा तर्क यह है कि 'एय्' आदेश को अन्तरङ्ग ही समझना चाहिए, क्योंकि यह आदेश किसी पर-निमित्त को मानकर नहीं होता है, मात्र स्थानी का आदेश होने से 'अपर-निमित्तक' रूप अन्तरङ्ग हैं। बहिरङ्गत्व का तो कथमपि कथन सम्भव नहीं है। फलतः आक्षेप निराधार ही समझना चाहिए। **(व) संज्ञा-सापेक्ष में कैयट की अन्य उक्ति**— 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति'[१] सूत्र की व्याख्या में कैयट का कहना है कि 'पञ्च ब्राह्मण्यः' इत्यादि में 'न षट्स्वस्रादिभ्यः'[२] यह सूत्र स्त्री-प्रत्यय टाप् का निषेध करता है। उनका कथन है कि षट्[३] संज्ञा की दृष्टि में 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'[४] सूत्र से विहित नलोप पदसंज्ञा की अपेक्षा करने से बहिरङ्ग है। अतः अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्ध हो जाने से पञ्च शब्द षट्संज्ञक रहता है। इस कारण 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' सूत्र के निषेध का विषय है। **(र) नागेश द्वारा खण्डन**— यह मत दोषयुक्त होने से चिन्त्य है। नलोप की असिद्धता तभी मानी जा सकती है, जब यह स्वीकार किया जाय कि संज्ञासापेक्ष कार्य बहिरङ्ग होता है। 'पंचन्' की पदसंज्ञा[५] होने पर ही नलोप होता है। परन्तु संज्ञाकृत बहिरङ्गत्व नहीं माना जाता है। अब रही टाप्[६] निषेध की अनुपपत्ति की निराकृति की बात, 'पञ्च' इस प्रयोग में टाप् का निषेध 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' सूत्र से ही होता है। उसका विद्वत् सम्मत अर्थ इस प्रकार है— ''स्वीत्व-विवक्षा में जो भी प्रत्यय प्राप्त होता है, वह षट् संज्ञकों से नहीं होता'', यद्यपि वे वर्तमान में संख्यावाचक शब्द षकारान्त, नकारान्त नहीं है तथा इसी कारण षट् संज्ञक भी नहीं हैं, परन्तु जो पहले षकारान्त, नकारान्त रह चुके हों और इसीलिए षट्संज्ञक भी रहें हो, इस प्रकार यहाँ भी भूतपूर्व 'षट्त्व' का आश्रयण करके निषेध सिद्ध होता है। **(ल) संज्ञासापेक्ष बहिरङ्ग न मानने में प्रमाण** — संज्ञाकृत बहिरङ्गत्व नहीं माना जाता, अतएव 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति'[७] सूत्र में 'कृति तुक्' 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'[८] सूत्र से विधीयमान् 'तुक्' आगम की दृष्टि में नलोप असिद्ध होता है, यह वचन सार्थक होता है। यदि संज्ञासापेक्ष बहिरङ्गता ली जाती तो 'वृत्रहन्+क्विप्+भ्याम्' में 'तुक्' क्विप्-निमित्तक होने से अन्तरङ्ग होगा तथा नलोप पदसंज्ञा होने से बहिरङ्ग होगा, इस प्रकार सूत्र में 'कृति तुक्' ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है। फलतः व्यर्थ होकर यह बात सम्यक् समर्थित होती है कि 'वृत्रहभ्याम्' इत्यादि में नलोप के पदसंज्ञा निमित्तक

---

१. अष्टा० ८/२/२। २. वही, ४/१/१०।

३. 'ष्णान्ता षट्' अष्टा० १/१/२४। ४. अष्टा० ८/२/७।

५. सुप्तिङन्तम् पदम् — अष्टा० १/४/१४।

६. अष्टा० ४/१/१० से निषेध की अनुपपत्ति।

७. अष्टा० ८/२/२। ८. वही, ६/१/७१।

होने पर भी नलोप की बहिरङ्गता नहीं मानी जाती है। 'वृत्रहभ्याम्' में 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'[१] सूत्र से 'भ्याम्' वृत्रहन् की पद संज्ञा का निमित्त अवश्य है, पर वह 'भ्याम्' पद संज्ञा के आश्रित नलोप का निमित्त नहीं है। परम्परा[२] से यद्यपि 'भ्याम्' पदसंज्ञा का निमित्तक होने से नलोप का भी निमित्त हो सकता है, पर साक्षात् नलोप का निमित्त नहीं है। यहाँ परिभाषा में साक्षात् निमित्त ही लिया जाता है। परम्परा-प्राप्त निमित्त भी लिया जाता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। परम्परा-प्राप्त निमित्त नहीं गृहीत किया जाता है। यह 'नलोपः सुप्०'[३] सूत्र के भाष्य में ध्वनित होता है, वहीं प्रदीप एवम् उद्योत में यह निरूपित किया गया है।[४]

(२) बह्वपेक्षरूप बहिरङ्ग : बहुत्व, अल्पत्व, संख्याबोधक बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग मानने वालों के मत में भी प्रधानतया कैयट का मत माना जाता है। नागेश ने भाष्य का उद्धरण रखकर इस मत पर विस्तृत विचार किया है। इस मत के अनुसार बहिरङ्ग का स्वरूप इस प्रकार जाना जाता है। 'बहिः'- संख्याबोधक बहुत (पदार्थ) का वाचक है। इसी प्रकार 'अन्तः' का अल्प-न्यून (पदार्थ) अर्थ है। फलतः बहुत पदार्थ की अपेक्षा करने वाला बह्वपेक्ष रूप 'बहिरङ्ग' कहलाता है तथा अल्प पदार्थ की अपेक्षा करने वाला अल्पापेक्ष स्वरूप 'अन्तरङ्ग' समझना चाहिए। उदाहरणस्वरूप संक्षेप में भाष्य प्रसङ्ग को लिखा जाता है। 'येन विधिस्तदन्तस्य'[५] सूत्र के भाष्य में शङ्का की गई है कि यदि 'इकोयणचि'[६] आदि में भी तदन्तविधि[७] (और तदादिविधि) हो जाय। (फलतः यह अर्थ हो जाय कि 'इगन्त को यण् आदेश होता है अजादि शब्द-स्वरूप के परे होने पर') तब 'स्योनः' की सिद्धि में 'सि+ऊ+न'— अवस्था में जो लघूपधगुण[८] का अन्तरङ्ग यण् के द्वारा बाध इष्ट है, वह सिद्ध नहीं होगा। हेतु यह है कि ऐसा होने पर यणादेश का निमित्त 'ऊन' होगा और गुण का निमित्त 'न' ऊ+न के अन्तर्गत होने से गुण अन्तरङ्ग हो जायेगा और यणादेश बहिरङ्ग। इस प्रकार यण् के असिद्ध होने से गुण ही होगा, जिससे अनिष्ट रूप 'सयोनः'[९] प्रसक्त होगा। इस हेतु का स्पष्टीकरण

---

१. अष्टा०, १/४/१७।

२. निमित्त के निमित्त को अपना निमित्त मानना।

३. म०भा० ८/२/२।

४. उ० एवं प्र० ८/२/२।

५. अष्टा० १/१/७२।

६. वही, ६/१/७७।

७. वही, १/१/७२ से 'इक्' के द्वारा शब्द रूप को विशेषत करके तदन्तविधि हो सकती है— इगन्त शब्दस्वरूप को। इसी प्रकार सप्तम्यन्त में भी (अजादि शब्दस्वरूप परे रहते) तदादि विधि भी हो सकती है। द्र० म०भा० १/१/७२।

८. 'पुगन्तलघूपधस्य च', अष्टा० ७/३/८६।

९. 'सि+ऊ+न' में गुण होकर 'से+ऊ+न' तथा ए का अय् तथा ऊ का भी गुण 'ओ' होकर 'सयोनः'।

कैयट[१] निम्न प्रकार से करते हैं— 'स्योनः' में सिव् धातु से बहुलता से औणादिक 'न' प्रत्यय होने पर तीन कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं : (१) गुण, (२) व-लोप[२] तथा (३) ऊठ्। ऊठ्, व-लोप का अपवाद है। अतः 'सिव्+न' में व-लोप का बाध कर ऊठ् हो जाता है,—'सि ऊ न'। तथा इसी अवस्था में प्राप्त उपधा-गुण का भी ऊठ् अन्तरङ्ग होने से बाध करता है। अब ऊठ् अन्तरङ्ग और गुण बहिरङ्ग किस प्रकार है? कैयट इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि इकार का 'गुण'[३] पाँच पदार्थों की अपेक्षा करता है — (१) अङ्गसम्बन्धिनी, (२) इग्लक्षणा, (३) लघ्वी, (४) उपधा, (५) आर्धधातुक प्रत्यय। अतः इन बहुत पदार्थों की अपेक्षा करने से बह्वपेक्ष-रूप बहिरङ्ग है। परन्तु इसके विपरीत 'ऊठ्' केवल चार पदार्थों की अपेक्षा करता है— (१) वकारान्त, (२) अङ्ग, (३) अनुनासिकादि, (४) प्रत्यय। इस प्रकार उसकी अपेक्षा कम पदार्थों की अपेक्षा करने से अल्पापेक्ष रूप अन्तरङ्ग होता है। इस प्रकार ऊठ् होने पर 'सि+ऊ+न' में यण् और गुण साथ-साथ प्राप्त होते हैं, इस स्थिति में अन्तरङ्ग होने से 'यण्' के द्वारा जो गुण का बाध इष्ट है, वह नहीं सिद्ध होगा। यहाँ स्पष्ट ही बहुत अपेक्षा करने वाला बहिरङ्ग होता है, ऐसा माना है। संज्ञा के आश्रित कार्य को भी 'बहिरङ्ग' स्वीकार करते हैं। **खण्डन :** नागेश के अनुसार यह मत कथमपि सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने इस मत का प्रत्याख्यान किया है। इसको न मानने में उन्होंने चार[४] हेतु दिए हैं — **(य)** यदि कैयट का अभिमत मत ('बह्वपेक्षं बहिरङ्गम्'-, संज्ञा-कृत बहिरङ्ग) सही माना जाय तो उपर्युक्त तदन्त विधि में भी गुण, संज्ञा आदि उक्त बहुत पदार्थों की अपेक्षा करने के कारण, बह्वपेक्ष रूप होने से बहिरङ्ग है ही, पुनः जो भाष्य में अनिष्ट रूप अन्तरङ्गता की प्रसक्ति का कथन किया है, वह कैसे संगत होगा? इस प्रकार इस भाष्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि बह्वपेक्ष रूप 'बहिरङ्ग' नहीं माना जाता है। **(व)** बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग शब्दों से बह्वपेक्षत्व तथा अल्पापेक्षत्व का कथन कर ही नहीं सकते, क्योंकि बहिस् और अन्तर् शब्दों की शब्द शक्ति से बहुत्व तथा अल्पत्व रूप अर्थ लभ्य नहीं होता है। पुनः बह्वपेक्ष, अल्पापेक्ष कैसे कह सकते हैं? अतः इनका कथन ही अयुक्त है। **(र)** यदि ऐसा ही अर्थ अभीष्ट होता तो भाष्यकार को असन्दिग्ध रूप से 'असिद्धं बह्वपेक्षमल्पापेक्षे' ऐसा ही कथन करना चाहिए था, बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग का क्यों किया? क्योंकि अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग शब्द अल्पापेक्ष एवं बह्वपेक्ष के समानार्थक नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त अर्थ मानना परिभाषा के तात्पर्य से विरुद्ध है। **(ल)** बह्वपेक्ष कार्य बहिरङ्ग रूप में न मानने के कारण ही 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[५] सूत्र के भाष्य के निम्न वाक्य की युक्तता सङ्गत होती है— "गुण की अपेक्षा यण् आदेश अन्तरङ्ग

---

१. प्र० १/१/७२।
२. 'लोपो व्योर्वलि' अष्टा० ६/१/६६।
३. अष्टा० ७/३/८६।
४. प०शे०, पृष्ठ २४४-२४५।
५. म०भा० १/१/२।

होने से प्रथम होता है'', इसका 'स्योनः' यह उदाहरण दिया है। गुण की अपेक्षा 'ऊठ्' अन्तरङ्ग है, ऐसा नहीं कहा है। **कैयट** के मतानुसार ऐसा भी कहना चाहिए था, क्योंकि गुण भी तो बह्वपेक्ष होने से बहिरङ्ग है। अपितु प्रथम इसी का कथन करना चाहिए था, क्योंकि गुण और ऊठ् का विचार प्रथम ही उपस्थित होता है। ऊठ् होने के पश्चात् गुण और यण्[१] के बलाबल का विचार होता है। **(श) नागेश मत से उक्त भाष्य-संगति–** 'बह्वपेक्ष' बहिरङ्ग न मानने के पक्ष में 'सिव् न' इसमें गुण भी 'न' निमित्तक है और ऊठ् भी। इस प्रकार दोनों समान हैं। अतः 'ऊठ्' की अन्तरङ्गता बनती नहीं। इस कारण ऊठ् करने में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। ऊठ् तो गुण की अपेक्षा नित्य[२] होने से होता है। इस प्रकार भाष्यकार[३] का गुण की अपेक्षा ऊठ् की अन्तरङ्गता का न कहना, नागेश-मत का समर्थन करना है। **(ष) भाष्य का सिद्धान्त-पक्ष :** सिद्धान्त पक्ष में (तदन्तविधि के अभाव में) 'सिव् न' में नित्य होने से गुण से पहले ऊठ् हो जाता है। पश्चात् ऊठ् होने पर जो गुण प्राप्त होता है, वह अन्तरङ्ग[४] होने से 'यष्' के द्वारा बाधित हो जाता है। अतः गुण अनित्य है, क्योंकि 'यण्' गुण के निमित्त 'इ' का विघातक है।[५] अतः अनित्य गुण को बाधकर यण् होने से 'स्योनः' रूप सिद्ध होता है। **(स) अपने मत के समर्थन में हेतु—** बह्वपेक्षरूप बहिरङ्ग मानने से भाष्य से विरोध प्राप्त होता है। 'येन विधिस्तदन्तस्य'[६] सूत्र के भाष्य में ''ऊन शब्दमाश्रित्य०'' इत्यादि भाष्यकथन से यह स्पष्ट है कि परिभाषा में 'अङ्ग' पद से शब्दरूप निमित्त का ही ग्रहण होता है। संख्याकृत बहुत्व आदि की अपेक्षा से बहिरङ्गत्वादि नहीं होता है।

(३) विशेषापेक्षरूप बहिरङ्ग— यह नव्य वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित[७] आदि का मत है। स्वरूप इस प्रकार है— सामान्य कार्य की अपेक्षा विशेषापेक्ष कार्य, विशेष-धर्मरूप अधिक निमित्त होने से 'बहिरङ्ग' होता है। पर विशेष कर्म के निमित्त होने के साथ ही उस विशेष का जो सामान्य धर्म है, वह भी निमित्त होना चाहिए। तब ऐसा

---

१. 'सि+ऊन' में 'पुगन्तलघूपधस्य च' अष्टा० ७/३/८६ से गुण तथा अष्टा० ६/१/७७ से 'यण्' साथ-साथ प्राप्त है।

२. कृताकृत प्रसंगी होने से 'ऊठ्' गुण की अपेक्षा नित्य है। गुण होने पर भी ऊठ् तथा न होने पर भी ऊठ् होता है, अतः नित्य है।

३. 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' — म०भा० १/४/२।

४. 'इको यणचि' अष्टा० ६/१/७७ से होने वाला यण् 'सि+ऊन' में पूर्वस्थित 'ऊ' निमित्तक होने से अन्तरंग है।

५. 'यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्' प०शे० परि०सं०४८।

६. म०भा० १/१/७२।

७. प०शे०, पृष्ठ २७०, पं० ४-५ तथा सि०कौ० एवं श०कौ०।

विशेषापेक्ष कार्य बहिरङ्ग समझा जाता है। (इसकी प्रवृत्ति में यह हेतु देते हैं कि विशेष धर्म का ज्ञान सामान्य धर्म के ज्ञान के अधीन है। अत: उसके ज्ञान के लिए सामान्य धर्म का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार विशेष धर्म के श्रुत होने से और सामान्य धर्म के अनुमित होने से, दोनों उपस्थित होकर कार्य में निमित्त होते हैं)। इनके अनुसार अन्तरङ्ग वह होता है, जो विशेषापेक्ष कार्य की अपेक्षा सामान्य कार्य की अपेक्षा रखता है, क्योंकि विशेषधर्मरूप अधिक निमित्त नहीं है। उदाहरणस्वरूप 'रुद्यात्' (रुद्+लिङ्-रुद्+त्) में एक साथ 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च'[१] सूत्र से 'त्' को 'यासुट्' आगम प्राप्त होता है तथा 'रुदादिभ्य: सार्वधातुके'[२] सूत्र से सार्वधातुक[३] 'त्' को 'इट्' आगम, 'रुदश्च पञ्चभ्य:'[४] सूत्र से अपृक्त त् को 'ईट्' तथा 'अड्गार्ग्यगालवयो:'[५] सूत्र से अपृक्त त् को 'अट्' आगम प्राप्त होता है। 'रुदादिभ्य: सार्वधातुके' सूत्र में रुदादित्व और सार्वधातुकत्व निमित्त है, पुन: सार्वधातुक का क्या पदार्थ है? इसके बोध के लिए प्रकृति धातु है, इसका ज्ञान और 'त्' प्रत्यय है, इसका ज्ञान भी आवश्यक है। इसके विपरीत 'यासुट्'[६] (आगम) धातु के अधिकार का होने से धातु सामान्य की अपेक्षा करने से अन्तरङ्ग सिद्ध होता है। इस प्रकार धातुत्व-रूप सामान्य धर्म के साथ रुदादित्व रूप विशेषधर्मनिमित्तक होने से बहिरङ्गतया इट्, ईट् अट्[७] के असिद्ध होने के कारण 'यासुट्' हो जाता है। फलत: सामान्य, विशेष दोनों धर्मों की अपेक्षा से ही 'विशेषापेक्ष बहिरङ्ग' होता है। इस व्याख्या के आधार पर 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'[८] सूत्र की व्याख्या में कैयट के कथन का खण्डन हो जाता है। उनका कहना है कि 'ल्' मात्र की अपेक्षा करने के कारण 'तिप्' आदि आदेश अन्तरङ्ग है। लकार विशेष (लृट्, लुङ्, लुट्) की अपेक्षा करने वाले 'स्य' आदि आदेश बहिरङ्ग है?[९] **(य) व्याख्या की अयुक्तता (दीक्षित द्वारा अयुक्तता प्रतिपादन)**— यह मानना अयुक्त है, क्योंकि यद्यपि 'स्य' आदि विशेष धर्मापेक्ष हैं तथापि उनकी उत्पत्ति में विशेषान्तर्गत सामान्य धर्म (लत्व) निमित्त नहीं होता है, अत: वे बहिरङ्ग नहीं कहे जा सकते हैं। (वस्तुत: वे बहिरङ्ग इसलिए हैं कि वे पर-निमित्त की अपेक्षा करके होते हैं, तिबादि अपर निमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। **खण्डन**— यह मत भी अयुक्त है।[१०] इसमें निम्न हेतु हैं— **(१)**

---

१. अष्टा०, ३/४/१०३। २. वही, ७/२/७६।

३. 'तिङ्शित् सार्वधातुकम्' — अष्टा० ३/४/११३।

४. अष्टा० ७/३/९८। ५. अष्टा०, ७/३/९९।

६. 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' — अष्टा० ३/४/१०३।

७. अष्टा० ७/२/७६ इट्, अष्टा० ७/३/९८ ईट्, अष्टा० ७/३/९९ अट्।

८. अष्टा० १/३/१२। ९. प्र० १/३/१२।

१०. सामान्य और विशेष दोनों की अपेक्षा करने वाला विशेषापेक्ष='बहिरंग', यह मत।

यह ठीक है कि विशेष-रूप व्याप्य से सामान्य-रूप व्यापक (धर्म) का अनुमान होता है, जिससे सामान्य धर्म भी उपस्थित हो जाता है। परन्तु उपस्थित होकर भी वह (सामान्य धर्म) विशेषापेक्ष कार्य में शब्दत: अवश्य निमित्त होता हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। (जो केवल अनुमान से उपस्थित है। शब्द रूप से तो है नहीं- वह कैसे शब्दरूप निमित्त के ग्रहण में गृहीत किया जा सकता है)। अत: दोनों ही स्थानों पर एक-एक समान निमित्त होने के कारण विशेष धर्म रूप अधिक निमित्त वाले का ग्रहण होता है, यह कथन नहीं कर सकते। **(२)** भाष्य में इस प्रकार के अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग-भाव का कहीं भी निर्देश या सङ्केत नहीं किया है। फलत: भाष्य में अनुक्त होने से यह मान्य नहीं है। जहाँ कहीं ऐसा सङ्केत प्राप्त हो, वह एकदेशी की उक्ति समझनी चाहिए। यद्यपि 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'[१] सूत्र के भाष्य में सामान्यापेक्ष अन्तरङ्ग होता है और विशेषापेक्ष बहिरङ्ग होता है, यह अर्थ स्पष्टत: कहा है। पुन: क्यों न माना जाय? ऐसी शङ्का कर सकते हैं? तथापि यह मानना भ्रममूलक है। भाष्यकार का यह सिद्धान्त पक्ष नहीं है। इसके समर्थन में नागेश ने प्रकृत सूत्र के भाष्य का उद्धरण रखकर विस्तार से शङ्का का समाधान किया है— उक्त[२] सूत्र के भाष्य में पञ्च गावो यस्य सन्ति स 'पञ्चगु:' यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय की प्राप्त होने की शङ्का का विविध प्रकार से पूर्वपक्ष एवम् उत्तरपक्ष प्रदर्शित करते हुए सिद्धान्ती एकदेशी ने यह उत्तर दिया है कि 'पञ्चगु:' में अन्तरङ्ग होने से बहुब्रीहि समास है, क्योंकि अन्य पदार्थ में बहुब्रीहि का विधान है[३] और विशिष्ट (संख्या, विशेषण, तद्धितार्थ रूप) अन्य पदार्थों में द्विगु[४] का विधान है। इस प्रकार द्विगु के अर्थ के निमित्तभूत तद्धित (मतुप्) विधायक सूत्र में 'अस्यास्ति' ऐसा पाठ है। फलत: मतुबर्थ में यह 'पञ्चगु:' समास है, अन्य पदार्थ से अधिक 'अस्ति' के अर्थ की अपेक्षा करने वाले 'मतुप्' की अपेक्षा रखने वाला 'द्विगु' बहिरङ्ग है, केवल अन्य पदार्थ की अपेक्षा करने वाला बहुब्रीहि समास अन्तरङ्ग है, वही पहले होता है।

समाधान— यह उक्ति सिद्धान्ती की नहीं हो सकती, क्योंकि इससे अनिष्ट निवारण और इष्ट साधन नहीं होता। अधिक अर्थ की अपेक्षा से बहिरङ्ग मानने पर भी द्विगु-विधायक-शास्त्र 'संख्यापूर्वी द्विगुझ'[५] अपवाद शास्त्र ही रहेगा और बहुब्रीहि का बाधक होगा। हेतु यह है कि 'इकोयणचि'[६] सूत्र में अच्- सामान्यापेक्ष 'यण्' का विधान किया गया है परन्तु इसका 'अक: सवर्णे दीर्घ:'[७] अपवाद है, सवर्ण रूप अधिक धर्म

---

१. म०भा० ५/२/९४।

२. म०भा० 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' ५/२/९४।

३. 'अनेकमन्यपदार्थे'— २/२/२४।

४. 'संख्यापूर्वो द्विगु:' — अष्टा० २/१/५२।

५. अष्टा० २/१/५२। ६. वही, ६/१/७७।

७. वही, ६/१/१०१।

से विशिष्ट अच् की अपेक्षा से होने वाला दीर्घ यण् का बाध करता ही है।[१] फलतः स्पष्ट ही विशेषापेक्ष को बहिरङ्ग नहीं माना गया है, यह सिद्ध है। **द्वितीय** हेतु यह है कि यहाँ वास्तव में अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग है ही नहीं, क्योंकि द्विगु (समास) अन्यत्र चरितार्थ है, अतः 'पञ्चगुः' में पर होने से बहुव्रीहि द्विगु का बाधक हो जाता है।[२] **तीसरा** हेतु यह है कि एकदेशी के अनुसार भी द्विगु समास अधिक निमित्त की अपेक्षा करने वाला होने से ही बहिरङ्ग होता है, केवल विशेष की अपेक्षा करने वाला होने से नहीं है। इसलिए सुबन्त विशेष की अपेक्षा करने वाला बहिरङ्ग होता है, यह भाष्य में नहीं है। अत एव सुबन्त सामान्यापेक्ष 'बहुव्रीहि' (समास) होता है और सुबन्त विशेषापेक्ष 'द्विगु' होता है, ऐसा भाष्य में नहीं कहा गया है। अन्यथा वह भी कहना चाहिए था। **शङ्का**— 'विशिष्टेऽन्यपदार्थे द्विगुः' यह कैसे मान लिया गया है, जबकि सिद्धान्त पक्ष में अर्थकृत-बहिरङ्गता होती ही नहीं है। **समाधान**— यह एकदेशी की उक्ति है, इसलिए सिद्धान्ती भाष्यकार ने 'मत्वर्थे द्विगोः प्रतिषेधो वक्तव्यः'[३] इस वचन से द्विगु का निषेध करके 'पञ्चगुः' बहुव्रीहि है, स्थापित किया है (बहिरङ्गत्व का आश्रयण नहीं किया है)। **(व) इस पक्ष में उक्त रूप सिद्धि**— 'विशेषापेक्षं बहिरङ्गम्' न मानने पर 'रुद्यात्' में अट्, इट् का बाधकर 'यासुट्' कैसे होगा? शङ्का का समाधान यह है कि 'यासुट्' नित्य होने से पहले ही हो जाता है। अट् और इट् 'यासुट्' होने के पश्चात्, न प्राप्त होने के कारण अनित्य हैं, क्योंकि अपृक्त सार्वधातुक का अभाव हो जाता है। अतः ये नहीं होते हैं। **(र) विशेषापेक्ष न मानने में प्रमाण**— अन्तरङ्ग परिभाषा में अन्तरङ्ग का सामान्यापेक्ष और बहिरङ्ग का विशेषापेक्ष अर्थ नहीं होता है। अतएव 'तदोः सः सावनन्त्ययोः'[४] सूत्र में 'अनन्त्य' ग्रहण चरितार्थ होता है। 'त्यद्+सु'- यहाँ प्रकृत सूत्र से अनन्त्य त्, द् को 'सु' विभक्ति के परे होने पर सकारादेश विधान किया है। 'त्यदादीनामः'[५] सूत्र से त्यद् आदि के अन्त्य 'द्' को विभक्ति मात्र परे रहते 'अ' आदेश विधान किया है। यदि अन्तरङ्ग का सामान्यापेक्ष अर्थ है और बहिरङ्ग का विशेषापेक्ष तो 'त्यदादीनामः' सामान्यापेक्ष होने से अन्तरङ्ग होगा तथा 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' विशेष विभक्ति की अपेक्षा से बहिरङ्ग। फलतः बहिरङ्ग के असिद्ध होने से पहले अन्तरङ्ग कार्य 'द्' का 'अ' हो जायगा। पश्चात् अन्त्य 'द्' के निवृत्त हो जाने पर सकारादेश अनन्त्य 'त्' का ही होगा। इस प्रकार सूत्र में 'अनन्त्य' ग्रहण व्यर्थ होता है। अतः सूत्र में 'अनन्त्य' ग्रहण करने से प्रतीत होता है कि दीक्षितादि सम्मत अर्थ प्रामाणिक नहीं है। इसी प्रकार कैयटसम्मत 'केवल विशेषापेक्ष भी बहिरङ्ग',[६] यह अर्थ भी ठीक नहीं

---

१. अपवाद होने से।
२. 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' अष्टा० १/४/२।
३. म०भा०वा०, ५/२/९४।
४. अष्टा०, ७/२/१०६।
५. वही, ७/२/१०२।
६. प्र० १/३/१२।

है। इस प्रकार का अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग अर्थ नहीं होता है— यह 'पादः पत्'[१] सूत्र के भाष्य से सिद्ध होता है। उसमें इस प्रकार के अन्तरङ्ग,बहिरङ्ग का उपपादन नहीं किया गया है। **धातु और उपसर्ग के कार्य में 'अन्तरङ्गत्व' का स्वरूप तथा निर्णय :** इस विषय में सिद्धान्त तो यह स्थिर किया जा चुका है कि "पहले धातु का साधन बोधक प्रत्यय के साथ योग होता है अर्थात् धातु से पहले प्रत्यय की उत्पत्ति होती है, तत्पश्चात् धातु का उपसर्ग के साथ योग होता है, तत्पश्चात् उपसर्ग सहित समुदाय का किसी शब्दान्तर के साथ योग होता है", इस सिद्धान्त के अनुसार जिसका निमित्त प्रथम उपस्थित होता है वह 'अन्तरङ्ग' होता है, जिसका निमित्त पश्चात् उपस्थित होता है वह 'बहिरङ्ग' कहलाता है।[२] इस प्रकार प्रत्यय से युक्त धातु और उपसर्ग के साथ का कार्य अन्तरङ्ग समझा जाता है। परन्तु धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है। इस विषय में प्राचीन लोगों का मत दूसरे प्रकार का है— **(क) इस विषय में प्राचीन मत**[३] **:** कैयटानुयायी दीक्षितादि के अनुसार सामान्यतः धातु और उपसर्ग का कार्य 'अन्तरङ्ग' होता है, क्योंकि पहले धातु का उपसर्ग संज्ञक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है, उसके पश्चात् साधन (कारक) बोधक प्रत्यय के साथ सम्बन्ध होता है, फलतः उपसर्ग का सम्बन्ध प्रथम होने से, उपसर्ग को होने वाला कार्य 'अन्तरङ्ग' होता है। साधन बोधक प्रत्यय का सम्बन्ध, पश्चात् होने के कारण प्रत्यय को प्राप्त होने वाला कार्य 'बहिरङ्ग' होता है। **(अ) उक्त अर्थ में हेतु** — उनका कहना है कि यह 'सुट्कात्पूर्वः'[४] तथा 'गतिर्गतौ'[५] सूत्रों के भाष्य में कहा गया है कि धातु और उपसर्ग के कार्य के अन्तरङ्ग होने से ही 'अनुभूयते' (सुखम्) आदि में अकर्मक 'भू' धातु के साथ 'अनु' उपसर्ग का योग होने से 'भू' सकर्मक हो गयी है। इसीलिए 'अनुभूयते' में कर्म में 'लट्' प्रत्यय उत्पन्न हो जाता है। अन्यथा केवल भू धातु के अकर्मक होने से कर्म में 'लट्' नहीं हो सकता। **(ख) नागेश मत** — नागेश इस मत का इस प्रकार विरोध करते हैं — **(अ)** धातु से क्रिया का साध्यत्व रूप से बोध होता है, यह उसका सामान्य रूप से बोध है। साध्य को साधन (जो कर्तृ-कर्मादि कारक, क्रिया-सिद्धि का निमित्त है) की आकांक्षा होती है, यह नियम है। धातु का साधन के साथ सम्बन्ध होने के पश्चात् ही निश्चित रूप वाली क्रिया का बोध होता है। प्रत्यय के बिना क्रियाबोधकता सम्भव नहीं है। इस प्रकार साधन के साथ योग के पश्चात् क्रियास्वरूप की निष्पत्ति होने पर धातु से उपसर्ग संज्ञक शब्द आना चाहिए, क्योंकि उसमें क्रियायोग ही एकमात्र निमित्त है।[६] अतः इस साधनबोधक प्रत्यय के पहले उपसर्ग का योग नहीं हो सकता है। **(आ)** पूर्वोक्त

---

१. म०भा० ६/४/१३०। २. व्या०, पृष्ठ ३०८।

३. प०शे०, पृष्ठ २६४, पं०१-२। ४. अष्टा० ६/१/१३५।

५. वही, ८/१/७७।

६. 'उपसर्गाः क्रियायोगे'— अष्टा० १/४/५९।

प्राचीन मत अयुक्त है। इसीलिए 'सुट्कात्पूर्वः'[१] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं— 'पूर्वं धातुरूपसर्गेण युज्यते'— यह जो पहले कहा गया है— यह ठीक नहीं है। 'पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेण'— ऐसा कहना चाहिए। अन्त में 'साधनं हि क्रियां निर्वर्तयति' (- साधयति) इत्यादि वचन द्वारा उक्त मत की ही युक्तता प्रकट करते हैं। **(इ)** यह तर्क कि यदि धातु से कर्मादि वाची प्रत्यय के आने के पश्चात् उपसर्ग संज्ञक शब्द का धातु के साथ योग होता है तो 'अनुभूयते' में कर्म में लकार कैसे होगा? उत्तर यह है कि वक्ता 'अनु' उपसर्ग द्वारा द्योत्य अर्थ-अनुभव को धात्वर्थ में अन्तर्भूत करके ही प्रयोग करता है, क्योंकि धातु का अर्थ नानाप्रकार का होता है। इस प्रकार केवल धातु से ही अर्थ का अभिधान हो जाता है। अतः विशिष्टार्थ को लेकर धातु के सकर्मक होने से 'अनुभूयते' में लकार की सिद्धि हो जाती है। तत्पश्चात् श्रोता को अनु के बिना अनु द्वारा द्योत्य अनुभव रूप अर्थ की प्रतीति सर्वत्र नहीं होती है, अतः उसके बोध के लिए 'अनु' उपसर्ग का सम्बन्ध कर दिया जाता है।[२] इस प्रकार पहले धातु का उपसर्ग द्योत्य बुद्धिस्थ अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, पश्चात् साधन बोधक प्रत्यय के साथ सम्बन्ध होता है, पुनः उपसर्ग संज्ञक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है, यह क्रम है। इसके आधार पर 'तत्तत् प्रयुक्त कार्यों का अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भाव होता है', ऐसा समझना चाहिए। इसके समर्थन में नागेश ने अनेक हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सभी 'परिभाषेन्दुशेखर' में द्रष्टव्य हैं।[३]

उपसर्ग निमित्तक अन्तरङ्गता का स्थल : जो कार्य किसी विशेष उपसर्ग-निमित्त को मानकर होने वाला है, उपसर्ग के अर्थ के आश्रित है, वह कार्य विशिष्ट उपसर्ग को मानकर होता है, इसलिए 'अन्तरङ्ग'[४] है। इसके विपरीत यदि उपसर्ग-सम्बन्धी कार्य उपसर्ग विशेष के अर्थ पर आश्रित नहीं है, तो वह अन्तरङ्ग नहीं होता है। ऐसे स्थलों में धातु से पहले सम्बद्ध होने वाला साधन-वाचक प्रत्यय निमित्तक कार्य ही 'अन्तरङ्ग' होता है।[५] **(क) पूर्वोक्त मान्यता में हेतु** — धातु और उपसर्ग की अन्तरङ्गता उक्त विशेष विषय में होती है, इस कारण 'न धातुलोप आर्धधातुके'[६] सूत्र के भाष्य में यह कहा गया है कि 'प्रेद्धः' में गुण बहिरङ्ग है। यहाँ 'इन्ध्+क्त' में धातु के अवयव 'न्' का लोप[७] होने से उक्त सूत्र से इग्लक्षण गुण निषेध अन्तरङ्ग है, क्योंकि 'क्त' प्रत्यय पहले आता है। इसकी अपेक्षा उपसर्ग सम्बन्धी 'प्र' को होने वाला गुण बहिरङ्ग

---

१. द्र० म०भा० ६/१/१३५।

२. 'पश्चाच्छोतृ-बोधाय द्योतकोपसर्गसम्बन्धः' द्र० प०शे०, पृष्ठ २७६, पं०१।

३. प०शे०, पृष्ठ ६६७-६६८। ४. प०शे०, पृष्ठ २६८, पं० ६।

५. प०शे०, पृष्ठ २६९। ६. म०भा० १/१/४।

७. 'अनिदितां हल उपधाया : क्ङिति' द्र० अष्टा० ६/४/२४।

है, क्योंकि उपसर्ग का योग बाद में होता है। अत: इस भाष्य प्रामाण्य[१] से सामान्यत: धातु और उपसर्ग के कार्य की अन्तरङ्गता नहीं मानी जाती है। जहाँ अर्थ विशिष्ट उपसर्ग निमित्त होता है, वहीं उपसर्ग निमित्तक अन्तरङ्गता गृहीत की जाती है। अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है।[२]

परिभाषा का प्रवृत्ति-निमित्त : अन्तरङ्ग शास्त्र एवं कार्य करने में जात बहिरङ्ग असिद्ध- (अविद्यमान) होता है और अन्तरङ्ग कार्य की प्राप्ति के समान काल में जो बहिरङ्ग कार्य प्राप्त होता है वह भी असिद्ध (अप्रवृत्त) होता है, ऐसा अर्थ उपर्युक्त प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार इस परिभाषा का उपस्थापक चिह्न अन्तरङ्ग शास्त्र है, जहाँ-जहाँ अन्तरङ्ग शास्त्र होता है अर्थात् अन्तरङ्ग रूप में उपस्थित होता है, वहाँ-वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। **कुछ टीकाकारों[३] के अनुसार प्रयोजन :** इसका लाभ यह होता है कि जहाँ सपाद सप्ताध्यायीस्थ अन्तरङ्ग शास्त्र हो तथा त्रैपादिक बहिरङ्ग शास्त्र हो, वहाँ भी इसकी प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे 'आगच्छ हे पयोऽट्' यहाँ 'पयर्+अट्' इस अवस्था में 'दूराद्धूते च'[४] इस त्रैपादिक सूत्र से विहित प्लुत सम्बोधनार्थक वाक्य-निमित्तक होने से बहिरङ्ग है तथा वाक्यान्तर्गत वर्णद्वय की अपेक्षा करने वाला 'अतो रोरप्लुतादप्लुते'[५] से रू का उत्व अन्तरङ्ग है, अत: इस परिभाषा से उत्व करने में प्लुत असिद्ध हो जाता है। फलत: उत्व सिद्ध होता है। अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं। **परिभाषा की प्रवृत्ति में शङ्का :** शङ्का यह है कि 'लोपोव्योर्वलि'[६] सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि 'व्' लोप उपदेश अवस्था में ही प्राप्त होता है एवम् उस समय सम्प्रसारण आदि जात अथवा तत्कालप्राप्त नहीं है, अत: कैसे असिद्ध होगा? **समाधान**— 'वृश्चति' आदि में जात अथवा तत्कालप्राप्त का अभाव नहीं समझना चाहिए, क्योंकि 'व्' लोप तथा सम्प्रसारण की जो प्राप्ति दिखलायी गई है, वह 'पदसंस्कार-पक्ष' में ही समझनी चाहिए। जब पद के घटक अवयवों को पाणिनि सूत्रों की प्रवृत्ति से पूर्व एक दूसरे के साथ रखा जाता है, तब 'व्रश्च्+अ(श)+ति' में व् लोप तथा सम्प्रसारण की साथ-साथ प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार 'वृश्चति' आदि में अन्तरङ्ग वल्परक लोप तथा बहिरङ्ग सम्प्रसारण कार्यों की सम-काल प्राप्ति होने पर 'बहिरङ्ग'

---

१. म०भा० १/१/४ तथा २/२/१९।

२. प०शे०, पृष्ठ २६९, पं० ६।

३. अर्वाचीन टीकाकार (१) द्र० विजया, पृष्ठ १९४, पं० ११ से आगे (२) द्र० तत्त्वा० पृष्ठ ८५, पं० २ से आगे (३) द्र० शा०कला, पृष्ठ २३८, पं० २ से आगे।

४. अष्टा० ८/२/८४।

५. वही, ६/१/११३।

६. अष्टा० ६/१/६६।

सम्प्रसारण असिद्ध हो जाता है, जिससे व् लोप प्राप्त होता है, उसको 'व्' के उपदेश सामर्थ्य से रोका जाता है। फलतः 'पद-संस्कार पक्ष' को मानकर समकालिक होने से असिद्धत्व सिद्ध हो जाता है। परिभाषा की प्रवृत्ति निर्बाध हो जाती है।

(क) वलि लोप में परिभाषा-प्रवृत्ति में शङ्का — प्राचीन वैयाकरण कहते हैं कि अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य है, अतः वल् परक लोप करने में वह नहीं प्रवृत्त होती है। इसलिए 'गौधेरः' (गौधेय्+र) में इसकी प्रवृत्ति न होने से 'लोपोव्योर्वलि' से 'य्' लोप हो जाता है। **समाधान**— नागेश के अनुसार यह समाधान भ्रममूलक है। 'लोपोव्योर्वलि' सूत्र के भाष्य में ही भाष्यकार 'व्रश्चनः, व्रीहिः आदि में (अन्तरङ्ग होने से ही) बल्परक लोप के अतिप्रसङ्ग की शङ्का करके उपदेश सामर्थ्य से उसका वारण करते हैं। यदि कोई कहे कि 'वृश्चति' आदि में वकारोपदेश चरितार्थ होगा, क्योंकि इसमें 'श'[१] प्रत्यय-निमित्तक सम्प्रसारण (ऋ) तथा पूर्वरूप एकादेश कर लेने पर 'व्' से परे वल् न होने से लोप का प्रसङ्ग नहीं? अतः उपदेश सामर्थ्य से कैसे वारण हो सकता है? यह कथन भी ठीक नहीं है कि उपदेश की चरितार्थता नहीं होती है। यहाँ भी 'लोपोव्योर्वलि'[२] की प्रवृत्ति होती ही है, क्योंकि 'पदविभज्यान्वाख्यान' पक्ष में वल्परक लोप तथा सम्प्रसारण की युगपत् प्राप्ति में, 'श' प्रत्यय-निमित्तक होने से सम्प्रसारण बहिरङ्ग है। अतः उसके असिद्ध होने से अन्तरङ्ग 'व्' के लोप की प्रथम ही अवश्य प्राप्ति होती है। इसको भी उपदेश सामर्थ्य से रोका जाता है। इस प्रकार वल्परक लोप में परिभाषा की अप्रवृत्ति कहना भाष्य विरुद्ध है।[३]

परिभाषान्तर का खण्डन : कैयटादि प्राचीन तथा दीक्षितादि नवीन वैयाकरण लोग 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गाद् बलीयः' (अन्तरङ्ग कार्य या शास्त्र बहिरङ्ग कार्य या शास्त्र से बलवान् होता है, फलतः अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति प्रथम हो जाती है) ऐसी स्वतन्त्र परिभाषा का आश्रयण करते हैं। इस पर **नागेश** का कथन है कि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' के द्वारा समकाल-प्राप्तिक बहिरङ्ग का, अन्तरङ्ग की दृष्टि से असिद्धत्व भी कथित है। अतः उक्त अर्थ के आश्रयण करने से प्रकृत परिभाषा का अर्थ, उसी के अन्तर्गत हो जाने से इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं रहती। **दूसरा** हेतु यह है कि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[४] सूत्र के भाष्य में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' का आश्रयण करके 'अन्तरङ्गं बहिरङ्गाद् बलीयः' इसका प्रत्याख्यान कर दिया गया है। अतः इस पृथक् स्वतन्त्र परिभाषा की कल्पना उचित नहीं है।

परिभाषा का अप्रवृत्ति-स्थल : यह परिभाषा कुछ स्थलों पर नहीं भी प्रवृत्त

---

१. 'तुदादिभ्यः शः' अष्टा० ३/१/७७।

२. अष्टा० ६/१/६६। ३. प०शे०, पृष्ठ २४८, पं० ३-४।

४. म०भा०, १/४/२।

होती है, उसका सहेतुक वर्णन आगे किया जाता है— **(क) त्रिपादी प्रकरण में अप्रवृत्ति :** अन्तरङ्ग शास्त्रत्व-लिंगिका होने से यह परिभाषा दोनों ही (यथोद्देश, कार्यकाल) पक्षों में त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग सूत्रों में प्रवृत्त नहीं होती है, क्योंकि पूर्वत्रासिद्धम्[१] सूत्र से सापादिक सूत्रों की दृष्टि से त्रिपादीस्थ सूत्र असिद्ध माने जाते हैं, अत: त्रिपादीस्थ सूत्रों के असिद्ध होने से अन्तरङ्ग शास्त्र की विद्यमानता न होने से परिभाषा की प्रवृत्ति की सम्भावना नहीं होती तथा परिभाषा की दृष्टि से त्रिपादी असिद्ध है, क्योंकि 'वाह[२]ऊठ्' सूत्र में 'ऊठ्' ग्रहण से ज्ञापित होने से यह भी सपादसप्ताध्यायीस्था है। 'वाह ऊठ्' सूत्र का देश ही इसका भी देश है। इस प्रकार यथोद्देश-पक्ष में सापादिक बहिरङ्ग परिभाषा की दृष्टि से त्रैपादिक अन्तरङ्ग के असिद्ध हो जाने से, एक साथ अन्तरङ्ग न रहने से इसकी त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग शास्त्रों में प्रवृत्ति नहीं होती।

(अ) कार्यकाल पक्ष में शङ्का और समाधान : कैयट आदि व्याख्याकारों का मत है कि यथोद्देश पक्ष में त्रिपादी में प्रवृत्ति भले ही न हो, पर कार्यकाल पक्ष में अवश्य प्रवृत्ति होनी चाहिए, इस पक्ष में परिभाषा त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग शास्त्र में सन्निहित हो जाती है, तब अन्तरङ्ग शास्त्र परिभाषा की दृष्टि से असिद्ध नहीं हो सकता है? क्योंकि त्रैपादिक अन्तरङ्ग की दृष्टि से सापादिक परिभाषा सिद्ध ही है। इस प्रकार उसकी आकांक्षा से त्रिपादी में प्रवृत्ति अवश्य प्राप्त होती है।[३] **समाधान**— नागेश इसका खण्डन करते हैं। 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से पूर्व (सापादिक) शास्त्र के प्रति पर (त्रैपादिक) शास्त्र असिद्ध होता है। इस प्रकार सापादिक बहिरङ्ग शास्त्र के प्रति पर (त्रैपादिक)अन्तरङ्ग शास्त्र असिद्ध है। अत: त्रैपादिक अन्तरङ्ग के अविद्यमान होने से इसकी दृष्टि से पूर्व (बहिरङ्ग) शास्त्र में अन्तरङ्ग की अपेक्षा बहिरङ्गत्व का अभाव होने से बहिरङ्ग का ग्रहण नहीं कर सकते हैं, तथा इसी कारण त्रिपादी में उपस्थित होकर भी इस अन्तरङ्ग परिभाषा से त्रैपादिक अन्तरङ्ग की अपेक्षा त्रैपादिक बहिरङ्गता सापादिक बहिरङ्ग में नहीं बनती है, अत: बहिरङ्ग के असिद्धत्व का भी बोध नहीं किया जा सकता है। एक अन्तरङ्ग हो तो दूसरा उसके प्रति बहिरङ्ग हो सकता है, निरपेक्ष रूप से न कोई अन्तरङ्ग है, न बहिरङ्ग। जहाँ अन्तरङ्ग नहीं, वहाँ बहिरङ्ग भी नहीं, ऐसा मानना चाहिए।[४] **पुन: शङ्का**— त्रैपादिक अन्तरङ्ग शास्त्र के साथ एकवाक्यता करके उपस्थित होकर इस बहिरङ्ग परिभाषा से पूर्व (सापादिक) बहिरङ्ग शास्त्र के असिद्ध हो जाने पर तथा असिद्धतया अविद्यमान होने से अन्तरङ्ग शास्त्र के साथ एकवाक्यतापन्न 'पूर्वत्रासिद्धम्'[५] सूत्र के पूर्वत्र से पूर्व के न

---

१. अष्टा० ८/२/१। २. वही, ६/४/१३२।

३. म०भा० ८/२/१।

४. म०भा०, ८/३/१५ 'सत्यन्तरङ्गे बहिरङ्गम्, सति च बहिरङ्गेऽन्तरङ्गं भवति' इत्यादि तथा वहीं द्र०प्र० एवं उ० भी।

५. अष्टा० ८/२/१.

रहने से उसके प्रति पर (त्रैपादिक) अन्तरङ्ग शास्त्र की असिद्धता नहीं कही जा सकती। इस प्रकार अन्तरङ्ग के सिद्ध होने से तन्निरूपित बहिरङ्गत्व सापादिक शास्त्र में होने के कारण इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो जानी चाहिए?[१] **समाधान**— ऐसा मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार परस्पर प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक होने से 'पूर्वत्रासिद्धम्' अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति को रोकेगा और अन्तरङ्ग परिभाषा 'पूर्वत्रासिद्धम्' की प्रवृत्ति को रोकेगी तथा अन्तरङ्ग शास्त्र में उपस्थित दोनों के मध्य में किसी व्यवस्था की निर्णायिका युक्ति के अभाव में दोनों की प्रवृत्ति ही रुक जायेगी। इस हेतु के आधार पर तथा वक्ष्यमाण हेतु, 'पूर्वत्रासिद्धम्' यह साक्षात् अष्टाध्यायी में पठित है और अन्तरङ्ग परिभाषा ज्ञापक सिद्ध होने से अनुमानिकी है, के आधार पर यही उचित है कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस प्रत्यक्ष-शास्त्र से आनुमानिकी अन्तरङ्ग परिभाषा का बाध मान लिया जाय। अत: त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग सूत्रों में कार्यकालपक्ष में भी यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती, यही निश्चित होता है। **(आ) उक्त समाधान में भाष्य प्रमाण**— त्रिपादीस्थ अन्तरङ्गों में प्रवृत्ति इष्ट न होने से ही 'खरवसानयोर्विसर्जनीय:'[२] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने कार्यकाल पक्ष का आश्रयण करके, उक्त युक्तियों का विचार करते हुए यह सिद्धान्त निश्चित किया है— "नार्पत्य:'[३] आदि में रेफ-स्थानीय विसर्जनीय को रोकने के लिए 'विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे'[४] यह वचन पढ़ना आवश्यक है। बृद्धि 'आर्' के बहिरङ्ग होने से असिद्ध होकर अन्तरङ्ग विसर्जनीय नहीं होता है, यह परिहार अयुक्त है" इस भाष्य का आशय यह है कि जहाँ कहीं त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग कार्य के करने में अन्तरङ्ग परिभाषा का आश्रयण किया गया है, वह सभी अयुक्त है। **(इ) अप्रवृत्ति में अन्य प्रमाण**— कार्यकाल पक्ष में भी त्रिपादी में अप्रवृत्ति होने से ही निगार्यते, निगाल्यते- इत्यादि में वैकल्पिक लत्त्व[५] के लिए 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवद्'[६] इस वचन का प्रतिषेध वचन 'तस्य दोष: संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु'[७] पढ़ा गया है। यदि यहाँ 'निगारि+य+ते'- में अन्तरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त हो तो 'अचि विभाषा'[८] से र् को ल् णि-लोप[९] से पूर्व ही हो जायगा, क्योंकि यह लत्व केवल 'इ' सापेक्ष होने से अन्तरङ्ग है तथा 'यक्' सापेक्ष होने से 'णेरनिटि'[१०] बहिरङ्ग होने से पीछे होगा। इस प्रकार उक्त रूप सिद्ध ही है, पुन: 'तस्य दोष:०'[११] इत्यादि वचन का आरम्भ व्यर्थ ही सिद्ध होता है? फलत: इस वचनारम्भ

---

१. प०शे०, पृष्ठ २६०, पं०१। २. अष्टा० ८/३/१५।
३. नृपतेरपत्यं पुमान्। ४. म०भा० वा० ८/३/१५।
५. 'अचिविभाषा' अष्टा०८/२/२१। ६. म०भा० १/१/५८ पर वार्तिक।
७. वा०म०भा०, १/१/५८। ८. अष्टा० ८/२/२१।
९. 'णेरनिटि' अष्टा० ६/४/५१। १०. अष्टा० ६/४/५१।
११. वा०म०भा० १/१/५८।

से यही सिद्ध होता है कि कार्यकालपक्ष में भी त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग-शास्त्र में नहीं प्रवृत्त होती है। **(ई) उक्त परिहार को युक्त मानने वाले कैयट आदि का मत**— ये लोग लक्ष्य को देखकर[१] उसे शास्त्र-निष्पाद्य दिखाने के लिए, उसके अनुकूल होने से इस आनुमानिकी अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा प्रत्यक्ष पठित 'पूर्वत्रासिद्धम्' का बाध स्वीकार करते हैं। इस प्रकार त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग सूत्रों में भी इस परिभाषा की प्रवृत्ति मानते हैं। **(उ) नागेश मत**— नागेश का कथन है कि इन लोगों के विचार का लक्षणैकचक्षुष्क हम लोगों को आदर नहीं करना चाहिए। इस प्रकार त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग तथा सापादिक बहिरङ्ग समकाल में उपस्थित न हो सकने से दोनों ही पक्षों में प्रवृत्ति नहीं होती है। **उत्तरपद[२] के अधिकार में परिभाषा की अप्रवृत्ति का खण्डन : (क) पूर्वरूप**— यह परिभाषा अन्तरङ्ग की दृष्टि से 'अलुगुत्तरपदे' सूत्र के अधिकारस्थ बहिरङ्ग कार्य की असिद्धता की बोधिका नहीं है, यह 'इच एकाचोऽप्रत्ययवच्च'[३] सूत्र के भाष्य में कहा गया है। उसका लाभ यह है कि 'द्विषन्तपः' इत्यादि में अन्तरङ्ग अनुस्वार करने में खिदन्तोत्तरपदनिमित्तक 'मुम्' बहिरङ्ग होने पर भी असिद्ध नहीं होता है, फलतः अनुस्वार सिद्ध हो जाता है। **(अ) अप्रवृत्ति का खण्डन**— नागेश का कथन है कि भाष्य में पूर्वपक्षी की उक्ति है, अतः मानने योग्य नहीं है। 'परन्तपः'- (परं+तापि+खच्) इत्यादि में 'द्विषत्परयोस्तापेः'[४] सूत्र से 'खच्' प्रत्यय होता है, पश्चात् 'खचि ह्रस्वः'[५] से ह्रस्व और 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्'[६] का आगम होता है। इस 'म्' का 'मोऽनुस्वारः'[७] से अनुस्वार, परसवर्ण होता है पश्चात्, तब 'परन्तपः' सिद्ध होता है। यह ठीक है कि अनुस्वार अन्तरङ्ग कार्य है, पर यह त्रैपादिक है। इसकी अपेक्षा 'मुम्' बहिरङ्ग है, परन्तु अन्तरङ्ग परिभाषा त्रैपादिक अन्तरङ्ग कार्यों के विषय में प्रवृत्त नहीं होती है, इस कारण 'मुम्' असिद्ध नहीं होता है और उसका अनुस्वार सिद्ध हो जाता है। 'अलुगुत्तरपदे' के अधिकार में यह परिभाषा प्रवृत्त होती ही है।[८] **(आ) दीक्षितादि का मत**— नव्य वैयाकरण दीक्षितादि भी परिभाषा की अप्रवृत्तिविषयक इस पूर्वोक्त भाष्य की उक्ति को पूर्वपक्षी की ही उक्ति मानते हैं। यथोद्देशपक्ष में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति त्रैपादिक अन्तरङ्ग कार्यों में नहीं होती है, परन्तु कार्यकाल पक्ष में तो होती ही है, तो भी इस प्रकरण में प्रवृत्ति न मानकर ही सिद्धि दर्शायी है। अतः उनके अनुसार भी यह पूर्वपक्षी की ही उक्ति है[९]— ऐसा भाष्य के अनुयायी कहते हैं। इस प्रकार उक्त भाष्य को एकदेशी

---

१. म०भा० ८/३/१५।
२. अष्टा० ६/३/१।
३. वही, ६/३/६८।
४. वही, ३/२/३९।
५. वही, ६/४/९४।
६. वही, ६/३/६७।
७. वही, ८/३/२३।
८. प०शे०, पृष्ठ २८१, पं०१।
९. वही, पृष्ठ २८१, पं० २-३।

की उक्ति समझकर उसके प्रमाण पर 'उत्तरपदाधिकारस्थ बहिरङ्ग कार्य में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती'- ऐसा नहीं समझना चाहिए। उक्त प्रकरण[१] में भी प्रवृत्ति होती है, जिससे 'श्रियंमन्यं ब्राह्मणकुलम्'[२] में (श्री+अम्+मन्य+सु) अन्तरङ्ग 'स्वमोर्नपुंसकात्'[३] सूत्र से 'अम्'[४] के लुक् की प्राप्ति में 'इच एकाचोऽम्०'[५] इत्यादि सूत्र से विहित 'अम्' बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जाता है, फलतः लुक् नहीं हो पाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रयोजन हैं।

आभीय प्रकरण में अप्रवृत्ति : यह परिभाषा 'असिद्धवदत्राभात्'[६] सूत्र के पादपर्यन्त अधिकार में होने वाले आभीय अन्तरङ्ग शास्त्र या कार्य को करने में आभीय बहिरङ्ग कार्य या शास्त्र के असिद्धत्व का बोधन नहीं करती है।[७] (अर्थात् यह परिभाषा असिद्ध नहीं करती है) क्योंकि जो भी आभीय प्रकरण में कार्य विधान लिया जाने वाला है, उसके प्रति पूर्वकृत समानाश्रय आभीय असिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि आभीय बहिरङ्ग परिभाषा की दृष्टि से आभीय अन्तरङ्ग ही 'असिद्धवदत्राभात्'[८] से असिद्ध है। यह परिभाषा 'वाह् ऊठ्'[९] सूत्र से ज्ञापित होने से आभीय है, अतः आभीय सूत्रों के साथ एकवाक्यता होने से आभीय अन्तरङ्ग और आभीय बहिरङ्ग का कथन उपपन्न ही है। क्योंकि आभीय अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग एक साथ उपस्थित नहीं रहते हैं, अतः अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग का अभाव होने से आभीय प्रकरण में यह नहीं प्रवृत्त होती है)। जैसे 'पपुषः' (-पपा+वस्+अस्) में 'वसोः सम्प्रसारणम्'[१०] से सम्प्रसारण, पूर्वरूप एकादेश तथा उस् को मानकर 'आतो लोप इटि च'[११] सूत्र से आ का लोप हो जाता है। यहाँ दोनों कार्य आभीय है।[१२] सम्प्रसारण (परस्थितनिमित्तक होने से) बहिरङ्ग है तथा आ- लोप (पूर्वस्थितनिमित्तक होने से) अन्तरङ्ग है। इस परिभाषा से सम्प्रसारण के असिद्ध हो जाने से आलोप नहीं होना चाहिए? इसका **समाधान** यह दिया गया है कि अन्तरङ्ग परिभाषा स्वयं असिद्ध है। अतः प्रवृत्ति न होने से सम्प्रसारण असिद्ध नहीं होगा, तो आ-लोप हो जायगा। परन्तु यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि

---

१. म०भा० ६/३/६८।

३. श्रियमात्मानं मन्यते ब्राह्मणकुलम् — 'श्रियंमन्यम्'।

३. अष्टा० ७/१/२३।

४. अष्टा० ६/३/६८ से अम्।

५. अष्टा० ६/३/६८।

६. अष्टा० ६/४/२२।

७. प०शे०, पृष्ठ २८१, पं० ४ तथा पृष्ठ २८२, पं० १।

८. अष्टा० ६/४/२२।

९. वही, ६/४/६४।

१०. वही, ६/४/१३१।

११. वही, ६/४/६४।

१२. अष्टा०, उपर्युक्त टि०।

यहाँ अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्धता न हो, आभीय रूप से जो असिद्धता है वह हो जाय? वह भी नहीं बन सकती, क्योंकि दोनों आभीय कार्यों के समानाश्रय होने पर पूर्व किये हुए आभीय कार्य की असिद्धता होती है। उपर्युक्त उदाहरण में सम्प्रसारण तथा आ-लोप का भिन्न-भिन्न आश्रय होने से दोनों कार्य व्याश्रय हैं। इस प्रकार यहाँ आभीय में अन्तरङ्ग बहिरङ्ग का युगपत् मिलना सम्भव नहीं है। अतएव यहाँ यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। **सिचि-वृद्धि में अप्रवृत्ति :** 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु'[१] इत्यादि शास्त्र में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती- ऐसा 'इको गुणवृद्धी'[२] सूत्र के भाष्य से स्पष्ट होता है। 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु'[३] इत्यादि शास्त्र से विधीयमान बहिरङ्ग बृद्धि की अपेक्षा गुण अन्तरङ्ग होने से असिद्ध नहीं करता है, क्योंकि अन्तरङ्ग गुण की प्राप्ति होने पर ही वृद्धि का विधान होने से 'येन नाप्राप्ति०'[४] न्याय से वृद्धि अन्तरङ्ग गुण का अपवाद है तथा 'अपवाद अन्तरङ्ग से भी बलवान् होता है'।[५] इस प्रकार इस विषय में इस परिभाषा की प्रवृत्ति 'येन नाप्राप्तिन्याय' के आधार पर, अपवाद रूप से बाधित हो जाने से नहीं होती है। निष्कर्ष यह है कि अपवाद होने से इस प्रकरण में अन्तरङ्ग (परिभाषा) की प्रवृत्ति ही असम्भव है।

परिभाषा का प्रयोजन : यह परिभाषा, पूर्व कथित विविध प्रकार से निरूपित अन्तरङ्ग शास्त्र या कार्य की प्राप्ति के प्रसङ्ग में जातबहिरङ्ग तथा तत्कालप्राप्त बहिरङ्ग शास्त्र या कार्य के असिद्धत्व का बोध कराती है, इस आधार पर कुछ प्रयोजन स्वरूप उदाहरण दिये जा रहे हैं : **(क) समकालप्राप्त बहिरङ्ग के असिद्धत्व का उदाहरण**— 'स्योनः' (सिव्+न्) में प्रथम 'च्छ्वोः शूङ'[६] से व् को ऊठ् आदेश हो जाता है। 'सि+ऊ+न' इस स्थिति में इ को 'इको यणचि'[७] से यण् प्राप्त होता है और साथ ही 'पुगन्तलघूपधस्य च'[८] से इ को लघूपध-गुण। यहाँ लधुपध गुण का निमित्त 'न' है, इसके भीतर 'ऊ' यण् का निमित्त है, अतः यण् कार्य तथा यण् विधायक शास्त्र अन्तरङ्ग है। गुण का निमित्त 'न' यण् निमित्त के 'ऊ' से बाहर है, अतः गुण तथा गुण विधायक शास्त्र बहिरङ्ग है। इस प्रकार यहाँ इस परिभाषा से अन्तरङ्ग यण् प्रथम हो जाता है, क्योंकि इसकी दृष्टि में गुण बहिरङ्ग होने से असिद्ध है (है ही नहीं)। इसी प्रकार समकालप्राप्त-बहिरङ्ग के असिद्ध होने के अनेक फल हैं, जैसे रियति, पियति, असुस्रुवत्, अयजे इन्द्रम्,[९] पटव्या, मृद्व्या आदि। इसमें रि+अ+ति, पि+अति स्थिति

---

१. अष्टा० ७/२/१। २. म०भा० १/१/३।
३. अष्टा० ७/२/१। ४. प०शे० परि०सं० ५८, पृष्ठ २४५।
५. वही, परि०सं०३८, पृष्ठ २१२। ६. अष्टा० ६/४/१९।
७. अष्टा० ६/१/७७। ८. वही, ७/३/८६।
९. पदों को क्रम से रखकर 'अयज+इन्द्रम्' से यज्, लङ्, उ०-पु०ए० 'इ' (इट्)।

में 'अचि श्नु०'[१] से इयङ् तथा लघूपधगुण साथ ही प्राप्त हैं। इसमें इयङ् प्रयोग के उच्चारण क्रम से पूर्वोपस्थित निमित्तक होने से अन्तरङ्ग है, अत: अन्तरङ्ग होने से बहिरङ्ग गुण के असिद्ध होने से प्रथम ही 'इयङ्' होकर रूप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'अयज+इ+इन्द्रम्' में सवर्ण दीर्घ की अपेक्षा 'आद् गुण:'[२] से गुण के पूर्वोपस्थित-निमित्तक होने से अन्तरङ्ग होने से गुण ही होता है, जिससे 'अयजे इन्द्रम्' रूप सिद्ध हो जाता है। पट्व्या इत्यादि में 'पटु+इ+आ' इस व्याख्यान में पूर्व उ को यण् तथा पर ई को यण् आदेशों के समकालप्राप्ति में शास्त्रीय प्रक्रिया क्रम से पूर्वोपस्थित-निमित्तक होने से पूर्व यणादेश अन्तरङ्ग है, अत: अन्तरङ्ग होने से पहले होकर रूप सिद्ध हो जाता है। अन्तरङ्ग कार्य करने में पहले प्रवृत्त हो चुका बहिरङ्ग कार्य भी असिद्ध होता है। **(ख) जात बहिरङ्ग के असिद्धत्व का उदाहरण**— इसका उदाहरण है— पचावेदम्, पचामेदम् में 'पचाव इदम्' - इसमें 'आद्गुण:'[३] से गुण एकादेश कर लेने पर 'पचावेदम्' में पूर्वान्तवद्भाव[४] से लोट् के उत्तमपुरुषसम्बन्धी एकार को 'एत ऐ'[५] सूत्र से ऐकारादेश प्राप्त है। यह एत्व अपरनिमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। अत: 'एत्व' अन्तरङ्ग की दृष्टि में 'आद्गुण:' सूत्र से हुआ गुण पदद्वय-सम्बन्धी दो वर्णों की अपेक्षा करने से बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जाता है। इसलिए वहाँ एकार न होने से ऐकार नहीं होता है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं। **समीक्षा :** दो नियमों में परस्पर विरोध प्राप्त होने पर एक नियम की बलवत्ता के विभिन्न हेतुओं में अन्तरङ्ग के कारण भी बलवत्ता प्रतिपादित की गयी है। सर्वप्रथम व्याडि ने अन्तरङ्ग के बलवान् होने में असिद्धरूप हेतु दिया है। इस अन्तरङ्ग की बलवत्ता दो प्रकार से होती है, इसका वर्णन प्राचीन व्याडि, कातन्त्र, शाकटायन, चान्द्र, जैनेन्द्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर सभी ने किया है, परन्तु इसके लिए दो परिभाषाओं का निर्देश किया है।[६] नागेश ने केवल एक परिभाषा का निर्देश किया है तथा इसी में दोनों अर्थों का समावेश किया है, यह स्यात् भाष्य के आधार पर किया है। प्राचीन पाठों में इसी रूप में प्राप्त है, नागेश उसी रूप में स्वीकार करते हैं। इस परिभाषा की व्याख्या नागेश ने अति विस्तार से लिखी है। पूर्व किसी ने इतने विस्तार से व्याख्या नहीं की है। अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग का लक्षण, पूर्ववर्ती व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव आदि ने स्पष्टत: नहीं दिया है, केवल जैनेन्द्र में कुछ सङ्केत मिलता है।[७] नागेश ने ही प्रथम इसका स्पष्टरूपेण

---

१. अष्टा० ६/४/७७। २. वही, ६/१/८७।

३. वही, ६/१/८७। ४. वही, ६/१/८५।

५. वही, ३/४/९३।

६. 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे', अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीय:— द्र०परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

७. द्र० जैननेन्द्र पाठ, परि०सं० ८०।

विस्तार से निरूपण किया है, यद्यपि पूर्ववर्ती की व्याख्या से यही भाव विदित होता है, तथापि व्याख्यान रूप में नहीं मिलता है। इसलिए इनका पूर्णरूप से तात्पर्य नहीं पता चलता है। नागेश ने ही, किस-किस प्रकार का अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग भाव तथा किस प्रकार का अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग भाव लक्ष्य में नहीं गृहीत होता है, इसका सप्रमाण, सयुक्तिक विवेचन किया है। जैसे कुछ नवीन सूचनाएं अर्थनिमित्तक अन्तरङ्ग नहीं माना जाता है। शब्दनिमित्तक अन्तरङ्ग गृहीत होता है। इसी आधार पर प्राचीन[१] अभिमत, अल्पत्वबहुत्वापेक्ष, संज्ञापेक्ष,[२] विशेषापेक्ष,[३] पूर्वस्थानिक,[४] अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भाव का भाष्य-प्रामाण्य तथा युक्ति से खण्डन किया है। इस प्रकार अन्तरङ्ग प्रकार तथा दोनों जात, समकाल-प्राप्ति पदों में किस प्रकार का अन्तरङ्ग गृहीत किया जाता है, इसका बोध शीघ्र ही हो जाता है। परिभाषा के द्विविध अर्थों में ज्ञापक तथा ज्ञापक प्रकार आदि का प्राचीन सभी परिभाषा पाठों में व्याख्यान उपलब्ध होता है। नागेश ने भी वही अपना लिया है। केवल ज्ञापक-विघटन शङ्का, समाधान स्वतः उद्भावित है। धातु और उपसर्ग के सम्बन्ध में अन्तरङ्गादि का प्रतिपादन प्राचीनों[५] ने किया है। इसमें दो पक्ष[६] दिखाये गये हैं। परन्तु नागेश का इस विषय में भिन्न दृष्टिकोण है। धातु और साधन का योग प्रथम होता है, पश्चात् उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होता है। इनके अनुसार धातु और उपसर्ग की अन्तरङ्गता वहीं होती है, जहाँ अर्थ विशिष्ट उपसर्ग को मानकर कार्य किया जाता है। इसका स्पष्ट विभाजन पहले नहीं मिलता है। यह विभाजन उचित ही प्रतीत होता है, अन्यथा प्रतिपत्ति में कठिनाई होती। परिभाषा की प्रवृत्ति के विषय में प्राचीनों ने स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है। नागेश ने इसके प्रवृत्ति स्थल तथा अप्रवृत्ति स्थल दोनों का विवेचन किया है, जो अनुपेक्षणीय तत्त्व है। परिभाषा के प्रयोजनों का नागेश ने विशेषतः कथन नहीं किया है, सामान्यतः कुछ प्रयोजनों का कथन किया है। परन्तु व्याडि प्रभृति सभी प्राचीनों ने दोनों पक्षों के प्रयोजन 'पचावेदम्', 'पट्व्या' आदि का स्पष्टतः कथन किया है। अति प्रसिद्ध होने के कारण स्यात् नागेश ने विशेष बल नहीं दिया है। प्राचीनों ने इस परिभाषा की अनित्यता का कथन किया है। नागेश ने नहीं किया है। इस प्रकार नागेश ने इस परिभाषा का पूर्णरूप से विवेचन किया है। इनका अन्तरङ्ग विषयक तथा अप्रवृत्ति विषयक दृष्टिकोण विशेष महत्त्वपूर्ण है।

(४१) नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः।।प०५१।।

---

१. कातंत्र तथा नीलकण्ठ ने उक्त प्रकार।

२. प्रधानतः कैयट ने विचार किया है।

३. भट्टोजिदीक्षित तथा कैयट का मत।

४. दीक्षित का मत।

५. व्याडि, जैनेन्द्र, नीलकंठ।

६. पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते।

परिभाषा का उपक्रम : यदि अन्तरङ्ग परिभाषा तीन विषयों (त्रिपादी, आभीय, सिचि वृद्धि) को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र निर्बाध रूप से प्रवृत्त हो तो यह दोष उपस्थित होता है— 'अक्ष+दिव्+क्विप्' यहाँ ('अक्षद्यूः' की सिद्धि में) 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च'[१] सूत्र से, जो दिव् के व् को क्विप्[२] प्रत्यय को मानकर ऊठ् विधान किया गया है, वह यण् निमित्तक की अपेक्षा परस्थित-निमित्त को मानकर होने से बहिरङ्ग है। ऊठ् होने पर जो 'इको यणचि'[३] सूत्र से इ का यण् होता है, वह पूर्वस्थित-निमित्त[४] को मानकर होने से अन्तरङ्ग है। अब यदि बहिरङ्ग ऊठ् असिद्ध हो जाता है तो अन्तरङ्ग यण् नहीं हो सकेगा, जिसके फलस्वरूप 'अक्षद्यूः' यह निष्पन्न नहीं होगा? इसके समाधान के लिए अन्तरङ्ग परिभाषा की अपवादभूत परिभाषा प्रस्तुत है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : किसी दूसरे के साथ अच् का (अज्निष्ठ) आनन्तर्य (अव्यवहित परत्व) अन्तरङ्ग कार्य का निमित्त हो तो उस अन्तरङ्ग कार्य के करने में पहले किया गया (जात) बहिरङ्ग कार्य असिद्ध नहीं होता है।

परिभाषा का पदानुसारी अर्थ : 'अजानन्तर्ये' में **आनन्तर्ये,** यह पूर्व परिभाषा[५] से अनुवृत्त 'अन्तरङ्गे' का विशेषण है। अचः आनन्तर्यं-अजानन्तर्यं[६] तस्मिन् अजानन्तर्ये- यहाँ 'अच्' एकवचनान्त विवक्षित है।[७] 'अचः' यह सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है, स्थान-षष्ठी नहीं है। इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि 'अन्य के व्यवधानाभाव को मानकर अच् का अन्तरङ्ग कार्य करने में'। बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः - में बहिस् शब्द बहिरङ्ग का वाचक है। तस्य भावो बहिष्ट्वम्- बहिरङ्गत्वम्।[८] बहिरङ्गता से तत्प्रयुक्त कार्य अभिप्रेत है। प्रक्लृप्तिः-प्राप्ति। इस परिभाषा से जात बहिरङ्ग कार्य की असिद्धि का निषेध किया जाता है अर्थात् जब पहले कोई बहिरङ्ग कार्य के हो जाने के बाद दूसरा कोई अन्तरङ्ग कार्य प्राप्त होता है, तब पहले किया गया कार्य असिद्ध नहीं होता है,[९] सिद्ध ही रहता है।

परिभाषा का ज्ञापक : 'षत्वतुकोरसिद्धः'[१०] सूत्र में तुक् ग्रहण इस परिभाषा

---

१. अष्टा० ६/४/१९। २. क्विप् च, अष्टा० ३/२/७६।

३. अष्टा० ६/१/७७।

४. गदा, पृष्ठ १०६ नीचे की दो पंक्तियाँ।

५. असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे, प०शे० परि०सं० ५०।

६. अचोरानन्तर्यं— 'अजानन्तर्यम्' द्विवचनान्त का समास नहीं अभिप्रेत है।

७. गदा, पृष्ठ १०८ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३८७, पं० तीसरी से।

८. प०शे०, पृष्ठ २८८। ९. वही, पृष्ठ २८७।

१०. अष्टा०, ६/१/८६।

का ज्ञापक है। सूत्र का अर्थ है— 'षत्व तथा तुक् की कर्तव्यता में एकादेश असिद्ध होता है'। 'अधीत्य' 'अधि+इ+(ङ्) क्त्वा' (त्वा) इस अवस्था में समास होने पर 'क्त्वा' के स्थान में ('ल्यप्' आदेश[१] का निमित्त समास है, इसलिए) समास में संहिता के नित्य होने से 'अधि+इ' के स्थान में सवर्णदीर्घ एकादेश[२] 'अधी' पहले हो जाता है तथा क्त्वा को होने वाले ल्यप् आदेश की अपेक्षा नहीं करता है। तत्पश्चात् 'षत्वतुकोरसिद्धः'[३] से एकादेश के असिद्ध हो जाने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'[४] सूत्र से तुक् आगम हो जाता है। यदि यह परिभाषा न हो तो अन्तरङ्ग परिभाषा से बहिरङ्ग[५] एकादेश असिद्ध हो जाता है। अतः तुक् हो ही जाता, पुनः उस सूत्र में तुक्-ग्रहण व्यर्थ होता है। अब प्रकृत परिभाषा के ज्ञापित होने पर बहिरङ्ग एकादेश, अन्तरङ्ग तुक् कार्य की कर्तव्यता में असिद्ध नहीं होगा, जिससे सूत्र में तुक् ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। यहाँ 'अच्' (दीर्घ एकादेश 'ई') तथा 'ल्यप्' प्रत्यय का आनन्तर्य अन्तरङ्ग तुक् का विधि का निमित्त है, अतः प्रकृत परिभाषा का विषय है। वर्णमात्र (ह्रस्व) जिसके अनन्तर 'ल्यप्' (पित् कृत्), उसकी अपेक्षा करने वाला तुक् अन्तरङ्ग है और— पद द्वयसम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा करने वाला दीर्घ एकादेश बहिरङ्ग है।[६] **(क) उक्त बहिरङ्ग अर्थ में प्रमाण** — पद-द्वय-सम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा करने वाला कार्य बहिरङ्ग होता है, ऐसा मानने में 'न धातुलोप०'[७] आदि सूत्र का भाष्य प्रमाण है। भाष्य में 'प्रेद्धः' (-प्र+इद्धः) इत्यादि[८] में गुण बहिरङ्ग है— कहा गया है। इससे उक्त आशय[९] प्रतीत होता है एवम् ऐसा ही आशय 'संयोगान्तस्य लोपः'[१०] सूत्र के भाष्य में भी प्राप्त होता है।[११] इस प्रकार उक्त अन्तरङ्ग प्रकार भाष्य तथा अन्य[१२] प्रमाण से भी सिद्ध है। **(ख) ज्ञापक विषयक अन्यों का मत**— कैयट[१३] आदि का ऐसा विचार है कि

---

१. अष्टा० ७/१/३७।

२. 'अकः सवर्णे दीर्घः' अष्टा० ६/१/१०१।

३. अष्टा० ६/१/८६। ४. अष्टा० ६/१/७१।

५. प०शे०, पृष्ठ २८४ तथा द्र० गूढार्थ०, पृष्ठ २८६।

६. गूढार्थ०, पृष्ठ २८५। ७. म०भा०, १/१/४।

८. उपेद्ध : 'उप+इद्धः' में गुण एकादेश होकर निष्पन्न रूप।

९. गूढार्थ०, पृष्ठ २८६, पं० ५ से आगे।

१०. म०भा० ८/२/२३।

११. गूढार्थ०, पृष्ठ २८६, पं० ७ से आगे तथा गदा, पृष्ठ १०७।

१२. म०भा० १/४/२ तथा द्र० म०भा० ६/१/१०८।

१३. दीक्षित, हरदत्त, सीरदेव, पुरुषोत्तम।

'षत्वतुकोरसिद्धः'[१] सूत्र में केवल 'तुक्' ग्रहण ही नहीं, अपितु 'षत्व' ग्रहण भी इस परिभाषा का ज्ञापक है। उनका तर्क यह है कि 'कोऽसिचत्'[२] में पदद्वयसम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा करने वाला पूर्वरूप एकादेश (ओ तथा अ के स्थान में प्रवृत्त 'ओ') अन्तरङ्ग परिभाषा से ही असिद्ध है। अतः उक्त उदाहरणों में 'इण्कोः' तथा 'आदेशप्रत्यययोः'[३] सूत्रों से षत्व की प्रवृत्ति नहीं होती?[४] पुनः जो षत्वविधि की कर्तव्यता में भी एकादेश की असिद्धि कही है, वह प्रकृत परिभाषा का ज्ञापिका ही माननी ही चाहिए।[५]

(ग) उक्त मत का नागेश द्वारा खण्डन— नागेश उपर्युक्त मत का प्रत्याख्यान करते हैं। यहाँ षत्व ग्रहण ज्ञापक नहीं हो सकता। जैसे एकादेश पदद्वय सम्बन्धी वर्णद्वय की अपेक्षा रखता है, वैसे ही षत्व भी 'इण्'[६] के पूर्वपदसम्बन्धी होने से पदद्वयसम्बन्धी वर्णद्वयापेक्षी[७] है, अतः दोनों समान हैं। अतः षत्व की दृष्टि से एकादेश का असिद्ध नहीं हो सकता तथा एकादेश के 'अन्तादिवच्च'[८] से परादिवत् होने से 'कोऽसिचत्' में 'ओसिचत्' पद होगा। एकदेशविकृतन्याय से केवल 'सिचत्' पद नहीं होगा। इस प्रकार स् के पदादि (पद का आदि) न होने से 'सात्पदाद्योः'[९] सूत्र से षत्व का निषेध न हो सकेगा। अतः सूत्र में एकादेश की असिद्धता के लिए 'षत्व' ग्रहण अत्यन्त आवश्यक है, व्यर्थ नहीं। अतएव वह प्रकृत परिभाषा का ज्ञापक नहीं माना जा सकता।[१०]

नागेश स्वीकृत परिभाषार्थ के वैशिष्ट्य : (क) प्रथम वैशिष्ट्य— ऊपर जो परिभाषा का अर्थ दिया है, उसमें 'अच् का अन्य के साथ अनन्तर्य जिस अन्तरङ्ग कार्य करने में निमित्त हो, उसकी कर्तव्यता में असिद्ध नहीं होता', ऐसा कहा है। इसका लाभ यह होता है कि 'पचाव (पच्=लोट् उ०द्वि०) इदम्'- पचावेदम् - यहाँ एकादेश ए होने पर, इस ए का 'एत ऐ'[११] सूत्र से लोट्सम्बन्धी उत्तम पुरुष ए का ऐ नहीं होता, क्योंकि इस ऐ आदेश को अन्य आनन्तर्य की अपेक्षा नहीं। अतः प्रकृत परिभाषा का विषय नहीं है। 'आद् गुणः'[१२] से निष्पन्न एकादेश पूर्व परिभाषा से असिद्ध रहता

---

१. अष्टा० ६/१/८६। २. 'क+रु+असिचत्' अवस्था।

३. अष्टा० ८/३/५८। ४. 'इण्' (ओ) परे न रहने से।

५. प०शे०, पृष्ठ २८५। ६. 'इण्कोः' अष्टा० ८/३/५७।

७. 'कोऽसिचत्' में पूर्वान्तवद्भाव से एकादेश विशिष्ट 'ओ' (रूप 'इण्') पूर्वपद हुआ तथा एकदेशविकृत न्याय से 'सिचत्' यह उत्तर पद का पद हुआ। इस प्रकार षत्व भी दो पद तथा दो वर्ण (ओ एवं स्) का अपेक्षी है। द्र० का० ८/३/५७।

८. अष्टा० ६/१/८५। ९. वही, ८/३/१११।

१०. प०शे०, पृ० २८६-२८७। ११. अष्टा० ३/४/९३।

१२. वही, ६/१/८७।

है। **(ख) द्वितीय वैशिष्ट्य**— नागेशाभिमत परिभाषार्थ में यह भी कहा है कि जात बहिरङ्ग कार्य अन्तरङ्ग की अपेक्षा असिद्ध नहीं होता है। इसलिए 'अयज+इ+इन्द्रम्' तथा 'धि+अ+ति' आदि में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रथम उदाहरण में अन्तरङ्ग गुण (अ+इ- ए) तथा बहिरङ्ग रूप से अभिमत सवर्ण दीर्घ एकादेश (इ+इ- ई) एक साथ ही प्राप्त होते हैं। द्वितीय उदाहरण में अन्तरङ्ग इयङ् (धि के इ को) तथा 'तिप्' सार्वधातुक प्रत्ययनिमित्तक बहिरङ्ग गुण[१] एक साथ प्राप्त होते हैं। अतः यह प्रकृत परिभाषा का विषय नहीं है। यहाँ अन्तरङ्ग परिभाषा की ही प्रवृत्ति होती है और बहिरङ्ग के असिद्ध होने से प्रथम में गुण होता है, और दूसरे में इयङ् होता है।

(अ) जातबहिरङ्ग की असिद्धि के अभाव में वार्तिक का प्रमाण— जहाँ बहिरङ्ग कार्य हो चुका रहता है, वहाँ 'असिद्धम्०' परिभाषा नहीं प्रवृत्ति होती है। अतएव भाष्य[२] में समकालकालप्राप्तिविषयक 'अयज+इ(इट्)+इन्द्रम्', 'वन+इ (ङि)+इह', 'सर्व+इ (शि)+इह' इन लक्ष्यों में 'विभज्य अन्वाख्यानपक्ष' में क्रमशः अ तथा इ (-इट्, ङि, शि) के स्थान में गुण[३] अन्तरङ्ग है और 'इ+इ' के स्थान में दीर्घ एकादेश बहिरङ्ग होने से असिद्ध है। अतः गुण की प्रवृत्ति पहले होती है, ऐसा कहा है। जातबहिरङ्ग न होने से प्रकृत परिभाषा का विषय नहीं है। अतः उक्त भाष्य-ग्रन्थ संगत होता है। यदि यहाँ भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती तो बहिरङ्ग दीर्घ एकादेश के असिद्ध न होने से अन्तरङ्ग गुण उसका बाध नहीं करेगा, जिससे पर होने से सवर्ण दीर्घ पहले हो जायगा, बाद में गुण। जिससे अनिष्ट रूप प्रसक्त होंगे। इसी प्रकार 'शचङन्तस्य अन्तरङ्गलक्षणत्वात्'[४] वार्तिक भी संगत होता है। श तथा चङन्त के उदाहरणों में अन्तरङ्ग होने से पहले इयङादि होकर रूप सिद्ध हो जाता है। इसमें ही अन्य वार्तिक भी प्रमाण हैं।[५] **(आ) उक्तार्थ में ही सूत्र प्रमाण**— 'ओमाङोश्च'[६] सूत्र में आङ्-ग्रहण उक्त हेतु से ही चरितार्थ होता है। 'शिव+आ+इहि'-[७] में धातु और उपसर्ग का सम्बन्धी कार्य अन्तरङ्ग होता है, अतः सवर्ण दीर्घ जो बहिरङ्ग है, उसका बाध कर अन्तरङ्ग गुण (ए) हो जाता है। अब 'शिव-एहि' में एहि 'अन्तादिवच्च'[८] सूत्र से आङादि है। अतः वृद्धि का बाध करने के लिए सूत्र में 'आङ्' पठित है, जिससे पररूप होता है और

---

१. अष्टा० ७/३/८४। २. म०भा० १/४/२।

३. अष्टा० ६/१/८७। ४. म०भा० वा० १/१/५।

५. नित्यः परयणादेशः, परश्चासौ व्यवस्थया।
युगपत् संभवो नास्ति, बहिरङ्गेण सिध्यति।। — द्र० म०भा०वा० १/१/५७।

६. अष्टा० ६/१/९५।

७. 'शिवेहि' इस सन्धिकृत रूप का 'पदसंस्कार पक्ष' में शिव+आङ्पूर्वक 'इहि'।

८. अष्टा० ६/१/८५।

'शिवेहि' रूप निष्पन्न होता है। यदि यहाँ जात बहिरङ्ग न होने पर भी 'नाजानन्तर्ये०' परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो 'शिव+आ+इहि' में सवर्ण दीर्घ सिद्ध होगा और पर होने से वही पहले होगा। पीछे शिवा के आ और इहि के इ के स्थान में गुण एकादेश 'ए' हो जायगा, तो इष्ट रूप 'शिवेहि' सिद्ध हो जायगा। इस अवस्था में सूत्र में आङ् ग्रहण व्यर्थ रहेगा। इस प्रकार उक्त सूत्र भी जातबहिरङ्गत्व का ही यह परिभाषा असिद्ध निषिद्ध करती है, इसका बोध कराता है। **परिभाषा मानने पर शङ्का[१] और समाधान : (क) शङ्का**— अक्षद्यूः (अक्ष दिव्+क्विप्) की सिद्धि में 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च'[२] से व् के स्थान में 'ऊठ्' हो जाने पर जब धातु के 'इ' का यण् हो जाता है तो ऊठ् के असिद्ध होने से 'लोपो व्योर्वलि'[३] से य् का लोप हो जाना चाहिए। (क्विप् परस्थित निमित्त है, इसे निमित्त मानकर ऊठ् विधान किया गया है)। अतः ऊठ् पूर्वस्थितनिमित्तक यण् और वलि लोप के प्रति असिद्ध है, यद्यपि प्रकृत परिभाषा से ऊठ् अन्तरङ्ग वलादि यण् कार्य के प्रति असिद्ध नहीं तथापि वलादि लोप के प्रति तो असिद्ध ही है, क्योंकि वलादि लोप में 'अच्' का किसी अन्य के साथ आनन्तर्य निमित्त नहीं है। **समाधान**— यहाँ कैयट[४] हरदत्तादि के मत के अनुसार समाधान किया गया है। इनके अनुसार यह शङ्का अनवसरग्रस्त है। प्रकृत परिभाषा का निर्दोष सम्पूर्ण अर्थ यह है "जात बहिरङ्ग असिद्ध नहीं होता, जब अज् निष्ठ अन्य निरूपित आनन्तर्य कर्तव्य अन्तरङ्ग कार्य में निमित्त हो और जब प्रथम अन्तरङ्ग कार्य के हो जाने के पश्चात् कोई दूसरा अन्तरङ्ग कार्य प्राप्त[५] होता हो, तब भी इस परिभाषार्थ के अनुसार यण् के प्रति ऊठ् असिद्ध नहीं है (सिद्ध है) दूसरे अन्तरङ्ग कार्य के प्रति भी असिद्ध नहीं है (अर्थात् सिद्ध है, 'ऊ' ही है) अतः बाद में वल् न होने से लोप की प्राप्ति नहीं।

यदि अन्तरङ्ग परिभाषा को अनित्य मानकर[६] उसकी अप्रवृत्ति होने से वलादि लोप की आपत्ति वारण करे तो प्रकृत परिभाषा व्यर्थ होगी? अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता से ही अप्रवृत्त होने से निर्वाह हो जायगा। अतः यह समाधान भी युक्त नहीं है। **(अ) उक्त अर्थ होने में अन्य प्रमाण**— 'नाजानन्तर्ये०' परिभाषा के होने पर ही 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति'[७] सूत्र में 'कृति तुक्' ग्रहण सार्थक है। अन्यथा 'कृति तुक्' ये पद बिल्कुल व्यर्थ होंगे, क्योंकि वृत्रहभ्याम् (वृत्रहन्+क्विप्+भ्याम्) में

---

१. यह अधोलिखित दोष हरदत्त, दीक्षित, कैयटादि के मत में भी है। द्र० गदा, पृष्ठ ११०।

२. अष्टा० ६/४/१९।

३. वही, ६/१/६६।

४. प्र० १/४/२।

५. प०शे०, पृष्ठ २९०।

६. असिद्ध परिभाषा को अनित्य मानने वाले 'बृहद् विवरणकार' का मत।

७. अष्टा० ८/२/२।

'न्' लोप बहिरङ्ग है। बहिर्भूत भ्याम् के कारण, जो वृत्रहन् में पदत्व आता है,[१] उसका आश्रयण करने से और उससे पूर्व वर्तमान क्विप् को मानकर जो तुक् प्राप्त है, वह अन्तरङ्ग है। अत: अन्तरङ्ग परिभाषा से ही बहिरङ्ग 'न्' लोप के असिद्ध होने से तुक् नहीं होगा। पुन: 'नलोप: सुप्स्वर०'[२] आदि सूत्र में 'कृति तुक्' ग्रहण करना व्यर्थ है। इस परिभाषा की स्वीकृति मानने पर अन्तरङ्ग तुक् कार्य में अज्निष्ठ अन्य निरूपित आनन्तर्य के निमित्त होने से 'न्' लोप बहिरङ्ग असिद्ध नहीं होगा, इसको जानते हुए आचार्य ने तुक् की कर्तव्यता में न लोप को असिद्ध पढ़ दिया है। फलत: 'न्' लोप असिद्ध न होने से तुक् वारण के लिए वह आवश्यक है।

(ख) परिभाषा के मानने में शङ्का — 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'[३] सूत्र के भाष्य में 'ग्रामणिपुत्र:' आदि में 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य'[४] सूत्र से 'ग्रामणी' के ई का ह्रस्व हो जाने पर, प्रत्ययलक्षण से तुक् आगम की शङ्का करके ह्रस्व बहिरङ्ग (उत्तरपद के निमित्त से होने के कारण) है और अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्ध है। अत: क्विप् को मानकर तुक् अन्तरङ्ग नहीं होता, यह समाधान दिया है। प्रकृत परिभाषा के होने पर यह समाधान कैसे सङ्गत हो सकता है? **समाधान**— इसका उत्तर यही है कि इस भाष्य[५] ग्रन्थ से यह ज्ञापित होता है कि 'नाजानन्तर्ये०' परिभाषा अनावश्यक है। इस ज्ञापक[६] से अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता का बोध कराया गया है। यही मानना ठीक है। इसलिए 'षत्वतुकोरसिद्ध:' में 'तुक्' ग्रहण एक नयी परिभाषा के ज्ञापन की अपेक्षा अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता को ही ज्ञापित करे, यह अधिक तर्कसङ्गत है।[७]

अनित्यत्व में प्रमाण : अन्तरङ्ग परिभाषा की अनित्यता में यह प्रमाण है। 'नाजानन्तर्ये०' परिभाषा अनावश्यक होने से निराकृत है। इसीलिए 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ'[८] सूत्र के भाष्य में 'पटु+ई+आ' यहाँ पर यणादेश के अन्तरङ्ग परिभाषा के द्वारा असिद्ध होने से पूर्व यण् की सिद्धि की गयी है। यदि नाजानन्तर्य परिभाषा भाष्यकार द्वारा स्वीकृत होती तो ऐसा न करते। यह परिभाषा भाष्य में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[९] में केवल पढ़ी गई है, अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती है।

परिभाषा के न मानने में सङ्केत : इसी कारण 'सम्प्रसारणाच्च'[१०] सूत्र के भाष्य

---

१. 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' अष्टा० १/४/१७।

२. अष्टा० ८/२/२।

३. म०भा० ६/१/७१ 'इह तर्हि ग्रामणिपुत्र:०' आदि प्रकरण।

४. अष्टा० ६/३/६१।

५. म०भा० ६/१/७१।

६. 'षत्वतुकोरसिद्ध:' अष्टा० ६/१/८६ सूत्र का 'तुक्' ग्रहण रूप ज्ञापक।

७. गदा, पृ० १११ पं०१५वीं।

८. म०भा० १/१/५७।

९. वही, १/४/२।

१०. म०भा० ६/१/१०८।

में अन्तरङ्ग परिभाषा का उपक्रम करके कहा गया है— "जो विप्रतिषेधसूत्र में इसके अनेक प्रयोजन बताये गये हैं, उन प्रयोजनों के लिए यह परिभाषा स्वीकार करनी चाहिए और यदि इसकी स्वीकृति से कहीं अनिष्ट रूपनिष्पत्ति प्रसक्त हो तो उसका प्रतिविधान करना चाहिए।" **(क) उक्त भाष्य का आशय**— उस विप्रतिषेध सूत्र में 'प्रतिविधान कह दिये गये हैं', ऐसा नहीं दृष्टिगोचर होता। 'दोषेषु प्रतिविधेयम्' ऐसा कहा है— इससे यह ध्वनित होता है कि सभी दोषों के वारणार्थ एक ही प्रतिविधान अभीष्ट है और वह इस परिभाषा को अनित्य मानना है। इस प्रकार नागेश इसको अनित्य मानते हैं।[१] **परिभाषा का प्रयोजन :** इस परिभाषा को मानने से 'अक्षद्यूः' में 'अक्षदि+ऊ+क्विप्' इस अवस्था में अन्तरङ्ग यणादेश करने में बहिरङ्ग ऊठ् असिद्ध नहीं होता, फलतः यण् होकर उक्त रूप निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार 'अष्टादश' में 'अष्ट+आ+दश' स्थिति में अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ करने में उत्तरपद निमित्तक बहिरङ्ग आकारदेश[२] असिद्ध नहीं होता, तब सवर्ण दीर्घ होकर उक्त रूप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'रामयोः' में अयादेश करने में 'ओसि च'[३] सूत्र से कृत एत्व असिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन 'विप्रतिषेध'[४] सूत्र के भाष्य में कहे गये हैं।

समीक्षा : प्रस्तुत परिभाषा अन्तरङ्ग के बलीयस्त्व का सङ्कोच प्रस्तुत करती है। सर्वत्र अन्तरङ्ग की बलवत्ता मानने से दोषों को अतिप्रसङ्ग प्राप्त होता है। अच् का किसी दूसरे के साथ आनन्तर्य अन्तरङ्ग कार्य का निमित्त हो तो वहाँ अन्तरङ्ग भी बलवान् नहीं होता है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर आदि ने पढ़ी है। हेमचन्द्र ने कुछ पाठान्तर से निर्देश किया है।[५] चान्द्र, कातन्त्र और जैनेन्द्र ने पाठ नहीं किया है।[६] इस परिभाषा के अर्थ के विषय में नागेश तथा प्राचीन आचार्यों में मतभेद है। व्याडि 'अजानन्तर्ये' में 'अच्' बहुवचनान्त विवक्षित मानकर सामान्य रूप से अर्थ कर देते हैं तथा 'अच्' में स्थान षष्ठी मानते हैं।[७] पुरुषोत्तमदेव, 'अजानन्तर्ये' में 'अच्' द्विवचनान्त विवक्षित मानते हैं, फलस्वरूप अर्थ होता है कि 'दो अचों के अनन्तर होने पर जहाँ अन्तरङ्ग अथवा बहिरङ्ग कार्य करते हैं वहाँ बहिरङ्ग की प्रकल्पना नहीं होती है।'[८] इस प्रकार इस अर्थ में किस प्रकार का बहिरङ्ग प्रकल्पित नहीं किया जाता, इसका स्पष्टीकरण नहीं होता है। सीरदेव

---

१. प०शे०, पृष्ठ २९२-२९३, तथा गूढार्थ०, पृष्ठ २९२-२९३, गदा, पृष्ठ ११२-११३।

२. अष्टा० ६/३/४७।

३. अष्टा० ७/३/१०४।

४. म०भा० १/४/२, इसका प्रयोजन।

५. हेमवृत्ति, परि०सं० २१।

६. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

७. व्याडि वृत्ति, परि०सं०८०।

८. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ४२।

भी द्विवचनान्त 'अच्' का ग्रहण मानते हुए दो प्रकार से अर्थ करते हैं। उनके अनुसार 'दो अचों के अनन्तर होने पर जहाँ दोनों अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग कार्य प्राप्त होते हैं अर्थात् जहाँ बहिरङ्ग प्रवृत्त हो चुका है और अन्तरङ्ग प्राप्त होता है अथवा जहाँ अन्तरङ्ग प्रवृत्त हुआ है और बहिरङ्ग प्राप्त होता है, वहाँ असिद्ध परिभाषा का निषेध होता है' तथा संहिताधिकारीय कार्य की कर्तव्यता में असिद्ध परिभाषा का, इस परिभाषा से बाध हो जाता है, यह अर्थान्तर है।[१] नीलकण्ठ 'अच्' को द्विवचनान्त तो नहीं मानते हैं किन्तु 'अजानन्तर्ये' को बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग का विशेषण मानते हुए अर्थ करते हैं तथा यह उत्तर कालप्रवृत्त अन्तरङ्ग कार्य का कथन कर, कुछ बहिरङ्ग किस प्रकार का असिद्ध होता है, इसका आभास मिलता है।[२] हरिभास्कर 'दो अचों के आनन्तर्य को मानकर प्राप्त होने वाले अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग परिभाषा नहीं लगती हैं, यह अर्थ मानते हुए अर्थान्तर का तथा 'अच्' एकवचनान्त का भी निर्देश किया है।[३] परन्तु नागेश इन सबसे भिन्न, उपर्युक्त मतों को न मानते हुए नवीन अर्थ युक्त मानते हैं। 'एक अच् का अन्य के साथ आनन्तर्य जिस अन्तरङ्ग कार्य में निमित्त हो, उसकी कर्तव्यता में पहले किया गया बहिरङ्ग कार्य असिद्ध नहीं होता है'। इस अर्थ में परिभाषा का सम्पूर्ण अर्थ करते हुए इसका लाभ भी प्रदर्शित किया है। परिभाषा के ज्ञापक के विषय में नागेश ने विस्तृत विचार किया है। व्याडि, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसका ज्ञापक 'षत्वतुकोरसिद्धः'[४] में तुक् ग्रहण माना है तथा विस्तार से इसका उपपादन भी किया है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए ज्ञापक का उपपादन किया है। पुरुषोत्तमदेव और नीलकण्ठ ने सम्पूर्ण सूत्र की ज्ञापकता स्वीकार की है।[५] परन्तु नागेश ने इसको न मानते हुए विस्तार से सहेतुक इसकी ज्ञापकता का खण्डन किया है। इस प्रकार नागेश ने उक्त ज्ञापक से कुछ नवीन कल्पना की है। वे उस ज्ञापक से इस परिभाषा की सिद्धि न मानकर बहिरङ्ग परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित मानते हैं। इन्होंने इसका भाष्य-प्रामाण्यपूर्वक सहेतुक प्रतिपादन किया है।[६] यह स्यात् विवरणकार के अनुकरण पर किया है।[७] इस परिभाषा के अर्थ तथा प्रवृत्ति विषय में नागेश ने मध्य-मध्य में कैयट, दीक्षित, हरदत्त, न्यासकार, बृहद् विवरणकार, मान्य और भ्रान्त आदि के मत का खण्डन भी किया है।[८] परिभाषा के उदाहरण, प्रयोजन आदि सभी में समान रूप में प्राप्त होते हैं। इस परिभाषा के होने से उत्पन्न दोषों का सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि से समाधान किया है। नागेश ने भाष्य के आधार पर समाधान किया है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा नीलकण्ठ इस परिभाषा को पूर्ववर्ती अन्तरङ्ग परिभाषा का अपवाद मानते हैं। व्याडि एवं हरिभास्कर

---

१. सीरदेववृत्ति परि०सं० ७०।
२. नीलकंठवृत्ति, परि०सं०५९।
३. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७२।
४. अष्टा० ६/१/८६।
५. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
६. प०शे०, पृ० २९१-२९२।
७. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०७२पर।
८. गदा, पृष्ठ १०७-११३।

इस विषय में मौन हैं। इस विषय में नागेश भी कुछ नहीं कहते है। इस प्रकार नागेश ने सभी अङ्गों पर विचार करते हुए परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादित की है। नागेश का व्याख्यान पूर्ववर्ती सभी आचार्यों द्वारा कृत व्याख्यानों से अधिक स्पष्ट है।[१]

(४२) अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते।।प०५२।।

परिभाषा का उपक्रम : यदि कुछ एक[२] परिगणित विषयों को छोड़कर अन्तरङ्ग परिभाषा सर्वत्र प्रवृत्त होती है तो 'गोमत्प्रियः'[३] इत्यादि में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लुक् द्विपदनिमित्तक समासाश्रित होने से बहिरङ्ग है और 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०'[४] सूत्र से सुलोप एकपदाश्रय होने से अन्तरङ्ग है। अतः बहिरङ्ग का बाधक अन्तरङ्ग हो जाता है। बहिरङ्ग के असिद्ध होने से अन्तरङ्ग लोप होगा और लोप होने पर 'प्रत्यय-लक्षण' से सु को मानकर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः'[५] सूत्र से 'नुम्' होना चाहिए? जिससे गोमान् प्रियः' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा— इस प्रकार की समस्या के समाधान के लिए यह परिभाषा है। **परिभाषा का सामान्य अर्थ :** बहिरङ्ग 'लुक्' अन्तरङ्ग विधियों का भी बाध करता है अर्थात् अन्तरङ्ग विधियों का भी बाध करके बहिरङ्ग 'लुक्' शास्त्र प्रवृत्त होता है। 'अपि' शब्द से पर तथा नित्य का भी समुच्चय मानकर लुक् के द्वारा दुर्बल पर व नित्य विधि का भी बाध इष्ट है।[६]

परिभाषा का ज्ञापक : इस परिभाषा की सत्ता में 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'[७] यह सूत्र ज्ञापक है। उक्त सूत्र का यही प्रयोजन है कि 'त्वत्कृतम्', 'त्वदीयः' आदि में पूर्ववर्ती सूत्र 'त्वमावेकवचने'[८] से विभक्ति[९] परे रहते एकार्थाभिधायी युस्मद और अस्मद कें मपर्यन्त भाग[१०] का त्व और म आदेश होते हैं। परम्परा से निमित्तभूत समास का आश्रयण करके प्रवृत्त होने वाला 'सुपो धातुप्राति०'[११] सूत्र से विहित लुक् 'बहिरङ्ग' है और ये आदेश एकविभक्ति का आश्रयण करने से 'अन्तरङ्ग' है। इस प्रकार मध्यवर्तिनी

---

१. प०शे०, पृष्ठ २८४-२९३।

२. 'नाजानन्तर्ये० परि०' असिद्ध की अपवाद, द्र० प०शे०, पृष्ठ २८४।

३. गोमान् प्रियोऽस्येति — बहुब्रीहि समास।

४. अष्टा० ६/१/६८। ५. वही, ७/१/७०।

६. गूढार्थ०, पृष्ठ २९४। ७. अष्टा० ७/२/९८।

८. अष्टा० ७/२/९७।

९. अष्टा० 'विभक्तिश्च' १/४/१०४ से विभक्ति संज्ञा तथा द्र० अनुवृत्ति का ७/२/८४.

१०. अष्टा० 'मपर्यन्तस्य' ७/२/९१ का अधिकार।

११. अष्टा० २/४/७१।

विभक्ति का लुक् होने से पहले ये आदेश हो जायेंगे। पुनः 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'[१] सूत्र प्रणयन की क्या आवश्यकता? फलतः व्यर्थ होकर यह ज्ञापक होता है कि बहिरङ्ग भी अन्तरङ्ग कार्यों को बाध करता है। अब बहिरङ्ग समासान्तर्वर्तिनी विभक्ति का लुक् पहले हो जायगा। तब 'न लुमताङ्गस्य'[२] सूत्र से प्रत्यय-लक्षण का निषेध होने से बाद में विभक्ति का अस्तित्व न होने से 'त्वमावेकवचने'[३] सूत्र से त्व, म, आदेश नहीं हो सकेंगे। अतः 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'[४] सूत्र चरितार्थ हो जाता है और इसी ज्ञापक से यह परिभाषा सिद्ध होती है। **(क) ज्ञापकत्व में शङ्का और समाधान**— इस परिभाषा के 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र से ज्ञापित होने में शङ्काओं का समाधान नागेश ने अति विस्तार से किया है। साथ ही अन्य मतों का समुचित खण्डन भी किया है। **शङ्का**— यदि यह कहा जाय कि इस परिभाषा के न होने पर भी 'तव पुत्रः'=त्वत्पुत्रः इत्यादि प्रयोगों में 'तवममौ ङसि'[५] सूत्र से 'ङस्' परे रहते जो युस्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त भाग के तव, मम आदि आदेश विधान किये गये हैं, उनका बाध करने के लिए 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र आवश्यक है। अतः व्यर्थ न होने से ज्ञापक नहीं हो सकता? **समाधान**— इस शङ्का का समाधान करते हुए नागेश का कथन है कि भाष्य सम्मत उत्तर यह है कि इस सूत्र में मपर्यन्त की अनुवृत्ति (ही) परम्परा से परिभाषा का ज्ञापक है। इस प्रकार अनुवृत्ति सहित सम्पूर्ण सूत्र ज्ञापक होता है।[६] नागेश ज्ञापक का कथन करते हैं कि यदि यह परिभाषा न हो तो 'त्वत्पुत्रः' की सिद्धि में 'तवममौ ङसि'[७] की प्राप्ति होती है और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः'[८] सूत्र से प्राप्त 'लुक्' की भी तथा तव और मम अन्तरङ्ग है और लुक् समासाश्रित होने से बहिरङ्ग है। इस प्रकार 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'[९] से बहिरङ्ग के असिद्ध होने से युस्मद् के मपर्यन्त भाग 'युष्म्' के स्थान में तव आदेश हो जाना चाहिए। परन्तु 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च,[१०] 'तवममौ ङसि' का अपवाद है।[११] यह उत्सर्गशास्त्र विहित तव और मम का बाध करके त्व, म का विधान करता है। अतः यह कहना अनावश्यक है कि ये त्व, म किसके स्थान में हों, क्योंकि "अपवादा उत्सर्गैः समानदेशा भवन्ति"[१२] यह न्याय है। अतः 'मपर्यन्त की' अनुवृत्ति के बिना भी त्व और म आदेश युस्मद्, अस्मद, के मपर्यन्त को ही होते। पुनः जो यहाँ 'मपर्यन्तस्य'[१३]

---

१. अष्टा०, ७/२/९८। २. वही, १/१/६३।
३. वही, ७/२/९७। ४. वही, ७/२/९८।
५. वही, ७/२/९६।
६. प०शे० पृष्ठ २९७ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ २९७-२९८ एवं द्र०उ० ७/२/९८।
७. अष्टा० ७/२/९६। ८. वही, २/४/७१।
९. प०शे० परि०सं० ५०। १०. अष्टा० ७/२/९८।
११. म०भा० ७/२/९८ तथा उ०भी। १२. म०भा० ६/४/२२।
१३. अष्टा० ७/२/९१।

की अनुवृत्ति स्वीकार की है, वह ज्ञापिका है कि बहिरङ्ग लुक् भी अन्तरङ्ग विधियों का बाध करता है। यदि लुक् पहले हो जाता है तो ङस् परे न होने से तव, मम आदेशों की प्राप्ति ही नहीं होती है? ऐसा होने से यह उसका अपवाद नहीं रह सकता। अपवाद न रहने से 'अपवादा उत्सर्गैः समानदेशा भवन्ति' इस न्याय का प्रसङ्ग भी नहीं रहता। अब त्व, म किसके स्थान में हों? इसको बतलाने के लिए 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति चरितार्थ हो जाती है। **(अ) पुनः सम्पूर्ण सूत्र के ज्ञापकत्व में शङ्का**— प्राचीनों[१] के मतानुसार यदि यह कहा जाय कि इस परिभाषा का 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र में 'उत्तरपद' ग्रहण ज्ञापक है, सम्पूर्ण सूत्र नहीं क्योंकि सूत्र में, युस्मद्, अस्मद् प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में क्विप्[२] करने पर मपर्यन्त भाग का त्व और म हो, इसके लिए 'प्रत्यय ग्रहण' अत्यन्त आवश्यक है। अतः ज्ञापक नहीं हो सकता? **समाधान**— उक्त शङ्का का समाधान यह है कि युस्मद्, अस्मद् शब्द से आचार अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय नहीं होता है, क्योंकि भाष्य में सम्पूर्ण सूत्र को ज्ञापक माना है।[३] केवल इन्हीं से 'क्विप्' नहीं होता अपितु 'ह्रस्वनद्यापो नुट्'[४] सूत्र के भाष्य के अनुसार 'हलन्त' सामान्य प्रातिपदिकों से भी आचार अर्थ में 'क्विप्' नहीं होता हैं। फलतः हलन्त प्रातिपदिकों से आचारार्थक 'क्विप्' प्रत्यय का अनभिधान स्पष्ट हो जाता है।[५] **(आ) उक्त ज्ञापक में अन्य शङ्का**— एकत्व अर्थ वाले युस्मद्, अस्मद् शब्द से प्रातिपदिक शब्द से विहित 'णिच्'[६] के परे रहते त्व, म आदेश करने के लिए 'प्रत्यय' ग्रहण सार्थक है।[७] अतः ज्ञापक कैसे हो सकता है? **समाधान**— उक्त प्रश्न अयुक्त है, क्योंकि सम्पूर्ण सूत्र को ज्ञापक माना गया है। अतः युस्मद्, अस्मद् शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे'[८] इस वार्तिक द्वारा इन अर्थों में 'णिच्' प्रत्यय का अनभिधान है।[९] इस प्रकार प्राचीन मत खण्डित हो जाता है।

प्राचीनोक्त ज्ञापक प्रकार का खण्डन : (क) प्राचीन मत में शङ्का— कैयटादि[१०] का यह मत है। उनके अनुसार 'मपर्यन्तस्य'[११] की अनुवृत्ति, 'युस्मद्,

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ २९७। २. गदा, पृष्ठ ११४।

३. का०वा० ३/१/११ सर्वप्रातिपादिकेभ्य इत्येके।

४. म०भा० ७/२/९८ तथा प्र०भी। ५. वही, ७/१/५४, तथा प्र० भी।

६. गूढार्थ०, पृष्ठ २९८।

७. द्र० का०वा० ३/१/२६ 'तत्करोति तदाचष्टे' से णिच्।

८. यह हरदत्त का मत है— द्र० पदमञ्जरी।

९. का०वा० ३/१/२६।

१०. द्र० म०भा० ६/१/१६८ तथा उ० भी एवं गूढार्थ०, पृष्ठ २९९।

११. सीरदेव आदि।

अस्मद् के मपर्यन्त भाग को त्व, म हो, सम्पूर्ण के स्थान[१] में आदेश न हों, इसके लिए (प्रयोजनवती) है। अत: ज्ञापक नहीं हो सकती। फलत: मपर्यन्त की अनुवृत्ति को ज्ञापक मानना भी ठीक नहीं है और इसी प्रकार यदि कहें कि 'अपवाद उत्सर्ग के समानदेश वाले होते हैं, इस भाष्यसम्मत[२] न्याय से 'तवममौ ङसि'[३] जैसे मपर्यन्त युस्मद् अस्मद् को होते हैं, उसी तरह 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'[४] सूत्र से त्व और म भी मपर्यन्त युस्मद्, अस्मद् के स्थान में ही होंगे। पुन: 'मपर्यन्तस्य'[५] की अनुवृत्ति व्यर्थ होकर ज्ञापिका ही होती है? यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस न्याय का व्यभिचार देखा जाता है। **(१)** यथा 'शप्'[६] का अपवाद 'श्नम्'[७] विकरण शप् की तरह प्रकृति से परे नहीं होता है, किन्तु प्रकृति के अन्त्य अच् से परे होता है।[८] **(२)** सामान्य रूप से प्रत्यय[९] परे होता है, परन्तु 'अकच्'[१०] प्रत्यय टि भाग से पूर्व होता है और 'बहुच्'[११] (तद्धित) प्रत्यय सुबन्त[१२] से पूर्व होता है, इसलिए तवादि अनुवृत्ति सहित मपर्यन्त की अनुवृत्ति इस परिभाषा की ज्ञापिका है।[१३] **(ख) समाधान— (नागेश मत)—** उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए नागेश कहते हैं कि उक्त न्याय अव्यभिचारी है, नित्य है। श्नम्, अकच् आदि में इसका बाध अवश्य होता है, परन्तु उस बाध का कारण विधायक सूत्रों में विद्यमान है। 'मिदचोऽन्त्यात् पर:'[१४] सूत्र से मित्व के विषय में विधान है। 'अकच्' के लिए 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टे:'[१५] सूत्र में 'प्राक् टे:' कहा है, 'बहुच्' के विषय में 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु'[१६] में 'पुरस्तात्' का विधान है। परन्तु प्रकृत में यह उत्सर्ग समान न्याय क्यों नहीं हो? इसमें कोई युक्ति अथवा प्रमाण नहीं है।

(अ) उपर्युक्त न्याय को मानने में प्रमाण— यह न्याय सार्वत्रिक है। अतएव पाणिनि 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ'[१७] सूत्र से युस्मद् और अस्मद् के स्थान में युष्माक

---

१. अष्टा० ७/२/९१।

२. सम्पूर्ण युस्मद् के स्थान में होता— द्र० अष्टा० १/१/५५।

३. म०भा० ६/४/२२। 'उक्तमेत्वं लोपापवादो०' आदि।

४. अष्टा० ७/२/९६।

५. अष्टा० ७/२/९८।

६. अष्टा० ३/१/६८।

७. वही, ३/१/७८।

८. वही, १/१/४७।

९. वही, ३/१/२।

१०. वही, ५/३/७१।

११. वही, ५/३/६८।

१२. शब्दसमुदाय से ही पहले होता है। यथा बहुगुडा, बहुपटु: आदि।

१३. प०शे०, पृष्ठ ३००।

१४. अष्टा० १/१/४७।

१५. वही, ५/३/७१।

१६. वही, ५/३/६८।

१७. अष्टा०, ४/३/२।

और अस्माक आदेशविधान करते हैं। अन्यथा 'अकङ्' (आदेश) विधान करते, जो ङित् होने से अनेकाल् होने पर भी युस्मद् और अस्मद् के अन्त्य 'द्' को होता। परन्तु ऐसा करने से इस सूत्र के अपवाद 'तवकममकावेकवचने'[१] सूत्र से तवक, ममक भी अन्त के स्थान में होने लगेंगे? क्योंकि "उत्सर्गसमानदेशा अपवादा:" यह न्याय है। इस प्रकार आचार्य द्वारा 'युस्माक', अस्माक आदेश विधान करने से यह न्याय सार्वत्रिक है, यह ज्ञापित होता है।[२] इसी प्रकार उत्सर्ग अपवाद की बाधकता के विषय में वार्तिककार और भाष्यकार[३] के मतों का उल्लेख नागेश[४] ने किया है। कैयट रीति[५] से उक्त न्याय नियम नहीं है।

परिभाषा में हरदत्तोक्त ज्ञापक : पद-मञ्जरीकार हरदत्त[६] ने यह कहा है कि इस परिभाषा के अभाव में 'त्वत्पुत्र:' आदि में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति 'ङस्' के लुक् से पूर्व अन्तरङ्ग होने से मपर्यन्त भाग का तव[७] आदेश हो जाने से, उत्तरपद परे रहते मपर्यन्त भाग नहीं रह जाता है। अत: 'मपर्यन्तस्य'[८] की अनुवृत्ति व्यर्थ हो जाती है और व्यर्थ होकर इस परिभाषा की ज्ञापिका होती है। **उक्त मत का नागेश द्वारा खण्डन :** उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अपवाद अन्तरङ्ग विधि का भी बाध करती है।[९] अत: अपवाद विषय में अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति न होने से उक्त रीति से ज्ञापक नहीं बन सकता है। अत: उत्सर्गन्याय के आश्रयण से ही 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति व्यर्थ होकर ज्ञापिका बनती है, यही मानना चाहिए।[१०]

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त : इस परिभाषा के प्रवृत्ति विषय में दो मत हैं : **(क) अन्यों का मत**— ये लोग इस परिभाषा की प्रवृत्ति 'सुपो धातु०'[११] सूत्र से होने वाले 'सुब्-लुक्' में ही मानते हैं।[१२] **(ख) नागेश मत**— ये 'लुक्' शब्द से 'लुक् मात्र' का ग्रहण करते हैं। फलत: इस परिभाषा का 'सुपो धातु०' सूत्र से विहित लुक् ही विषय न होकर सभी लुक्-विषय हैं।

---

१. अष्टा०, ४/३/३। २. प०शे०, पृष्ठ ३०१।
३. म०भा० १/१/४७ तथा म०भा० ७/२/१०७।
४. प०शे०, पृष्ठ ३०१-३०२ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३०२।
५. प्र० ३/२/१, 'प्रत्ययान्तात्' पर व्याख्या।
६. पदमञ्जरी सू० ७/२/९८। ७. अष्टा० ७/२/९६।
८. वही, ७/२/९१। ९. प०शे० परि०सं० ५७।
१०. गूढार्थ, पृष्ठ ३०३। ११. अष्टा० २/४/७१।
१२. गूढार्थ०, पृष्ठ १०४।

(अ) लुक् मात्र के ग्रहण में प्रमाण— एङ्ह्रस्वात् संबुद्धेः[१] और 'न यासयोः'[२] सूत्रों के भाष्य और कैयट प्रमाण हैं। 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' सूत्र में 'हे त्रपो'[३] ऐसा उदाहरण दिया है। यहाँ 'लोप'[४] होता है तो प्रत्यय-लक्षण[५] के द्वारा 'ह्रस्वस्य गुणः'[६] सूत्र से 'त्रपो' में सम्बुद्धिपरक गुण होगा। यदि इस परिभाषा के अनुसार 'स्वमोर्नपुसंकात्'[७] सूत्र से 'सु– का लुक् करते हैं, तो सम्बुद्धि परे न होने से गुण नहीं होगा- 'त्रपु' यही रूप होगा। यहाँ 'लुक्' लोप का बाध करता है, यह भाष्य में स्पष्ट कहा है। इसमें यह कोई महत्त्व नहीं रखता है कि लोप एवं लुक् अन्तरङ्ग अथवा बहिरङ्ग नहीं है, क्योंकि परिभाषा के अनुसार 'लुक् अपवाद शास्त्र की तरह केवल अन्तरङ्ग का ही बाधक नहीं है, अपितु पूर्व, पर और नित्य का भी बाध करता है। तथा 'न यासयोः'[८] सूत्र में कैयट[९] ने कहा है कि केवल 'सुप् लुक्' ही नहीं, अपितु सभी प्रकार का लुक् अन्तरङ्ग विधियों का बाधक होता है। इसीलिए 'सनीस्रंस्+यङ्+अच्' -(सनीस्रंसः) यहाँ 'अनिदितां हल उपधाया क्ङिति'[१०] सूत्र से होने वाले अन्तरङ्ग न लोप का बाधकर 'यङोऽचि च'[११] सूत्र से बहिरङ्ग लुक् (य्) हो जाता है। लुक् हो जाने पर ङित् सार्वधातुक परे नहीं रहता, अतः 'स्रंसः' के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। इस प्रकार 'सनीस्रंसः' आदि पद सिद्ध होते हैं। यद्यपि परिभाषास्थ 'लुक्' शब्द से 'लुक्' सामान्य अभिप्रेत है तथापि अन्तरङ्ग, नित्य, पर आदि विधियों के निमित्तों का विनाशक 'लुक्' अन्तरङ्ग आदि विधियों से प्रबल होता है, ऐसा समझना चाहिए तथा लुक् के प्रयोजक समास, प्रत्यय, तद्धित आदि वृत्तिमात्र का भी प्राबल्य होता है, यह भी इसी न्याय से ज्ञापित होता है। अन्यथा ज्ञापक अनर्थक ही रहता है।[१२]

परिभाषा की अनित्यता : नागेश ने इसके नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के विषय में कोई विवेचन नहीं किया है। किन्तु गदाकार[१३] ने इस परिभाषा का अनित्यत्व प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि ज्ञापक सिद्ध असार्वत्रिक होता है। इसमें 'न

---

१. म०भा० ६/१/९६ तथा प्र०भी० 'हे त्रपु' पर टि०।

२. म०भा० ७/३/४५ तथा प्र०भी।

३. त्रपु शब्द, सम्बुद्धि वि०ए० में सु, गुण, सु लोप होकर निष्पन्न रूप।

४. अष्टा० ६/१/६९। ५. वही, १/१/६२।

६. अष्टा० ७/३/१०८। ७. वही, ७/१/२३।

८. अष्टा० ७/३/४५।

९. प्र० ७/३/४५ 'अन्तरङ्गाँश्च विधीन्०' इत्यादि।

१०. अष्टा० ६/४/२४। ११. वही, २/४/७४।

१२. प०शे० पृष्ठ ३०५-३०७ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३०५-३०७।

१३. गदा, पृष्ठ १०८।

यासयो:'[१] सूत्र भाष्य का वचन प्रमाण है। वहाँ का कैयट 'चिन्त्य' है। यह 'न यासयो:' सूत्र के उद्योत में नागेश ने विवेचित किया है।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से 'गोमत्प्रिय:, यवमत्प्रिय:' आदि लक्ष्यों में अन्तरङ्ग सुलोप का बाधकर, उसका लुक् हो जाने पर नुम् करने में 'न लुमताङ्गस्य'[२] प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है, जिससे उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'गोमत्यते, यवमत्यते', 'त्वन्नाथ:, मन्नाथ:' आदि भी सिद्धि होते हैं। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन समझने चाहिए।

समीक्षा : प्रस्तुत परिभाषा अन्तरङ्गबलीयस्त्व का संकोच प्रस्तुत करती है। पर, नित्य, अन्तरङ्ग आदि विधियों के निमित्तों का विनाशक लुक् उक्त विधियों से बलवान् होता है। यह परिभाषा व्याडि, शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्रकार, भोज एवं हेम ने नहीं पढ़ी है।[३] जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में पाठ किया है। परिभाषा की व्याख्या में सभी ने ज्ञापक आदि पर विचार किया है। परन्तु नागेश ने व्याख्या में ज्ञापक व प्रवृत्ति विषय का अतिविस्तार से विचार किया है। परिभाषा का अर्थ सभी ग्रन्थों में समान है। केवल सीरदेव ने अर्थ लिखा है। अन्यों ने अति सरल होने से स्यात् नहीं लिखा है। नागेश ने भी नहीं लिखा है। परिभाषा के ज्ञापक विषय में नवीन तथा प्राचीनों में कुछ मतभेद है। जैनेन्द्र इस परिभाषा का 'प्रत्ययोश्च' सूत्र को ज्ञापक मानते हैं।[४] पुरुषोत्तमदेव 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'[५] सम्पूर्ण सूत्र को इसका ज्ञापक मानते हुए विस्तार से ज्ञापकत्व का उपपादन करते हैं। इन्होंने इस प्रसङ्ग में न्यासकार आदि के मतों का उल्लेख किया है।[६] सीरदेव इस परिभाषा में 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र का 'प्रत्यय' ग्रहण ज्ञापक मानते हैं। इसका उन्होंने विस्तार से उपपादन करते हुए 'उत्तरपद' ग्रहण के ज्ञापकत्व का खण्डन करते हुए 'तवादि अनुवृत्ति सहित मपर्यन्त की' अनुवृत्ति को भी ज्ञापक माना है।[७] नीलकण्ठ 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सम्पूर्ण सूत्र को ज्ञापक न मानकर उत्तरपद ग्रहण को ज्ञापक मानते हैं एवं विस्तार से उपपादन करते हुए 'प्रत्यय' ग्रहण की अन्यत्र चरितार्थता स्पष्ट करते हैं।[८] हरिभास्कर इसका ज्ञापक उक्तसम्पूर्ण सूत्र को मानते हुए संक्षेप में उपपादन भी करते हैं।[९] नागेश इसका ज्ञापक भाष्य के आधार पर उक्त सम्पूर्ण सूत्र को मपर्यन्त अनुवृत्ति सहित ज्ञापक मानते है। इसका इन्होंने अति विस्तार से सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। इसमें इन्होंने

---

१. अष्टा० ७/३/४५ एवं उ०भी०। २. अष्टा० १/१/६३।
३. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ। ४. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ८५।
५. अष्टा० ७/२/९८। ६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०६८।
७. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ८५। ८. नीलकंठवृत्ति, परि०सं०६३।
९. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ८८।

अपने विरुद्ध मतों में न्यासकार, कैयट, हरदत्त, सीरदेव तथा नीलकण्ठ का सहेतुक खण्डन कर दिया है तथा विस्तार से ज्ञापक सिद्धि दिखलाते हुए ज्ञापक को वार्तिक रीति से माना है तथा भाष्य रीति से इस परिभाषा को वाचनिक माना है। परन्तु गदाकार के अनुसार यह परिभाषा को ही नहीं मानते हैं।[१] परिभाषा का उदाहरण, प्रयोजन सभी में समान रूप में है। परिभाषा के प्रवृत्ति विषय पर पुरुषोत्तमदेव[२] आदि ने कुछ नहीं कहा है। नीलकण्ठ ने इस पर विचार करते हुए 'लुक् मात्र' विषय में प्रवृत्ति मानी है तथा इस न्याय से अन्तरङ्ग कार्य की अपेक्षा ही 'लुक्' का प्राबल्य स्वीकार किया है।[३] नागेश ने इन्हीं का अनुसरण करते हुए इसकी प्रवृत्ति 'लुक् मात्र' विषयक माना है एवम् अन्तरङ्ग के प्रयोजक समास, तद्धित आदि भी बलवान् होते हैं— माना है।

(४३) पूर्वोत्तरपदनिमित्तककार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न।। प०५३।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह होती है कि समकाल प्राप्त बहिरङ्ग असिद्ध होता है, यह स्वीकार करने पर 'सोमेन्द्रौ देवते अस्येति'- सौमेन्द्रं (हवि:)[४] इस अर्थ वाले 'सोमेन्द्र' शब्द में 'सोम+इन्द्र+अण्'[५] - यहाँ अन्तरङ्ग परिभाषा से बहिरङ्ग वृद्धि[६] का बाध कर 'आद् गुण:'[७] से अन्तरङ्ग गुण एकादेश पूर्व होने से, पूर्वपद 'सोम' नहीं रहता, परे उत्तरपद 'इन्द्र' नहीं रहता तो पूर्वपद से परे 'इन्द्र' शब्द को बृद्धि न हो— इस अर्थ वाले 'नेन्द्रस्य परस्य'[८] सूत्र से वृद्धि निषेध करना व्यर्थ रहता है? तथा जहाँ उभयाश्रित का कार्य होता है, वहाँ 'अन्तादिवद्भाव' का निषेध रहता है।[९] ऐसा होना सम्भव भी नहीं है, 'पूर्व और पर' शब्दों से तथा 'अन्त, आदि' शब्दों से विरोध के अत्यन्त स्पष्ट होने से दो विरुद्ध अतिदेश एक स्थल में एक ही समय कैसे हो सकते हैं?[१०] अत: एकादेश ए होने पर एक साथ पूर्वपद सोमे और उत्तरपद एन्द्र नहीं माना जा सकता। यदि एकादेश 'ए' को केवल पूर्व का अन्तवत् माने[११] तो पूर्वपद 'सोमे' ऐसा हो जाता है तथा 'न्द्र' शब्द से एकदेशविकृतन्याय[१२] से उत्तरपद मानते हैं तो

१. गदा, पृष्ठ ११७। २. सीरदे०, हरिभास्कर।

३. नीलकंठवृत्ति, परि०सं०६३।

४. 'सोम+इन्द्र' देवते अस्य-इस अर्थ में 'अण्' प्रत्यय।

५. 'सास्य देवता' — अष्टा० ४/२/२४।

६. अष्टा० 'देवताद्वन्द्वे च' ७/३/२१ से वृद्धि प्राप्त।

७. अष्टा० ६/१/८७। ८. अष्टा० ७/३/२३।

९. वचन 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' — म०भा० ६/१/८५।

१०. म०भा० ६/१/८४, 'सिद्धं तु पूर्वस्याधिकरात्' पर भाष्य।

११. अष्टा० ६/१/८५ से 'अन्तवद्भाव'।

१२. प०शे० परि०सं० ३७ इससे 'न्द्र' में 'इन्द्र' का अतिदेश।

बृद्धि का निषेध सार्थक हो सकता है? इस प्रकार उत्तरपदत्व होने पर भी, उत्तरपद अनच्क (स्वररहित) रह जाता है, आद्य 'इ' का एकादेश से अपहार हो गया है और अन्त्य अच् 'अ' का तद्धित प्रत्यय के परेत्यस्येति च'[१] से लोप हो गया है। पुनः उत्तरपद अनच्क होने से बृद्धि की प्राप्ति ही नहीं, तो बृद्धि का निषेध व्यर्थ ही है[२] तथा किसी भी प्रकार से निषेध सफल नहीं हो सकता। यदि यह माने कि एकादेश (ए) का परादिवद्भाव[३] मानने से एकादेश विशिष्ट 'एन्द्र' शब्द उत्तरपद हो जायगा और पूर्वपद 'सोम्' एकदेशविकृतन्याय[४] से सोम मान लिया जायगा,[५] तो 'बृद्धि के सम्भव होने से निषेध सफल हो जायगा? यह भी मानना ठीक नहीं है। 'अन्तादिवच्च'[६] सूत्र ताद्रूप्यातिदेश का विधायक नहीं है। यह तो केवल व्यपदेशातिदेश का विधायक है।[७] पृथक् अवस्थित पूर्व एवं पर जैसे प्रत्यय, प्रातिपदिक, सुबन्त आदि होते हैं, वैसे ही एकादेश होने पर भी व्यपदिष्ट होते हैं।[८] वर्ण मात्र में रहने वाला धर्म जैसे 'ए' में एत्व का अतिदेश सम्भव नहीं, उसका 'इ' में लाना सम्भव नहीं तथा 'देवताद्वन्द्वे च'[९] का अर्थ है— 'समास से पूर्व जो देवता वाचक शब्द हैं, उनका द्वन्द्व होने पर पूर्वोत्तर पदों के आद्य अवयव अच् को वृद्धि होती है'। प्रकृत 'सौमेन्द्र' में एन्द्र उत्तरपद है। परन्तु अतिदेश से 'ए' इ नहीं होता, अतः इस आदित्व के अभाव से बृद्धि नहीं हो सकती, तब निषेध व्यर्थ ही है। यदि उक्त सूत्र से वर्णमात्र वृत्ति धर्म का अतिदेश हो तो 'खट्व+आ (टाप्)+भिस्'- यहाँ एकादेश 'आ' के पूर्वान्तवत् होने से (अ+आ-अ) पूर्वपद अदन्त हो जायगा[१०] तो 'अतो भिस'[११] ऐस् सूत्र से 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश प्रसक्त होगा।[१२] अतएव भाष्य[१३] में 'पूर्वैषुकामशमः'[१४] यहाँ 'पूर्व+इषुकामशमी+अण्' शब्द में पहले

---

१. अष्टा० ६/४/१४८।

२. प०शे०, पृष्ठ ३०८, गूढार्थ०, पृष्ठ ३०८, एवं गदा, पृष्ठ १२०।

३. 'उभयत आश्रयणे०' पक्ष मानने के कारण 'अन्तादिवच्च' अष्टा० ६/१/८५ से पर (इन्द्र) के 'इ' का ही आदिवद्भाव।

४. प०शे० परि०सं० ३७।

५. मान्त सोम शब्द 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' परि०सं० ३७ से सोम् अकारान्त मानने से पूर्व पद हो सकता है, क्योंकि पूर्वपद 'सोम' है।

६. अष्टा० ६/१/८५।

७. म०भा० ६/१/८५ 'न वा ताद्रूप्यातिदेशात्०' की व्याख्या।

८. गदा, पृष्ठ १२०। ९. का० ७/३/२१।

१०. अष्टा०'अन्तादिवच्च'६/१/८५। ११. अष्टा० ७/१/९।

१२. म०भा० ६/१/८५ 'वर्णाश्रयविधौ च' वा० पर व्याख्यान।

१३. 'अन्तादिवच्च' ६/१/८५ म०भा० 'उत्तरपदवृद्धिश्चैकदेशात्०' आदि वा०व्याख्यान।

१४. 'पूर्वस्य इषुकामशम्यां भवः' में 'पूर्व+इषुकामशमी' 'अण्' प्रत्यय।

अन्तरङ्ग होने के कारण अकार तथा इकार के स्थान में गुण एकादेश हो जाने पर 'एकार' (एकादेश) उत्तरपद का आदि 'अच्' इ न होने से 'प्राचां ग्रामनगराणाम्'[१] सूत्र से वृद्धि ही नहीं हो सकेगी?[२] ऐसी शङ्का करके प्रकृत परिभाषा से समाधान किया गया है। यदि यह कहें कि 'सौमेन्द्र' में जैसे एकदेशविकृत न्याय से एकादेश 'ए' होने पर 'सोम्' शब्द पूर्वपद मान लिया जायगा और 'ऐन्द्र' शब्द उत्तरपद मान लिया जायगा, तो बृद्धि प्राप्त होगी ही, अत: निषेध चरितार्थ हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि 'एकार' रूप विकार (गुण) के दोनों पूर्व और पर के स्थान में होने से उत्तरपद के एकदेश मात्र का विकार न होने से यहाँ इस 'विकृतन्याय' की प्रवृत्ति का विषय नहीं। 'एकदेशविकृतन्याय' का अर्थ है— 'कोई एक अवयवी एकदेश में विकृत होने पर भिन्न नहीं हो जाता। जब कोई अवयवी एकदेश में विकृत होता है, तब अखण्डित, अविकल अवयवी के वाचक शब्द की प्रवृत्ति खण्डित, विकल अवयवों के लिए भी होती है'। प्रकृत में गुण रूप विकार के दो (पूर्व और पर) स्थानी होने से एकादेश विशिष्ट 'एन्द्र' में उत्तरपदत्व का अतिदेश नहीं हो सकता है।[३] इसी प्रकार यदि कहें कि 'मरुत्' आदि शब्दों का 'इन्द्र' शब्द के साथ द्वन्द्व समास होने पर 'मारुदिन्द्रम्'[४] में (मरुत्+इन्द्र+अण्) एकादेश के अनवकाश होने से वृद्धि[५] प्राप्त होती है, उसको रोकने के लिए निषेध चरितार्थ हो जायगा?[६] पुन: ज्ञापक कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि अजादि अदन्त होने से अजाद्यदन्तम्[७] से 'इन्द्र' शब्द का पूर्व निपात होगा। विष्णु और इन्द्र शब्द के द्वन्द्व समास में भी 'इन्द्र' के अभ्यर्हित होने से पूर्व निपात होगा, तब 'नेन्द्रस्य' 'परस्य'[८] सूत्र का विषय नहीं है। इस प्रकार निषेध व्यर्थ होता है, इस शङ्का के समाधान के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : पूर्वपद तथा उत्तरपद अथवा पूर्वोत्तरपद (रूप शब्द से) निमित्तक कार्य से अन्तरङ्ग भी एकादेश (भी) पहले नहीं होता है, किन्तु पूर्वपद तथा उत्तरपद अथवा पूर्वोत्तरपदनिमित्तक कार्य अन्तरङ्ग एकादेश से पहले हो जाता है।

परिभाषा का आशय : इस परिभाषा में निमितत्व जिस किसी भी प्रकार से गृहीत कर लिया जाता है। ऐसा नहीं है कि जहाँ पूर्वपद को ही हो, वहीं हो, इत्यादि का आग्रह नहीं है। 'पूर्वोत्तरपदनिमित्तक०' से अभिप्रेत है। पूर्वपद का कार्य हो, उत्तरपद

---

१. अष्टा० ७/३/१४। २. गूढार्थ०, पृष्ठ ३०७ एवं ३०८।

३. गदा, पृष्ठ १२१।

४. मरुदिन्द्रौ देवते स्य— इस अर्थ में 'मरुत्+इन्द्र-' अण् प्रत्यय।

५. अष्टा० ७/३/२१। ६. 'नेन्द्रस्यपरस्य' ७/३/२२ से निषेध।

७. अष्टा० २/२/३३। ८. वही, ७/३/२२।

का कार्य अथवा पूर्वोत्तरपद दोनों का कार्य हो, इन शब्दों[१] का उच्चारण करके विहित हो, ऐसे कार्य में यह प्रवृत्ति होती है।[२] 'एकादेश' शब्द यहाँ सन्धिकार्य का उपलक्षक समझा जाता है। सन्धिकार्य रूप अन्तरङ्ग भी पहले नहीं होता है।[३]

परिभाषा का ज्ञापक : इस परिभाषा के होने में 'नेन्द्रस्य परस्य'[४] इस सूत्र में जो उत्तरपद बृद्धि का निषेध किया है, वही ज्ञापक है।[५] सूत्र में कहा गया है कि "उत्तरपद में इन्द्र शब्द को वृद्धि न हो, जिससे 'सौमेन्द्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाय।[६] यदि सोम के साथ इन्द्र का एकादेश अन्तरङ्ग होने से पूर्व ही कर लिया जाय" तो 'इन्द्र' शब्द का 'इ' तो एकादेश में गया और 'सोम' के अन्त्य का 'अच्' तद्धित प्रत्यय के परे लोप में गया, पुनः जब उत्तरपद 'इन्द्र' शब्द में कोई अच् ही नहीं तो वृद्धि का निषेध क्यों किया गया? इस प्रकार व्यर्थ होकर यह ज्ञापक होता है कि अन्तरङ्ग भी एकादेश पूर्वोत्तरपद के कार्य के पहले नहीं होता है, किन्तु अन्तरङ्ग की बाधक उत्तरपद बृद्धि पहले होती है। इसलिए उत्तरपद में 'इन्द्र' शब्द की वृद्धि का निषेध किया गया है।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा से 'पूर्वेषुकामशमः' यहाँ अन्तरङ्ग मानकर पहले गुण रूप एकादेश नहीं होता, किन्तु उत्तरपद को बृद्धिरूप एकादेश होता है तथा 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र में निषेध चरितार्थ होता है। इसी प्रकार परमाहम्, परमायम् इत्यादि प्रयोगों में इस परिभाषा से पहले दीर्घ एकादेश न होकर अह,[७] अय[८] आदि आदेश हो जाते हैं। इसी प्रकार 'रात्रिभटः'[९] इत्यादि में रात्रि शब्द को 'रात्रेः कृति विभाषा'[१०] सूत्र से 'मुम्' के पहले अन्तरङ्ग यणादेश[११] नहीं होता। अतः 'रात्रिभटः' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन द्रष्टव्य हैं।

---

१. शब्द रूप में उच्चारित हों यथा 'अलुगुत्तरपदे' ६/३/१ प्रकरण, 'एकः पूर्वपरयोः। अष्टा० ६/१/८४ प्रकरण, 'उत्तरपदस्य' अष्टा० ७/३/१० प्रकरण, 'हृद्भगसिन्धवन्ते पूर्वपदस्य च' अष्टा० ७/३/१९ प्रकरण आदि।

२. गूढार्थ०, पृष्ठ ३१० तथा ३११।

३. सन्धि कार्य अर्थात् मुम्, नुम् आदि का ग्रहण।

४. अष्टा० ७/३/२२। ५. म०भा० ६/१/८५ तथा १/४/२।

६. अष्टा० ७/३/२२ एवं द्र० का० ७/३/२२।

७. अष्टा० 'त्वाहौ सौ' ७/२/९४। ८. 'इदोऽय् पुंसि' अष्टा० ७/२/१११।

९. रात्रिमटति— इस अर्थ में 'रात्रि' उपपद रहते अट् धातु, 'अच्' प्रत्यय रात्रि को मुम् आगम।

१०. अष्टा० ६/३/७२।

११. पूर्वोपस्थित-निमित्तक-रूप अन्तरङ्ग, द्र० अष्टा० ६/१/७७।

समीक्षा : इस परिभाषा से पूर्ववर्ती परिभाषा की भांति यह परिभाषा भी अन्तरङ्ग के बलीयस्त्व का सङ्कोच ही प्रस्तुत करती है। पूर्वोत्तरपद निमित्तक कार्य अन्तरङ्ग विधि का बाध करके पहले प्रवृत्त हो जाता है, यही प्रस्तुत परिभाषा का विषय है। यह परिभाषा व्याडि[६] आदि आचार्यों ने नहीं पढ़ी है। केवल जैनेन्द्र ने कुछ पाठ भेद से लिखी है।[१] महाभाष्य में ही यह परिभाषा कुछ भिन्न रूप में पठित है।[२] नागेश ने कुछ भिन्न रूप में पाठ किया है। स्यात् इनका आधार कोई अन्य ग्रन्थ रहा हो अथवा अपनी मौलिक सूझ भी हो सकती है।[३]

इस परिभाषा की व्याख्या में नागेश ने उपक्रम का अति विस्तार से विवेचन किया है, जिससे परिभाषा का विषय सम्यक् विदित हो जाता है। संक्षेप में इसके ज्ञापक का भी निर्देश दे दिया है। इस प्रकार इस परिभाषा की उपयोगिता नागेशकृत व्याख्यान से ज्ञात हो जाती है। अन्तरङ्ग परिभाषा को यदि अनित्य मान लिया जाय तो इस परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।

(४४) अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते।।प०५४।।

परिभाषा का उपक्रम : प्रधाय, प्रस्थाय, इत्यादि प्रयोगों में प्र+धा+क्त्वा', 'प्र+स्था+क्त्वा'- इस अवस्था में अन्तरङ्ग होने से बहिरङ्ग 'ल्यप्'[४] आदेश होने से पूर्व क्त्वा अवस्था में ही 'दधातेर्हि:'[५] सूत्र से धा का हि तथा 'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति'[६] सूत्र से 'स्था' का 'स्थि' आदि[७] आदेश हो जाने चाहिए? एवं अनिष्ट रूप[८] की प्राप्ति होने लगेगी, उक्त रूप नहीं बन सकेंगे? इसी दोष के वारण के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : बहिरङ्ग ल्यबादेश अन्तरङ्ग विधियों का भी बाध करता है। 'अपि' शब्द से ल्यप् पर तथा नित्य विधियों का भी बाध कर लेता है।

परिभाषा का ज्ञापक : 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति'[९] सूत्र में 'ल्यप्' ग्रहण इस

---

१. शाकटायन, चान्द्र, कातंत्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव नीलकंठ और हरिभास्कर।

२. 'पूर्वोत्तरपदयो: कार्यमन्तरङ्गमप्येकादेशं बाघते' — जैनेन्द्र पाठ, परि०सं०८४।

३. 'पूर्वोत्तरपदयोस्तावत् कार्य भवति नैकादेश:' द्र० म०भा० ६/१/८५ एवं १/४/२।

४. 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' — अष्टा० ७/१/३७।

५. अष्टा० ७/४/४२। ६. वही, ७/४/४०।

७. 'खन्' को नित्य आ आदेश द्र० अष्टा० 'जनसनखनां सञ्झलो: ६/४/४२।

८. प्रहिय, प्रस्थिय, केवल 'प्रखाय' रूप ही बनेंगे।

९. अष्टा० २/४/३६।

परिभाषा का ज्ञापक है।[१] सूत्र में 'ति किति' (तादि कित् प्रत्यय परे होने पर) पठित है। उसी से क्त्वा अवस्था में ही अन्तरङ्ग होने से 'अद्' का 'जग्ध्' आदेश हो जाता? पुनः 'ल्यपि' (ल्यप् परे होने पर) भी ऐसा क्यों पढ़ा? पुनः 'ल्यप्' ग्रहण व्यर्थ होने से आचार्य जानते हैं कि 'ल्यप्' बहिरङ्ग होता हुआ भी अन्तरङ्ग विधि ('ति किति' 'जग्ध्' आदेश) को बाध लेता है पुनः तादि कित् न होने से अद् को जग्ध् आदेश प्राप्त नहीं होता, यदि 'ल्यप्' का पृथक् ग्रहण सूत्र में न करते। इसलिए सूत्र में 'ल्यप्' ग्रहण किया है। यही 'ल्यप्' ग्रहण इस परिभाषा सिद्धि में ज्ञापक है।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त : इस परिभाषा के प्रवृत्तिविषय में टीकाकारों[२] ने कुछ निष्कर्ष निकाला है। यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ ल्यप् अन्तरङ्ग निमित्त का विनाश करता हो, वैसे ही अन्तरङ्ग का बाधक ल्यप् होता है। सब प्रकार के अन्तरङ्ग का बाध नहीं करता है। **(क) उक्त अर्थ का लाभ**— इसीलिए 'प्रेष्य गतः' यहाँ 'प्र+इष्+णि+क्त्वा' में अन्तरङ्ग लघूपधगुण प्रथम होकर, पश्चात् क्त्वा को ल्यप् होने पर 'प्र+एष्+य' में लघुपूर्व न रहने से 'ल्यपि लघुपूर्वात्'[३] सूत्र से णि को अय् आदेश नहीं होता। अन्यथा इस परिभाषा से गुण से पहले ल्यप् होकर पश्चात् गुण तथा अयादेश प्राप्त होने पर अन्तरङ्ग होने से गुण से पूर्व 'णि' का अयादेश अवश्य हो जाता।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से प्रधाय, प्रस्थाय में हि तथा इत् आदेश का बाध करके पहले 'ल्यप्' हो जाता? पुनः 'हि' तथा 'स्थि' आदेश की प्राप्ति ही नहीं। अतः उक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार 'प्रखन्य' में 'जनसनखनां सञ्झलोः'[४] सूत्र से विहित आकारादेश को बाध करके प्रथम ल्यप् आदेश क्त्वा को होकर उक्त रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रदाय, प्रकम्य, आपृच्छ्य, प्रदीव्य, प्रपठ्य में क्रमशः 'दत्'[५] 'दीर्घत्व'[६] 'श्'[७] 'ऊठ्'[८] 'इट्'[९] की प्रवृत्ति अन्तरङ्ग होने पर भी 'ल्यप्' से पहले नहीं होती है अर्थात् इस परिभाषा से इन विधियों का बाध करके पहले ल्यप् हो जाता है, उसके पश्चात् इन विधियों के निमित्ताभाव से ये विधियां नहीं होती हैं। फलतः उक्त रूप सिद्ध होते हैं— इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

---

१. म०भा० २/४/३६।

२. गूढार्थ०, पृष्ठ ३१२, विजया, पृष्ठ २३७, शा०कला, पृष्ठ २५७।

३. अष्टा० ६/४/५६। ४. वही, ६/४/४२।

५. 'दो दद्घोः' अष्टा० ७/४/४६।

६. 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति'— अष्टा० ६/४/१५।

७. 'च्छ्वो : शूडनुनासिके च' अष्टा० ६/४/१९।

८. वही, ६/४/१९।

९. 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' — अष्टा० ७/२/३५।

समीक्षा : यह परिभाषा भी अन्तरङ्ग की बलवत्ता का सङ्कोच करती है। ल्यप् विधि अन्तरङ्ग विधि का बाध कर प्रथम प्रवृत्त हो जाती है। यह परिभाषा प्राचीन आचार्य व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, कातन्त्र तथा भोज ने पाठ रूप में नहीं प्रस्तुत की है।[१] जैनेन्द्र, हेमचन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में पाठ किया है।[२] इस परिभाषा की व्याख्या सभी में समान रूप से प्राप्त होती है। नागेश तथा पूर्वाचार्य कृत व्याख्या में कोई मतभेद नहीं परिलक्षित होता है। केवल संक्षेप तथा विस्तार का अन्तर है। इसकी व्याख्या सीरदेव ने अति विस्तृत की है, उसमें परिभाषा व्याख्या के सभी अङ्गों— अर्थ, उदाहरण, ज्ञापक, प्रवृत्ति विषय आदि पर विचार किया गया है।[३] पुरुषोत्तम तथा हरिभास्कर ने भी विस्तृत व्याख्या प्रतिपादित की है। परन्तु जैनेन्द्र तथा नीलकण्ठ ने अति संक्षेप में केवल ज्ञापक मात्र का सङ्केत कर विश्रान्ति ली है। नागेश भी इन्हीं का अनुकरण करते हैं। परिभाषा का ज्ञापक सभी ने 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति'[४] सूत्र में 'ल्यप्' ग्रहण को माना है। नागेश भी यही मानते हैं। पूर्ववर्ती पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर आदि ने परिभाषा के अर्थ तथा उदाहरण आदि दिये हैं। परन्तु नागेश ने अर्थ आदि नहीं दिया है। स्यात् अति सरल होने के कारण उपेक्षित कर दिया है। इस प्रकार नागेश तथा पूर्ववर्ती आचार्यों में इस परिभाषा के विषय में कोई मतभेद नहीं है। सीरदेव तथा पुरुषोत्तमदेव की व्याख्या स्पृहणीय है।

(४५) वार्णादाङ्गं बलीयो भवति।।प०५५।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह है कि 'इयाय' आदि प्रयोगों की सिद्धि में नित्य होने से पहले द्वित्व होने के बाद 'इ+इ+अ' (णल्)- इस अवस्था में सवर्ण-दीर्घ एकादेश प्राप्त होता है और 'अचो ञ्णिति'[५] सूत्र से द्वितीय इ को बृद्धि प्राप्त होती है। बृद्धि के निमित्त की अपेक्षा सवर्ण दीर्घ अन्तरङ्ग[६] है और बहिर्भूत निमित्तक वृद्धि बहिरङ्ग[७] है। अतः अन्तरङ्ग परिभाषा से वृद्धि असिद्ध हो जाती है। अतः पहले सवर्ण-दीर्घ ही होना चाहिए? परन्तु सवर्ण-दीर्घ होने पर 'इयाय' आदि रूप की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि दीर्घ होने पर दीर्घीभूत 'ई' की बृद्धि तथा 'आय्' आदेश होकर ('इयाय' के स्थान में) 'आय' ऐसा अनिष्ट रूप ही प्रसक्त होना चाहिए? इसके समाधान

---

१. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। २. वही।

३. सीरदेववृत्ति, परि०सं०३४। ४. अष्टा० २/४/३६।

५. अष्टा० ७/२/११५।

६. पूर्वोपस्थित-निमित्तकत्व रूप 'अन्तरंग' जैसे अभ्यासोत्तर द्वितीय 'इ' की ही अपेक्षा करता है, उसके बाद के णल् की नहीं।

७. सवर्ण-दीर्घ के निमित्त (इ) की अपेक्षा पश्चात् उपस्थित निमित्तक णल् को मानकर होने से वृद्धि 'बहिरंग' है।

के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : वर्णसम्बन्धीकार्य की अपेक्षा अङ्गसम्बन्धीकार्य बलवत्तर होता है।

परिभाषा का आशय : 'आङ्गम्'- अङ्गस्येदं- आङ्गम्- 'अङ्ग' के अधिकार में होने वाला कार्य 'आङ्ग' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ जिस किसी एक लक्ष्य को अङ्ग-अधिकारीय आंग कार्य प्राप्त हो रहा हो, उसी को यदि वार्ण-वर्णसम्बन्धी सन्धि आदि कार्य प्राप्त हो रहा हो, तो वहाँ अङ्ग कार्य ही बलवत्तर समझा जाता है। वहाँ चाहे वर्ण-कार्य चाहे अन्तरङ्ग हो अथवा बहिरङ्ग, सबको बाधकर अंगाधिकारीय कार्य ही होता है।

परिभाषा का ज्ञापक : (प्रस्तुत परिभाषा की ज्ञापकता के विषय में दो मत)— इसके विषय में दो मत प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार हैं— **(१)** प्राचीन सीरदेव आदि का मत, **(२)** नागेश तथा आधुनिक वैयाकरणों का मत। **(क) प्राचीनों के अनुसार परिभाषा का ज्ञापक**— 'अभ्यासस्यासवर्णे'[१] इस 'इयङ्', 'उवङ्' विधायक सूत्र में असवर्णे का ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह असवर्ण ग्रहण 'ईषतुः' (इ+इष्+अतुस्) आदि में 'इयङ्' न हो, इसलिए किया गया है। 'अतुस्' कित्[२] है। अतः गुण न होने[३] से 'अभ्यास'[४] से परे सवर्ण अच् 'इ' है, इसलिए दीर्घ होना चाहिए। यदि यह परिभाषा न हो तो 'ईषतुः' आदि में अन्तरङ्ग सवर्ण-दीर्घ[५] (जो वार्ण कार्य है) से बहिरङ्ग आंग कार्य 'इयङ्' का बाध होने से 'इयङ्' सम्भव ही नहीं है। अतः असवर्ण ग्रहण व्यर्थ है और सवर्णदीर्घ के पश्चात् उसकी प्राप्ति ही नहीं रहती। इस प्रकार 'असवर्ण' ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक है। **(अ) इयङादि को अपवाद मानकर ज्ञापकत्व में शङ्का और निराकरण— शङ्का**— वास्तव में 'इ इ+(णल्) यहाँ दीर्घ अवश्य प्राप्त है। इस स्थिति में 'इयङ्' का विधान है। अतः इयङ् दीर्घ का अपवाद है। इसलिए पहले इयङ् ही होगा, दीर्घ की प्रसक्ति नहीं है। अतः असवर्ण ग्रहण चरितार्थ है, ज्ञापक नहीं बन सकता। **निराकरण**— उपर्युक्त तर्क के खण्डन में सीरदेव आदि यह उत्तर देते हैं कि इयङ् आदि सवर्ण दीर्घ के अपवाद नहीं हो सकते हैं, क्योंकि 'येन नाप्राप्ते०'[६] न्याय से 'इयर्ति'[७] (इ+अर्+ति) आदि सकल लक्ष्यों में

---

१. अष्टा० ६/४/७८।

२. 'असंयोगाल्लिट् कित्' अष्टा० २/२/५।

३. वही, १/१/५। ४. वही, ६/१/४।

५. अष्टा०, ६/१/१०१। ६. प०शे० परि०सं० ५८।

७. 'ऋ' धातु, लट्, प्र०पु०ए० में तिप्, श्लु विकरण, द्वित्व, (ऋ+ऋ+ति) उरदत्व, रपरत्व, हलादिशेष, इत्व, अभ्यासोत्तर 'ऋ' का गुण, अभ्यास के 'इ' का इयडादेश होकर निष्पन्न रूप।

जहाँ-जहाँ यण् प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ 'अभ्यासस्यासवर्णे'[१] सूत्र से इयङ् विधान किया है। अत: यह सूत्र 'इको यणचि'[२] का ही अपवाद है, 'अक: सवर्णे दीर्घ:'[३] का नहीं। अत: 'असवर्ण' ग्रहण की ज्ञापकता विघटित नहीं होती है।[४] **(ख) नागेश के मतानुसार परिभाषा का ज्ञापक**— नागेश ने ज्ञापकत्व के उपपादन में अन्यों के मतों का विस्तृत व्याख्यान करते हुए खण्डन करके अपनी अभीष्ट ज्ञापकता प्रतिपादित की है। नागेश ऐसा मानते हैं कि 'अभ्यासस्यासवर्णे'[५] यह समस्त सूत्र इस परिभाषा में ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा। यदि कहें कि यह व्यर्थ नहीं है? 'इयेष', (इ+इष्+अ) 'इयाय' (इ+इ+अ) की सिद्धि के लिए आवश्यक है, परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता? तो इसका यही उत्तर है कि परिभाषा के अभाव में इन रूपों की सिद्धि में यह सूत्र व्यर्थ ही रहता है। द्वित्व से पहले किये हुए गुण (इ+एष्+अ) और पहले की गई वृद्धि (इ+ऐ+अ) रूप आदेश का 'द्विर्वचनेऽचि'[६] सूत्र से धातुत्व-निमित्त के लिए रूपातिदेश के द्वारा अपहार हो जाने पर 'इष्'[७] का तथा इ का ही द्वित्व[८] करने पर लक्ष्यभेद से पुन: गुण और बृद्धि प्राप्त होते हैं। उन्हें पूर्वोपस्थित-निमित्तस्वरूप अन्तरङ्ग होने से, सवर्ण-दीर्घ बाध लेगा। अत: पुन: गुण एवं बृद्धि के न होने से असवर्ण अच् न मिलने से यह सूत्र (अभ्यासस्य०) भी नहीं लगेगा। अत: सम्पूर्ण सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापक होता है। **(अ) अन्यत्र चरितार्थता का उपपादन**— यदि कहें कि 'इयर्ति' ('इयृत:' आदि) की सिद्धि के लिए यह सम्पूर्ण सूत्र आवश्यक है, वहाँ 'ऋ+ऋ+ति' अवस्था में अभ्यास में उरदत्व हलादिशेष तथा इत्व कर लेने पर 'इ+ऋ+ति' में सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं,[९] अत: यहाँ इयङ् सम्पादक होने से यह चरितार्थ हो जायगा? अत: ज्ञापक नहीं हो सकता? **खण्डन**— यह भी मानना ठीक नहीं, क्योंकि यदि इतना ही प्रयोजन होता तो 'अभ्यासस्यासवर्णे'[१०] इतना दीर्घ सूत्र न पढ़ते केवल 'उ:' (ऋ का षष्ठ्यन्त रूप) इतना ही पढ़ देते।[११] 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'[१२] सूत्र से यहाँ इ, उ की अनुवृत्ति आ जायगी और 'इणो यण्'[१३] सूत्र के साथ साहचर्य (सामीप्य) होने से तथा व्याख्यान से 'अचि

---

१. अष्टा०, ६/४/७८। २. अष्टा० ६/१/७७।
३. वही, ६/१/१०१। ४. गूढार्थ०, पृष्ठ ३१४।
५. अष्टा० ६/४/७८। ६. अष्टा०, १/१/५९।
७. गूढार्थ०, पृष्ठ ३१५। (स्थानी रूप से होकर)।
८. अष्टा० ६/१/८।
९. सवर्ण अच् न होने से 'इ+ऋ' यह स्थिति है।
१०. अष्टा० ६/४/७८। ११. प०शे०, पृष्ठ ३१६।
१२. अष्टा० ६/४/७७। १३. वही, ६/४/८१।

श्नु०'[१] में एकदेश (धातु) में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा करके भी धातु पद की अनुवृत्ति आने से ऋ धातु ही लिया जायगा। फलतः यहाँ धातु को ऋकार का विशेषण बनाकर 'धातोरुः' का अर्थ होगा— 'ऋ धातु से इ को इयङ् होता है'। इस प्रकार 'इयर्ति' आदि की सिद्धि हो जाती। तब अनेक लक्ष्यसंग्राहक सूत्र प्रणयन अनावश्यक था। पुनः जो प्रणयन किया गया है, उससे उक्त ज्ञापक सिद्ध होता है।[२]

(आ) कैयट, हरदत्त, सीरदेव, प्रकाशकृत, कौस्तुभकार द्वारा दिये गये हेतु का उपपादन तथा उसका खण्डन— उपपादन— इन लोगों ने 'अभ्यासस्यासवर्णे' की अन्यत्र चरितार्थता के खण्डन-प्रसङ्ग में यह हेतु दिया है कि यदि उक्त 'इयर्ति' इत्यादि ही प्रयोजन होता तो सम्पूर्ण सूत्र न पढ़कर 'अभ्यासस्यार्तौ' अथवा 'अभ्यासस्यार्तेः' इतना ही पढ़ते? पुनः जो पूर्ण सूत्र पढ़ा है, वह ज्ञापक ही है। **खण्डन**— नागेश इनके हेतुभूत उक्त न्यास का खण्डन करते हैं। यह इसलिए हेतु में युक्त नहीं है कि एक में मात्रा का गौरव तथा दूसरे में पद का गौरव है, गुरु होने से युक्त नहीं है। न्यास लघु होना चाहिए, तब तो कुछ सार्थकता होती। अतः 'उः' ऐसा ही कहना युक्त है।[३] **(इ) ज्ञापकत्व में शङ्का**— ए, ऐ, ओ, औ शब्दों से आचार अर्थ में 'क्विप्'[४] करने पर लिट् परे रहते इयङ् आदि करने के लिए यह सूत्र चरितार्थ (आवश्यक) है तथा 'औणृ'[५] धातु से ण्वुल्[६] करके 'ओणक' शब्द से इच्छा अर्थ में 'क्यच्'[७] करके, क्यजन्त 'ओणकीय'[८] नामधातु से पुनः इच्छा अर्थ में सन्[९] प्रत्यय करके 'उवोणकीयिषति' इत्यादि में उवङ् आदि के लिए भी आवश्यक है- अतः ज्ञापक नहीं हो सकता। **समाधान**— पूर्वोक्त कथन सम्भव नहीं है। **प्रथम प्रयोजन का उत्तर**— यह है कि 'दाश्वान् साह्वान्मीढ्वांश्च'[१०] सूत्र में प्रकृत परिभाषा के ज्ञापन के अवसर पर यह स्पष्ट है कि भाष्यकार ऐसे नामधातुज शब्दों का व्यवहार नहीं मानते हैं[११] और व्यवहृत शब्दों के अन्वाख्यान के लिए पाणिनि शास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इसी प्रकार अन्य अनेक सूत्रों[१२]

---

१. अष्टा०, ६/४/७७।

२. प०शे०, पृष्ठ ३१७, तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३१६-३१७।

३. मात्रा गौरव तथा पद गौरव का अभाव है।

४. का०वा० 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्येके' ३/१/११।

५. धातुपठ 'ओणृ' अपनयने। ६. अष्टा० ३/१/१३३।

७. अष्टा० २/१/१८।

८. ओणक, क्यच् 'अ' का ई होकर निष्पन्न।

९. अष्टा० ३/१/७। १०. म०भा० ६/१/१२।

११. गूढार्थ, पृष्ठ ३१७, पं० १०-१३।

१२. म०भा० ७/२/३।

के प्रामाण्य से भी उक्त ए, ओ, औ शब्दों से आचार अर्थ में क्विबन्त का अभाव सूचित होता है।[१] **दूसरे प्रयोजन का उत्तर**— उवोणकीयिषति यह प्रयोग तो असाधु ही है। क्योंकि ओणकीय अजादि होने से सन् परे रहते द्वितीय एकाच्[२] को द्वित्व होगा, प्रथम एकाच् को नहीं। इस प्रकार उक्त रूप का प्रयोग दुर्लभ ही है। अत: इस प्रकार उक्तरीति से 'ऋ' धातु से अन्यत्र सूत्र चरितार्थ न होने से और वहाँ 'उ:' से ही सिद्ध हो जाने से सूत्र व्यर्थ है। पुन: सम्पूर्ण सूत्र ज्ञापक है, यही मानना उचित है। **(ई) भाष्य विरोध का परिहार**— यद्यपि 'दाश्वान्साह्वान्मीढवांश्च'[३] सूत्र के भाष्य में 'जो यह आचार्य पाणिनि 'अभ्यासस्यासवर्णे'[४] सूत्र में 'असवर्ण' का ग्रहण करते हैं'' इत्यादि शब्दों से असवर्ण ग्रहण की ज्ञापकता झलकती है। तथापि गुण, बृद्धि को छोड़कर अभ्यास से परे कोई दूसरा असवर्ण हो ही नहीं सकता, इस ज्ञापक के उपपादक ग्रन्थ से सम्पूर्ण सूत्र[५] की ही ज्ञापकता सिद्ध होती है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ से पहले गुणादि की प्रवृत्ति दुर्लभ होने से उसके बिना असवर्ण लाभ न होने[६] से सूत्र व्यर्थ ही होता।[७]

(१) सम्पूर्ण सूत्र की ज्ञापकता में भाष्य प्रमाण— उसी उपर्युक्त सूत्र में इस उपक्रम के आगे भी यह ज्ञापक नहीं है, 'अर्ति' के लिए यह सूत्र चरितार्थ रहेगा इस भाष्य[८] से सूत्र की सार्थकता दिखाई गई है। यदि केवल 'असवर्ण' ग्रहण की ही ज्ञापकता मानी जाती तो उस प्रयोजन के खण्डन के अवसर पर तो असवर्ण ग्रहण को पृथक्रखकर उसकी ही सार्थकता दिखानी चाहिए थी, परन्तु ऐसा नहीं किया है। अत: इस भाष्य से भी यह निश्चित होता है कि सम्पूर्ण सूत्र ज्ञापक है।

(उ) 'अकृत०'[९] परिभाषा से ज्ञापक विघटन की शङ्का और समाधान — शङ्का— कौस्तुभकार[१०] आदि लोगों, 'इयेष' 'इयाय' के अनुसार की सिद्धि में 'अकृतव्यूहा: पाणिनीया:' इस परिभाषा के साहाय्य से अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ के न हो सकने से सूत्र की सार्थकता सम्भव है। यदि यहाँ दीर्घ न हो तो बहिरङ्ग गुण (अथवा

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ ३१७, पं० १४-१६ तथा पृष्ठ ३१८, पं० १-२।

२. अष्टा० ६/१/२ तथा का०वा० ६/१/२-३।

३. म०भा०, ६/१/१२। ४. अष्टा० ६/४/७८।

५. 'अभ्यासस्यासवर्णे' सम्पूर्ण सूत्र।

६. गुण एवं बृद्धि न होने से 'उवोख', 'इयाय' में असवर्ण अच् परक अभ्यास नहीं होता, यथा 'ए+उख+अ', 'इ+इ+अ' में सवर्ण अच् ही परे है।

७. गूढार्थ०, पृष्ठ ३१८, गदा, पृष्ठ १२४-१२५।

८. म०भा० ६/१/१२। ९. प०शे० परि०सं० ५६।

१०. द्र० श०को०।

बृद्धि) हो जायगी? ऐसी सम्भावना के होने से परिभाषा की प्रवृत्ति होती है तथा 'अकृतव्यूह०' परिभाषा अन्तरङ्ग कार्य की प्रतिबन्धक है। अन्तरङ्ग कार्य की प्रवृत्ति से पूर्व जहाँ बहिरङ्ग कार्य की प्रवृत्ति से अन्तरङ्ग के निमित्त के विनाश की सम्भावना है, वहाँ इसकी प्रवृत्ति होती है।[१] अत: इस परिभाषा से बहिरङ्ग गुण एवं बृद्धि होने पर 'इ+एष्+अ' तथा 'इ+ऐ+अ' इस अवस्था में 'अभ्यासस्यासवर्णे'[२] की प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार चरितार्थ होने से सम्पूर्ण सूत्र कैसे ज्ञापक हो सकता है? **समाधान**— भाष्यानारूढ़ होने से 'अकृतव्यूहा: पाणिनीया:' यह कोई परिभाषा नहीं है, यह नागेश का मत है, अत: ज्ञापक विघटन में कोई शङ्का नहीं है। **(१) कैयट रीति से उक्त शङ्का का समाधान**— यदि कैयट आदि के अनुसार इसका अस्तित्व माने तो भी इसकी प्रवृत्ति वहीं होती है, जहाँ अन्तरङ्ग कार्य की प्रवृत्ति के योग्य काल के पीछे[३] (जब अन्तरङ्ग कार्य होना चाहिए, उसके पीछे) अन्तरङ्ग कार्यनिमित्तविनाशक बहिरङ्ग विधि की प्राप्ति होती है। प्रकृत में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्यों की युगपत् प्राप्ति होने से परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[४] **(ऊ) अन्य प्रकार से ज्ञापक की चरितार्थता का उपपादन और उसका खण्डन— उपपादन**— कौस्तुभकार आदि के अनुसार यदि कहें कि इयाय में अन्तरंगत्व हेतुक सवर्ण दीर्घ एकादेश होने पर भी, उस सवर्ण दीर्घ एकादेश (ई) को पूर्व का अन्तवत् मानकर इ के अभ्यास होने से और स्वत: 'इ' वर्ण होने पर 'असवर्ण' (अ) होने से इयङ् विधान के लिए सूत्र चरितार्थ हो सकता है। प्रकृत में जो 'अभ्यासस्यासवर्णे'[५] की प्रवृत्ति से इयङ् हुआ है, वह 'अचि श्नुधातु०'[६] से नहीं हो सकता था। क्योंकि 'अभ्यासस्यासवर्णे' सूत्र 'वृद्धि' के बाधन के लिए है, जो वृद्धि इस उपर्युक्त सूत्र के अभाव में 'अचि श्नुधातु०' सूत्र से विहित इयङ् को बाध लेगी, अत: यह ज्ञापक नहीं हो सकता।

समाधान— वास्तव में यह विचार निस्सार है। 'अभ्यासस्यासवर्णे०' सूत्र में प्रत्यासत्ति (सामीप्य, साहचर्य) नियम से असवर्ण शब्द से ऐसा असवर्ण अच् लिया जाता है, जो अभ्यास के उत्तरखण्ड धातु का अच् है। यहाँ तो आतिदेशिक अभ्यास (ई) से परे णल् प्रत्यय का अच् है। (जिसको मानकर पूर्व की अभ्यास संज्ञा है, उसी को परे होने पर ऐसा साहचर्य नियम से अर्थ होता है)। इस प्रकार यहाँ इयङ् की प्राप्ति ही नहीं। अत: यह सूत्र वृद्धि के बाधने के लिए है। इस कल्पना की अपेक्षा परिभाषा

---

१. प०श०, पृष्ठ ३१९। २. अष्टा० ६/४/७८।

३. गूढार्थ०, पृष्ठ ३१९।

४. 'इयाय-' में 'इ+इ+अ' में सवर्ण दीर्घ के साथ ही बहिरंग विधि 'बुद्धि' से प्राप्त होती है।

५. अष्टा० ६/४/७८। ६. वही, ६/४/७७।

ज्ञापन के लिए है, यह मानना अधिक उचित है।[१]

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त : (किसी के मत के अनुसार) उपर्युक्त सूत्र[२] से जो यह परिभाषा इस प्रकार ज्ञापित हुई है, उस सूत्र-प्रवृत्ति-विषय के आलोचन से यह ज्ञात होता है कि यह वहीं प्रवृत्ति होती है, जहाँ जिस एक को अंगाधिकारीय कार्य प्राप्त होता हो, उसी का वार्ण कार्य भी प्राप्त हो।[३] **(क) उक्त का लाभ**— ऐसा स्वीकार होने पर ही 'सार्वधातुकमपित्'[४] सूत्र के भाष्य[५] में च्यवन्ते, प्लवन्ते इत्यादि में नित्य होने से और वर्णमात्रापेक्षी होने के कारण अन्तरङ्ग होने से भी 'अतो गुणे'[६] सूत्र से पररूप एकादेश करने पर पित् और अपित् ('अन्ते' का 'अ') के एकादेश को परादिवद्भाव से अपित् मानकर गुणाभाव की आपत्ति दिखाई गई है। यहाँ आंग कार्य गुण तथा वार्ण कार्य 'अतो गुणे' से पररूप समान कार्य वाले नहीं है, यह स्पष्ट किया है। यदि ऐसा नियम न हो तो आंग होने से पररूप से पहले ही गुण की प्रवृत्ति में इष्ट रूप की सिद्धि सुलभ होने से गुण के अभाव की आपत्ति का प्रदर्शन असंगत होगा। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी सिद्ध[७] होते हैं।

(ख) प्रवृत्ति निमित्त के विषय में सीरदेव आदि का मत तथा उसका खण्डन— (अ) सीरदेव आदि का मत— यह लोग मानते हैं कि यह परिभाषा वार्ण और आंग कार्यों का समान निमित्तकत्वरूप समानाश्रयत्व के होने पर ही प्रवृत्त होती है।[८] इसीलिए 'स्योनः' यहाँ गुण से पूर्व अन्तरङ्ग होने से यणादेश होता है। यह 'येन विधिः०'[९] सूत्र के भाष्य का वचन संगत होता है? ऐसा मानते हैं। **(आ) समाधान**— ऐसा मानना भ्रम मात्र है। उक्त अर्थ मानने पर परिभाषा के ज्ञापित होने पर भी इयाय इयेष आदि की सिद्धि न हो सकेगी? क्योंकि यहाँ सवर्ण दीर्घ[१०] का निमित्त दूसरा है और गुण एवं बृद्धि का अन्य है। इसलिए परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से पहले अन्तरङ्ग सवर्ण-दीर्घ हो जायेगा और तब 'अभ्यासस्यासवर्णे'[११] सूत्र की प्रवृत्ति का विषय नहीं रहेगा। फलतः[१२] सूत्र भी व्यर्थ ही रह जायगा? इस प्रकार स्वांश में चरितार्थ न होने

---

१. प०शे०, पृष्ठ ३२० तथा उ० ६/१/१२ एवं गूढार्थ०, पृष्ठ ३२०, म०भा० ३/१/९३।

२. अष्टा० ६/४/७८ सूत्र।

३. गूढार्थ०, पृष्ठ ३२१।

४. अष्टा०, २/१/४।

५. म०भा० २/१/४।

६. अष्टा०, ६/१/९७।

७. गूढार्थ०, पृष्ठ ३२१-३२२।

८. न्यास, सीरदेव, द्र० गदा, पृष्ठ १२६।

९. म०भा०, १/१/७२।

१०. अष्टा० ६/१/१०१।

११. अष्टा० ६/४/७८।

१२. 'अभ्यासस्यासवर्णे' सूत्र।

से ज्ञापकता की असंगति प्राप्त होती है।[१] इसी प्रकार 'स्योन:' में इस परिभाषा के अनित्य होने से अन्तरङ्ग यण् पहले हो जाता है, बाद में गुण होकर रूप सिद्ध होता है। **(१) ज्ञापित होने पर भी इयङ् की दुर्लभता की शङ्का**— परिभाषा के ज्ञापित होने पर भी 'इयाय' आदि में 'इयङ्' दुर्लभ है, क्योंकि इयङ् को करने में 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ'[२] सूत्र से बृद्धि (ऐ) के स्थानिवद्भाव से 'इ' ही पर है, असवर्ण अच् नहीं मिलेगा? स्थानिवत् से 'ए' में सवर्णाच्त्व होने से उक्त सूत्र से 'इयङ्' नहीं हो सकता।[३] **समाधान**— स्थानिवदभाव मानने से कहीं भी असवर्ण अच् नहीं मिलेगा, तब सूत्र निर्विषय होकर व्यर्थ हो जायगा। अत: सूत्र व्यर्थ न हो, इसलिए सूत्रारम्भ सामर्थ्य से यहाँ स्थानिवद्-भाव नहीं होता है, ऐसा माना जाता है। **ज्ञापक की सामान्यापेक्षिता**— इस सूत्र का भी 'सामान्यापेक्ष' ज्ञापक है। जब अभ्यास को कार्य[४] करते हैं, तो अभ्यास का जो उत्तरखण्ड, उसका जो आदेश,[५] वह आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यदि उसके स्थानिवद्भाव से अभ्यास का कार्य रुक जाय।[६]

(क) उक्त से लाभ— उक्त ज्ञापक के अभ्यासकार्यमात्र विषयक मानने से ही 'आरति'[७] इत्यादि की सिद्धि होती है। 'अर्+र्+अति' इस अवस्था में यहाँ ऋ के स्थान में हुआ यणादेश 'र्' स्थानिवद्भाव[८] से 'ऋ' है। अत: रेफ लोपाभाव-निमित्तक परत्व के अभाव में दीर्घ नहीं होना चाहिए था। यहाँ स्थानिवद्भाव होने से अभ्यास कार्य, दीर्घत्व रुकता है, अत: स्थानिवद्भाव नहीं होगा। फलत: उक्त रूप सिद्ध हो जाता है।[९]

(ख) अभ्यास के कार्य के प्रतिबन्धक रूप प्रयोजन का लाभ— अभ्यास के कार्य का प्रतिबन्धक न होने से 'अरिप्रियात्'[१०] में 'अरि+ऋ+यात्' इस अवस्था में इयङ् को बाधकर परत्व[११] से अभ्यासोत्तर खण्ड 'ऋ' को 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु'[१२] सूत्र से 'रि' (ङ्) आदेश होता है। पुन: 'अरि+रियात्' इस 'रि' को स्थानिवद्भाव करके 'ऋ' होने से, अभ्यास के इ को इयङ् आदेश होता है।[१३] यहाँ स्थानिवद्भाव से प्राप्त

---

१. गदा, पृष्ठ १२६। २. अष्टा० १/१/५७।

३. गूढार्थ०, पृष्ठ ३२४-३२५ एवं गदा, पृष्ठ १२६।

४. अष्टा० ६/४/७८ तथा अष्टा० ७/४/५८ से ७/४/९८। गूढार्थ०, पृष्ठ ३२५।

५. गदा, पृष्ठ १२७। ६. गूढार्थ०, पृष्ठ ३२५।

७. 'ऋ' धातु, यङ्, उसका लुक्, लट्, परस्मैपद, प्र०पु०बहु०।

८. अष्टा० १/१/५७। ९. गूढार्थ०, पृष्ठ ३२६।

१०. ऋ धातु, यङ् लुगन्त में आर्शीर्लिङ् तिप्।

११. अष्टा०, ६/४/७८ तथा रिङ् विधायक सूत्र सं० ७/४/२८।

१२. अष्टा० ७/४/२८.

१३. गूढार्थ०, पृष्ठ ३२७-३२८, पं० १-५।

ऋ अभ्यासकार्य इयङ्[१] को नहीं रोकता, अतः स्थानिवद्-भाव हो जाता है।

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल : यह परिभाषा अंगाधिकारीय आंग-कार्य की कर्तव्यता में ही प्रवृत्त होती है, यह 'स्वरिते वाऽनुदात्ते पदादौ'[२] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है। इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार यह नहीं कहते कि 'कुमारी+ङे' (ए) में आट् आगम करने से पहले ई का यण् हो जाता है। परन्तु उनका यह विचार करना कि 'कुमार्य् ए' में 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्'[३] सूत्र से प्राप्त ए को पहले स्वर करें अथवा ए को आट् आगम पहले करें। यह सूचित करता है कि उनके मत में ई के स्थान में यण् पहले होता है और आट् पश्चात् प्रवृत्त होता है। अब यदि ई के स्थान में यण् पहले होता है, यद्यपि ए को आट् आगम अंगाधिकारीय[४] हैं, तथापि इससे यही विदित होता है कि यह परिभाषा यहाँ नहीं प्रवृत्त होती। क्यों नहीं होती? इसलिए कि ऐ को आट् आगम अंगाधिकारीय तो है, पर अंग कुमारी को उद्दिष्ट करके विधान नहीं किया गया है, अन्यथा इस परिभाषा से यण् से पहले आट् की ही प्रवृत्ति कहनी उचित थी।[५]

परिभाषा की अनित्यता : यह परिभाषा अनित्य है, इसमें 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च'[६] सूत्र में तुक् सहित 'च्छ' का ग्रहण ज्ञापक हैं। तुक् सन्धिकार्य है।[७] 'छे च' सूत्र से छ परे ह्रस्व को तुक् आगम विधान किया गया है। यदि परिभाषा नित्य होती तो तुक् होने से पहले अंगाधिकारीय कार्य छ को श[८] आदेश हो जाता, श होने पर 'तुक् का प्रसङ्ग ही नहीं रहता। पुनः आचार्य ने जो तुक् सहित 'च्छ' का ग्रहण करके, उसे श् आदेश विधान किया है, उससे ज्ञापित होता है कि वार्ण-कार्य भी कहीं-कहीं अन्तरङ्ग होने के कारण पहले हो जाता है। अतः शादेश से पूर्व अन्तरङ्ग होने से तुक् हो जाने पर, उस तुक् विशिष्ट छ को आदेश के लिए सतुक्व 'छ' का ग्रहण किया है।[९]

परिभाषा का प्रयोजन : परिभाषा के होने से 'इयाय', 'इययिथ' इत्यादि प्रयोगों में वार्ण कार्य, सवर्ण दीर्घ एकादेश रूप अन्तरङ्ग है और आंग कार्य गुण एवं वृद्धि है। उस वर्ण कार्य से अंग का कार्य बलवान् होने से, अन्तरङ्ग सवर्ण दीर्घ को बाधकर गुण एवं बृद्धि पहले होकर 'इ+ऐ+अ', 'इ+ए+थ' में सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति न होने से 'आय्', 'अय्' आदेश करके 'इ+आय्+अ' तथा 'इ+अयि+थ' में प्रकृतसूत्र से इयङ्

---

१. अष्टा० ६/४/७८। २. म०भा० ८/२/६।
३. अष्टा० ६/१/१७४।
४. 'अंगस्य' अष्टा० ६/४/१ से अंगाधिकार।
५. गदा०, पृष्ठ १२७-१२८। ६. अष्टा० ६/४/१९।
७. वही, ६/१/७३। ८. वही, ६/४/१९।
९. श०शे०, पृष्ठ एवं गदा, पृष्ठ १२८-१२९।

आदेश होकर उक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार 'भू+अति' में यण् को बाधकर गुण[१] इसी परिभाषा से होता है— इसी प्रकार अनेकानेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : पूर्ववर्ती अन्य परिभाषाओं की भांति प्रस्तुत परिभाषा भी अन्तरङ्ग की बलवत्ता का परिसीमन प्रस्तुत करती है। वर्ण-सम्बन्धी अन्तरङ्ग कार्य की अपेक्षा, बहिरङ्ग भी अंग सम्बन्धी कार्य बलवान् होता है, यही इसका विषय है। यह व्याडि, शाकटायन प्रभृति[२] आचार्यों ने अपने परिभाषा पाठों में नहीं पढ़ी है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में पाठ किया है।[३] नागेश का आधार यही है। नांगेश ने इस परिभाषा की विस्तृत व्याख्या की है। इस परिभाषा के ज्ञापक के विषय में प्राचीन आचार्यों तथा नागेश में पर्याप्त मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर 'अभ्यासस्यासवर्णे'[४] सूत्र में 'असवर्ण' ग्रहण का ज्ञापक मानते हुए विधिवत् उपपादन भी करते हैं।[५] परन्तु नागेश इसके विपरीत 'अभ्यासस्यासवर्णे' इस सम्पूर्ण सूत्र की ही ज्ञापकता स्वीकार करते हैं। इसके लिए उन्होंने ज्ञापकत्व के उपपादन में प्राचीन मत का उल्लेख करते हुए शङ्का समाधानपूर्वक अति विस्तार से अपना पक्ष सहेतुक एवं सप्रमाण निरूपित किया है। इस प्रसङ्ग में मध्य-मध्य में कैयट, हरदत्त, दीक्षित, प्रकाशकृत तथा न्यासकार आदि का खण्डन किया है। दीक्षित का तो अति विस्तार से खण्डन किया है।[६]

इस परिभाषा के प्रवृत्ति विषय में भी नागेश तथा पूर्व आचार्यों में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव एवं नीलकण्ठ इस परिभाषा की प्रवृत्ति वार्ण और आंग कार्यों के समान निमित्तक होने पर ही होती है, व्याश्रय में दोनों कार्यों के भिन्न निमित्तक होने पर प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा मानते हैं।[७] हरिभास्कर व्याश्रय निमित्तक में भी प्रवृत्ति मानते हैं। इसमें वे न्यासकार का अनुकरण करते हुए ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं।[८] परन्तु नागेश इनका खण्डन करते हुए आंग और वार्ण कार्य के समान कार्यिक- समान स्थानिक होने पर मानते हैं तथा समानस्थानिक कार्य न होने पर प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसा मानते हैं। विस्तार से इसका उपपादन करते हुए अंग के अधिकार में होने वाले आंग कार्य

---

१. 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' अष्टा० ७/३/८४।

२. चान्द्र, कातंत्र, जैनेन्द्र, भोज, हेमचन्द्र।

३. परि संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। ४. अष्टा० ६/४/७८।

५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ७४, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ६६, नीलकंठवृत्ति परि०सं० ६०, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६८।

६. गदा, पृष्ठ १२२-१२५।

७. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। ८. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६८।

करने में ही प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं।[१] अनिष्ट में अप्रवृत्ति के लिए इस परिभाषा की अनित्य की कल्पना की जाती है। इस आधार पर नीलकण्ठ इस परिभाषा को अनित्य मानते हैं। इसका ज्ञापक उन्होंने 'च्छ्वोः' शूड०'[२] आदि सूत्र में सतुक् 'च्छ' ग्रहण माना है। नागेश भी इन्हीं का अनुकरण करते हैं। इस प्रकार इस परिभाषा की व्याख्या में नागेश की अपनी मौलिक चिन्तना परिलक्षित होती है। न्यासकार तथा दीक्षित आदि सभी का खण्डन सहेतुक किया है।

(४६) अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः।।प०५६।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह होती है कि (पूर्वोपस्थित निमित्तकत्व रूप) अन्तरङ्ग की सर्वथा प्रथम प्रवृत्ति होती है या पूर्वोक्त[३] विषयों में ही अन्तरङ्ग परिभाषा अप्रवृत्त होती है, ऐसा मानने पर 'सेदुषः' (एत्वाभ्यास-लोप होने पर) 'सेद्+इ+वस्' यहाँ 'क्वसु' (लिट् का आदेश) वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है, इसे निमित्त मानकर 'वस्वेकाजाद्धसाम्'[४] सूत्र से अन्तरङ्ग होने से प्रथम[५] ही 'इट्' हो जाता है। उसके बाद, विभक्ति उत्पन्न होने पर शस् आता है, उसको निमित्त मानकर सम्प्रसारण[६] होता है अतः वह बहिरङ्ग है, अतः पश्चात् प्रवृत्त होता है। इस अवस्था में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'[७] इस परिभाषा से बहिरङ्ग सम्प्रसारण के असिद्ध होने से 'इट्' का श्रवण प्रसक्त होता है। उसके फलस्वरूप तत्स्थानिक 'यण्' का श्रवण प्रसक्त है।[८] इस आपत्ति के वारण के लिए कुछ[९] लोग इस एक परिभाषा को स्वीकार करते हैं। उस परिभाषा के विषय में विद्वानों में तीन मत पाये जाते हैं। सबने अपने-अपने दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की है। नागेश ने इस सम्बन्ध में दो मतों के उल्लेख के साथ अपना मत व्यक्त किया है। **(१)** नागेश के पूर्ववर्ती सीरदेव, दीक्षितादि का मत, **(२)** कैयट प्रतिपादित नागेशाभिमत मत। परिभाष का निम्न स्वरूप है। **(१) पूर्ववर्ती सीरदेवादि के अनुसार**

---

१. गदा, पृष्ठ १२६-१२७। २. अष्टा० ६/४/१९।

३. परि० ५१ से ५४ तक, 'अजानन्तर्य', लुक्, ल्यप्, पूर्वोत्तर-पद-निमित्तक कार्यों में ही.

४. अष्टा० ७/२/६७।

५. 'सेद्+वस्' के समय सम्प्रसारण निमित्तक विभक्ति का अभाव है। अतः निमित्ताभाव होने से वह प्राप्त नहीं है। अतः वलादिलक्षण इट् पूर्वप्रवृत्त हो जाता है।

६. 'वसोः सम्प्रसारणम्' अष्टा० ६/४/१३१।

७. प०शे०, परि०सं० ५०।

८. तत्त्वा०, पृष्ठ १२३-१२४ एवं गूढार्थ०, पृष्ठ ३२९-३३०।

९. व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकंठ, हरिभास्कर, दीक्षित, कैयट आदि।

व्याख्या— परिभाषा का सामान्य अर्थ— पाणिनि के शिष्यों का ऐसा निश्चित मत है कि ऐसे बहिरङ्ग कार्य द्वारा, जिससे अन्तरङ्ग कार्य के निमित्त के विनाश की सम्भावना है, वहाँ अन्तरङ्ग कार्य नहीं करते हैं।[१]

परिभाषा का शब्दार्थ— 'अकृतव्यूहा:'[२] यह बहुव्रीहि-गर्भ-नञ्तत्पुरुष है। 'ऊह' का अर्थ निश्चय है, विशिष्ट ऊह: - व्यूह:। 'कार्य'- प्रतिभाविनि-निमित्तविनाशे'- इतना शेष अध्याहार्य है। तब इसका पूर्ण अर्थ होता है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा के अस्तित्व में ये लोग 'समर्थानां प्रथमाद् वा'[३] सूत्र में 'समर्थानाम्' इस शब्द के ग्रहण को ज्ञापक मानते हैं। 'समर्थानाम्' में 'समर्थ' शब्द का अर्थ 'कृतसन्धि-कार्य' है। सम्बद्धार्थ यहाँ विवक्षित नहीं। ज्ञापक इस प्रकार होता है— 'सूत्थितस्यापत्यम् पुमान्'- इस अर्थ में 'सु+उत्थित+इ' में दीर्घ-एकादेश करके 'सूत्थित' शब्दरूप से प्रत्यय[४] को उत्पत्ति हो, इसीलिए सूत्र में 'समर्थानाम्' यह पठित है। परिभाषा के अभाव में अन्तरङ्ग[५] होने से दीर्घ होने पर ही प्रत्यय की उत्पत्ति होगी, तो समर्थ ग्रहण व्यर्थ रहता है। इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर यहाँ भाविनी, 'इ' निमित्तक बहिरङ्गभूत आदिबृद्धि से अन्तरङ्ग दीर्घ के निमित्त सवर्ण अचो के आनन्तर्य का विनाश स्पष्ट ही है। इस प्रकार वहाँ इस परिभाषा से पहले सवर्ण दीर्घ नहीं हो सकता था। अत: अकृत-सन्धि के निषेध के लिए वह समर्थ ग्रहण है। **(क) ज्ञापक की चरितार्थता का विघटन प्रयास— शङ्का—** यदि कोई यह कहे कि 'सूत्थित' में एकादेश दीर्घ 'ऊ' के निमित्त (सु का) 'उ+उ' का, बृद्धि से नाश नहीं हो सकता, क्योंकि एकादेश प्रवृत्तिकाल में बृद्धि का कोई अवसर नहीं है, क्योंकि बृद्धि का निमित्त 'इ' अभी नहीं है।[६] अत: यह परिभाषा यहाँ न प्रवृत्त हो सकने से 'समर्थ' ग्रहण स्वांश में चरितार्थ नहीं है? **समाधान—** यह आक्षेप पूर्वोक्त कथन को अनुपपन्न नहीं करता है। बृद्धि हो जाय तो एकादेश नहीं होता, इतने से परम्परया एकादेश के निमित्त 'उ+उ'

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ ३३० एवं गदा०, पृष्ठ १२९।

२. कृतो व्यूहो यैस्ते कृतव्यूहा:, ते न भवन्ति इति 'अकृतव्यूहा:'।

३. अष्टा० ४/१/८२।

४. 'सूत्थितस्यापत्यम्-' इस अर्थ में 'सूत्थित' शब्द से 'अत इञ्' अष्टा० ४/१/९५ से इञ् प्रत्यय।

५. क्रम से अन्वाख्यान में पूर्वोपस्थित सवर्ण अच् रूप निमित्तक होने से अन्तरङ्ग है। अर्थात् प्रथम 'सु+उत्थित' का अन्वाख्यान करके, इसका ही कार्य प्रथम किया जाता है। — द्र० गूढार्थ०, पृष्ठ ३३१।

६. क्रमिक अन्वाख्यान पक्ष में 'सु+उत्थित' अवस्था में सुप् तथा 'इञ्' का अभी तक अन्वाख्यान नहीं हुआ, द्र० गूढार्थ०, पृष्ठ ३३२।

का भी विनाश हो जाता है। इसमें कुछ भी अनुपपन्न नहीं है। **(ख) ज्ञापक चरितार्थता का विघटन का द्वितीय तर्क— शङ्का—** इसी प्रकार यह कहना कि 'सौत्थितिः'[१] में एकादेश (उ) के निमित्तों का बृद्धि से विनाश नहीं होता, क्योंकि बृद्धि बहिरङ्ग है और अन्तरङ्ग परिभाषा से असिद्ध है। अतः परिभाषा से प्रवृत्ति न हो सकेगी?[२] **समाधान—** यह शङ्का निर्दोष नहीं है, क्योंकि सूत्र[३] में 'समर्थानाम्' के ग्रहण से यह भी ज्ञापित होता है कि जहाँ कहीं वर्तमान[४] परिभाषा की प्रवृत्ति होती है वहाँ अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती। यदि अन्तरङ्ग परिभाषा प्रवृत्त हो तो 'समर्थानाम्' का ग्रहण व्यर्थ हो जाय, इस प्रकार यह ज्ञापक है।[५] **(ग) पुनः शङ्का—** किसी का यह मत है कि सूत्र में 'समर्थानाम्' के ग्रहण से अन्तरङ्ग परिभाषा अनित्य है, यही ज्ञापित होता है? **समाधान—** यह मानना भी भ्रान्ति है, क्योंकि अन्तरङ्ग परिभाषा, अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में, समकाल प्राप्तिक तथा पूर्वजात बहिरङ्ग कार्य की असिद्धता की बोधिका है, न कि अन्तरङ्ग होने के पश्चात् प्राप्त (भावी) बहिरङ्ग की असिद्धता की बोधिका[६] है। ऐसा अर्थ न होने पर ही 'सूत्थित' में 'उ+उ' के स्थान में एकादेश 'ऊ' अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति के कारण नहीं होता तो 'समर्थानाम्'[६] का ग्रहण इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापन कैसे करता हैं?

परिभाषा का अस्तित्व-विषयक विचार : शङ्का यह है 'अकृतव्यूहाः०' के स्वीकार करने में 'अन्तरंगानपि विधीन्'[७] बहिरङ्गों लुक् बाधते'[८] इत्यादि परिभाषाओं का उच्छेद हो जायगा? यह शङ्का भी अनवबोध मूलक है, उनका भी इसी परिभाषा में अन्तर्भाव हो जाता है। (अर्थात् उन दोनों लुक् तथा ल्यब् विषय में भी नहीं प्रवृत्त होता है)। इसे सिद्ध करने के लिए यह प्रतिपादन आवश्यक है कि इस परिभाषा की प्रवृत्ति न केवल वहाँ होती है जहाँ भावी बहिरङ्ग कार्य से अन्तरङ्ग के निमित्त का वास्तविक विनाश होता हो, किन्तु वहां भी प्रवृत्त हो जाती है जहाँ बहिरङ्ग की प्रवृत्ति से अन्तरङ्ग-निमित्त-विनाश की सम्भावना मात्र होती है। यदि एकादेश न हो तो बृद्धि हो ही जायगी, इस प्रकार की सम्भावना है ही।

---

१. 'सूत्थितस्यापत्यम्' इस अर्थ में सूत्थित से 'इञ्' प्रत्यय, आदि बृद्धि होकर निष्पन्न।

२. गूढार्थ०, पृष्ठ ३३३। ३. 'समर्थानां प्रथमाद्वा' सूत्र में।

३. 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इस परिभाषा के विषय में।

४. तत्त्वा०, पृष्ठ १२७।

५. प०शे० पृष्ठ ३३४ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३३० तथा गदा, पृष्ठ १३१।

६. 'समर्थानां प्रथमाद्वा' में 'समर्थानाम्' ग्रहण।

७. प०शे० परि०सं० ५२।

८. 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब्बाधते' — परि०सं० ५४।

(क) उक्त अर्थ की प्रवृत्ति में प्रमाण— इसलिए 'गोमत्+सु+दण्डिन्+सु'[१] ('गोमद्-दण्डी-कर्मधारय) इत्यादि में 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्'[२]सूत्र से 'सु' का लोप नहीं होता, किन्तु 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:'[३] सूत्र से सु-लुक् होता है। यदि सम्भावना को भी निमित्त न माना जाय (तो जिस कारण यहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होगी) तो जिस काल में 'गोमत्+सु' यहाँ सु का लोप होगा। उस समय सु-लुक् की प्राप्ति नहीं, जिसका प्रसङ्ग तभी होता है जब गोमत् और दंण्डिन् का समास हो। लोप[४] होने के पश्चात् लुक् हो तो उसका अपहार्य होगा ही नहीं, क्योंकि लोप के द्वारा पहले से ही उसका अपहार हो जाता है। अत: लोप की ही आपत्ति होगी? उक्त अर्थ स्वीकार करने पर तो यदि लोप न हो तो लुक् हो जायेगा, ऐसी सम्भावना है। इस सम्भावना के होने से प्रकृत परिभाषा यहाँ 'गोमत्+सु दण्डिन्+सु' में प्रवृत्त होगी तथा सु+लोप न होकर सुलुक् होगा, जिससे इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा।[५]

परिभाषा की अनित्यता तथा इसमें ज्ञापक : इन विद्वानों के अनुसार यह परिभाषा अनित्य है। इसमें निम्न ज्ञापक मानते हैं। 'अल्लोपोऽन:'[६] सूत्र में अल्लोप में 'अ' को जो तपर किया है, वह इसमें ज्ञापक है, अन्यथा वह व्यर्थ (रहता) ही है, क्योंकि 'आन:' में आ-लोप के वारण के लिए सूत्र में तपर किया है। यदि यह परिभाषा नित्य होती तो 'आन:' में अवश्य प्रवृत्त होती, क्योंकि यदि यहाँ 'अनुनासिकस्य क्विझलो: क्ङिति'[७] सूत्र से 'अन्+क्विप्+शस्' में दीर्घ न हो तो 'अल्लोपोऽन:' सूत्र से अ-लोप हो जाय, ऐसी सम्भावना है। सम्भावना रूप निमित्त के होने पर परिभाषा की प्रवृत्ति मानने से 'अ' को कभी भी दीर्घ न होगा,[८] जिससे सूत्र में तपर-करण व्यर्थ हो जायगा तथा क्विबन्त 'आन:' रूप सिद्ध न होगा। इस प्रकार यह परिभाषा अनित्य ही है, ऐसा दीक्षित, सीरदेव आदि का मत है।

(२) कैयट मत के अनुसार परिभाषा की व्याख्या— परिभाषा का सामान्य अर्थ : 'समर्थानां प्रथमाद् वा'[९] इस सूत्र के भाष्य-प्रदीप[१०] में कैयट इस परिभाषा का अन्य अर्थ प्रतिपादित करते हैं। पाणिनीय सम्प्रदायानुयायियों का, निमित्त के कारण

---

१. 'गोमद् चासौ दण्डी चेति' — गोमद्दण्डी, कर्मधारय समास।

२. अष्टा०, ६/१/६८। ३. वही, २/४/७१।

४. अष्टा०, ६/१/६८।

५. गूढार्थ०, पृष्ठ ३३५ 'न लुमताङ्गस्य' से प्रत्यय लक्षण का निषेध होकर 'नुम्' नहीं होगा।

६. अष्टा० ६/४/१३४। ७. अष्टा०, ६/४/१५।

८. अष्टा० ६/४/१५। ९. वही, ४/१/८२।

१०. प्र० ४/१/८२ 'कृतवर्णानुपूर्वीकम्०' इत्यादि की व्याख्या।

के विनाश होने पर भी कार्य स्थित रहे, ऐसा व्यूह-निश्चय नहीं है अर्थात् निमित्त के नष्ट हो जाने पर नैमित्तिक भी नष्ट हो जाता है, यही परिभाषा का तात्पर्यार्थ है।[१]

परिभाषा का ज्ञापक : यह 'समर्थानां प्रथमाद् वा'[२] सूत्र में 'समर्थानाम्' के ग्रहण से ज्ञापित होती है, इसे स्वीकार करते हैं। वह निम्न प्रकार से ज्ञापक सिद्ध करते हैं। उस सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण इसलिए किया गया है कि 'सूत्थित'[३] से 'इञ्'[४] प्रत्यय होने पर इ-निमित्तक वृद्धि[५] पहले हो जाने के कारण दीर्घ एकादेश 'ऊ' की निवृत्ति हो जाने पर 'सावुत्थिति:'[६] रूप न हो। (भाव यह है कि सवर्ण दीर्घ 'स्थानी' की निवृत्ति करता है)। सुत्थिति- 'सु+उत्थित+इञ्') यहाँ सवर्ण दीर्घ ऊकार, जो उकारद्वय (उ+उ) की निवृत्ति का निमित्त है, उसका आदिबृद्धि द्वारा अपहार हो जाने से नैमित्तिक (-स्थानी रूप दो उकारों की निवृत्ति) का अपहार हो जाता है अर्थात् दो उकारों की (उ+उ) सत्ता उत्पन्न हो जाती है। अब बाध+ऊकार को बृद्धि औ हो जाने पर 'सौ+उत्थित किये हुए 'इञ्'- इस अवस्था में 'आव्' आदेश होकर 'सावुत्थिति:' रूप न हो, इसलिए समर्थ ग्रहण किया है) यहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होने पर एकादेश नहीं हो सकने[७] से उक्त रूप प्राप्त ही था। अत: 'समर्थ ग्रहण' किया गया है।

इसको मानने में हेतु : वस्तुत: ज्ञापक की अपेक्षा न करने के कारण यह कैयट सम्मत परिभाषार्थ ही युक्त है। (आद्य मत ज्ञापक-सिद्ध युक्त नहीं है इस पक्ष में लाघव है) यह लोकन्यायसिद्ध भी है। लोक में निमित्त दो प्रकार का माना जाता है। **(१)** निमित्त कार्य की स्थिति का नियामक होता है अर्थात् जब तक निमित्त रहे, तब तक नैमित्तिक (कार्य) रहता है, निमित्त के नाश होने पर नैमित्तिक नष्ट हो जाता है। **(२)** ऐसा जो कार्य स्थिति का नियामक नहीं होता। निमित्त के नाश के साथ नैमित्तिक का नाश नहीं भी होता है।[८]

(१) उक्त निमित्त में प्रमाण— (अ) प्रथम उदाहरण— प्रथम निमित्त के दो उदाहरण दिये जाते हैं— न्याय शास्त्र में अपेक्षा-बुद्धि को द्वित्व संख्या के प्रति निमित्त माना गया है। जब तक यह अपेक्षा बुद्धि रहती है, तब तक द्वित्व संख्या का बोध

---

१. प०शे०, पृष्ठ ३३६। २. अष्टा० ४/१/८२।

३. 'सु+उत्थित' — 'सूत्थित' सवर्णदीर्घभूत रूप।

४. अष्टा॰ अत इञ् ४/१/९५। ५. अष्टा० ७/२/११७।

६. 'सु+उत्थित' में सवर्ण दीर्घ न होने से, बिना समर्थ ग्रहण किये उक्त रूप प्राप्त था।

७. प०शे०, पृष्ठ ३३७ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३३७।

८. न्यायशास्त्र।

रहता है। अपेक्षा-बुद्धि के नाश होने पर द्वित्व संख्या नहीं रहती है।[१] **द्वितीय उदाहरण**— वेदान्तशास्त्र[२] में प्रारब्ध कर्म अविद्या की विक्षेप नामक शक्ति का नियामक माना गया है। विक्षेप-शक्ति संसार की कल्पना करती है, जिन कर्मों को भोगने के लिए वर्तमान शरीर की उत्पत्ति हुई है, उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध भोग से ही नष्ट होता है। जब यह प्रारब्ध कर्मभोग से क्षीण हो जाता है तो विद्या की विक्षेप शक्ति भी क्षीण हो जाती है।[३] **(२) द्वितीय निमित्त का उदाहरण**— इसके विपरीत कुलाल के दण्डचक्रादि से उत्पन्न हुआ घट, दण्डादि के नाश होने पर भी अवस्थित रहता है।[४] इस प्रकार उक्त दो निमित्तों के रहते हुए भी इस व्याकरण शास्त्र में लक्ष्यानुसार व्यवस्था की जाती है। यहाँ प्रथम प्रकार के निमित्त का आश्रयण कर इसको लोकन्यायसिद्ध कहा जाता है— **(१)** कहीं कारण की निवृत्ति में कार्य की निवृत्ति देखी जाती ही है। जैसे 'सेदुषः' में सम्प्रसारण द्वारा 'इट्' के निमित्त वलादित्व के चले जाने पर तन्निमित्तक 'इट्' भी चला जाता है। **(२)** कहीं कारण की निवृत्ति में कार्य की निवृत्ति नहीं भी होती है। जैसे 'पट्व्या' यहाँ (पटु+ई+आ) पर यण् द्वारा पूर्व यण् का निमित्त ईकार नष्ट हो जाता है, परन्तु पूर्व यण् निवृत्त नहीं होता।

आद्य मत में न्याय की असिद्धता का प्रतिपादन : कैयट अपने मत को दृढ़ करते हुए दीक्षितादि मत के न्याय का खण्डन करते हैं। इनके अनुसार भावी-निमित्त-विनाश के कारण पहले से ही तन्निमित्तक कार्य नहीं होता, यह कोई न्याय नहीं है, न इसमें कोई युक्ति है और युक्त कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता है। अतः यह कहना अयुक्त ही है।[५] **दीक्षितादि के मत के ज्ञापकत्व का भी खण्डन :** जब सूत्र में 'समर्थानाम्' ग्रहण लोकसिद्ध अर्थ को ज्ञापित करके चरितार्थ हो सकता है तो लोक में असिद्ध अपूर्व ऊपर कहा हुआ 'भावि-निमित्त-विनाशे०' इत्यादि निष्प्रमाण परिभाषार्थ को क्यों माना जाय? लोकन्यायसिद्ध अर्थ ही मानना ठीक है।[६]

(३) परिभाषा के विषय में नागेश का मत— परिभाषा का सामान्य रूप— नागेश इस परिभाषा को नहीं स्वीकार करते हैं, क्योंकि इससे सिद्ध होने वाला कार्य अन्यथासिद्ध है। उनका कहना है कि 'सेद्वस् अस्' ('सेदुषः' में) इस प्रकार पद-विभाग पूर्वक (पदघटक विभक्ति पर्यन्त) संस्थापन करके साधुत्व का अन्वाख्यान[७] करने में 'अस्' (शस्) को मानकर सम्प्रसारण[८] ('वस्' के 'व्' को 'उ') तथा 'वस्' को वलादि

---

१. न्यायशास्त्र।
२. वेदान्त।
३. गूढार्थ०, पृष्ठ ३३७।
४. गूढार्थ०, पृष्ठ ३३७।
५. प०शे०, पृष्ठ ३३८।
६. वही, पृष्ठ ३३८।
७. प०श०, पृष्ठ ३३८।
८. अष्टा०, ६/४/१३१।

होने से 'इट्'[१] आगम प्राप्त होता है। इसमें सम्प्रसारण प्रतिपदोक्त है, षष्ठ्यन्त 'वसु' शब्दविशेष को उच्चारण करके विधान किया गया है[२] तथा सम्प्रसारण द्वित्वादि की अपेक्षा नहीं करता, अत: सम्प्रसारण की उपस्थिति शीघ्रता से हो जाती है।[३] इस प्रकार सम्प्रसारण प्रथमत: हो जाता है। पश्चात् (सम्प्रसारण एवं) पूर्व-रूप[४] हो जाने पर, परे वलादि प्रत्यय[५] न रहने से इट् की प्राप्ति ही नहीं। इसी से 'सेदुष:' की सिद्धि हो जायगी। फलत: 'अकृतव्यूह०' परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

अपने मत के समर्थन में कैयट का भी प्रमाण : ऐसा पूर्वोक्त अर्थ तथा सम्प्रसारण का प्रतिपदविधि रूप प्रकारान्तर से (बलवान् होने से) कार्य सिद्ध होता है, परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं है, यह 'समर्थानांप्रथमाद् वा'[६] तथा 'असिद्धवदत्राभात्'[७] इन सूत्रों के प्रदीप में कैयट का आशय स्पष्टत: द्रष्टव्य है।

प्रतिपदविधि की अपवाद सकमक्षता : कैयट[८] प्रतिपदविधि को अपवाद के समकक्ष मानते हैं तथा नागेश[९] भी इसको अपवाद के तुल्य मानते हैं। अतएव उक्त उदाहरण में अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि प्रतिपदविधि अपवाद के तुल्य होने से बाधक है। इसकी बाधकता के कारण को स्पष्ट करते हुए नागेश कहते हैं कि यद्यपि प्रतिपदविधि अनवकाश होने पर ही[१०] बाधक होती है, दूसरी विधि को बिना बाध किये उसे अपनी प्रवृत्ति का अवसर ही नहीं मिलता, तो भी प्रतिपदोक्त होने से ही यह पूर्व प्रवृत्त हो जाती है,[११] भले वह सावकाश हो। विस्तार से 'शब्देन्दुशेखर'[१२] में द्रष्टव्य है। अत: पूर्व प्रवृत्ति में अनवकाशत्व की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

'समर्थानाम्' के ज्ञापकत्व का खण्डन तथा उसका प्रयोजन : नागेश के अनुसार 'समर्थानां०'[१३] ग्रहण परिभाषा का ज्ञापक नहीं बनता है। यह समर्थ ग्रहण

---

१. अष्टा० ७/२/६७।

२. अष्टा०, ६/४/१३१ 'वसो: सम्प्रसारणम्'।

३. अष्टा०, ६/४/२२ 'वसुसम्प्रसारणमजविधौ०' आदि वार्तिक की व्याख्या।

४. 'सम्प्रसारणाच्च' — अष्टा० ६/१/१०८।

५. सम्प्रसारण होकर 'उस्' होने से वलादि न रहकर अजादि हो जाता है।

६. प्र० ४/१/८२। ७. प्र० ६/४/२२।

८. प्र० ७/२/९८।

९. उ० ६/४/२२ 'वसुसम्प्रसारण०' आदि की व्याख्या।

१०. म०भा० ५/४/१५४ तथा द्र० गूढार्थ०, पृष्ठ ३३९।

११. गूढार्थ०, पृष्ठ ३३९। १२. श०शे०, ६/४/२२।

१३. अष्टा० ४/१/८२।

अन्तरङ्ग-न्याय-सिद्धार्थानुवाद-मात्र है। दूसरे सूत्र में 'समर्थ' यह इसलिए पढ़ा गया है कि 'विष्वक्' शब्द से 'विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः'[१] इस वार्तिक से सन्धि-कार्य करने से पूर्व 'विषु+अच्' इस अवस्था में ही 'न' प्रत्यय होने पर उत्तरपद का लुक् देखा जाता है, वैसे ही अन्य लक्ष्यों में तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति सन्धि कार्य किए बिना ही होती है, ऐसा भ्रम न हो, कृत सन्धि से ही प्रत्यय हो, इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए समर्थ ग्रहण किया है तथा यह प्रयोजन अन्तरङ्ग परिभाषा से ही सिद्ध है, यह (बात) 'विपतिषेधसूत्र' के भाष्य में ध्वनित[२] होती है। **(क) उक्त अर्थ में कैयट का प्रमाण**— 'समर्थ' ग्रहण प्रकृत परिभाषा का सर्वथा ज्ञापक नहीं है। यह कैयट के वचन से भी सिद्ध होता है। 'समर्थानां प्रथमाद् वा' सूत्र के प्रदीप में यह स्पष्ट किया है कि जब पद विभाग पूर्वक पद घटक अवयवों को एक साथ स्थापित करके 'सौत्थितिः'[३], आदि[४] का अन्वाख्यान किया जाता है। जैसे 'सु+उत्थित+ङस्+(अस्) इञ्' इस स्थिति में 'वार्णादाङ्गं बलीयो भवति'[५] परिभाषा से एकादेश को बाधकर प्राप्त[६] बृद्धि के वारण के लिए समर्थ ग्रहण किया है और इस प्रकार 'वार्ण' परिभाषा' मानने पर समर्थ ग्रहण प्रयोजनवान् होने से 'अकृतव्यूह०' परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। यदि 'समर्थानां प्रथमाद् वा' सूत्र में 'समर्थानाम्' न पढ़ा हो तथा यदि 'वार्ण' परिभाषा अन्तरङ्ग परिभाषा की बाधिका है तो 'वार्ण परिभाषा' से 'सु+उत्थित+इ' यहाँ सु के उ के एकादेश को बाधकर बृद्धि हो जायगी, क्योंकि बृद्धि अंगाधिकारीय है। फलस्वरूप कैयट के मतानुसार भी 'समर्थ' ग्रहण सार्थक होने से परिभाषा का ज्ञापक नहीं है।[७]

परिभाषा के न होने में भाष्य-प्रमाण : इस परिभाषा के प्रत्याख्यान का सङ्केत 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'[८] सूत्र के भाष्य में मिलता है। वहाँ 'वैक्षमाणिः' यह अन्तरङ्ग परिभाषा 'अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोरन्तरंगम् बलीयः'[९] का उदाहरण दिया है। यहाँ पद विभाग पूर्वक अन्वाख्यान में 'वि+ईक्षमाण+अस्' इस अवस्था में बहिरङ्ग एकादेश को बाधकर अन्तरङ्ग इञ् तद्धित हुआ है। इस प्रकार यह अन्तरङ्गन्याय से ही सिद्ध हो जाने से प्रकृत परिभाषा निरस्त हो जाती है।[१०]

---

१. का०वा० ५/२/१०० तथा सि०कौ०।

२. म०भा० १/४/२ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३४० व ३४१ की पं० १-२।

३. 'सूत्थितस्यापत्यम्' इस अर्थ में 'सु+उत्थित+ङस्' से 'इञ्' प्रत्यय।

४. वैक्षमाणि : -'वि+ईक्षमाण+अस्' से 'इञ्' प्रत्यय।

५. प०शे० परि०सं० ५५।

६. अष्टा० ७/२/११७।

७. गूढार्थ०, पृष्ठ ३४१।

८. म०भा० १/४/२।

९. म०भा० १/४/२।

१०. अष्टा० ४/१/९५।

परिभाषा के न होने में प्रमाण— (क) भाष्य प्रमाण— इसीलिए 'असिद्धवदत्राभात्'[१] सूत्र के भाष्य में वार्तिक पढ़ा है। 'वसु-सम्प्रसारणमज्विधौ सिद्धं वक्तव्यम्'- 'वसु प्रत्यय को जो सम्प्रसारण हो, वह अच् को आश्रित करके जो विधि कर्तव्य है, उसके लिए (किया हुआ सम्प्रसारण) सिद्ध है, यह कहना चाहिए''। जिससे 'पपुष:'[२] (पपा+वस्+अस्) इत्यादि में सम्प्रसारण[३] हो जाने पर 'आतो लोप इटि च'[४] से आ का लोप हो जाय। पद के विभागपूर्वक साधुत्वान्वाख्यान में पहले सम्प्रसारण[५] होने पर, 'इट्' की प्राप्ति न रहने[६] से 'उस्' निमित्तक ही आ का लोप होगा, यह उस भाष्य का आशय है। यदि सम्प्रसारण के आभीय होने से 'आतो लोप इटि च'[७] के प्रति 'असिद्धवदत्राभात्'[८] से (सम्प्रसारण) असिद्ध होता तो सम्प्रसारण होने पर भी 'आ' का लोप नहीं हो सकता, क्योंकि परे अजादि प्रत्यय नहीं रहा। अत: सम्प्रसारण की सिद्धता के लिए विशेष वचन पढ़ा है। यदि 'प्रतिपदविधि' होने से पूर्व सम्प्रसारण का आश्रयण[९] न करें तो, अन्तरङ्ग होने से 'इट्' पहले होगा और 'आतो लोप०' 'इट्' के आश्रित होगा, सम्प्रसारण निमित्तक नहीं— ऐसा होने से निरुक्तभाष्य असङ्गत ही हो जायगा। इस प्रकार इस भाष्य से 'पदसयंस्कारपक्ष' ही, प्राप्त होने से फलाभाव से परिभाषा का अभाव समझना चाहिए।[१०]

(ख) परिभाषा के न होने से वार्तिककार का प्रभाव— 'अकृतव्यूह०' परिभाषा नहीं है, इसीलिए 'चो'[११] सूत्र पर वार्तिककार पढ़ते हैं— 'चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेध:'[१२] अर्थात् अञ्चु धातु से परे होने पर अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता है और भाष्यकार इस वार्तिक का प्रत्याख्यान भी नहीं करते हैं। 'प्रतीच:' यहाँ 'प्रति+अच्+अस्' इस स्थिति में अन्तरंगत्वात् प्राप्त 'यण्'[१३] का वार्तिक से प्रतिषेध होने से 'अ-लोप'[१४] तथा दीर्घ[१५] होने पर 'प्रतीच:' रूप सिद्ध होता है। यदि यह परिभाषा हो तो इससे 'इ' के

---

१. गदा, पृष्ठ १३५। २. अष्टा० ६/४/२२।

३. म०भा०वा० ६/४/२२। २. पा धातु से 'क्वसु' प्रत्ययान्त।

५. प्रतिपद-विधि होने के कारण शीघ्रोपस्थितिक होने से 'इट्' से पहले सम्प्रसारण हो जाता है।

६. क्लादि न रहने से। ७. अष्टा० ६/४/६५।

८. अष्टा० ६/४/२२।

९. पूर्वोक्त विधि न मानकर क्रमिक-अन्वाख्यान पक्ष मानें।

१०. गूढार्थ०, पृष्ठ ३४३। ११. अष्टा० ६/३/१३८।

१२. म०भा०वा० ६/३/१३८। १३. अष्टा० ६/१/७७।

१४. 'अच:' अष्टा०६/४/१३८। १५. अष्टा० ६/४/१३८।

स्थान में यण् न हो सकेगा, क्योंकि यण् का निमित्त **अ** 'अच:'[१] सूत्र से नष्ट हो जाता है। फलत: प्रकृत वार्तिक द्वारा निषेध व्यर्थ ही करना सिद्ध होता है तथा भाष्यकार ने भी इसका प्रत्याख्यान नहीं किया, इस परिभाषा को मानते तो इस वार्तिक का अवश्य खण्डन करते? अत: यह परिभाषा नहीं है, यही समझना चाहिए।

(ग) न होने में अन्य भाष्य का प्रमाण— परिभाषा के न होने से ही 'च्छ्वो: शूडनुनासिके च'[२] के भाष्य में कहा गया है— 'प्रष्टा' इत्यादि में 'तुक्' के अभाव के लिए अवश्य यत्न करना चाहिए, अन्तरङ्ग होने[३] से 'तुक्'[४] प्राप्त होता है। 'प्रच्छ्+ता'— यहाँ छकार मात्र को 'श्'[५] आदेश होने पर अन्तरंगत्व हेतुक 'तुक्' का श्रवण होगा, इसलिए यत्न करना चाहिए, कहा है। यदि 'अकृत परिभाषा' होती तो 'छ' के अपाय से नैमित्तिक 'तुक्' का भी अपाय हो जाता, तो भाष्यस्थ यत्न की अवश्य कर्तव्यता का कथन असंगत हो जाता। यदि इस भाष्य वचन[६] का अभिप्राय इस परिभाषा की अनित्यता मात्र को ज्ञापन करना है,[७] तो वह भी मानना ठीक नहीं, क्योंकि "अवश्य ही ऐसे लक्ष्यों में" इन शब्दों का स्वाभाविक अर्थ लुप्त हो जायगा। क्योंकि कोई उपाय न होने से ही अवश्य कहना युक्त है, अत: परिभाषा का अभाव ही समझना चाहिए।[८]

(घ) परिभाषा के मानने पर भाष्यान्तर विरोध रूप दोष— यदि 'अकृतव्यूह' परिभाषा वस्तुत: हो तो इसके होने से ही 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र में 'मपर्यन्तस्य'[९] की अनुवृत्ति तथा 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति'[१०] सूत्र में 'ल्यप्' ग्रहण चरितार्थ[११] हो जायगा और भाष्यकार का यह कहना कि उक्त अनुवृत्ति तथा 'ल्यप्' ग्रहण इस बात में ज्ञापक है कि लुक् एवं 'ल्यप्' आदेश, अन्तरङ्ग विधियों के बाधक होते हैं,[१२] खण्डित हो जाता है। त्व, म के आदेश[१३] के द्वारा तथा जग्धि आदेश[१४] के निमित्तभूत विभक्ति और तादित्व के द्वारा लुक् तथा ल्यप् के द्वारा विनाश की सम्भावना होने से इस परिभाषा के कारण ये आदेश पहले नहीं होंगे? अत: 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'[१५] तथा 'ल्यप्' ग्रहण

---

१. अष्टा० ६/४/१३८। २. म०भा० ६/४/१९।

३. 'छ' मात्र की अपेक्षा करने वाला होने से अन्तरंग है।

४. 'छे च' अष्टा० ६/१/७३। ५. अष्टा० ६/४/१९।

६. सतुक्व निर्देशरूप यत्न की अवश्य कर्तव्यता का कथन।

७. 'अकृत०' परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक— द्र० दीक्षितादि का मत।

८. गूढार्थ०, पृष्ठ ३४३। ९. अष्टा० ७/२/९८.

१०. 'मपर्यन्तस्य-' अष्टा० ७/२/९१ की अनुवृत्ति।

११. अष्टा० २/४/३६। १२. गूढार्थ०, पृष्ठ ३४४।

१३. प०शे० परि०सं० ५२ तथा ५४।

१४. अष्टा० ७/२/९८। १५. अष्टा० २/४/३६।

सार्थक रहते हैं।[१]

(ङ) भाष्यानुपलब्धता— यह परिभाषा इसलिए भी नहीं स्वीकार करनी चाहिए, क्योंकि यह भाष्य में कहीं भी नहीं उपलब्ध होती है।[२] कैयट ने भी 'असिद्धवदत्राभात्'[३] सूत्र में 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायम्' इस परिभाषा का भाष्यकार ने आश्रयण नहीं किया है, ऐसा कहा है।[४]

पद-संस्कार पक्ष में परिभाषा के फल की दोष की शङ्का एवं निराकरण : यदि कोई यह मानता है कि इस परिभाषा को माने बिना 'हरिर्गच्छति' में 'र्'[५] की सिद्धि नहीं होगी? यह मानना भी एवं कहना भी कठिन नहीं है। 'हरिस्' के 'स्' को रुत्व[६] करने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः'[७] से अवसान में रेफ को विसर्ग होता है। 'गच्छति' के साथ सम्बन्ध होने से अवसान का भंग हो जाता है और तन्निमित्तक विसर्जनीय भी चला जाता है। अथवा 'गच्छति' इत्यादि के साथ सम्बन्ध होने पर अवसान भंग हो जायेगा। इस प्रकार निमित्त अवसान के विनाशोन्मुख होने पर पूर्व विसर्ग नहीं होता, इस प्रकार 'पदसंस्कारपक्ष' में यह परिभाषा फलवती है, अतः फल के बल पर इसकी कल्पना कर लेनी चाहिए, यद्यपि यह भाष्यस्थ नहीं।[८] **वाक्यसंस्कारपक्ष में सिद्धि** : परिभाषा के अभाव में यद्यपि 'वाक्यसंस्कारपक्ष' में 'हरिस् गच्छति' इस प्रकार वाक्य रचना में 'हरिर्गच्छति' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा। 'पदसंस्कार पक्ष' में (जब पदान्तर निरपेक्षतया पद-सिद्धि की जाती है) तो 'हरिः गच्छति' ऐसी अनिष्टापत्ति होगी। नागेश के मत से यह भी इष्ट है।[९] परन्तु व्यवहार इसका समर्थन नहीं करता। अतः नागेश स्वयं पक्षान्तर स्वीकार करते हैं, ऐसे स्थलों पर (पदान्तर-सम्बद्ध-पद के विसर्ग के विषय में) पदसंस्कार का आश्रयण नहीं किया जाता। इस फल का अभाव होने पर इसकी कल्पना नहीं कर सकते। 'वाक्यसंस्कार' से ही कार्य सिद्ध हो जायगा।[१०]

समीक्षा : यह परिभाषा भी पूर्ववर्ती परिभाषाओं की भांति अन्तरङ्ग-बलीयस्त्व का सङ्कोच प्रस्तुत करती है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, नीलकण्ठ व हरिभास्कर के परिभाषा ग्रन्थों में प्राप्त होती है।[११] जैनेन्द्र, शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव ने

---

१. अष्टा० ७/२/९८।
२. अष्टा० २/४/३६ में 'ल्यप्' ग्रहण।
३. अष्टा० ६/४/२२।
४. प्र० ६/४/२२।
५. विसर्ग का 'र्' नहीं होगा।
६. 'ससजुषो रुः' — अष्टा० ८/२/६६।
७. अष्टा० ८/३/१५।
८. प०शे०, पृष्ठ ३४४।
९. वही, पृष्ठ ३४४।
१०. गदा, पृष्ठ १३७।
११. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

भिन्न-भिन्न रूपों में मानी है।[१] इस प्रकार नागेश ने यह परिभाषा नीलकण्ठ, हरिभास्कर तथा कैयट के आधार पर स्वीकार की है। इस परिभाषा की व्याख्या में नागेश ने इसके ज्ञापक पर अति विस्तृत विचार किया है। इस प्रसङ्ग में प्राचीन आचार्यों तथा कैयट के मतों का उल्लेख किया है तथा इनका उल्लेख करते हुए अपना अभिमत व्यक्त किया है।

इस परिभाषा के ज्ञापक के विषय में प्राचीनों एवं नवीनों में मतभेद है। 'व्याडि उर्ऋत्'[२] सूत्र को इसका ज्ञापक मानते हुए इसका उपपादन भी करते हैं।[३] जैनेन्द्र कोई ज्ञापक नहीं प्रस्तुत करते हैं। पुरुषोत्तमदेव इसका ज्ञापक 'गोरतद्धितलुकि'[४] सूत्र में 'अतद्धित' ग्रहण को मानते हैं।[५] सीरदेव, हरिभास्कर 'समर्थानां प्रथमाद् वा'[६] सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं।[७] नीलकण्ठ 'गोरतद्धितलुकि' में 'अतद्धित' ग्रहण को मानते हुए 'केचित्' से समर्थ ग्रहण की भी ज्ञापकता का सङ्केत करते हैं।[८] नागेश भी पूर्वोक्त आचार्यों एवं कैयट का उल्लेख करते हुए उनके मतानुसार 'समार्थानां प्रथमाद् वा' सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण के ज्ञापकत्व का निर्देश करते हैं, साथ ही इसका अति विस्तृत शङ्का समाधानपूर्वक उपपादन भी करते हैं तथा दोनों के अनुसार प्रयोजन तथा आशय का स्पष्ट कथन करते हैं। अन्त में अपना मत भी व्यक्त करते हैं। इनके अनुसार इस परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं है। यह परिभाषा निर्मूल है। इसके द्वारा सिद्ध होने वाला प्रयोजन प्रतिपदविधि से सिद्ध हो जाता है और इसके ज्ञापकत्व बनने वाले 'समर्थ' ग्रहण का भी अन्य प्रयोजन दिखलाते हुए ज्ञापकत्व का खण्डन कर देते हैं। परिभाषा के मानने में दोषों को दिखलाते हुए सीरदेव आदि के मतों का खण्डन कर विस्तार से परिभाषा का अभाव सिद्ध करते हैं।[९]

परिभाषा के अर्थ के विषय में भी प्राचीनों एवं नवीनों में मतभेद है। इसका नागेश ने उल्लेख किया है, साथ ही उनके अनुसार प्रयोजन एवम् इसकी अनित्यता का भी कथन किया है। व्याडि कार्य देखकर निवृत्ति होती है, मानते हैं। जैनेन्द्र अन्तरङ्ग परिभाषा का अव्यापार ही 'अकृतव्यूह' मानते हैं। पुरुषोत्तमदेव "विशेष रूप से अकृत निश्चय कराने वाले प्रवर्तित लक्षण को भी व्यावर्तित कर देते हैं', अर्थ मानते हैं। सीरदेव कृत

---

१. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ८८, शाकटायनवृत्ति, परि०सं० ६९, पुरुषोत्तमवृत्ति परि०सं० १०४, सीरदेव वृत्ति, परि०सं० ४९।

२. अष्टा० ७/४/७।

३. व्याडिवृत्ति, परि०सं० ६५।

४. अष्टा० ५/४/९२।

५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १०४।

६. अष्टा० ४/१/८२।

७. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ४९, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ५१।

८.

९. प०शे०, पृष्ठ ३३०-३४४।

कार्य को भी भेद विग्रह कर देते हैं अर्थ मानते हैं। इन्होंने अति विस्तार से व्याख्या की है। नीलकण्ठ 'निमित्त विनाश सम्भावना में कार्य न करना' 'अकृतव्यूह' मानते हैं'। हरिभास्कर अकृतव्यूह का विनाशोन्मुख निमित्त को देखकर तत्प्रयुक्त कार्य न करना, मानते हैं। दीक्षित भी उपर्युक्त अर्थ मानते हुए विस्तार से इसका अर्थ 'शब्द कौस्तुभ' में प्रस्तुत किया है। नागेश ने इस आख्यान में दीक्षित का बहुत अनुकरण किया है। कैयट इसका अर्थ यह मानते हैं कि निमित्त कारण का नाश होने पर नैमित्तिक कार्य का भी नाश हो जाता है।[१] इसी प्रकार न्यासकार रक्षित आदि भी उक्त अर्थ मानते हैं। नागेश ने उन सभी के अनुसार इसका प्रयोजन भी प्रस्तुत किया है, परन्तु नागेश मत से परिभाषा न होने से इसका कोई प्रयोजन नहीं है। नागेश उक्त मतों से विपरीत परिभाषा ही नहीं मानते हैं। ऐसा ही हरदत्त ने भी माना है।[२]

(४७) पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः।।प०६३।।

परिभाषा का उपक्रम : यह परिभाषा उपसर्गापवाद व्यवस्था के लिए है। शङ्का यह होती है दधति,[३] ददति इत्यादि प्रयोगों में अन्तरङ्ग[४] होने से प्रत्ययादि 'झ' के स्थान में 'अन्त'[५] आदेश होने पर 'धा+अन्ति' इस अवस्था में द्विर्वचन होने पर 'दधा अन्ति' में परे 'झ' न होने से 'अदभ्यस्तात्'[६] सूत्र से झ् का अत् आदेश नहीं हो सकेगा तथा इसमें स्थानिवद्भाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि झ के स्थान में अन्त आदेश 'अल्-विधि' है।[७] फलतः 'अदभ्यस्तात्' सूत्र से अत् विधान तथा सूत्र भी व्यर्थ हो जायगा, इस प्रकार अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होने लगेगें? इस अनिष्ट प्रयोग के वारण के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : लक्ष्य में पहले अपवादों की और इसके पश्चात् शेष विषय में उत्सर्गों की प्रवृत्ति होती है अर्थात् पहले अपवाद बुध्यारूढ़ होते हैं, बुद्धि का विषय बनते हैं, पश्चात् उत्सर्ग।

परिभाषा का आशय : भाव यह है कि पहले यह विचार होता है कि अपवाद का कौन-कौन सा विषय है। जब यह निश्चित हो जाता है कि यह अपवाद का विषय नहीं, तब उस विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है, एवं पश्चात् बुद्धि-विषय-भूत उत्सर्ग लक्ष्य का संस्कार करता है।[८]

---

१. प०शे०, पृ० ३३०-३३४। २. पदमञ्जरी, ६/४/१९।

३. 'धा तथा दा जुहोत्यादिगणीय धातुओं से प्र०पु०बहु०।

४. द्वित्व से पहले प्राप्ति होने से 'पूर्वोपस्थित-निमित्तकत्व-रूप अन्तरंग।

५. 'झोऽन्तः' अष्टा० ७/१/३। ६. अष्टा० ७/१/४।

७. अनल्विधौ, अष्टा० १/१/५६ में 'पद'।

८. गदा, पृष्ठ १५०।

नागेश के अनुसार परिभाषा का अर्थ : नागेश इस परिभाषा का निम्न अर्थ करते हैं— इनके अनुसार 'अभिनिविशन्ते' का अर्थ-बुद्धि का विषय बनाते हैं। जो पुरुष लक्षणैकचक्षुष्क है, जो लक्षण द्वारा ही शब्द के साधुत्व को जानता है, वह पहले अपवाद विषय का पर्यालोचन करता है। जब उसे यह निश्चित हो जाता है कि यह लक्ष्य अपवाद का विषय नहीं तब उस लक्ष्य[१] को उत्सर्गशास्त्रप्रवृत्ति से सिद्ध करता है। अन्यथा दोनों उत्सर्ग, अपवाद शास्त्रों के तुल्यबल होने से क्रमिक प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा और वह इष्ट नहीं है। अत: उसकी पर्यालोचना करके अपवाद विषय को त्याग करके, निर्णीत विषय में बुद्धि विषयभूत उत्सर्ग लक्ष्य का संस्कार करता है। इस प्रकार उत्सर्ग प्रवृत्ति में उसके विषय का ज्ञान ही कारण समझना चाहिए।[२]

'अपवादो यद्यन्यत्र०' न्याय की अप्रवृत्ति : अपवादो 'यद्यन्यत्र चरितार्थ:०'[३] यह परिभाषा दधति आदि के विषय में प्रवृत्त नहीं होती, क्योंकि अपवाद 'अदभ्यस्तात्'[४] सूत्र का ऐसा कोई विषय नहीं? जहाँ 'झोऽन्त:'[५] उत्सर्ग सूत्र की प्राप्ति न होती हो, अत: चरितार्थ विषयक उस न्याय की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती।[६] तथा उक्त न्याय युगपत् प्राप्तिविषयक है, यहाँ युगपत् प्राप्त आदेश नहीं है,[७] इसलिए भी नहीं प्रवृत्त हो सकता है।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से यह ज्ञात होता है कि अभ्यस्तसंज्ञक से प्राप्त, जो प्रत्ययादि झकार का अत् आदेश कहा गया है,[८] उस अपवाद के विषय में उत्सर्ग[९] की प्रवृत्ति न होने से पहले अपवाद प्रवृत्त होता है तो प्रत्ययादि 'झ्' का अत् आदेश होकर 'दधति, ददति' आदि प्रयोगसिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन समझने चाहिए।

समीक्षा : प्रस्तुत परिभाषा उत्सर्ग एवम् अपवाद की व्यवस्था के लिए है। किस प्रकार अपवाद तथा उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है? इसका निर्णय इस परिभाषा द्वारा किया जाता है। यह परिभाषा प्राचीन व्याडि आदि किसी ने भी नहीं प्रस्तुत की है। परन्तु

---

१. अपवाद के विषय को त्यागकर अन्यत्र लक्ष्य को यथा 'इकोय णचि' का उदाहरण दधि+अत्र-दध्यत्र।

२. गूढार्थ०, पृष्ठ ३६८, तथा गदा, पृष्ठ १५०।

३. प०शे०, परि०सं० ६६। ४. अष्टा० ७/१/४।

५. अष्टा० ७/१/३। ६. गूढार्थ०, पृष्ठ ३६८।

७. अभ्यस्त संज्ञा की प्रवृत्ति के पश्चात् ही अदादेश की प्राप्ति तथा अन्त आदेश उपदेश में ही होने के कारण अभ्यस्त संज्ञा से पूर्व ही प्राप्त होता है।

८. अष्टा० ७/१/४ 'अदभ्यस्तात्'।

९ 'झोऽन्त:' अष्टा० ७/१/३, उत्सर्ग शास्त्र।

महाभाष्य में यह परिभाषा मानी गई है।[१] इसी आधार पर नागेश ने ग्रहण करके इसकी व्याख्या की है। इन्होंने विस्तार से परिभाषा का उपक्रम, अर्थ तथा उदाहरण में अन्य न्याय का प्रतिषेध आदि विषयों का विवेचन किया है। नागेश इस परिभाषा को ज्ञापक सिद्ध मानते हैं तथा सर्वथा अनवकाश विषय में ही यह परिभाषा प्रवृत्त होती है।[२] इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में परिभाषा की व्याख्या की है।

(४८) प्रकल्प्य वाऽपवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते।।प०६४।।

परिभाषा का उपक्रम : यह भी उत्सर्गापवाद की व्यवस्था के लिए है। इसका अवतरण नागेश ने इस प्रकार किया है जो लक्ष्यैकचक्षुष्क[३] है, जो लक्षण के बिना लक्ष्य के साधुत्व को जानता है, वह अपवाद विषय का विचार किये बिना, उन सब लक्ष्यों की साधना उत्सर्ग शास्त्र से करता है, जो अपवाद विषय के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि उसे भी शास्त्रप्रक्रिया ज्ञानपूर्वक शब्दप्रयोग से धर्म का लाभ होता है।[४] इसे ही दूसरे शब्दों में परिभाषाकार निम्न को एक परिभाषा भी स्वीकार करते हैं।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : अथवा अपवाद के विषय को छोड़कर अपने विषय में उत्सर्ग प्रवृत्त होते हैं (अर्थात् अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती तथा उत्सर्ग के विषय में अपवाद की प्रवृत्ति हो ही जाती है।

नागेशकृत परिभषार्थ : 'प्रकल्प्य'-'परित्यज्य'[५] अर्थ है। अथवा हम ऐसा कह सकते हैं कि अपवाद शास्त्र पर्यालोचन से पहिले ही उत्सर्गशास्त्र बुद्ध्यारूढ़ हो जाता है, तात्पर्य यह है कि देवदत्त आदि संस्कर्ता अपवादशास्त्रविषय को स्वयं छोड़कर उत्सर्ग द्वारा लक्ष्य का संस्कार करते हैं। पहले ही अपवाद विषय से भिन्न विषयक उत्सर्ग का निर्णय कर लेता है।[६]

पूर्व तथा इस मत में भेद : पूर्वमत और इस मत में यह विशेष (भेद) है— पूर्वमत में, सर्वत्र प्राप्त उत्सर्ग की विषय-विशेष में बुद्धयारूढ़ हुए अपवाद से निवृत्ति होती है। इस मत के अनुसार पहले ही उससे भिन्न विषय में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार इन दोनों न्याय फल की दृष्टि से ऐक्य ही हैं। फलस्वरूप दोनों न्यायों का निष्कर्ष यह आता है कि 'अपवाद के विषय में उत्सर्गों की प्रवृत्ति नहीं होती, और उत्सर्ग के विषय में अपवाद की प्रवृत्ति हो ही जाती है' अर्थात् उत्सर्ग विषय में अपवाद उत्सर्ग का बाधक होता है।[७]

---

१. म०भा०, ६/१/५। २. गदा, पृष्ठ १५०।

३. 'लक्षणपर्यालोचनमन्तरेणापि यस्य साधुत्वज्ञानं सः लक्ष्यैकचक्षुष्कः।'

४. 'श्रुतिएकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।'

५. प०शे०, पृष्ठ ३६९। ६. गदा, पृष्ठ १५१।

७. गूढार्थ०, पृष्ठ ३६९।

उक्त ऐक्य में प्रमाण : अतएव प्रकार भेद होने पर भी फल से एक होने से ही 'प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'[१] सूत्र के भाष्य में इन दोनों[२] परिभाषाओं को पढ़कर ऐसा कहा गया है कि 'उत्सर्ग' शास्त्र सहसा प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु 'अपवाद की प्रतीक्षा करता है''। अपवाद विषय को किसी प्रकार जानकर वहाँ से उत्सर्गबुद्धि हटाकर उससे अन्यत्र विषय में होती है, यह तात्पर्य है। यदि दोनों न्यायों का भिन्न अर्थ होता तो दो उपसंसहार देने चाहिए थे। अत: अभिन्नार्थता ही है— समझना चाहिए।[३]

परिभाषा का प्रयोजन : यह परिभाषा तथा पूर्व परिभाषा दोनों मिलकर ही अपवाद तथा उत्सर्ग व्यवस्था के निमित्त विशिष्टार्थ बोधक होती हैं। दोनों भिन्नार्थक नहीं हैं। इस परिभाषा से अपवाद शास्त्र का ज्ञान कर लेने के कारण उत्सर्ग के विषय में सङ्कोच कहा जाता है। अत: पूर्व परिभाषा के उदाहरण इसके उदाहरण भी समझने चाहिए[४] तथा जैसे अन्त आदेश का बाधक 'पचेयु:, अजागरु:' आदि प्रयोगों में झि को 'जुस्'[५] होता है, वैसे 'ऐप्सन्'[६] आदि प्रयोगों में उत्सर्ग का विषय है, उसमें झि को जुस् नहीं होता, आदि प्रयोजन समझने चाहिए।

समीक्षा : यह भी उत्सर्गापवाद व्यवस्था के लिए है। अपवाद विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति किस प्रकार होती है, यही इसका प्रतिपाद्य है। यह परिभाषा इसी रूप में केवल जैनेन्द्र ने मानी है।[७] परन्तु व्याडि आदि[८] ने नहीं मानी है। सीरदेव तथा नीलकण्ठ ने कुछ पाठान्तर से पाठ किया है।[९] इस परिभाषा की सामान्य व्याख्या में तो प्राचीनों और नवीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जैनेन्द्र ने संक्षिप्त अर्थ करते हुए उदाहरण का निर्देश किया है। सीरदेव ने इसका अर्थ न देकर विस्तार से ज्ञापक का उपपादन किया है। इनके अनुसार यह ज्ञापक सिद्ध है।[१०] 'नीलकण्ठ' सामान्य अर्थ करते हुए इसके अपवाद वैयर्थ्यापत्तिन्याय-मूलिका मानते हैं। इसी प्रकार नागेश ने भी संक्षिप्ततया

---

१. म०भा० २/३/४६।

२. पूर्वं हि० तथा 'प्रकल्प्य वा०' दोनों न्याय।

३. गूढार्थ०, पृष्ठ ३७०। ४. व्याख्या, पृष्ठ २६७।

५. 'झेर्जुस्', अष्टा० ३/४/१०८।

६. आप् धातु, सन्नन्त में लङ् लकार, प्र०पु०बहु० का रूप।

७. जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० ९१।

८. शाकटायन, कातंत्र, चान्द्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव तथा हरिभास्कर आदि।

९. 'परिहृत्यापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते'— द्र० सीरदेववृत्ति परि०सं०९४, तथा नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ४३।

१०. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ९४।

अर्थ लिखा है, परन्तु इस परिभाषा के मानने में अन्यों ने हेतु नहीं दिया है। नागेश ने इस पर विचार करते हुए पूर्व परिभाषा से इस परिभाषा का भेद, ज्ञाता एवम् अधिकारी के भेद से माना है। यह परिभाषा लक्ष्यैकचक्षुष्क लोगों की दृष्टि से है। इस प्रकार इस परिभाषा में तथा पूर्व परिभाषा में भेद स्पष्ट हो जाता है। नागेश ने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है। जैनेन्द्र ने उदाहरण प्रस्तुत किया है।

(४९) उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तोऽपवाद[१] उपसञ्जातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते।।प०६५।।

परिभाषा का उपक्रम : पूर्वोक्त 'पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः'[२] तथा 'प्रकल्प्य वाऽपवादविषयं[३] तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' दोनों न्यायों के फल पर आधारित होकर, उसी मूल पर ही नवीन आधुनिक वैयाकरण दीक्षित आदि लोग निम्न परिभाषा मानते हैं, जिससे 'दधति' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाय। निम्न परिभाषा है—

परिभाषा का सामान्य अर्थ : वह अपवाद जिसका निमित्त अभी उत्पन्न होने वाला है, उस उत्सर्ग को भी बाधता है, जिसका निमित्त पहले उत्पन्न हो चुका है।

परिभाषा का आशय : भाव यह है जहाँ उत्सर्ग शास्त्र की अप्रवृत्ति की सम्भावना के कारण अपवाद की प्रवृत्ति की सम्भावना हो, वहाँ पूर्व उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती।

परिभाषा का लाभ : इस परिभाषा से भविष्यत् अपवाद विषय को छोड़कर शेष में उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति संकुचित हो जाती है, इसलिए 'दधति' यहाँ भविष्यत् अपवाद विषय होने से 'झोऽन्तः'[४] की प्रवृत्ति नहीं होती है।

प्रसङ्गतः 'प्रकल्प्य०'[५] परिभाषा के अर्थान्तर का खण्डन : इस नूतन कल्पित न्याय के मूलभूत 'प्रकल्प्य वापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्तते' इस न्याय के विषय में अधिक विचार प्रस्तुत किया जाता है— **(क) परिभाषा विषय में कैयट मत—** अभ्यस्त संज्ञासूत्र 'उभे अभ्यस्तम्'[६] के प्रदीप में कैयट ने 'प्रकल्प्य वा'- इस प्रतीक को रखकर उसका उदाहरण 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'[७] सूत्र को माना है। इस सूत्र में, पर यण् के पहले सम्प्रसारण होता है, पूर्व यण् को उस सम्प्रसारण के निमित्त से (उसके हो जाने पर) सम्प्रसारण निषेध होता है। इस प्रकार कैयट उक्त सूत्र में ज्ञापक से इस अर्थ को सिद्ध मानते हैं।[८] **(ख) नागेश मत—** नागेश कैयटोक्त मत का खण्डन

---

१. 'अपवाद' शब्द से निषेध, पर्युदास अपवाद सभी का ग्रहण होता है। द्र०शा० कला, पृष्ठ २९५, तथा विजया, पृष्ठ २७९।

२. प०शे०, परि०सं० ६३।

३. वही, परि०सं० ६४।

४. अष्टा०, ७/१/३।

५. प०शे०, परि०सं० ६४।

६. प्र० ६/१/५।

७. अष्टा०, ६/१/३७।

८. गदा, पृष्ठ १५२।

करते हैं, उनका कहना है कि वह परिभाषा में पढ़े हुए 'तत उत्सर्गः०' इत्यादि पदों के अनुकूल नहीं।[१] उत्तरकालिकत्व की प्रतीति तो 'प्रकल्प्य'[२] से ही सिद्ध है। अतः कैयटोक्त अर्थ अयुक्त है।

प्रस्तुत परिभाषा के अन्योक्तार्थ का कथन तथा उसका खण्डन— (क) अन्यों का मत— कोई यह मानते हैं, अपवाद वाक्यार्थ के बुद्धिस्थ हुए बिना, उत्सर्ग सामान्य वाक्यार्थ का बोध नहीं होता, ऐसा इस परिभाषा का अर्थ है।[३] **(ख) खण्डन**— (नागेश मत) — यह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से 'अभिनिविशन्ते अपवाद विषयम्' इत्यादि पदों के उचितार्थ का परित्याग मानना पड़ेगा। इस व्याख्यान में लक्ष्य-ज्ञान की अपेक्षा होने से, लक्ष्य-बोधक **अपवाद विषय** शब्द का उपादान कुछ अर्थ न रखेगा[४] तथा उक्त प्रकार का अर्थ ही सम्भव नहीं है, क्योंकि आकांक्षादि होने पर पद से पदार्थ की उपस्थिति होती ही है, पुनः पदार्थ उपस्थित होने पर वाक्यार्थ का बोध न हो, इसमें कोई कारण प्रतीत नहीं होता। अतः उक्त अर्थ में कोई युक्त प्रमाण नहीं है।[५]

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त : जहाँ अपवाद का निषेध कर दिया जाता है, वहाँ उस अपवाद के योग्य विषय में (निषेधाभाव में, जो उसका विषय होता है वहाँ) भी उत्सर्ग की प्रवृत्ति हो ही जाती है।[६] **(क) उदाहरण**— 'बृक्ष+औ', यहाँ 'बृद्धिरेचि'[७] इस सामान्य शास्त्र से बृद्धि-एकादेश होता है। इसका 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'[८] अपवाद शास्त्र बाध नहीं कर पाता है, क्योंकि इसका अपना बाध (निषेध) 'नादिचि'[९] सूत्र से हो चुका है। इस प्रकार पूर्वसवर्ण दीर्घ रूप अपवाद के विषय में सामान्य शास्त्र प्रवृत्त हो जाता है, क्योंकि अपवाद का बाध हो जाने से अपवाद का कोई फल नहीं रह जाता है।[१०]

इस न्यायसिद्ध अर्थ में ज्ञापक : इस प्रकार उक्त[११] अर्थ स्वीकार करने से ही 'तौ सत्'[१२] इत्यादि में 'तौ' निर्देश साधु होता है,[१३] अन्यथा उक्त निर्देश व्यर्थ

---

१. प०शे०, पृष्ठ ३७१ तथा गूढार्थ०, भी वही।

२. अष्टा० ३/४/२१ से प्रकल्प्य में क्त्वा के पश्चात् इसी का ल्यप् होता है।

३. प०शे०, पृष्ठ ६५।

४. गदा, पृष्ठ १५२।

५. प०शे०, पृष्ठ ३७२।

६. वही, पृष्ठ ३७२।

७. अष्टा० ६/१/८८।

८. वही, ६/१/१०२।

९. वही, ६/१/१०४।

१०. प०शे०, पृष्ठ ३७२।

११. जहाँ अपवाद का निषेध कर दिये जाने पर उस अपवाद के निषेध अभाव के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है — अष्टा० ३/२/१२७।

१२. प०श०, पृष्ठ ३७२।

१३. अष्टा० ३/२/१२७।

ही असङ्गत होता है? फलस्वरूप उक्त तात्पर्य के अनुसार ही यह ज्ञात होता है कि उत्सर्ग, अपवाद के विषय में भी जहाँ अपवाद का निषेध हो जाता है, वहाँ पुनः प्रवृत्त होता है।

'भ्रष्टावसर-न्याय' की अनाश्रयणता : यही 'तौ सत्'[१] निर्देश ज्ञापित करता है कि इस पाणिनीय व्याकरण में भ्रष्टावसरन्याय[२] लागू नहीं होता। यदि होता तो बृद्धि[३] के पूर्व-सवर्ण-दीर्घ[४] से एक बार बाधित होने पर पुनः प्रवृत्ति न होती, जिससे 'तौ' रूप सिद्ध न होता।

(क) भाष्य प्रमाण— 'भ्रष्टावसर-न्याय' इस शास्त्र में नहीं आश्रित किया जाता है। यह बात 'इको गुणबृद्धी'[५] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। वहाँ 'सिचि बृद्धिः परस्मैपदेषु'[६] का हलन्तलक्षणा 'वदव्रजहलन्तस्याचः'[७] सूत्र से विहित बृद्धि से बाध कहा है और इसका 'नेटि'[८] सूत्र से बाध होता है। यहाँ भाष्यकार कहते हैं कि 'नेटि' न केवल हलन्त-लक्षणा बृद्धि को बाधता है, अपितु 'सिचि बृद्धि०' को भी बाधता है। यदि 'भ्रष्टाचवसर-न्याय' वैयाकरण शास्त्र में प्रवृत्त होता तो 'सिचि बृद्धि' का 'हलन्त-लक्षणा बृद्धि'[९] से एक बार का बाध, सदा के लिए बाध हो जाता है। 'नेटि' से इसके बाध की अपेक्षा ही न होती। तथा 'नान्तः पादमव्यपरे'[१०] सूत्र के भाष्य तथा उद्योत में भी निरूपित किया गया है कि यह न्याय नहीं आश्रित किया जाता है।[११]

'देवदत्तहन्तृहत-न्याय' का अविषय— शङ्का— यहाँ यह शङ्का होती है कि निषिद्ध अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति मानने से देवदत्तहन्तृहतन्याय से विरोध आता है तथा इस न्याय से 'बृक्षौ' में बृद्धि नहीं होनी चाहिए? **समाधान—** यह बात अज्ञानमूलक है। इस न्याय का यह विषय नहीं है। जो 'बृक्षौ' आदि में प्रवृत्त हो। देवदत्त को मारने वाले के मारे जाने पर देवदत्त का उन्मज्जन (पुनः जीवित हो उठना) नहीं होता। परन्तु वह जीवित संशय से अवश्य बच निकलता है। जब उसके प्राण-हरण की चेष्टा करने वाले का हनन हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत 'वृक्षौ' आदि में भी पूर्वसवर्ण दीर्घ, (औत्सर्गिक) बृद्धि का हनन (परिसमाप्ति) नहीं करता, किन्तु केवल प्रसक्त होता है, जो हननोद्यम के सदृश कर्म है, जो बृद्धि को परिसमाप्त करने की चेष्टा-मात्र है।

---

१. तत्त्वा०, पृष्ठ १४७। २. तत्त्वा०, पृष्ठ १४७।
३. अष्टा०, ६/१/८८। ४. अष्टा०, ६/१/१०२।
५. म०भा०, १/१/३। ६. अष्टा०, ७/२/१।
७. वही, ७/२/३। ८. वही, ७/२/४।
९. वही, ७/२/३। १०. म०भा० ६/१/११५ तथा उ०भी।
११. गूढार्थ०, पृष्ठ ३७२, तथा गदा, पृष्ठ १५३।

'नादिचि'[१] भी इस प्रसक्त (न कि वस्तुतः प्रवृत्त हुए) पूर्व-सवर्ण दीर्घ का निषेध करता है। इस प्रकार यहाँ इस न्याय का विषय नहीं, अतः उक्त निर्देश से अनित्यता की कल्पना नहीं करनी चाहिए।[२]

'प्रतिपद विधि' की पृथक् बाधकता का खण्डन : सूत्र में पढ़े हुए पद-विशेष को उद्देश्य कर जो विधि कार्य-विधान करती है, ऐसी प्रतिपदविधि भी केवल प्रतिपद विधि होने से बाधक नहीं होती, किन्तु तभी बाधक होती है, जब वह अनवकाश हो। अर्थात् पूर्वोक्त 'व्याप्यता बाधकता का बीज है', के अनुसार उत्सर्ग शास्त्र की 'अप्राप्ति' के योग्य विषय में अपवाद की अचरितार्थता रूप निरवकाश होने पर ही बाधक हो सकता है।[३]

(क) उक्त अर्थ में प्रमाण— यह 'शेषाद् विभाषा' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है। वहाँ यह शङ्का की है कि 'शेष' ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि सूत्रों में उपात्त एक-एक पद को उद्देश्य करके, जो समासान्त प्रत्यय विधान किये गये हैं, वे 'शेषात्' के बिना भी इसी सूत्र के अवशिष्ट विभाषा से विहित 'कप्' के बाधक होंगे?[४] इसका आगे इसी सूत्र में इस प्रकार समाधान किया गया है कि "प्रतिपद विधियाँ भी अनवकाश होने पर बाधक होती है।" समासान्त विधियाँ 'शेषाद् विभाषा'[५] सूत्र से विहित वैकल्पक 'कप्' के अभाव में सावकाश हैं। यदि प्रतिपद-विधि स्वतन्त्र रूप से बाध करती तो उक्त भाष्य असङ्गत ही होता, अतः पृथक् यह बाधिका नहीं होती।[६]

सावकाशत्व में भी बाध प्रयोजक : कहीं-कहीं अनवकाश न होने पर भी, प्रतिपद-विधि सबल होती है। इसकी सबलता इसी में है कि बुद्धि में शीघ्रतर उपस्थित होने से, पर, नित्य आदि की युगपत् प्राप्ति होने पर यह (प्रतिपद विधि) पहले प्रवृत्त होती है। इसमें कैयट का- 'परनित्यान्तरंगप्रतिपदविधयो विरोधिसन्निपाते तेषां मिथः प्रसक्तौ परबलीयस्त्वम्"[७] 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च'[८] सूत्र में पढ़ा हुआ वचन प्रमाण है। अर्थात् दो विरोधी शास्त्रों के सन्निपात में, एक उदाहरण में उत्सर्ग और अपवाद की एक साथ प्राप्ति होने पर, परादिक्रम से वे भी होते हैं— यह तात्पर्य है। यहाँ भी 'प्रतिपदिविधि' होने से, शीघ्रोपस्थितिक-रूप अन्तरंगत्व ही इसके बलवत्व का कारण है। फलस्वरूप यह प्रतिपद विधित्व परिभाषा स्वतन्त्र रूप में बाध की प्रयोजिका नहीं होती है।[९]

---

१. अष्टा० ६/१/१०४।
२. प०शे०, पृष्ठ ३७३।
३. गूढार्थ०, पृष्ठ ३७३।
४. म०भा०, ५/४/१५४।
५. गदा०, पृष्ठ १५४।
६. प०शे०, पृष्ठ ३७४।
७. प्र० ७/२/९८।
८. अष्टा०, ७/२/९८।
९. गूढार्थ०, पृष्ठ ३७४।

प्रतिपदविधि के अन्य बाधस्थल : निरवकाशत्व के अभाव में भी प्रतिपद-विधि किसी प्रकार बाधक होकर पहले प्रवृत्त होती है, इसी कारण 'रमे-रमा+सु' (सम्बुद्धि का सु) में 'सम्बुद्धौ च',[१] जो प्रतिपद विधि है, रमा के 'आ' को ए पहले होता है। अत: 'हल्ङ्याब्भ्य:'[२] सूत्र से 'अपृक्त' हल् 'स्' का लोप प्रथम नहीं हो पाता है, 'एत्व' होने के पश्चात् सूत्र में पठित 'आप्' में आ का प्रश्लेष होने से (आप्+आ=आप्) आकार-रूप आप् से परे 'स्' का लोप विधान किया है, उसको 'ए' हो जाने से 'स्' लोप की प्राप्ति नहीं रहती। अत: 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धे:'[३] सूत्र से 'स्' लोप करके उक्त शङ्का का नव्य लोग समाधान करते हैं।[४]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा से भविष्यत् अपवाद विषय को छोड़कर, शेष में, उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति संकुचित हो जाती है, अत: 'दधति' में 'झोऽन्त:'[५] की प्रवृत्ति नहीं होती। 'धा+झि' यहाँ धा अंग को आश्रित करके 'झि' के अवयव 'झ्' को अन्त् आदेश प्राप्त होता है, जो अन्तरङ्ग है। द्विर्वचन होने पर धातु के अभ्यस्त हो जाने पर 'अदभ्यस्तात्'[६] सूत्र से 'झ' को 'अत्' आदेश प्राप्त होता है। यह 'झोऽन्त:'[७] का अपवाद है। इसका निमित्त द्विर्वचन के पीछे उत्पन्न होता है, तो भी यह अपवाद पूर्वोत्पन्न निमित्तक उत्सर्ग को बाधता है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : पूर्वोक्त ६३, ६४ दोनों परिभाषाओं के फलस्वरूप यह परिभाषा है। इसमें भी अपवाद विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति किस प्रकार होती है, इसका ही विवेचन है। यह परिभाषा इस रूप में केवल नीलकण्ठ ने प्रस्तुत की है।[८] सीरदेव तथा हरिभास्कर ने कुछ पाठान्तर से पाठ किया है।[९] व्याडि आदि ने नहीं प्रस्तुत की है। यह परिभाषा दीक्षित ने इसी रूप में पढ़ी है। नागेश ने इस परिभाषा को मानने का हेतु दिया है कि 'नवीना: पठन्ति'- 'नवीन' लोग यह मानते हैं। दीक्षित के पाठ का ही अनुसरण करते हुए नागेश ने पाठ किया है। इस परिभाषा का सामान्य अर्थ प्राय: सभी में एक ही जैसा है। परिभाषा के मूल के विषय में प्राचीनों एवं नवीनों में कुछ मतभेद परिलक्षित होता है। सीरदेव तथा हरिभास्कर इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'शीङ: सार्वधातुके गुण:'[१०] सूत्र में 'गुण' ग्रहण का ज्ञापकत्व उपपादित करते हैं।[११] नीलकण्ठ

---

१. अष्टा० ७/३/१०६। २. वही, ६/१/६८।
३. वही, ६/१/६९। ४. दीक्षित आदि।
५. अष्टा० ७/१/३। ६. वही, ७/१/४।
७. भट्टोजिदीक्षित, नीलकंठ आदि। ८. नीलकंठ वृत्ति, परि०सं० ६।
९. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ९३ हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ९६ 'उपाजातनिमित्तोऽप्युत्सर्ग उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तेनापवादेन बाध्यते।'
१०. अष्टा० ७/४/२१। ११. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

'अकृतव्यूह०'[१] परिभाषा के अन्तर्गत ही इस परिभाषा को मानते हैं अर्थात् उसी की मूलिका मानते हैं।[२] परन्तु नागेश, पूर्व परिभाषाओं का ही फलित रूप यह परिभाषा मानते हैं। यह कोई स्वतन्त्र अथवा भिन्नमूलक नहीं है। इसकी व्याख्या में नागेश ने 'प्रकल्प्य वा०'[३] का कैयटकृत अर्थ तथा व्याख्यान का खण्डन किया है। उनके द्वारा प्रदत्त अर्थ का सप्रमाण खण्डन करते हुए 'भ्रष्टावसरन्याय' का भा खण्डन किया है। प्रसङ्गत: इस न्याय के कारण 'देवदत्तहन्तृहत न्याय' को अनित्य मानने वाले मत का भी खण्डन सप्रमाण विस्तार से किया है। साथ ही प्रतिपदोक्त विधि की बाधकता तथा बलवत्ता का सविस्तार भाष्य तथा कैयट प्रमाण पुरस्सर प्रतिपादन किया है।[४]

(५०) अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते।।प०६६।।

परिभाषा का उपक्रम : यद्यपि अन्तरङ्ग से अपवाद सर्वथा बलवत्तर होता है तथापि कहीं-कहीं अन्तरङ्ग अपवाद से भी बलवत्तर होता है। जैसे 'अयजे इन्द्रम्' (अयज्+अ+इ+इन्द्रम्) में, जो 'अ+इ' के स्थान में 'आद्गुण:'[५] सूत्र से गुण प्राप्त होता है, वह अन्तरङ्ग है। पर वाला 'इ+इ' के स्थान में जो 'अक: सवर्णे दीर्घ:'[६] सूत्र से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त है, वह अपवाद है।[७] फलत: (पूर्वोपस्थित निमित्तक) गुण अन्तरङ्ग को बाध कर (सर्वथा अनवकाशत्वात् बाधक) अपवाद दीर्घ हो जाना चाहिए? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : उत्सर्ग अपवाद के सम्बन्धी स्थानी-निमित्तों के एक रूप होने पर, उत्सर्ग का बाध करके चरितार्थ हुआ अपवाद का भी, उनके भिन्न स्थानी-निमित्त के स्थल पर, अन्तरङ्ग (उत्सर्ग) शास्त्र द्वारा बाधित होता है।

परिभाषा का आशय : समान निमित्त में उत्सर्ग का बाध कर यदि अपवाद चरितार्थ हो गया हो तो भिन्न स्थानि-निमित्त में अन्तरङ्ग उत्सर्ग द्वारा बाधित होता है।

परिभाषा में हेतु : अन्तरङ्ग उत्सर्ग द्वारा अपवाद के बाध में हेतु यही है कि अपवाद निरवकाश न होने से (क्योंकि अन्यत्र चरितार्थ हो जाता है) बाधकता बीज से शून्य हो जाता है। समान-निमित्तक प्राप्त स्थल में अन्य विधि को बाधने के कारण सावकाश अपवाद अन्तरङ्ग का बाध नहीं कर सकता है।[८]

---

१. प०शे०, परि०सं० ५६। २. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ६६।
३. म०शे०परि०सं० ६४। ४. गदा, पृष्ठ १५४।
५. अष्टा० ६/१/८७। ६. वही, ६/१/१०१।
७. तात्पर्य यह है कि सर्वथा निरवकाश होने से बाधक।
८. शा० कला, पृष्ठ २९७, तथा विजया, पृष्ठ २८१, गदा, पृष्ठ १५५।

परिभाषा का प्रवृत्ति-निमित्त : इस परिभाषा का ऐसा अन्तरङ्ग विधि-विषय है जिसके निमित्त बहिरङ्ग अपवाद की अपेक्षा में, उच्चारण क्रम से पूर्वत: उपस्थित होते हैं। जहाँ स्थानी और निमित्त की एकता होने पर भी, पूर्वोपस्थिति-निमित्तक अन्तरङ्गता नहीं होती, वहाँ अपवाद ही अन्तरङ्ग को बाधता है। अन्तरङ्ग, उत्सर्ग अपवाद का बाध नहीं करता है।[१]

बाध्य-बाधक भाव विषयक कैयट तथा नागेश का मत— (क) कैयट मत— कैयट ने 'च्छ्वो: शूडनुनासिके च'[२] सूत्र में यह कहा है कि आगम और आदेश का बाध्य-बाधक-भाव नहीं होता है, क्योंकि आगम और आदेश का फल भिन्न-भिन्न होता है। क्योंकि कहा गया है कि मित्रवदागम:, शत्रुवदादेश:। आगम, आगमी का अंग बृद्धि करता है और आदेश स्थानी का अपहार करता है। यही कारण है कि जब हम कहते हैं कि 'ब्राह्मणों को दही दिया जाय और कुण्डिन गोत्रज ब्राह्मण को कम्बल'[३] तो कम्बल दान से दधि दान का बाध नहीं होता। दधि-दान तो भोजन पदार्थ (ओदन-संस्कारार्थ) है, कम्बल दान शीत परित्राण के लिए है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न फल होने से उक्त में बाध्य-बाधक भाव नहीं होता है।[४]

(ख) नागेश मत— नागेश का कहना है यह भाष्य-विरुद्ध होने से ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह उक्ति, सिद्धान्तपक्ष में एकदेशी की उक्ति है[५] तथा 'दीर्घोऽकित:'[६] सूत्र के भाष्य में 'नुक्' दीर्घत्व का अपवाद है' ऐसा कहा है। जबकि दीर्घत्व[७] के प्राप्त होने पर ही 'नुक् विधि' आरम्भ की गई है। स्पष्टत: यहाँ दीर्घ रूप आदेश का 'नुक्' आगम अपवाद कहा है। अत: इनमें भी बाध्यबाधक-भाव होता ही है।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से 'अयजे+इन्द्रम्'[८] इसमें समान-निमित्तक सवर्ण दीर्घ एकादेश 'इ+इ' के स्थान में 'अयज+इ+इन्द्रम्' में ('अ+इ' के स्थान में) अन्तरङ्ग गुण से बाधित होता है, यद्यपि यण् तथा गुण का सवर्ण दीर्घ अपवाद है। सवर्ण दीर्घ अपवाद अन्यत्र 'श्री+ईश:'- 'श्रीश:' में यण् को और

---

१. प०शे०, पृष्ठ ३७५।

२. प्र० ६/४/१९ 'लोपो भविष्यति' प्रतीक की व्याख्या।

३. 'दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्, कम्बल: कौण्डिन्याय' रूप में।

४. गदा, पृष्ठ १५५। ५. वही, पृष्ठ १५६।

६. म०भा०, ७/४/९२।

७. 'दीर्घोऽकित:' अष्टा० ७/४/८३ से दीर्घ की प्राप्ति।

८. इसमें 'पदविभज्य अन्वाख्यान' करके पढ़कर ही कार्य की प्राप्ति 'अयज+इ+इन्द्रम्' स्थिति में।

'दण्ड+अग्रम्'- 'दण्डाग्रम्' में 'आद् गुणः'[१] सूत्र से गुण को बाधने से चरितार्थ है तथा सवर्ण दीर्घ-विधि यण् और गुण विधि के साथ समान स्थानी एवं निमित्तक भी है। जिन वर्णों को मानकर सवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है, उन्हीं को मानकर यण् तथा गुण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन समझने चाहिए।

समीक्षा : प्रस्तुत परिभाषा द्वारा अपवाद की बलवत्ता अथवा बाधकता का संकोच प्रस्तुत किया जाता है। अपवाद निरवकाश होने पर ही अन्तरङ्ग का बाध करता है, इसके अभाव में वह दुर्बल ही है, अतः वही अन्य से बाधित हो जाता है। यह परिभाषा व्याडि आदि किसी भी परिभाषा व्याख्याकार ने नहीं मानी है। यह स्यात् दीक्षित और न्यासकार के आधार पर स्वीकार की गई है।[२] नागेश ने इस परिभाषा का हेतु, उदाहरणस्वरूप प्रयोजन का प्रतिपादन तथा प्रवृत्तिनिमित्त आदि का विवेचन किया है। प्रसङ्गतः कैयट के 'आगम तथा आदेश में बाध्यबाधकभाव नहीं होता, इस मत का भाष्यप्रमाण सहित खण्डन कर दिया है। इस प्रकार इस परिभाषा की व्याख्या से अपवाद की बाधकता का संकोच किस स्थिति में और विषय में होता है, इसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। साथ ही आगम तथा आदेश की बाधकता के विषय का भी ज्ञान हो जाता है।[३]

(५१) अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति।।प० ६७।।

परिभाषा का उपक्रम : उत्सर्ग और अपवाद-विषय में यह निष्कर्ष है, अपवाद विषय में उत्सर्गों की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु अपने विषय में अपवाद उत्सर्ग का बाध करता है। अब यहाँ यह शङ्का होती है कि 'अजीगणत्' (गण्+चङ्+तिप्) में 'ई च गणः'[४] सूत्र से विहित अभ्यास के अन्त्य को ईकार आदेश, निरवकाश[५] होने के कारण 'हलादिः शेषः'[६] को बाधेगा तथा बाधने पर णकार को ईत्व, गुण एकादेश[७] तथा ह्रस्व करने पर अग्लोपी होने से अभ्यास के दीर्घ[८] न होने से 'अजिगणत्' ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : अभ्यास विकार— अभ्यास के आदेश विधान प्रकरण में (अपवाद और उत्सर्गों में) बाध्य-बाधकभाव नहीं होता है अर्थात् किसी भी प्रकार का बाध्य-बाधकभाव नहीं होता है।

---

१. अष्टा०, ६/१/८७। २. श०कौ०।
३. गदा, पृष्ठ १५५। ४. अष्टा० ७/४/९७।
५. गूढार्थ०, पृष्ठ ३७६। ६. अष्टा०, ७/४/६०।
७. 'आद् गुणः' अष्टा० ६/१/८७।
८. 'नाग्लोपिशास्वृद्दिताम्' अष्टा० ७/४/२।

परिभाषा का शब्दार्थ : 'अभ्यासविकार'— ह्रस्व, दीर्घ, गुण, हलादिशेष आदि अभ्यास में होने वाले विकार, यह अर्थ लिया जाता है।

परिभाषा का ज्ञापक : 'दीर्घोऽकित:'[१] सूत्र में 'अकित्-ग्रहण' इस परिभाषा का ज्ञापक है। अन्यथा 'यम्' धातु के यङन्त रूप 'यंयम्यते'[२] में हलादि शेष के पश्चात् अपवाद होने से 'नुक्'[३] अदन्त अभ्यास के दीर्घत्व को बाधकर पहले होगा और 'नुक्' होने पर अभ्यास अजन्त नहीं रहने से दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं, तब 'अकित्' ग्रहण व्यर्थ ही रहता है। पुन: 'अकित्' ग्रहण व्यर्थ होकर प्रकृत परिभाषा को ज्ञापित करता है। इस परिभाषा के होने से जब दीर्घ रूप उत्सर्ग का बाधक 'नुक्' न रहा, तो 'यंयम्यते' में दीर्घ की प्राप्ति हुई, इसलिए 'अकित्' ग्रहण सार्थक होता है। अब यदि 'नुक्' करते हैं तो अभ्यास 'कित्' हो जाता है, कित् होने से दीर्घत्व की प्राप्ति नहीं रहती- अतएव सूत्र में 'अकित्' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है।[४]

इस परिभाषा का अभीष्ट विषय : यह परिभाषा यह भी बोधन करती है कि पर, नित्य, अन्तरङ्ग, जो पूर्व आदि विधियों की बाधिका कहीं हैं, वे भी अभ्यास-विकारों में बाधक नहीं होती है।

(क) इसका लाभ— ऐसा अभीष्ट विषय मानने से ही 'अचीकरत्'[५] तथा 'मीमांसते'[६] आदि की सिद्धि होती है। यदि पर आदि विधियां यहाँ भी बाधक मानी जायें तो 'अचीकरत्' (कृ+णिच्+चङ्+तिप्) में 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे'[७] सूत्र से विहित अभ्यास के सन्वद्भाव को पर शास्त्र[८] होने से 'दीर्घो लघो:'[९] बाध लेगा। और 'मीमांसते' में 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य'[१०] सूत्र से विहित दीर्घत्व अन्तरङ्ग होने से 'सन्यत:'[११] सूत्र से विहित इत्व का बाधक हो जायगा। इत्व बहिरङ्ग

---

१. अष्टा०, ७/४/८३। २. यम् धातु, यङ् प्रत्यय।

३. 'नुगतो नुनासिकान्तस्य', अष्टा० ७/४/८५।

४. म०भा०, ७/४/८३ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ३७७-३७९।

५. कृ धातु, णिच् प्रत्यय, बृद्धि, रपरत्व, कारि-लुङ्, तिप्।

६. मान् धातु से स्वार्थिक सन् प्रत्यय।

७. अष्टा० ७/४/९३।

८. सूत्र सं० अष्टा० ७/४/९४ उपर्युक्त ७/४/९३ की अपेक्षा पर है। नियम सूत्र द्र० अश्टा० १/४/२ सन्वद्भाव का अवकाश— 'अचिक्षणत्' में, दीर्घ का 'अचीखिदत्' में है।

९. अष्टा०, ७/४/९४। १०. अष्टा०, ३/१/६।

११. वही, ७/४/७९।

है, क्योंकि सन् प्रत्यय की अपेक्षा करता है। इस प्रकार परिभाषा का उक्त अर्थ समझना चाहिए, यह पर, नित्य आदि बाधकों का भी बाध करती है।

परिभाषा के प्रवृत्ति निमित्त पर कैयट तथा नागेश का मत— (क) कैयट मत— 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि'[१] सूत्र के विवरण में कैयट यह कहते हैं कि यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है कि जहाँ उत्सर्ग की प्रवृत्ति के पश्चात् अपवाद की प्रवृत्ति सम्भव है और अपवाद की प्रवृत्ति के पश्चात् उत्सर्ग की प्रवृत्ति भी सम्भव है जैसे 'नर्नर्ति' में 'उरत्'[२] सूत्र की प्रवृत्ति होने पर रुक्, रीक्[३] आगम प्राप्त होते हैं और रुक् आदि की प्राप्ति होने पर 'उरत्' की प्राप्ति होती है। **(ख) नागेश मत—** नागेश के अनुसार उक्त मत ठीक नहीं है। क्योंकि (उदाहरण के लिए) 'यंयम्यते' में 'नुक्' आगम होने पर अजन्त अभ्यास के अभाव होने से अभ्यास-दीर्घ नहीं हो सकेगा, धर्मिग्राहकमान-परिभाषा के साधक प्रमाण (दीर्घोऽकित:'[४] सूत्र में 'अकित्' ग्रहण) के साथ विरोध भी होगा। तथा कैयट का यह कथन 'गुणो यङ्लुको:'[५] सूत्र के भाष्य में दिये गये इस पेंरिभाषा के उदाहरण 'मीमांसते'(जिसमें 'इत्व' होकर दीर्घ हुआ है) के भी विरुद्ध है, क्योंकि 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य'[६] सूत्र से दीर्घ हो जाने के पश्चात् इत्व' हो ही नहीं सकता। यदि इस परिभाषा का कैयटाभिमत अर्थ हो तो 'यंयम्यते' आदि की सिद्धि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, जिससे सूत्र में 'अकित्' ग्रहण अत्यन्त निरर्थक रहेगा। अत: कैयटोक्त मत ठीक नहीं।

परिभाषा का प्रयोजन : अभ्यास सम्बन्धी विकारों में अपवादत्व, अन्तरंगत्व, परत्व, नित्यत्व हेतुओं से बाधक विधियों को नहीं बाधने से 'अजीगणत्' में 'ई च गण:'[७] सूत्र से विहित ईत्व, 'हलादि: शेष:'[८] से विहित शेषलोप को नहीं बाधता है तथा इस अवस्था में क्रम से उसकी प्रवृत्ति होती है। पहले हलादि शेष, पश्चात् अकार को ईत्व करने पर उक्त रूप सिद्ध हो जाता है और इसी प्रकार 'डोढौक्यते, तोत्रौक्यते' इत्यादि प्रयोगों में उत्सर्ग रूप 'ह्रस्व:'[९] का बाधक दीर्घ नहीं होता है और जो ह्रस्व का अपवाद होने से औकार को औकार ही दीर्घ कर लें तो फिर ह्रस्व होकर गुण न होने से उक्त प्रयोग नहीं सिद्ध होते? इत्यादि परिभाषा के प्रयोजन हैं।

---

१. प्र० ६/४/१२० 'दीर्घत्वमात्र०' पर टिप्पणी।

२. अष्टा० ७/४/६६। ३. 'रुग्रिकौ च लुकि' अष्टा० ७/४/९१।

४. अष्टा०, ७/४/८३।

५. म०भा० ७/४/८२ 'मान्प्रभृतीनां दीर्घत्वमित्वस्य' की व्याख्या।

६. अष्टा०, ३/१/६। ७. अष्टा०, ७/४/९७।

८. वही, ७/४/६०। ९. वही, ७/४/५९।

समीक्षा : यह परिभाषा अपवाद की बाधकता का संकोच प्रस्तुत करती है। कहीं किसी प्रकरण अथवा स्थल पर अपवाद उत्सर्गों के बाधक नहीं होते हैं, वहाँ उत्सर्ग भी हो जाता है। यह परिभाषा इसी रूप में केवल नीलकण्ठ ने प्रस्तुत की है।[१] व्याडि, कातन्त्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[२] नागेश ने नीलकण्ठ के अनुसार बाध्यबाधकभाव को स्वीकार कर पाठ किया है। इस परिभाषा का अर्थ सभी ने प्राय: एक ही प्रकार का स्वीकार किया है। पुरुषोत्तमदेवादि विद्वान् भी परिभाषास्थ अपवाद उत्सर्ग को बाध्य-बाधक भाव का उपलक्षण मानकर परत्व, अन्तरङ्गत्व के द्वारा प्राप्त बाधकता का भी निषेध स्वीकार करते हैं। इस परिभाषा का ज्ञापक तथा प्रयोजन स्वरूप उदाहरण आदि सभी ने एक ही प्रकार का माना है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसका ज्ञापक 'दीर्घोऽकित:'[३] सूत्र का 'अकित्' ग्रहण माना है तथा सविस्तार उसका उपपादन भी किया है।[४] कातन्त्रकार ने ज्ञापक का कथन नहीं किया है।[५] नागेश ने भी इन्हीं के अनुसार उक्त सूत्र को ही ज्ञापक मानकर व्याख्या की है।

परिभाषा के प्रयोजनस्वरूप उदाहरण भी वे ही नागेश ने प्रस्तुत किए हैं, जो पुरुषोत्तमदेवादि ने स्वीकार किये हैं। नीलकण्ठ ने कैयट के उस वचन 'जहाँ उत्सर्ग अपवाद दोनों की प्रवृत्ति हो, वहीं यह प्रवृत्त होती है'[६] का खण्डन किया है।[७] नागेश ने भी कैयट के मत का उल्लेख करके खण्डन किया है। नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करके इस परिभाषा की पूर्ण व्याख्या की है। केवल शब्द मात्र का ही अन्तर है। इस प्रकार नागेश ने पूर्वाचार्यों का अनुकरण कर सामान्य व्याख्या की है।

(५२) क्वचित्स्वार्थिका: प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते।।प०८४।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह होती है कि 'कुटीर:'[८] इत्यादि शब्दों में स्वार्थ में 'र' आदि प्रत्यय विहित हुए हैं, ऐसे स्वार्थिक प्रत्ययों का वही लिङ्ग एवं वचन

---

१. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ५२।

२. 'अभ्यासविकारेष्वपवादा नोत्सर्गान् विधीन् बाधन्ते' परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

३. अष्टा० ७/४/८२।

४. व्याडि पाठ, परि०सं० २०, पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० २०, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ९६, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ५२, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ९८।

५. कातंत्र पाठ, परि०सं०९४। ६. प० ६/४/१२०।

७. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ५२।

८. ह्रस्वा कुटी-कुटीर : कुटी में 'कुटीशमीशुण्डाभ्योर:' अष्टा० ५/३/८८ से र प्रत्यय।

होना चाहिए, जो उनकी प्रकृति (जिससे परे वे आये हैं) का होता है।[१] यही न्याय्य[२] प्रतीत होता है तो कुटीरः में पुल्लिंग कैसे हुआ? 'कुटी' का लिंग रहना चाहिए था। इसी प्रकार 'ईषदसमाप्ता आपोऽप्कल्पम्' में स्वार्थिक 'कल्पप्' प्रत्यय की प्रकृति 'अप्'[३] के ही लिंग, वचन होने चाहिए? नपुंसक लिंग और एकवचन कैसे हुआ? इसके लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : कहीं-कहीं स्वार्थिक प्रत्यय अपनी प्रकृति के लिंग और वचनों को छोड़ भी देते हैं।

परिभाषा का आशय : 'प्रकृतितः' यहाँ षष्ठ्यर्थ में 'तसि'[४] प्रत्यय है। प्रत्यय यह महती संज्ञा है, इसे अर्थवती होना चाहिए, जहाँ शास्त्र प्रत्यय का विशिष्ट अर्थ नहीं कहता, वहाँ अर्थवत्व की जिज्ञासा में उपस्थित हुए प्रकृति के अर्थ से अर्थवत्ता जाननी चाहिए।

परिभाषा का ज्ञापक : 'णचः स्त्रियामञ्'[५] इस सूत्र में 'स्त्रियाम्' यह वचन इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्'[६] सूत्र से स्त्रीलिंग वाच्य होने पर 'णच्' विधान किया है तो स्वार्थ में 'अञ्' भी स्त्रीलिंग वाच्य होने पर ही होगा, तो प्रकृत सूत्र में 'स्त्रियाम्' यह वचन व्यर्थ हो जाता है। फलतः व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। इसी प्रकार ज्ञापक सामान्य का अपेक्षी होने से वचनांश में भी सिद्धि होती है, समझनी चाहिए।

'क्वचित्' का तात्पर्य : 'क्वचित्' कहने का प्रयोजन यह है कि व्यवहारवश कहीं-कहीं ही प्रकृति के लिंग एवं वचन को अतिक्रमण करता है, कहीं-कहीं प्रकृति के अनुकूल ही लिंग वचन रहते हैं।[७] प्रकृत्यर्थ के विशेषण रूप से उपस्थित हुए लिंग संख्या द्वारा प्रकृति के लिंग संख्या का अनुवर्तन होना सामान्य ही है। **उदाहरण**— इसमें 'बहुगुडो द्राक्षा', 'बहुपयो यवागूः' इत्यादि में प्रकृति के अनुकूल ही लिंग वचन रहते हैं।

---

१. प०शे०, पृष्ठ ४१४।

२. गदा, पृष्ठ १७६ 'यो यत्र स तद्धर्मभागिति लौकिकन्यायेत्यर्थः'।

३. नित्यस्त्रीलिंग एवं बहुवचनान्त शब्द। द्र० लिंगानुशासन 'अप्सुमनस०' आदि सूत्र।

४. का०वा० ५/४/४४ 'तसि प्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' से तसि एवं सि०कौ०, ५/४/४४।

५. अष्टा० ५/४/१४। ६. अष्टा० ३/३/४६।

७. गूढार्थ०, पृष्ठ ४१५ एवं गदा, पृष्ठ १७६।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से 'कुटीरः' यहाँ लिंग का अतिक्रमण साधु होता है। कुटी स्त्री लिंग है, कुटीरः पुमान् है। इसी प्रकार 'अप्कल्पम्' में नियत स्त्री लिंग एवं बहुवचनान्त 'अप्' शब्द से 'कल्पम्' प्रत्यय स्वार्थ में हुआ है, वह अपने लिंग वचन को छोड़कर नपुंसकलिंग एकवचन में प्रयुक्त हुआ है— यहाँ लिंग एवं वचन दोनों का अतिक्रम है। इसी प्रकार गुडकल्पा द्राक्षा, पयस्कल्पा यवागूः में गुड पुल्लिंग और पयः नपुंसक लिंग से कल्पप् प्रत्यय होकर स्त्रीलिंग हो जाता है। इसी प्रकार पचतो रूपम्, पचन्तिरूपम् में वचन का अतिक्रम सिद्ध होता है— इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : प्रस्तुत परिभाषा स्वार्थिक प्रत्ययों के लिंग और वचन के विषय में व्यवस्था का निश्चय करती है। सामान्यतः स्वार्थिक प्रत्ययों के लिंग एवं वचन प्रकृति के लिंग एवं वचन के तुल्य होते हैं, परन्तु कहीं-कहीं इसका अपवाद भी दिखाई देता है। इसका कथन इस परिभाषा से कथित है। यह परिभाषा इसी रूप में, पूर्ववर्ती किसी भी परिभाषा पाठ में नहीं मिलती है। व्याडि, शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र, भोज तथा हेम ने नहीं प्रस्तुत की है। जैनेन्द्र ने 'क्वचित्' शब्द सहित इसका पाठ करते हुए भिन्न रूप में मानी है।[१] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव 'क्वचित्' शब्दरहित पाठ करते हुए 'अपि' अन्त में प्रयुक्त करते हैं।[२] नीलकण्ठ 'क्वचित्' शब्दरहित भिन्न रूप में पाठ करते हैं।[३] हरिभास्कर ने भी कुछ भिन्न रूप में पाठ किया है।[४]

परिभाषा का अर्थ प्रायः सभी में एक ही जैसा है, जिसका[५] कुछ ने उल्लेख किया है और कुछ ने नहीं किया है। इसके ज्ञापक के विषय में प्राचीन एवं नागेश में मतभेद नहीं है। जैनेन्द्र ने कोई ज्ञापक नहीं दिया है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'णचः स्त्रियामञ्'[६] सूत्र में 'स्त्रियाम्' ग्रहण को ज्ञापक मानते हुए उपपादित किया है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करके उक्त सूत्र में ही 'स्त्रियाम्' ग्रहण ज्ञापक माना है। इसका प्रयोजन नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर ने नहीं दिया है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए संक्षिप्त व्याख्या में प्रयोजन नहीं दिया है।

---

१. 'क्वचित् स्वार्थिका : प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अतिवर्तन्तेऽपि' — जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० ९६।

२. 'स्वार्थिका : प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यति वर्तन्तेऽपि' — पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ५८, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ५८।

३. 'स्वार्थिका : प्रत्यया : प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' — नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ७३।

४. 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' — द्र० हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०६०।

५. पुरुषोत्तमदेव। ६. अष्टा०, ५/४/४३।

पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव ने इसके प्रयोजन स्वरूप उदाहरणों का विस्तार से प्रतिपादन करते हुए अति विस्तृत व्याख्या की है।

(५३) सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य।।प०८६।।

परिभाषा का उपक्रम : यहाँ यह शङ्का होती है कि शतानि (शत+नुम्+शि-) इस अवस्था में 'शतन्' नकारान्त है। अत: 'ष्णान्ता षट्'[१] सूत्र से षट्-संज्ञा होने लगेगी, जिससे 'षड्भ्यो लुक्'[२] सूत्र से शि का लुक् प्राप्त होता है। इसी प्रकार (उपपूर्वक दीङ् के लुङ्) 'उपादास्त' में दीङ् के एच्-विषय में उपदेशावस्था में ही ई का आ हो जाने पर घु-संज्ञा हो सकती है, अत: 'स्थाघ्वोरिच्च'[३] सूत्र से इकार अन्तादेश प्राप्त होता है। इसके पश्चात् सिच् का लोप प्राप्त होता है? इस प्रकार की शङ्काओं के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : सन्निपात निमित्तक विधि अपने निमित्त के विघातक दूसरे विधिशास्त्र का निमित्त नहीं बनती अर्थात् निमित्त के विनाश का कारण नहीं होती है।

परिभाषा का आशय : सन्निपातलक्षण:[४]— यह बहुव्रीहि है। 'सन्निपात' का अर्थ सम्बन्ध (संश्लेष, आनन्तर्य) है। 'लक्षण' शब्द निमित्तवाची है। जो एक के आश्रय से दूसरे के साथ सम्बन्ध होना है, वह 'सन्निपात' कहलाता है। इस प्रकार सन्निपात शब्द से पूर्व और पर तथा विशेषण और विशेष्य सम्बन्ध भी समझना चाहिए।[५] 'तद्विघातस्य' (तद्विघात:)[६] कर्म उपपद होने पर हन् धातु से अण् प्रत्ययान्त है। विशेष्य 'विधे:' अध्याहार्य है— इस प्रकार पूर्णरूपेण यह अर्थ हुआ— "उसी सन्निपात सम्बन्ध को कारण मानकर होने वाली विधि, ऐसे दूसरे विधिशास्त्र का निमित्त नहीं होती है, जो उस सन्निपातसम्बन्ध का विघातक होता है।"[७] इसी प्रकार में सन्निपात शब्द से पूर्व, पर के सम्बन्ध मात्र का ही ग्रहण नहीं होता है, विशेष्य-विशेषण-सन्निपात भी गृहीत होता है। अत: विशेष्य का विशेषण के साथ सन्निपात होने पर भी परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।[८]

---

१. अष्टा०, १/१/२४। २. वही, ७/१/२२।

३. वही, १/२/२७।

४. सन्निपात : (द्वयोस्सम्बन्ध:) लक्षणं (निमित्तं) यस्येति 'सन्निपातलक्षण:'।

५. प०शे०, पृष्ठ ४१७, पं० २-३, गूढार्थ०, पृष्ठ ४१६।

६. तं विहन्ति-तद्विघात : (विघातक:)।

७. प०शे०, पृ० ४१६-४१७। ८. प०शे०, पृष्ठ ४१७।

परिभाषा का हेतु : यह परिभाषा लोक-न्यायमूलक है। उपजीव्य के साथ उपजीवक का विरोध अयुक्त है, यह लोकन्याय है कि जो पुरुष जिस धनाढ्य के धन से स्वयं धनवान् हुआ हो, वह उसी धन से धनाढ्य का विघात करे— ऐसा कभी ठीक नहीं है कि जिससे संग से जो सामर्थ्य प्राप्त होता है, उस सामर्थ्य से उसी को नष्ट करे।[१] **(क) उक्त अर्थ मानने का फल**— उक्त न्याय पर आधारित होने से यह परिभाषा ज्ञापक सिद्ध नहीं माननी चाहिए। यदि यह वस्तुतः ज्ञापकसिद्ध हो तो सन्निपात से विशेष्य-विशेषण सन्निपात का बोध नहीं होगा, क्योंकि ऐसा सन्निपात ज्ञापकरूप से माने हुए किसी सूत्र में भी विद्यमान नहीं है।[२]

(ख) उक्त अर्थ मानने में प्रमाण— अतएव 'ग्रामणि' एवं 'ग्रामणिकुलम्' इन दो व्यस्त और समस्त पदों में 'ग्रामणि' (क्विबन्त) को नपुंसक में ह्रस्व कर लेने पर पित् और क्विप् परे रहते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्'[३] सूत्र से 'तुक्' प्राप्त होता है। परन्तु इस परिभाषा के कारण तुक् नहीं होता। यदि तुक् हो जाय तो प्रातिपदिक का अजन्तत्व रूप विशेषण के साथ सम्बन्ध छिन्न हो जायगा। ह्रस्व विधि को अपने उपजीव्य अजन्तत्व के विघातक तुक्विधि का निमित्त नहीं होना चाहिए।[४] तुक् आने से प्रातिपदिक अजन्त नहीं रहता, यह स्पष्ट ही है। इसी प्रकार इस परिभाषा से 'ग्रामणिकुलम्' में 'तुक्' का निमित्त ह्रस्व नहीं बनता है, क्योंकि इगन्त पूर्वपद-सन्निपात का तुक् विघातक है। यहाँ स्पष्ट ही विशेष्य-विशेषण-भावि रूप सम्बन्ध का ग्रहण है।[५] **इस विषय पर कैयटादि का मत :** इनके अनुसार विशेष्य-विशेषण सन्निपात मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह 'ग्रामणिकुलम्' में अन्यथा-सिद्ध हो जायगा। ह्रस्वत्व नपुंसकत्व रूप अर्थ की अपेक्षा रखता है,[६] अतः बहिरङ्ग है और बहिरङ्ग होने से असिद्ध है। तब ह्रस्व के अभाव में तुक् नहीं होगा। अतः यहाँ विशेष्य-विशेषण भाव वाले सन्निपात का ग्रहण नहीं होगा।[७] **नागेश मत :** इनके अनुसार उक्त व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ का आश्रयण करके 'बहिरङ्गता' नहीं मानी जाती है।[८]

'तुक् विधि' विषय में बहिरङ्ग परिभाषा की अप्रवृत्ति : यदि यह अर्थापेक्ष बहिरङ्गता स्वीकार करते हैं तो भी तुग्विधि में बहिरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। **(क) उक्त अर्थ में प्रमाण**— इस प्रसङ्ग में नागेश ने कतिपय सूत्रों का प्रमाण प्रस्तुत किया है क्योंकि 'षत्वतुकोरसिद्धः'[९] सूत्र में 'तुक्' ग्रहण करने के कारण

१. गदा, पृष्ठ ११७, पं०१८-१९। २. गूढार्थ०, पृष्ठ ४१७।
३. अष्टा०, ६/१/७१।
४. प०शे०, पृष्ठ ४१७ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ४१७।
५. गदा, पृष्ठ १७७-१७८। ६. अष्टा०, १/२/४७।
७. प०शे०, पृष्ठ ४१८। ८. प०शे० परि०सं० ५०।
९. अष्टा० ६/१/८६।

'कृति'[१] में 'तुक्' का ग्रहण इसका ज्ञापक है कि तुग् विधि में बहिरङ्ग परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है।[२] **(ख) वार्तिककार का प्रमाण**— उभयविधि-सन्निपात शास्त्रकार को अभिमत है, इसीलिए प्रकृत परिभाषा के दोष निरूपण के अवसर पर अति-व्याप्ति रूप दिखाते हुए सिद्धान्ती वार्तिककार[३] ने कहा है कि 'वर्णाश्रय (अकाराश्रित) इञ प्रत्यय, वर्ण-विनाशक विधि का निमित्त नहीं होगी', (यदि सन्निपात परिभाषा नित्य हो)। इससे स्पष्ट होता है कि विशेष्य-विशेषण सन्निपात वार्तिककार को अभिमत है। यदि ऐसा न हो तो परिभाषा की प्रवृत्ति का अवसर ही नहीं, अतिव्याप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।[४]

परिभाषा का लिङ्ग : सन्निपात निमित्तक विधि का सद्भाव इस परिभाषा का निमित्त है।[५] जहाँ यह निमित्त है, वहाँ यह परिभाषा प्रवृत्त होती है। परिभाषार्थ इस प्रकार है। "जिस सन्निपात को निमित्त बनाकर जो कोई शास्त्र अथवा कार्य प्रवृत्त होता है, वह शास्त्र अथवा कार्य उस सन्निपात की विघातक विधि का स्वयं निमित्त नहीं होता, जो सन्निपात उस पूर्व शास्त्र एवं कार्य की प्रवृत्ति से पूर्व विद्यमान होकर उसकी प्रवृत्ति का निमित्त था।"[६]

परिभाषा को मानने में शङ्का एवं समाधान— शङ्का— यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि यह परिभाषा है तो 'रामाय' इत्यादि उदाहरणों में 'सुपि च'[७] सूत्र से दीर्घ नहीं होना चाहिए, क्योंकि अदन्तत्व अंग तथा ङे के सन्निपात से उत्पन्न हुए य आदेश को उस सन्निपात के विघातक दीर्घ विधायक 'सुपि च' का निमित्त नहीं होना चाहिए?[८] **समाधान**— 'रामाय' विषयक आक्षेप में वस्तुत: कुछ सार नहीं है, क्योंकि यह परिभाषा अनित्य मानी गयी है।[९] इसमें पाणिनि का 'कष्टाय क्रमणे'[१०] सूत्र में 'कष्टाय' निर्देश ज्ञापक है तथा इस परिभाषा की प्रवृत्ति के लिए यह अत्यावश्यक नहीं है कि जिन दो

---

१. 'नलोप: सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति'— अष्टा० ८/२/२।

२. प०शे० परि०सं० ५१ 'नाजानन्तर्ये०' ए० द्र० गूढार्थ०, पृष्ठ ४१८।

३. वा० म०भा० १/१/३९।

४. प०शे०, पृष्ठ ४१९-४२०, गूढार्थ०, पृष्ठ ४१८-४२०, गदा, पृष्ठ १७८-१७९।

५. प०शे०, पृष्ठ ४२०।

६. गदा, पृष्ठ १७९ एवं प०शे०, पृष्ठ ४२० तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ४२०।

७. अष्टा०, ७/३/१०२।

८. प्र०शे० पृष्ठ ४२१ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ वही।

९. म०भा० १/१/३९ अनित्य होने से उपर्युक्त प्रयोग में ह्रस्व का विघातक दीर्घ हो ही जायेगा।

१०. अष्टा० ३/१/१४।

के सन्निपात को, सन्निपातविघातकविधि नष्ट करेगी, उन दो का सन्निपात निमित्तकविधि में उपादान भी हो।[१] **(क) दोष में शङ्का**— दीर्घत्व के यञादि सुप् की अपेक्षा करने से इस परिभाषा की दृष्टि में ('य' आदेश की दृष्टि में) बहिरङ्गतया असिद्ध होने से सन्निपात का विघात ही नहीं है, तो इस परिभाषा की प्रवृत्ति स्वत: नहीं होगी, कोई दोष नहीं है।[२]

समाधान— यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस परिभाषा की प्रवृत्ति के लिए वास्तविक सिद्धता ली जाती है, आरोपित शास्त्र द्वारा कल्पित असिद्धता नहीं। फलत: दीर्घविधि से सन्निपात का विघात होगा, यह दोष आता ही है।[३] और भी, दीर्घत्व असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अन्तरङ्ग कार्य की कर्तव्यता में कृति-बहिरङ्ग कार्य असिद्ध है, अन्तरङ्ग कार्य के हो जाने पर बहिरङ्ग की असिद्धता में कोई प्रमाण नहीं है।[४] 'ङेर्य:'[५] सूत्र विहित य आदेश अन्तरङ्ग है, उसके होने पर 'सुपि च'[६] से दीर्घ प्राप्त होता है, जो बहिरङ्ग है। इसी प्रकार इस परिभाषा के मानने में अन्य दोष आते हैं।[७] इन सबका समाधान नागेश ने अनित्य मानकर दे दिया है। **अनित्य मानने में भाष्य सम्मति :** इसी कारण 'कृन्मेजन्त:'[८] सूत्र के भाष्य में 'दाक्षि:' इस प्रयोग में अकारान्त प्रकृति दक्ष और 'इञ्' प्रत्यय के सन्निपात से जायमान अंग संज्ञा इस परिभाषा से अ लोप का निमित्त न होगी? ऐसी शङ्का करके परिभाषा को अनित्य मानकर समाधान किया है। यदि ऐसा न हो तो अंग संज्ञा विधायक शास्त्र में अदन्त प्रकृति को इञ् प्रत्यय परे होने पर अंग संज्ञा होती है, ऐसा नहीं कहा है। अत: इसमें परिभाषा की प्रवृत्ति ही न होगी।[९] **(क) भाष्यवचन के असङ्गत्य की शङ्का**— कुछ विद्वानों का यह मत है कि 'कुम्भकारेभ्य:, आधये' आदि में 'कुम्भकारे' आदि की इस परिभाषा की प्रवृत्ति से अव्यय संज्ञा नहीं होगी? अत: यह भाष्यकार का वचन असङ्गत है। **(ख) असांगत्य का निवारण**— भाष्यकार के उपर्युक्त वचन में कोई असंगति नहीं है। भाष्यकार जब परिभाषा की प्रवृत्ति से 'कुम्भकारे' आदि उदाहरण देते हैं तो उदाहरणप्रामाण्य से इस

---

१. प०शे० पृष्ठ ४२३, गदा, पृष्ठ १८१ यथा 'घेर्ङिति' (७/३/१११) में दो (घि तथा ङित्) (का) सन्निपात लक्षण विधि का उपादान है।

२. प०शे०, पृष्ठ ४२१, गूढार्थ०, पृष्ठ ४२१।

३. गदा, पृष्ठ १८०।

४. प्र०शे० पृष्ठ ४२१-४२३, गूढार्थ०, पृष्ठ ४२१।

५. अष्टा० ७/३/१०२। ६. अष्टा० ७/३/१०२।

७. प०शे० पृष्ठ ४२६-४२७ इवं म०भा० १/१/३९।

८. म०भा० १/१/३९।

९. गूढार्थ०, पृष्ठ ४२४ तथा प०शे०, पृष्ठ ४२४।

परिभाषा का यह अर्थ होता है— "साक्षात्" अथवा परम्परा द्वारा अपने निमित्त की विघातक जो विधि है, सन्निपातलक्षण विधि स्वयम् उसका निमित्त नहीं बनती है।"[१] 'कुम्भकारेभ्य:' इत्यादि में झलादि, बहुवचन सन्निपात निमित्तक जो एत्व[२] उसका जो अव्ययत्व[३] वह चाहे साक्षात् उसका विघातक नहीं है, तथापि अव्ययसंज्ञा के फलभूत लुक्[४] प्राप्ति द्वारा परम्परया अव्ययत्व भी तादृश सन्निपात का विघातक ही है। अत: परिभाषा की प्रवृत्ति द्वारा भाष्यकार कृत अव्यय-संज्ञा वारण सर्वथा युक्त है।[५]

'कार्यकालपक्ष' में परिभाषाश्रयण में शङ्का : इस पक्ष में अव्यय संज्ञा (कृन्मेजन्त:)[६] लुक् विधि 'अव्ययादाप्सुप:'[७] सूत्र में सन्निहित होकर एकवाक्यतापन्न हो जाती है तो 'लुक्' के सन्निपात विघातक होने से इस परिभाषा से लुक् नहीं होगा। परन्तु जब अव्यय संज्ञा 'अकच्' विधायक शास्त्र 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे:'[८] सूत्र में सन्निहित होकर एकवाक्यतापन्न हो जाती है तो अकच् के टि से पूर्व निविष्ट होने से सन्निपातविघातक न होने के कारण 'कुम्भकारे' आदि की अव्यय संज्ञा होती ही है।[९]

समाधान— यह कथन ठीक नहीं है। अकच् के साथ एकवाक्यतापन्न अन्तरङ्ग अव्यय संज्ञा के प्रति, गुण तथा 'कुम्भकारेभ्य:' में एत्व के बहिरङ्गतया असिद्ध होने से अकच् नहीं होगा और इसके साथ अन्वित अव्यय संज्ञा भी नहीं होगी। लुक् विधि के साथ एकवाक्यतापन्न अव्ययसंज्ञा गुणादि से अन्तरङ्ग नहीं है, क्योंकि गुणादि सुप् के आश्रित हैं और अव्यय संज्ञा भी। इस प्रकार यहाँ बहिरङ्ग परिभाषा से 'कुम्भकारे' आदि में सुब्लुक् तथा अव्ययसंज्ञा को रोक नहीं सकते, इसलिए तदर्थ सन्निपात परिभाषा का आश्रयण करना होगा।[१०]

परिभाषा की अनित्यता में प्रमाण : 'कष्टाय क्रमणे'[११] सूत्र से परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित होती है, साथ ही 'न यासयो:'[१२] इस सूत्र से भी यह अनित्य सिद्ध होती है।[१३] **(क) अनित्यत्व का लाभ :** यदि सर्वत्र संकोचाभाव से इस परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो अनेक दोष प्रसक्त होते हैं। अत:[१४] भाष्य में इन्हें परिगणित किया

---

१. प०शे० पृष्ठ ४२५। २. अष्टा० ७/३/१०३।
३. अष्टा० १/१/३९ एजन्त होने से।
४. अष्टा० २/४/८२। ५. गदा, पृष्ठ १८२।
६. अष्टा० १/१/३९। ७. वही, २/४/८२।
८. वही, ५/३/७१। ९. प०शे०, पृष्ठ ४२५।
१०. प०शे० पृष्ठ ४२५, गूढार्थ०, पृष्ठ वही, गदा, पृष्ठ १८२।
११. अष्टा० ३/१/१४। १२. अष्टा० ७/३/४५।
१३. गूढार्थ०, पृष्ठ ४२५, पं० अंतिम, तथा ४२६ पं० १।
१४. म०भा० १/१/३९।

गया है, जिससे इष्ट विषय में इसकी प्रवृत्ति हो, अनिष्ट में न हो— इस प्रकार भाष्य में अनित्यत्व के फल प्रदर्शित किये गये हैं, जिनमें कुछ निम्न रूप में हैं— **(अ)** यदि यह परिभाषा नित्य हो तो वर्णाश्रय प्रत्यय, वर्ण विनाशक विधि का निमित्त नहीं होगा। 'दाक्षि:' में दक्ष के अन्त्य 'अ' का लोप न हो सकेगा, अनित्य होने से हो जाता है। **(आ)** इसी प्रकार आकार आदेश पुक्विधि में निमित्त न हो सकने से पुक् नहीं हो सकता। **(इ)** इसी प्रकार अन्य[१] छह दोषों का भी प्रदर्शन किया गया है। भाष्यकार ने उक्त दोषों को दिखलाकर कहा है "दोषा: खल्वपि साकल्येन परिगणिता:"[२] तात्पर्य यह है इन विधियों को छोड़कर अन्यत्र इसकी प्रवृत्ति होती है, फलत: कोई दोष नहीं आता है। दोषों का निवारण अनित्य मानने से हो जाता है। यथा रामाय में अकारान्त निमित्तक ङेर्य[३] सूत्र से 'ङे' का 'य' करने पर यकार आदि सुप् परे होने पर 'सुपि च'[४] सूत्र से दीर्घ हो जाता है। स्पष्ट ही उपजीव्य अकारान्त सन्निपात का विघात हुआ है।[५]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से शतानि, सहस्राणि आदि उदाहरण सिद्ध होते हैं। यहाँ शत, सहस्र शब्द से जस् का शि आदेश हुआ है। पुन: शि के आश्रय से शत शब्द को नुम् होकर शत नान्त हुआ, अब जिसके आश्रय से शत को नान्तत्व धर्म प्राप्त हुआ, वह नान्त गुण उसी का विघात करे, यह ठीक नहीं है। इससे शि का लुक्[६] नहीं होता। इसी प्रकार विभक्ति के सन्निपात से जो नुम् हुआ है, वह विभक्ति के लुक् का निमित्त नहीं बनता, अत: षट् संज्ञा नहीं होती है। इसी प्रकार इयेष, उवोष सिद्ध होते हैं। यहाँ 'णल्'[७] प्रत्यय के आश्रय से इष्, उष् धातु का गुण[८] होता है, गुण होने से इजादि मानकर 'आम्'[९] प्रत्यय प्राप्त है तथा आम् प्रत्यय के हो जाने से उससे परे 'लुक्'[१०] कहा है, तो उसी णल् का विघातक हो जाय जिसके आश्रय से इष्, उष् अजादि हुए हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : इस परिभाषा से 'सन्निपात'-सम्बन्धी विधि के विषय में विचार किया गया है। कोई विधि किसी को निमित्त मानकर प्रवृत्त हो जाय, तब विधि के होने के

---

१. (१) 'अदीदिपत्' में पुक्, ह्रस्व का निमित्त नहीं होगा, (२) या, सा में अत्व, टाप् का निमित्त नहीं होगा, (३) 'पपिवान्' में इट् विधि, आलोप का, इसी प्रकार अन्य दोष— द्र० प०शे० पृष्ठ ४२७, गूढार्थ०, पृष्ठ ४२७।

२. म०भा०, १/१/३९।

३. अष्टा० ७/१/१३।

४. अष्टा० ७/३/१०२।

५. गदा, पृष्ठ १८३।

६. 'षड्भ्यो लुक्' अष्टा० ७/१/२२।

७. अष्टा० ३/४/८२।

८. अष्टा० ७/३/८४।

९. 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ:' अष्टा० ३/१/३६।

१०. 'आम:' अष्टा० २/४/८१।

उपरान्त, उस शब्द को मानकर अन्य विधि हो सकती है या नहीं? इसी का प्रतिपादन यह परिभाषा करती है।

व्याडि[१] आदि सभी ने यह परिभाषा इसी रूप में स्वीकार की है।[२] इस परिभाषा के अर्थ के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। व्याडि और कातन्त्र ने 'सन्निपात' का कोई अर्थ न देते हुए सामान्य व्याख्या की है।[३] जैनेन्द्र और नीलकण्ठ ने 'सन्निपात' का, दो का (एक दूसरे का आश्रय मात्र का) सम्बन्ध अर्थ मानते हुए 'विधि' का अर्थ 'कार्य' मानकर अर्थ प्रस्तुत किया है।[४] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने 'सन्निपात' का आनन्तर्य अर्थ मानते हुए जिस आनन्तर्य से जो हुआ है, उसका वह विघातक नहीं होता, ऐसा अर्थ प्रस्तुत किया है।[५] नागेश ने सन्निपात का उक्त अर्थ न स्वीकार कर 'दो का सम्बन्ध' सन्निपात का अर्थ नीलकण्ठ के आधार पर स्वीकार करके स्पष्टतया अर्थ का कथन किया है।[६] इसके हेतु के विषय में भी प्राचीनों एवं नवीनों में मतभेद है। व्याडि इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'अतो दीर्घो यञि'[७] में 'यञि' ग्रहण को ज्ञापक माना है। कातन्त्र ने भी ज्ञापक प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र ने लोकन्याय-सिद्ध मानी है। पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव ने ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'न तिसृचतसृ'[८] में नाम परे रहते 'दीर्घ प्रतिषेध' को ज्ञापक माना है तथा इसका विस्तार से उपपादन भी किया है।[९] नीलकण्ठ ने इसका ज्ञापक 'वामि'[१०] तथा 'ङिति ह्रस्वश्च'[११] इन दोनों सूत्रों का पृथक्-पृथक् पाठ माना है।[१२] हरिभास्कर ने लौकिक न्याय से सिद्ध मानते हुए सीरदेवोक्त ज्ञापक का खण्डन किया है।[१३] नागेश ने इसे ज्ञापक सिद्ध न मानकर (लोक) उपजीव्य विरोध-न्यायमूलक माना है तथा इसको न्यायमूलक मानने में विस्तार से भाष्य प्रमाण पूर्वक हेतु का भी उपन्यास किया है।

---

१. शाकटायन, चान्द्र, कातंत्र आदि हरिभास्कर पर्यन्त।

२. परिसंग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

३. व्याडिपाठ, परि०सं० १०, कातंत्र पाठ, परि०सं० ३१।

४. जैनेन्द्रपाठ, परि०सं० ३९, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ७५।

५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १०, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ६४, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६६।

६. गदा, पृष्ठ १७७।

७. अष्टा० ७/३/१०१।

८. वही, ६/४/४।

९. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १०, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ६४।

१०. अष्टा० १/४/५।

११. अष्टा० १/४/६।

१२. नीलकंठवृत्ति, परि०सं०७५।

१३. हरिभास्कर वृत्ति, परि०सं० ६६।

परिभाषा की प्रवृत्ति विषय में व्याडि, कातन्त्र आदि[१] ने कुछ नहीं कहा है। नीलकण्ठ ने कुछ निर्देश अवश्य किया है।[२] नागेश ने इसकी प्रवृत्ति का स्पष्ट निर्देश किया है एवम् इसका शङ्का समाधानपूर्वक अतिविस्तार से भाष्यप्रामाण्य के आधार पर उपपादन किया है। इस परिभाषा के प्रयोजनों का सभी ने विस्तार से उपादन किया है। व्याडि ने अति विस्तार से प्रयोजनों में शङ्का समाधान करके प्रस्तुत किया है। कातन्त्र और जैनेन्द्र ने सामान्य प्रयोजन का कथन किया है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने विस्तार से प्रयोजनों का निरूपण किया है। नागेश ने भी विस्तार से इसका प्रयोजन प्रस्तुत किया है। इस प्रसङ्ग में कैयट, दीक्षित तथा सीरदेवादि के प्रयोजनों पर कथित वक्तव्यों का शङ्का समाधानपूर्वक उपपादन किया है। यह परिभाषा अनित्य है, इसको प्राय: सभी ने स्वीकार किया है। व्याडि, कातन्त्र तथा जैनेन्द्र ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है। पुरुषोत्तमदेव ने 'कष्टाय क्रमणे'[३] में 'कष्टाय' निर्देश को इसके अनित्यत्व का ज्ञापक मानते हैं। सीरदेव ने भी इसी सूत्र निर्देश को मानते हुए इसके ज्ञापक में शङ्का समाधानपूर्वक विस्तार से विचार किया है। नीलकण्ठ ने 'कष्टाय क्रमणे'[३] सूत्र में 'कष्टाय' निर्देश को अनित्यता का ज्ञापक माना है। हरिभास्कर ने 'न षट्-स्वस्रादिभ्य:'[४] में स्वस्रादिगण में तिसृ, चतसृ के पाठ से अनित्य मानते हुए 'कष्टाय' को भी माना है। नागेश ने इसकी अनित्यता का ज्ञापक 'कष्टाय' क्रमणे' में 'कष्टाय' निर्देश तथा न यासयो:[५] यह निर्देश ही माना है तथा अति विस्तार से अनित्यत्व के प्रयोजनों का संकलन किया है। इस प्रकार नागेश ने परिभाषा के सभी विषयों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। मध्य-मध्य में अन्यों के मतों का खण्डन भी किया है।

(५४) सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपाय:।।प०८७।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह होती है कि 'पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्र:' (याग:) इत्यादि में 'पञ्चेन्द्राणी' शब्द से देवता अर्थ में विहित द्विगुनिमित्तक तद्धित प्रत्यय अण्[६] का 'द्विगोर्लुगनपत्ये'[७] सूत्र से लुक् हो जाने पर 'लुक् तद्धितलुकि'[८] सूत्र से स्त्री-प्रत्यय ङीष्[९] का लुक् हो जाता है। इसके पश्चात् 'आनुक्' आगम का श्रवण प्राप्त होता है, इस प्रकार 'पञ्चेन्द्र:' आदि शब्द सिद्ध नहीं हो सकते, इस शङ्का की समाधि के लिए यह परिभाषा है।

---

१. जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर।

२. नीलकंठवृत्ति, परि.सं.७५।

३. अष्टा०, ३/१/१४।

४. वही, ४/१/१०।

५. वही, ७/३/४५।

६. अष्टा०, ४/२/२४।

७. अष्टा० ४/१/८८।

८. वही, १/२/४९।

९. वही, ४/१/४९।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : जिन दो का एक साथ विधान हुआ है, उनमें से एक के चले जाने पर दूसरा भी चला जाता है अर्थात् जिस कार्य के होने में एक साथ दो का नियम हुआ हो उनमें से जब एक की शास्त्र से निवृत्ति सम्भव होती है, तो दूसरे की भी निवृत्ति समझनी चाहिए।[१]

परिभाषा का ज्ञापक : इस परिभाषा का 'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्'[२] सूत्र का 'छ' ग्रहण ज्ञापक है। यह सूत्र तद्धित परे रहते छ[३] प्रत्यय का लुक् विधान करता है। 'नडादीनां कुक् च'[४] यह सूत्र 'नड' आदि गणस्थ शब्दों से छ प्रत्यय का विधान करता है और उसी छ प्रत्यय के सन्नियोग से 'कुक्' आगम का भी। नडादिगण में बिल्व शब्द पठित है। इसी बिल्व का लुक् आगम सहित का 'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्' में प्रतिपदोक्त होने से ग्रहण है। 'नडादीनां कुक् च' से बिल्वादि शब्द का उच्चारण करके छ प्रत्यय और उसके सन्नियोगशिष्ट 'कुक्' आगम का विधान किया गया है, जो प्रतिपदोक्त विधि है। इस प्रकार 'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्'[५] में 'छस्य' इसलिए पढ़ा है कि केवल छ प्रत्यय की ही निवृत्ति हो, सन्नियोगशिष्ट कुक् आगम की न हो। यदि यह परिभाषा नहीं हो तो छ प्रत्यय का ही लुक् होता, कुक् से लुक् का कोई प्रसङ्ग ही नहीं था। बिल्वकादि से परे कुक् न होने से तो सूत्र में 'छस्य लुक्' कहना व्यर्थ होता। परिभाषा के ज्ञापित होने पर सन्नियोग शिष्ट कुक् का भी लुक् हो जाना चाहिए, अत: उसके वारण के लिए 'छ' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि आगमी की निवृत्ति में आगम की भी निवृत्ति हो जाती है। तब विहित कुगागम-बिल्वकादि से 'छ' का लुक् कहा है। इस प्रकार इस परिभाषा से प्राप्त कुक् के लुक् की निवृत्ति के लिए 'छ' ग्रहण के चरितार्थ रहने से छ ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है।[६]

परिभाषा की लोकन्यायसिद्धता (हेतु) : कहीं-कहीं यह लोकन्यायसिद्ध भी होती है।[७] जब शास्त्र में दो कार्यों को समुच्चयार्थ 'च' से जोड़ा गया हो, जैसे 'वनो र च'[८] में, तो 'च' द्वारा समुच्चित दो कार्य[९] एक ही समय में तथा एक ही देश[१०] में हो सकते हैं, तब यह परिभाषा लोकन्याय से भी सिद्ध है। यथा 'वनो र च'- यह ङीप् तथा अन्तादेश 'र्' का एक साथ विधान करता है। 'च' इस साहचर्य का ग्राहक

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ ४२८।
२. अष्टा० ६/४/१५३।
२. अष्टा० ४/२/९१।
४. वही, ४/२/९१।
५. अष्टा० ६/४/१५३।
६. प०शे० पृष्ठ ४२८-४३०, गूढार्थ०, पृष्ठ ४२९-४३०, गदा, पृष्ठ १८४-१८५।
७. प०शे० पृष्ठ ४३०, एवं गूढार्थ०, पृष्ठ ४३०।
८. अष्टा० ४/१/७।
९. ङीप् तथा तत्सन्नियुक्त रेफोदश।
१०. यथा 'बहुधीवन्' में वन् रूप एकदेश में ही।

पढ़ा है। जैसे 'बहुधीवा' में विहित आर्हीय प्रत्यय 'ठक्'[१] का 'अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्'[२] सूत्र से लुक् होने पर स्त्री-प्रत्यय का 'लुक् तद्धितलुकि'[३] सूत्र से लुक् होने पर 'ङ्' की निवृत्ति हो जाती है। लोक में भी देखा जाता है कि जब देवदत्त और यज्ञदत्त को मिलकर एक काल में तथा एक स्थान में कार्य करना होता है, तब एक (देवदत्त) के निवृत्त हो जाने पर दूसरा (यज्ञदत्त) भी निवृत्त हो जाता है।

कैयटोक्त अनित्यत्व मत : कैयट[४] मानते हैं कि 'णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य'[५] इस वार्तिक द्वारा 'णिच्' परे रहते प्रातिपदिक का पुंवद् विधान इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक है। उनका यह कहना है कि यदि यह परिभाषा नित्य होती तो एनीमाचष्टे- 'एतयति'- यहाँ टि[६]लोप से ही ङीप् की निवृत्ति होने पर सन्नियोगशिष्ट-परिभाषा से नकार की भी निवृत्ति हो जाने पर 'एतयति' रूप सिद्ध हो जायेगा, तो उक्त वार्तिक द्वारा पुंवद्भाव-विधान व्यर्थ हो जायगा। फलतः परिभाषा अनित्य प्रतीत होती है।[७]

नागेश मत : नागेश के अनुसार उक्त कथन ठीक नहीं है। परिभाषा के नित्य होने पर भी 'ऐडविडयति' आदि में पुंवद्भाव आवश्यक है। 'इडविड्' हलन्त प्रातिपदिक से 'इडविडोऽपत्यम्' इस अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय का 'अतश्च'[८] सूत्र से स्त्रीत्व-विवक्षा में लुक् होने से हलन्त 'इडविड्' शब्द निष्पन्न होता है। इससे 'प्रीतिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च'[९] से णिच् होने पर पुंवद्भाव द्वारा 'अतश्च'[१०] से विहित 'अञ्'-लुक् की निवृत्ति होने पर 'ऐडविडयति' रूप सिद्ध होता है, अन्यथा पुंवद् न होने पर 'एडविडयति' यह रूप प्रसक्त होगा? 'ऐनेयः' की सिद्धि में एन्याः अपत्यम्- 'ऐनेयः', 'श्वैनेयः' यहाँ टि-लोप से हुए 'ङी-लोप्' को 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'[११] सूत्र से स्थानिवत् मानने पर सन्नियोगशिष्ट नकार की निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार यह परिभाषा न्यायसिद्ध और ज्ञापकसिद्ध दोनों है। कहीं प्रवृत्ति नहीं भी होती है।[१२]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से 'पञ्चेन्द्रः' आदि उदाहरण सिद्ध होते हैं। इसमें इन्द्र शब्द से स्त्रीत्व रूप कार्य की विवक्षा की ङीष् और आनुक्

---

१. 'तेनक्रीतम्' अष्टा० ५/१/३७।

२. अष्टा० ५/१/२८। ३. वही, १/२/४९।

४. प्र० ६/४/१५५ 'एतयति' पर टिप्पणी।

५. वा०म०भा० ६/४/१५५। ६. 'टेः' अष्टा० ६/४/१५५।

७. प०शे०, पृष्ठ ४३१। ८. अष्टा० ४/१/१७७।

९. म०भा० वा०। १०. अष्टा० ४/१/१७७।

११. अष्टा० १/१/५७।

१२. गूढार्थ०, पृष्ठ ४३१, गदा, पृष्ठ १८६ तथा श०शे०।

दोनों पूर्ति करते हैं। जब ङीष् का अभाव होता है, तब आनुक् भी वहाँ से निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार पञ्चाग्निः भी सिद्ध होता है। स्त्रीप्रत्यय के लुक् होने से 'ऐकार' आगम की भी निवृत्ति हो जाती है— इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : किसी कार्य के एक साथ दो का नियम होने पर उनमें से एक का अभाव होने पर दूसरे का अभाव होता है अथवा नहीं? यदि होता है तो कैसे होता है? क्या उसके अभाव के लिए कोई अन्य विधान करना होता है? आदि का विचार प्रस्तुत परिभाषा द्वारा होता है। यह माना जाता है कि कार्य में एक साथ विहित दो के नियम में से एक का अभाव होने पर दूसरा स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, चान्द्र, जैनेन्द्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[१] केवल कातन्त्र ने नहीं मानी है।[२] इस परिभाषा का अर्थ सभी में एक समान है। परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कोई मतभेद नहीं है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव एवं नीलकण्ठ ने इसको ज्ञापकसिद्ध तथा लोकन्यायसिद्ध दोनों रूप में माना है। इनके अनुसार 'बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्'[३] सूत्र में 'छ' ग्रहण ज्ञापक है तथा इसका उपपादन भी किया है।[४] जैनेन्द्र ने केवल लोकन्यायसिद्ध मानी है।[५] हरिभास्कर ने केवल ज्ञापकसिद्ध मानते हुए उपर्युक्त सूत्र के ही 'छ' ग्रहण का ज्ञापक प्रस्तुत किया है।[६] नागेश ने ज्ञापकसिद्ध मानकर उपर्युक्तों के ही अनुसार 'बिल्वकादिभ्य०' में 'छ' ग्रहण का ज्ञापक विस्तार से उपपादित किया है तथा न्यायसिद्ध भी मानी हैं। ज्ञापक के विषय में शङ्का समाधान पूर्वक विस्तार से कथन किया है। इसके प्रयोजनों के विषय में सभी एकमत है। व्याडि, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और हरिभास्कर ने विस्तार से प्रयोजनों का कथन किया है। नीलकण्ठ ने प्रयोजनों का कथन नहीं किया है। नागेश ने संक्षेप में प्रयोजन का कथन किया है। इस परिभाषा के अनित्यत्व विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। व्याडि, जैनेन्द्र तथा नीलकण्ठ इस विषय में कुछ नहीं कहते हैं। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और हरिभास्कर ने इस परिभाषा को अनित्य माना है तथा इसका ज्ञापक 'भस्याऽढे तद्धिते'[७] में 'अढे' यह प्रतिषेध रूप निर्देश है— उपपादित किया है। परन्तु नागेश ने अनित्य नहीं मानी है तथा इस प्रसङ्ग में वे कैयट के भी मत का उल्लेख करते हुए विस्तार

---

१. परिसंग्रह, तत्तत् ग्रन्थ। २. कातंत्र पाठ, परि०सं०।

३. अष्टा० ६/४/१५३।

४. व्याडि पाठ, परि०सं० ४१, पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ६५, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७२, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ७४।

५. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं०५२। ६. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७४।

७. का०वा० ६/३/३५ एवं म०भा० ६/३/३५।

से अनित्यता का खण्डन भी कर देते हैं। इसके अनित्यत्व मानने की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी है।[१]

(५५) ताच्छीलिके णेऽणकृतानि भवन्ति ।।प०८८।।

परिभाषा का उपक्रम : यहाँ यह शङ्का होती है कि 'तदनुबन्धकग्रहणे०'[२] परिभाषा के अनुसार जो अण् प्रत्यय के आश्रित कार्य है, वह ण प्रत्यय को मानकर नहीं होना चाहिए। तब 'चुरा शीलमस्या: सा='चौरी' इत्यादि प्रयोगों में 'शीलम्'[३] इस अर्थ में 'छत्रादिभ्यो ण:'[४] सूत्र से चुरा से 'ण्' प्रत्यय हुआ है तथा 'ण' प्रत्यय होने पर (अणन्त से कहा) ङीप् नहीं प्राप्त होता है। अत: यह रूप कैसे सम्भव होता है? इसके उत्तर में यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : तच्छील ('तदस्य शीलम्') अर्थ में विहित ण प्रत्यय के निमित्त से अण् प्रत्यय के आश्रित कार्य भी होते हैं अर्थात् वे कार्य हो जाते हैं जो अण् का निमित्त मानकर होते हैं।

परिभाषा का ज्ञापक : 'कार्मस्ताच्छील्ये'[५] सूत्र में ण प्रत्ययान्त 'कार्म'[६] शब्द के प्रकृतिभाव को वारण के लिए जो निपातन किया है, वही इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'अन्'[७] यह सूत्र 'अण्' परे रहते प्रकृतिभाव करता है। 'कर्मन्' शब्द छत्रादिगण में पठित है, इससे ताच्छीलिक 'ण'[८] प्रत्यय होता है तथा प्रकृतिभाव 'अन्' सूत्र से अण् परे होने पर होता है। यदि यह परिभाषा न हो तो ण प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव की प्राप्ति न होने से 'नस्तद्धिते'[९] सूत्र से नान्त भसंज्ञक अंग के टि का लोप हो जाने पर 'कार्म' रूप सिद्ध हो जाता, तो सूत्र (निपातन) व्यर्थ होता, इस प्रकार व्यर्थ होकर यह परिभाषा ज्ञापित होती है तथा यह हुआ कि 'अन्'[१०] सूत्र से अण् प्रत्यय के परे अनन्त को प्रकृतिभाव कहा गया है। वह ताच्छील्य अर्थ में 'ण्' प्रत्यय के परे अनन्त 'कर्मन्' शब्द को भी प्राप्त था। अत: उक्तसूत्र में टि लोप निपातन सार्थक हो गया।[११]

---

१. गदा, पृष्ठ १८६।
२. प्र०शे० परि०सं० ८३।
३. अष्टा० ४/४/६१.
४. अष्टा० ५/४/६२।
५. अष्टा० ६/४/१७२।
६. कर्मन् शब्द, शील अर्थ में ण प्रत्यय, आदि बुद्धि, निपातन से टि भाग अन् का लोप होकर निष्पन्न रूप।
७. अष्टा०, ६/४/१६७।
८. 'छत्रादिभ्यो ण:' अष्टा०४/४/६२।
९. अष्टा० ६/४/१४४।
१०. वही, ६/४/१६७।
११. प०शे० पृष्ठ ४३२, गूढार्थ०, पृष्ठ ४३२, गदा, पृष्ठ १८६.

नव्यों के अनुसार परिभाषा का प्रयोजन : नव्य वैयाकरण दीक्षित आदि इस परिभाषा का एक यह भी प्रयोजन बताते हैं कि 'ताच्छीलिक ण प्रत्ययान्त से 'अणो द्वयच:'[१] सूत्र से अपत्यार्थक 'फिञ्' हो जाता है।'[२] **नागेश का मत :** टीकाकारों[३] के मतानुसार नागेश दीक्षित का भ्रम मानते हैं,क्योंकि अण् प्रत्यय सामान्य का तो अतिदेश 'ण' में हो जाता है, परन्तु अपत्यार्थक अण् का नहीं हो सकता, 'सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेश:' यह नियम है।[४]

परिभाषा में ताच्छीलिक पद का प्रयोजन : परिभाषा में ताच्छीलिक ण को अण् निमित्तक कार्य का अतिदेश कहा है। अत: 'तदस्यां प्रहणमिति क्रीडायां ण:'[५] इस सूत्र से विहित 'ण' को नहीं होता है। उसमें 'दाण्डा' यही प्रयोग होता है, ङीप् नहीं होता। इसी प्रकार 'कुत्सने ण च',[६] 'णफिञौ',[७] 'वृत्तिभ्यो ण:'[८] 'आचारिभ्यो ण:'[९] इत्यादि में भी नहीं प्रवृत्त होता है।

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से चौरी,तापसी प्रयोगों में ताच्छील्य 'ण' प्रत्ययान्त से 'टिड्ढाणञ्०'[१०] सूत्र में अणन्त से कहा ङीप् हो जाता है। इसी प्रकार 'अन्'[११] सूत्र से अण् प्रत्यय के परे अनन्त को कहा प्रकृतिभाव ताच्छीलिक ण प्रत्यय के परे भी हो जाता है तथा 'कार्मस्ताच्छील्ये'[१२] यह टि-लोप निपातन सार्थक होता है— इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : यह परिभाषा 'तदनुबन्धकग्रहणे०'[१३] परिभाषा का संकोच प्रस्तुत करती है। ताच्छीलिक 'ण' प्रत्यय में अण् प्रत्यय निमित्तक कार्य होता है। यह परिभाषा इसी रूप में पूर्ववर्ती किसी भी परिभाषा ग्रन्थ में नहीं मिलती है। पुरुषोत्तमदेव ने कुछ

---

१. अष्टा० ४/१/१५६।
२. गूढार्थ०, पृष्ठ ४३२, गदा, पृष्ठ १८६।
३. गूढार्थ०, गदा, विजया आदि टीकाकार।
४. गदा, पृष्ठ १८६, गूढार्थ०, पृष्ठ ४३२।
५. अष्टा० ४/२/५७।
६. 'गोत्रस्त्रिया : कृत्सने ण च' अष्टा० ४/१/१४७।
७. 'फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ' अष्टा० ४/१/१५०।
८. 'प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो ण:' अष्टा० ५/२/१०१।
९. 'शीलिकाभिभक्ष्याचरिभ्यो ण:' अष्टा० द्र०वा०।
१०. अष्टा०, ४/१/१५।
११. वही, ६/४/६७।
१२. वही, ६/४/१७२।
१३. प०शे० परि०सं० ८२।

पाठान्तर से पढ़ी है।[१] सीरदेव तथा हरिभास्कर ने भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[२] जैनेन्द्र ने भी कुछ भिन्न रूप में पाठ किया है।[३] व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, कातन्त्र, भोज एवं हेम ने नहीं मानी है।[४] इस परिभाषा का अर्थ सभी व्याख्यानों में समान ही माना गया है। परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीन एवं नवीन एकमत ही हैं। सभी के अनुसार यह ज्ञापकसिद्ध है। जैनेन्द्र ने इसका ज्ञापक 'कार्मः शीले' सूत्र को माना है। पुरुषोत्तमदेव तथा नीलकण्ठ 'कार्मस्ताच्छील्ये'[५] सूत्र में टिलोप निपातन को ज्ञापक माना है तथा इसका उपपादन भी किया है। सीरदेव तथा हरिभास्कर ने भी उक्त सूत्र का ज्ञापक प्रस्तुत करते हुए उपपादन में कुछ विशेष हेतु प्रस्तुत किया है। इनका कथन है कि 'छत्रादिभ्यो अण्'[६] सूत्र बनाकर कार्य निर्वाह सम्भव था, परन्तु उस प्रकार का न बनाना वैचित्र्यार्थ है।[७] परन्तु नागेश ने इस हेतु को युक्त नहीं माना है। वैसे इन्होंने भी 'कार्मस्ताच्छील्ये' में निपातन को ज्ञापक माना है।[८] परिभाषा के पदों का प्रयोजन का स्वरूप पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। 'ताच्छीलिक' ग्रहण के प्रयोजन स्वरूप उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए उन्हीं के द्वारा प्रदत्त उदाहरणों को मान लिया है। नीलकण्ठ ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा है। परिभाषा का प्रयोजन, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, तथा हरिभास्कर ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। नागेश ने इसका प्रतिपादन करते हुए नव्यों के अभिमत प्रयोजन का भी कथन किया है। इस प्रकार नागेश ने पुरुषोत्तमदेव का अनुकरण करते हुए संक्षिप्त व्याख्या की है। व्याख्या के सम्यक् आशय स्पष्ट हो जाता है।

(५६) तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते।।प०९०।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह है कि टि से पूर्व 'अकच्'[९] प्रत्यय होने पर सर्वके, उच्चकैः यहाँ क्रम से सर्वनाम[१०] संज्ञा और अव्यय[११] संज्ञा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि शब्दान्तर है। 'सर्व' आदि की सर्वनाम संज्ञा और अव्ययों में 'उच्चैः' आदि

---

१. 'ताच्छीलिके णेऽप्यण्कृतानि भवन्ति' — द्र० पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ६६।

२. 'ताच्छीलिके णेऽप्यण्-कृतम् कार्यम् भवति' — द्र० सीरदेव वृत्ति, परि०सं० ७३, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७५।

३. 'णेऽप्यण्कृतम् भवति' — द्र० जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० ४४।

४. 'ताच्छीलिकेष्वण्कृत' भवति' द्र० नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ७९।

५. अष्टा० ६/४/१७२। ६. वही, ४/४/६२।

७. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७२, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७५।

८. गदा, पृष्ठ १८६। ९. अष्टा० ५/३/७०।

१०. वही, १/१/२७। ११. वही, १/१/३७।

की अव्यय संज्ञा की गयी है तथा शब्द के स्वरूप का ग्रहण होता है। उनमें सर्वक तथा उच्चकै: आदि का पाठ नहीं किया है, अत: उक्त शब्दों की सर्वनाम एवम् अव्यय संज्ञा कैसे होगी और संज्ञा के बिना उनके कार्य भी नहीं हो सकते, वे कैसे होंगे? इसलिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : जो जिसके मध्य में आ जाता है, वह उसके ग्रहण से गृहीत हो जाता है।

परिभाषा का आशय : व्याकरण शास्त्र में प्रयुक्त 'सर्व' आदि शब्द न केवल अपने स्वरूप का बोध कराते हैं किन्तु उस शब्द रूप का भी जो उनके एकदेश में निविष्ट अकच् आदि से निष्पन्न होता है। अर्थात् उसी के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है।

परिभाषा का ज्ञापक : 'नेदमदसोरको:'[१] यहाँ 'अको:' यह प्रतिषेध इस परिभाषा का ज्ञापक है। यह शास्त्र इदम् और अदस् शब्द से परे भिस् के स्थान में ऐस् आदेश का निषेध करता है, जब इदम् और अदस् ककार रहित हों। ककारसहित 'इदकम्' और 'अदकस्' से यह निषेध नहीं होता। यदि यह परिभाषा न होती तो 'नेदमदसो:' इतना ही सूत्र पढ़ते। शब्दान्तर होने से 'इदकम्' और 'अदकस्' से निषेध की प्राप्ति ही न होती तो 'अको:' यह निषेध अनर्थक होता। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'अको:' यह निषेध चरितार्थ हो जाता है।[२] **परिभाषा का पाठान्तर :** 'येन विधिस्तदन्तस्य'[३] सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा का 'तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस रूप में पाठ है। नागेश ने स्वयं ही पाठान्तर का निर्देश किया है।[४]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से सर्वके, उच्चकै: आदि की सिद्धि हो जाती है। इसी से यहाँ सर्व आदि शब्दों के मध्य में 'अकच्'[५] प्रत्यय का, उसी के ग्रहण से गृहीत कर लेने पर 'सर्वक' की भी सर्वनाम[६] संज्ञा होती है तथा संज्ञा होने से 'जस: शी'[७] सूत्र से जस् के स्थान में 'शी' होकर 'सर्वके' रूप होगा। 'अकच्' सर्व के टि भाग से पूर्व होता है, अत: तन्मध्यपतित है। इसी प्रकार 'उच्चकै:' से आदि में अव्यय संज्ञा होकर विभक्ति का लुक्[८] होकर निष्पन्न होता है तथा 'अहं पठामकि' में अतिङ् से परे तिङ्पद 'तिङ्ङतिङ:'[९] से अनुदात्त भी हो जाता है, इत्यादि अनेक

---

१. अष्टा०, ७/१/११। २. गूढार्थ०, पृष्ठ ४३५।
३. म०भा०, १/१/७२। ४. गदा, पृष्ठ १८८।
५. अष्टा० ५/३/७१। ६. अष्टा० १/१/२७।
७. अष्टा० ७/१/१७। ८. अष्टा० २/४/८२।
९. अष्टा० ८/१/२८।

प्रयोजन हैं।

समीक्षा : यह परिभाषा शब्द के स्वरूप के ग्रहण के विषय में कुछ विशेष निर्देश प्रस्तुत करती है। शब्द के एक देश में कोई अन्य आ जाय तो वह क्या उसके ग्रहण से गृहीत किया जाता है? या नहीं, यदि नहीं तो उसके होने पर, उस शब्द के निमित्तक कार्य कैसे होगा? इत्यादि का निर्णय करना है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, जैनेन्द्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने मानी है।[१] कातन्त्र ने नहीं मानी है। इस परिभाषा के अन्य रूप 'तदेकदेशभूतएतद्-ग्रहणेन गृह्यये' रूप से व्याडि तथा नीलकण्ठ ने मानी है।[२] नागेश ने इसे भाष्य-सम्मत पाठ मानकर व्याख्या में उल्लेख किया है।

इस परिभाषा के ज्ञापक अथवा हेतु के विषय में कुछ विशेष अन्तर प्राचीनों एवं नागेश में नहीं है। व्याडि एक पाठ में 'नेदमदसोरकोः'[३] में 'अकोः' यह निषेध ज्ञापक मानते हैं तथा द्वितीय को लोकन्याय-सिद्ध मानते हैं। जैनेन्द्र लोकन्यायसिद्ध के साथ ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं।[४] पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव, लोकन्यायसिद्ध मानते हुए इसको ज्ञापक सिद्ध भी मानते हैं वे भी उक्त सूत्र के 'अकोः' इस पद का ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं।[५] नीलकण्ठ ने परिभाषा का केवल उल्लेख मात्र किया है, व्याख्या नहीं की है।[६] हरिभास्कर केवल ज्ञापकसिद्ध मानते हुए उक्त सूत्र का ही ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं।[७] नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करके उक्त सूत्र का ही ज्ञापक प्रस्तुत किया है। इसके प्रयोजन का सभी ने कथन किया है। सीरदेव ने यद्यपि इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। परन्तु नागेश ने सरल आशय होने के कारण विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा नहीं समझी।

(५७) अङ्गवृत्तेः पुनर्वृत्तावविधिः।।प०९३।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह है कि 'युष्मभ्यम्' इत्यादि प्रयोगों में 'भ्यसो भ्यम्'[८] सूत्र में 'भ्यम्' ऐसा पदच्छेद करके भ्यस् को उक्त सूत्र से ही भ्यम् आदेश होने पर 'शेषे लोपः'[९] से युष्मद् के अन्त्य द् का लोप होने पर 'युष्मभ्यम्' रूप के निष्पन्न

---

१. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

२. व्याडि पाठ, परि०सं० ६२, द्र० नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ८२।

३. अष्टा० ७/१/११।

४. जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० १५।

५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १९, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७५।

६. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ८१-८२।

७. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०७७।

८. अष्टा० ७/१/३०।

९. वही, ७/२/९०।

होने पर 'बहुवचने झल्येत्'[१] सूत्र से युष्म के 'अ' को एकार प्राप्त होता है? इस शङ्का के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : अङ्गाधिकार में जो कार्य निष्पन्न हो चुका है, उसके हो जाने पर पुन: उसी अङ्ग में अन्य अङ्ग के अधिकार के कार्य की प्राप्ति होने पर भी वह नहीं होता है।

परिभाषा का आशय : इस परिभाषा में 'अङ्ग' का अर्थ- अङ्ग का अधिकार लिया जाता है और अङ्ग का अधिकार 'अङ्गस्य'[२] सूत्र के अधिकार की अनुवृत्ति पर्यन्त है, ऐसा समझा जाता है। 'वृत्त'-निष्पन्न यह अर्थ है। 'वृत्तौ'- प्रवृत्त होने पर। अविधि- अविधान अर्थ है। पुन:=पश्चात् अर्थ, फलत: तात्पर्य यह हुआ कि अङ्गाधिकार में कोई कार्य निष्पन्न हो गया हो, तो पुन: उसी लक्ष्य में दूसरे कार्य का अविधान रहता है।[३]

परिभाषा का ज्ञापक : यह परिभाषा 'ज्ञाजनोर्जा'[४] सूत्र में आचार्य पाणिनि ने जो दीर्घ 'जा' पढ़ा है, उससे ज्ञापित होती है। यदि यहाँ 'ज' पढ़ते तो भी 'अतो दीर्घो यञि'[५] से दीर्घ हो जाता। पर आचार्य जानते हैं कि 'अङ्गवृत्ते: पुनर्वृत्ताववि‍धि:' ऐसी परिभाषा होती है, जिससे एक अङ्गाधिकारीय ज्ञा एवं जन् के स्थान में ज होने पर, दूसरा अङ्गाधिकारीय कार्य दीर्घत्व न हो सकेगा, अत: 'ज्ञाजनोर्जा'[६] में 'जा' दीर्घ पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त नागेश ने 'ज्यादादीयस:'[७] सूत्र में जो ज्य शब्द से परे ईयस् के ई को आकारादेश विधान किया है, उसे भी इस परिभाषा का ज्ञापक माना है। यदि यह परिभाषा न होती तो ई के स्थान में आ (त्) विधान बिल्कुल व्यर्थ रहता। 'बहोर्लोपो भू च वहो:'[८] सूत्र से 'लोप' की अनुवृत्ति आ रही थी, ईयस् के ई का लोप विधान कर देते और 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ:'[९] सूत्र से ज्य के 'अ' को दीर्घ होकर इष्ट रूप निष्पन्न हो जाता। परिभाषा के ज्ञापित होने पर लोप भी अङ्गाधिकारीय है, दीर्घत्व भी अङ्गाधिकारीय है, तो लोप होने पर दीर्घ नहीं हो सकता।[१०]

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त : इसी ज्ञापक से यह भी सिद्ध होता है कि जब शब्द रूप के घटक भिन्न-भिन्न अवयव कार्य के स्थानी हो तब भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती है।[११] जैसाकि ईयस् के ई का लोप और ज्य के अ को दीर्घ होता है। इसमें

---

१. अष्टा०, ७/३/१०३। २. वही, ६/४/१।
३. गदा, पृष्ठ १९१, गूढार्थ०, पृष्ठ ४३८।
४. म०भा० ७/३/७९। ५. अष्टा० ७/३/१०१।
६. वही, ७/३/७९। ७. म०भा० ६/४/१६०।
८. अष्टा० ६/४/१५८। ९. वही, ७/४/२५।
१०. म०भा० ६/४/१६०। ११. प०शे०, पृष्ठ ४३९।

प्रमाण 'अस्मदो द्वयोश्च'[१] तथा 'किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्'[२] में 'द्वयोः' यह निर्देश ज्ञापक है। **परिभाषा की अनित्यता :** यह परिभाषा अनित्य है। 'द्वयोः' की सिद्धि में 'ओसि च'[३] सूत्र से अ का ए होता है, जब द्वि के इ को 'त्यदादीनामः'[४] सूत्र से अ हो चुका है। ये दोनों कार्य अङ्गाधिकारीय हैं। इस परिभाषा के अनुसार अ होने पर उसे ए नहीं होना चाहिए था, परन्तु परिभाषा अनित्य है, अतः हो जाता है। **(क) अनित्यता का लाभ**— अनित्यत्व को मानकर ही 'भ्यसो भ्यम्'[५] सूत्र में भाष्यकार इस परिभाषा का 'अङ्गवृत्तेः पुनर्वृत्ताववविधिर्निष्ठितस्य' ऐसा स्वरूप समझते हैं। उसका अर्थ है— 'यदि अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य के बिना ही शब्दरूप निष्ठित (परिसमाप्त) प्रयोगार्ह बन जाता है, तो परिभाषा की प्रवृत्ति होकर द्वितीय अङ्ग का कार्य नहीं होता है, परन्तु यदि निष्ठित रूप नहीं बना, तो अन्य अङ्गाधिकारीय कार्य भी होगा'। इससे यह परिभाषा अनित्य है, यह स्पष्ट हो जाता है।[६] इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं।

परिभाषाविषयक परिभाषाव्याख्याताओं का दृष्टिकोण : कुछ भाष्य-व्याख्याताओं ने ज्ञापकपरकभाष्य को एकदेशी माना है। उनके अनुसार यदि परिभाषा स्वीकार की भी जाय, तो किसी भी लक्ष्यसिद्धि में उपकारक नहीं होती है अर्थात् ऐसा कोई लक्ष्य नहीं, जो इसके बिना सिद्ध न होता हो, इससे सिद्ध होने वाले सभी लक्ष्य अन्य प्रकार से सिद्ध हो जाते हैं। **(क) उक्त में भाष्य वचन का प्रमाण**— इस परिभाषा से सिद्ध होने वाले लक्ष्यों के अन्यथासिद्ध हो जाने से ही 'ज्ञाजनोर्जा'[७] तथा 'ज्यादादीयसः'[८] इन सूत्रों के भाष्य में ज्ञापित परिभाषा का प्रयोजन केवल यह कहा गया है कि इस परिभाषा से पा को जो 'पिब्' आदेश होता है, उसको 'पुगन्तलघूपधस्य च'[९] सूत्र से प्राप्त गुण का निषेध हो जाता है, जिससे सूत्र पर पठित गुण-प्रतिषेध वार्तिक की आवश्यकता नहीं होगी। इतना ही प्रयोजन कहा है। किसी लक्ष्य की सिद्धि का प्रयोजन नहीं बतलाया गया— इससे ज्ञात होता है कि इस परिभाषा का कोई प्रयोजन नहीं है। इससे इसकी अनावश्यकता ध्वनित होती है।[१०] **(आ)** 'पिबति' में गुण-वारण भी प्रयोजन नहीं रहता है यदि 'पिब' आदेश अदन्त मान लिया जाय। अदन्त होने से ही उपधा में इक् न होने से गुण प्राप्त ही नहीं है फलतः यह प्रयोजन भी व्यर्थ ही है। **(इ)** सभी लक्ष्य

---

१. अष्टा० १/२/५९। २. वही, ५/३/९२।
३. वही, ७/३/१०४। ४. वही, ७/२/१०२।
५. वही, ७/१/३०।
६. प०शे० पृष्ठ ४३९ एवं गदा, पृष्ठ १९३।
७. अष्टा० ७/३/७९। ८. वही, ६/४/१६०।
९. वही, ७/३/८६। १०. म०भा० ६/४/१६० तथा उ०भी०।

अन्यथा-सिद्ध हैं। इसीलिए ही 'युष्मभ्यम्' की सिद्धि में 'भ्यसोऽभ्यम्'[१] ऐसा सूत्रन्यास स्वीकार किया जाता है। 'शेषे लोप:'[२] सूत्र से युष्मद् के अन्त द् का लोप हो जाने पर 'युष्म अभ्यम्' में 'अतोगुणे'[३] से पररूप होकर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह रूप परिभाषा के बिना भी सिद्ध हो जाने से अन्यथा-सिद्ध है। परिभाषा का कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार उन लक्ष्यों की सिद्धि न कर सकने के कारण उक्त दोनों सूत्रों से ज्ञापक का बोधकभाष्य तथा 'भ्यसोऽभ्यम्' इस सूत्र के भाष्य का कथन एकदेशी की उक्ति प्रतीत होती है— सिद्धान्ती का कथन नहीं, ऐसा मानते हैं।[४]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से 'युष्मभ्यम्' में 'भ्यम् प्रत्यय परे रहते 'शेषे लोप:' से युष्मद् के अन्त्य द् का लोप होने पर 'युष्मभ्यम् रूप निष्पन्न होता है। यह अङ्ग के अधिकार का कार्य है। पुन: इसी को 'बहुवचने झल्येत्'[५] सूत्र से अ का ए नहीं हो पाता है। यह भी अङ्गाधिकार में द्वितीय कार्य है, अत: परिभाषा के अनुसार द्वितीय कार्य ए नहीं हो सकता है। इसी प्रकार 'पिबति' यहाँ पा को पिब आदेश होने पर लघूपध-गुण नहीं होगा तथा 'रीङ् ऋत:'[६] 'ज्यादादीयस:'[७] आदि निर्देश भी उपपन्न हो जाते हैं।

समीक्षा : यह परिभाषा अङ्गाधिकारीय कार्य के विषय में कुछ विशेष स्पष्टीकरण करती है। अङ्गाधिकार में एक कार्य निष्पन्न होने के पश्चात् दूसरा कोई कार्य उसी का हो सकता है या नहीं? इसी की व्यवस्था इसका प्रतिपाद्य है। अङ्गाधिकार में पठित शास्त्र द्वारा कोई कार्य एक बार हो जाने के पश्चात् उसी लक्ष्य में अन्य अङ्ग कार्य की प्रवृत्ति की सम्भावना हो तो वह प्रवृत्त नहीं होता। यह परिभाषा इस रूप में नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[८] पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव ने कुछ भिन्न रूप में पढ़ी है।[९] व्याडि ने कुछ भिन्नतया स्वीकार की है।[१०] चन्द्र एवं भोज ने सर्वथा भिन्न पाठ द्वारा प्रस्तुत की है।[११] शाकटायन, कातन्त्र, जैनेन्द्र और हेम ने नहीं मानी है। परिभाषा

---

१. अष्टा० ७/२/३०। २. वही, ७/२/९०।

३. वही, ६/१/९७।

४. गदा, पृष्ठ १९३, गूढार्थ०, पृष्ठ ४४०।

५. अष्टा० ७/३/१०३।

६. अष्टा०, ७/४/२७। ७. वही, ६/४/१६०।

८. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ८६, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ९४।

९. 'अङ्गवृत्ते : पुनरङ्गवृत्ताववविधिर्निष्ठितस्य' — पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ७१; सीरदेववृत्ति, परि०सं० ९१।

१०. 'अङ्गवृत्ते : पुनर्वृत्तादविधिर्निष्ठितस्य' — व्याडिपाठ, परि०सं० ३४।

११. 'प्रकृतिप्रवृत्ते : पुनर्वृत्तो अविधिर्निष्ठितस्य' — चान्द्रपाठ, परि०सं० ५९ तथा प्रकृतिवृत्त: पुनर्वृत्ताववविघ : निष्ठितस्य' — भोजपाठ, परि०सं १०८।

का अर्थ तथा भाव प्राय: सभी में समान है, परन्तु अर्थ प्रतिपादन की शैली भिन्न-भिन्न है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने परिभाषास्थ अङ्ग का स्पष्ट अर्थ नहीं प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए भी पूर्ण अर्थ नहीं स्पष्ट कर पाये हैं। नागेश ने इसका पूर्ण अर्थ स्पष्ट किया है। पूर्ववर्ती सभी की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। ये पुरुषोत्तमदेवादि कृत पाठ को अयुक्त मानते हैं।[१] इस परिभाषा के हेतु के विषय में सभी प्राचीनों एवं नागेश का प्राय: एक ही मत है। सभी ने ज्ञापकसिद्ध माना है। व्याडि ने 'ज्ञाजनोर्जा'[२] के जा आदेशकरण को इसका ज्ञापक मानते हुए उपपादित किया है। पुरुषोत्तमदेव ने इसका ज्ञापक उक्त सूत्र का ही जा आदेश तथा 'रीङ् ऋत:'[३] में रीङ् दीर्घोच्चारण माना है। सीरदेव और हरिभास्कर ने उक्त सूत्र तथा 'ज्यादादीयस:'[४] सूत्रों में क्रमश: जा तथा आत् विधान को, इसका ज्ञापक माना है। नीलकण्ठ ने केवल 'ज्यादादीयस:' में 'आद्' विधान को ज्ञापक माना है। नागेश ने इन्हीं का अनुकरण करते हुए उक्त सूत्र का ही ज्ञापक प्रस्तुत किया है। इस परिभाषा की प्रवृत्ति निमित्त का उल्लेख नागेश ने किया है, पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने इसका उल्लेख नहीं किया है, जो कि आवश्यक तत्त्व है। नागेश के उल्लेख से परिभाषार्थ स्पष्ट हो जाता है। परिभाषा का प्रयोजन को प्राय: सभी ने कथन किया है। उदाहरणों में कुछ अन्तर है। व्याडि 'क्रियते' उदाहरण देते हैं। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने **क्रियते, पिबति** उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'पिबति' यूयम्, वयम् उदाहरण दिये हैं। नागेश ने 'युष्मभ्यम्' उदाहरण दिया है। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इस परिभाषा की अनित्यता मानी है तथा इसका ज्ञापक 'द्वयो:, एकस्य' निर्देश माना है एवम् इसका फल भी निरूपित किया है। नागेश ने भी अनित्य मानते हुए 'द्वयो:'[५] निर्देश को इसका ज्ञापक मानकर प्रस्तुत किया है एवम् इसका लाभ भी दिखलाया है। इसी अनित्यत्व का ही आश्रयण करके 'भ्यासो भ्यम्'[६] के भाष्य में 'निष्ठित' पद का पाठ है— स्वतन्त्र रूप से नहीं। परन्तु सीरदेव ने परिनिष्ठत पद से 'द्वाभ्यां, द्वयो:' आदि सिद्धि का लाभ माना है। अनित्यत्व नहीं माना है। व्याडि तथा पुरुषोत्तमदेव भी अनित्य विषय में मौन हैं। इस प्रकार नागेश संक्षेप में नीलकण्ठ के आधार पर परिभाषा की यह व्याख्या करते हुए परिभाषा की आवश्यकता पर विस्तार से विचार किया है। 'केचित्' द्वारा परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादित की है। परन्तु इनका क्या अभिमत है— स्पष्ट नहीं हो पाता है।

(५८) सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान्।।प० १००।।

---

१. गदा, पृष्ठ १९१।
२. अष्टा० ७/३/७९।
३. वही, ७/४/२७।
४. वही, ६/४/१६०।
५. अष्टा० १/२/५९।
६. वही, ७/१/३०।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह होती है कि 'कानि सन्ति' आदि प्रयोग में 'कानि+अस्+अन्ति' इस स्थिति में यण् तथा अल्लोप दोनों एक साथ प्राप्त होते हैं, यहाँ अन्तरङ्ग होने से यण् पहले होना चाहिए? फलत: अनिष्ट रूप की प्राप्ति होती है तथा इसी प्रकार 'श्वयित्वा' (श्वि+त्वा) आदि में सम्प्रसारण तथा इट् आगम की प्राप्ति में सम्प्रसारण पहले प्राप्त होता है तथा सम्प्रसारण होकर 'शवित्वा' यह अनिष्ट रूप की प्राप्ति होने लगती है? इन दोषों के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : सम्पूर्ण विधियों से लोप विधि और इट् विधि बलवान् होती हैं। **परिभाषा का ज्ञापक— (क) लोप विधि की ज्ञापकता—** इस परिभाषा के इस अंश के बलवान् होने में 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[१] इस सूत्र का आरम्भ ही ज्ञापक है। 'यावता बिना०' आदि न्याय से यह न केवल अतिदेश के विषय में ज्ञापक है, अपितु लोपविधि के विषय में भी ज्ञापक होता है। यदि यह परिभाषा न हो तो प्रत्यय-निमित्तक कार्य करने के पश्चात् लोप करने से इष्ट सिद्धि हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ रहता है।[२] **(ख) इड्विधि की ज्ञापकता—** इसके बलवत्त्व में यह ज्ञापक माना जाता है— 'सनि ग्रहगुहोश्च'[३] सूत्र में 'श्र्युक: किति'[४] सूत्र में उक्त के अनुकर्षण के लिए जो चकार पढ़ा है, वह ज्ञापक है। यदि इड्विधि बलवान् न हो तो 'बुभूषति'[५] इत्यादि में इडागम से पूर्व सन् प्रत्यय के झलादि होने से 'इको झल्'[६] इससे सन् प्रत्यय के कित् से 'श्र्युक: किति'[७] इसी से इट् निषेध के सिद्ध होने से 'उक्' के अनुकर्षण के लिए चकार करण व्यर्थ हो जायगा।[८]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से कानि सन्ति- यहाँ यण् आदेश से पूर्व अल्लोप होने से इष्ट रूप की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार 'श्वयित्वा' (श्वि+त्वा) यहाँ सम्प्रसारण से पहले इट् आगम[९] हो जाता है। इसीलिए 'न क्त्वा सेट्'[१०] सूत्र से अकित् होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ है। यदि परिभाषा न हो, तो पहले सम्प्रसारण होने पर यह रूप सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी हैं।

---

१. अष्टा०, १/१/६२।

२. गूढार्थ०, पृष्ठ ४४५, वदा, पृष्ठ १९६।

३. अष्टा० ७/२/१२। ४. वही, ७/२/११।

५. भू धातु, सन् प्रत्यय, द्वित्व, अभ्यासह्रस्वत्व, आदि होकर बुभूष-लट् प्र०पपु०ए० का रूप।

६. अष्टा०, १/२/९। ७. अष्टा० ७/२/११।

८. गूढार्थ०, पृष्ठ ४५५। ९. अष्टा० ७/२/३५।

१०. वही, १/२/१८।

परिभाषा विषयक नागेश मत : नागेश ने इसको भाष्य में न पढ़ने के कारण अप्रमाणिक तथा निर्मूल माना है। रही ज्ञापक की बात, तो वह भी ठीक नहीं, ज्ञापक सम्भव ही नहीं है। यथा सम्पूर्णविधियों से लोप की बलवत्ता का ज्ञापक 'प्रत्ययलोपे०'[१] सूत्र का आरम्भ बतलाया है। यह ज्ञापक बनता ही नहीं, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा अन्तरङ्ग होने से ही लोप प्रथम हो जायगा। सारी विधियों से लोप की बलवत्ता मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार इड् विधि की बलवत्ता का ज्ञापक भी नहीं बनता, क्योंकि भाष्यकार ने तो अनुवृत्ति वाले चकारों का प्रत्याख्यान ही कर दिया है,[२] पुनः ज्ञापन असम्भव है तथा यह भाष्यानुक्त होने से खण्डनीय है। 'श्वयित्वा' यह फल वस्तुतः अन्यथासिद्ध है, नित्य होने से पहले इट् होगा, इट् होने पर कित्त्व का निषेध हो जायगा, तो सम्प्रसारण नहीं होगा।

समीक्षा : यह परिभाषा विधि की बलवत्ता के विषय में निर्देश करती है। लोप विधि एवं इद् विधि सम्पूर्ण विधियों से बलवान् होती हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों ने यह परिभाषा इसी रूप में नहीं मानी है। परन्तु दोनों को पृथक्-पृथक् करके स्वतन्त्र परिभाषा रूप में पाठ किया है। प्रथम व्याडि शाकटायन, कातन्त्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर ने प्रथम 'सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलवान्'[३] परिभाषा मानी है। व्याडि, शाकटायन, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने द्वितीय 'सर्वविधिभ्य इड्विधिर्बलवान्'[४] परिभाषा प्रस्तुत की है। भोज तथा हेम ने 'सर्वेभ्यो लोपः' रूप में परिभाषा पढ़ी है।[५] चन्द्र ने भी भिन्न रूप में पढ़ी है।[६] नागेश ने इस परिभाषा की कोई व्याख्या नहीं की है। केवल अस्तित्व विषयक विचार किया है। व्याडि ने इड् विधि का 'सनि ग्रह-गुहोश्च'[७] में 'न' करण तथा लोप विधि का 'प्रत्यय-लोपे प्रत्ययलक्षणम्'[८] सूत्र को ज्ञापक माना है।[९] कातन्त्र ने भी ज्ञापक प्रस्तुत किया है।[१०] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने व्याडि के अनुसार ही उक्त सूत्रों को ही ज्ञापक माना है। नीलकण्ठ नेकुछ न लिखकर इस परिभाषा का खण्डन किया है। नागेश ने भी यही व्याख्या का आधार माना है। व्याडि आदि सभी ने प्रयोजनों का निरूपण किया है। सभी ने एक ही प्रकार का उदाहरण दिया है। नागेश ने इसका खण्डन कर दिया है।

---

१. अष्टा०, १/१/६२। २. म०भा०, १/३/९३।
३. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। ४. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
५. भोज पाठ, परि०सं० ९९, हेमपाठ, परि०सं० ४८।
६. 'नामविधेरन्तरङ्गात् सर्वतो लोपः' — चान्द्रपाठ, परि०सं० ४८।
७. अष्टा० ७/२/१२। ८. वही, १/१/६२।
९. व्याडिपाठ, परि०सं० ५६,५७। १०. कातंत्र पाठ, परि०सं०३४।

(५९) उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी।।प०१०३।।

परिभाषा का उपक्रम : यहाँ यह शङ्का होती है कि नमस्करोति देवान्, नमस्यति देवान्[१] इत्यादि प्रयोगों में 'नमः' शब्द के योग में 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधावषडलंयोगाच्च'[२] इस सू' से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है। इस चतुर्थी का निवारण करने के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति बलवान् होती है। **परिभाषा के पदों का तात्पर्य :** उपपदविभक्ति वह है जहाँ (कर्मादि कारक व्यवस्था से विभक्ति का नियम न किया हो, किन्तु) समीप में पठित किसी शब्द (पद) के योग से किसी विभक्ति का विज्ञान हो। प्राचीन एवं नव्य वैयाकरणों में उपपद-विभक्ति के अर्थ के विषय में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु 'कारकविभक्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। **(क) कारक विभक्ति सम्बन्ध में प्राचीनों का मत**— इनके अनुसार कारक की परिभाषा है— 'क्रियान्वयत्विं कारकत्वम्, तदर्थिका च विभक्तिः कारकविभक्तिः' अर्थात् क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले शब्द से जो विभक्ति आती है, उसे कारक विभक्ति अर्थात् जहाँ कर्मादि कारक व्यवस्था से नियत विभक्ति होती है, वह 'कारक विभक्ति' मानी जाती है। **(ख) नागेश मत**— नागेश इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं— 'कारक- विभक्तित्वं-क्रियाजनकार्थकविभक्तित्वम्'- अर्थात् जो पदार्थ क्रिया का जनक है, उसके वाचक शब्द से जो विभक्त आती है, उसे यहाँ 'कारक विभक्ति' कहा जाता है। कर्मादि में जिन विभक्तियों का विधान किया गया है वे ही कारक विभक्तियां हैं, ऐसा ही नहीं समझना चाहिए। फलतः प्रथमा विभक्ति कारक-विभक्ति है, क्योंकि यह भी क्रियाजनक पदार्थ से आती है (क्योंकि कर्ता आदि क्रिया के जनक होते ही हैं)।[३] **(१) उक्त अर्थ में प्रमाण**— उक्त अर्थ का सङ्केत 'सहयुक्तेऽप्रधाने'[४] आदि[५] सूत्रों के भाष्य में प्राप्त होता है। उस सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा से तृतीया से प्रथमा का प्राबल्य मानकर 'पुत्रेण सहागतः पिता' इत्यादि में प्रधान (पिता) में प्रथम सिद्ध की गई है तथा अप्रधान ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया गया है। यदि 'क्रियान्वयित्व' ही कारकत्व है तो प्रथमा का अर्थ तिङ् अर्थ (कर्ता) से सम्बन्ध होने पर भी क्रिया के अन्वय का अभाव होने के कारकत्व का अभाव है। उसकी असङ्गति ही होती, फलतः उपर्युक्त आशय ध्वनित होता है।[६]

---

१. नमस्, क्यच् प्रत्यय। २. अष्टा० २/३/१६।

३. दीक्षितकृत सि०कौ० प्रौढ़ मनोरमा, १/४/२४।

४. प०शे०, पृष्ठ ४५०। ५. म०भा० २/३/१९।

६. म०भा०, २/३/४।

परिभाषा का हेतु : इस परिभाषा की सिद्धि प्रकार के विषय में मतभेद प्राप्त होता है। प्राचीन व्याख्याकारों[१] ने प्रधान तथा अन्तरङ्गन्याय से सिद्ध मानी है। पर नागेश के अनुसार यह परिभाषा वाचनिकी ही है, अन्तरङ्गत्वादि न्यायसिद्ध नहीं हैं। चूँकि यह परिभाषा एक स्वतन्त्र वचनोपन्यास है, अन्तरङ्गन्याय पर आश्रित नहीं है। अतएव 'तत्र च दीयते[२] कार्यं भववत्'[३] सूत्र से विहित प्रत्ययों का अतिदेश किया गया है, वहाँ भाष्यकार ने सङ्केत रूप से और कैयट[४] ने स्पष्ट रूप से 'तत्र भवः' में तत्र इस सप्तमी को औपश्लेषिक अधिकरणसप्तमी माना है और प्रकृतिपरिभाषा के आधार पर अधिकरणसप्तमी को भावलक्षणसप्तमी से बलवान् ध्वनित किया है। यदि यह परिभाषा अन्तरङ्गन्याय पर आश्रित होती तो अधिकरण सप्तमी के भावलक्षणासप्तमी के प्रति अन्तरङ्ग न होने से बलीयस्त्व होता नहीं, जिससे भाष्य-ध्वनित बलीयस्त्व अनुपपन्न रहता।[५] इसी से यह मत 'क्रियान्वयित्व'[६] कारकत्वम्' क्रिया में अन्वित होना ही कारकत्व है, खण्डित हो जाता है, क्योंकि भावलक्षणासप्तमी जिससे आती है, वह भी क्रियान्वित होता ही है, तो भाव-लक्षणा सप्तमी कारक विभक्ति हो जायेगी। तब तो यह न्याय नहीं हो सकता था। फलतः उक्त भाष्य तथा कैयट के विरुद्ध होने से यह मत अयुक्त है[७] तथा भाष्य एवं कैयट के आधार पर यह परिभाषा वाचनिकी ही है, ऐसा ध्वनित होता है।

परिभाषा के प्रधानन्यायमूलकत्व का खण्डन : प्रथम हेतु— 'जो लोग[८] यह मानते हैं कि कारक विभक्तियां इसलिए बलीयसी होती हैं, क्योंकि वे दूसरे पद की अपेक्षया प्रधान भूत क्रिया के साथ सम्बन्ध के कारण आती है'। वे भी भाष्य विरोधी हैं। सति सप्तमी[९] तथा अधिकरण सप्तमी[१०]- इन दोनों के क्रिया सम्बन्ध[११] निमित्तक होने से अधिकरण सप्तमी को अधिक बलवती कैसे कहा जा सकता है? ऐसा मानने से उक्त भाष्य[१२] के साथ विरोध आता है। वहाँ तो प्रकृत परिभाषा से ही अधिकरण विभक्ति सप्तमी को बलवती कहा गया है। **द्वितीय हेतु—** द्वितीय हेतु यह है

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ ४५०, गदा, पृष्ठ २००।

२. सीरदेव, नीलकंठ, हरिभास्कर आदि।

३. म०भा०, ५/१/९६।

४. अष्टा० ४/३/५३।

५. गूढार्थ०, पृष्ठ ४५१।

६. दीक्षित मत, प०शे०, पृष्ठ ४५२।

७. गदा, पृष्ठ २०१।

८. सीरदेव, नीलकंठ।

९. अष्टा० २/३/३७ (भाव लक्षणा सप्तमी)।

१०. अष्टा० २/३/३६।

११. प्रधानीभूत क्रिया।

१२. म०भा० ५/१/९६ का भाष्य।

'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्'[१] सूत्र के भाष्य के साथ भी विरोध आता है। वहाँ 'नमस्यति देवान्' इसमें देव शब्द से चतुर्थी[२] को रोकने के लिए, इस परिभाषा का उपयोग किया है। यहाँ 'नमः' और देव की क्रिया कारक-भाव से अन्वय है ही, पुनः अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भाव न कह सकने से, तन्मूलक इस न्याय को मानने पर प्रवृत्ति नहीं होगी। पुनः उससे चतुर्थी का वारण कैसे किया गया? अतः प्रधान की अपेक्षा में यह न होकर वाचनिक ही मानना चाहिए।[३]

परिभाषा की सिद्धिप्रकार में कैयटादि[४] का मत : कैयटादि का मत है कि क्रिया तथा कारक का सम्बन्ध अन्तरङ्ग होता है, अतः तन्निमित्तक विभक्ति अन्तरङ्ग होती है। वाक्य में उपपद के निमित्त से जो विभक्ति दूसरे पद से आती है, वह बहिरङ्ग होती है, क्योंकि वह विभक्ति उन दोनों के मध्य में किसी सम्बन्ध के निमित्त से आती है, जो सम्बन्ध किसी न किसी क्रिया से निवृत्त हो चुका रहता है। (यथा 'राज्ञः पुरुषः' में राजन् और पुरुष का जो स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है वह क्रयण, पोषण क्रियाओं द्वारा निष्पन्न हुआ है)।[५] फलतः अन्तरङ्ग होने से कारक विभक्ति पहले हो जाती है। **उपर्युक्त मत का खण्डन :** नागेश ने इसका खण्डन किया है। उनका कहना है कि 'नमस्यति देवान्' में देवों और नमः के मध्य में भी क्रिया कारक सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं है। अब यदि इसे बहिरङ्ग मानकर न्याय की प्रवृत्ति मानते हैं तो 'नमो वरिवः०'[६] सूत्र के भाष्य से विरोध प्राप्त होगा, क्योंकि उसमें इसी न्याय से चतुर्थी का वारण किया है। यदि अन्तरङ्ग न्याय से हो जाता तो इस न्याय को कहने की क्या आवश्यकता है। अतः यह पक्ष निरस्त हो जाता है। 'नमः' शब्द के अक्रियार्थक होने से क्रिया-कारक-सम्बन्ध कैसे होगा? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए। यथा णिजन्त 'मुण्डयति' में तद्घटकमुंड भी क्रियार्थक है, वैसे ही क्यजन्त 'नमस्यति' में भी नमः क्रियार्थक है।[७] **न्याय मूलक मानने में दोष :** और भी 'सहयुकेऽप्रधाने'[८] सूत्र के भाष्य में 'प्रधाने प्रथमा भवति' इसको सिद्ध करने के लिए प्रकृत परिभाषा का उपयोग किया है, इससे भी यही प्रतीत होता है कि यह स्वतन्त्र न्याय है, अन्तरङ्ग न्याय के आश्रित नहीं। इस प्रकार यह वाचनिक ही है, ऐसा मानना चाहिए।[९]

---

१. म०भा०, ३/१/१९। २. अष्टा० २/३/१६।
३. प०शे०, पृष्ठ ४५२ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ४५२।
४. सीरदेव, नीलकंठ, पुरुषोत्तमदेव। ५. गदा, पृष्ठ २०१।
६. अष्टा० ३/१/१९। ७. प०शे०, पृष्ठ ४५२।
८. म०भा०, २/३/१९।
९. गूढार्थ०, पृष्ठ ४५२, गदा, पृष्ठ २०२।

परिभाषा का प्रयोजन : इससे 'नमस्करोति देवान्', 'नमस्यति देवान्' आदि में उपपद विभक्ति चतुर्थी का बाधकर कारकविभक्ति द्वितीया होने पर उक्त रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गा: स्वामी व्रजति' में स्वामी शब्द के योग में उपपद विभक्ति षष्ठी, सप्तमी 'स्वामी०' आदि सूत्र से प्राप्त है, परन्तु ब्रजति क्रिया में गौओं का कर्मत्व होने से द्वितीया विभक्ति हो जाती है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : उपपद विभक्ति और कारक विभक्ति जहाँ दोनों की प्राप्ति सम्भव हो, वहाँ कौन-सी विभक्ति होनी चाहिए, उपपद विभक्ति या कारक विभक्ति? इसी का निर्णय इस परिभाषा से किया जाता है। उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवान् होकर पहले प्रवृत्त होती है। चन्द्र, कातन्त्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तम, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[१] व्याडि, शाकटायन और जैनेन्द्र ने नहीं मानी है। इस परिभाषा का सामान्य अर्थ तो प्राय: सभी ने एक समान ही माना है। परन्तु नागेश ने इसके अर्थ का अधिक स्पष्टीकरण किया है। कारक विभक्ति क्या है, इससे क्या अभिप्रेत है? कहाँ-कहाँ कारक विभक्ति हो सकती है, इसका सप्रमाण कथन किया है। कारक विभक्ति से 'प्रथमा' का भी ग्रहण यहाँ अभिप्रेत है। इस प्रसङ्ग में दीक्षित के 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' का खण्डन किया है। पूर्ववर्ती पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। पुरुषोत्तमदेव ने व्याख्या में 'प्रथमा' को भी कारक विभक्ति माना है।[२] इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव न्यायमूलक मानते हुए अन्तरङ्ग बहिरङ्ग न्याय लब्ध्ण मानतेहैं। सीरदेव ने प्रधान न्याय मूलिका मानते हुए तथा विस्तार से प्रतिपादन करते हुए अन्तरङ्ग न्याय-लब्ध भी मानी है।[३] नीलकण्ठ ने भी संक्षेप में प्रधान-न्यायमूलिका माना है।[४] हरिभास्कर ने भी प्रधान-न्याय मूलिका मानते हुए अन्तरङ्ग न्याय-सिद्ध माना है।[५] नागेश ने इसके विपरीत वाचनिकी ही माना है तथा विस्तार से भाष्य तथा कैयट के प्रमाणपूर्वक वाचनिकता स्पष्ट की है। इस प्रसङ्ग में सीरदेवादि के प्रधान न्यायमूलकत्व का उल्लेख करके सप्रमाण खण्डन कर दिया है तथा अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग प्रतिपादन की भी अयुक्तता सिद्ध करते हुए विस्तार से वाचनिकता सिद्ध की है। हरिभास्कर ने इसकी प्रवृत्ति का कथन किया है। उनके अनुसार एक का ही उपपद विभक्तित्व तथा कारक विभक्तित्व हो, वहीं इसकी प्रवृत्ति होती है। नागेश ने इसको नहीं माना है। भिन्न से उपपद विभक्ति, भिन्न से कारक विभक्ति में भी प्रवृत्ति मानते हैं।[६] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसके प्रयोजनों का विस्तार

---

१. परिसंग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
२. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ४८।
३. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १०३।
४. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ९०।
५. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १०५।
६. गदा, पृष्ठ २०१।

से निरूपण किया है। नागेश ने संक्षेप में ही किया है। इस प्रकार नागेश की व्याख्यान पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, दीक्षित, हरिभास्कर की प्रतिद्वन्द्विता में किया गया प्रतीत होता है।

(६०) व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते।।प०१०८।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का होती है कि 'गवाक्षः'[१] शब्द में वातायन (झरोखा) अर्थ होने पर अर्थात् वातायन संज्ञावाची 'गो' शब्द के ओ को अवङ् (अव) आदेश हुआ है। यहाँ 'अवङ् स्फोटायनस्य'[२] सूत्र से अवङ् आदेश वैकल्पिक है, अतः पक्ष में इसी अर्थ में 'गोऽक्ष' भी साधु होना चाहिए? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : विशिष्ट विषय में व्यवस्थित विभाषा (विकल्प) से भी (कहीं) कार्य किये जाते हैं। **परिभाषा का आशय :** विशिष्ट विषय में अवस्थित विकल्प को ही 'व्यवस्थित विभाषा' कहते हैं अर्थात् जिस कार्य का विकल्प किया हो, वही कार्य किसी नियतार्थ वाचक शिष्ट प्रयुक्त शब्द में नित्य हो जाय और किसी में नहीं हो[३] तथा जहाँ सब प्रयोगों में उस कार्य का होना, न होना दोनों भेद रहें तो उसको 'अव्यवस्थित विभाषा' कहते हैं।[४] **परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त :** विभाषा की प्रवृत्ति कैसे और कहाँ-कहाँ होगी, इसको निम्न रूप से समझना चाहिए। इसकी प्रवृत्ति लक्ष्य के अनुरोध से होती है। कहीं व्यवस्थित विकल्प से कार्य होता है और कहीं अव्यवस्थित विकल्प की प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार की व्यवस्था लक्ष्य के अनुसार समझनी चाहिए।[५]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा से ही वातायनवाची 'गवाक्षः' में 'गो' शब्द को 'अवङ् स्फोटायनस्य'[६] सूत्र से विकल्प से प्राप्त होने वाला अवङ् आदेश नित्य ही हो जाता है और जहाँ गो के अक्ष- नेत्र का नाम होगा वहाँ 'गवाक्षम्', 'गो अक्षम्', 'गोऽक्षम्' ये तीन प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार इस परिभाषा के उदाहरणों का निरूपण 'शाच्छोरन्यतरस्याम्'[७] के भाष्य में कहा गया है। वहीं द्रष्टव्य है। इसी प्रकार 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्'[८] सूत्र विकल्प से निष्ठा-नत्व का विधान

---

१. गौरिव अक्षिणी यस्य — 'गवाक्षः'।

२. अष्टा० ६/१/१२३।

३. प०शे०, पृष्ठ ४६०, गूढार्थ०, पृष्ठ ४६०।

४. गदा, पृष्ठ २१०।

५. गूढार्थ०, पृष्ठ ४६०, गदा, पृष्ठ २०९।

६. अष्टा० ६/१/१२३।

७. म०भा०, ७/४/४१। ८. अष्टा० ८/२/५६।

करता है वह विकल्प व्यवस्थित है, संज्ञा में नहीं होता है। इसी प्रकार 'अचि विभाषा'[१] से जो लत्व विकल्प से किया गया है वह सर्वत्र विकल्प से न होकर कण्ठवाची अर्थ में नित्य लत्व होता है, विष अर्थ में 'गरः' लत्व होता ही नहीं। सामान्य क्रियावाची यौगिक में तो गरः, गलः दोनों प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिए।

समीक्षा : यह परिभाषा विकल्प के विषय में विशेष कथन करती है। विकल्प भी कभी-कभी व्यवस्थित होता है, किसी नियतार्थ वाचक में नित्य कार्य किसी में होता ही नहीं? इसी को 'व्यवस्थित विभाषा' कहते हैं। शाकटायन, चन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[२] इस परिभाषा का अर्थ सभी ने समान माना है। सभी ने इस परिभाषा का सामान्य संक्षिप्त व्याख्यान किया है। इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने जातिपक्ष समाश्रयणलब्ध इस परिभाषा को मानते हुए विस्तार से उपपादन किया है तथा जातिपक्ष का यथेष्ट आश्रयण करके लक्ष्य सिद्धि हो जाती है— यह माना है।[३] नीलकण्ठ ने 'व्याख्यानतो०'[४] परिभाषा का प्रपञ्च माना है।[५] परन्तु नागेश ने उपर्युक्त हेतुओं को न मानते हुए लक्ष्यानुसार इसकी सिद्धि मानी है तथा लक्ष्यानुसार का प्रदर्शन करते हुए भाष्य प्रमाण प्रस्तुत किया है। परिभाषा का उदाहरण पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने संक्षेप में एक ही गरः, गलः प्रस्तुत किया है। हरिभास्कर ने भी एक ही उदाहरण दिया है। नीलकण्ठ ने कोई भी उदाहरण नहीं दिया है। नागेश ने वातायन अर्थ वाले गवाक्षः उदाहरण को प्रस्तुत किया है।

(६१) सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्य बलवत्।।प०१२८।।

परिभाषा का उपक्रम : शङ्का यह है कि 'व्यध्' धातु के लिट् रूप 'विव्याध' इत्यादि प्रयोगों में सम्प्रसारण[६] से पर होने से 'हलादिः शेषः'[७] सूत्र से हलादिशेष (अभ्यास के यकार का लोप) हो जाने के पश्चात् व् को सम्प्रसारण क्यों नहीं होता? इसके लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : सम्प्रसारण और सम्प्रसारण के आश्रित जो कार्य हैं, वे दोनों बलवान् होते हैं। **परिभाषा का आशय :** परिभाषा में 'तदाश्रय' का तात्पर्य

---

१. अष्टा० ८/२/२१। २. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

३. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ६२, सीरदेववृत्ति, परि०सं० १२४, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १२५।

४. प०शे०, परि०सं० १। ५. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ९३।

६. अष्टा० ६/१/१७। ७. अष्टा० ७/४/६०।

सम्प्रसारण के आश्रय से जो 'सम्प्रसारणाच्च'[१] सूत्र से पूर्वरूप एकादेश होता है, वह गृहीत होता है। अत: सम्प्रसारणाश्रय पूर्वरूप कार्य को भी बलवान् समझना चाहिए।[२]

परिभाषा का मूल : यह परिभाषा वाचनिकी है।[३] भाष्य में इसका पाठ किया गया है। **परिभाषा का हेतु : (प्रत्याख्यान)** — नागेश भाष्य के मत को उद्धृत करते हैं। भाष्य के अनुसार यह परिभाषा व्यर्थ है। 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'[४] सूत्र में जो 'उभयेषाम्' शब्द पढ़ा है, वह न भी पढ़ते तो भी वच्यादि और ग्रह्यादि धातुओं की 'वचिस्वपियजा०'[५] सूत्र से तथा 'ग्रहिज्या०'[६] सूत्र से अनुवृत्ति आने पर, इन दोनों धातु वर्गों के अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता? पुन: 'उभयेषाम्' किसलिए पढ़ा गया है? वह इसलिए ग्रहण किया है कि यहाँ पढ़ा हुआ यह द्वितीय विधान के लिए रहेगा तथा यह द्वितीय विधान नियमार्थ रहेगा। अभ्यास का सम्प्रसारण ही हो, अन्य कार्य जो प्राप्त हो, तो वह न हो। इस प्रकार 'विव्याध' इत्यादि उक्त रीति से परत्वेन प्राप्त 'हलादि: शेष:'[७] सूत्र का बाध कर सम्प्रसारण सिद्ध होकर परिभाषा का प्रयोजन सिद्ध होता है। इस परिभाषा का जो कोई और फल कहा जा सकता है, वह भी अन्यथा सिद्ध है।[८] उदाहरणार्थ 'भृष्ट:'— 'भ्रस्ज् क्त' में सम्प्रसारण और रम् आगमप्राप्ति में यद्यपि रम् भाव[९] परवर्ती है, तथापि सम्प्रसारण नित्य है, अत: सम्प्रसारण हो जाता है। इसी प्रकार जुह्वतु:, शुशुवतु: आदि में भी आ का लोप[१०] तथा उवङ्[११] आदेश से नित्य होने से सम्प्रसारण तथा अन्तरङ्ग होने से पूर्व रूप होकर इष्ट सिद्ध हो जाता है। फलत: इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता, यह 'लिट्याभ्यासस्योभयेषाम्'[१२] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

भाष्य में न्यूनता का परिहार : इसी प्रकार 'णौ च संश्चङो:'[१३] इत्यादि सूत्र में 'संश्चङो:' यह विषय सप्तमी है। अत: सम्प्रसारण के अन्तरङ्ग होने से पहले सम्प्रसारण ही होगा, तत्पश्चात् द्वित्व तथा वृद्धि एवम् आव् आदेश। जिससे इस परिभाषा की प्रवृत्ति के बिना ही 'अशुशवत्' यह रूप सिद्ध हो जायगा तथा 'स्वपिस्वमिव्येञां यङि'[१४] इसका संग्रह समझना चाहिए। फलत: फलान्तर अन्यथासिद्ध हो जाने से परिभाषा का प्रत्याख्यान कर दिया गया है। विस्तार से जानने के लिए उद्योतादि

---

१. अष्टा० ६/१/१०८। २. प०शे०, पृष्ठ ४९०।
३. म०भा० ६/१/१७। ४. अष्टा० ६/१/१७।
५. अष्टा० ६/१/१५। ६. अष्टा० ६/१/१६।
७. अष्टा० ७/४/६०। ८. म०भा० ६/१/१७।
९. अष्टा० ६/४/४७। १०. अष्टा० ६/४/३४।
११. अष्टा० ६/४/७७। १२. म०भा० ६/१/१७।
१३. अष्टा० ६/१/३१। १४. अष्टा० ६/१/१९।

द्रष्टव्य है।[१]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा के होने से 'विव्याध' में 'हलादिः शेषः' सूत्र से प्राप्त परवर्ती लोप को भी बाध कर पहले 'व्यध्+व्यध्-णल्' इस अवस्था में अभ्यास के 'य्' का सम्प्रसारण होता है। 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'[२] सूत्र से 'व्' का नहीं होता तथा सम्प्रसारण होने पर 'हलादिः शेषः'[३] सूत्र से 'ध्' की निवृत्ति हो जाती है। फलतः प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं तथा जुहवतुः, जुहुवुः यहाँ सम्प्रसारण और 'ह्वा' धातु के आकार का अजादि आर्धधातुक के परे लोप भी प्राप्त है, परत्व होने से लोप होना चाहिए। परन्तु इस परिभाषा से सम्प्रसारण हो जाता है और सम्प्रसारण के पश्चात् भी आ लोप तथा सम्प्रसारणाश्रय पूर्वरूप एकादेश प्राप्त होता है। परिभाषा से सम्प्रसारणाश्रय पूर्वरूप पहले होकर रूप सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा : यह परिभाषा सम्प्रसारण तथा सम्प्रसारणाश्रय कार्य की बलवत्ता का प्रतिपादन करती है। केवल नीलकण्ठ ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है[४] भोज,[५] पुरुषोत्तमदेव,[६] सीरदेव[७] तथा हरिभास्कर[८] ने भिन्न-भिन्न पाठान्तरों से निर्दिष्ट किया है। इसका अर्थ सभी ने समान स्वीकार किया है। प्राचीनों एवं नागेश में कोई मतभेद नहीं है। इसके हेतु के विषय में कुछ मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव ने भाष्यपठित होने से वाचनिकी मानते हुए न्यासकारोक्त 'सहिवहोरोदवर्णस्य'[९] सूत्र में अवर्ण ग्रहण के ज्ञापक का खण्डन भी कर दिया है तथा भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान का उल्लेख करते हुए कहा है कि प्रत्याख्यान की अपेक्षा परिभाषावचन लघु है। अतः यह माननी ही चाहिए।[१०] सीरदेव ने ज्ञापकसिद्ध मानते हुए 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'[११] सूत्र में 'उभयेषाम्' ग्रहण को ज्ञापक माना हैं। भाष्योक्त प्रत्याख्यान की अपेक्षा परिभाषा का आश्रयण लघु मानतमे हुए परिभाषा की आवश्यकता उचित मानी है।[१२] नीलकण्ठ ने निर्मूल मानते हुए 'लिट्यभ्यासस्य०'[१३] सूत्र के 'उभयेषाम्' ग्रहण की व्यर्थता की आपत्ति होने से इसका जो खण्डन भाष्य में किया गया है, उसी को माना है।[१४] हरिभास्कर ने

---

१. गूढार्थ०, पृ० ४९०-४९१। २. अष्टा० ६/१/३७।
३. अष्टा० ७/४/६०। ४. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० १३३।
५. 'सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च' भोजपाठ, परि०सं० ९६।
६. 'सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च कार्य बलवत्' पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०१०३।
७. सीरदेववृत्ति, परि०सं०५९। ८. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६१।
९. अष्टा० ६/३/११२। १०. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १०३।
११. अष्टा० ६/१/१७। १२. सीरदेववृत्ति, परि०सं०५९।
१३. अष्टा० ६/१/१७। १४. नीलकंठवृत्ति, परि०सं०१३३।

'लिट्यभ्यासस्य०' सूत्र में 'उभयेषाम्' ग्रहण से ज्ञापित माना है तथा न्यासकारोक्त ज्ञापक भी स्वीकार किया है।[१] नागेश ने इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं मानी है। 'उभयेषाम्' ग्रहण से यह कार्य सिद्ध हो जाता है। इसके प्रयोजनों की भी अन्यथासिद्धि हो जाती है, इसका कथन करते हुए अन्यत्र सम्भाव्य शङ्काओं का भी समाधान प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नागेश ने इसकी अनावश्यकता मानी है। इसके उदाहरणों का पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने विस्तार से निरूपण किया है। सीरदेव ने भी इसके प्रयोजन पर अति विस्तृत विचार किया है। नीलकण्ठ ने कुछ नहीं कहा है। इन्होंने इसकी व्याख्या केवल दो पंक्तियों में की है। हरिभास्कर ने संक्षेप में ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। नागेश ने भी संक्षेप में ही उदाहरण दिया है। इस प्रकार नागेश की संक्षिप्त व्याख्या की अपेक्षा सीरदेव तथा पुरुषोत्तमदेव की व्याख्या अधिक स्पष्ट हैं।

(६२) श्तिपाशपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।।
यत्रैकाज्ग्रहणम् चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि।।प०१३१।।

परिभाषा का उपक्रम : वक्ष्यमाण परिभाषा ऐसी है, जिसे दीक्षित, कैयट आदि ने कहा है, उसका भी प्रत्याख्यान नागेश ने किया है। यहाँ यह शङ्का होती है कि अजर्घा:[२] एवं बेभिदीति[३] इत्यादि यङ्लुक् में भी अपने-अपने गण के विकरण श्यन्,[४] श्नम्[५] आदि हो जाने चाहिए तथा यङ्लुगन्त 'बेमेदिता'[६] प्रयोग में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'[७] सूत्र से 'इट्'[८] का निषेध हो जाना चाहिए, क्योंकि उपदेश में एकाच्त्व है ही? इसके उत्तर में कुछ लोग निम्न परिभाषा स्वीकार करते हैं।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : शास्त्र में धातु से जो कार्य श्तिप्[९] निर्देश करके, शप् निर्देश करके (धातु को शबन्त पढ़कर) अनुबन्ध निर्देश करके, गण का निर्देश[१०] करके तथा एकाच्[११] का ग्रहण करके विधान किया जाता है, वे पाँच यङ्लुक के विषय में नहीं प्रवृत्त होते हैं। **परिभाषा का पदानुसारी अर्थ :** इस परिभाषा में अनुबन्ध का

---

१. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६१।

२. दिवादिगणीय गृध् धातु, यङ्लुक्, लङ् म०पु०ए०।

३. रूधादिगणीय भिद्, यङ्लुक्, लट्, तिप्।

४. 'दिवादिभ्य: श्यन्' अष्टा० ३/१/६९।

५. 'रुधादिभ्य: श्यन्' अष्टा० ३/१/७८।

६. यङ्लुगन्त, लुट्, तिप। ७. अष्टा० ७/२/१०।

८. अष्टा० ७/२/३५। ९. वा०का० ३/३/१०८।

१०. जहाँ गणों का ग्रहण करके कार्य हो जैसे 'दिवादिभ्य: श्यन्'।

११. 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' अष्टा० ७/२/१०।

निर्देश दो प्रकार से माना गया है, स्वरूप से— धातु को अनुबन्ध सहित पढ़ने से तथा 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'[१] सूत्र में 'ङित्' इस इत्संज्ञक पद के पढ़ने से। **परिभाषा का प्रयोजन :** इस परिभाषा के होने से जो प्रयोग सिद्ध होते हैं, वे क्रम से उदाहृत किये जाते हैं— **(क) शितप् निर्देश**— 'नेर्गदनदपतपद०'[२] सूत्र में हन्ति, याति, वाति ये शितप् प्रत्यय करके पढ़े गये हैं, अत: इस सूत्र से नि को उपसर्गस्थ निमित्त से जो णत्व होता है, वह इनके यङ्लुगन्त रूप में नहीं होता है, 'प्रन्यजङ्घनीत्'[३] यहाँ णत्व नहीं हुआ। इसी प्रकार याति, वाति के यङ्लुगन्त में णत्व नहीं होता है। **(ख) शप्-निर्देश**— 'सनीवन्तर्ध०'[४] सूत्र में 'भर' निर्देश के कारण बर्मरीति, बर्मरिषति[५] यहाँ इट् विकल्प नहीं हुआ, किन्तु नित्य ही 'इट्'[६] हो जाता है। **(ग) अनुबन्ध-निर्देश**— 'शीङ: सार्वधातुके गुण:'[७] तथा 'दीङो युडचि क्ङिति'[८]- यहाँ अनुबन्ध निर्देश के कारण शीङ् का गुण तथा दीङ् से परे युट् का आगम, यङ्लुगन्त में नहीं होते हैं। शेशीत:,[९] देवित:।[१०] इसी प्रकार इत्संज्ञक पद के द्वारा निर्दिष्ट होने में 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'[११] सूत्र से स्पर्ध् तथा शीङ् के यङ्लुक् में आत्मनेपद नहीं होता— पास्पर्धीति,[१२] शेशयीति। **(घ) गण-निर्देश**— गण का निर्देश करके 'रुधादिभ्य: श्नम्'[१३] से जो श्नम् विधान किया गया है, वह रौधादिक'भिद्' के यङ्लुक् में नहीं होता है— बेभिदीति। इसी प्रकार जर्गृधीति, अजर्घा: में श्यन् नहीं होता है। **(ङ) एकात्त्व-निर्देश**— 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'[१४] सूत्र में 'एकाच्' का ग्रहण करके जो 'इट्' का निषेध किया है, वह भिद् एवं छिद् आदि के यङ्लुक् में नहीं होगा बेभेदिता, चेच्छेदिता में निषेध न होकर नित्य ही 'इट्' हो जाता है।

परिभाषा की अनित्यता : दीक्षितादि के अनुसार यह परिभाषा अनित्य मानी जाती है। अत: 'एकाचो द्वे प्रथमस्य'[१५] सूत्र में एकाच् ग्रहण होने पर भी यङ्लुक्

---

१. अष्टा० १/३/१२। २. अष्टा० ७/४/१७।

३. प्र+नि हन्, यङ्लुक्, लङ्, तिप् का रूप।

४. अष्टा० ७/४९।

५. भृञ्, यङ्लुगन्त 'बर्भर्' से सन् प्रत्ययान्त।

६. अष्टा० ७/२/३५। ७. अष्टा० ७/४/३१।

८. अष्टा० ६/४/६३।

९. शीङ्, यङ्लुगन्त शेशी, लट्, प्र०पु०द्वि०।

१०. यङ्लुगन्त, दीङ् देदी, क्त प्रत्ययान्त।

११. अष्टा० १/३/१२। १२. स्पर्ध धातु यङ्लुक् में लट्, तिप्।

१३. अष्टा० ३/१/७८। १४. अष्टा० ७/२/१०।

१५. वही, ६/१/१।

में द्वित्व होता है तथा 'गुणो यङ्लुकोः'[१] सूत्र से अभ्यास का गुण विधान करना— इसके अनित्यत्व में ज्ञापक है। यदि द्वित्व न हो तो उक्त सूत्र से यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते अभ्यास के न होने से अभ्यास का गुण विधान अनर्थक हो जायेगा। फलतः उक्त सूत्र से इस परिभाषा की अनित्यता जानी जाती है। **(क) अनित्यत्व में प्रमाण**— इसके अनित्य मानने में बृद्धों की सम्मति है। इसीलिए कैयट 'श्वीदितो निष्ठायाम्'[२] सूत्र में 'यत्रैकाज्ग्रहणं किञ्चित्' इस प्रकार कारिका को पढ़ते है।[३] जिसका अभिप्राय यह है कि कुछ ही कार्यों का निषेध होता है, सभी का नहीं। **(ख) अनित्य का फल**— अनित्य होने से 'सनाद्यन्ता धातवः'[४] यहाँ गण निर्देश पूर्वक धातु संज्ञा का विधान होने से यङ्लुक् में 'बोभू' की धातु संज्ञा हो जाती है। यदि 'सनाद्यन्ताः' इसका भाष्यकृत प्रत्याख्यान मान लिया जाय तो भी 'भूवादयो धातवः'[५] सूत्र से 'बोभू' की धातु संज्ञा हो जाती है तथा 'एकाचो बशो भष्०'[६] यहाँ एकाच् ग्रहण पूर्वक भष्-भाव विधान होने से यङ्लुगन्त 'अजर्घाः' में भष्-भाव (ग् को घ्) नहीं होना चाहिए। परन्तु धातु संज्ञादि कार्य होता है, क्योंकि इस परिभाषा के अनित्य होने से निषेध नहीं होता।

परिभाषा का दीक्षितादिकृत उक्त ज्ञापक : दीक्षितादि के अनुसार 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'[७] सूत्र में 'एकाच्' ग्रहण द्वारा एकाच् ग्रहण के विषय में इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। एकदेश की अनुमति से और स्थालीपुलाकन्याय से सकल परिभाषा का ज्ञापक माना जाता है। ज्ञापक इस प्रकार है— उपदेश अवस्था में जो धातुएं एकाच् हैं, उनसे वलादि आर्धधातुक को इट् न हो, ऐसा कहा है, परन्तु उपदेश अवस्था में जो अनेकाच् हैं, वे उदात्त ही होती हैं। उनसे परे 'उपदेशेऽनुदात्तात्' कहने से ही इट् का निषेध नहीं होगा तो 'एकाच्' ग्रहण किसलिए किया गया है? फलतः एकाच् ग्रहण की यही चारितार्थता है कि यह ज्ञापित करे कि 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्'[८] सूत्र की प्रवृत्ति यङ्लुक् में नहीं होती है। यथा बेभिद्, चेच्छिद् उपदेशावस्था में अनुदात्त एकाच् हैं। यदि यहाँ भी 'एकाच् उपदेशे०' प्रवृत्त होकर इसका निषेध करे तो 'एकाच्' ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं। अतः उक्त ज्ञापक से यह परिभाषा ज्ञात होती है। **परिभाषा विषयक नागेश मत :** नागेश ने इस परिभाषा का पूर्ण रूप से खण्डन किया है। इस प्रसङ्ग में ज्ञापक-प्रयोजन आदि का प्रत्याख्यान किया है। यह परिभाषा भाष्य में अनुपलब्ध होने से अप्रामाणिक है। परिभाषा के ज्ञापक के खण्डन में उसके हेतुभूत एकाच्-प्रयोजन प्रदर्शित करना है। नागेश ने उसका प्रयोजन विस्तार से शङ्का समाधानपूर्वक प्रतिपादित

---

१. अष्टा०, ७/४/८२। २. वही, ७/२/१४।
३. द्र०प्र० ७/२/१४। ४. अष्टा० ३/१/३२।
५. अष्टा० १/३/१। ६. अष्टा० ८/२/३४।
७. अष्टा० ७/२/१०। ८. वही, ७/२/१०।

किया है, जिससे परिभाषा के ज्ञापकत्व का खण्डन हो जाता है।[१] **(क) ज्ञापक का खण्डन**— नागेश के अनुसार एकाच् ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक नहीं है। सूत्र में एकाच्-ग्रहण हन् के आदेश अदन्त (अनेकाच्) 'वध'[२] को इट् निषेध न हो, इसलिए आवश्यक है। अत: सार्थक होने से परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता। साक्षात्— (मुख्य) उपदेश में एकाच्त्व के सम्भव होने पर स्थानी के उपदेश का ग्रहण नहीं होता और उपदेश मात्र से 'एकाच्', ऐसा सूत्रार्थ होने से वध के स्थानी हन् के उपदेश में एकाच्त्व की शङ्का निरस्त हो जाती है, अत: 'वध' की व्यावृत्ति के लिए ही एकाच् ग्रहण किया है।[३] **(अ) एकाच् का अन्य प्रयोजन**— उत्तर सूत्रों[४] में अनुवृत्ति के लिए भी इस सूत्र में 'एकाच्' ग्रहण आवश्यक है। 'श्रयुक:[५] किति' सूत्र में उपदेश और एकाच् की अनुवृत्ति होने से उपदेश में उगन्त होने पर भी 'जागृ' के उपदेश में अनेकाच् होने से इट्-निषेध नहीं होता— जागरित:,[६] जागरितवान्। इस सूत्र में उपदेश की अनुवृत्ति 'स्तीर्ण:' आदि में इट् निषेध के लिए है, यह भाष्य[७] में स्पष्ट है। 'स्तृञ्' उपदेश में उगन्त है, पश्चात् इत्व, रपरत्व, दीर्घत्व होकर 'स्तीर्' रूप हो जाता है, औपदेशिक उगन्तत्व को लेकर इट्[८] निषेध हो जाता है। इस प्रकार एकाच् के सप्रयोजन होने से ज्ञापकत्व कथमपि सम्भव नहीं है। फलत: यह परिभाषा निर्मूला ही है तथा इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। नागेश ने प्रयोजन के खण्डन एवं परिभाषा के मानने में भाष्य-विरोध का परिहार, उसमें असंगति का निराकरण आदि का अति विस्तार से उपपादन किया है।[९] उसको विस्तार भय से नहीं दे रहे हैं। **(ख) परिभाषा के अभाव में प्रयोजनों की सिद्धि**— अजर्घा:, बेभिदीति आदि यङ्लुगन्त रूपों में श्यन्, श्नम् आदि विकरण इसलिए नहीं होते कि 'चर्करीतं च'[१०] इसका अदादिगण[११] में पाठ है जिसका अर्थ है— 'चर्करीतान्त- यङ्लुगन्त धातुओं के साथ अदादिगणीय के समान व्यवहार होता है। तात्पर्य यह है कि सभी यङ्लुगन्त धातुएँ अदादिगण की मानी जाती हैं। फलत: अदादि का कार्य होने से यङ्लुक में गणान्तर प्रयुक्त विकरण की प्राप्ति नहीं होती है, इससे उक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं। **(अ) यङ्लुक् में अन्य कार्यों की**

---

१. प०शे०, पृष्ठ ४९५।

२. 'हनो वध लिङि' अष्टा० २/४/४२, तथा 'लुङि च' अष्टा० २/४/४३।

३. गूढार्थ०, पृष्ठ ४९५।

४. अष्टा० ७/२/११।

५. वही, ७/२/११।

६. 'जागृ' धातु क्त प्रत्ययान्त तथा प्रत्ययान्त।

७. म०भा० ७/२/११।

८. अष्टा० ७/२/११।

९. प०शे०, पृ० ४९६-४९९।

१०. प्राचीनों की यङ्लुक् की संज्ञा।

११. धातुपाठ, अदादिगण।

सिद्धि प्रकार— इस परिभाषा के विषय-भूत अन्य कार्य (णत्व आदि) भी जो मूल धातु को प्राप्त होते हैं, परन्तु वेद में देखे गये प्रयोगों में नहीं देखे जाते हैं। वे इसलिए नहीं होते कि वे प्रयोग वस्तुत: वेद में ही होते हैं, लोक में नहीं। अत: छान्दस होने से इन कार्यों की अप्रवृत्ति समझनी चाहिए। भाष्य में तो उन परिभाषा विषयों का अभाव ही रहता है। इस प्रकार नागेश ने यङ्लुक् का प्रयोग लोक में न मानकर ही इन कार्यों की सिद्धि प्रतिपादित की है। **(आ) श्तिपादि निर्देश की उपयुक्तता**— श्तिपादि निर्देश का प्रयोजन निम्न है। श्तिप्, शप् से जिस धातु का निर्देश किया है, वह साधुत्व प्रदर्शन द्वारा अदृष्टार्थक है, जैसे 'भवतेर:'[१] यह सूत्र लिट् को निमित्त मानकर 'भू' के ऊ का अ विधान करता है। लिट् का आम् प्रत्यय के कारण लुक्[२] हो जाने से यङ्लुक् में इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं। अत: यह निर्देश केवल पारायण आदि से अदृष्ट फल उत्पादक है, ऐसे ही अन्य निर्देशों को भी समझना चाहिए।[३] क्योंकि नागेश का सिद्धान्त है कि जहाँ भाष्यकार ने सूत्राक्षरों के प्रयोजनों पर विचार नहीं किया है, वहाँ तथा निर्दिष्ट सूत्रपाठ से पारायणिक पुरुष को केवल अदृष्ट लाभ होता है।[४] इस प्रकार प्रयोजनों के अन्यथा सिद्ध हो जाने से परिभाषा निष्प्रयोजना है, तथा ज्ञापक न होने सये निर्मूला है, यही नागेश का अभिमत है।

समीक्षा : यह परिभाषा यङ्लुक् के विषय निर्देश करती है। पूर्ववर्ती किसी ने भी यह परिभाषा इस रूप में नहीं मानी है। भट्टोजिदीक्षित ने 'सिद्धान्त कौमुदी' में यह प्रस्तुत की है।[५] उन्होंने ही इसका उपयोग किया है। नागेश ने स्यात् इन्हीं के अथवा नीलकण्ठ के आधार पर प्रस्तुत की है। नागेश ने परिभाषा का कारण तथा अर्थ एवम् उदाहरणों का विस्तार से कथन करने के उपरान्त इसकी अनावश्यकता भी सिद्ध करते हुए खण्डन कर दिया है। इसके न मानने में युक्ति, भाष्य-प्रमाण विस्तार से प्रस्तुत करते हुए इसके द्वारा सिद्ध होने वाले प्रयोजनों की अन्यथा सिद्धि प्रदर्शित की है। इस प्रकार नागेश ने भाष्य का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए परिभाषा का खण्डन किया है।

●

---

१. अष्टा० ७/४/७३। २. अष्टा० २/४/८१।

३. प०शे०, पृष्ठ ४९९, गदा, पृष्ठ २३४।

४. श०शे० ७/२/१०, सूत्र की व्याख्या।

५. सि०कौ० सू०सं० २२४६, अर्थात् 'यङोऽचि च' (२/४/७४) 'यङो वा' (७/३/९४) पर।

तृतीय अध्याय

उभयोपकारक परिभाषाएँ

व्याकरणशास्त्र के परिभाषा ग्रन्थों में व्याख्यात परिभाषाओं को चार वर्ग में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में सूत्रार्थविषयक सन्देह की निर्वर्तिका तथा द्वितीय अध्याय में शब्द-(लक्ष्य) रूप सिद्धि में सहायिका परिभाषाओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है। कुछ ऐसी भी परिभाषायें हैं, जो सूत्र तथा लक्ष्य दोनों की सिद्धि में सहायक होती हैं। इस प्रकार की कुल परिभाषाओं की संख्या ३१ है। इनमें से अधिकांश परिभाषाएँ परिभाषेन्दुशेखर के प्रथम तथा तृतीय तन्त्र में प्राप्त होती हैं। कुछ परिभाषाएँ द्वितीय तंत्र में भी उपलब्ध होती हैं। इस वर्ग की सम्पूर्ण परिभाषाओं का समीक्षात्मक विवेचन तृतीय अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

(६३) कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते।।प०१०।।

परिभाषा का उपक्रम : इत्संज्ञक वर्णविशेष को आश्रित कर प्रवृत्ति होने वाली विधि के विषय का निश्चय करना आवश्यक है। शंका यह होती है कि इङ् तथा शीङ् धातुओं से निष्पन्न अध्येता, शयिता[१] इत्यादि प्रयोगों में (इङ्, शीङ् धातुएँ) ङित् हैं। अत: इनमें 'क्ङिति[२] च' इस सूत्र से गुणनिषेध प्राप्त होता है, क्योंकि 'क्ङिति च' सूत्र का व्याख्यान यह है कि 'कित् और ङित् तथा गित् गुण और वृद्धि का कारण हो रहे हों[३] तो वहाँ गुणादि नहीं होते हैं'। इस अर्थ में 'निमित्त' शब्द का 'कारण मात्र' अर्थ समझा जाता है। फलत: उपर्युक्त उदाहरणों में इङ् और शीङ् के इ तथा ई को उद्देश्य करके विहित गुण का 'इ' तथा 'ई' भी कारण हैं, जिनका अवयव भूत अनुबन्ध ङ् है। अत: 'ङित्' भी है। इस ङित् को हेतु मानकर गुण निषेध क्यों नहीं होता है? इसी के उत्तर के लिए यह परिभाषा है।

---

१. 'शीङ्' धातु, 'तृच्' प्रत्ययान्त, इडागम, गुणादि होकर प्र०वि०ए० 'शयितृ' का रूप।

२. अष्टा० १/१/५।

३. यहाँ 'क्ङिति च' में भावलक्षणासप्तमी मानी जाती है तथा निमित्त का 'कारण' अर्थ मानकर निम्न अर्थ होता है— 'क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत:' इसी अर्थ को मानकर शंका का गयी है, द्र० उ० १/१/५ वा० 'तन्निमित्तग्रहणं कर्त्तव्यम्' पर।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : कार्य का अनुभव करने वाला कार्यी, उसी कार्य का निमित्त नहीं माना जाता है। अर्थात् जिसे कार्य होना है, उसे कार्यी कहते हैं। इस प्रकार के कार्य में उसी को कारण नहीं माना जा सकता है।

परिभाषा का आशय : तात्पर्य यह है कि साक्षात् अथवा उसका अवयव जिसको कार्य हो रहा हो, वह अथवा उसका अवयव निमित्त नहीं माना जाता है। इस परिभाषा के अर्थ से दो बाते स्पष्ट होती हैं। **(१)** जिसको साक्षात् अथवा अवयव को उद्देश्य करके कार्य हो रहा है वह और उसका अवयव उस कार्य का निमित्त नहीं माना जाता है।[१] **(२)** जब उद्देश्य को साक्षात् अथवा उसके अवयव को कार्य होता है, तब प्रत्यासत्ति से उसको और उसके सदृश अवयव को निमित्त नहीं माना जाता है।[२]

परिभाषा का ज्ञापक : इस परिभाषा में 'स्थण्डिलाच्छयितरि[३] व्रते' सूत्र में 'शियितरि' शब्द का प्रयोग ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न होती तो (शी+ई+तृ+इ) 'शयितरि' यह निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि शीङ् का ङित् मानकर 'क्ङिति[४] च' सूत्र से गुण निषेध होकर 'शीतरि' ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। फलत: उक्त निर्देश यह ज्ञापित करता है कि कार्य का अनुभव करने वाला कार्यी, उसी कार्य का निमित्त नहीं माना जाता है।[५]

परिभाषा घटक पदों का प्रयोग— (क) कार्यमनुभवन् पद का प्रयोजन— प्रस्तुत परिभाषा में 'कार्यमनुभवन्' ऐसा क्यों कहा गया है? **उत्तर—** ऐसा करने से ही 'ऊर्णुनविषति'[६] इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं। कार्यो जब कार्य का अनुभव कर रहा हो, तब उस कार्य में निमित्त रूप से नहीं लिया जाता है। यदि कार्य का अनुभव नहीं करता है तब तो निमित्त रूप से गृहीत होता ही है। इसी पद के कारण निम्न उदाहरण सिद्ध होते हैं— **(अ)** 'ऊर्णुनविषति'- 'ऊर्णु- इ- स' यह इट् सहित[७] सन्नन्त 'ऊर्णु' धातु है। इस अवस्था में 'सन्यङो:'[८] सूत्र से द्वित्व होता है। 'सन्यङो:' यह षष्ठ्यन्त

---

१. इसका लाभ यह है कि 'अरिरिषति' में 'ऋ+इस' में षष्ठ्यन्त रूप कार्यी के अवयव रूप 'इस्' को भी द्वित्व रूप कार्य होता है— द्र० गूढार्थ०, पृ० ६१, पं० ७-९।

२. गूढार्थ०, पृ० ६१ पं० १२-१५, 'ऊर्णुनुविषति' में 'इस्' को निमित्त रूप से मानकर कार्य सिद्ध हो जाता है।

३. अष्टा० ४/२/१५। ४. अष्टा० १/१/५।

५. गूढार्थ, पृ० ६१, पं० १-२।

६. 'ऊर्णु' धातु, सन् प्रत्ययान्त, इट् (अष्टा० ७/२/४९), 'ऊर्णु+इ+स' 'नु' का द्वित्व+गुण, अवादेश, 'ऊर्णुनविस' स का मूर्धन्य, लट प्र०पु०ए०।

७. अष्टा० ७/२/४९। ८. अष्टा० ६/१/९।

है। इसका अर्थ हुआ— 'सन्नन्त और यडन्त को द्वित्व होता है'। पुनः 'अजादेर्द्वितीयस्य'[१] सूत्र से तथा 'नन्द्रा : संयोगादयः'[२] सूत्र से 'ऊर्' को छोड़कर केवल 'नु' शब्द का द्वित्व होता है। यहाँ षष्ठ्यन्त सन्नन्त रूप कार्यी 'इस' द्वित्व रूप कार्य का अनुभव नहीं कर रहा है। इसलिए इसका निमित्त रूप से ग्रहण हो जाता है। कार्यी सन्नन्त प्रकृति के अवयव 'नु' शब्द का द्वित्व रूप कार्य हो रहा है। अतः वह निमित्त नहीं हो सकता है। परन्तु 'इस्' का कोई कार्य प्राप्त न होने से इसे निमित्त मानने में बाधा नहीं है। इसका फल यह होता है कि 'द्विर्वचनेऽचि'[३] सूत्र से 'नु' को गुण-निषेध होता है,[४] अथवा गुण होकर भी पुनः स्थानिवद्भाव[५] होने से इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।[६] **(आ) विशेषण के अभाव में अनुपपत्ति**— यदि यहाँ 'अनुभवन्' यह विशेषण न रखें तो 'ऊर्णु' इसमें सन्नन्त कार्यी 'इस्' का भी निमित्त रूप से ग्रहण न होने से (अर्थात् द्विर्वचननिमित्तक अच् न होने से) 'द्विर्वचनेऽचि' से आदेश का निषेध अथवा स्थानिवद्भाव नहीं होगा।[७] तब 'नव्' का द्वित्व होने पर, अभ्यास के 'अ' के सन्वद-भाव से 'इ' होने पर **'ऊर्णिनविषति'** ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा? **(इ) उक्त अर्थ का लाभ**— यह है कि 'अरिरिषति'[८] में 'ऋ+इ+सन्' इस स्थिति में गुण (अ, रपर) होने पर 'अरिस्' यह सन्नन्त धातु निष्पन्न होती है। सन्नन्त का द्वित्व होता है, सन्नन्त कार्यी है। धातु आजादि होने से द्वितीय[९] एकाच् 'रिस्' का द्वित्व होता है। 'इ' (ट्) सन् का अवयव है, अतः अजादि सन् (इस) द्वित्व का निमित्त है तथा यही द्वित्वरूप कार्य का अनुभव कर रहा है। इसीलिए निमित्त नहीं माना जाता है। फलतः 'द्विर्वचनेऽचि' की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः गुण होकर 'रिस्' शब्द का द्वित्व होने से उक्त रूप सिद्ध हो जाता है।

परिभाषा का प्रयोजन : कार्य का अनुभव करने वाले कार्यी को उसी कार्य में निमित्त न मानने से अध्येता, शयिता[१०] इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं। अधिपूर्वक इङ् धातु से 'तृच्' प्रत्यय परे रहते गुण होकर 'अधि-एता'—अध्येता। इसी प्रकार शीङ्

---

१. अष्टा०, ६/१/२।
२. वही, १/१/५९।
३. अष्टा०, १/१/५९।
४. सि० का०,१/१/५९।
५. का०, १/१/५९।
६. नु-नु, द्वित्व होकर गुणादि होकर 'ऊर्णुनविष'से उक्तरूप निष्पन्न।
७. सि० को० एवं का० १/१/५९।
८. 'ऋ' धातु, सन् प्रत्यय, इट्, गुण रपरत्व, अरिस- रिस-रिस-द्वित्व, हलादि शेष, मूर्धन्य, अरिरिष।
९. अष्टा० ६/१/२।
१०. अधिपूर्वक इङ् और केवल शीङ् से 'तृच्', गुणादि होकर प्र० वि० ए० के रूप।

से तृच् प्रत्यय, इट् आगम होकर गुण होने से 'शयिता' रूप बनते हैं। यहाँ इ तथा ई को 'सार्वधातुकार्धातुकयोः'[१] से विहित होकर इ तथा ई भी कारण हैं, अतः इङ् और शीङ् अपने अवयवभूत 'ङ्' अनुबन्ध से 'ङित्' भी हो जाने से 'क्ङिति[२] च' सूत्र से गुण का निषेध प्राप्त होता है। इस अनिष्ट का यह परिभाषा निराकरण करती है। यहाँ इ तथा ई कार्यी है, इन्हें कार्य गुण हो रहा है। इस कार्य में इन्हीं को निमित्त नहीं माना जा सकता है, अतः ङित् होने पर भी गुण हो ही जाता है। इसी प्रकार अन्य[३] भी प्रयोजन सिद्ध होते हैं। **परिभाषा के हेतु में नागेश का दृष्टिकोण :** इनका विचार है कि इस परिभाषा को ज्ञापकसिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह तो न्यायसिद्ध है। न्याय आदि शास्त्रों में प्रायेण समवायी (उपादान कारण) और निमित्त कारणों का भेद स्वीकार किया गया है। जो समवायी कारण होता है, वही निमित्त का कारण नहीं होता है। यहाँ भी जिसे कार्य हो रहा है, वह कार्यी समवायी है। वह निमित्त नहीं बन सकता है।[४] इसको समझाते हुए नागेश ने 'हि' शब्द से हेतु की प्रसिद्धता द्योतित कराते हुए अपना मन्तव्य प्रकट किया है।[५]

समीक्षा : व्याकरण शास्त्र में जिसको उद्देश्य करके कार्य विधान किया जाता है, उस कार्य का जिस पर प्रभाव पड़ता है उसे 'कार्यी' कहते हैं। इस कार्यी का निमित्त से वैसे तो सामान्यतः अन्तर स्पष्ट ही है, परन्तु जब कार्यी, निमित्त के साथ अत्यन्त सम्बद्ध होकर एक साथ हो जाता है, तब किसको कार्यी माने और किसको निमित्त माने? दोनों को एक साथ मानने में दोष है। इस स्थिति में कार्यी का निमित्त से अन्तर बताना आवश्यक है। यह परिभाषा इस रूप में प्राचीन परिभाषा पाठों में नहीं मिलती है। व्याडि आदि सभी ने इस परिभाषा के स्थान पर अन्य रूप[६] में परिभाषा का पाठ किया है। सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने कुछ भिन्न रूप से इस परिभाषा से मिलता हुआ पाठ[७] क्रिया है। नागेश ने इसमें विशेषण जोड़ते हुए 'सिद्धान्तकौमुदी' के अनुसार भिन्न प्रकार से पाठ किया है। यह स्यात् अर्थ की पूर्णता की दृष्टि से परिवर्तन किया गया है, जो कि उचित प्रतीत होता है। नागेश के बाद भी इसका इस रूप में पाठ नहीं मिलता है।[८] परिभाषा का क्रम स्वयं नागेशकृत है। इस परिभाषा का अर्थ है 'कार्य को अनुभव

---

१. अष्टा० ७/३/८४। २. अष्टा० १/१/५।

३. अरिरिषति, ऊणुर्नविषति।

४. गूढार्थ०, पृ० ६२, पं० २-१४ एवं द्र० मंजुषा, प्रातिपदिकार्थ विचार।

५. गूढार्थ०, पृ० ६३।

६. व्याडि पाठ- 'न निमित्तकार्यं नैमित्तिकस्य'तथा कुछ शब्दान्तर से जैनेन्द्र तथा पुरुषोत्तमदेव ने इसी रूप में कहा है।

७. परि० संग्रह, 'न हि कार्यी निमित्तत्वेनाश्रीयते'।

८. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १०।

करने वाला कार्यी का उसी कार्य के प्रति निमित्त रूप से ग्रहण नहीं किया जाता है'। इसी अर्थ की सिद्धि के लिए पुरुषोत्तमदेव ने दो परिभाषाओं[१] का पाठ किया है। सीरदेव तथा हरिभास्कर ने भी व्याख्या में परिभाषान्तर स्वीकार किया है। साथ ही पुरुषोत्तमदेव एवं सीरदेव ने इस परिभाषा को प्रायिक माना है। लक्ष्यवशात् कहीं प्रवृत्ति होती हैं, कहीं नहीं होती, ऐसा कहा है परन्तु नागेश यह सब उचित नहीं मानते। 'कार्यमनुभवन्' के विशेषण से ही सभी शंकाओं का समाधान होता है। इस परिभाषा के ज्ञापक के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता है। व्याडि ने 'शिवादि'[२] गण के क्षीर-ह्रद' शब्द का ज्ञापक प्रस्तुत किया है। पुरुषोत्तमदेव 'दीघीवेवीटाम्'[३] में दीघीङ्, वेवीङ् में गुण का प्रतिषेध, इस परिभाषा का ज्ञापक मानते हैं। सीरदेव भी इस ज्ञापक को स्वीकार करने के साथ 'कुटादि'[४] में 'कुङ् शब्दे' पाठ को भी ज्ञापक मानते हैं। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने भी 'दीघीङ्वेवीङ्' में गुण प्रतिषेध को ही ज्ञापक माना है। परन्तु नागेश ने सामान्यत: 'शयितरि' निर्देश का ज्ञापक प्रस्तुत किया है। परन्तु इस परिभाषा को ज्ञापक से सिद्ध करने की आवश्यकता यहाँ नहीं समझी है। इसमें न्यायादि शास्त्रों के आधार पर जैसे समवायी और निमित्त कारण का भेद स्वीकार किया जाता है, वैसे ही यहाँ भी 'कार्यी' समवायी है, वही अपना निमित्त नहीं बन सकता। इस प्रकार नागेश ने इसे न्याय-सिद्ध माना है। यह परिभाषा 'द्विर्वचनेऽचि'[५] भाष्य में 'अचि' ग्रहण से ध्वनित मानते हैं। यह भी नागेश की अपनी सूझ है, प्राचीन किसी ने भी ध्वनित नहीं कहा है। इसके प्रयोजन का प्रतिपादन प्राचीन व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेवादि ने विस्तार से किया है। अतएव स्यात् नागेश ने संक्षेप में केवल विशेषण 'कार्यमनुभवन्' का ही प्रयोजन कह दिया है। इस प्रकार नागेश ने इस परिभाषा की व्याख्या की दृष्टि से व्याख्या न करके परिभाषा के हेतु के विषय में अधिक बल दिया है।

(६४) यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते।।प०११।।

परिभाषा का उपक्रम— 'दा'[६] धातु की 'दाधाघ्वदाप्'[७] सूत्र से घु संज्ञा की गई है, परन्तु 'दा' में णिच् प्रत्यय परे रहते 'पुक्' आगम होने पर 'दापि' ऐसा रूप हो जाने से घु संज्ञा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि केवल 'दा' शब्द निरर्थक है। फलत: चु संज्ञा के अभाव में 'नेर्गदनदपतघु०'[८] आदि सूत्र से 'नि' को उपसर्ग निमित्तक 'णत्व'

---

१. का०४/१/११२।
२. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ९४-९५।
३. अष्टा० १/१/६।
४. अष्टा० १/२/१ एवं का० १/२/१।
५. अष्टा० १/१/५९।
६. डुदाञ् दाने, जुहोत्यादिगण।
७. अष्टा० १/१/२०।
८. वही, ८/४/१७।

की प्राप्ति न होने से 'प्रणिदापयति'[१] यह रूप साधु नहीं हो सकता है?[२] इस प्रश्न का उत्तर इस परिभाषा द्वारा दिया गया है। **परिभाषा का सामान्य अर्थ :** जिनको उद्देश्य करके आगम विधान किए जाते है, वे आगम उन आगम वाले शब्द समुदायों के अवयव बन जाते हैं। अत: आगमी केवल अपने स्वरूप के ही बोधक नहीं होते हैं, अपितु आगम सहित रूप के भी बोधक होते हैं।

परिभाषा का आशय : 'यदागमा'[३]— यस्य आगमा=यदुदिश्य वा आगमा: (विधीयन्ते)। तद्गुणीभूता तदवयवतां गता:। 'गुण' शब्द यहाँ अवयववाची है। जिसको उद्देश्य करके जो आगम विहित है, वह शास्त्र से आरोपित अवयव रूप से जाना जाता है।[४] अत: वह उस आगम विशिष्ट (सहित) का भी स्वत: बोध[५] कराता है। अर्थात् आगम रहित में जो कार्य दृष्टिगत होते है, वे आगम विशिष्ट में भी हो जाते हैं। जो धर्म आगमरहित में है, वे सभी आगम विशिष्ट में भी अतिदिष्ट होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि आगम आगमियों के अवयव होते हैं, अवयव से पृथक् नहीं होते। 'आद्यन्तौ टकितौ'[६] आदिआगम विषयक शास्त्र में आगमों को अवयव बताया गया है

परिभाषा घटक पदों की उपयोगिता— (क) शंका— 'यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इतने से ही कार्य निर्वाह संभव था, पुन: 'तद्गुणी-भूता:' की आवश्यकता क्या है? **समाधान**— इसके उत्तर में नागेश ने कहा है कि इस परिभाषा का यह 'तद्गुणीभूत' अंश हेतु दिखलाने के लिए है। लोक में भी देखते हैं कि जब कोई देवदत्त नामक पुरुष दूसरों की अपेक्षा अधिक अंग वाला होता है तो देवदत्त संज्ञा से अंगाधिक्य विशिष्ट देवदत्त का ही बोध होता है, अङ्गाधिक्य रहित देवदत्त का नहीं। **(ख) शङ्का**—इस परिभाषा की व्याख्या में 'यमुद्दिश्यविहित:' अर्थात् जिस (रूप) को उद्देश्य करके जो विहित हो, इस प्रकार के कथन का क्या आशय है? **समाधान**— इस अंश के न

---

१. प्र,नि पूर्वक 'दा' धातु, णिच्प्रत्यय,पुक् आगम, लट् लकान प्र०पु०ए०तिप्, शप्, गुण, अयादेश, 'न' का णत्व (अष्टा०८/४/१७) होकर निष्पन्न रूप।

२. गूढार्थ०, पृ० ६५-६६।

३. यस्य आगमा:- 'यदागमा:' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठ्यन्त तत्पुरुष समास। अथवा यदुद्देश्यका आगमा:- 'यदागमा:' में मध्यमपदलोपी समास है।

४. गुणीभूत-'च्वि' प्रतययान्त शब्द में च्वि प्रत्यय का आरोपित अर्थ होने से उक्त अर्थ होता है- द्र० का० ५/४/५०।

५. परिभाषा में 'ग्रहण' शब्द में बहुल करके कर्त्ता अर्थ में 'ल्युट्' है- ग्रहणं ग्राहक: का० ३/३/११३।

६. अष्टा० १/१/४६।

होने पर आगम का आगमी के अवयव रूप से ग्रहण नहीं होगा। 'यमुद्दिश्य विहित:' का अर्थ है "इस परिभाषा की प्रवृत्ति के विषयभूत सूत्र में, जो कार्यी के रूप में निर्दिष्ट किया गया है, जिसे आगम-विधान किया गया है ऐसा आगमी"। इस व्याख्यान को मान लेने पर 'प्रनिदारयति'[१] में 'दार्' की घु संज्ञा न होने से 'नि' का णत्व[२] नहीं होता है। यहाँ 'दृ' धातु को 'णिच्' परे रहते वृद्धि, रपर होकर 'आर्' हुई है। 'द्' दा के 'आ' का एक प्रकार से आगम तो है, परन्तु 'दा' को उद्देश्य करके उसका विधान नहीं हुआ है। अत: 'दा' का अवयव न होने से 'दा' ग्रहण से उसका ग्रहण नहीं होता है, जिससे घु संज्ञा नहीं होती और उसके द्वारा णत्व भी नहीं होता है।

परिभाषा की अनित्यता : यह परिभाषा अनित्य है। कभी इसकी प्रवृत्ति नहीं भी होती है, ऐसा 'आने मुक्'[३] सूत्र से 'मुक्' आगम के विधान से जानते हैं। यदि ऐसा न हो अर्थात् यदि यह परिभाषा सर्वत्र प्रवृत्त हो तो 'पचमान'[४] (पच्, शप्, मुक्, आन, सु) में अकार को 'मुक्' (म्) विशिष्ट अ- अम् भी 'अक्' प्रत्याहार से गृहीत है, 'अ' ही है। तो 'आ' के साथ सवर्णदीर्घ हो जाने से 'मुक्' विधान व्यर्थ हो जायेगा?[५] अत: विधानसामर्थ्य से प्रतीत होता है कि यह अनित्य है। **(क) अनित्य मानने का फल : (अ)** अनित्य होने से ही 'दिदीये'[६] इत्यादि में 'यण्'[७] आदि नहीं होता है। अन्यथा यहाँ 'दीङो युडचि क्ङिति'[८] से 'एश्'[९] प्रत्यय को 'युट्' आगम हुआ है तथा इस न्याय से युट् सहित को, एश् ग्रहण से युट्-विशिष्ट एश् के गृहीत हो जाने पर 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'[१०] सूत्र से 'दीङ्' के 'ई' को 'यण्' प्रसक्त होता है।

---

१. प्र०, नि० पूर्वक 'दृ' धातु, णिजन्त में, वृद्धि, परपर होकर 'दारि', लट् प्र०पु०ए०।

२. अष्टा० ८/४/१७। ३. अष्टा० ७/२/८२।

४. पच् धातु, लट् लकार, उसका शानच् (अष्टा० ३/२/१२४)।

५. 'मुक्' इसलिए है कि उसका प्रयोग में श्रवण हो, परन्तु इस परिभाषा से 'अम्' को 'आ' मानकर सर्वर्ण दीर्घ होकर 'पचान:' रूप बनेगा, 'म्' का श्रवण नहीं संभव है।

६. 'दीङ्' धातु, लिट् लकार, प्र०पु०ए० आत्मनेपद में 'त', एश् आदेश (३/४/८१) अजादि को 'युट्' आगम (६/४/६३) द्वित्व, ह्रस्व आदि होकर निष्पन्न रूप। आदि से 'बभूवतु:' का ग्रहण।

७. अष्टा० ६/४/८२। आदि से 'बभूवतु:' में 'वुग्' विशिष्ट में उवङादेश— द्र० ६/४/७७।

८. अष्टा० ६/४/६३। लिड् स्थानीय त के स्थान।

९ आत्मने-पद में प्रत्यय लिड् स्थानीय 'त' के स्थान में । अष्टा० ३/४/८१।

१०. अष्टा० ६/४/८२।

(आ) इसी प्रकार 'जहार'[१] यहाँ 'आत औ णल:'[२] सूत्र से धातु के अवयवभूत आकार से परे णल् को 'औ' आदेश नहीं होता। यहाँ 'ऋ' को वृद्धि 'आर्' हुई है। स्पष्ट ही यहाँ रेफ 'आ' का अवयव है[३] तो णल् का 'औ' होना चाहिए। परन्तु परिभाषा के अनित्य होने से नहीं होता इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।[४] **शंका**— दूसरा वर्ण रेफ आकारादि वर्ण का अवयव कैसे हो सकता है। जैसे शाखा जो स्वयं वृक्ष का अवयव होती है दूसरी शाखा का अवयव नहीं होती? **समाधान**— यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यही परिभाषा इस अर्थ में प्रमाण है। वर्ण को हुआ आगम, वर्ण के अवयव के सदृश होता है, ऐसा तात्पर्य है, क्योंकि 'आद्यन्तौ टकितौ'[५] आदि शास्त्रों द्वारा अवयव का बोध होता है तथा इससे बोधित अवयव की अवयव सदृश अर्थ में संगति कर लेते हैं।[६]

वर्ण ग्रहण में परिभाषा की प्रवृत्ति : इस विषय में प्राचीनों और नवीन वैयाकरणों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है। **(क) प्राचीनों का मत**— प्राचीन[७] वैयाकरण 'सामान्यापेक्षं ज्ञापकं भवति' इस न्याय से उक्त ज्ञापक ('आने मुक्'[८] में 'मुक्' ग्रहण) से यह मानते हैं कि जहाँ वर्ण को आगम विधान किया जाता है, वहाँ यह परिभाषा नहीं लगती है। **(ख) नागेश का मत**— इनके अनुसार उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से भाष्यस्थ निम्न निर्दिष्ट तीन कथन असंगत हो जाते हैं—

(अ) प्रथम हेतु— 'आने मुक्' का अर्थ यह है 'अंग के अवयव 'अ' को मुक् आगम होता है। इसी अर्थ का आश्रयण करके 'पचमान:'[९] में 'तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशात्०'[१०] इत्यादि सूत्र से आदेश 'आन' का अनुदात्त होता है। परन्तु अकार को मुक् होने से 'म्' के व्यवधान के कारण यह स्वर नहीं हो सकता है? यह शंका करते हैं। इसका समाधान यह है कि अकारान्त उपदिश्यमान पच (पच्+शप्=पच) से 'मुक्' सहित 'पचम्' का ग्रहण होने से उक्त स्वर निर्बाध हो जाता है।[११] यहाँ स्पष्ट ही भाष्यकार वर्ण विषय में भी परिभाषा की प्रवृत्ति मानते हैं। इस उदाहरण में अकार जिसे आगम विधान किया गया है— विशेषण है, वर्ण विधि स्पष्ट ही है। **(आ) द्वितीय हेतु**—

---

१. हृ धातु, लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व अभ्यासादि कार्य होकर निष्पन्न रूप।

२. अष्टा० ७/१/३४। ३. अष्टा० १/१/५१।

४. हारयति में 'पुक्' (७/३/३६), श्रीणाम् में 'इयङ्' (६/४/७७) हसिष्यति में 'तादेश' (७/४/४९) आदि।

५. अष्टा० १/१/४६। ६. गूढार्थ०, पृ०७२, पं० १४-१७।

७. नीलकण्ठ। ८. अष्टा० ७/२/८२।

९. पच्, लट्, शानच् । १०. अष्टा० ६/१/८६।

११. म०भा० ७/२/८२, 'मुकि सति स्वरे दोषोभवति०' इत्यादि।

'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्'[१] की एक व्याख्या इस तरह भी की गई है। 'ह्रस्व से परे जो ङमन्त (ङ्, ण्, न्,अन्त) पद का अवयव ङम्, (ङ्, ण्, न्) उसे ङमुट् (ङ्, ण्, न्) आगम होता है'। इस अर्थ में 'ङम्' आगम होने पर कुर्वन्नास्ते'[२] यहाँ प्रथम नकार का णत्व[३] प्राप्त होता है। यह शंका की है। इसका समाधान पहले नकार को भी पदान्त मानकर, 'पदान्तस्य'[४] सूत्र (से णत्व का निषेध हो जाता है) के द्वारा किया है। परन्तु वह 'न्' पदान्त नहीं है। पदान्त 'न्' को आगम अवश्य हुआ है। यह पदान्तभक्त (अवयव) है, अत' पदान्त कैसे मान सकते हैं? इस पर भाष्यकार का कथन है कि 'यदागम०' न्याय के द्वारा "पदान्तभक्त: पदान्तग्रहणेन ग्राहिष्यते"[५] इससे उक्त निषेध हो जाता है। यह इस बात का ज्ञापक है कि 'यदागम' परिभाषा का यही अर्थ नहीं है कि आगमी न केवल अपने स्वरूप का ही बोधक होता है, किन्तु आगम सहित समुदाय का भी? इसका यह भी अर्थ है कि आगमी जिस धर्म से गृहीत होता है, उस ग्राहक धर्म से आगम भी गृहीत होते हैं और तद्विशिष्ट भी। फलित अर्थ यह है कि आगमी जिस-जिस शब्द से बोधित किया जाता है उस-उस के कार्यानुरोधवश आगम तथा समुदाय का भी बोधन होता है।[६] स्पष्ट ही यहाँ वर्ण विषय में परिभाषा को स्वीकार कर दोष का निवारण किया गया है। **(इ) तृतीय हेतु**— वर्णग्रहण में प्रवृत्ति का एक अन्य भाष्यवचन प्रमाण है। इसमें प्रवृत्ति न मानने पर लक्ष्यदोष प्राप्त होता है। इस परिभाषा के सहायय से ही भाष्यकार[७] गुण संज्ञक 'अ' और वृद्धि संज्ञक 'आ' के रपर होने पर रेफविशिष्ट अर्, आर्, गुण और वृद्धिसंज्ञा मानते हैं। रेफविशिष्ट का गुण, वृद्धि न मानने पर 'ऋ' के स्थान में अर्, आर् ही की गुण बृद्धि संज्ञक हों, यह नियम[८] नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ स्थानिनिष्ठ साम्यता को लेकर आदेश किया जाता है और यहाँ 'अर्' आदि समुदायनिष्ठ साम्यता ही हो सकती है। फलत: समुदाय की संज्ञा न मानने पर सर्वत्र (ऋ तथा अर्, आर् में) आन्तरतम्य का अभाव तुल्य होने से पर्याय से कभी अर्, कभी आर् की प्रवृत्ति उचित होने से उक्त नियम नहीं सिद्ध हो सकता। रेफविशिष्ट को गुणादि संज्ञक मानने पर समुदाय की साम्यता से 'ऋ' के स्थान में अर्,

---

१. म०भा०, ८/३/३२।

२. कृ धातु, शतृ प्रत्ययान्त, उ विकरण, धातु का गुण, अकार को 'उ' आदेश (कुरु-अत्) उ का यण् कुर्वत् प्र०वि०ए० में कुर्वन् का, आस्ते के साथ सन्धि में, नुट् आगम होकर उक्त रूप।

३. अष्टा० ८/४/१। ४. वही, ८/४/३७।

५. पदान्त 'न्' के भक्त 'नुट्' का पदान्त-ग्रहण से ग्रहण हो जाने से णत्वनिषेध (८/३/३७) हो जाता है। द्र० म०भा० (८/३/३२) तथा उ० भी।

६. गूढार्थ; पृ०७४, पं०४-२०। ७. म०भा० १/१/५०।

८. उ० १/१/५०।

आर् ही गुण, वृद्धि होते हैं, यह नियम हो जाता है तथा 'ऋ' को गुण करना है और वह 'अर्' रूप करना है, परन्तु जो 'अर्' रूप करना है, वह गुण नहीं है। करना वस्तुत: जो गुण हो, वह है। अत: 'अर्' रूप गुण होता है, इसके लिए 'यदागम०', परिभाषा ही माननी पड़ेगी। 'अकार' का रेफ अवयव रूप से बोधित होता है। फलत: इससे उपर्युक्त कथन संगत हो जाता हैं। स्पष्ट ही यहाँ 'अ' रूप वर्णविषय में प्रवृत्ति मानी है। **(ई) चतुर्थ हेतु**— वर्ण ग्रहण में इस परिभाषा को अंगीकार करने से ही, अर्, आर् की गुण-बृद्धि संज्ञा होने से, भाष्यकार 'रदाभ्यां निष्ठातो न: पूर्वस्य[१] च द:' सूत्र के भाष्य में कहते हैं। जब हम कहते हैं— "गुण होता है, वृद्धि होती है", तब हमारा अभिप्राय होता है कि अ, आर् के ऊपर यदि रेफ हो तो, रेफविशिष्ट अर्, आर् की भी गुण-बुद्धि संज्ञा होती है। रेफ विशिष्ट में गुण और वृद्धि न मानने पर यह भाष्य संगत नहीं हो सकता। परिभाषा से रेफ रूप अवयव मानकर समुदाय की संज्ञा युक्त हो जाती है।[२] **(ग) वर्णविषय में प्रवृत्ति का प्रमाण**— 'नेटि'[३] सूत्र से जो इडादि सिच् परे वृद्धि का निषेध किया है और 'णेरनिटि'[४] सूत्र से जो अनिडादि आर्धधातुक परे रहते णिच् का लोप कहा है, इन सबसे भी वर्ण-विषय में भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, ऐसा ज्ञात होता है। यदि इस परिभाषा से सिच् तथा आर्धधातुक प्रत्यय, इडादि सिच् तथा अनिडादि आर्धधातुक का बोध नहीं कराये, तो 'इट्' के व्यवधान से ही वृद्धि रुक जायेगी। 'अदेवीत्'[५] आदि में 'हलन्तलक्षणा वृद्धि'[६] नहीं होगी। फलत: 'नेटि'[७] से निषेध करना व्यर्थ ही है और इसी प्रकार 'णेरनिटि'[८] सूत्र में भी 'इट्' के व्यवधान से ही णिच् का लोप नहीं होगा। पुन: 'अनिटि'[९] यह निषेध व्यर्थ है, क्योंकि 'कारयिता'[१०] में आर्धधातुक प्रत्यय और 'णिच्' के मध्य में 'इट्' के द्वारा व्यवधान होने से ही 'णिच्' का लोप नहीं होगा।[११] इट्-ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। इस प्रकार यह शास्त्रीय प्रमाण-सिद्ध भी है।

---

१. म०भा० ८/२/४२। २. गूढार्थ०, पृ० ७५।

३. अष्टा० ७/२/४। ४. वही, ६/४/५१।

५. दिव् धातु, लुङ् लकार, प्र०पु०ए० परस्मै० में तिप्।

६. अष्टा० ७/२/२, (अ-दिव्+इ+सिच्+ई+त्' इस अवस्था में)।

७. अष्टा० ७/२/४। ८. अष्टा० ६/४/५१।

९. इड्-विशिष्ट अर्थात् इडादि आर्धधातुक न हो, द्र० का० ६/४/५१।

१०. 'कृ' धातु, णिच् प्रत्ययान्त 'कारि' धातु, तृच् प्रत्यय, इट् आगम, 'कारि+इ+तृ'= णि लोप, निषेध, गुण, अयादेश, 'कारयितृ' का प्र०वि०ए० का रूप।

११. अष्टा० ६/४/५१।

'अनागमकानां सागमका आदेशाः[१] भवन्ति' का अभिप्राय— जब यह कहते हैं कि आर्धधातुक प्रत्यय को 'इट्' आगम हो, तब हठात् इस बात का अनुभव करते हैं कि नित्य शब्दों को आगमविधान अनुपपन्न है। इस अनुपपत्ति के कारण के लिए इस वाक्य की कल्पना की गई है, जिसका यह अर्थ है 'इट् रहित आर्धधातुक आदि प्रत्ययों की वृद्धि (बोध) के विषय में इट् सहित आर्धधातुक वृद्धि करनी चाहिए' ऐसा अर्थ मानने पर आदेशों की तरह आगमों में भी वृद्धि विपरिणाम-मात्र होता है। शाब्दरूप भेद नहीं होता है। शब्द में अपूर्व उपजन हुआ है, ऐसा नहीं होता। इस प्रकार अन्य शब्द (विकृति) नहीं होता अतः शब्द की नित्यता भंग नहीं होती।

स्थानिवद्-भाव से परिभाषा लभ्य अर्थ की गतार्थता का निराकरण— शंका— 'अनागमकानां सागमका आदेशाः' इस न्याय के आधार पर स्थानिवद्भाव से परिभाषा से साध्य अर्थ सुलभ हो जाता है। अतः परिभाषा व्यर्थ हो जाती है। इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता? **समाधान**— ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि अनित्यतारूप अनुपपत्ति को दूर करने के लिए अनागमक शब्द के स्थान में सागमकआदेशमान लिया जाता है।[२] शास्त्रोक्त (स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[३]) स्थानिवद्भाव का ऐसा आनुमानिक आदेश विषय नहीं है। अष्टाध्यायी में साक्षात् शब्दोक्त (श्रौत) आदेशों के विषय में ही स्थानिवद्भाव होता है, यथा 'अस्तेर्भूः',[४] 'हनो वध लिङि'[५] इत्यादि सूत्रों में होता है।

परिभाषा के आश्रयण में हेतु : इस परिभाषा द्वारा लभ्य आनुमानिक आदेश में 'स्थानि०'[६] सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है इसमें भाष्य प्रमाण है। भाष्यकार के मत में 'अपिबत्'[७] आदि में 'ल्' अवस्था (जब अभी 'ल्' ही है, उसे 'तिप्' आदि आदेश नहीं हुए हैं) में ही धातु को 'अट्' आगम[८] होता है। 'अपा+अ+ल्'[९] इस अवस्था में, अब यदि आगम विषय में भी 'स्थानि०' सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति माने तो पा के स्थान में 'अपा' आदेश हुआ है ऐसी बुद्धि हो, तो इस आदेश में स्थानि बुद्धि करके अर्थात् इसे पा मानकर 'अपा' सम्पूर्ण के स्थान में 'पाघ्राध्मा०'[१०] इत्यादि सूत्र से 'पिब' आदेश

---

१. म०भा० १/१/२०, 'आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति०' इत्यादि।

२ अष्टा० १/१/५६, 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'।

३. म०भा० १/१/२०।

४. अष्टा० १/१/५६।

५. अष्टा० २/४/५२।

६. वही, २/४/४२।

७. अष्टा०, १/१/५६।

८. पा०, लङ्, अट्, शप् विकरण, प्र०पु०ए० तिप्, इ का लोप, 'पिब' आदेश होकर निष्पन्न रूप।

९. म०भा० ६/४/७१, पा-लङ् के पश्चात् 'अट्' आगम।

१०. पा धातु, लङ्, लकार, अट् आगम (६/४/७१) के पश्चात् 'शप्' विकरण होकर निष्पन्न अवस्था।

हो जायेगा और लङ्, प्रथम पुरुष, एक० में 'पिबत्' होगा, अपिबत् नहीं। **(क) शंका**— यद्यपि 'अपा'[१] स्थानिवद्भाव से 'पा' है, तो भी पिबादेश विधायक शास्त्र 'प्राध्वाध्मा०'[२] में निर्दिश्यमान[३] परिभाषा से 'पा' मात्र को ही 'पिब' आदेश होना चाहिए? **समाधान**— 'स्थानिवद्भाव' के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा नहीं लगती है। यदि स्थानिवद्भाव के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो भाष्य प्रतिपादित निम्नलिखित प्रक्रिया असंगत हो जायेगी— **(अ) निर्दिश्यमान परिभाषा मानने पर दोष**— 'तिसृणाम्'[४] की सिद्धि में 'त्रिचतुरोः स्त्रियां[५] तिसृ-चतसृ' से त्रि का तिसृ आदेश प्राप्त होता है। 'त्रेस्त्रयः'[६] से त्रि का त्रय आदेश विधान किया गया है। पर होने से 'तिसृ' आदेश होता है, त्रय नहीं। तिसृ होने पर भी स्थानिवद्भाव से त्रि ही है, पुनः 'त्रय' आदेश क्यो नहीं होता? **उत्तर**— इसका उत्तर भाष्यकार[७] ने यह दिया है कि 'त्रय' आदेश का बाध कर तिसृ आदेश हुआ है। 'सकृदगतौ विप्रतिषेधे[८] यद् बाधितं तद् बाधितमेव' तुल्यबलविरोध होने पर जो शास्त्र एक बार बाधित हो जाता है वह बाधित ही रहता है उसकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। यदि स्थानिवद्भाव के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा प्रवृत्त हो तो तो त्रय आदेश उस त्रि का ही होगा, जो सूत्र में निर्दिष्ट है, जो स्थानिवद्भाव से लभ्य है, उसे नहीं। अतः त्रि को त्रय आदेश की शंका ही नहीं होती है। सकृदगतिन्याय से समाधान इस बात का ज्ञापक है कि स्थानिवद्भाव के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। **'एरुः'[९] सूत्र के विषय में स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति :** 'एरुः' सूत्र का, 'लोट् सम्बन्धी इ का उ आदेश होता है' ऐसा अर्थ नहीं है। स्थानि-आदेश अर्थवान् शब्दरूप का होता है। शब्द रूप को विशेष्य मानकर तदन्त विधि से 'इकारान्त (ति) के स्थान में उकारान्त (तु) आदेश होता हैं, ऐसा अर्थ है। यहाँ भी स्थानिवद्भाव होता है, यद्यपि स्थानी एवं आदेश श्रौत नहीं है, आनुमानिक हैं। 'स्थानिवत्०'[१०] सूत्र में 'आदेश' शब्द ग्रहण के सामर्थ्य से यहाँ भी स्थानिवद्भाव होता है। 'स्थानी' शब्द का सम्बन्धी शब्द आदेश है, उसका 'स्थानी' शब्द से ही आक्षेप हो जाता है, आदेशग्रहण व्याप्ति के लिए है। सभी प्रकार के आदेशों के ग्रहण कराने

---

१. अष्टा० ७/३/७८। २. अडागम विशिष्ट 'पा' धातु।

३. प०शे० परि० सं० १२।

४. 'त्रि' शब्द का स्त्री लिङ्ग में षष्ठी बहु० में 'आम्' प्रत्यय, तिसृ आदेश, नुट् आगम तथा दीर्घ निषेध, णत्व होकर निष्पन्न रूप।

५. अष्टा० ७/१/९९। ६. वही, ७/१/५३।

७. म०भा० १/१/५६। ८. प०शे० परि०सं० ४०।

९. अष्टा० ३/४/८६।

१०. म०भा० १/१/५६, 'आदेश ग्रहण' प्रयोजन।

के लिए पाठ किया गया है। 'एरु:'[१] इस वाक्य द्वारा स्थानी का आदेश विधान किया गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के वाक्य से बोधित आनुमानिक आदेश में तो स्थानिवद्भाव प्रवृत्त हो जाता है, परन्तु अनागमों के स्थान में कल्पित सागमक आदेशों का स्थानिवद्भाव नहीं होता है, क्योंकि ऐसे आदेश अष्टाध्यायी में आचार्य ने कहीं नहीं पढ़े हैं। अत: 'स्थानिवत्०' सूत्र से 'यदागम परिभाषा' गतार्थ नहीं होती हैं।[२] इसकी आवश्यकता रहती ही है।

परिभाषा का प्रयोजन : आगम का आगमी के अवयव रूप से तथा उसी के स्वरूप से गृहीत हो जाने से 'प्रणिदापयति' इत्यादि उदाहरण में दा को 'पुक्' आगम हो जाने पर भी, पुक् से विशिष्ट 'दाप्' रूप के भी 'दा' रूप से गृहीत हो जाने से 'दाधाघ्वदाप्'[३] से घु संज्ञा सिद्ध होती है। घु संज्ञा हो जाने के उपरान्त घु-संज्ञा निरूपित उपसर्ग निमित्तक 'नेर्गदनदघु०'[४] सूत्र से 'नि' का णत्व होकर 'प्रणिदापयति' रूप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार असंख्य प्रयोजन हैं, जो इसी के द्वारा सिद्ध होते हैं।

समीक्षा : इस परिभाषा में आगम का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, यदि कार्यी के स्वरूप में आगमरूप से विहित अक्षर जुड़ जाते हैं तो उसको कार्य होगा या नहीं? तथा उसको किसका भाग माना जायेगा एवं उसको किस प्रकार कार्य होगा? इसी को इस परिभाषा में बताया है। व्याकरण के कार्य करने में जिस शब्द के साथ आगम का योग होता है, वह उसी मुख्य शब्द से ही बोधित होता है। दैनिक जीवन में भी यह देखा जाता है कि थोड़ा सा जोड़ या आधिक्य स्वाभाविक नाम पर कुछ प्रभाव नहीं छोड़ता है। सभी परिभाषा व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न रूपों में अपने-अपने ग्रन्थ में इस आशय की परिभाषा स्वीकार की है। व्याडि ने इस परिभाषा के स्थान पर अति सामान्य सम्बन्ध में 'तद्भक्तस्तद्ग्रहणेन गृह्यते'[५] परिभाषा पढ़ी है। जैनेन्द्र[६] आदि ने इस परिभाषा के प्रारम्भ में 'यत्' शब्द से रहित का ही पाठ स्वीकार किया है। नीलकण्ठ ने 'यत्' शब्द सहित इस परिभाषा का पाठ स्वीकार किया है। नागेश इसी के आधार पर अपना पाठ स्वीकार करते हैं। वस्तुत: कात्यायन[७] के वार्तिक का शब्द परिवर्तन करके यह परिभाषा मानी गयी है।[८] इस परिभाषा के अर्थ के विषय में कोई मतभेद नहीं है, परन्तु प्राचीनों ने इसका अर्थ इतना स्पष्ट नहीं किया है, जितना

---

१. अष्टा०, ३/४/८६। २. म०भा० १/१/२० एवं उ० भी।

३. प्र, पूर्वक, दा धातु, णिच् प्रत्यय, पुक् आगम दापि।

४. अष्टा० १/१/२०। ५. व्याडि परिभाषा पाठ, १७।

६. कातंत्र, हैम० पाठ, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर तथा शेषाद्रिसुधी।

७. 'अर्थवत् आगम: तद्गुणीभूतो तद्ग्रहणेन गृह्यते' —म०भा० वा०, १/१/२०।

८. म०भा०, १/१/२०।

नागेश ने किया है। इन्होंने स्पष्टतः इसका व्याख्यान करते हुए परिभाषास्थ पद का प्रयोजन प्रतिपादित किया है, जिससे दोषशंका का अवसर नहीं उपस्थित होता है। इस परिभाषा के हेतु के विषय में मतभेद है। व्याडि, कातंत्र, हरिभास्कर ने ज्ञापकसिद्ध स्वीकार की है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ ने ज्ञापक-सिद्ध, न्याय-सिद्ध दोनों रूप में मानी है। जैनेन्द्र ने न्यायसिद्ध मानी है। नागेश ने भी इसे लोकन्याय सिद्ध मानी है। परिभाषा का प्रयोजन सभी में लगभग एक ही जैसा है। केवल किसी में न्यून उदाहरण और किसी में अधिक उदाहरण इसका ही अन्तर है। इस परिभाषा के होने से कुछ अति प्रसंग रूप दोष उपस्थित होता है, जिसका निराकरण विभिन्न ढंग से किया गया है। सीरदेव ने इस पर विस्तार से विचार किया है तथा न्याय एवं व्याख्या के आधार पर इसका निराकरण किया है, परन्तु नागेश इस महान् प्रयास का आश्रयण उचित नहीं समझते हैं। ये परिभाषा को ही ज्ञापक से अनित्य स्वीकार करते हैं, जिसके आधार पर उक्त दोष तथा अति प्रसंग का निवारण सहज ही हो जाता है। इस अनित्यत्व का ज्ञापक तथा उसके प्रयोजन का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इस प्रकार अतिप्रसंग के निवारण के लिए अनित्य मानना नागेश की नवीन मौलिक कल्पना प्रतीत होती है। परिभाषा की प्रवृत्ति के विषय में कुछ मतभेद है। नीलकण्ठ ने वर्ण को आगम विधान करने में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं मानी है। परन्तु नागेश इसकी प्रवृत्ति मानते हैं तथापि इसके समर्थन में भाष्यस्थ तीन या चार प्रसंगों का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इन दोनों की परिभाषा की अनित्यता तथा वर्ण-ग्रहण में प्रवृत्ति का शेषाद्रि ने खण्डन किया है, परन्तु उसकी युक्ति कुछ ठोस नहीं प्रतीत होती है। नागेश का पक्ष उचित है इसके अतिरिक्त इस परिभाषा की व्याख्या के प्रसंग में कुछ नवीन बातों पर भी नागेश ने विचार किया है, जो आवश्यक है। प्राचीनों ने इस प्रसंग में कुछ नहीं कहा है। प्रथम शंका यह है कि "अनागमका सागमका आदेशा भवन्ति"[१] इस न्याय के आधार पर स्थानिवद्भाव से ही परिभाषा लभ्यार्थ सुलभ हो जाता है, अतः परिभाषा का कोई प्रयोजन नहीं रहता? तथा इसका प्रयोजन क्या है? 'स्थानिवत्०'[२] और इसमें अन्तर क्या है? इत्यादि विषयों का इन्होंने विस्तारपूर्वक विचार किया है। उपर्युक्त न्याय का भाष्य प्रमाण सहित अर्थ बताते हुए स्थानिवद्भाव का क्षेत्र पृथक् प्रतिपादित करते हुए अनागमकों के स्थान में कल्पित सागमक आदेशों में भी कार्य हो जाय, इसलिए 'यदागम' परिभाषा आवश्यक है।[३] यह इसके व्याख्यान से विदित होता है।

(६५) निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति।।प०१२।।

परिभाषा का उपक्रम : 'यदागम'[४] परिभाषा स्वीकार करने पर कुछ दोष प्रसक्त

---

१. म०भा०, १/१/२०। २. अष्टा०, १/१/५६।

३. प०शे० पृ०, ६६-८०। ४. प०शे० परि०सं० ११।

होते हैं। 'यदागम परिभाषा' से 'उद्+अस्थात्' (स्था+लुङ्+तिप्) में[१], 'स्था' धातु से 'अट्'[२] (आगम) विशिष्ट 'अस्था' का भी बोध होता है, तब 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य'[३] सूत्र से 'स्था' के लिये विहित पूर्वसवर्ण आदेश अडागम विशिष्ट 'अस्था' के स्थान में भी प्राप्त होने लगता है। इस प्रकार आन्तरतम्य से 'अ' के स्थान पर दकार पूर्वसवर्ण होने लगेगा।[४] इस अनिष्ट प्रयोग के निराकरण के लिए प्रस्तुत परिभाषा स्वीकार की जाती है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : निर्दिश्यमान=सूत्र में आचार्य द्वारा उच्चार्यमाण शब्द के स्थान में ही आदेश होते हैं। **परिभाषा का आशय :** आशय यह है कि षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट हुए स्थानी के स्थान में प्राप्त जो प्रथम निर्दिष्ट आदेश है, वह निर्दिश्यमान- जितने स्थानी का निर्देश किया हो, उसी के स्थान में आदेश हो, अर्थात् तदन्तविधि से जो पूर्वपद या अन्य उसके सदृश कोई आ जाय तो उस सबके स्थान में न हो। **परिभाषा की सिद्धि में प्रमाण :** यह परिभाषा ज्ञापक अथवा लोकन्यायसिद्ध नहीं है, शास्त्र में वचन रूप से पठित होने के कारण यह वाचनिकी है। 'षष्ठी स्थानेयोगा'[५] इस सूत्र का ही अर्थ रूप यह परिभाषा है। इस सूत्र की आवृत्ति होती है। प्रथम बार पठित आवृत्त का अर्थ है 'शास्त्र में अनिर्धारित सम्बन्ध में षष्ठी समझनी चाहिए'। दूसरी बार पठित का अर्थ है— **(अ)** षष्ठ्यन्त जो निर्दिश्यमान-उच्चार्यमाण **(आ)** अथवा उच्चार्यमाण का सजातीय- सवर्ण, **(इ)** अथवा उच्चार्यमाण का जो सजातीय उसका अवयव हो, वही स्थान के (निरूपित) सम्बन्ध से युक्त होता है। अर्थात् इस प्रकार साक्षात् उच्चारित षष्ठ्यन्त पद के स्थान में आदेश होते हैं।[६] जिस किसी प्रकार प्रतीति का विषय बने हुए तदन्तादि, निर्दिश्यमान से भिन्न अवयव अथवा उस अवयव के स्थान में आदेश नहीं होते हैं। इस प्रकार द्वितीय सूत्र के उक्त अर्थ से यह वचन-रूप परिभाषा सिद्ध होती है। इस प्रकार निर्दिश्यमान के सवर्ण और निर्दिश्यमान के अवयव रूप (षष्ठ्यन्त) के ही स्थान में आदेश होते हैं।[७]

परिभाषा का प्रयोजन : इस परिभाषा से साक्षात् उच्चार्यमाण अथवा उसके अवयव रूप षष्ठ्यन्त के स्थान में आदेश होते हैं। अतएव 'उदस्थात्'[८] (उद् - अस्थात्)

---

१. उद् पूर्वक स्था धातु, लुङ् लकार, अट् आगम, प्र०पु०ए० में सिच् तथा उसका लुक् (२/४/७७) ति के 'इकार' का लोप होने पर 'अस्थात्' रूप।

२. अष्टा०, ६/४/७१। ३. वही, ८/४/६१।

४. अचों के घोष, संवार, नाद, अल्प प्राण बाह्य प्रयत्न होते हैं, दकार के भी यही हैं। द्र० म०भा० १/४/१०९ एवं म०भा० ७/१/३९।

५. अष्टा०, १/१/४९। ६. गूढार्थ०, पृ० ८१,पं० ११-२०।

७. वही,पृ० ८२-८३।

८. उद् पूर्वक, स्था धातु, लुङ् लकार, प्र० पु०ए०का रूप।

प्रयोग में 'अस्था' के यदागम-परिभाषा के बल से 'स्था' रूप से गृहीत होने पर भी पूर्वसवर्णरूप आदेश नहीं होता है, क्योंकि 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य'[१] में 'स्था' (षष्ठ्यन्त) का उच्चारण किया है, 'अस्था' का नहीं। अतः पूर्व-सवर्ण आदेश स्था का ही होता है, इसी प्रकार द्विपदः पश्य[२] में 'पादः पत्'[३] सूत्र से षष्ठीनिर्दिष्ट पाद् के स्थान में 'पद्' आदेश होता है, तदन्त के स्थान में नहीं। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी समझना चाहिए।

उच्चार्यमाण को ही निर्दिश्यमान मानने पर शंका एवं समाधान— (क) शंका— यदि उच्चार्यमाण ही निर्दिश्यमान है, तो 'अस्य[४] च्वौ' सूत्र में ह्रस्व 'अ' का उच्चारण होने से ह्रस्व 'अ' ही निर्दिश्यमान है, दीर्घ 'आ' नहीं। अतः माली मवति[५] में दीर्घ 'आ' का 'ई' कैसे हुआ? **समाधान**— जातिपक्ष में अत्वरूप जाति से विशिष्ट सभी अकार निर्दिश्यमान ही है। इससे कोई दोष नहीं आता है। **(१) प्रसंगतः व्यक्तिपक्ष में भी दोष का समाधान**— व्यक्तिपक्ष में भी 'न भूसुधियोः'[६] इस शास्त्र से 'यण्' का जो निषेध किया है, उससे भी यह ज्ञापित होता है कि ग्रहणकशास्त्र 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः'[७] से जो सवर्ण गृहीत होते हैं, उन्हें भी निर्दिश्यमान मानकर कार्य होता है, अन्यथा (यदि ऐसा न हो तो) ह्रस्व के निर्दिष्ट होने से दीर्घ के निर्दिष्ट न होने से 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'[८] से तथा 'ओः सुपि'[९] से यण् प्राप्त ही न था, निषेध क्यों किया गया? **(ख) इयङ् और उवङ् के 'ङित्व' के प्रयोजन में शंका**— 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' सूत्र में इ तथा उ निर्दिश्यमान हैं। अतः इस परिभाषा की सहायता से उनका ही कार्य होगा, समुदाय का नहीं। पुनः 'ङित्व' व्यर्थ ही है? **समाधान**— इयङ् और उवङ् के 'ङित्' का प्रयोजन यह है कि इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु को भी इयङ् तथा उवङ् आदेश हों तो ङित्त्व' होने से अन्त्य के स्थान में ही हों, इसलिए 'ङित्व' कहा गया है। परन्तु इवर्णान्त और उवर्णान्त के निर्दिश्यमान न होने से आदेश ही नहीं प्राप्त होता है, ऐसा मानने पर ङित्व व्यर्थ रहता है। अतः इवर्णान्त और उपर्णान्त धातु को भी निर्दिश्यमान मानना पड़ता है। फलतः ङित्त्व आवश्यक है।[१०]

---

१. अष्टा० ८/४/६१।

२. द्वौ पादो अस्येति 'द्विपाद्' शब्द, द्वि०वि०बहु० में शस् प्रत्यय, पत् आदेश।

३. अष्टा० ६/४/१३०। ४. वही, ७/४/३२।

५. अमाला माला संपथते सा-मालीभवति, माला शब्द से भवति के योग में च्वि प्रत्यय (५/४/५०), आ का 'ई' आदेश (७/४/३२), होकर निष्पन्न।

६. अष्टा०, ६/४/८५। ७. वही, १/१/६९।

८. वही, ६/४/८२। ९. वही, ६/४/८३।

१०. अष्टा०, ६/४/७७।

'रीङ् ऋतः'[१] सूत्र में रीङ् तथा 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु'[२] में रिङ् में ङित्करण स्पष्टता के लिए ही है। इसका कोई अन्य प्रयोजन नहीं है। इन दोनों सूत्रों में 'ऋ' वर्ण के ही री तथा रि विधान किये गये हैं, ऋकारान्त के नहीं।

वर्णग्रहण में परिभाषा की प्रवृत्ति— (क) प्राचीनतम— कुछ लोग 'रीङ्' के ङित्त्व से यह ज्ञापित मानते हैं कि वर्ण को निर्दिष्ट करके जहाँ आदेश विधान किया गया है, वहाँ यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। **(ख) नागेश मत—** नागेश के अनुसार यह परिभाषा वर्णग्रहण में अवश्य ही प्रवृत्त होती है। पूर्वोक्त ज्ञापक नहीं हो सकता। हेतु यह है कि 'रीङ् ऋतः' सूत्र में अङ्ग अधिकृत है तदन्तविधि से ही अङ्ग स्थानी बनता है, तब अर्थ होता है— ऋकारान्त अङ्ग को।[३] परन्तु इस परिभाषा की प्रवृत्ति के लिए तदन्तविधि से लभ्य स्थानी नहीं लिया जाता है, साक्षात् उच्चार्यमाण ही लिया जाता है। **(१) उक्त प्रवृत्ति में प्रमाण—** इस वर्ण-ग्रहण की प्रवृत्ति में भाष्य का प्रमाण भी है। भाष्यकार भी स्वयं वर्णविषय में परिभाषा की प्रवृत्ति मानते हैं। 'हयवरट्'[४] सूत्र के भाष्य में कहा है कि 'अयोगवाहों का[५] अक्षरसमाम्नाय में उपदेश होना चाहिए, जिससे कि अल् प्रत्याहार में गृहीत हो जाने से 'विसर्जनीयस्य सः'[६] (विसर्जनीयान्त पद को 'स्' हो) में विसर्जनीय के अल् अन्तर्गत होने से 'अलोऽन्त्यस्य'[७] से अन्त्य विसर्ग को 'स्' हो सके, इसलिये उपदेश किया गया है, 'बृक्षस्तत्र' में अन्त्य विसर्जनीय को 'स्' आदेश हो, इसका भाष्यकार निराकरण करते हुए कहते है कि यह कोई प्रयोजन नहीं है। यह प्रयोजन तो निर्दिश्यमान का आदेश होता है, इसी से सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वर्णग्रहण में भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, क्योंकि विसर्ग भी तो वर्ण ही है।

परिभाषा के अप्रवत्ति स्थल और उसका फल : इस परिभाषा से यह बोधित किया जाता है कि तदन्त विधि से प्राप्त की तथा 'यदागम०' परिभाषा से आगमविशिष्ट की, स्थानिता नहीं होती अर्थात् इन्हें स्थानी मानकर ओदश नहीं होते हैं, क्योंकि वे प्रतीयमान हैं। साक्षात् निर्दिश्यमान नहीं है। इसी कारण 'सुपदः' तथा 'उदस्थात्' की सिद्धि होती है। सुपदः— इसमें 'पादः पत्'[८] सूत्र से निर्दिश्यमान होने से 'पाद्' मात्र स्थानी के 'पद्' आदेश होता है, पादन्त (सुपाद्) को नहीं। इसी प्रकार 'उद्' से 'अस्थात्' परे होने पर पूर्व-सवर्ण नहीं होता है। 'स्था' निर्दिश्यमान है। यदागम परिभाषा से आगम विशिष्ट 'अस्था' भी 'स्था' है। पुनरपि उसे स्थानी नहीं माना जा सकता इस प्रकार 'येन

---

१. अष्टा०, ७/४/२७।
२. वही, ७/४/२८।
३. का० ७/४/२७।
४. म०भा० प्रत्या० सू० ५।
५. वही, प्रत्या० सू० ५।
६. अष्टा, ८/३/३४।
७. वही, १/१/५२।
८. वही, ६/४/१३०।

विधिस्तदन्तस्य'[१] तथा 'यदागम०'[२] परिभाषा के विषय में यह नहीं प्रवृत्त होती है।

(क) 'अकच्' (आगम) के विषय में प्रवृत्ति : सामान्यरूप से आगम के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है, परन्तु 'अकच्'[३] आगम के विषय में निर्दिश्यमान परिभाषा प्रवृत्त होती है,[४] अर्थात् अकच्-विशिष्ट के स्थान में भी आदेश होता है, क्योंकि 'तन्मध्यपतितन्याय'[५] अर्थात् स्थानिवद्भाव से जैसे आदेश में स्थानि-बुद्धि होती है। वैसी मध्यपतित आगम के होने पर भी 'यह वही है— ऐसी बुद्धि होती हैं इस प्रकार यह नहीं प्रवृत्त होती है।[६] फलत: अकज् विशिष्ट निर्दिश्यमान माना जाता है। **(१) उक्त प्रवृत्ति में प्रमाण**— इसमें 'अनाप्यक:'[७] में अक: (यह निषेध) ज्ञापक है। जहाँ अकच् सहित का आदेश द्वारा अपहार नहीं होता, वहाँ निर्दिश्यमान परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती। इसका 'युवकाम्याम्'[८] में आत्वसिद्धि फल है। परन्तु अन्यत्र जहाँ 'तन्मध्यपतितन्याय' से आदेश के द्वारा अकच्सहित का अपहार प्राप्त होता है, वहाँ यह परिभाषा प्रवृत्त होती ही है। यथा— 'हुझल्भ्यो हेधि:'[९] सूत्र से 'भिन्द्धकि'[१०] में हि के स्थान में धि होता है, 'हकि' के स्थान में नहीं। इस प्रकार तन्मध्यपतित-न्याय' में भी 'अकच्' का यदि अपहार— (सम्पूर्ण लोप) प्राप्त हो रहा हो, तो निर्दिश्यमान परिभाषा की प्रवृत्ति हो ही जाती है।[११] **(ख) अवयवषष्ठी में परिभाषा की प्रवृत्ति :** यह परिभाषा अवयव अर्थ में जो षष्ठी, उसके विषय में भी प्रवृत्त होती है। (यह भी समझना चाहिए)।

(१) प्रवृत्ति का फल— इसी कारण 'अतिस्य:'[१२] में त्यद् के त् का 'स्'

---

१. अष्टा०, १/१/७२। २. प०शे० परि० सं० ११।

३. अष्टा० ५/३/७१।

४. म०भा०७/२/१०२, पर भाष्यसंगति 'कादेश: खल्ववश्यं वक्तव्य:' इत्यादि एवं द्र० म०भा० १/१/७२, पर 'तन्मध्यपतितन्याय' ज्ञापकपरक व्याख्या।

५. प०शे० परि० सं० ९०। ६. प०शे०, पृ० ९१।

७. अष्टा० ७/२/११२।

८. युष्मद् शब्द,तृ० वि०द्वि० का, अकच् होकर निष्पन्न रूप।

९. अष्टा०, ६/४/१०१।

१०. भिद् धातु, लोट् लकार, म०पु०ए० सिप्, हि(३/४/८७) श्नम् विकरण, भिन्द् हि', धित्व (६/४/१०१), भिन्द्धि— तिङन्त की टि से पूर्व 'अकच्' होकर 'भिन्द्धकि' रूप।

११. परिणामत: 'भिन्द् हि' में परत्व से 'धि' हो जाता है, अन्यथा 'तन्मध्य०' न्याय से अकच् के पश्चात् 'द्धकि' स्थान में 'धि'होता है- द्र० म०भा०, ६/४/१०१।

१२. अतिशयित: स्य:- 'अतिस्य:' उत्तरपदप्रधान-तत्पुरुष समास।

हुआ है। 'तदो: स: सावनत्ययो:'[१] से त्यद् आदि के अनन्त्य त्, द् को 'स्' होता है। यहाँ अनुवृत्त 'त्यदादीनाम:'[२] में अवयवषष्ठी है। अङ्गाधिकार होने के कारण तदन्तविधि होने से 'त्यदाद्यन्त अङ्ग के त्, द् का 'स्' होता हैं, ऐसा अर्थ होने पर 'अतित्यद्'[३] के 'अति' उपसर्ग के त् का 'स्' प्राप्त होता है, परन्तु निर्दिश्यमान परिभाषा से यह 'त्' त्यदादि का अवयव नहीं है। अत: इसे 'स्' नहीं होता है। इसीलिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' सूत्र से अनुवृत्त युष्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त भाग को, जो 'यूयवयौ जसि'[४] सूत्र से यूय, वय आदेश किये गये हैं, वे युस्मद्, अस्मद् के मपर्यन्त भाग के स्थान में होते हैं। 'अतियुष्मद्', 'अत्यस्मद्' के उपसर्गसहित मपर्यन्त के भाग के स्थान में नहीं होते हैं।

'अलोऽन्त्यस्य'[५] आदि परिभाषाओं के साथ समावेश : इस परिभाषा का 'अलोऽन्त्यस्य' आदि[६] परिभाषा शास्त्रों के साथ समावेश है, यह उनका बाध नहीं करती है। 'अलोऽन्त्यस्य' आदि के अपने-अपने निमित्त उपस्थित होने पर वे भी प्रवृत्त होते हैं और उनके साथ यह भी प्रवृत्त होती है, क्योंकि इनमें परस्परविरोध नहीं है। 'षष्ठी' पद की अनुवृत्ति होने से 'अलोऽन्त्यस्य' का अर्थ है— 'निर्दिश्यमान जो अवयव, उसके अन्त्य को आदेश होता है'। जैसे 'अतो दीर्घो यञि'[७] इत्यादि में 'षष्ठी स्थानेयोगा'[८] इस सूत्र से अदन्त अंग के स्थान में प्रसक्त आदेश को 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र के साहाय्य से अन्त के अल् के स्थान में समझते हैं। इसी प्रकार अन्य परिभाषाओं के साथ समावेश होता है,[९] बाध्यबाधकभाव नहीं है, क्योंकि एक साथ प्रवृत्ति संभव होने पर बाध्यबाधकभाव मानना व्यर्थ है। **(क) इनके साथ अङ्गाङ्गिभाव का निषेध—** इस परिभाषा के साथ इनका समावेश होने पर अङ्गागिभाव (एक मुख्य हो और दूसरा गौण भी) नहीं होता है, क्योंकि दोनों (यह परिभाषा और 'अलोऽन्त्यस्य'[१०] आदि चार[११] सूत्रों में से कोई एक होने पर भी) परिभाषा होने से विधिशास्त्र की उपकारक हैं। अत: एक समान गुणीभूत होने से उनका परस्पर गुणप्रधानभाव[१२] नहीं होता है।

---

१. अष्टा० ७/२/१०६। २. वही, ७/२/१०२।
३. वही, ७/२/८६। ४. वही, ७/२/९३।
५. वही, १/१/५२।
६. डिच्च (१/१/५३) आदे: परस्य (१/१/५४), अनेकाल्शित् सर्वस्य (१/१/५५)।
७. अष्टा० ७/३/१०१। ८. अष्टा०, १/१/४९।
९. गूढार्थ, पृ० ८७,पं० १५-२०। १०. अष्टा० १/१/५२।
११. डिच्च (१/१/५३), आदे: परस्य (१/१/५४), अनेकाल्शित् सर्वस्य (१/१/५५)।
१२. प०शे०,पृ० ८८,पं० १।

(ख) 'अनेकाल्शित् सर्वस्य'[१] सूत्र में जो कहा है कि 'अनेकाल् आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण के स्थान में होते हैं'। यहाँ भी निर्दिश्यमान परिभाषा से लभ्य स्थानी लिया जाता है। 'येन विधिस्तदन्तस्य'[२] से तदन्तविधि तथा 'यदागम०' परिभाषा से लभ्य स्थानी नहीं लिया जाता है। **(ग) कौस्तुभकार का मत**— 'शब्द-कौस्तुभकार' दीक्षित का यह कहना है कि 'आदे: परस्य'[३] और 'अलोऽन्त्यस्य' ये दोनों परिभाषाशास्त्र निर्दिश्यमान परिभाषा का बाध करते हैं।[४] **(घ) नागेश द्वारा उक्त मत का खण्डन**— नागेश उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। इसमें भाष्य का प्रमाण है। 'पाद: पत्'[५] सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा के प्रयोजनों की गणना के अवसर पर 'उदस्थात्' इस प्रयोग में 'आदे:परस्य'[६] सूत्र के विषय के साथ इसका भी समावेश किया गया है। अत: प्रतीत होता है कि इस परिभाषा का ये परिभाषायें बाध नहीं करती हैं, अन्यथा, इस परिभाषा का 'उदस्थात्' यह प्रयोजन कथन असंगत होता और यह परिभाषा भी 'अलोऽन्त्यस्य'[७] और 'आदे:परस्य'[८] का बाध नहीं करती है, अन्यथा ये दोनों सूत्र निर्विषय हो जायेंगे।[९]

समीक्षा : सूत्र द्वारा आदेश करने में आदेश का स्थानी कैसा होता है? कैसे स्थान सम्बन्ध से युक्त होता है? किस प्रकार का स्थानी नहीं गृहीत होता है? तथा तदन्त विधि एवं यदागम परिभाषा से तदन्त एवं आगम विशिष्ट स्थानी में किस भाग का स्थान ग्रहण करता है? इत्यादि का निर्णय करना ही इस परिभाषा का मुख्य उद्देश्य है। परिभाषा के स्वरूप में किसी भी ग्रन्थ में अन्तर नहीं है।[१०] व्याडि ने यह नहीं मानी है। कातन्त्रकार ने कुछ भिन्न रूप से कही है।[११] कातंत्र परम्परा में इस परिभाषा को लोकन्याय सिद्ध माना गया है।[१२] पुरुषोत्तम तथा सीरदेवादि[१३] सभी प्राचीन लोग इसको 'षष्ठी स्थानेयोगा'[१४] सूत्र का व्याख्यान मानकर वाचनिकी मानते हैं। इसी आधार पर नागेश

---

१. अष्टा०, १/१/५५। २. वही, १/१/७२।

३. वही, १/१/५४।

४. 'श० कौस्तुभ, 'षष्ठी स्थानेयोगा' की व्याख्या।

५. अष्टा० ६/४/१३०। ६. वही, १/१/५४।

७. अष्टा०, १/१/५२। ८. अष्टा० १/१/५४।

९. म०भा० ६/४/१४२ 'तिग्रहण किमर्थम्', आदि प्रकरण एवं वही प्र०भी० 'निर्दिश्यमानस्या०' पर व्याख्या।

१०. शाकटायन, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर, द्र० परि० संग्रह।

११. कातंत्र पाठ, परि० सं० ७ 'निर्दिश्यमानानामादेशिनामादेशा:'।

१२. कातंत्र पाठ, परि० सं०७। १३. जैनेन्द्र, हरिभास्कर, शेषाद्रि सुधी।

१४. अष्टा० १/१/४९।

भी इसको वाचनिकी मानते हुए सूत्र के अर्थ को विस्तार से स्पष्ट करते हैं। फलतः यह परिभाषा लोकन्यायसिद्ध या ज्ञापकसिद्ध नहीं रह जाती है। इस परिभाषा का प्रचीन लोग कातंत्र, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव आदि सामान्य अर्थ तथा प्रयोजन दिखाते हुए संक्षेप में विचार करते हैं। नीलकण्ठ ने केवल कुछ नवीन रूप में विचार किया है। उन्होंने इसकी प्रवृत्ति कहाँ-कहाँ होती है और कहाँ नहीं होती है, इसका संक्षेप में स्पष्टीकरण किया है। नागेश भी इसका विचार करते हैं, परन्तु नीलकण्ठ वर्ण ग्रहण में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं मानते हैं, इसका नागेश ने विस्तार से सप्रमाण खण्डन किया है। वर्ण ग्रहण में भी यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, सिद्ध किया है। इससे अतिरिक्त नागेश ने इस परिभाषा से सम्बन्धित अन्य विषयों का भी स्पष्टीकरण किया। इस परिभाषा का 'अलोऽन्त्यस्य'[१] आदि[२] परिभाषा सूत्रों के साथ समावेश ही होता है बाध्यबाधकभाव नहीं तथा इसमें अङ्गागिभाव भी नहीं होता, यह नीलकण्ठ ने कहा है। नागेश ने इसी का अनुकरण कर अपनी व्याख्या में कथन किया है। इसी प्रसङ्ग में नागेश कौस्तुभकार का खण्डन करते हैं। दीक्षित का कहना है कि 'आदेः परस्य'[३] तथा 'अलोऽन्त्यस्य'[४] इस परिभाषा के बाधक हैं। परन्तु नागेश भाष्यप्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि ये उपर्युक्त सूत्र इस परिभाषा के बाधक नहीं है तथा यह परिभाषा की उनकी बाधक नहीं है। इसके समर्थन में कैयट का व्याख्यान उद्धृत किया है, जिसकी व्याख्या करते हुए गदा आदि[५] टीकाकारों ने कैयटमत से इनकी भिन्नता बताई है। नागेश का मत स्थलविशेष पर 'अलोऽन्त्यस्य' का भी परिभाषा बाघ करती है— यह है। इन्होंने इस परिभाषा के अप्रवृत्ति स्थल का प्रतिपादन किया हैं। 'अकच्' आगम के विषय में यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। इसमें ज्ञापक तथा भाष्यप्रमाण प्रस्तुत किया है। इसी वाक्य की व्याख्या का आशय बताते हुए गदाकार[६] ने प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति का निश्चय किया है। जहाँ 'अकच्' सहित का आदेश द्वारा अपहार नहीं होता, वहाँ यह नहीं प्रवृत्त होती है, परन्तु जहाँ आदेश से 'अकच्' सहित का अपहार प्राप्त होता है, वहाँ यह प्रवृत्त होती है। फलतः 'शीङो रुट्'[७] तथा 'युवकाभ्याम्' आदि में जो अतिप्रसंग का निवारण

---

१. अष्टा० १/१/५२।

२. अनेकाल्शित् सर्वस्य- अष्टा० १/१/५५, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य- अष्टा० १/१/६, तस्मादित्युत्तरस्य- अष्टा० १/१/६७, एच इग्घ्रस्वादेशे- अष्टा० १/१/४८, स्थानेऽन्तरतमः- अष्टा० १/१/५०, ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः- अष्टा० १/२/२७।

३. अष्टा०,१/१/५४। ४. वही, १/१/५२।

५. विजया, गूढार्थ०, शास्त्रार्थकला आदि टीकाकार।

६. गदा, पृ० २७, पं० १५ से आगे।

७. अष्टा० ७/१/६।

इस परिभाषा की अपेक्षा न करके सीरदेव ने किया है, वह खण्डित हो जाता है। सीरदेव तथा नीलकण्ठ आदि की तरह नागेश भी अवयव अर्थ वाली षष्ठी के विषय में प्रवृत्ति मानते हैं। उसका उदाहरण भी विस्तार से दिया गया है। इस प्रकार नागेश ने परिभाषा की व्याख्या विस्तार से प्रतिपादित की है।

(६६) यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः।।प०१३।।

परिभाषा का उपक्रम : आदेश के विषय में यह नियम है कि जो 'स्थानी' का अत्यन्त सदृश होता है, वही आदेश किया जाता है। इस स्थिति में 'चि+ता' यहाँ पर ह्रस्व इ के स्थान में ह्रस्व 'अ' भी गुण किया जा सकता है। यह अनिष्टापत्ति न हो, 'ए' ही गुण हो, इसके लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ : जहाँ (उदाहरण में स्थानी और आदेश के विषय में) कई प्रकार का आन्तर्य (सादृश्य) सम्भव है, वहाँ स्थान-सम्बन्धी आन्तर्य ही बलवत्तर होता है, उसी का आश्रयण करके आदेश किया जाता है।

परिभाषा का आशय : यहाँ— अनेका विधा यस्य तत्='अनेकविधम्' का तात्पर्य 'अनेक प्रकार का' है तथा 'आन्तर्य' इस शब्द का सादृश्य अर्थ है। इस प्रकार आन्तर्य (सादृश्य) अनेक प्रकार का सम्भव है। प्रायः[१] स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत आन्तर्य का ग्रहण किया जाता है। वैसे टीकाकारों के अनुसार 'सदृशसम्बन्धी के अभाव वाला होना सादृश्य',[२] और 'वर्णसाम्यरूप[३] सादृश्य' आदि भी गृहीत होते हैं। 'स्थानतः' में करण अर्थ में तसि'[४] प्रत्यय है— स्थानेन- 'स्थान के द्वारा' अर्थ है। आशय यह है कि जहाँ लक्ष्य में स्थान तथा उससे भिन्न अनेक प्रकार का, प्रमाण गुण आदि के आन्तर्य प्राप्त हो रहे हों तथा परस्पर विरुद्ध आदेश एक ही में प्राप्त हो रहे हों, तब नियम की आवश्यकता होती है, ऐसे लक्ष्य में उन दो प्रकार के सादृश्यों में से 'स्थान' का ही सादृश्य बलवान् समझा जाता है। जहाँ किसी एक ही स्थानी के स्थान पर दो प्रकार के भिन्न-भिन्न सादृश्य मानकर दो प्रकार के आदेश प्राप्त होते हैं, वहाँ 'स्थानकृत' सादृश्य मानकर ही आदेश किया जाता है।

परिभाषा का ज्ञापक : 'षष्ठी स्थानेयोगा'[५] इस सूत्र घटक 'स्थाने' इसकी अनुवृत्ति करके कार्य निर्वाह सम्भव था, केवल 'अन्तरतमः' इतना ही सूत्र होना चाहिए

---

१. अन्य प्रकार के भी आन्तर्य होते हैं— द्र० गूढार्थ०, पृ० ९३।

२. ऋकार और अकार की सदृशता, म०भा० १/१/५० 'अनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम्'।

३. अष्टा० ६/१/६३,से अर्थकृत आन्तर्य के साथ वर्णसाम्यकृत आन्तर्यसे पाद् का पद् आदेश, चरण को नहीं— द्र० म०भा०.तथा प्र० एवं उ० १/१/५०।

४. अष्टा० ५/१/११५। ५. अष्टा० १/१/४९।

था। परन्तु 'स्थानेऽन्तरतमः'[१] इस सूत्र में 'स्थाने' शब्द के पुनः उल्लेख से यह परिभाषा ज्ञापित होती है। ज्ञापक इस प्रकार है— 'स्थानेऽन्तरतमः' इस सूत्र का योग विभाग किया जाता है— **प्रथम** 'अन्तरतमः' इस अंश में पूर्व सूत्र से 'स्थाने' की अनुवृत्ति करते हैं। इसमें 'स्थाने' शब्द प्रसंगवाची है। **द्वितीय** 'स्थाने च' (भवति) यह सूत्र है। इस सूत्र के 'स्थाने' को तृतीया विभक्ति में विपरिणाम किया जाता है। इसमें 'स्थान' शब्द ताल्वादि स्थान का वाचक है। इस प्रकार अर्थ हुआ कि 'स्थानी' के प्रसंग में होने वाला (आदेश) संभव होने पर स्थान से ही सदृशतम[२] (होता है) अर्थात् स्थानकृत सादृश्य ही प्रमुख है। **(क) उक्त अर्थ में हेतु**— 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र में अन्तरतम-(सदृशतम) में जो 'तमप्' प्रत्यय (उत्कर्ष) का ग्रहण किया गया है, वही इसका ज्ञापक है कि[३] यहाँ अनेक प्रकार के 'आन्तर्य' (सादृश्य) का ग्रहण होता है। इस प्रकार प्रायः स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत आन्तर्य (सादृश्य) का ग्रहण हो जाता है। **(अ)** उपर्युक्त का उदाहरण— **(१) स्थानकृत आन्तर्य**— 'दण्डाग्रम् (दण्ड+अग्रम्) इस लक्ष्य में स्थान (कण्ठ) से आन्तर्य के कारण दोनों अकारों के स्थान में कण्ठ्य आकार[४] ही आदेश होता है। **(२) प्रमाणकृत आन्तर्य**— इसी प्रकार अमु, अमू में 'अदसोऽसेर्दादु दो मः'[५] सूत्र से प्रमाणकृत आन्तर्य से असकारान्त अदस् के 'द्' के स्थान में 'म्' और म् से उत्तर ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व उ और दीर्घ के स्थान में दीर्घ ऊ होता है। **(३) अर्थकृत आन्तर्य**— 'वातण्ड्ययुवतिः' यहाँ 'वतण्डा चासौ युवतिः' इस कर्मधारय समास में पुंवद्भाव[६] करने पर अर्थ के आन्तर्य से 'वातण्ड्य' यही आदेश होता है, वतण्ड नहीं, क्योंकि 'वतण्डा' स्त्रीलिंग में वतण्ड के अपत्य अर्थ का विधायक है। अतः पुवंद्भाव होने पर भी वही अपत्यार्थक 'वातण्ड्य' शब्द ही पुलिंग आदेश होता है। **(४) गुणकृत**[७] आन्तर्य— (गुण-प्रयत्न) पाकः, त्यागः- यहाँ च्, ज् के स्थान में गुण (प्रयत्न) के आन्तर्य से 'चजोः कु धिण्ण्यतोः'[८] सूत्र से 'च्' के स्थान में वैसा ही अल्पप्राण तथा अघोष 'क्' आदेश होता है और 'ज्' के स्थान में उस जैसा घोषवान् तथा अल्पप्राण 'ग्' हो जाता है। **समान वर्णकृत आन्तर्य विशिष्ट अर्थकृत आन्तर्य— (अ)** 'पद्दन्नोमास्हृन्निश०'[९] आदि सूत्र से 'पद' आदि आदेश अर्थकृत

---

१. अष्टा०, १/१/५०। २. प०शे०,पृ० ९७।

३. उ० १/१/५०।

४. पा०शि० सू० 'अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः' दीर्घ द्र० अष्टा०६/१/१०१।

५. अष्टा० ८/२/८०। ६. अष्टा० ६/३/४२।

७. बाह्यप्रयत्नों का भी औपचारिक गुणत्व मानकर, उनकी भी साम्यता गृहीत की जाती है।

८. अष्टा० ७/३/५२। ९.

आन्तर्य को मानकर 'चरण' आदि के स्थान में नहीं हो सकते, क्योंकि यहाँ अर्थ के साथ-साथ समान वर्ण वाले 'पाद्' आदि को ही स्थानी माना जाता है। अत: इन्हीं के स्थान में आदेश होते हैं। **(ब)** 'तृज्वत्क्रोष्टु:'[१] सूत्र से भी शृगाल वाची 'क्रोष्टु' के स्थान में तृजन्त 'क्रोष्टृ' शब्द ही आदेश होता है, सामान्यत: किसी क्रोशन् करने वाले अर्थ के वाचक शब्द के स्थान में नहीं होता। इस प्रकार अन्य[२] भी अर्थकृत सादृश्य को मानकर आदेश होते हैं।

परिभाषा का प्रयोजन— जहाँ स्थान से और गुण, प्रमाण आदि के आन्तर्य से, एक ही स्थानी में पृथक्-पृथक् आदेश प्राप्त होते हैं, तब प्रस्तुत परिभाषा द्वारा स्थानकृत आन्तर्य का प्राबल्य माना जाता है। इसी से 'चेता'[३] (चि+तास्+डा) में प्रमाणकृत आन्तर्य से इ के स्थान में 'अ' गुण प्राप्त होता है और स्थान की सदृशता से इ का 'ए' गुण प्राप्त होता है। यहाँ स्थानकृत आन्तर्य के बलवान् होने से 'ए' ही होता है। इस प्रकार 'चेता' आदि प्रयोग साधु सिद्ध होते हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा आन्तर्य विषयक विशेष विचार प्रस्तुत करती है। यह परिभाषा प्राचीन किसी भी परिभाषा पाठ में नहीं मिलती है।[४] नागेश ने ही भाष्य के आधार पर स्वीकार करके प्रस्तुत किया है। लक्ष्य में आदेश द्वारा प्राप्त अति प्रसंग के निवारण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। किसी-किसी स्थल पर स्थानी और आदेश के मध्य में कई प्रकार का सादृश्य प्राप्त होता है? एवं उसी स्थल में परस्पर विरुद्ध आदेश प्राप्त होने लगते हैं। इस प्रकार की स्थिति में किस प्रकार के सादृश्य का ग्रहण होता है तथा कौन सा आदेश होना चाहिए? आदि का समाधान इसी परिभाषा द्वारा होता है।[५]

नागेश ने इस परिभाषा की व्याख्या विस्तार से की है। इसका प्रमाण देते हुए 'स्थानेऽन्तरतम:'[६] सूत्र द्वारा इस परिभाषा की उपपन्नता प्रतिपादित की है। प्रसंगत: इसकी व्याख्या में चार प्रकार के सादृश्य का कथन तथा क्रमश: उनके प्रयोजनों का कथन किया गया है।[७] इस प्रकार नागेश ने विस्तार से परिभाषा की सिद्धि तथा विविध सादृश्यों के उदाहरण का निरूपण किया है। इस परिभाषा की प्रवृत्ति का भी इन्होंने निरूपण कर किया है। लक्ष्य में जहाँ स्थान तथा अन्यकृत सादृश्य प्राप्त होने पर परस्पर

---

१. अष्टा० ७/१/९५।

२. दारदवृन्दारिका में 'दरद्' अर्थ के आन्तर्य से 'दारद' पुल्लिंग होता है।

३. चि धातु, लुट्, तास्, डा, आस् का लोप, गुणादि होकर निष्पन्न रूप।

४. परि० संग्रह। ५. प० शे० सं० १३, पृ० ९३।

६. अष्टा० १/१/५०।

७. प०शे० सं० १३, पृ० ९४, पं० १-४।

दोनों सादृश्यों द्वारा विरुद्ध आदेश प्राप्त होता हो, वहाँ ही उन दोनों के मध्य में स्थानकृत सादृश्य बलवान् होता है। जहाँ दोनों सादृश्यों द्वारा परस्पर विरुद्ध आदेश नहीं प्राप्त होते हैं, वहाँ गुणादिकृत आन्तर्य द्वारा व्यवस्था होती है।[१]

(६७)अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति।।प० १६।।

परिभाषा का उपक्रम— 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'[२] इस परिभाषा की प्रवृत्ति कहाँ नहीं होती है, इसका स्पष्टीकरण करने के लिए प्रस्तुत परिभाषा है। कुछ ऐसे विषय हैं, जहाँ सार्थक एवं अनर्थक दोनों शब्दों को मानकर कार्य होता है, उसी विषय को इस परिभाषा द्वारा प्रतिपादित किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अन्, इन्, अस्, मन् (प्रत्ययों) का ग्रहण करने वाले सूत्रों[३] में वर्तमान अन् आदि शब्द सार्थक और अनर्थक दोनों शब्दसमूहों से तदन्तविधि का ग्रहण कराते हैं। (अर्थात् जब अन्, इन्, अस्, मन् तदन्तविधि[४] से अन्नन्त आदि के बोधक होते हैं, तब अन्नन्त आदि वर्ण समुदायों में वर्तमान, वे सार्थक भी हो सकते हैं और अनर्थक भी हो सकते हैं)।

परिभाषा का आशय— इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि अन्, इन् आदि ग्रहण करने वाले सूत्रों में अनर्थक शब्द का भी ग्रहण होता है और सार्थक का भी ग्रहण होता है। इनमें अनर्थक, सार्थक रूप अर्थ का विचार नहीं किया जाता है, जिसका फल यह होता है कि 'येन विधिस्तदन्तस्य'[५] सूत्र से अर्थवान् और अनर्थक अन् आदि[६] शब्दों से तदन्तविधि हो जाती है। **परिभाषा की सिद्धि में प्रमाण**— यह परिभाषा 'येन विधिस्तदन्तस्य'[७] सूत्र के भाष्य में वार्तिक रूप में पढ़ी गई है। भाष्य में यह वचन रूप से पढ़ी होने से वाचनिकी है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से अन् आदि अनर्थक और सार्थक, दोनों से तदन्तविधि द्वारा तदन्त का बोध कराते हुए कार्य सिद्ध होते हैं। निम्न

---

१. प०शे० सं० १३, पृ० ९४, पं० ४ पर 'सति संभवे' तथा इसी पर गदा एवं गूढार्थ० द्र० है।

२. प०शे० सं० १४।

३. 'अल्लोपोऽनः' (अष्टा० ६/४/१३४) 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (अष्टा०६/४/१२) 'सौ च' (अष्टा० ६/४/१३), 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (अष्टा०६/४/१४) 'मनः' (अष्टा० ४/१/१२)।

४. अष्टा० १/१/७२।

५. वही, १/१/७२।

६. इन्, अस्, मन् का ग्रहण।

७. म०भा० वा० १/१/७२।

उदाहरण द्रष्टव्य हैं— **(क) अन्**— राज्ञा (राजन्+टा) में 'अल्लोपोऽनः'[१] सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहाँ 'अन्' तदन्तविधि से अन्नन्त का बोधक है, इसमें अन् सार्थक है। इसी प्रकार साम्ना (सामन्+टा) में भी 'अल्लोपोऽनः'[२] सूत्र से अल्लोप होता है। जबकि यहाँ 'अन्' 'मन्' का एकदेश होने से अनर्थक है। **(ख) इन्**— दण्डी (दण्डिन्+सु) में सार्थक 'इन्' होने पर 'सौ[३] च' सूत्र से उपधादीर्घ होता है, उसी प्रकार वाग्मी (वाग्मिन्+सु) में 'ग्मिन्'[४] प्रत्यय का एकदेश होने से अनर्थक 'इन्' से भी उपधादीर्घ होता है। तदन्तविधि से 'इन्हन्पूषार्यम्णां[५] शौ' सूत्र में 'इन्' से इन्नन्त का ग्रहण होता है। **(ग) अस्**— सुपयाः (सुपयस्+सु) में 'अस्' सार्थक है। सुस्रोतम्+सु ='सुस्रोताः' इस प्रयोग में अस् अनर्थक है, पर फिर भी दोनों उदाहरणों में 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' सूत्र से समान रूप से ही उपधा-दीर्घ होता है। **(घ) मन्**— यथा सुशर्मन् शब्द से 'मनः'[६] सूत्र से ङीप् निषेध होता है, प्रकार सुप्रथमिन् से (अनर्थक मन्नन्त से) भी निषेध होता है। सुशर्मन् में 'मन्' सार्थक है। सुप्रथमिन् में 'इमनिच्'[७] प्रत्यय का एकदेश होने के कारण अनर्थक है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी सिद्ध होते हैं।

परिभाषा के मूल के विषय में प्राचीनों एवं नवीनों का दृष्टिकोण— (क) प्राचीन मत— कुछ[८] प्राचीन लोगों का परिभाषा के मूल के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण है। उनका कहना है कि 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्'[९] सूत्र में आचार्य ने जो 'अङ्गात्' ऐसा पढ़ा है, वह 'परिवेविषीध्वम्'[१०] प्रयोग में ध् का ढत्व वारण के लिए किया है। यहाँ इणन्त 'अङ्ग' से परे 'षीध्वम्' नहीं है, अतः ध् का ढ नहीं होता है। यह इस बात का ज्ञापक है कि 'अर्थवत्०' परिभाषा अनित्य है और उसकी अनित्यता इस परिभाषा का मूल है। यदि अर्थवत् परिभाषा नित्य होती तो 'परिवेविषीध्वम्' में 'षीध्वम्' के अनर्थक होने से ही, ध् का ढ् नहीं हो सकता। पुनः 'अङ्ग' ग्रहण व्यर्थ होता है। इस प्रकार 'अङ्ग' ग्रहण से परम्परा से यह परिभाषा ज्ञापित होती है।

(ख) नागेश का मत— ये 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्' में 'अङ्गात्' के ग्रहण को अर्थवद्ग्रहण परिभाषा की अनित्यता में ज्ञापक नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि इस 'अङ्गात्'- ग्रहण का प्रयोजन है और प्रयोजन रहते ज्ञापक नहीं होता है।

---

१. अष्टा० ६/४/१३४। २. वही, ६/४/१३।
३. वही, ५/२/१२४। ४. वही, ६/४/१२।
५. वही, ६/४/१४। ६. अष्टा० ४/१/११।
७. अष्टा० ५/१/१२२। ८. हरिभास्करवृत्ति परि० सं० ६७।
९. अष्टा० ८/३/७८।
१०. परिपूर्वक विष् धातु, विधि लिङ्ग, म०पु० बहु० आत्मनेपद में ध्वम् प्रत्यय, सीयुट् आगम, स का लोप, शप् का श्लु, द्वित्व, गुण होकर निष्पन्न रूप।

'विभाषेट:'[१] सूत्र में 'इषीध्वम्' का अनुवृत्ति-लभ्य, एकदेश 'षीध्वम्' अनर्थक ही हो सकता है। अत: ऐसे ही अनर्थक 'षीध्वम्' का 'इण: षीध्वं०'[२] सूत्र में ग्रहण है? इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए 'अङ्ग से परे 'षीध्वम्' के ध् को ढ हो', ऐसा कहा है। अङ्ग से परे प्रत्ययरूप 'षीध्वम्' सार्थक ही होगा। अत: 'अर्थवत्' परिभाषा के नित्य होने से 'साम्ना' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए इस 'अनिनस्मन्०' परिभाषा को अवश्य मानना पड़ेगा।[३] इस प्रकार के भ्रमवारण के लिए 'अङ्ग' ग्रहण किया गया है। यह अर्थवत् परिभाषा के अनित्यत्व का ज्ञापक नहीं हो सकता। अत: अन्य प्रयोगों की सिद्धि हेतु इस परिभाषा की आवश्यकता है, इस प्रकार यह वाचनिकी ही है। भाष्य में वचनरूप से पठित होने से उसी वचन के आधार पर परिभाषा स्वीकार करनी चाहिए।

समीक्षा— पाणिनि ने अपने सूत्रों के व्याख्यान से सम्बन्धित एक सामान्य नियम बनाया है कि विशेषणवाची शब्द, जिससे विधि की जा रही है, वह उस शब्द के अन्त का भी ग्राहक होता है। यही 'तदन्त विधि' कहलाती है। शब्द सार्थक, निरर्थक दोनों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार दोनों ही विशेषण हो सकते हैं। फलत: कहाँ-कहाँ दोनों प्रकार के विशेषणों में तदन्तविधि होती है, इसका निर्णय यह परिभाषा करती है। यह परिभाषा केवल जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर आदिकृत ग्रन्थों में ही प्राप्त होती है।[४] नागेश ने सीरदेव एवं नीलकण्ठ[५] के अनुसार परिभाषा का पाठ स्वीकार किया है। इस परिभाषा के नागेश कृत व्याख्यान उदाहरणादि पर पुरुषोत्तमदेव एवं नीलकण्ठ का प्रभाव परिलक्षित होता है।[६] इस परिभाषा के मूल के विषय में नागेश एवं प्राचीन परिभाषा व्याख्याकारों में मतभेद है। जैनेन्द्र 'अर्थवद्ग्रहण०' परिभाषा के अनित्य होने के फलस्वरूप यह परिभाषा मानते हैं।[७] पुरुषोत्तमदेव सीरदेव और कात्यायन वचन को परिभाषा रूप से स्वीकार करने के साथ-साथ 'अर्थवद्०' परिभाषा की अनित्यता ही इसका मूल मानते हैं तथा 'अर्थवत्०' परिभाषा की अन्त्यिता का ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं।[८] नीलकण्ठ भी कात्यायनवचन को स्वीकार करने के साथ 'अर्थवद्०' परिभाषा को अनित्यमूलक मानते हैं।[९] परन्तु नागेश स्वतंत्र स्पष्ट रूप

---

१. अष्टा० ८/३/७९। २. अष्टा० ८/३/७८।

३. पं० शे०, पृ० ११५, पं० १-२।

४. परि० संग्रह, तत्तत ग्रन्थ।

५. सीरदेववृत्ति, परि० सं० ६५, नीलकण्ठवृत्ति परि० सं० १५।

६. पुरुषोत्तमदेव वृत्ति, परि०सं० १७, नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० १५।

७. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ४।

८. पुरुषोत्तमवृत्ति परि०सं० ७७,सीरदेववृत्ति, परि०सं०६५।

९. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० १५।

से वाचनिकी ही स्वीकार करते हैं। उनके मत में यह परिभाषा 'अर्थवद् ग्रहण०' की अनित्यत्वमूलिका नहीं है। प्रसंगत: 'अर्थवत्' परिभाषा को अनित्यमूलक मानने वाले प्राचीन परिभाषा व्याख्याकार हरिभास्कर के मत[१] का उल्लेख करके खण्डन करते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत ज्ञापक का ही खण्डन कर दिया है।[२] इस प्रकार यह अपूर्व वचन ही मानकर 'वाचनिकी' परिभाषा स्वीकार करते हैं।

(६८) भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम् न।।प०१९।।

परिभाषा का उपक्रम— यहाँ कुछ शंकाओं का निराकरण किया गया है। विभक्तियां बाद में रहने पर 'त्यद्' आदि शब्दों के अन्त्य दकार आदि के स्थान में अकार का विधान 'त्यदादीनाम:'[३] सूत्र से होता है। 'अ' अण् के अन्तर्गत आता है और अप्रत्यय भी है। अत: यह 'अ' अपने सवर्ण अनुनासिक 'अँ' का भी ग्राहक हो सकता[४] है। इसके फलस्वरूप 'इमम्'[५] की सिद्धि में इदम् के अनुनासिक मकार के स्थान में होने वाला 'अ' भी अनुनासिक होना चाहिए, क्योंकि आदेश का सदृशतम होना 'स्थानेऽन्तरतम:'[६] सूत्र से सिद्ध है। इस प्रकार 'इमम्' की उपधा अनुनासिक 'अँ' होनी चाहिए? इसका समाधान इस परिभाषा द्वारा किया गया है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— भाव्यमान-विधीयमान (प्रत्यय आदि) अपने सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता है। **(क) उक्त अर्थ में प्रमाण**— 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय:' सूत्र में 'अप्रत्यय' इसका योग विभाग किया जाता है। यहाँ प्रत्यय का सामान्य अर्थ प्रत्यय मात्र हैं इस प्रकार 'अप्रत्यय:' का अर्थ हुआ- प्रत्यय सवर्ण का ग्राहक नहीं होता है तथा इस निषेधक शास्त्र का अर्थ ही इस परिभाषा का अर्थ है। इस 'अप्रत्यय:' से निम्न अर्थ बोधित होता है, 'अणुदित् सवर्णस्य०'[७] सूत्र से जो सवर्णग्रहण प्राप्त होता है, (वह जातिपक्ष में 'अ' आदि से अत्व जाति को लेकर अकार मात्र का ग्राहक होने से सवर्णग्रहण प्राप्त होता है) और जो व्यक्तिपक्ष में 'गुणा अभेदका:'[८] गुणों के अभेदक होने से सवर्णग्रहण प्राप्त होता है। वह सब 'अणुदित्०'[९] सूत्र में 'अप्रत्यय:'[१०] ग्रहण से निषिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ कि भाव्यमान अपने सवर्णी

---

१. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६७। २. प०शे०, पृ० ११५ 'इति परे'।

३. अष्टा० ७/२/१०२। ४. वही, १/१/६९।

५. इदम् शब्द, द्वितीया एक० में 'अम्' प्रत्यय, अन्त्य 'म्' का अ (७/२/१०२) पूर्वरूप होकर (६/१/१०७) निष्पन्न।

६. अष्टा०, १/१/५०। ७. अष्टा० १/१/६९।

८. प०शे० परि० सं० ११८। ९. अष्टा० १/१/६९।

१०. अष्टा० १/१/६९।

का एवं उदात्तत्व आदि[१] तथा अनुनासिकत्व आदि धर्मों[२] का ग्राहक नहीं होता है।

परिभाषा का ज्ञापक— (क) यह परिभाषा 'अप्रत्यय:' इस सूत्र में प्रत्यय रूप एकदेश की अनुमिति से ज्ञापित होती है। भाष्यकार 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय:' सूत्र के भाष्य[३] में प्रत्यय पद से कृत्रिम प्रत्यय का ग्रहण मानते हुए परिभाषा का ज्ञापक सिद्ध करते हैं। 'अणुदित्०' सूत्र में प्रत्यय, आगम, आदेशों में, सवर्णों का ग्रहण नहीं होता है इसके लिए भाष्यकार ने एक ही परिहार दिया है, 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा से सवर्णग्रहण नहीं होगा। यह कहने के उपरान्त निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं कि इस प्रकार अप्रत्यय: निषेध के बिना ही इस निषेध से जो साध्य है, उसके सिद्ध हो जाने पर भी आचार्य पाणिनि सूत्र में जो 'अप्रत्यय:' ग्रहण करते हैं, उससे यही ज्ञापित करना चाहते हैं कि 'भाव्यमान सवर्णों का ग्रहण नहीं करता है'। अत: यह परिभाषा सिद्ध है। इस प्रकार भाष्यप्रमाण से यह परिभाषा 'अप्रत्यय:' से ज्ञापित होती है। **(ख) परिभाषा का द्वितीय ज्ञापक**—नागेश ने इस परिभाषा की सत्ता में एक और भी ज्ञापक उद्धृत किया है- 'ज्यादादीयस:'[४] सूत्र में 'आत्' ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है। इस सूत्र में 'ज्याद ईयस:' ऐसा सूत्रन्यास करने से ही इष्टसिद्धि हो जायेगी, क्योंकि ह्रस्व 'अ' भी सवर्णग्राहक होगा और अन्तरतम होने से दीर्घ 'ई' के स्थान में 'आ' हो जायगा। यदि यह परिभाषा न होगी तो 'आत्' ग्रहण व्यर्थ होगा। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'आत्' ग्रहण चरितार्थ होता है। इस प्रकार 'ज्यादादीयस:'[५] सूत्र के भाष्य में यह ज्ञापित की गई है।

परिभाषा का अप्रवृत्ति स्थल— यह परिभाषा उदित् वर्णों में नहीं प्रवृत्त होती है। 'चो: कु:'[६] इत्यादि में जो भाष्यमान 'क्' आदि आदेश विधान किये गये हैं, वे अपने सवर्णों के ग्राहक होते ही हैं। उनमें 'उ' अनुबन्ध इसलिए लगाया गया है कि 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय:'[७] से सवर्ण का ग्रहण हो। यदि केवल 'क्' आदि के ही ग्राहक होंगे तो 'उ' अनुबन्ध व्यर्थ होगा। इस प्रकार उदितकरण के सामर्थ्य से उदित् वर्णे में यह नहीं प्रवृत्त होती है। फलत: वे अपने सवर्णों (अर्थात् कवर्ग) का ग्रहण कर ही लेते हैं। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरण इस परिभाषा को 'भाव्यमानोऽण[८] सवर्णान् न गृह्णाति' इस रूप में हढ़ते हैं। उनके मत में 'क्' आदि के 'अण्' न होने से सवर्ण ग्रहण कराता है, परन्तु नागेश इससे सहमत नहीं है। वह उदित्सामर्थ्य से ही इस दोष

---

१. अनुदात्तत्व स्वरितत्व। २. निरनुनासिकत्व।

३. म०भा० १/१/६९ पर 'अप्रत्यय इति किमर्थम्०' आदि।

४. अष्टा० ६/४/१६०। ५. अष्टा० ६/४/१६०।

६. अष्टा० ८/२/३०। ७. अष्टा० १/१/६९।

८. श० का० पृ० २७८ सूत्र 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय:'।

का निराकरण करते हैं।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से विधीयमान प्रत्यय, आगम तथा आदेश अपने सवर्णों का ग्रहण नहीं करते हैं। फलत: 'सनाशंसभिक्ष[१] उ:' इस सूत्र से 'जिज्ञासु:'[२] आदि प्रयोगों में दीर्घ 'ऊ' नहीं होता है। इस प्रकार 'इमम्'[३] में 'म्' के स्थान में 'अ' अनुनासिक नहीं होता है। इस प्रकार अन्य भी विविध प्रयोजन हैं।

समीक्षा— पाणिनि ने अक्षर की सवर्णता के लिए 'अणुदित् सवर्णस्य[४] चाप्रत्यय:' नियम बनाया हैं इसमें कौन-कौन से किस परिस्थिति में सवर्णग्राहक होते है, बताया गया है। अब कहाँ-कहाँ कौन-कौन से पद सवर्णग्राहक होते है, बताया गया है। अब कहाँ-कहाँ कौन-कौन से पद सवर्णग्राहक नहीं होते हैं, इसी की सीमा, प्रस्तुत परिभाषा द्वारा व्यक्त की जा रही है। इस परिभाषा के स्वरूप के विषय में भिन्नता प्राप्त होती है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर इस परिभाषा को 'भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गृह्णाति' रूप में पढ़ते हैं। इसके विपरीत नागेश भाष्य सम्मत[५] रूप ही स्वीकार करते हैं। परिभाषा का अर्थ सभी परिभाषा व्याख्याकारों में समान ही उपलब्ध होता है। परिभाषा के मूल के सम्बन्ध में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। नागेश 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय:' सूत्र में 'अप्रत्यय:' ग्रहण से प्रत्ययांश में सवर्णग्रहण के निषेध से आगम, आदेश रूप भाव्यमान अंश का भी संग्रह कराने वाली यह सम्पूर्ण परिभाषा ज्ञापित मानते हैं[६] तथा दूसरा ज्ञापक भी 'ज्यादादीयस:'[७] का 'ज्यादाद्' दीर्घोच्चारण के द्वारा प्रस्तुत किया है। व्याडि 'ई हल्यधो:'[८] में दीर्घ 'इकार' का ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक मानते हुए प्रस्तुत करते हैं।[९] पुरुषोत्तमदेव ने उपर्युक्त ज्ञापक मानने के साथ 'केचित्' के द्वारा यह भी कहा है कि यह ज्ञापकसिद्ध पृथक् परिभाषा नहीं है, 'अणुदित्०'[१०] सूत्र के 'अप्रत्यय' शब्द का अर्थ ही परिभाषा रूप से पढ़ दिया गया है।[११] सीरदेव भी 'अणुदित्०'[१२] के 'अप्रत्यय' इसके अर्थ रूप में ही

---

१. अष्टा० ३/२/१६८।

२. ज्ञा धातु, सन्नन्तरूप 'जिज्ञासा' रूप से तच्छीलादि अर्थों में 'उ' प्रत्यय होकर निष्पन्न रूप।

३. इदम्, द्वितीया वि०ए० में अम्, 'म्' का अकारादेश तथा पूर्वरूप एकादेश होकर निष्पन्न।

४. अष्टा० १/१/६९।

५. द्र० म०भा० १/१/६९।

६. उ० १/१/६९ एवं प० शे० पृ० १२१।

७. अष्टा० ६/४/१६०।

८. अष्टा० ६/४/११३।

९. व्यावृत्ति परि० सं० ३०।

१०. अष्टा० १/१/६९।

११. पुरुषोत्तमवृत्ति परि०सं०३१।

१२. अष्टा० १/१/६९।

परिभाषा को स्वीकार करते हैं तथा 'केचित्' द्वारा 'ई हल्यघो:'[१] में 'ई' ग्रहण को इस परिभाषा का ज्ञापक भी कहते हैं।[२] नीलकण्ठ ने अणुदित्०' सूत्र के अप्रत्यय' के अर्थ की ही अन्वाख्यायिका मानी है।[३] हरिभास्कर ने उपर्युक्त दोनों ज्ञापक मानते हुए भाष्य रीति से तो इसकी नहीं आवश्यकता है, ऐसा कहा है।[४] परन्तु भाष्य में ऐसा पाठ नहीं है, अत: यह कथन असंगत प्रतीत होता है। प्रसंगत: नागेश 'चो: कु:'[५] इत्यादि में निषेध की अतिव्याप्ति का समाधान उदित् करण सामर्थ्य से सवर्ण ग्रहण मानकर करते हैं।[६] नीलकण्ठ ने भी उदित् करण सामर्थ्य से 'चो: कु:' इत्यादि में भाव्यमान से सवर्ण ग्रहण माना है।[७] इस परिभाषा का उदाहरण व्याडि आदि सभी परिभाषा व्याख्याकारों ने दिया है। नागेश ने स्यात् अति स्पष्ट होने के कारण नहीं दिया है। इस प्रकार नागेश संक्षिप्त व्याख्या करते हुए न व्यों का सम्मत जो पाठान्तर, उससे अपना अनभिमत व्यक्त करते हैं। 'अनण्' में भी यह प्रवृत्त होती है।[८] पुरुषोत्तमदेव 'अभूभ्याम्', 'अमू' आदि में दोषवारण के लिए कहीं भाव्यमान 'अण्' से सवर्ण ग्रहण होता है— यह मानते हैं तथा इसका ज्ञापक 'दिव उत्'[९] में तपरकरण मानते हैं।[१०] सीरदेव, नीलकण्ठ उक्तदोष के वारण के लिए परिभाषा को 'दिव उत्' में तपरकरण ज्ञापक से अनित्य मानते हैं।[११] परन्तु नागेश ऐसा नहीं मानते।

(६९) भाव्यमानोऽप्युकार: सवर्णान् गृह्णाति।।प० २०।।

परिभाषा का उपक्रम— विधीयमान 'अण्' प्रत्याहार का कोई भी वर्ण अपने सवर्ण का ग्राहक नहीं होता है, ऐसा न्याय है। अत: 'अदसोऽसेर्दादु दो म:'[१२] सूत्र द्वारा विधीयमान 'उ' केवल ह्रस्व तक ही सीमित रहेगा, दीर्घ 'ऊ' का विधान नहीं हो सकता। फलस्वरूप 'अमू' यह रूप नहीं हो सकता? इस समस्या के समाधनार्थ यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— भाव्यमान- विधीयमान भी उकार अपने सवर्णों का ग्राहक होता है। **परिभाषा का ज्ञापक**— 'दिव उत्'[१३] सूत्र में तथा 'ऋत

---

१. अष्टा० ६/४/११३। २. सीरदेवृत्ति परि० सं० ११।
३. नीलकण्ठवृत्ति परि०सं०१६। ४. हरिभास्करवृत्ति,परि०सं०११।
५. अष्टा० ८/२/८०। ६. प०शे० पृ० १२२,पं० ३-४।
७. नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० १६।
८. अष्टा० ७/२/८४, 'अष्टाभि:' आदि उदाहरण।
९. अष्टा० ६/१/१३१। १०. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० ३१।
११. सीरदेववृत्ति,परि० सं० ११ तथा नीलकण्ठवृत्ति परि० सं० १६।
१२. अष्टा० ८/२/८०। १३. वही, ६/१/१३१।

उत्'[१] सूत्र में भाव्यमान 'उ' का जो तपरकरण किया गया है, इससे ज्ञापित होता है कि यह परिभाषा है। अन्यथा तपरकरण व्यर्थ था, क्योंकि तपरकरण करने का यही प्रयोजन है कि उकार तत्काल वाले का ही ग्राहक हो, सवर्ण का ग्राहक न हो। परन्तु 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' इस परिभाषा से सवर्णग्रहण तो प्राप्त ही नहीं है, अत: दीर्घ 'ऊ' का विधान संभव ही नहीं। पुन: उकार के तपरकरण का क्या प्रयोजन? इस प्रकार व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक बनता है। इससे उकार में तपरकरण चरितार्थ होता है, यह प्राप्त सवर्ण दीर्घ उकार का अवरोधक होता है। इसी प्रकार 'तित्स्वरितम्'[२] सूत्र के भाष्य में, भाष्यकार ने 'भाव्यमान परिभाषा' की प्रवृत्ति से 'अमूभ्याम्' में दीर्घ न हो सकेगा? इस शंका का 'भाव्यमानोऽप्यु०' इस परिभाषा से समाधान किया है तथा 'दिवउत्'[३] सूत्र में उ का तपर करना इसका ज्ञापक माना है।

परिभाषा का प्रयोजन— भाव्यमान उकार से सवर्ण का ग्रहण होने से, 'अदसोऽसेर्दादु दो म:'[४] सूत्र में भाव्यमान ह्रस्व उकार अपने सवर्ण का भी ग्राहक होता है। अतएव[५] 'अमू' (अदस्+औ) तथा अमूभ्याम्[६] आदि में दीर्घ ऊकार सिद्ध होता है।

समीक्षा— भाव्यमान से सर्वत्र सवर्णों का ग्राहक न मानने से 'अम्', 'अमूभ्याम्' इत्यादि में दीर्घ ऊकार की प्राप्ति न होने से दोष उपस्थित होता है। इसी की व्यवस्था इस परिभाषा द्वारा की गयी है। यह परिभाषा सर्वत्र ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होती है। व्याडि ने इसका पाठ कुछ भिन्न रूप से किया है।[७] इनके पश्चात् केवल चान्द्रपाठ में पाठभेद[८] से उपलब्ध होती है। पुरुषोत्तम देव आदि नहीं मानते हैं। नागेश भाष्य[९] के आधार पर कुछ पाठान्तर करके इस परिभाषा को पढ़ते हैं। परिभाषा के ज्ञापक के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। व्याडि इस परिभाषा का ज्ञापक 'दिव उत्'[१०]

---

१. अष्टा०, ६/१/१११।

२. म०भा० ६/१/१८५ 'तिति प्रत्ययग्रहणम्' आदि।

३. अष्टा० ६/१/१३१। ४. वही, ८/२/८०।

५. अदस् शब्द, प्र०वि०द्वि० में 'औ' प्रत्यय, अन्त्य का अकारादेश तथा द् का म् एवं औ का 'ऊ' एवं पूर्वसवर्णदीर्घ होकर निष्पन्न रूप।

६. अदस्, तृतीया वि० द्वि० में 'भ्याम्'प्रत्यय, अकारादेश एवं दीर्घ (७/३/१०१) द् का म् और आ का ऊ होकर निष्पन्न।

७. 'उकार एवैको भाव्यमानोऽपि सवर्णान् गृह्णाति' व्याडि वृत्ति, परि०सं०३१।

८. 'भाव्यमानोत्सवर्ण गृह्णाति' चान्द्रवृत्ति, परि० सं० ४४।

९. 'भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम्' म०भा० ६/१/१८५।

१०. अष्टा० ६/१/१३१।

में उकार में तपरनिर्देश मानते हैं। नागेश भी 'दिव उत्' एवं 'ऋत उत्'[१] में उकार में तपरकरण को इसका ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं। इसके समर्थन में भाष्य का प्रमाण[२] प्रस्तुत करते हैं कि उक्त सूत्रों में तपरनिर्देश से यही परिभाषा ज्ञापित होती है। पुरुषोत्तमदेव आदि[३] 'दिव उत्' के तपरकरण से इस परिभाषा को ज्ञापित न मानकर पूर्व परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित करते हैं तथा अनित्य मानकर अमू आदि दोष का वारण करते हैं।[४] परन्तु नागेश के मत से भाष्य के विरुद्ध कल्पना करने के कारण पूर्वोक्त मत असंगत है। नागेश ने संक्षेप में परिभाषाविषयक अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

(७०) वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्।।प० २१।।

परिभाषा का उपक्रम— कहीं-कहीं प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी उसके अभाव में उस प्रत्यय के मानकर होने वाले कार्य होते हैं। जैसा कि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[५] सूत्र से सिद्ध है। इसलिये गवे हितम्='गोहितम्'[६] इस समस्त प्रयोग में चतुर्थी के एक वचन (ङे) का लुक्[७] हो जाने पर भी 'प्रत्ययलोपे०' सूत्र से प्रतययलक्षण कार्य मानते हैं तो 'ए' (ङे) को मानकर गो के 'ओ' का अव्[८] आदेश होना चाहिए? इसके समाधान के लिये यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— वर्णाश्रय निमित्तक कार्य के विषय में (प्रत्यय के लोप होने पर) प्रत्ययलक्षण (कार्य) नहीं होता है। **परिभाषा का आशय**— 'प्रत्ययलक्षण'[९] में लक्षण शब्द का अर्थ निमित्त है। आशय यह है कि जहाँ वर्ण को प्रधान रूप से मानकर (चाहे वह प्रत्यय रूप हो) कार्य प्राप्त होता है, प्रत्यय मानकर नहीं, वहाँ वर्ण की प्रधानता होने से इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। अप्रधान रूप से 'अल्' वर्ण के आश्रित विधि में नहीं प्रवृत्त होती है, ऐसा समझना चाहिए।

परिभाषा में हेतु— इस वर्ण-प्रधान के विषय में प्रवृत्ति का प्रमाण 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इस सूत्र का 'प्रत्यलक्षण' पद का ग्रहण है।[१०] उक्त सूत्र में

---

१. अष्टा०, ६/१/११।

२. म०भा० ६/१/१८५, 'तिति प्रत्ययग्रहणम्' वार्तिक पर व्याख्या।

३. सीरदेव, नीलकण्ठ। ४. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

५. अष्टा० १/१/६१।

६. गवे हितम् गोहितम् 'गो+ङे, हित+सु' द्र० अष्टा० २/१/३६।

७. अष्टा०२/४/७१, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः'।

८. 'एचोऽयवायावः' द्र० अष्टा० ६/१/७८।

९. 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' इसमें गृहीत 'प्रत्ययलक्षण' पद।

१०. प०शे० परि०सं० २१, पृ० १२५ एवं म०भा० १/१/६१, पर 'प्रत्ययलक्षणम्' का प्रयोजन।

'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[१] सूत्र से 'स्थानिवत्' की अनुवृत्ति आने से ही, प्रत्यय लक्षण कार्य, प्रत्यय लोप होने पर भी हो सकता है। पुन: 'प्रत्ययलक्षण' पदग्रहण क्यों किया गया है? पुन: जो ग्रहण किया गया है वह इसलिये है कि जहाँ प्रत्यय प्रधान हो अर्थात् प्रत्यय दूसरे का विशेषण न हो, वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।[२] इस प्रकार प्रधान अल् के आश्रित प्रत्ययविधि करने में 'प्रत्ययलक्षण' नहीं होता है, उक्त प्रकार से यह परिभाषा सिद्ध होती है। अतएव वर्णप्रधान्य के विषय में इसकी प्रवृत्ति होती है, यह अर्थ स्वत: सिद्ध है।[३]

वर्णप्राधान्य का तात्पर्य— इसका अर्थ (तात्पर्य) नागेश दो प्रकार से देते हैं— **(क)** वर्ण का दूसरे के प्रति विशेषण न होना,[४] **(ख)** प्रत्यय के प्रति विशेष्य होना।[५] इन दोनों को इस प्रकार समझना चाहिये— **(क)** जहाँ वर्ण को ही स्वतंत्र रूप से मानकर कार्य किया जाता है, तथा वह वर्ण किसी के निमित्त रूप से आश्रित नहीं किया जाता है। इस प्रकार जहाँ वर्ण अपने स्वरूप से पृथक् अन्य का विशेषण न हो। (ख) इसी प्रकार जहाँ कार्य में वर्ण को प्रत्यय के विशेष्य रूप में स्वीकार किया जाता है— ऐसे प्रत्यय के विशेष्य रूप में वर्ण को मानकर होने वाले कार्य को भी वर्णप्राधान्यरूप कार्य कहते हैं। फलत: उपर्युक्त दो रूपों में वर्ण की प्रधानता लक्षित होती है। अत: ऐसे स्थलों पर ही यह परिभाषा प्रवृत्त होकर प्रत्ययलक्षण का निषेध करती है।

उक्त अर्थ का फल— (क) परविशेषणानाश्रित वर्णप्राधान्य का उदाहरण— इसमें वर्ण का किसी अन्य के प्रति विशेषण न होना रूप वर्ण की प्रधानता आश्रित करने का निम्न फल है— 'गोहितम्' में ओ का 'अव्' आदेश नहीं होता है, क्योंकि 'एचोऽयवायाव:'[६] सूत्र से संहिता में कार्य होता है, अच्-रूप को कोई प्रत्यय आदि को निमित्त मानकर कार्य 'अव्' आदि आदेश नहीं होता हैं। अतएव इस प्रयोग में अच् प्रत्याहारान्तर्गत प्रत्यय 'ङे' का ए वर्ण, जो किसी दूसरे का विशेषण न होकर सांहितिक 'अव्' आदेश का निमित्त है, 'ङे' प्रत्ययरूप का निमित्त नहीं है। अत: यहाँ इस परिभाषा द्वारा प्रतययलक्षण-निषेध होकर 'अव्' आदेश नहीं होता। इसी प्रकार अन्य उदाहरण[७] भी समझने चाहिए। **(ख) प्रत्ययनिरुपित विशेष्यतारूप वर्णप्रधान्य का**

---

१. अष्टा० १/१/५५। २. पं० शे, पृ० १२५।

३. अर्थात् 'प्रत्ययलक्षण' के सामर्थ्य से जहाँ प्रधानता से प्रत्यय को आश्रित करके कार्य किया जाता है, वहाँ प्रत्ययलक्षण होता है— द्र० गूढार्थ०, पृ० १२५-१२६।

४. प०शे० पृ० १२६, 'वर्णस्येतराविशेषणत्वरूपम्'।

५. वही, पृ० १२७, प्रत्ययनिरूपितविशेष्यतारुपम्'।

६. अष्टा० ६/१/७८।

७. राय:कुलम् 'रैकुलम्' में आय् आदेश नहीं होता है, क्योंकि अच् रूप वर्ण को आश्रित करके उसका विधान किया गया है।

उदाहरण— चित्रायां जाता-'चित्रा' है। यहाँ 'तत्र जात:'[१] अर्थ में 'सन्धिवेला०'[२] सूत्र से पहले अण् प्रत्यय होता है। पहुन: 'चित्रारेवती०'[३] इत्यादि वार्तिक से इस अण् का लुक् हो जाता है। अब अण् प्रत्यय के परे स्त्रीप्रत्यय (टाप्) का लुक्[४] होने पर तन्निमित्तक कार्य 'टिड्ढाणञ्०'[५] सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त होता है। परन्तु इस कार्य में 'अ' वर्ण का 'अण्' के विशेष्य[६] के रूप में ग्रहण होता है। 'टिड्ढाणञ्०'[७] सूत्र अदन्त प्रातिपदिक से 'ङीप्' विधान करता है, जब अन्त्य 'अ' अण् प्रत्यय का हो। यहाँ स्पष्ट ही 'अ' वर्ण को आश्रित करके विधि है, जो अकार अण् प्रत्ययरूप होता है। 'अ' प्रत्यय के प्रति विशेषण नहीं, विशेष्य है। अत: इसे भी वर्णप्राधान्यविधि कहा जाता है। इससे परिभाषा की प्रवृत्ति होने से प्रत्ययलक्षण के अभाव में 'ङीप्' नहीं होता है।

परिभाषा की आवश्यकता विचार— (क) नागेश मत— यह परिभाषा इसलिये आवश्यक है कि 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[८] यह सूत्र यथाकांचित् जिस किसी[९] भी प्रकार से अल् के आश्रित विधि में (चाहे वह प्रधानरूप अल् का आश्रय करे अथवा अप्रधानरूप से) स्थानिवत् का 'अनल्विधौ' से निषेध करता है। इस प्रकार अल्विधि में स्थानिवत् की अप्राप्ति होने से 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[१०] सूत्र से प्रत्ययलक्षण का विधान किया गया है, उस प्रत्ययलक्षण से जिस कार्य की प्राप्ति होती है, उसकी यह परिभाषा निषेधिका है। यह आवश्यकता नागेश ने प्रतिपादित की है।[११] इसके प्रमाण में 'इति भाष्ये' कहकर 'भाष्य में स्पष्ट है' ऐसा कहा है। टीकाकारों के अनुसार नागेश[१२] का इस सम्बन्ध में निम्न अभिमत है— 'प्रत्ययलोपे०' सूत्र से प्रत्ययलक्षण वहीं होता है, जहाँ प्रत्यय को प्रधानता से आश्रित किया जाता है और अल् का अप्रधानता से आश्रयण किया जाता है। इस प्रकार के अर्थ से यह अर्थापत्ति होती है कि प्राधान्य से अल् (वर्ण) के आश्रित विधि में प्रत्ययलक्षण नहीं होता, यह

---

१. अष्टा० ४/३/२५। २. वही,४/३/१६।

३. वा०का० ४/३/३४ 'चित्रारेवतीरोहिणीभ्य: स्त्रियामुपसंख्यानम्'।

४. अष्टा० १/२/४९ 'लुक् ताद्धितलुकि'।

५. अष्टा० ४/१/१५।

६. अष्टा० ४/१/१४, 'अजाद्यतष्टाप्' से 'अत:' की अनुवृत्ति, वहाँ अण् की अपेक्षा 'अत्' विशेष्य रूपसे गृहीत है— द्र० का० ४/१/१५।

७. अष्टा० ४/१/१५। ८. वही, १/१/५५।

९. अल्विधि मात्र में स्थानिवत् नहीं होता है, द्र० 'अल्विधौ' पद की व्याख्या। प०शे० परि०सं० २१ में तथा गूढार्थ०, गदा, विजया, शा० कला आदि टीकाएँ।

१०. अष्टा० १/१/६२। ११. प०शे०, पृ० १२७।

१२. प०शे० परि०सं० २१ की व्याख्या तथा गदा आदि टीकाएँ।

तात्पर्य सिद्ध होता है। अतः इस तात्पर्य की बोधिका यह परिभाषा प्राचीनों द्वारा पठित है। **(ख) भाष्यकार का मत**— इनके अनुसार प्रकृत परिभाषा की आवश्यकता नहीं है। भाष्यकार के मत में 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' नियम सूत्र है, जिसका अर्थ है कि प्रत्यय का लोप होने पर भी तन्निमित्तक कार्य तभी होते हैं, जब वे कार्य प्रत्यय पर ही निर्भर हों। प्रत्यय के वर्ण या वर्णों पर निर्भर कार्य प्रत्यय के लोप होने पर नहीं होते हैं। इस प्रकार इस पक्ष में प्रकृत परिभाषा की आवश्यकता नहीं है। **(ग) वार्तिककार का मत**— वार्तिककार 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[१] इस सूत्र को विधि सूत्र मानते हैं।[२] अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध होने से प्रतययलोप होने पर वर्णाश्रय कार्य रुक जाता है, यदि यह सूत्र न पढ़ा जाता। यथा 'अतृणेट्' इस प्रयोग में 'इम्' आगम नहीं हो सकता। 'तृणह[३] इम्' सूत्र में हलादि पित् परे होने पर यह विधि कही है— यहाँ वर्ण के विशेषण रूप से ग्रहण होने से 'वर्णाश्रये०' यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। फलतः इनके अनुसार परिभाषा की आवश्यकता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से वर्णनिमित्तक कार्य अर्थात् वर्ण, दूसरे का विशेषण न होकर और प्रत्यय के प्रति विशेष्य होकर, आने पर कार्य की प्राप्ति में 'प्रत्ययलक्षण' कार्य नहीं होता है। इसीलिये 'गोहितम्' इत्यादि उदाहरणों में 'एचोऽयवायावः'[४] सूत्र से ए को मानकर होने वाला अव् आदेश, इस परिभाषा से निषिद्ध हो जाने से नहीं होता, क्योंकि 'ए' रूप अच् का आश्रयण किया गया है। इसी प्रकार 'रैकुलम्'[५] इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'चित्रा' आदि प्रयोगों में भी अणन्त अकारान्त से प्रत्ययलोप होने पर भी 'टिड्ढाणञ्०'[६] सूत्र से ङीप् प्रत्यय नहीं होता है। यहाँ 'अ' वर्ण का विशेष्य रूप से ग्रहण होने से परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है। फलतः प्रत्ययलक्षण के अभाव से ङीप् नहीं होता है, यही सब प्रयोजन हैं।

समीक्षा— पाणिनि ने प्रत्यय का लुक् हो जाने के पश्चात् भी 'प्रत्ययलक्षण' कार्य हो सके, एतदर्थ 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[७] नियम बनाया है। अब यह प्रत्यय-लक्षण कहाँ-कहाँ नहीं होता है? इसका निर्णय यह परिभाषा करती है। यह व्याडि पाठ में नहीं मिलती है। जैनेन्द्र ने कुछ पाठान्तर से पढ़ी है।[८] पुरुषोत्तमदेव ने भी कुछ

---

१. म०भा० १/१/६२।

२. म०भा० वा० १/१/६२, में 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचनं सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य' इस पर म०भा० एवं उ० भी द्रष्टव्य है।

३. अष्टा० ७/३/९२। ४. वही, ६/१/७८।

५. रायः कुलम् 'रैकुलम्' (रे+ङस् कुल+सु) में ऐ का आय् आदेश नहीं होता।

६. अष्टा० ४/१/१५। ७. अष्टा० १/१/६२।

८. 'वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्' जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ४५।

पाठभेद से पढ़ी है।[१] सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में पढ़ा है। इसी का अनुकरण करके नागेश ने भी इसी रूप में प्रस्तुत की है। इस परिभाषा का सामान्य अर्थ तो सभी परिभाषाकारों की व्याख्या में एक समान है। परन्तु नागेश ने इसके प्रवृत्तिविषयकस्थल का भी निर्देश करके परिभाषा के अर्थ को अधिक स्पष्ट किया है। परिभाषा के हेतु और प्रवृत्तिविषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। नागेश ने वर्णप्राधान्यविषयता तथा परिभाषा के मूल का निर्देश किया है। इनके अनुसार यह परिभाषा वार्तिककार के अनुसार 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[२] सूत्र के अर्थ के तात्पर्य से सिद्ध होती है, क्योंकि अप्राधान्य रूप से अल् (वर्ण) के आश्रयण में होने वाले कार्य में प्रत्यय लक्षण होता है।[३] फलत: प्राधान्य रूप से अलाश्रित प्रत्यय विधि में प्रत्ययलक्षण नहीं होता, यह परिभाषा सिद्ध हो जाती है तथा इस प्रकार वर्ण प्रधान विषयता भी स्वभावत: अर्थ से सिद्ध है। जैनेन्द्र ने परिभाषा की प्रवृत्ति विशेष का कोई निर्देश नहीं किया है। उन्होंने परिभाषा को अनित्य माना है।[४] पुरुषोत्तम तथा सीरदेव ने यह परिभाषा 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के द्वितीय 'प्रत्ययग्रहण' से साधित मानते हैं एवं इसका ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार 'श्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्य:'[५] सूत्र में 'श्रवणा' ज्ञापक है।[६] पुरुषोत्तमदेव ने वर्ण प्रधान्य विषय न मानने से इस परिभाषा को अनित्य मानकर वर्णाश्रय में भी प्रत्ययलक्षण मानकर 'अतृणेट्', मित्राशी:' इत्यादि सिद्ध किया है।[७] वस्तुत: इसे वर्णप्रधान्य विषयक मानने से स्वत: यह सिद्ध हो जाता है। सीरदेव ने उक्त रूपों की सिद्धि के लिये उपायान्तर भी बतलाया है।[८] नीलकण्ठ प्रधान रूप से वर्ण को आश्रित करके कार्य करने में इसकी प्रवृत्ति मानते हैं। इसका ज्ञापक 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[९] सूत्र में 'प्रत्यय' ग्रहण को मानते हैं।[१०] हरिभास्कर भी 'प्रत्ययलोपे०' सूत्र में द्वितीय 'प्रत्यय' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं।[११] इस प्रकार सभी ने संक्षेप में परिभाषा का अर्थ किया है, परन्तु नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए परिभाषार्थ को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। नागेश ने परिभाषा का प्रवृत्ति-प्रयोजक वर्ण प्रधान्य का विवेचन किया है। कहाँ-कहाँ वर्ण प्रधानता

---

१. 'वर्णाश्रये प्रत्ययलोपलक्षणप्रतिषेध:' पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ५२।

२. अष्टा० १/१/६२।

३. प०शे०, पृ० १२५ तथा म०भा० वा० १/१/६२ सं० १ एवं वही उ०।

४. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ४५। ५. अष्टा० ४/२/२३।

६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० ५२, सीरदववृत्ति, परि० सं० ७।

७. पुरुषोत्तमवृत्ति,परि०सं०५२। ८. सीरदेववृत्ति परि० सं० ७।

९. अष्टा०१/१/६२। १०. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ९।

११. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०७।

रहती है, इसको बताते हुए उसका फल भी दिखलाया है। 'प्रत्ययलोपे०' सूत्र के अर्थ से सिद्ध 'प्रत्यय लक्षण' की अप्रवृत्तिबोधिका यह परिभाषा है, कोई अपूर्व नहीं, यह भी कहा है। इस प्रकार वार्तिकमत से यह परिभाषा स्वीकार की गई हैं।[१] भाष्यमत में इसकी आवयकता नहीं है।

(७१) प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्।।प० २३।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका होती है कि वाक्यसंस्कारपक्ष में 'देवदत्तचिकीर्षति' इत्यादि[२] प्रयोग में 'सनाद्यन्ता धातव:'[३] सूत्र से 'देवदत्तश्चिकीर्ष' इस देवदत्त विशिष्ट समुदाय की, 'सन्' अन्त में होने के कारण धातु संज्ञा हो जानी चाहिए? पुन: देवदत्त के सहित सम्पूर्ण वाक्य की धातु संज्ञा हो जाने पर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:'[४] सूत्र से धात्ववयव देवदत्त के सुप् (सु प्रत्यय) का लुक् हो जाना चाहिए? क्योंकि इस समुदाय के अन्त में सन् (प्रत्यय) है एवं उसी लुक्भूत समुदाय से लकार आदि की उत्पत्ति होने के कारण देवदत्त विशिष्ट सन्नन्त के आदि की 'सन्यङो:'[५] सूत्र से द्वित्व की प्राप्ति होने लगती है? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— सूत्र में प्रत्ययविशिष्ट का ग्रहण होने पर, वह प्रत्यय ऐसे शब्द रूप का ग्राहक होता है, जिससे प्रत्ययविधान किया है वह आदि होता है, और अन्तत: वह प्रत्यय स्वयं होता है। फलत: जो उस वाक्य में प्रत्यय विधि से पृथक् पद होता है, उसका सामान्य कार्यों में ग्रहण नहीं होता है।

परिभाषा सिद्धि प्रकार— भाष्य में यद्यपि यह सम्पूर्ण परिभाषा एक रूप में ही पठित है तथापि इसका स्पष्ट तात्पर्यबोध कराने के उद्देश्य से नागेश इस परिभाषा के दो (१) यस्मात्तदादिपर्यन्त तथा (२) तदन्तपर्यन्त, अंशों का भिन्न-भिन्न मूल प्रदर्शित करते हुए सूत्रों से ही परिभाषा की सिद्धि दिखलाते हैं। **(क) यस्मात्-तदादि (पर्यन्त) अंश की सिद्धि प्रकार**— इस परिभाषा-अंश की सिद्धि इस प्रकार की जाती है— 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'[६] इस सूत्र का योग विभाग करने पर 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यये'[७] इतना पृथक् सूत्र बन जाता है। इसमें 'गृह्यमाणे उपतिष्ठते'

---

१. प०शे० पृ० १२७ तथा गूढार्थ०, पृ० १२७-१२८।

२. 'देवदत्तो गार्ग्य:' में यञन्तत्व प्रयुक्त प्रातिपदिकत्व की आपत्ति होगी? म०भा० १/४/१३।

३. अष्टा० ३/१/३२।

४. अष्टा० २/४/७१।

५. वही, ६/१/९।

६. अष्टा० १/४/१३।

७. म०भा० १/४/१३।

इतना और अध्याहृत किया जाता है। फलतः ऐसा करने से 'प्रत्ययग्रहण' होने पर जिससे प्रत्यय की विधि है, वह है आदि जिसका, यह तात्पर्य उपस्थित होता है— इस वाक्य के अर्थ का लाभ होकर प्रकृत अर्थ सम्पन्न हो जाता है। **(ख) तदन्तस्य अंश का सिद्धि प्रकार**— परिभाषा में पठित 'तदन्तस्य' इस अंश के अर्थ का लाभ 'येनविधिस्तदन्तस्य' सूत्र से हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण परिभाषा सूत्रों से ही सिद्ध हो जाती है।[१] **(१) सिद्धि प्रकार में शंका**— यहाँ यह शंका हो सकती है कि जहाँ विशेष्य का ग्रहण न किया गया हो, वहाँ 'येन विधि०:'[२] सूत्र से कैसे तदन्तविधि होगी? क्योंकि वहाँ विशेष्य है ही नहीं। **समाधान**— यह है कि जहाँ विशेष्य नहीं होता है, वहाँ भी शब्दस्वरूप विशेष्य का अध्याहार करके तदन्तविधि की जाती है, क्योंकि 'तदन्त' यह पद बहुव्रीहि समासान्त है। इसका अन्य-दार्थ 'शब्द रूप' ही विशेष्य है, क्योंकि दूसरा विशेष्य नहीं हैं। अतः शब्द स्वरूप को विशेष्य मानकर उसके विशेषण से तदन्तविधि[३] हो जाती है। इस प्रकार सूत्र से ही तदन्तविधि सिद्ध हो जाने पर परिभाषा का 'तदन्तस्य' अंश सिद्ध हो जाता है।

परिभाषा की आवश्यकता विचार— (क) प्राचीन मत— प्राचीन[४] लोग परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं समझते हैं। उनका कहना है कि "प्रत्यय ऐसे समुदाय का आक्षेपक-अनुमापक होता है, जिसमें प्रत्यय की प्रकृति अवयव होती है"। वह आक्षेपक होने से उस समुदाय का विशेषण बनता है। इस प्रकार विशेषण से तदन्तविधि हो जायेगी, इस प्रकार प्रकृत परिभाषा व्यर्थ है। **(ख) नागेश मत**— नागेश इस उक्ति का खण्डन करते हैं कि प्राचीनों का कथन ठीक नहीं है। प्रत्यय ऐसे समुदाय का ही आक्षेपक हो, यह नियम नहीं है। प्रत्यय का ऐसे समुदाय के साथ व्यभिचार भी देखा जाता है, जिससे आक्षेप असंभव हो जाता है। यथा 'इयान्'[५] यह प्रत्ययमात्र ही अवशिष्ट है, प्रकृति (इदम्) का सर्वापहारी[६] लोप हो गया है। यहाँ आक्षेप संभव नहीं है। इसी प्रकार अस्यापत्यं[७] 'इः' यहाँ भी प्रत्यय मात्र है, प्रकृति से व्यभिचार स्पष्ट ही है। यदि

---

१. प०शे०, पृ० १३२-१३३।

२. 'येन विधिस्तदन्तस्य', अष्टा० १/१/७२।

३. गूढार्थ०, पृ० १३३, पं० ७-१२।

४. नीलकण्ठ।

५. इदम् परिमाणमस्य— 'इयान्' इदम् शब्द, अष्टा० ५/२/४० से वतुप् तथा को घ, इय् आदेश, इदम्=इयत् में अष्टा० ६/३/९० से इदम् का ईश् आदेश, उसका अष्टा० ६/४/१४८से लोप होकर 'इदत्' प्रत्यय मात्र का प्र०वि०ए० का रूप।

६. भिन्न-भिन्न सूत्रों द्वारा सम्पूर्ण पद का लोप।

७. 'अ' शब्द से अष्टा० ४/१/९५ से 'इञ्' प्रत्यय, प्रकृति का लोप अष्टा० ६/४/१४८ से होकर 'इ' का प्र०वि०ए० का रूप।

प्रत्यय अपनी प्रकृति का अव्यभिचारी होता है तो उक्त समुदाय के आक्षेप करने के कारण तदादि और तदन्त अंश दोनों का लाभ हो जाता? परन्तु ऐसा प्राप्त नहीं होता है। अत: परिभाषा को मानना चाहिए।[१]

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल— इस परिभाषा के दोनों अंशों (तदादि और तदन्त) की प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषय में प्राचीनों और नवीनों में मतभेद है। **(क) प्राचीन मत**[२] इनके अनुसार इस परिभाषा से दोनों ही अंशों की प्रवृत्ति एक साथ ही होती है और 'प्रत्ययग्रहणे चा पञ्चम्या:'[३] इस परिभाषा से निषेध भी दोनों ही अंशों का होता है। **(ख) नागेश मत**[४]— इनके अनुसार दोनों ही (तदादि और तदन्त) अंश स्वतन्त्र हैं। दोनों की पृथक्—पृथक् प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है, एक का निषेध हो जाने पर भी अन्य की प्रवृत्ति होती है। कहीं केवल तदादि अंश की ही प्रवृत्ति होती है, जिसको नागेश ने इस प्रकार स्पष्ट किया है। **(अ) तदादि मात्र की उपस्थिति**— जहाँ प्रत्यय कार्य का निमित्त होता है, वहाँ परिभाषा का 'तदादे:' यही अंश प्रवृत्त होता है अर्थात् वहाँ प्रत्यय मात्र लिया जाता है, प्रत्ययान्त नहीं और कार्य केवल उसी को होता है, जिससे प्रत्यय विहित है। कार्यी यहाँ षष्ठी-निर्दिष्ट होता हैं यथा— 'सुपि[५] च', 'स्यतासी ॡलटो:,'[६] 'केऽण:'[७] इत्यादि सूत्रों में प्रत्यय की 'प्रत्ययग्रहणेचापञ्चम्या:' से 'तदन्त' अंश का निषेध हो जाता है। इस परिभाषा के केवल 'तदादि' की ही उपस्थिति होती है। इसी प्रकार अन्यत्र सूत्रों में भी यह 'तदादि' उपस्थित होकर कार्य सिद्ध कराता है।[८] **(१) उक्त अर्थ में प्रमाण**— इस 'तदादि' की उपस्थिति के सम्बन्ध में 'अङ्गस्य'[९] इस सूत्र का भाष्य और कैयट प्रमाण हैं। वहाँ के भाष्य और कैयट में स्पष्ट ही इस

---

१. प०शे०, पृ० १३५।

२. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर।

३. प०शे० परि० सं० २४। ४. प०शे० पृ० १३५, पं० ३।

५. अष्टा० ७/३/१०२, इसमें अवधि की आकांक्षावश 'अङ्ग' का अवधि रूप से अन्वय होने से प्रत्यय पञ्चम्यन्त से परे है ही।

६. अष्टा० ३/१/३३ में भी धातु का अन्वय होने से प्रत्यय पञ्चम्यन्त से परे है ही।

७. अष्टा० ७/४/१३।

८. 'अच: कर्तृयकि' अष्टा० ६/१/९५ में उपस्थित होकर 'यक्' प्रत्यय में 'तदादि' का ही ग्रहण होने से 'केदारो लूयते' में 'क' के 'ए' को कार्य की आपत्ति नहीं होती।

९. म०भा० ६/४/१ में 'प्रत्यये' इस न्यास पर शंका तथा समाधान तथा इसी पर द्रष्टव्य प्र० 'सिद्ध' भाष्य प्रतीक की व्याख्या "यत्र प्रत्ययो निमित्तत्वेनोपादीयते, तत्र पूर्व: कार्यित्वेन गृह्यमाणो यस्माद्विहितस्तदादिर्गृह्यते" आदि।

परिभाषा का आश्रयण करके 'तदादि' अंश मात्र की ही उपस्थिति दिखलाई गई है अर्थात् 'प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः से तदन्तविधि का निषेध होने से 'तदादि' की ही उपस्थिति होती है।[१] इसका स्पष्टीकरण 'येन विधिस्तदन्तस्य'[२] इस सूत्र के भाष्य एवं उद्योत[३] में किया गया है। **(आ) तदादि की अन्य स्थल पर उपस्थिति**— इसी प्रकार जहाँ भी पञ्चम्यन्त से परे निर्दिष्ट हुआ प्रत्यय कार्य का कथंचित् निमित्त होता है, वहाँ भी 'तदादि' अंश की उपस्थिति[४] होती है। इसका लाभ यह होता है कि उपस्थित को तदादि विशेष्य मानकर उस पञ्चम्यन्त रूप में तदन्त विधि होकर तदन्त की ग्राहक होकर कार्य सिद्ध करती है। ऐसे स्थल पर प्रत्ययमात्र ही लिया जाता है, प्रत्ययान्त नहीं।[५] पञ्चम्यन्त उसका विशेषण होता है, जिससे प्रत्यय आता है। **(१) पञ्चम्यन्त का लाभ**— 'तदादि' के उपस्थित होने से ही 'एङ्ह्रस्वात्[६] सम्बुद्धेः' इस सूत्र में 'एङन्त से परे' इस अर्थ का लाभ होता है, क्योंकि उसमें 'सम्बुद्धिः' पञ्चम्यन्त से परे है, प्रत्यय नहीं (पञ्चम्यन्त से विशिष्ट है) फलतः इसका अर्थ[७] माना जाता है कि 'सम्बुद्धि प्रत्यय के हल् का लोप होता है, जब वह सम्बुद्धि प्रत्यय एङन्त से परे हो'। इसी प्रकार निम्न स्थल 'अतो भिस ऐस्'[८] इत्यादि में 'तदादि' अंश मात्र की उपस्थिति होती है। क्योंकि अकारान्त अंग से परे भिसन्त दुर्लभ है।[९]

परिभाषा का अप्रवृत्ति स्थल— यह परिभाषा वही प्रवृत्त होती है जहाँ उपात्त शब्दरूप प्रत्यय ही हो, अप्रत्यय न हो। जो शब्द रूप प्रत्यय भी हो और प्रत्ययेतर भी हो, उसके उपादान में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है।[१०] ऐसा 'उगितश्च'[११] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है। वहाँ भाष्य में कहा है कि 'उगितश्च' का उगित् उक् इत् यस्य- 'उगित्' शब्दरूप वर्ण भी हो सकता है, प्रत्यय भी हो सकता है और

---

१. उ० ६/४/१, कैयट प्रतीक 'पूर्व' पर कृत व्याख्यान।

२. म०भा० १/१/७२। ३. उ० १/१/७२।

४. प०शे०, पृ० १३६, पं० १-२।

५. यथा 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' में निष्ठा का ही 'त' गृहीत होता है, निष्ठा प्रत्ययान्त का नहीं।

६. का० ६/१/५९। ७. म०भा० ६/१/६९, तथा का०।

८. अष्टा० ७/१/९।

९. अतः 'भिस्' मात्र का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'रदाभ्यां निष्ठातो नः०' में निष्ठान्त तथा 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धिः' में सम्बुद्ध्यन्त का ग्रहण असंभव है। अतः 'तदादि' की उपस्थिति।

१०. प०शे०, पृ० १३८। ११. म०भा० ४/१/६।

प्रातिपदिक भी हो सकता है। अत: निर्गोमान्,[१] निर्यवमान् यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति न होने से जैसे 'गोमत्' उगिदन्त है, वैसे ही 'निर्गोमत्' भी है, अत: 'निर्गोमत्' से भी ङीप् होकर निर्गोमती, निर्यवमती आदि सिद्ध होते हैं। यद्यपि उगित् प्रत्यय 'मतुप्' 'गो' से विधान किया है, 'निर्गो' से नहीं। इस प्रकार ऐसे स्थल पर भी परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है— यह समझना चाहिए।

परिभाषा का प्रयोजन— उपर्युक्त स्थलों पर परिभाषा के अंश तदादि की कहाँ कहाँ उपस्थिति होती है? यह और उसका उदाहरण भी दर्शाया गया है। परन्तु अब सम्पूर्ण परिभाषा (तदादि व तदन्त दोनों की उपस्थिति रूप) का प्रयोजन इस प्रकार है। जहाँ प्रत्यय स्वयं कार्यी है, जिसका विधिशास्त्र में कार्य विधान किया गया है, वहाँ समुदित अंश के साथ परिभाषा प्रवृत्त होती है। फलत: प्रत्ययग्रहण में धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, तद्धित आदि संज्ञाएँ तदादि, तदन्त शब्द स्वरूप की होती है।[२] इससे सन्नन्त की धातु संज्ञा में 'सनाघन्ता[३] धातव:' सूत्र से, जिससे सन् प्रत्यय हुआ है, तदादि तथा तदन्त (वह सन् प्रत्यय है अन्त जिसका उसकी) की धातु संज्ञा होने से कृ+स'= चिकीर्ष[४] समुदाय की धातु संज्ञा हो जाती है। पुन: 'देवदतश्चिकीर्ष' इस देवदत्त सहित संघात की नहीं होती है। इसी प्रकार 'कृत्तद्धिसमासाश्च',[५] 'बहुगणवतुडति[६] संख्या', 'सुप आत्मन:[७] क्यच्' इत्यादि में उभयांश की उपस्थिति होती है। यथा कृत्तकीद्धितान्त प्रातिपदिक संज्ञा तदादि तदन्त की ही होती है— कारक:, गार्ग्य:। संघात की नहीं— विप्र: कारक:,[८] विप्र: गार्ग्य:। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी समझने चाहिए।[९] इस समग्र परिभाषा को स्वीकार करने के विषय में तथा सम्पूर्ण के प्रयोजन के विषय में.

---

१. गोमतो निष्क्रान्त:—निर्गोमान् निर् पूर्वक 'गो' शब्द, मतुप् प्रत्यय, गोमत् का प्र०वि०ए० का रूप एवं यवमतो निष्क्रान्त:—निर्यवमान् निर् पूर्वक यवमत् का प्र०ए०वि रूप।

२. म०भा० १/४/१३, परिभाषा प्रयोजन।

३. अष्टा० ३/१/३२।

४. कृ धातु, सन् प्रत्यय, दीर्घ, ह्रस्व, रपरत्व, पुन: दीर्घ, द्वित्व (कीर्+कीर्) हलादि शेष, ह्रस्व, चुत्व एवं मूर्धन्य होकर निष्पन्न रूप।

५. का० १/२/४६। ६. का० १/१/२३।

७. का० ३/१/८।

८. इसमें 'कृ' धातु से ण्वुण् (अष्टा० ३/१/१३३) प्रत्ययान्त कारक, तदादि तदन्त कृदन्त की ही प्रातिपदिक संज्ञा, विप्रसहित नहीं।

९. इसी प्रकार 'वतु' से तदादि तदन्त यावत्, तावत् का बोध। 'डत्' से तदादि तदन्त कतर, कतम का बोध— इसी प्रकार अन्य भी समझना चाहिए।

नागेश ने 'येन विधिस्तदन्तस्य'[१] सूत्रस्थ भाष्य का प्रमाण देते हुए प्रयोजनों को स्पष्ट किया है।[२] उक्त भाष्य में 'परमगार्ग्यायण:'[३] उदाहरण दिया गया है। परमश्चासौ गार्ग्यश्च 'परमगार्ग्य', 'परमगार्ग्यस्यापत्यम्' इस विग्रह में 'यञिञोश्च'[४] सूत्र से यञन्त से फक् प्रत्यय होकर 'परमगार्ग्यायण:' ऐसा रूप सिद्ध होता है। यहाँ प्रत्यय यञन्त गार्ग्य से होता है, परमत्व विशिष्ट 'परमगार्ग्य' से नहीं क्योंकि 'यञिञोश्च'[५] इस सूत्र में इस परिभाषा की उपस्थिति होने से 'यञ्' से 'गर्ग-यञ्' (गार्ग्य) ही तदादि तदन्त हो सकता है, उसी का ग्रहण होगा। फलत: गार्ग्य शब्द से ही फक्[६] प्रत्यय होता है, विशिष्ट 'परमगार्ग्य' से नहीं। अन्यथा तदादि अंश की अनुपस्थिति में तो 'परमगार्ग्य' के भी यञन्त होने से उससे भी फक् हो जाता, जिससे 'पारमगार्ग्यायण:' ऐसे अनिष्ट रूप की प्राप्ति होने लगेगी। **उदाहरण में शंका**— यहाँ यह शंका होती है कि केवल गार्ग्य से किस प्रकार 'फक्' प्रत्यय होता है क्योंकि समस्त पद ही एक अर्थ को कहता है? **समाधान**— समास के स्वार्थीभाव के सम्बन्ध में प्राचीन एवं नवीन आचार्यों में मतभेद है।[७] **प्राचीन मत**— इस मत में एकार्थीभाव प्रत्येक पद में भिन्न-भिन्न हो सकता है। इनके अनुसार 'परम' शब्द का गार्ग्य शब्द के साथ समास में जो एकार्थी भाव, वह एक हुआ, तथा गार्ग्य से 'फक्' प्रत्यय में दूसरा हुआ है।[८] **नवीन मत**— परन्तु नवीन मत में समास में जो एकार्थीभाव है, वह एक ही होता है, भिन्न-भिन्न नहीं होता है। इस प्रकार यहाँ 'फक्' प्रत्यय नहीं होना चाहिए? परन्तु केवल 'गार्ग्य' इससे भी वृत्ति होती है। यद्यपि 'परमगार्ग्य-फक्' में फक् के अर्थ का सीधा अन्वय समुदाय से पृथग्भूत केवल 'गार्ग्य' अर्थ के साथ नहीं है, प्रत्युत समुदित परमगार्ग्य के साथ है तो भी निस्सन्देह तद्धितप्रत्यय फक्-निकृष्ट 'गार्ग्य' से ही किया गया है।[९] उक्त अर्थ में 'येन विधिस्तदन्तस्य'[१०] सूत्र का भाष्य ही प्रमाण है कि केवल गार्ग्य से एकार्थीभाव के अभाव में भी वृत्ति होती है। इस प्रकार भाष्यप्रमाण से अवयवों में पृथक् एकार्थीभाव न मानकर केवल गार्ग्य से भी वृत्ति होती है। इसलिए नागेश कहते हैं कि 'वही[११] एकार्थीभाव

---

१. म०भा० १/१/७२। २. प०शे०, पृ० १३७, पं० १-४।

३. परम का गार्ग्य यञन्त अपत्यवाची के साथ समास होकर युवापत्य में (अष्टा० (४/१/१०१ से) यञन्त गार्ग्य से फक् तथा 'आयन्' अष्टा० ७/१/२) एवं 'न्' का णत्व होकर निष्पन्न रूप।

४. अष्टा० ४/१/१०१। ५. वही, ४/१/१.१।

६. अष्टा० ४/१/१०१। ७. तत्वा०, पृ० ३९, पं० ११-१४।

८. वही, पृ० ३९।

९. उ० ४/१/१४ 'कुम्मकारी' शब्द में शंका आदि।

१०. उ० १/१/७२। ११. प०शे०, पृ० १३७, पं० ४।

वृत्ति में निमित्त है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है'। इसको प्रदीप एवं उद्योत[१] में स्पष्ट किया गया है।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा द्वारा प्रत्ययों के सम्बन्ध में तदन्तविधि के विषय की स्पष्टता कही गई है। जहाँ प्रत्ययों का ग्रहण करके कार्य विधान किया गया है, वहाँ किस प्रकार के प्रत्यय का ग्रहण होगा, प्रत्यय अन्त में जिसके, ऐसे प्रत्ययान्त का ग्रहण होगा? अथवा प्रत्ययान्त शब्द है अन्त में जिसके, उसका ग्रहण होगा?। यह परिभाषा व्याडि ने नहीं मानी है।[२] भोज ने कुछ पाठभेद से मानी है।[३] पुरुषोत्तमदेव ने 'ग्रहणम्' शब्दरहित पाठ स्वीकार किया है।[४] सीरदेव आदि[५] का अनुकरण करके नागेश ने पाठ स्वीकार किया है। परिभाषा का अर्थ सभी परिभाषा व्याख्याकारों में लगभग समान ही है, केवल अस्पष्टता एवं स्पष्टता का अन्तर है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर सभी ने परिभाषा का एक मत से यह अर्थ लिखा है कि "प्रत्यय के ग्रहण करके कार्य किये जाने पर जिससे वह विहित है, उसके तदादिभाग का तथा वह जिसके अन्त में हो, ऐसे प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है"।[६] इस प्रकार इन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि कहाँ तदादि तदन्त दोनों संघातों का ग्रहण होता है? कहाँ केवल तदादि का ग्रहण होता है। यद्यपि प्रदत्त उदाहरणों से कुछ प्रतीत हो जाता है। नीलकण्ठ ने अर्थ स्पष्ट नहीं किया है।[७] नागेश ने इस परिभाषा का अर्थ कैयट[८] के अनुसार किया है। इनके अनुसार यह परिभाषा दो परिभाषा सूत्रों का निष्कर्ष रूप है।[९] अत: इसके दो रूप हैं।[१०] फलत: कहीं केवल तदादि की उपस्थिति होती है और कहीं केवल तदन्त की ही उपस्थिति होती है इसका स्पष्टत: विस्तार से प्रयोजन सहित प्रतिपादन किया है।[११] इस परिभाषा के मूल तथा सिद्धि प्रकार के विषय में सभी का समान मत है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और हरिभास्कर यह परिभाषा 'यस्मात् प्रत्ययविधि०'[१२] के यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि

---

१. प्र० १/१/७२। २. व्याडिवृत्ति।

३. 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेरपञ्चम्या:' भोजवृत्ति, परि० सं० ७।

४. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि॰सं॰४४। ५. नीलकण्ठ,हरिभास्कर।

६. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। ७. नीलकण्ठ वृत्ति, परि० सं० ३१।

८. प्र०६/४/१ 'सिद्धं तु'की व्याख्या, तुलना प०शे० 'यत्र प्रत्ययानिमित्त०' एवं द्रष्टव्य प्र० १/१/७२।

९. प०शे०, पृ० १३२-१३३ 'यस्मात् प्रत्ययविधि०' (१/४/१३) 'येनविधि०' (१/१/७२)।

१०. प्रथम 'तदादे:' द्वितीय 'तदन्त' अंश।

११. प०शे० पृ० १३५-१३७। १२. अष्टा० १/४/१३।

प्रत्यये' योगविभाग से साधित मानते हैं।[१] तदन्त अंश के विषय में कुछ नहीं कहते हैं। प्रतीत होता है कि ये लोग सम्पूर्ण परिभाषा का एकरूप ही मानते हैं। नीलकण्ठ ने प्रथम परिभाषा के दोनों अंशों तदादि तदन्त को क्रमशः 'यस्मात् प्रत्यय विधि०' के योग विभाग से तथा 'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र से सिद्ध माना है।[२] नागेश ने इन्हीं का अनुकरण किया है। परिभाषा के तदादि, तदन्त अंश को पृथक्-पृथक् दो सूत्रों से सहेतुक सिद्ध किया है। प्रसंगतः परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादक नीलकण्ठ के उस वचन का, जिसमें कहा है कि 'प्रत्यय अपनी प्रकृति अवयव वाले समुदाय का अनुमापक होने के फलस्वरूप समुदाय का विशेषण मानकर तदन्त विधि सुलभ है, परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं— सहेतुक खण्डन किया है।[३] नागेश इस परिभाषा के प्रवृत्तिस्थल का भी निर्देश करते[४] है। प्राचीन किसी भी परिभाषा व्याख्याकार ने निर्देश नहीं किया है। पुरुषोत्तमदेव आदि ने भाष्य के अनुसार प्रयोजन का विस्तार से प्रतिपादन किया है। नागेश ने अधिक प्रयोजन नहीं दिया है। इस प्रकार नागेश ने इस परिभाषा को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इनकी व्याख्या महत्त्वपूर्ण है।

(७२) प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः।।प० २४।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रस्तुत परिभाषा प्रत्ययग्रहण में तदन्तविधि के प्रसंग में कुछ विशेष का निर्णय करती हैं इससे पूर्व 'प्रत्ययग्रहण०'[५] परिभाषा से यह निश्चित किया गया है कि जिस सूत्र में प्रत्यय को मानकर कार्य किया जाता है, वह प्रत्यय स्थल में तदादि, तदन्त दोनों अंशों का ग्रहण करके कार्य होता है। परन्तु सर्वत्र ही 'प्रत्यय ग्रहण' में दोनों[६] अंशों की उपस्थिति मानने से दोष उपस्थित होने लगता है। कहीं प्रत्यय ग्रहण में तदन्त अंश (तदन्त विधि) नहीं भी उपस्थित होता है और किस स्थल पर तथा कैसी परिस्थिति में 'प्रत्ययग्रहण' में तदन्तविधि नहीं होती है। इस परिभाषा में इसी विषय का निर्णय किया गया है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— (यदि सूत्र में) पञ्चम्यन्त से परे प्रत्ययग्रहण हो तो उस प्रत्यय में तदन्त विधि नहीं होती है अर्थात् प्रत्यय का तदन्त रूप में ग्रहण न करके स्वरूप का ही ग्रहण होता है।

परिभाषा का आशय— 'अपञ्चम्याः' पञ्चमी विभक्ति के एक वचन का रूप है। नागेश ने इसका अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है। 'सूत्र में जहाँ पञ्चम्यन्त से परे

---

१. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। २. नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० ३१।

३. प०शे०, पृ० १३४-१३५। ४. प०शे०,पृ० १३८।

५. प०शे० परि०सं० २३ 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्'।

६. तदादि तथा तदन्त प० शे० परि०सं० २३।

कार्यान्तर विधान के लिए (अपने ही विधान के लिए नहीं) प्रत्यय का ग्रहण किया गया है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती हैं'। अर्थात् अवधि वाला परत्वविशिष्ट प्रत्ययबोधक पद तदन्त का बोधक नहीं होता है[१]— यह अर्थ फलित होता है।

परिभाषा का फल— (क) प्रस्तुत परिभाषा के फलस्वरूप 'रदाभ्यां' निष्ठातो[२] नः पूर्वस्य च दः' इस सूत्र में निष्ठाप्रत्यय=(त) में तदन्तविधि का इस परिभाषा से निषेध होकर कार्य सिद्ध होता है। यहाँ पञ्चम्यन्त 'रदाभ्याम्' से परे निष्ठा (प्रत्यय) पठित है, जिसका यहाँ विधान नहीं किया गया है, उसे कार्यान्तर (नत्व) विधान करने के लिए उसका अनुवाद रूप में पाठ है, फलतः तदन्त विधि नहीं होती है। इस प्रकार तदन्त विधि न होने से तदादि अंश के होने से 'दृषत्तीर्णा'[३] (दृषत्+तृ+ता, दृष्द्+तर्+ता) इत्यादि उदाहरणों में निष्ठा के 'त'[४] को 'न' होता है, धातु के त को न नहीं होता है और पूर्ववर्ती, दृषद् के 'द्' का भी न् नहीं होता है। अन्यथा धातु के तकार तथा उससे पूर्व दृषद् के 'द्' का भी न् हो जाता।

(ख) तदादि अंश की उपस्थिति में उक्त सूत्र का अर्थ— यद्यपि इस परिभाषा से 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्०' के 'तदन्तस्य' अंश का निषेध होने पर उक्त अंश उपस्थित नहीं होता है। तथापि 'तदादि' अंश का निषेध न होने से वह उपस्थित होता है।[५] 'तदादेः' अंश के उपस्थित होने से सूत्रार्थ इस प्रकार होता है, 'निष्ठा प्रत्यय त का न होता है जब यह प्रत्यय, उस शब्दरूप से परे हो, जिससे त प्रत्यय विधान किया गया है, और वह प्रकृति रेफान्त हो अथवा दकारान्त हो'— यथा 'त'-तृ ('तीर्' से परे आता है)। अतः 'दृषत्तीर्णाः' साधु रूप है। **(अ) शंका**— 'तदन्त' अंश की उपस्थिति का निषेध होने पर 'तदादि' अंश की भी उपस्थिति नहीं होनी चाहिए? पुनः उपर्युक्त कैसे हो सकेगा? **समाधान**— तदादि अंश नहीं उपस्थित होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि गुण परार्थ (पर के लिए) हैं, यह न्याय है एवं तदादि, तदन्त यह दोनों पृथक् स्वतन्त्र रूप से गृहीत हैं,दोनों परस्पर आश्रित नहीं है। यहाँ केवल तदन्त अंश का निषेध होता है, तदादि तो उपस्थित होता ही है, जिससे उपर्युक्त अर्थ का लाभ होकर निष्ठा के अवयव 'तीर्' के 'त्' का 'न्' होना रूप दोष नहीं होता। इस प्रकार तदादि की उपस्थिति होती ही है।[६]

---

१. प०शे०, पृ० १४३,पं० ४ एवं पृ० १४४ पं० १ ली।

२. अष्टा० ८/२/४२।

३. दृषत् उपपद पूर्वक, तृ धातु, निष्ठा क्त प्रत्यय, दीर्घ, इत्व, रपरत्व, उपधादीर्घ, निष्ठानत्व,स्त्रीलिङ्ग में आप् आदि होकर प्र० वि०ए० का रूप।

४. 'निष्ठा' अष्टा० ३/२/१०२। तथा 'क्तक्तवतू निष्ठा' अष्टा० १/१/२६।

५. प०शे०, पृ० १४४, पं० ३। ६. प०शे०, पृ० १४५, पं० १-२।

परिभाषा के अभाव में दोष— यदि परिभाषा से तदन्त अंश का निषेध न माने तो तदन्त अंश की भी यहाँ उपस्थिति होगी और 'तदादेः' अंश की भी, जिसकी अनुपस्थिति में कोई प्रमाण नहीं है। तब दोनों अंशों से तदादि, तदन्त 'तीर्+त' इस एक शब्दरूप का बोध होगा। इस अवस्था में 'दृषत्तीर्णा' निश्चय ही असाधु होगा एवं तब 'रदाभ्याम्०'[१] सूत्र का अर्थ होगा, 'र, द् से परे, जो तदादि निष्ठान्त, उसके तकार का न होता है, और उस तदादि, तदन्त (तीर-त्) से पूर्व द् का भी न होता है'। फलतः 'आदेः परस्य'[२] सूत्र से 'तीर्+त' के आदि 'त्' का नत्व हो जायेगा और दृषद् के 'द्' का भी, जिससे 'दृषन्नीर्णा' यह अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा। इस प्रकार इस परिभाषा से तदन्त निषेध होकर तदादि अंश की उपस्थिति से सूत्र का यथोचित अर्थ सिद्ध होता है। फलतः इस परिभाषा को मानना चाहिए।

परिभाषा की प्रवृत्ति में शंका— 'स्यतासी[३] लृलुटोः' सूत्र में लृ, लुट् प्रत्यय के पञ्चम्यन्त से परे न होने से अथवा पञ्चम्यन्त से विशिष्ट न होने से 'लृलुडन्त तदादि परे' ऐसा अर्थ होना चाहिए? **समाधान**— उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'लृट्, लुट् परे होने पर' इस अर्थ (किससे पर- यहाँ) नियम से अवधि की आकांक्षा होने से 'धातोः'[४] यह उपस्थित होता है और इसे ही अवधि माना जाता है। अतः यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति होने से तदन्तविधि नहीं होती है।[५]

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल— यह परिभाषा 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं'[६] हल्' इस सूत्र के 'ङी' 'आप्' अंश नहीं प्रवृत्त होती है। ङी तथा आप् तदन्तविधि से ङ्यन्त तथा आबन्त के ग्राहक होते ही हैं, क्योंकि यहाँ 'स्यतासी लृलुटोः'[७] की तरह परत्व विवक्षित नहीं है, क्योंकि पञ्चम्यन्त प्रत्ययों (ङीप्, आप्) का विशेषण नहीं बन सकता है। अतः किसी अवधि की आकांक्षा नहीं होती है, इसलिए तदन्तविधि का प्रतिषेध नहीं होता है। तदन्तविधि से इष्ट सिद्ध हो जाता है। 'सु, ति, सि' अंश में तो यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, क्योंकि वहाँ पञ्चम्यन्त विशेषण बन जाता है। **(क) अङ्गसंज्ञा सूत्र में प्रवृत्ति**— अङ्गसंज्ञा विधायक 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'[८] सूत्र में तो प्रत्यय परे रहते हुए— इस अर्थ में अवधि की नियम से आकांक्षा होने से, तदादि का ही अवधित्वेन अन्वय होता है। इस प्रकार प्रत्यय, पञ्चम्यन्त से परे अथवा पञ्चम्यन्त से विहित है। फलतः पञ्चम्यन्त प्रत्यय का विशेषण है ही। इसलिए प्रकृत परिभाषा

---

१. अष्टा० ८/२/४२। २. वही, १/१/५४।
३. अष्टा० ३/१/३३। ४. अष्टा० ३/१/९१।
५. प०शे०, पृ० १४६, पं० २-४ एवं गूढार्थ०, पृ० १४६।
६. अष्टा० ६/१/४८। ७. अष्टा० ३/१/३३।
८. अष्टा० १/४/१०।

की प्रवृत्ति होने से, तदन्तविधि नहीं होती है। इस प्रकार यहाँ प्रत्यय से 'प्रत्यय मात्र' का ही ग्रहण होता है, प्रत्ययान्त का नहीं। **(ख) उक्त अर्थ में प्रमाण**— सप्तमी निर्देशों में उक्त रीति से 'पर' शब्द का अध्याहार किया जाता है। फलत: इस परिभाषा से तदन्त अंश का निषेध स्वीकार कर लिया जाता है, जिससे 'उत्तमैकाभ्यां[१] च' आदि सूत्र निर्देश[२] संगत होते हैं, अन्यथा प्रत्यय आदि तदन्त विधि से प्रत्ययान्त का ग्राहक हो तो प्रत्ययान्त के परे होने पर पूर्व 'एक' शब्द की अंग संज्ञा ही नहीं हो सकती, क्योंकि 'एक' शब्द से परे प्रत्ययान्त है ही नहीं, अत: सुबन्त परे न होने से 'एक' शब्द में 'सुपि च'[३] सूत्र से दीर्घ भी नहीं हो सकेगा तथा 'पर' शब्द का अध्याहार करके जो निषेध किया है वह भी विशेषणविशेष्यभाव को पृथक्-पृथक् जानने पर ही होता[४] है। इस प्रकार तदन्त विधि का निषेध होकर कार्य सिद्ध हो जाता है।

परिभाषा का प्रयोजन— पञ्चम्यन्त से परे प्रत्यय के ग्रहण में तदन्तविधि न हो सकने से निम्न प्रयोग सिद्ध होते हैं। यथा 'रदाभ्यां निष्ठातो०'[५] सूत्र में निष्ठान्त अवयव 'त' अर्थ नहीं लिया जाता है, किन्तु केवल निष्ठा के साक्षात् स्वरूपभूत 'त' का ही ग्रहण होता है, इसी से 'दृषत्तीर्णा'[६] में निष्ठान्त 'तीर+त' में 'ती' में 'त' का 'न' नहीं होता है। इसी प्रकार 'स्यतासी[७] लृलुटो:' में 'लृ, लुडन्त परे रहते' ऐसा अर्थ नहीं होता है, क्योंकि वहाँ भी इस परिभाषा से तदन्त अंश का निषेध होकर 'लृट् लुट् परे' ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— इस परिभाषा द्वारा तदन्त विधि के विषय में कुछ विशेष निर्णय किया जाता है।[८] यह परिभाषा 'येन विधिस्तदन्तस्य'[९] सूत्र के भाष्य में तदन्त विधि के प्रयोजन प्रतिपादन के अवसर पर कुछ भिन्न[१०] रूप से पढ़ी गयी है। तथापि उससे यह अर्थ फलित होने से इसका 'प्रत्ययग्रहणे' रूप में पाठ किया गया है। प्राचीन परिभाषा ग्रन्थों में केवल नीलकण्ठ वृत्ति में प्राप्त होती है।[११] नागेश यह परिभाषा 'प्रत्ययग्रहणे०'[१२]

---

१. अष्टा० ५/४/९०।

२. 'उत्तमैकाभ्यां च' अष्टा०५/४/९०, 'रदाभ्याम्', अष्टा०८/२/४२ आदि निर्देश।

३. अष्टा० ७/३/१०२।

४. प०शे०, पृ०१४८ एवं गूढार्थ०, पृ० १४८, पं० ६-७।

५. अष्टा० ८/२/४२।

६. दृषत् उपपद, तृ धातु, निष्ठा 'क्त' प्रत्ययान्त, स्त्रीलिङ्ग का प्र०वि०ए० का रूप।

७. अष्टा० ३/१/३३।

८. तत्त्वा०,पृ० ४०-४२।

९. अष्टा० १/१/७२।

१०. 'प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्या:'म०भा० १/१/७२।

११. नीलकण्ठवृत्ति परि०सं०३२।

१२. प०शे० परि० सं० २३।

परिभाषा के तदन्त-अंश का अपवाद मानते हैं तथा उसी आधार पर व्याख्या भी करते हैं।[१] नीलकण्ठ इस परिभाषा का सामान्य अर्थ करते हुए संक्षेप में प्रयोजन दिखाकर निवृत्त हो जाते हैं।[२] परन्तु नागेश प्रत्ययविधि में प्रवृत्ति की शंका का निवारण करते हुए स्पष्टत: अर्थ लिखते हैं। उक्त स्थल में तदन्तविधि नहीं होती, किन्तु तदादि अंश तो उपस्थित ही हो जाता है। इस प्रकार परिभाषा का फल सूत्र में दिखाते हुए नागेश ने उदाहरण सिद्ध किया है तथा परिभाषा न मानने पर दोष भी दिखलाया है। प्रसंगत: परिभाषा की अप्रवृत्ति की शंका तथा प्रवृत्ति से उत्पन्न दोषों की शंका का सप्रमाण विस्तार से समाधान किया है।[३] इस प्रकार परिभाषार्थ स्पष्ट हो जाता है।

(७३) स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न।।प० २६।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रत्ययग्रहण में तदादि, तदन्त विषय होने पर परमकारीषगन्ध्याया: पुत्र:— परमकारीषगन्धीपुत्र:'[४] यहाँ ष्यङन्त[५] (य) का सम्प्रसारण[६] नहीं होना चाहिए, यदि 'परमकारीषगन्धीपुत्र:' यहाँ सम्प्रसारण करने के लिए तदादिनियम का परित्याग कर दिया जाय[७] तो यहाँ जिस प्रकार केवल ष्यङन्त मानकर सम्प्रसारण होता है। ठीक इसी प्रकार 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्र:'[८] यहाँ भी ष्यङन्त मानकर सम्प्रसारण होना चाहिए। यदि तदादि नियम मानते ही हैं तो 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्र:' की भाँति 'परमकारीषगन्धीपुत्र:' में भी सम्प्रसारण नहीं होना चाहिए।[९] ष्यङन्त तदादि नहीं है। इस अवस्था के समाधानार्थ प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— स्त्रीप्रत्यय का ग्रहण होने पर अनुपसर्जन (प्रधान) स्त्रीप्रत्यय (स्त्रीत्व अर्थ को कहने वाले) के विषय में तदादि नियम नहीं लगता है।

परिभाषा का आशय— 'अनुपसर्जने स्त्रीप्रत्यये च (तु) न' प्राचीनों द्वारा पठित, सप्तम्यन्त पद घटित इस परिभाषा की नागेश स्वयं व्याख्या करते हें। 'स्त्रीप्रत्यय' शब्द से यहाँ स्त्री प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता है, अपितु स्त्री प्रत्यय मात्र का ही ग्रहण

---

१. प०शे०,पृ० १४३ तथा गदा, पृ० ४९-५०।

२. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०३२। ३. प०शे०, पृ० १४३-१४८।

४. परमकारीषगन्ध्या का पुत्र के साथ षष्ठी समास, सम्प्रसारण, दीर्घ होकर निष्पन्न।

५. अष्टा० ४/१/७८ 'अणिञोरनार्षयो०' आदि सूत्र।

६. अष्टा० ६/१/१३। ७. प०शे० परि सं० २३।

८. कारीषगन्ध्यामतिक्रान्ता=अतिकारीषगन्ध्या, प्रादि तत्पुरुष समास, पुन: पुत्र के साथ षष्ठी समास, पुत्र उत्तर पद रहते ष्यङन्त अन्त में होने से, तदन्त विधि मानकर सम्प्रसारण की प्राप्ति।

९. गूढार्थ०, पृ० १५३-१५४ एवं गदा, पृ० ५२।

होता है और स्त्री प्रत्यय में ही उपसर्जनत्व का ग्रहण किया जाता है।[१] 'अनुपसर्जने' यहाँ विषय में सप्तमी है। 'च' अव्यय 'तु' के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार निम्न अर्थ होता है 'अनुपसर्जन (स्वार्थ में अप्रधान) विषय में जो स्त्री प्रत्यय, तद्बोधक पद से घटित शास्त्र में तदादि अंश की उपस्थिति नहीं होती है'। फलतः जो स्त्रीप्रत्यय, स्त्रीत्व को प्राधान्य रूप से कहता है, उस शास्त्र में तदादि नियम नहीं है, अर्थात् वहाँ यह आवश्यक नहीं कि स्त्री प्रत्यय जिस शब्द रूप से विहित है, वह शब्द रूप तदन्त (स्त्री प्रत्ययान्त) समुदाय का भी आदि हो। अतः उस प्रत्यय का, जो आदि नहीं है उसका भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार फलितार्थ यह है जो अप्राधान्य रूप से स्त्रीत्व को कहता है, वहाँ उस विषय से युक्त का 'प्रत्ययग्रहण०'[२] परिभाषा से तदादि नियम होता ही है।[३] वहाँ वह स्त्री प्रत्यय जैसे समुदाय का बोध कराता है, जो तदन्त (स्त्रीप्रत्ययान्त) है और साथ ही तदादिविहित प्रत्यय का आदि।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त—यह परिभाषा स्त्रीप्रत्यय के विषय में किस प्रकार के अनुपसर्जनत्व का ग्रहण करती है। इसका नागेश ने स्वतः स्पष्टीकरण किया है। प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध उपस्थित होने) से जो समुदाय स्त्री प्रत्ययान्त बनता है अर्थात् जिस समुदाय की स्त्री प्रत्ययान्तता मानी जाती है, जिस शब्द के साथ स्त्री प्रत्ययान्त शब्द युक्त रहे, उसी शब्द के प्रति स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द का अर्थ अनुपसर्जन (प्राधान्य) होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उसी निकट सम्बद्ध समुदाय में स्त्रीत्व अर्थ का मुख्यत्व रहे, उस शब्द के प्रति स्त्री की प्रधानता द्योतित होनी चाहिए। इस प्रकार के अनुपसर्जनत्व को मानकर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। स्त्री प्रत्ययान्त समुदाय का, दूसरे शब्द के साथ योग होने पर, उस शब्द के अर्थ की अपेक्षा, स्त्रीप्रत्यय के अर्थ की उपसर्जनता (गौणता) भले ही द्योतित होती हो, वहाँ स्त्रीप्रत्यय का अर्थ भले ही गौण होता हो, फिर भी ऐसे उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द रूप में यह परिभाषा प्रवृत्त होकर तदादि नियम का निषेध करती ही है।[४] **(क) उक्त अर्थ का फल**— इस परिभाषा में अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का उक्त रूप से अर्थ स्वीकार करने से 'गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य'[५] के भाष्य में उदाहृत 'अतिराजकुमारिः'[६] इस प्रयोग में इस परिभाषा के साहाय्य से ह्रस्व सिद्ध होकर

---

१. म०भा० ६/१/१३ 'यो हि उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययो भवत्येषा तत्र परिभाषा०' इत्यादि प्रकरण।

२. प०शे० परि० सं० २३।

३. वही, पृ० १५५ पं० दूसरी 'यस्त्वप्राधान्येनाह०' आदि।

४. प०शे०, पृ०१५६, प०१-२। ५. म०भा० १/२/४८।

६. 'अतिक्रान्तो राजकुमारीम्' इस विग्रह में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे०' (द्र० वा०का० २/२/१८) से 'अति+राजकुमारी' का समास।

रूप सिद्ध होता है। राजकुमारीमतिक्रान्तः- 'अतिराजकुमारिः' यह प्रादि समास है।[१] इसमें 'राजकुमारी' शब्द की स्त्रीप्रत्ययान्त समुदायता है। राज्ञः कुमारी- 'राजकुमारी' इस षष्ठी समास में 'कुमारी' का अर्थ प्रधान है। यद्यपि 'राजकुमारी' शब्द का अर्थ, 'अति' के प्रति उपसर्जन है, तथापि 'कुमारी' का अर्थ, राजा के अर्थ के प्रति उपसर्जन नहीं है, अनुपसर्जन ही है। फलतः इस परिभाषा से तदादि नियम[२] का निषेध होने से स्त्री प्रत्यय न केवल कुमारी का बोधक है, अपितु 'राजकुमारी' समुदाय का भी बाधक है, इससे 'राजकुमारी' की स्त्रीप्रत्ययान्तता स्पष्ट ही हो जाती है। अतएव 'अतिराजकुमारिः' शब्द में स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक होने से 'गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य'[३] सूत्र से 'कुमारी' की 'ई' को ह्रस्व 'इ' सिद्ध हो जाता है।[४]

परिभाषा में गृहीत उपसर्जन का अर्थ— इस परिभाषा में शास्त्रीय उपसर्जन[५] का ग्रहण नहीं किया जाता है, क्योंकि स्त्रीप्रत्यय में शास्त्रीय उपसर्जन संभव नहीं है, तथा स्त्री प्रत्यय में ही उपसर्जन का भी ग्रहण करना है। इस कारण यहाँ लौकिक उपसर्जन (अप्रधान अर्थ) का ग्रहण किया जाता है, लौकिक उपसर्जन का तात्पर्य अप्रधान (अर्थ) होता है।[६]

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल— यह परिभाषा 'प्रत्ययग्रहणे०' परिभाषा का अपवाद है और इसकी उस 'प्रत्ययग्रहणे०' के साथ वाक्यैकवाक्यता होती है अर्थात् दोनों मिलकर एक वाक्य बनाती है, फलतः एकवाक्यता होने पर परिभाषा का निम्न अर्थ होता है।[७] 'ग्रहणे' पद का इस परिभाषा के साथ सम्बन्ध होने पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति वहीं होती है, जहाँ स्त्रीप्रत्यय का सामान्य रूप से ग्रहण है तथा जहाँ विशेष-विशिष्ट स्त्रीप्रत्यय विशेष का ग्रहण किया गया है। यथा-सामान्यग्रहण 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य'[८] सूत्र में स्त्री शब्द से तथा विशेष रूप से यथा 'ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे'[९] सूत्र में। इस प्रकार 'सामान्य स्त्री प्रत्यय' अथवा 'विशिष्ट स्त्रीप्रत्यय' के गहण में प्रवृत्ति सिद्ध होती है, किन्तु ऐसे शब्द से जो स्त्रीप्रत्यय भी हो और स्त्री प्रत्यय से भिन्न भी हो, उसके ग्रहण में नहीं प्रवृत्त होती है— यह बात 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः[१०] प्रातिपदिकम्' सूत्र के भाष्य में ध्वनित होती है, जिसको कि

---

१. का० वा० २/२/१, 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया से समास।

२. प०शे० परि० सं० २३। ३. अष्टा० १/२/४८।

४. प०श० पृ०१५६, पं० ३-५।

५. अष्टा० १/२/४३ एवं वही, १/२/४४।

६. प०शे०, पृ० १५६, पं० ६ तथा उ० ६/१/१३।

७. गदा, पृ० ५३, पं०१४। ८. अष्टा० १/२/४८।

९. अष्टा० ६/१/१३। १०. उ० १/२/४५।

प्राय: सभी टीकाकारों[१] ने स्पष्ट किया है।

परिभाषा का प्रयोजन—(क) अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय के ग्रहण होने पर, 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से तदादि का ग्रहण नहीं होता है, जिससे प्रत्यय विहित है, उसी की प्रकृति का ग्रहण न होकर, वह जिसके अन्त में है उसका भी ग्रहण हो जाता है। फलत: स्त्र्यधिकार में विहित प्रत्यय के ग्रहण में समुदाय का भी ग्रहण होता है। अत: 'स्त्रीभ्यो ढक्'[२] सूत्र से 'कुम्भकारी' समुदाय से 'ढक्' प्रत्यय आता है,[३] 'कार' से ही 'ढक्' नहीं आता है। इसी प्रकार इस परिभाषा से विशिष्ट स्त्रीप्रत्यय (ष्यङ्) के उदाहरण 'परमकारीषगन्धीपुत्र:' में भी 'ष्यङ: सम्प्रसारणम्०'[४] से सम्प्रसारण हो जाता है। यहाँ स्त्रीप्रत्ययान्त 'कारीषगन्ध्या'— 'परमकारीषगन्ध्या' के अर्थ के प्रति अनुपसर्जन-प्रधान है, क्योंकि परमकारीषगन्ध्या यह समानाधिकरण तत्पुरुष समास है।[५] फलत: उत्तरपद-प्रधान होने से 'कारीषगन्ध्या' प्रधान है। अत: तदादि नियम न होने से 'परमकारीषगन्ध्या' ष्यङन्त है और पुत्र उत्तरपद होने पर सम्प्रसारण होता है, जिससे 'परमकारीषगन्धीपुत्र:' सिद्ध होता है। **(ख) परिभाषा की अप्रवृत्ति का उदाहरण**— जहाँ स्त्रीप्रत्यय उपसर्जन है, वहाँ यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। अत: 'अतिकारीषगन्ध्यापुत्र:'[६] में सम्प्रसारण नहीं होता है। यहाँ ष्यङन्त स्त्रीप्रत्यय उपसर्जन है, अत: यहाँ तदादिनियम होता है[७] तथा 'अतिकारीषगन्ध्या' ष्यङन्त होने पर भी तदादि नहीं है, इसलिए सम्प्रसारण नहीं होता है। इस प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— स्त्रीप्रत्यय के विषय में 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से प्राप्त अति प्रसंग का वारण करने के लिए अर्थात् तदादि नियम की प्रवृत्ति के संकोच के लिए प्रस्तुत परिभाषा है। यह परिभाषा सभी ग्रन्थों में नहीं मिलती है। भाष्य में इस परिभाषा का स्वरूप कुछ भिन्न रूप में प्राप्त होता है।[८] जैनेन्द्र में कुछ भिन्न रूप से पाठ है।[९]

---

१. गूढार्थ०, विजया,तत्वा, आदि टीकायें।

२. अष्टा० ४/१/१२०।

३. उदाहरण— कुम्भकार्या अपत्यं पुमान् कौम्भकारेय:, कुम्भकारी से ढक्, ढ का 'एय्'।

४. अष्टा० ६/१/१३।

५. परमा चासौ कारीषगन्ध्या च- इस विग्रह में 'परम' का 'कारीषगन्ध्या' के साथ समास। अष्टा० २/१/६१।

६. अतिकारीषगन्ध्याया: पुत्र:=अति कारीषगन्ध्यापुत्र:।

७. प०शे०, परि०सं० २३। ८. तत्वा०, पृ० ४३-४७।

९. 'अस्त्रीप्रत्ययेनानुपसर्जनेन' म०भा० ६/१/१३।

पुरुषोत्तमदेव ने भी भिन्न रूप से पढ़ी है।[१] सीरदेव शब्द पूर्व रखकर पाठ करते हैं।[२] नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में पाठ किया है।[३] नागेश ने इन्हीं का अनुकरण किया है। सभी परिभाषाकारों ने 'प्रत्ययग्रहणे०' परिभाषा की यह परिभाषा अपवाद मानी है। नागेश भी पूर्व परिभाषा का अपवाद मानते हैं। तदादि नियम इस विषय को छोड़कर होता है। परिभाषा के मूल के विषय में प्राचीनों व नवीनों में मतैक्य नहीं है। पुरुषोत्तमदेव 'ष्यङः सम्प्रसारणः'[४] भाष्य के आधार पर ही इसका प्रमाण स्वीकार करते हैं। नागेश भी इससे सम्मत होते हुए वाचनिकी ही मानते हैं, क्योंकि भाष्य में ज्ञापक नहीं प्रस्तुत किया है। सीरदेव इस सम्बन्ध में मौन हैं। परन्तु नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर इसको ज्ञापक सिद्ध मानते हैं। उनके अनुसार विभक्त अंग संज्ञा विधायक सूत्र में 'नेयङुवङ्०'[५] से 'न' की तथा 'वामि'[६] से 'वा' की अनुवृत्ति करके व्यवस्थितविभाषा के आश्रयण से उक्त परिभाषा सिद्ध, हो जाती है।

परिभाषा का अर्थ प्रायः सभी व्याख्याकारों के व्याख्यानों में समान हैं। पुरुषोत्तमदेव ने सामान्य अर्थ करके प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है। सीरदेव ने विस्तार से इस परिभाषा की व्याख्या की है। व्याख्या में 'स्त्री' शब्द से स्त्री के अधिकार में प्रत्यय का ग्रहण तथा उपसर्जन से लौकिक उपसर्जन का ग्रहण मानकर आशय स्पष्ट किया है।[७] नीलकण्ठ ने केवल अर्थ का ही स्पष्टीकरण किया है। नागेश ने केवल कुछ शब्दान्तर करके इसी अर्थ को अपना लिया है।[८] इसके साथ ही स्त्रीप्रत्ययान्त समुदाय की प्रधानता के विषय में भी स्पष्ट कर दिया है कि किसके प्रति प्रधानता ग्राह्य है। इससे 'अतिराजकुमारिः' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। नागेश ने इस परिभाषा के प्रवृत्ति स्थल का निर्देश किया है, जो अत्यन्त आवश्यक है। पूर्ववर्ती किसी ने ऐसा नहीं किया है। इस प्रकार परिभाषा का इतना स्पष्ट व्याख्यान पूर्व किसी में भी नहीं प्राप्त होता है। प्रयोजन स्वरूप उदाहरण सभी परिभाषा ग्रन्थों में यही प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त अनुपसर्जनत्व के सम्बन्ध में प्रत्यासत्ति न मानने से कैयट,[९] पुरुषोत्तमदेव, तथा सीरदेव 'हल्ङ्यादि०'[६] सूत्र में 'दीर्घ' ग्रहण से कहीं उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय में भी उपर्युक्त परिभाषा प्रवृत्त होती है, जिससे 'अतिराजकुमारिः' 'अर्ध-पिप्पलिः' सिद्ध होते हैं, ऐसा मानते

---

१. 'स्त्रीत्यग्रहणान्नेष्यते' जैनेन्द्रवृत्ति, परि० सं० ६१।

२. 'स्त्रीप्रत्ययेनानुपसर्जनेन' पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० ४५।

३. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ३३ तथा हरिभास्कर वृत्ति परि० सं० २६।

४. अष्टा० ६/१/१३। ५. अष्टा० १/४/४।

६. अष्टा० १/४/५। ७. सीरदेववृत्ति, परि० सं० २६।

८. नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० ३३ तथा तुलना प०शे०, पृ० १५५।

९. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०२६। १०. अष्टा० ६/१/६८।

हैं।[१] परन्तु नागेश के अनुसार यह मानना युक्त नहीं है।

(७४) कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्।।प० २८।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रत्यय का ग्रहण करके विधीयमान कार्य में तदादि, तदन्त विधि नियम होने से प्रत्ययान्त का ग्रहण किया जाता है। इस स्थिति में 'अवतप्ते नकुलस्थितम्'[२] में— नकुलस्य स्थितम्='नकुलस्थितम्' यहाँ समास करने के पश्चात्, 'नकुलस्थित' शब्द क्तान्त तदादि नहीं रह ज़ाता है। अत: निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त के साथ क्तान्त का समास होता है— इत्यर्थक 'क्षेपे'[३] सूत्र से समासविधान नहीं हो सकता, फलत: 'अवतप्तेनकुलस्थितम्' समस्त रूप नहीं बन सकता। परन्तु वास्तव में समास होता ही है। अत: इसकी उपपत्ति के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— कृत् प्रत्यय के ग्रहण से होने वाले कार्य में कृदन्त के पूर्व गति संज्ञक और कारक का भी कृदन्त शब्द से ग्रहण समझना चाहिए। यदि केवल कृत् प्रत्यय है तो उसी का ग्रहण होता है।

परिभाषा का आशय— शास्त्र में जहाँ 'कृत्'[४] प्रत्यय का ग्रहण होता है, वहाँ 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से कृदन्त शब्द का बोध होता है। यथा 'क्त' से क्तान्त 'स्थित' का बोध होता है। (अर्थात् तदादि, तदन्त शब्द रूप का बोध होता है) यदि ऐसे कृदन्त शब्द से पूर्व गति हो[५] अथवा कारक हो[६] तो गति और कारक-विशिष्ट समुदाय का भी 'कृत्' प्रत्यय से बोध होता है। इस अवस्था में 'प्रस्थित' शब्द भी क्तान्त होगा और 'नकुलस्थित' भी क्तान्त होगा, इतना ही नहीं, समुदाय ही क्तान्त माना जायेगा। केवल 'स्थित' शब्द ही क्तान्त नहीं माना जाता है। इस प्रकार कृदन्त के ग्रहण से गति अथवा कारक पूर्व का भी ग्रहण हो जाता है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा के होने में 'गतिरनन्तर:'[७] इस सूत्र में 'अनन्तर' ग्रहण ज्ञापक है। 'गतिरनन्तर:' इस सूत्र का अर्थ है— 'कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद परे रहते हुए अनन्तर (अव्यवहित) गति का प्रकृति स्वर होता है'। प्रकृतिस्वर अर्थात् गतिसमास से पूर्व जो अपना स्वर होता है, वही रहता है। यदि यह परिभाषा नहीं हो तो क्तान्त उत्तरपद परे रहते गति का जो स्वरविधान किया जा रहा है, वह व्यवहित

---

१. पुरुषोत्तमवृत्ति एवं सीरदेववृत्ति।

२. अव (गति) पूर्वक क्तान्त 'तप्त' सप्तम्यन्त का 'नकुल' कारकवाची सहित क्तान्त 'स्थित' का समास, सप्तमी का अलुक् होकर निष्पन्न।

३. अष्टा० २/१/४७।

४. वही, ३/१/९३।

५. वही, १/४/६०।

६. वही, १/४/२३ से ५५ पर्यन्त।

७. म०भा० ६/२/४९।

गति को प्राप्त ही नहीं होगा? पुनः उसकी निवृत्ति के लिए 'अनन्तर' ग्रहण का कुछ प्रयोजन अवशेष नहीं रहता है। इस प्रकार व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। **(क) ज्ञापकत्व का उपपादन**— 'गतिरनन्तरः' सूत्र में 'अनन्तर' शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि 'अभ्युद्धृतम्'[१] में 'अभि' का प्रकृतिस्वर न हो। परन्तु यहाँ 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से 'धृत' शब्द क्तान्त है, न कि 'उद्धृत' शब्द। अतः गति 'अभि' के परे उत्तरपद 'उद्धृत' क्तान्त न होने से ही प्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति नहीं होती है, पुनः 'अनन्तर' ग्रहण व्यर्थ रहता है। व्यर्थ होकर इस परिभाषा को ज्ञापित करता है। इस प्रकार क्तान्त से अनन्तर पूर्व 'अभि' हो जाता है। **(अ) ज्ञापकत्व में शंका**— इस प्रकार अब भी प्रकृतिस्वर की अतिव्याप्ति बनी रहती है। इस स्थिति में 'उद्धृत' क्तान्त उत्तरपद परे रहते गति 'अभि' को 'गतिरनन्तरः' इस सूत्र से प्रकृतिस्वर हो जाना चाहिए? 'अभि' का अपना स्वर अन्तोदात्त है। **समाधान**— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि सूत्र में 'अनन्तर' शब्द के प्रयोगबल से ही वही आनन्तर्य बोधित किया जा सकता है, जो गति का धातु के साथ हो। अतः सूत्र की प्रवृत्ति के लिए 'अभ्युद्धृत' का 'हृत' भाग क्तान्त समझा जा सकता है। फलतः ठीक ही है कि 'उद्' का प्रकृतिस्वर हो और 'अभि' का नहीं। इस प्रकार स्वार्थ में चरितार्थ होता है। **(आ) ज्ञापकत्व में शंका**— 'अभ्युद्धृतम्' में 'गतिर्गतौ'[२] सूत्र से 'अभि' अनुदात्त हो जायेगा, क्योंकि पर होने से यह सूत्र, 'गतिरनन्तरः'[३] सूत्र का बाध करेगा। इस प्रकार 'गतिरनन्तरः' सूत्र से परे होने से उक्त सूत्र से 'अभि' का निघात ही होगा। इस कारण सूत्र में पठित अनन्तर शब्द परिभाषा का ज्ञापक होने पर भी व्यर्थ रहता है, स्वार्थ में चरितार्थ न होकर परिभाषा को ज्ञापित नहीं कर सकता? **समाधान**— इस शंका का उत्तर नागेश देते हैं कि 'गतिर्गतौ' सूत्र का 'अभ्युद्धृत' के 'अभि' के स्वर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि 'अभ्युद्धृतम्' पाद के आदि में है और 'गतिर्गतौ' स्वरविधि उस गतिविषय में होती है, जो पाद के आदि[४] में न हो। इस प्रकार 'अभि' पाद के आदि में है, क्योंकि 'गति' पद से परे नहीं है, और उससे पूर्व कुछ नहीं है। इसलिए स्वार्थ में चरितार्थता की शंका नहीं करनी चाहिए। **(१) 'उद्धृतम्' में स्वरक्रम**— इस प्रयोग में इस प्रकार स्वर का क्रम होता है। प्रथमतः समास के पश्चात् 'समासस्य'[५] सूत्र से समासान्तोदात्त स्वर प्राप्त होता है। इसका बाधकर 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०'[६] आदि सूत्र से अव्ययपूर्वषद प्रकृतिस्वर इसे बाधकर 'गतिकारकोपपदात्[७] कृत्' सूत्र से गति

---

१. अभि एवं उत् गतिपूर्वक 'क्त' प्रत्ययान्त, धृ के 'धृत' के साथ समास।

२. अष्टा० ८/१/७०। ३. वही, ६/२/४९।

४. 'अनुदातं सर्वमपादादौ' अष्टा० ८/१/१८।

५. अष्टा० ६/१/२२३। ६. वही, ६/२/२।

७. वही, ६/२/१३९।

से परे कृत् प्रत्यय का प्रकृतिस्वरत्व, इसे बाधकर 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्'[१] सूत्र से गति से परे क्तान्त उत्तरपद का अन्तोदात्तत्व, इसे बाधकर 'गतिरनन्तर:'[२] से 'अभ्युद्धृतम्' में 'उद्' का प्रकृतिस्वरत्व होता है। अत: 'उद्धृत' शब्द आद्युदात्त है।

(इ) उक्त ज्ञापकविघटन-प्रयास— शंका यह है कि 'अनन्तर' ग्रहण 'अभि' को स्वर न हो, इसके लिए नहीं गृहीत है, अपितु कुछ अन्य ही प्रयोजन है। इस प्रकार उससे ज्ञापनसम्भव नहीं। अभि+उद्धतम्='अभ्युद्धृतम्' में आद्युदात्त 'उद्धृत' शब्द का 'अभि' के साथ समास होने पर 'अभि-उद्धतम्' में 'उद्' पूर्वपद नहीं है। 'बहुब्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'[३] से पूर्वपद की अनुवृत्ति आ रही है, 'गतिरनन्तर:' में 'अनन्तर' का इसलिए ग्रहण किया गया है कि पूर्वपद न होने पर भी 'उद्' का गतिस्वर हो अर्थात् उदात्त हो। ऐसा होने पर 'अनन्तर' ग्रहण प्रयोजनवान् होने से इस परिभाषा का ज्ञापक नहीं हो सकता? **समाधान**— ऐसा कथन भी उचित नहीं है। सतिशिष्ट थाथादिस्वर 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्'[४] सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि 'कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि'[५] सूत्र में 'कारकात्' का योगविभाग करके वहाँ 'गतिकारकोपपदात्[६] कृत्' सूत्र से 'गति' का अनुवर्तन कर लेंगे, पश्चात् 'सूपमानात्[७] क्त:' सूत्र से 'क्त' की अनुवृत्ति आकर 'कारकात् गते: क्त:' ऐसा नियामक सूत्र थाथादि सूत्र के अर्थ को नियमित कर देगा। अब यह वहीं प्रवृत्त होगा, जहाँ क्तान्त शब्द समास का उत्तरपद है (यथा 'उद्धृतम्' में) तथा पूर्वपद में गति' है, जब यह गतिसमास एक दूसरे समास का उत्तरपद बनता है और कारक से ही परे होता है, गति से नहीं, तभी प्रवृत्त होगा। फलत: इसकी (थाथादिस्वर)[८] प्रवृत्ति न होने से यह 'गतिकारकोपदात् कृत्' की प्रवृत्ति को नहीं रोकेगा। 'उद्' का 'अभ्युद्धृतम्' में वही स्वर रहेगा, जो 'उद्धृत' में इसको 'गतिरनन्तर:'[९] से, बिना 'अनन्तर' के ग्रहण से प्राप्त हो चुका है, क्योंकि 'उद्धृत' इस परिभाषा से कृत है और 'अभि' गति है। इस प्रकार 'अनन्तर:' ग्रहण सर्वथा व्यर्थ ठहरता है। अत: 'गतिरनन्तर:' सूत्र में 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग धातु से व्यवहित गति के स्वर को रोकने के लिए किया गया है। इस कारण अवश्य ही इसको इस परिभाषा का ज्ञापक मानना चाहिए।

परिभाषा का विशेष अभिप्राय— नागेश ने इस परिभाषा का अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया है, 'जहाँ ऐसे शब्द रूप का ग्रहण है (जो 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा

---

१. अष्टा०, ६/२/१४४। २. अष्टा० ६/२/४९।
३. वही, ६/२/१। ४. वही, ६/२/१४४।
५. वही, ६/२/१४८। ६. वही, ६/२/१३९।
७. वही, ६/२/१४५। ८. वही, ६/२/१४४।
९. अष्टा० ६/२/४९।

से कृदन्त माना जाता है) जो गति और कारक के साथ व्याहृत (सम्बद्ध) है, वहाँ कृत् प्रत्यय गतिकारकविशिष्ट का ही ग्रहण कराता है और 'अपि' शब्द से जहाँ गति, कारक समभिव्याहृत एक साथ व्यवहृत नहीं होते हैं, वहाँ 'कृत्' से केवल कृदन्त का भी ग्रहण होता है'।[१] अर्थात् जहाँ गति या कारक का निमित्तत्व के उद्देश्य के रूप में कहीं गति अथवा कारक का स्वतंत्र रूप से ग्रहण किया गया है, वहाँ तो उसके समभिव्यवहार में भी सामर्थ्य से केवल कृदन्त रूप का ही ग्रहण होता है= यथा 'गतिकारकोपपदात्[२] कृत्' 'गतिरनन्तर:'[३] इत्यादि में होता है।[४] यदि परिभाषा में 'अपि' शब्द से श्रवण से लभ्य यह अर्थ न माने तो उसके अभाव में बाधक न होने पर 'सम्पूर्ण वाक्य एक विशेष प्रयोजन वाला होता है,''[५] न्याय के आधार पर 'कृत्' के ग्रहण में गति-कारक पूर्व का ही ग्रहण होता है, इस प्रकार के अर्थ का लाभ होता है। फलत: 'कृद् - ग्रहण' के विषय में परस्पर विरोध होने पर यह 'कृद्ग्रहणे गतिकारक०'[६] परिभाषा से 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से पर होने से उस परिभाषा को सर्वत्र निर्विशेष रूप से बाधने लगेगी? इसलिए 'अपि' शब्द का ग्रहण किया गया है कि 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा का बाध न हो। **(क) उक्त व्याख्यान का फल**— इसीलिए 'अपि' शब्द-घटितपरिभाषा के होने से (अर्थात् गति और कारक के समभिव्याहार में केवल कृदन्त का ग्रहण न होने से ही) 'सांकूटिनम्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहाँ 'संकूटिन्' इनुणन्त कृदन्त माना जाता है, केवल 'कूटिन्' नहीं माना जाता है। इसमें पहले 'गतिकारकोपपदानां कृद्भि: सह समास-वचनं प्राक्सुबुत्पत्ते:'[७] परिभाषा से 'सम्' गति का समास 'कूटिन्' के साथ होने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'संकूटिन्' बनता है। पश्चात् इस परिभाषा से गतिविशिष्ट इनुणन्त से ही 'अणिनुण:'[८] इस सूत्र से 'अण्' तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति होकर इष्ट रूप 'संकूटिनम्' सिद्ध होता है। केवल 'कूटिन्' से प्रत्यय होकर 'सकौटिनम्' यह अनिष्ट रूप नहीं बनता है, ऐसा होने से 'पुंयोगादाख्यायाम्'[९] सूत्र के भाष्य का कथन युक्त हो जाता है। अन्यथा केवल 'कूटिन्' शब्द कृदन्त नहीं होगा एवं कृदन्त न होने से 'गतिकारकोपपदानाम्०'[१०] इस वचन की प्रवृत्ति न होने से समास नहीं हो सकता। यदि यह 'कृद्ग्रहण' परिभाषा ही न हो, तो 'संकूटिन्' सम्पूर्ण के इनुणन्त[११] न होने से इसके परे रहते तद्धित 'अण्'[११] प्रत्यय नहीं होगा। इसी प्रकार यदि गति-कारक[१२]

---

१. प०शे०, पृ०१६६, पं०३-४। २. अष्टा० ६/२/१३९।
३. वही, ६/२/४९। ४. अष्टा० ६/२/४९ एवं ६/२/१३९।
५. गदा,पृ० ५७ 'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति'।
६. प०शे० परि० सं० २८। ७. प०शे० परि० सं० ७६।
८. अष्टा० ५/४/१५। ९. म०भा० ४/१/४८।
१०. प०शे०, परि० सं० ७६। ११. अष्टा० ३/३/४४।
११. अष्टा०५/४/१४। 'अणिनुण:'। १२. प०शे०, पृ० १६७, पं० ५-६।

समभिव्याहार में भी केवल कृदन्त का ग्रहण होता है, मानते हैं तो वहाँ 'संकूटिन्' में केवल 'कूटिन्' जो 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से कृदन्त-इनुणन्त है, उससे भी पक्ष में तद्धित 'अण्' होने लगेगा, जिससे 'संकौटिनम्'[१] यह अनिष्ट रूप दुर्वार हो जायेगा। अतः 'अपि' शब्दसे, उसके (गति, कारक) समभिव्याहार में केवल कृदन्त का ग्रहण नहीं होता और उनके असमभिव्याहार में ही केवल कृदन्त का ग्रहण होता है, यह ज्ञात होता है। उक्त अर्थ में भाष्य का प्रमाण है। 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'[२] सूत्र के भाष्य और कैयट व्याख्या प्रदीप[३] में इस सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट किया गया है। उक्त भाष्य और कैयट देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गति और कारक के समभिव्याहार में केवल कृदन्त का ग्रहण नहीं होता है। **(ख) उपर्युक्त अर्थ मानने में शंका**— इस प्रकार इस परिभाषा से गति और कारक विशिष्ट के ही क्तान्त होने के कारण, उसके उत्तर पद अनन्तर 'गति' न होने से 'पुरोहितम्' इत्यादि में गतिरनन्तरः'[४] सूत्र से स्वर नहीं हो सकता? यह दोष उपस्थित होता है। **समाधान**— 'गतिरनन्तरः' सूत्र में तो क्तान्त से गति रहित शब्द रूप का ही ग्रहण होता है। यद्यपि क्तान्त यहाँ गतिसमभिव्याहृत है, क्योंकि यह सूत्र 'गति' के विषय में स्वर विधान करता है, जब गति पूर्वपद हो और क्तान्त उत्तरपद हो तथापि यहाँ केवल क्तान्त का ही ग्रहण समझा जाता है।

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल— ज्ञापक के सजातीयापेक्ष होने के कारण इस परिभाषा में, जो कृत् के ग्रहण में गतिकारक पूर्व का ग्रहण किया गया है, वहाँ समास के गति-कारक परत्व का ग्रहण किया जाता है— समझना चाहिए। अर्थात् समस्त गति, कारक, पूर्वपद होने पर विशिष्ट कृदन्त का ग्रहण होता है, अन्य स्थल के गति, कारक पूर्वपद रहित कृदन्त विशिष्ट का ग्रहण न होकर केवल कृदन्त का ग्रहण हो जाता है और कृत् मात्र के विषय में प्रवृत्त हो जाती है। यह परिभाषा वहाँ प्रवृत्त होती है, जहाँ सामान्य रूप से 'कृत्' प्रत्यय का उपादान है तथा कृत् प्रत्यय-विशेष का ग्रहण किया गया है। ऐसे स्थल पर प्रवृत्ति नहीं होती है, जहाँ कि ऐसे शब्दरूप का ग्रहण है, जो कृत् भी हो और कृत् प्रत्यय भिन्न भी हो।

---

१. सम् पूर्वक 'कूटिन्' शब्द से स्वार्थ में 'अण्' तद्धित प्रत्यय, कूटिन् के आदि अच् को वृद्धि होकर 'संकौटिनम्' अनिष्ट रूप।

२. म०भा० ७/१/३७ में 'प्रकृत्य' आदि में 'कृद् ग्रहण' परिभाषा के साहाय्य से 'प्रकृ+त्वा' सम्पूर्ण क्त्वान्त होने से अनञ् से परे न होने से 'ल्यप्' नहीं हो सकता? इस आशंका के वारणके लिए अनञ्पूर्व-ग्रहण सामर्थ्य से इस परिभाषा की अप्रवृत्ति ज्ञापित की है।

३. प०७/१/३७ 'प्रकृत्य' प्रतीक को लेकर किया गया व्याख्यान।

४. अष्टा० ६/२/३९।

(क) प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति के उदाहरण— (अ) प्रवृत्ति का उदाहरण— सामान्य कृत् के ग्रहण में प्रवृत्त होती है, जैसे 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्'[१] सूत्र में 'विष्णुसुकृतम्' इस समास में 'सुकृत' के कृदन्त होने से 'गतिकारकोपपदात्'[२] कृत्' सूत्र से उत्तरपद प्रकृति स्वर हो जाता है। कृत् प्रत्यय विशेष का प्रयोजन 'सांकूटिनम्' प्रयोग में 'इनुण्' कृत् प्रत्यय दिखलाया जा चुका है। **(आ) अप्रवृत्ति का उदाहरण—** कृत् और अकृत् के ग्रहण में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, इसका स्पष्टीकरण एवं उदाहरण 'अनुपसर्जनात्'[३] सूत्र के भाष्य में दिया गया है। उस भाष्य में 'अनुपसर्जनात्' सूत्र से ज्ञापित तदन्तविधि से 'कुम्भकार' में 'कार'-अणन्त होता है, जिससे इससे परे 'ङीप्' सिद्ध होता है। 'अण्' प्रत्यय कृत् भी है और अकृत् (तद्धित) भी है। अत: इस परिभाषा से 'कुम्मकार' अणन्त नहीं हो सकता था? फलत: तदन्तविधि के ज्ञापन के लिए 'अनुपसर्जनात्' सूत्र का पाठ आवश्यक हुआ। इसी से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ कृत् और अकृत् के ग्रहण की सम्भावना हो, वहाँ यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। इसके अनेक लाभ द्रष्टव्य हैं।

परिभाषा का प्रयोजन— कृत् के ग्रहण में गति-कारक समभिव्याहृत होने पर विशिष्ट कृदन्त का ही ग्रहण होता है। अतएव 'अवतप्तेनकुलस्थितम्' में 'क्षेपे'[४] से क्तान्त के साथ कथित कारक 'नकुल' के होने से भी समास हो जाता है तथा 'सांकूटिनम्' में इस परिभाषा से गति संज्ञक 'सम्' के सहित इनुण् कृत्प्रत्ययान्त 'संकूटिन्' से अण् तद्धित होने से 'सम्' के सकार को आदि बृद्धि होती है। इसी प्रकार 'व्यावक्रोशी'[५] आदि में 'णच: स्त्रियामञ्'[६] से गतिविशिष्ट णजन्त व्यवक्रोश से ही 'अञ्' प्रत्यय होकर आदि वृद्धि स्वर होता है। इसी प्रकार अन्य गतिकारकपूर्वक[७] कृदन्त के उदाहरण जानने चाहिए।

समीक्षा— तदन्त विधि के प्रसंग में 'कृत्' प्रत्यंय के ग्रहण के विषय में कुछ विशेष कथन अपेक्षित है। 'कृत्' प्रत्यय के ग्रहण होने पर यदि कुछ विशिष्ट के साथ उसका योग हो तो तद्विशिष्टपूर्व के ग्रहण के लिए प्रस्तुत परिभाषा द्वारा 'प्रत्ययग्रहण' के संकोच का विषय बताते हैं। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि आदि[८] के ग्रन्थों में

---

१. अष्टा० २/१/३२। २. वही, ६/२/१३९।

३. म०भा० ४/१/१४। ४. अष्टा० २/१/४७।

५. वि+आ पूर्वक 'क्रुश्' धातु, कर्म-व्यतिहार में 'णच्' प्रत्यय, गुण, उपसर्ग वि का यण् (व्याक्रोश) स्वार्थ में 'अञ्' प्रत्यय, आदि वृद्धि एवं ङीप् होकर निष्पन्न रूप।

६. अष्टा० ५/४/१४।

७. अवतप्तेनकुलस्थितम्, उदकेविशीर्णम्, भस्मनि-हुतम् आदि।

८. जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ।

प्राप्त होती है। केवल हरिभास्कर वृत्ति में कुछभिन्न रूप में प्राप्त होती है।[१] परिभाषा की व्याख्या (ज्ञापक, अर्थ, प्रयोजन आदि) यद्यपि सभी व्याडि पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव आदि ने विस्तार से की है, परन्तु जितनी स्पष्ट तथा सरल व्याख्या नागेश ने की है, उतनी पूर्व परिभाषा ग्रन्थों के व्याख्यानों में नहीं मिलती है। यद्यपि बहुत कुछ नागेश ने उनका अनुकरण किया है। इस परिभाषा के मूल के विषय में सभी का एक ही मत है। केवल व्याडि ने इस परिभाषा का ज्ञापक 'नकर्मव्यतिहारे'[२] में 'कर्मव्यतिहार' ग्रहण मानते हुए, उसका उपपादन किया है।[३] जैनेन्द्र ने इसके ज्ञापक के विषय में कुछ नहीं कहा है।[४] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव आदि इस परिभाषा के होने में ज्ञापक 'गतिरनन्तर:'[५] सूत्र में 'अनन्तर' ग्रहण मानते हैं एवं उसका विस्तार से उपपादन करते हुए, इसे परिभाषा का लिङ्ग भी मानते हैं। इस गति-पूर्व-ग्रहण-रूप एकदेश के ज्ञापक के साथ वार्तिककार तथा भाष्यकार के प्रामाण्य से कारक-पूर्व-सहित सम्पूर्ण परिभाषा की सिद्धि मानते हैं।[६] नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर भी उक्त 'अनन्तर' ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं। इन्होंने लिङ्ग का ग्रहण नहीं माना है। कैयट[७] के अनुसार गति-पूर्व ग्रहण रूप एकदेश के ज्ञापक की अनुमति से पूर्वाचार्य पठित सम्पूर्ण परिभाषा का ज्ञापक मानते हैं।[८] नागेश भी इनका अनुकरण करते हुए 'गतिरनन्तर:'[९] सूत्र का 'अनन्तर' ग्रहण ही इसका ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं। ज्ञापक का उपपादन नागेश ने भाष्यकृत् ज्ञापकत्व-उपपादन को विस्तार में ले जाकर ज्ञापक विघटन प्रयास शंका, समाधान पूर्वक अति विस्तृत रूप में किया है।[१०] इस परिभाषा को जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ 'प्रत्ययग्रहण'[११] का अपवाद मानते हैं।[१२] हरिभास्कर अपवाद न मानते हुए सीरदेव के मत का उल्लेख करके अपवादत्व का खण्डन करते हैं।[१३] नागेश भी इन्हीं के अनुसार 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा का अपवाद नहीं मानते हैं।[१४] स्वतंत्र रूप से परिभाषा स्वीकार करते हैं। परिभाषा का अर्थ यद्यपि पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव ने स्पष्ट

---

१. 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वपदस्यापि ग्रहणम्' हरिभास्कर वृत्ति, परि० सं०६४।

२. अष्टा० ७/३/६। ३. व्याडिपाठ, परि० सं० ९३।

४. जैनेन्द्रवृत्ति, परि०सं० ६५। ५. अष्टा० ६/२/४९।

६. पुरुषोत्तमवृत्ति परि०सं० ४६, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ६२।

७. प० ६/२/४९ 'एवं तर्हि' प्रतीक व्याख्या।

८. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ३५, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६४।

९. अष्टा० ६/२/४९। १०. प०शे० पृ० १६४-१६५।

११. १२. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

१३. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ६४।

१४. गदा, पृ० ५७, पं० ३ 'परत्वात्' की व्याख्या।

किया है तथापि नागेश के इतना स्पष्ट नहीं है। इन्होंने यह स्पष्ट किया है कि कहाँ, किस स्थिति में गति, कारक पूर्वक कृदन्त का ही ग्रहण होता है? और कहाँ नहीं होता? कहाँ केवल कृदन्त का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार गतिकारक असमभिव्याहार में केवल कृदन्त रूप का ग्रहण होता है। यह 'अपि' शब्द द्वारा समुच्चय मानकर अर्थ माना है। इसमें इन्होंने भाष्य प्रामाण्य प्रस्तुत किया है।[१] नीलकण्ठ ने 'अपि' शब्द से 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा के अर्थ का समुच्चय माना है।[२] नागेश के अनुसार यह युक्त नहीं है, क्योंकि यह परिभाषा 'प्रत्यय-ग्रहण' परिभाषा की अपवाद नहीं है।[३] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, लक्ष्यवशात् इस परिभाषा की कहीं प्रवृत्ति भी नहीं मानते हैं।[४] नागेश के अनुसार इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। ज्ञापक धर्मिग्राह-सजातीय होने से समासगत गतिकारक का ग्रहण होता है। नागेश परिभाषा के प्रवृत्तिस्थल का भी निर्देश करते हैं, परन्तु प्राचीन किसी भी परिभाषाकार ने यह स्पष्ट नहीं किया है। इस प्रकार नागेश व्याख्यान अति स्पष्ट एवं व्यापक है।

(७५) पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च।।प० २९।।

परिभाषा का उपक्रम—'येन विधिस्तदन्तस्य'[५] यह परिभाषा सामान्य रूप से तदन्तविधि का नियम करती है, परन्तु कहीं-कहीं तदन्त का तथा केवल उसका भी ग्रहण करके कार्य किया जाता है, इसी का विवेचन प्रस्तुत परिभाषा द्वारा किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— पदाधिकार[६] और अंगाधिकार[७] में, विधिशास्त्र में पढ़े हुए पद तथा अङ्ग न केवल उस अङ्ग व पद के बोधक होते हैं, अपितु तदन्त के भी ग्राहक होते हैं। (अर्थात् जिसको कार्य कहा हो उसका और वह जिसके अन्त में हो, उन दोनों का ग्रहण होता है)।

परिभाषा का आशय— यहाँ इस परिभाषा में पद और अङ्ग विशेष्य हैं और विशेषण से तदन्तविधि होती है। इस प्रकार यह परिभाषा 'येन विधिस्तदन्तस्य'[८] सूत्र

---

१. प०शे०, पृ० १६७ तथा म०भा० ७/१/३७।

२. नीलकण्ठवृत्ति, परि.सं.३५। ३. गदा, पृ० ५७।

४. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ। ५. अष्टा० १/१/७२।

६. 'पद' शब्द से उत्तरपदाधिकार (६/३/१ का अधिकार) तथा 'केवल पद' का अधिकार, दोनों का ग्रहण होता है। द्र० अष्टा० ८/१/१६ 'पदस्य' इस सूत्र का अधिकार ८/३/५४ तक है।

७. अष्टा० ६/४/१, 'अङ्गस्य' का अधिकार सप्तम अध्याय पर्यन्त।

८. अष्टा० १/१/७२।

का ही विस्तार है, उसी को स्पष्ट रूप में कह दिया गया है कि पदाधिकार और अङ्गाधिकार में उसका और तदन्त दोनों का ग्रहण होता है। इस प्रकार केवल पद के अधिकार में पद के विशेष्य रहने से विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है तथा उत्तरपदाधिकार में उससे आक्षिप्त पूर्वपद को विशिष्ट मानकर तदन्त-विधि हो जाती है।

परिभाषा का प्रयोजन— (क) उत्तर पदाधिकार का प्रयोजन—यथा 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु'[१] इस सूत्र से उत्तरपद के सामर्थ्य से आक्षिप्त पूर्वपद 'इष्टका' आदि विशिष्ट होता है, जिससे विशेषण 'इष्टका' से तदन्तविधि होने से 'पक्वेष्टका' आदि का भी ह्रस्व हो जाता है— इष्टकचितम् । पक्वेष्टकचितम् । 'इष्टकेषीकामालाना०'[२] यह सूत्र उत्तर-पदाधिकार का सूत्र है। **(ख) केवल पदाधिकार[३] का प्रयोजन**—इसमें भी तदन्त विधि होती है। यथा— 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' से जैसे 'अनडुद्भ्याम्' साधु होता है उसी प्रकार 'परमानडुद्भ्याम्' भी साधु है। दोनों अवस्थाओं में अनडुह् के 'ह्' का द् होता है। **(ग) अङ्गाधिकार का प्रयोजन**— यथा— महान् में 'सान्तमहत:[५] संयोगस्य' सूत्र से महत् के 'न्' की उपधा का दीर्घ होता है, वैसे ही तदन्त अतिमहत्, परमातिमहत् के 'न्' की उपधा का भी दीर्घ होता है— अतिमहान्, परमातिमहान्, 'सान्तमहत:[५] संयोगस्य'- यह अङ्गाधिकारीय सूत्र है।

परिभाषा के अन्य पाठ का खण्डन— उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि परिभाषा में 'तदन्तस्य' के स्थान में 'तदुत्तरपदस्य च' यह कल्पित पाठ अयुक्त है, क्योंकि 'परिमातिमहान्' न तो 'महत्' ही है और यह ऐसा समास है कि जिसका उत्तरपद 'महत्' है, क्योंकि उत्तर पद 'अतिमहत्' है। यह 'येन विधिस्तदन्तस्य'[७] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है।

परिभाषा का अप्रवृत्ति स्थल —यह परिभाषा उत्तरपदाधिकारीय सूत्र 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु'[८] में नहीं प्रवृत्त होती है। फलत: इसमें तदन्तविधि नहीं होती है, पादान्त के 'पद' आदि आदेश नहीं होते हैं, 'पदोपहतम्' होगा, दिग्धपदोपहतम्' न होकर 'दिग्धपादोपहतम्' होता है। ऐसे ही 'हिमकाषिहतिषु[९] च' में जो पाद का पद् आदेश विधान किया गया है, वह भी पादान्त का नहीं होता है— जैसे 'पत्काषी' कहेंगे

---

१. अष्टा० ६/३/६५। २. अष्टा० ६/३/६५।

३. अष्टा० ८/१/१६'पदस्य' सूत्र का अधिकार।

४. अष्टा० ८/२/७२। ५. अष्टा० ६/४/१०।

६. वा० म०भा० १/१/७२ 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च'।

७. म०भा० १/१/७२, 'अलैवानर्थकेन' की व्याख्या।

८. अष्टा० ६/३/५२। ९. अष्टा० ६/३/५४।

और 'परमपादकाषी' कहेंगे। इसमें लक्ष्यानुरोध ही कारण है। इस परिभाषा का सम्पूर्ण व्याख्यान 'येन विधिस्तदन्तस्य' के भाष्य में स्पष्ट है।[१]

समीक्षा— तदन्तविधि का विशेष विषय में कथन करना प्रस्तुत परिभाषा का उद्देश्य है। यह परिभाषा भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषा ग्रन्थों में प्राप्त होती है। व्याडि ने यह परिभाषा नहीं मानी है। जैनेन्द्र इसका भिन्न रूप से पाठ करते है।[२] भोज इस परिभाषा को न पढ़ते हुए इसके प्रयोजन स्वरूप चार परिभाषाओं को पढ़ते हैं।[३] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर, भिन्न रूप से पाठ करते हैं।[४] नीलकण्ठ ने प्रस्तुत रूप में ही पाठ किया है। नागेश ने इन्हीं के अनुसार पाठ स्वीकार किया है। प्रसंगत: 'तदुत्तरपदस्य' पाठ का नागेश खण्डन करते हैं, क्योंकि 'परमातिमहान्' में भी इस परिभाषा से तदन्त का ग्रहण होकर दीर्घ कार्य सिद्ध होता है। भाष्यप्रामाण्य[५] से इस प्रकार इस पाठ की अयुक्तता दिखलाई है। प्रसंगत: नागेश ने परिभाषास्थ 'पद' शब्द से **उत्तरपद** तथा शुद्ध केवल **पद** का ग्रहण होता है— यह स्पष्ट किया है। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर किसी ने स्पष्ट नहीं किया है। कैयट के अनुसार नागेश की व्याख्या है।[६] परिभाषा के मूल के सम्बन्ध में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने भिन्न रूप से व्याख्यान किया है। इनके अनुसार यह परिभाषा 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन०'[७] परिभाषा की अपवाद है।[८] यह ज्ञापक सिद्ध है, इसका ज्ञापक 'युजेरसमासे'[९] का 'असमास' ग्रहण है— ऐसा पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव मानते हैं।[१०] हरिभास्कर ने इस मत के खण्डन में सीरदेव का उल्लेख किया है। उन्होंने इसके अपवादत्व तथा ज्ञापकत्व की अयुक्तता दिखलायी है।[११] नीलकण्ठ इस परिभाषा को 'येन विधिस्तदन्तस्य'[१२] सूत्र का ही विस्तार मानते हैं।[१३] नागेश ने भी यही मानते

---

१. म०भा० १/१/७२।

२. 'गोरधिकारे तदन्तस्य च' जैनेन्द्रवृत्ति परि० सं० ६३।

३. भोजवृत्तिपरि० सं० ३-४-५-६।

४. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर वृत्तियां परि० सं० क्रमश: ८५,७०,७९ निम्न रूप— 'अङ्गाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य च'।

५. म०भा० १/१/७२ उक्त वार्तिक पर भाष्यव्याख्यान।

६. प्र० १/१/७२ 'पदशब्देन०' इत्यादि।

७. प०शे०, परि०सं० ३१। ८. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

९. अष्टा० ७/१/७१।

१०. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ८५, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७७।

११. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७९। १२. अष्टा० १/१/७२।

१३. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० १०८।

हुए तदनुसार ही इसकी व्याख्या प्रस्तुत की है[१] तथा परिभाषा के अति प्रसंग का निवारण करते हुए इसके अप्रवृत्तिस्थल का सहेतुक वर्णन भी किया है। पुरुषोत्तमदेव आदि ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। नीलकण्ठ ने अवश्य उत्तरपद के विशेष्य होने पर तदन्तविधि नहीं होती है— यह कहा है। इस प्रकार इस परिभाषा की व्याख्या नागेश ने भाष्यानुसार सम्यक् प्रयोजनादि सहित प्रतिपादित की है। नागेश की व्याख्या ही युक्त है।

(७६) व्यपदेशिवदेकस्मिन्।।प० ३०।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रश्न यह है कि 'अत इञ सूत्र[२] न पदाधिकारीय है और न अङ्गाधिकारीय है। अत: 'येन विधिस्तदन्तस्य'[३] सूत्र से तदन्तविधि होकर प्रातिपदिक को विशेष्य मानकर अदन्त प्रातिपदिक से ही अपत्यार्थ में 'इञ्' प्रत्यय होना चाहिए? केवल 'अ' रूप प्रातिपदिक से नहीं होना चाहिए, क्योंकि केवल अकार-मात्र अकारान्त नहीं हो सकता,[४] अत: अस्यापत्यम्='इ:' यह रूप सिद्ध नहीं हो सकता, इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— एक में=असहाय अकेले (वर्ण आदि) में भी व्यपदेशी-मुख्य के तुल्य कार्य होना चाहिए।

परिभाषा का आशय— 'व्यपदेशिवत्' इसका विग्रह है- विशिष्टोऽपदेश: (नाम)=व्यपदेश: मुख्यो व्यवहार:। व्यपदेशोऽस्यास्तीति व्यपदेशी, तेन तुल्यं 'व्यपदेशिवत्'। इस प्रकार इसमें कुछ अध्याहार करके नागेश अर्थ करते[५] हैं। मुख्यता सम्पादक निमित्त के होने पर, जो शब्द मुख्य व्यवहार वाला है, वह 'व्यपदेशी' है, उसके समान असहाय अकेले वर्ण का भी कार्य हो जाता है, जो व्यपदेश के हेतु के न होने से व्यपदेश रहित असहाय वर्ण मात्र है, कार्य करने के लिए उसको भी व्यपदेशी के तुल्य समझा जाता है। व्यपदेशी को प्राप्त कार्य असहाय एक को भी होता है, इस प्रकार कार्य के लिए ही तत्तत् निमित्त रूप अप्रधान कार्य का अतिदेश इस परिभाषा द्वारा होता है ऐसा समझना चाहिए।[६] **(क) उक्त अर्थ स्वीकार करने का लाभ**— यह है कि जिस प्रकार दक्षस्यापत्यम् 'दाक्षि:'[७] यहाँ 'दक्ष' मुख्य रूप से

---

१. प०शे०, पृ० १६९। २. अष्टा० ४/१/९५।

३. अष्टा० १/१/७२। ४. म०भा० १/१/२१ 'अन्त' का लक्षण।

५. श०कौ०, पृ० १४७ का नागेश ने अनुसरण किया है।

६. प०शे०, पृ० १७२, पं० १-२ तथा गूढार्थ०,पृ० १७२।

७. दक्ष शब्द, अपत्यार्थक 'इञ्' प्रत्यय, भसंज्ञक अकार का लोप, आदिवृद्धि होकर निष्पन्न रूप।

अदन्तत्व-व्यपदेशवान् होने से व्यपदेशी है, इससे 'अत[१] इञ्' से इञ् हुआ। इसी प्रकार अ:=विष्णु: तस्यापत्यम्- 'इ:'[२] यहाँ असहाय 'अ' को भी व्यपदेशिवत् तदन्त-(अकारान्त) मानकर सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो असहाय 'अ' अकारान्त इस व्यपदेश का भागी नहीं हो सकता (क्योंकि अन्य के होने पर जिसके परे कोई नहीं है, पूर्व में है वह 'अन्त' कहलाता है[३]— ऐसी 'अन्त' की परिभाषा है) तथा अदन्तत्वाभाव से 'इञ्' प्रत्यय नहीं आ सकता। इस प्रकार परिभाषा के होने से उक्त प्रयोजन सिद्ध होता है एवं मूल रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार के विशेषण के अभाव के कारण विशिष्ट का व्यवहार नहीं हो पाता है, उसी प्रकार के विशेषण का आरोप, इस परिभाषा से समझना चाहिए और उसके कारण उस विशेषण से युक्त व्यवहार का भी अरोप समझना चाहिए। यही 'व्यपदेशातिदेश' व्यवहार है।

परिभाषाघटक 'एकस्मिन्' का प्रयोजन— परिभाषा में 'एकस्मिन्' ग्रहण करने से असहाय (अकेले) का ग्रहण होता है। 'सभासन्नयन'[४] में आ (एकमात्र) असहाय नहीं है, वर्णान्तरों के साथ उच्चारित है तथा ससहाय में यह नहीं प्रवृत्ति होती है। अत: 'सभासन्नयन' में आदित्व-विशेषण का आरोप न करने से 'आ' आदि का नहीं माना जाता है। फलत: 'सभासन्नयन' के वृद्ध[५] न होने से 'तत्र भव:'[६] अर्थ में वृद्धाच्छ:[७] सूत्र से छ प्रत्यय नहीं होता, अण् होता है 'साभासन्नयन:'[८]। इसीलिए 'दरिद्रा' धातु के 'इ' मात्र का पृथक् ग्रहण करके असहाय न होने से 'दरिद्रा' धातु को इकारान्त नहीं माना जा सकता और इससे 'एरच्'[९] सूत्र से इकारान्तलक्षण 'अच्' प्रत्यय नहीं होता। आकारान्त लक्षण 'क'[१०] प्रत्यय होता है दरिद्र:। इसीलिए 'हरिषु' में सुप् (सु) के

---

१. अष्टा० ४/१/९५।

२. 'अ' शब्द से 'इञ्' प्रत्यय,अष्टा० ६/४/४८ से 'अ' का लोप होकर केवल 'इ' प्रत्ययमात्र अवशिष्ट रूप एवं उक्त परिभाषा से तद्धितान्त मानकर प्रातिपदिकत्व सिद्धि।

३. म०भा० १/१/२१,'सत्यन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति, पूर्वमस्ति सोऽन्त:'।

४. इसमें 'भा' घटक आकार का स्वतंत्र, असहाय रूप में पाठ नहीं है, पूर्व और पर पाँचों अकारों के साथ है। अत: यहाँ भा-गत 'आ' में आदित्व का आरोप नहीं कर सकते है। मुख्य रूप से स का 'अ' ही आदि में है।

५. 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' अष्टा० १/१/७३।

६. वही, ४/३/५३। ७. वही, ४/३/१४४।

८. सभासन्नयन शब्द, 'भव' अर्थ में अण् प्रत्यय, आदि वृद्धि होकर निष्पन्न।

९. अष्टा० ३/३/५६। १०. अष्टा० ३/२/३।

असहाय न होने से उसे सुबन्त[१] नहीं माना जाता। फलत: सुबन्त न होने से 'स' की पद संज्ञा[२] नहीं होती है। यदि पदसंज्ञा हो जाती तो पद के आदि 'स' का 'सात्पदाद्यो:'[३] सूत्र से षत्व का निषेध हो जाता।

परिभाषा का हेतु—आद्यन्तवदेकस्मिन्'[४] सूत्र में भाष्यकार इस परिभाषा को लोकन्यायमूलक मानते हैं। नागेश ने इसी का समर्थन किया है।[५] यह लौकिक न्याय है। लोक में जब किसी के बहुत पुत्र होते हैं, तब वह किसी एक को ही यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र है, यह कनिष्ठ है और यह मध्यम है, ऐसा नहीं कहता है। परन्तु यदि उसका एक ही पुत्र है तो वह उसी को 'यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र है', यही कनिष्ठ हैं, 'यही मध्यम है' ऐसा कहते हुए देखा जाता है। इस प्रकार यह न्याय असहायविषय में प्रवृत्त होता है— ऐसा ज्ञात हो जाता है।

व्यपदेशिवत् वचन की आवश्यकता विचार— इसका शंका समाधानपूर्वक विवेचन अधोलिखित है— **(क) शंका**— 'आद्यन्तवदेकस्मिन्'[६] इस सूत्र से ही आद्यन्तकत्भाव सिद्ध हो जाने पर व्यपदेशिवद्वचन व्यर्थ है, इसकी क्या आवश्यकता है? **समाधान**— इस परिभाषा से एक (असहाय) को अशास्त्रीय[७] (अनुपदिष्ट) कार्य भी अतिदेश से प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इसके रहने पर भी आद्यन्त से अनुपदिष्ट एकाच्त्व आदि रूप अशास्त्रीय कार्य के लिए इस (कार्य) की आवश्यकता है। 'एकाच्' के आदित्व को किसी शास्त्र ने नहीं बोधित किया है, अत: 'एकाच्' के प्रथम तथा स्वयं एकाच् बहुब्रीहि[८] रूप एवं आदित्व रूप आदि[९] अशास्त्रीय

---

१. क्योंकि ससहाय होने से तदादि, तदन्त धर्म केवल 'सु' मेंअतिदिष्ट नहीं कर सकते, अत: 'सु' का सुबन्त रूप से व्यवहार नहीं हो सकता है।

२. अष्टा० १/४/१४।

३. अष्टा० ८/३/१११, 'सु' में तदादित्व का अतिदेश करके पद का आदि कहला सकता है।

४. अष्टा० १/१/२१।

५. प०शे०,पृ० १७३, पं०४-५।

६. अष्टा० १/१/२१।

७. जो किसी भी शास्त्र (सूत्र) से बोधित नहीं किया गया है, परन्तु जिसका लौकिक न्याय के समान सापेक्ष धर्म का अतिदेश करके ग्रहण किया जाता है- यथा एकाच्त्व,तदादित्व,केवल प्रत्यय में तदन्तत्व आदि। द्र० म०भा० १/१/२१ तथा वही,प्र० एवं उ०।

८. 'एकाच्' में अन्य पदार्थ धातु की सापेक्षता के अभाव में अशास्त्रीय व्यपदेशिवद्भाव मानकर बहुब्रीहि सिद्धि होता है।

९. धातु का अवयवत्व, अतिदेश, प्राथम्यव्यवहार, केवल प्रत्यय में अन्तत्व तथा तदादित्व होता है।

कार्य हैं, इनकी सिद्धि हेतु इस परिभाषा की आवश्यकता है। **(अ) अशास्त्रीयातिदेश का फल**— अशास्त्रीय अतिदेश का फल यह है कि इस परिभाषा से 'इयाय' आदि[१] उदाहरणों में 'एकाच्' को मानकर होने वाला द्वित्व सिद्ध होता है। 'एकाचो द्वे प्रथमस्य'[२] सूत्र में 'एकाच्' शब्द बहुब्रीहि समास में है— (एकोऽच् यस्मिन्) 'एक अच् जिसमें हो तथा अन्य एक या अधिक हल् हों',— वह 'एकाच्' अवयव कहलाता है। यह सूत्र धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व विधान करता है। 'इयाय'— इण् गतौ- यहाँ केवल एक ही अच् रूप धातु है। अन्य पदार्थ कुछ भी नहीं हैं जिसका एक अच् घटक हो। इस परिभाषा से ही असहाय 'इ' को एक ही अच् धातु की अपेक्षा में अनेकाच् व्यपदेशी है, उसके समान मानने से 'एकाच्' रूप का द्वित्व हो जाता है। इसी प्रकार 'भवति'[३] इत्यादि में 'ति' के प्रति 'भव' अंग है, क्योंकि जिससे 'ति' प्रत्यय विधान किया गया है, वह 'भू' इस 'भव' का आदि है, परन्तु 'भू+शप्+ति' में 'शप्' के प्रति भू' इसी परिभाषा से अङ्ग बनता है। यद्यपि भू, भू से अतिरिक्त कुछ नहीं है। तदादि (भू का आदि) नहीं तथापि इसको तदादि मान लिया जाता है। इसी प्रकार इः,[४] इयान्[५] इत्यादि कार्यकालपक्ष में इस परिभाषा से तद्धितान्त माने जाने पर प्रातिपदिक संज्ञक सिद्ध होते हैं। ये प्रकृति के विपरिलोप-सर्वापहारी[६] लोप से तद्धित प्रत्यय मात्र (इञ् तथा इयत्)[७] अवशिष्ट रूप हैं। अन्यथा असहाय इञ्, इयत्-तद्धित मात्र, तद्धितान्त व्यपदेश का भागी न होने से, 'कृत्तद्धितसमासाश्च'[८] से प्रातिपदिक नहीं हो सकते। **उक्त रूप (इयाय) की सिद्धि में कैयट का मत**— 'इयाय' इस प्रयोग में इकार मात्र में 'एकाच्त्व' की उपपत्ति की रीति कैयट ने निम्न प्रकार से कहीं है[९]— इनका कथन है कि मुख्य व्यवहार के सदृश से द्वित्वसिद्धि की आवश्यकता नहीं है। अर्थ के त्याग और उपादान के ही व्यवहार से 'इयाय' में इकार में एकाच्त्व के निर्देश से द्वित्व सिद्ध

---

१. भवति, पपाच, इः, इयान्, कुरुते आदि।

२. अष्टा० ६/१/१।

३. भू धातु, लट्, तिप्, शप्, गुण तथाअवादेश भव+ति।

४. अस्य अपत्यम्-'इः' इस अर्थ में 'अ' से इञ् प्रत्यय, भसंज्ञक अ का लोप होकर प्रत्यय मात्र शिष्ट 'इ' का प्र०वि०ए० का रूप।

५. इदं परिमाणमस्येति- इस अर्थ में 'इदम्' शब्द से वतुप् प्रत्यय तथा व के घ आदेश का 'इयत्' का प्र० वि०ए० में स्वादि होकर पुल्लिंग का रूप।

६. सम्पूर्ण अवयवों का लोप होना।

७. अष्टा० ४/१/९५ से इञ् तथा अष्टा० ५/२/४० से वतुप् ।

८. अष्टा० १/२/४६।

९. प०शे०,पृ० १७५,पं० ४-५ तथा द्र० प० १/१/२१।

हो जाता है। अर्थविशिष्ट 'इ' धातु है। उसमें जब इकार में अच् व्यवहार करना हो, तब अर्थ का त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार 'अच्त्व' व्यवहारकाल में अर्थ के त्याग से और 'एकाच्त्व' व्यवहार में अर्थ के उपादान से इकार में एकाच्त्व व्यपदेश होता है। इस प्रकार 'इयाय' आदि में अर्थवान् 'इ' धातु है, जिसका 'इ' वर्ण रूप एक अच् अवयव है, ऐसा अर्थ करने पर 'एकाच्' व्यपदेश बन जाता है और 'इ' व्यपदेशी बन जाता है, फलत: द्वित्व[१] सिद्ध हो जाता है। **नागेश द्वारा उक्त मत का खण्डन**— कैयट का उपर्युक्त कथन अयुक्त है, क्योंकि भाष्य[२] में 'इयाय' इसमें मुख्य के सदृश व्यवहार होने से द्वित्वसिद्धि कही गयी है। भाष्योक्तरीति से इस कैयटप्रोक्त अर्थ में मुख्य व्यवहार का ही लाभ होता है। इस अवस्था में मुख्य व्यवहार होने से प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति अनावश्यक हो जाती है। नागेश ने जैसे 'एकपदा ऋक्'[३] का उदाहरण दिया है। यहाँ 'एकपदा'[४] में बहुब्रीहि समास है— 'एकपाद वाली ऋचा' यह अर्थ है। इसका यहाँ पदादि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से व्यपदेशयुक्त है, ऐसा 'आद्यन्तवदेकस्मिन्'[५] सूत्र के भाष्य में कहा गया है। इसका आशय यह है कि ऋक् अर्थ भी है और शब्द भी। ऋक् शब्द शब्द और अर्थ वाचक दोनों है। उस अर्थ विशिष्ट ऋचा का शब्दमात्र रूप एकपाद अवयव है तथा शब्द मात्ररूप 'एकपाद अवयव वाली ऋचा' रूप अर्थ का आश्रय करके 'एकपदा ऋक्' यह तो मुख्य व्यवहार ही है। फलत: अर्थ के त्याग और उपादान से होने वाला व्यवहार मुख्य ही है।[६] इस परिभाषा पर आश्रित नहीं है। अत: कैयटोक्त कथन अयुक्त है। **(क) उपर्युक्त पक्ष के समर्थन में हेतु**— कैयटोक्त रीति से 'एकाच्त्व' का उपपादन अयुक्त ही है। इसमें लोक का व्यवहार भी प्रमाण है। जिस प्रकार एक पुत्र में ही उस धर्म का आरोप करके एक साथ ही ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व आदि का व्यवहार होता है तथा जिस प्रकार 'शिलापुत्रक का शरीर' इसमें शिलापुत्र पृथक् है तथा उसका शरीर अन्य है, इस प्रकार एक ही शिलापुत्रक में (पत्थर मूर्ति) में अनेक छोटी, बड़ी अवस्थाओं के होने से समुदाय के आरोप से 'यह इसका शरीर है', इत्यादि व्यवहार होता है। उसी प्रकार उक्त दो न्यायों से 'इयाय'[७] इसमें

---

१. अष्टा० ६/१/८ 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'।

२. म०भा० १/१/२१।

३. यह वाक्य है यजुर्वेद में यत् तत् इत्यादि ऋचाएं हैं, उनका वाचक एक — पदा शब्द है।

४. एकं पदं यस्याम्=एकपदा ऋक्=बहुब्रीहि समास।

५. अष्टा० १/१/२१। ६. उ० १/१/२१।

७. दो न्यायों में व्यवहार (१) एकपुत्र में ज्येष्ठ कनिष्ठत्वादि व्यवहार (२) एक धर्म में उस उस धर्म का आरोप करके शिलापुत्रकशरीरन्याय। प०शे०,पृ० १७७, पं० १-५।

व्यपदेशिवद्भाव[१] से 'एकाच्त्व' की सिद्धि होती है। इस प्रकार यह परिभाषा लोकन्याय से सिद्ध होती है। कैयट प्रतिपादित रीति से नहीं, क्योंकि उस रीति से 'एकाच्त्व' का उपपादन नहीं हो सकता।[२]

परिभाषा घटक 'एकस्मिन्'=असहाय के अर्थ का स्पष्टीकरण— (क) शंका— यदि इस परिभाषा की प्रवृत्ति असहाय के विषय में ही होती है तो 'भवति' में 'भू- अ- ति' इस अवस्था में गुण करने में 'भू' इसकी अङ्ग संज्ञा नहीं होनी चाहिए? क्योंकि 'भू+अ' 'शप्' के साथ पढ़ा होने से ससहाय है, अत: व्यपदेशिवद्भाव न होने से तदादि समुदाय का अभाव है। अत: 'भू' को तदादि मानकर अङ्ग संज्ञा कैसे होती है? यदि नहीं होती तो गुण नहीं हो सकता? **समाधान**—यहाँ असहाय से सजातीय सहायरहित लिया जाता है। भू यहाँ किसी सजातीय शब्द से समभिव्याहृत नहीं है। 'भू' कार्यी है, 'शप्' जो इसके साथ पठित है, अङ्ग संज्ञा का निमित्त है, अत: विजातीय है। विजातीय की स्थिति में भी असहायता बनी रहती है। यहाँ शप्, भू की अंग संज्ञा का कारण है, 'शप्' के प्रति तदादि होने के लिए असहाय ही है, शप् के साथ समभिव्याहृत नहीं है। अत: परिभाषा की प्रवृत्ति होकर 'भू' का अङ्गत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार लोक में भी देखा जाता है कि विजातीय कन्याओं के होने पर भी 'एक पुत्र वाला पुरुष' यह व्यवहार करता है— अयमेव में ज्येष्ठ:। इसी में 'यही ज्येष्ठ है' इत्यादि का व्यवहार होता है, क्योंकि असहाय है। कन्या विजातीया होने से पुत्र की सहायिका नहीं मानी जाती है। इस प्रकार असहाय में ही यह न्याय प्रवृत्त होता है। **असहाय में ही प्रवृत्ति मानने पर भाष्यविरोध का परिहार— (क) शंका**— भाष्य में कहा गया है कि 'निज्' में चार एकाच् हैं। परन्तु संभव तीन ही हैं नि, इज्, निज्, परन्तु भाष्कार ने चार एकाच्[३] कहें हैं। यह असंगत होता है? संभव तब हो सकता है जब 'इकार' में भी एकाच्त्व माने। वह व्यपदेशिवद्भाव के बिना संभव नहीं है। यदि यह परिभाषा असहाय में ही प्रवृत्ति होती है, तब तो उसके 'निज्' इत्यादि[४] सहाय होने से असहाय नहीं है। फलत: व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति न होने से चार एकाच् हैं, यह भाष्य असंगत होने लगता है। **समाधान**—उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्'[५]

---

१. एक में अन्य पदार्थ का व्यपदेश मानकर।

२. 'एकाच्' उपस्थित अवयव का विशेषण है तथा वह अनर्थक होता है। फलत: अर्थ का त्याग व उपादान, दोनों अत्यन्त असम्बद्ध हैं। -द्र० प०शे०, पृ० ११७, पं० ४।

३. म०भा० ६/१/१ निज्, नि,इज्, 'इ' रूप चार अच् ।

४. प०शे०, परि० सं० ३० निज्+इज् रूप।

५. प०शे० परि० सं० ३०।

इस परिभाषा के 'एकस्मिन्' का अर्थ न जानते हुए भाष्य की वैसी उक्ति है, क्योंकि भाष्यकार का तो लक्ष्य ही उद्देश्य रहता है। इस प्रकार वह भाष्य एकदेशी की उक्ति है। अत: उससे विरोध का महत्त्व नहीं है।

(ख) 'अर्थवता व्यपदेशिवद्भाव' का अर्थ— भाष्यकार यह वचन 'तास्यनुदात्तेत्०'[१] इत्यादि सूत्र में पढ़ते हैं, जिससे निम्न अर्थ प्रतीत हो जाता है। इस वचन से भी जो अर्थवान् होता है, वह असहाय होता है। अर्थबोधक शब्द व्यपदेशी के सदृश भाव (कार्य) को प्राप्त करता है, यह इस वचन का अर्थ है। असहाय ही प्राय:[२] अर्थवान् होता है— ऐसा समझना चाहिए। जैसे 'अधीते' में उपसर्ग समभिव्याहार में 'अधीङ्' में ससहाय 'इङ्' भी अर्थवान् देखा जाता है, क्योंकि उसमें अनुपपत्ति नहीं होती है। इस प्रकार इस परिभाषा की प्रवृत्ति के विषयमें सर्वत्र असहाय के ही अर्थवान् होने से 'अर्थवत्' से असहाय का ही उपलक्षण समझा जाता है, अत: इसको परिभाषान्तर मानना अयुक्त है।

(ग) असहाय में प्रवृत्ति मानने में शंका—'कुरुते'[३] में 'त' शब्द के अकार की टि संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि अकार के ससहाय होने से व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं हो सकती? **समाधान**— 'कुरुते' इत्यादि में 'त' शब्द का अकार 'अचामन्त्य:' इस व्यवहार के लिए तथा 'स आदिर्यस्य'=इस बहुब्रीहि अर्थ के लिए असहाय ही है। 'त' शब्द में विजातीय तकार (व्यंजन) के होने पर भी अकार (स्वर' असहाय ही है, द्वितीय सजातीय अकार नहीं है। अत: 'अ' की टि- संज्ञा सिद्ध हो जाती है। नागेश ने इसका तात्पर्य-विस्तार से उद्योत[४] आदि ग्रन्थों में लिखा है।

परिभाषा का प्रयोजन— असहाय वर्ण में भी व्यपदेशी के सदृश कार्य होने से 'एकाच्' धातु में प्रथम अवयव मानकर द्वित्व हो जाता है। इसलिए धातु- 'पपाच' आदि[५] में 'पच्' का भी द्वित्व हो जाता है। इसी प्रकार अस्य अपत्यम्-'इ:'[६] तथा 'इयान्'[७] आदि में केवल अकार को अकारान्त मानकर तथा केवल प्रत्यय को तद्धित प्रत्ययान्त मानकर क्रमश: 'अत इञ्'[८] से 'इञ्' प्रत्यय तथा 'कृत्तद्धित०'[९] सूत्र से

---

१. अष्टा० ६/१/१८६ तथा ६/१/१४५ एवं दोनों पर प्र० एवं उ०।

२. कहीं-कहीं ससहाय भी सार्थक होता है। जैसे अधीते में 'अधि+इ', मिलकर।

३. कृ धातु, लट् लकार, आत्मनेपद में प्र०पु०ए० में 'त' प्रत्यय।

४. उ० १/१/२१अर्थवता की व्याख्या।

५. पपाठ, इयाज, पठ् तथा यज् धातु, लिट्, प्र०पु०ए० के रूप।

६. टि० पृ०११०, टि०सं०५। ७. टि० पृ० ११२।

८. अष्टा० ४/१/९५। ९. अष्टा० १/२/४६।

प्रातिपदिक संज्ञा सिद्ध होती है। 'आदेशप्रत्यययोः'[१] इस सूत्र से प्रत्यय के अवयव सकार को कहा गया मूर्धन्य, 'यक्षत्'[२] में केवल 'सिप्'[३] विकरण के 'स्' मात्र को व्यपदेशिवत् मानकर हो जाता है। इसी प्रकार इस परिभाषा के अनेक अन्य प्रयोजन हैं।

समीक्षा— पाणिनीय प्रक्रिया में किसी के अन्त तथा किसी के आदि को मानकर अनेक कार्यों का विधान है। परन्तु जहाँ केवल एक ही वर्ण आदि रहता है, वहाँ तदन्त या तदादि का व्यवहार संभव नहीं है, क्योंकि एक ही अपना आदि अथवा अपना अन्त नहीं हो सकता। ये व्यवहार परस्परसापेक्ष हैं। इस स्थिति में केवल एक में भी तदादित्व तथा तदन्तत्व का व्यवहार सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत परिभाषा की आवश्यकता है। इस परिभाषा के कारण जहाँ वास्तविक व्यवहार संभव नहीं रहता है, वहाँ भी उस व्यवहार का अतिदेश करके कार्य कर लेने चाहिए। इस परिभाषा का स्वरूप सभी परिभाषा पाठों में समान नहीं है। व्याडि 'अप्रातिपदिकेन' शब्द के साथ भिन्न रूप से पढ़ते हैं।[४] ऐसा ही पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर ने पाठ किया है।[५] सर्वप्रथम चन्द्र गोमिन् और जैनेन्द्र ने इसी रूप में परिभाषा पढ़ी है।[६] नागेश भी इसी रूप में पढ़ते हैं। पुरुषोत्तम आदि द्वारा प्रोक्त परिभाषा को एक पृथक् परिभाषा रूप में नागेश पढ़ते हैं। इस प्रकार यह केवल दो ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होती है। जैनेन्द्र ने सामान्य अर्थ करके केवल आशय प्रकट कर दिया है। नागेश ने ही इस परिभाषा का शब्दार्थ पूर्वक विशिष्ट अर्थ प्रतिपादित करते हुए इसके प्रयोजन का प्रतिपादन किया है। साथ ही परिभाषा के मूल का प्रतिपादन करते हुए इसकी आवश्यकता बतायी है एवं उपयोगिताप्रदर्शन के निमित्त प्रयोजन का वर्णन किया है। इस परिभाषा की व्याख्या के प्रसंग में 'इयाय' में इकार में एकाच्त्व प्रतिपादन के लिए की गयी कैयटोक्त रीति का उल्लेख करके उनके मत का विस्तार से खण्डन किया है तथा कैयट के अनुसार अभिमत इस परिभाषा विषयक मत का अति विस्तार से खण्डन किया है। इस प्रकार इस परिभाषा की नागेश ने सम्यक् आलोचना प्रस्तुत की है।

(७७) ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति।।प० ३१।।

परिभाषा का उपक्रम— जिस प्रकार अङ्गाधिकार तथा पदाधिकार में तदन्त विधि होती है। उसी प्रकार प्रातिपदिक अधिकार में भी तदन्तविधि मानकर प्रातिपदिक

---

१. अष्टा०, ८/३/५९।

२. यज् धातु, लेट् लकार का रूप, द्र० म०भा० ८/३/५९।

३. अष्टा० ३/१/३४।

४. 'एकस्मिन्नपि व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकग्रहणेन' व्याडि पाठ परि०सं०६१।

५. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

६. चान्द्रवृत्ति परि०सं०१७, जैनेन्द्रवृत्ति परि०सं० १४, 'व्यपदेशिवद्भाव एकस्मिन्'।

को विशेष्य और उपात्त शब्दों को विशेषण बनाकर तदन्तविधि[१] करना चाहिए। इस प्रकार 'गर्गादि' जिससे अन्त में है— ऐसे प्रातिपदिक से 'यञ्'[२] प्रत्यय होना चाहिए। इसके फलस्वरूप 'परमगर्ग' शब्द से भी 'यञ्' प्रत्यय का अतिप्रसंग आता है। इसके निवारणार्थ यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— प्रत्ययविधि करने में विधायक सूत्र में जिस प्रातिपदिक का विशिष्ट रूप से ग्रहण-उच्चारण किया जाता है उस विशेषणभूत-प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती है। केवल अपने स्वरूप का ही बोध होता है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा का ज्ञापक 'सपूर्वाच्च'[३] सूत्र है। यह सूत्र विद्यमान पूर्ववर्ती पद के साथ शब्द से 'इनि' प्रत्ययविधान करता है। इस सूत्र से पूर्व का सूत्र 'पूर्वादिनि:'[४] (केवल) पूर्व प्रातिपदिक से इनि विधान करता है। इसका उदाहरण— पूर्वमनेन 'कृतम्-पूर्वी' है। 'सपूर्वाच्च' सूत्र का उदाहरण— कृतपूर्वी, श्रुतपूर्वी आदि है। यहाँ जो पूर्वपद के विद्यमान रहते पूर्व शब्द से इनि विहित है, वहीं इस परिभाषा में ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो 'पूर्वादिनि:' से तदन्त-विधि के आधार पर तदन्त 'पूर्व' शब्द से भी इनि प्रत्यय होकर 'कृतपूर्वी' आदि की सिद्धि हो जायेगी, 'सपूर्वाच्च' सूत्र व्यर्थ हो जाता है। पुन: व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक बनता है। फलत: यहाँ तदन्तविधि न होने से यह सूत्र स्वार्थ में चरितार्थ है।

परिभाषा का मूल तथा प्रवृत्ति स्थल— यह परिभाषा भाष्यस्थ[५] 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्' वार्तिक के समास अंश को छोड़कर शेष 'प्रत्ययविधौ०' इत्यादि के अंश का अनुवाद मात्र है, उसी के अर्थ को शब्दान्तर के द्वारा यह परिभाषा व्यक्त करती है तथा उस अंश का अनुवाद होने से ही यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ प्रत्यय का विधान किया गया है। प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य विधि करने में यह नहीं प्रवृत्त होती है। ऐसे स्थल पर तो तदन्त विधि हो ही जाती है।[६] **(क) उक्त प्रवृत्ति में प्रमाण**— इस परिभाषा का प्रत्ययविधि में ही प्रवृत्त होने का कारण यह है कि वार्तिक घटक प्रत्यय की अनुवादक है। इस कारण यह अपूर्व नहीं है। इसीलिए 'येन विधिस्तदन्तस्य'[७] सूत्र के भाष्य में 'अप्तृन्तृच्०'[८] इत्यादि[९]

---

१. अष्टा० १/१/७२। २. वही,४/१/१०५ 'गर्गादिभ्यो 'यञ्'।

३. वही, ५/२/८७। ४. वही, ५/२/८६।

५. म०भा० वा० १/१/७२।

६. प०शे०, पृ० १८२, पं० ३-५ तथा का० ६/४/११।

७. म०भा० १/१/७२। ८. अष्टा० ६/४/११।

९. वही,७/१/७५ तथा ७/१/९८।

सूत्र (जो प्रत्ययविधि नहीं हैं) में गृह्यमाण प्रातिपदिक से भी तदन्त विधि मानी है। अत: स्वसा, परमस्वसा आदि[१] भाष्य प्रदत्त उदाहरण संगत होते हैं। अर्थात् दोनों में दीर्घ सिद्ध हो जाता है अन्यथा इस परिभाषा से तदन्तविधि के निषेध हो जाने से उसकी असंगति स्पष्ट ही है। **(ख) उक्त युक्ति में अन्य प्रमाण**— इसीलिए उस वार्तिक घटक प्रत्यय का अनुवादक होने से ही तदन्त विधि सूत्र के भाष्य में 'समासप्रत्यविधौ प्रतिषेध:'[२] इस निषेध की तरह प्रस्तुत परिभाषा रूप निषेध का कथन नहीं किया गया है। अन्यथा तदन्तविधि के निषेधक वचन के कथन के अवसर पर इसको भी अवश्य कहना चाहिए था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि यह अनुवादक ही है, नूतन वचन नहीं तथा यह ('प्रत्यय विधौ०' में वार्तिकस्थ) निषेध भी वहीं लगता है, जहाँ प्रातिपदिक का विशिष्ट रूप से उच्चारण किया गया है अर्थात् विशिष्ट प्रातिपदिक से प्रत्ययविधि करने में ही वह निषेध प्रवृत्त होता है। अत: उसका अनुवादक होने से यह भी विशिष्ट प्रातिपदिक से होने वाले प्रत्ययविधि में ही निषेध करती है। **(ग) उक्त अर्थ-लाभ का प्रमाण**— विशेष प्रातिपदिक में प्रवृत्त होती है। इसका प्रमाण यह है कि 'असमासे निष्कादिभ्य:'[३] सूत्र के भाष्य में स्पष्टत: उपर्युक्त अर्थ ध्वनित है। वहाँ कहा गया है कि 'असमासे' का ग्रहण इसलिए किया गया है कि पूर्व-सूत्र 'प्राग्वतेष्ठञ्'[४] में तदन्तविधि होती है, अत: यथा— निष्क से 'ठञ्' प्रत्यय होता है, वैसे ही परमनिष्क से भी हो सके। परमनिष्केण क्रीतम्='परमनैष्किकम्'[५]। परन्तु इसका निवारण कर दिया गया है, यह कहकर तदन्तविधिप्रतिषेध 'प्राग्वतेष्ठञ्' में प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि उस सूत्र में किसी विशिष्ट प्रातिपदिक का ग्रहण नहीं किया गया है, जिससे प्रत्ययविधि की गई हो। अत: प्रस्तुत सूत्र में 'असमासे' न रहने पर भी 'प्राग्वतेष्ठञ्' में तदन्तविधि हो जाती है। यदि यह परिभाषा (उभयत्र) जहाँ विशिष्ट रूप प्रातिपदिक का ग्रहण हुआ है और जहाँ नहीं हुआ है। वहाँ समानरूप से प्रवृत्त हो तो उपर्युक्त भाष्यग्रन्थ असंगत हो जायेगा। अत: इससे 'प्रत्ययविधौ०'[६] वार्तिक एवं परिभाषा, दोनों का समान विषयत्व ध्वनित होता है।

परिभाषा का प्रयोजन— जहाँ प्रत्यय विधायक में ऐसे प्रातिपदिक का ग्रहण हो, जो केवल प्रातिपदिकत्व रूप से प्रत्यय मात्र का ग्राहक हो, ऐसे सूत्र में प्रातिपदिक से तदन्त विधि नहीं होती है। अत एव 'गर्गादिभ्यो यञ्'[७] सूत्र में गर्गादि पढ़कर जो 'यञ्' विधान किया गया है, वह गर्गाद्यन्त से नहीं होता है। फलत: 'परमगर्ग' से 'यञ्'

---

१. परमनप्ता,नप्ता, होता, परमहोता। २. म० भा० वा० १/१/७२।

३. अष्टा० ५/१/२०। ४. वही, ५/१/१८।

५. परमनिष्केण क्रीतम्=इस अर्थ में 'परमनिष्क' से ठञ् प्रत्यय, ठ का इक्, आदि वृद्धि होकर निष्पन्न रूप।

६. म०भा०वा० १/१/७२। ७. अष्टा० ४/१/१०५।

प्रत्यय न होकर केवल गर्ग से ही होता है। इसी प्रकार 'नडादिभ्य: फक्'[१] से सूत्रनडस्यापत्यम्='सौत्र-नाडि:'[२] आदि में तदन्तविधि के निषेध होने से फक् नहीं होता है। इस प्रकार प्रत्ययविधि में ज्ञापित होने से यह प्रत्ययविधिविषयक है। अत: सर्वत्र ही प्रत्ययविधि विषय में प्रवृत्त होती है। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी समझने चाहिए।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा तदन्तविधि की अति व्याप्ति का वारण करती है। विशिष्ट प्रातिपदिक को मानकर तदन्तविधि प्राप्त होती है, उसी का निषेध यह परिभाषा करती है। यह परिभाषा प्राय: सभी परिभाषाग्रन्थों में कुछ में शब्दभेद से प्राप्त होती है। व्याडि ने कुछ भिन्न रूप में पाठ किया है।[३] इसके पश्चात् शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव आदि[४] सभी ने इसी रूप में पाठ किया है। चन्द्रगोमी एवं हेमचन्द्र ने भी कुछ शब्दान्तर से पाठ किया है।[५] जैनेन्द्र भी शब्दभेद से पढ़ते हैं।[६] भोज 'न प्रातिपदिकेन', रूप में यही भाव व्यक्त करते हैं।[७] इस परिभाषा का मूल विषयक दृष्टिकोण सभी में समान है। सभी के अनुसार यह ज्ञापकसिद्ध है। 'पुरुषोत्तमदेव' आदि[८] 'सपूर्वाच्च'[९] इस सूत्र को इसका ज्ञापक मानते हैं। नागेश भी इन्हीं का अनुकरण करके उक्त ज्ञापक ही प्रस्तुत करते हैं। केवल व्याडि ने 'सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च'[१०] सूत्र का 'अन्त'-ग्रहण इसका ज्ञापक मानते हुए विस्तार से उपपादन किया है।[११] परिभाषा के विषय का स्पष्टीकरण अन्य परिभाषा ग्रन्थों में इतना नहीं किया गया है, जितना कि नागेशकृत व्याख्या में मिलता है। व्याडि, जैनेन्द्र इस विषय में कुछ नहीं कहते हैं। पुरुषोत्तमदेव प्रत्ययविधि में ज्ञापित होने के कारण इस परिभाषा को प्रत्ययविधिविषयक मानते हैं तथा इस परिभाषा का प्रत्ययाख्यान भी भाष्य में है, इसका भी प्रतिपादन करते हैं। सीरदेव ने भी प्रत्ययविधिविषयक बताते हुए भाष्यकृत प्रत्याख्यान का भी उपपादन किया है। इन्होंने 'अन्ये' के द्वारा अन्य मत का भी उल्लेख किया है। नीलकण्ठ 'समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेध:'[१२] इत्यादि वार्तिक का यह परिभाषा अनुवाद है— ऐसा मानते हैं तथा यह प्रत्ययविधि विषयक है= इसके समर्थन में भाष्यस्थ उदाहरण देते हुए सहेतुक इसकी

---

१. अष्टा०, ४/१/९९।

२. 'सूत्रनडस्यापत्यम्'= इस अर्थ में 'सूत्रनड' शब्द से इञ् प्रत्यय।

३. 'प्रातिपदिकविधौ तदन्तविधिर्नास्ति'व्याडिवृत्ति, परि० सं० ९६।

४. सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

५. चान्द्रवृत्ति परि० सं० ११, हेमवृत्ति परि० सं० ७५।

६. 'मृद्ग्रहणे न०' जैनेन्द्र वृत्ति, परि० सं० ५४।

७. भोजपाठ, परि० सं० ९।

८. सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर, जैनेन्द्र।

९. अष्टा० ५/२/८७।

१०. अष्टा० ४/१/१५२।

११. व्याडि पाठ परि० सं० ६९।

१२. म०भा० वा० १/१/७२।

उन्होंने अनुवादकता सिद्ध की है। नागेश इस परिभाषा की व्याख्या में इनका पूर्णतः अनुकरण करते हुए कुछ स्पष्टता के साथ प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार यह उक्त वार्तिक के ही प्रत्यय अंश का अनुवाद मात्र है यह तथा उक्त वार्तिक भिन्न-भिन्न नहीं है। अतः जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर का इस वार्तिक को स्वतन्त्र रूप से परिभाषा[१] रूप में पढ़ना युक्त नहीं है। पुरुषोत्तमदेव इसका पाठ परिभाषारूप में प्रमाणिक मानते हैं।[२] परिभाषा के प्रयोजनादि सभी में समान रूप से प्राप्त होते हैं। नागेश परिभाषा का प्रवृत्तिविषयक भी स्पष्ट करते हैं। किस प्रकार के प्रत्यय विधि में तदन्त विधि नहीं होती है। इस प्रकार नागेश ने परिभाषा की सम्यक् व्याख्या की है।

(७८) ताच्छीलिकेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।।प०६८।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका होती है कि 'आ क्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु'[३] इस सूत्र के अधिकार में उक्त विशिष्ट अर्थों में 'तृन्' प्रत्यय का विधान किया गया है,[४] जो 'ण्वुल्' का अपवाद है। 'ण्वुल्तृचौ'[५] सूत्र से सामान्यतः कर्ता में ण्वुल् और तृच् का विधान किया गया है। यह कर्तृसामान्य में विहित ण्वुल्, 'तृन्' के अर्थ में भी हो जाना चाहिए? 'तृन्'[६] सूत्र ण्वुल् का अपवाद है। अतः 'तृन्' से बाधित हो जायगा- ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'वासरूपोऽस्त्रियाम्'[७] सूत्र से असमान रूप अपवाद उत्सर्ग का विकल्प से बाधक होता है। यहाँ पर ण्वुल् तथा तृन् असरूप हैं भी। इस प्रकार पक्ष में उत्सर्ग 'ण्वुल्' भी होना चाहिए? इसलिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— तच्छीलादि अर्थों में विहित अपवाद-रूप तृन् आदि प्रत्ययों के विषय में 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' की प्रवृत्ति नहीं होती है।

परिभाषा का आशय— यह है कि तच्छीलादि अर्थों में विहित ये अपवाद रूप प्रत्यय[८] अतच्छीलादि अर्थों में विहित उत्सर्गभूत प्रत्ययों का नित्य बाध करते हैं।

परिभाषा का ज्ञापक— 'निन्दहिंसक्लिशखादविनाशपरिक्षिपपरिरटपरिवादि-

---

१. परि० संग्रह, उक्त ग्रन्थ, परि० सं०क्रमशः ५५, १२१, ५९।

२. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ८०। ३. अष्टा० ३/२/१३४।

४. तृन् अष्टा० ३/२/१३५। ५. अष्टा० ३/१/१३३।

६. अष्टा० ३/२/१३५। ७. अष्टा० ३/१/९४।

८. निम्न प्रत्यय ताच्छीलिक हैं— इष्णुच्, ग्स्नु, घिनुण्, वुञ्, युच्, उकञ्, इनि, आलुच्, रु, क्मरच्, घुरच्, क्वरप्, र, उ, कि, किन्, नजिङ्, आरु, क्रुक्, क्लुकन्, वरच् आदि।

व्याभाषासूयो[१] वुञ्' सूत्र में यगन्त असूञ् को छोड़कर, एकाच् धातुओं से 'तृन्' प्रत्यय का अपवाद 'वृञ्' विधान इस परिभाषा का ज्ञापक है। क्योंकि वह तच्छीलादि अर्थ विशिष्ट कर्ता में 'ण्वुल्' को बाधकर प्राप्त 'तृन्' के बाधने के लिए किया गया है। यदि यह परिभाषा न होती तो 'तृन्' के द्वितीयपक्ष[२] में सामान्य विहित 'ण्वुल्' प्रत्यय होकर 'निन्दक:'[३] आदि शब्दरूप सिद्ध ही हो जाते, जो 'वुञ्' प्रत्यय के होने से बनते हैं तथा स्वरभेद भी नहीं होता है, क्योंकि 'निन्दक:' आदि में ण्वुल् और वुञ् का स्वर भी एक ही होता है। फलत: एकाच् धातु से चाहे वुञ् हो, चाहे ण्वुल् हो, स्वर में कोई भेद नहीं आता। इस प्रकार इनसे वुञ्-विधान व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापक है कि 'तृच्' (ण्वुल् के साथ पठित) आदि[४] प्रत्यय, वाऽसरूपविधि से 'वुञ्' आदि[५] के विषय में नहीं होते,[६] तब वुञ् विधान सार्थक हो जाता हैं। इसके ज्ञापित होने पर नित्य ण्वुल् को नित्य रूप से बाधकर होने वाले तृन् को बाधने के लिए वुञ् का विधान है। इस प्रकार यह ज्ञापकसिद्ध परिभाषा है।

परिभाषा का विशेष प्रवृत्तिनिमित्त— इस परिभाषा में 'ताच्छीलिकेषु' यहाँ विषय में सप्तमी है। इससे यह जानते हैं कि जो कोई भी ताच्छीलिक प्रत्यय हो, उसके विषय में वाऽसरूप विधि प्रवृत्त नहीं होती। वे अपवाद रूप असरूप प्रत्यय, केवल ताच्छीलिक उत्सर्ग प्रत्ययों को ही नित्य बाध न करके अताच्छीलिकों को भी नित्य ही बाधते हैं। ग्रन्थकार के अनुसार टीकाकारों[७] ने यह निष्कर्ष निकाला है— **(१)** अपवाद रूप प्रत्यय ताच्छीलिक होना चाहिए। **(२)** अर्थ यह हुआ कि ताच्छीलिक अपवाद रूप प्रत्ययों के विषय में सामान्यत: विहित अताच्छीलिक 'तृच्' आदि प्रत्यय वासरूप विधि से नहीं होते तथा ताच्छीलिक प्रत्ययों में भी परस्पर वाऽसरूपविधि नहीं होती है।[८] **(क) दोनों स्थलों में परिभाषा की प्रवृत्ति मानने पर शंका और समाधान— शंका**— यदि ताच्छीलिक प्रत्ययों के विषय में असरूप अपवाद नित्य

---

१. अष्टा० ३/२/१४६।

२. वासरूपन्याय से विकल्प पक्ष में (तृन् के अभाव में)।

३. निन्दितुं शीलमस्य- निन्दक:, निन्द्, ण्वुल् होकर, वु का अक होकर निष्पन्न।

४. युच्, तृन्, ण्वुल् आदि। ५. उकञ् इष्णुच्, आदि।

६. 'तृन्' के द्वारा नित्य'ण्वुल्' का बाध करने पर 'निन्दक:' रूप सिद्धि के लिए 'वुञ्' विधान किया गया है।

७. गदा, पृ० १५८, गूढार्थ०, पृ० ३८१।

८. यथा 'उकञ्' के विषय में 'युच्' नहीं होता, इष्णुच् के विषय में 'तृन्', वरच् के विषय में 'युच्' नहीं होता।

ही उत्सर्गों को बाधते हैं तो कम्र,[१] कमना[२] ये दो रूप कैसे सिद्ध होंगे? ऐसे रूप नहीं बनने चाहिए। यहाँ 'नमिकम्पि०'[३] आदि सूत्र से जो 'र' प्रत्यय का विधान किया गया है, वह विशेष विहित होने से अपवाद है और 'अनुदात्तेतश्च हलादेः'[४] सूत्र से विहित 'युच्' उत्सर्ग है, अपवाद-उत्सर्ग के साथ असरूप भी है। अतः 'र' प्रत्यय से 'युच्' का नित्य बाध होना चाहिए तो 'कमना' रूप नहीं बन सकता? **समाधान**— ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। यह परिभाषा अनित्य है। फलतः अनित्य होने से उक्त रूप सिद्ध हो जाता है। इसकी अनित्यता में 'सूददीपदीक्षश्च'[५] सूत्र में जो दीप् से 'युच्' का निषेध किया है, वह ज्ञापक है। यदि यह अनित्य न होती तो 'नमिकम्पिस्म्य०'[६] आदि सूत्र से विहित 'र' से 'अनुदात्तेश्च०'[७] सूत्र से विहित सामान्यप्राप्त 'युच्' का नित्य बाध हो जाता, तो युच् के निषेध के लिए (अनुदात्तेत्, हलादि) 'दीप्' धातु को 'सूददीपदीक्षश्च'[८] सूत्र में क्यों पढ़ते? चूँकि यह परिभाषा अनित्य है, अतः विकल्प से बाध होगा। नित्य बाध इष्ट है, एतदर्थ सूत्र में 'दीप' का ग्रहण किया है। इस प्रकार अनित्य होने से अनेक उदाहरण सिद्ध होते हैं।[९]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से तच्छीलादि अर्थ में विहित अथवा तच्छीलाधिकारविहित 'तृन्'[१०] के पक्ष में 'ण्वुल्'[११] उत्सर्ग नहीं हो सकता है। अतः 'कर्ता' के स्थान में ण्वुल् करके 'कारकः' नहीं कह सकते। इसी प्रकार 'निन्दकः' (निन्दनशील) के स्थान में तृच् करके 'निन्दिता' नहीं कह सकते। इसी प्रकार 'अलंकृञ्०'[१२] सूत्र से ताच्छीलिक 'इष्णुच्' होकर 'अलङ्करिष्णुः'[१३] के स्थान पर सामान्य विहित ण्वुल् द्वारा 'अलङ्कारकः' नहीं होता तथा 'अलंकृञ्०' सूत्र से 'तृन्'

---

१. 'कम्रा युवतिः' कम् धातु से तच्छील अर्थ में 'र' प्रत्यय।

२. कम् धातु से 'युच्' प्रत्यय, यु का अन।

३. अष्टा० ३/२/१६७। ४. वही, ३/२/१४९।

५. अष्टा० ३/२/१५३ तथा द्र० ज्ञापक का ३/२/१५३।

६. अष्टा० ३/२/१६७। ७. वही, ३/२/१४९।

८. अष्टा० ३/२/१५३, तथा द्र० ज्ञापक का० ३/२/१५३।

९. इस परिभाषा के प्रायिक होने से अनेक प्रत्ययों का समावेश भी दिखलायी पड़ता है।

१०. अष्टा० ३/२/१३५। ११. वही, ३/१/१३३।

१२. अष्टा० ३/२/१३६।

१३. 'अलकृं' शब्द से तच्छील अर्थ में इष्णुच् प्रत्यय, गुण, रपर होकर प्र०वि० ए० का रूप।

नहीं होता है। 'अलङ्करिष्णुः' के अर्थ में 'अलङ्कर्ता' नहीं कह सकते। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा वाऽसरूपविधि का नियमन करती है। सर्वत्र धात्वधिकार में वाऽसरूपविधि मानने से कुछ दोष उत्पन्न होता है, अतः उसका संकोच किया गया है। तच्छीलाधिकारविहित अपवादों के पक्ष में उत्सर्ग रूप प्रत्यय नही होते हैं, यही इसका प्रतिपाद्य है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने मानी है।[१] परन्तु शेषाद्रिसुधी ने कुछ भिन्न रूप से मानी है। वह अर्थ की स्पष्टता की दृष्टि से किया गया पाठ प्रतीत होता है।[२] इस परिभाषा का अर्थ तो सभी में प्रायः एक ही जैसा है। नीलकण्ठ, हरिभास्कर ने 'ताच्छीलिकेषु' में विषय सप्तमी मानकर ताच्छीलिक अपवाद, ताच्छीलिक उत्सर्ग-दोनों का नित्य बाध करते हैं, यह अर्थ किया है। नागेश भी यही मानते हैं। इस परिभाषा के ज्ञापक के विषय में नागेश एवं प्राचीनों में मतभेद है। वे लोग उक्त अर्थ के लिए भिन्न-भिन्न ज्ञापक भी प्रस्तुत करते हैं। व्याडि ने इस परिभाषा का ज्ञापक 'जुचंक्रम्य०'[३] सूत्र में 'पद' धातु से 'युच्' का विधान माना है तथा विस्तार से उसका उपपादन भी किया है। उनके अनुसार परिभाषार्थ केवल यही है कि ताच्छीलिक अपवाद ताच्छीलिक उत्सर्गों का नित्य बाध करता है।[४] पुरुषोत्तमदेव ने परिभाषा के दोनों अर्थों के लिए दो ज्ञापक प्रस्तुत किये हैं। प्रथम अर्थ का 'निन्दहिंस०'[५] सूत्र से 'वुञ्' का विधान तथा द्वितीय अर्थ का 'जुचंक्रम्य०' से 'पद' धातु से 'युच्' विधान ज्ञापक माना है।[६] सीरदेव भी इन्हीं के अनुसार दोनों अर्थों के लिए उक्त सूत्र ही ज्ञापक मानते हुए विस्तार से उपपादन करते हैं।[७] नीलकण्ठ ने 'निन्दहिंस०' आदि सूत्र से 'वुञ्' विधान को ज्ञापक माना है एवं विषयसप्तमी मानकर ही उक्त दोनों अर्थ स्वीकार कर लिये हैं।[८] हरिभास्कर ने 'निन्दहिंस०'[९] आदि सूत्र से 'वुञ्' विधान तथा 'जुचंक्रम्य०'[१०] आदि से सूत्र से 'युच्' विधान को ज्ञापक माना है एवं उदाहरण पूर्वक उपपादित किया है।[११] नागेश ने नीलकण्ठ के अनुसार 'निन्दहिंस०' सूत्र से 'वुञ्' विधान को इसका ज्ञापक माना है

---

१. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

२. 'ताच्छीलिका अपवादा अताच्छीलिकानुत्सर्गास्ताच्छीलिकांश्च नित्यं बाधन्ते' द्र० शेषाद्रिसुधी वृत्ति, परि० सं० ५७।

३. अष्टा० ३/२/१५०।

४. व्याडि पाठ, परि० सं० २७।

५. अष्टा० ३/२/१४६।

६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० २८।

७. सीरदेववृत्ति, परि०सं०४३।

८. नीलकण्ठवृत्ति,परि० सं०५३।

९. अष्टा० ३/२/१४६।

१०. वही, ३/२/१५०।

११. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ४५।

एवं विषयसप्तमी मानकर दोनों अर्थों का लाभ मान लिया है। उक्त दो अर्थों के लिए दो-दो ज्ञापक उपयुक्त नहीं समझते।[१]

इस परिभाषा की प्रवृत्ति कभी-कभी नहीं भी होती है। इसके लिए व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर सभी ने यह अनित्य मानी है तथा उसका ज्ञापक 'सूददीपदीक्षश्च'[२] में 'दीप' ग्रहण करके 'युच् निषेध' को माना है। इसी प्रकार नागेश भी अनित्य तथा उसका उक्त ज्ञापक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार नागेश ने नीलकण्ठ के अनुसार संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याडि एवं पुरुषोत्तमदेव आदि ने विस्तृत व्याख्या की है। पुरुषोत्तमदेव आदि ने परिभाषा के उक्त दोनों अर्थों का पृथक्-पृथक् उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। नागेश ने उदाहरण नहीं दिया है। अत: इनकी अपेक्षा पुरुषोत्तमदेव एवं सीरदेव आदि की व्याख्या अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है।

(७९) क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।।प०६९।।

परिभाषा का उपक्रम— यहाँ यह शंका होती है कि यदि ताच्छीलिक प्रत्ययों में ही वाऽसरूप विधि का निषेध है तो अन्यत्र सर्वत्र धात्वधिकार में वाऽसरूपविधि के मानने से 'छात्रस्य हसितम्, छात्रस्य हसनम्'[३] यहाँ क्त[४] और ल्युट्[५] अपवाद[६] के विषय में 'भावे'[७] सूत्र से विहित उत्सर्ग 'घञ्' भी प्राप्त होता है।[८] 'इच्छति भोक्तुम्' यहाँ अपवाद तुमुन्[९] के विषय में 'इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ'[१०] सूत्र से विहित उत्सर्ग लिङ् और लोट् भी हो जाने चाहिए। 'ईषत्पान:[११] सोमो भवता' यहाँ अपवाद युच्[१२] के विषय में 'ईषद्दु:सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषुं खल्'[१३] सूत्र से विहित उत्सर्ग प्रत्यय 'खल्' भी

---

१. गदा पृ० १५८। २. वही, ३/२/१५३।

३. छात्र शब्द में 'नपुंसके भावे उपसंख्यानम्' वार्तिक (का० २/३/६७) से षष्ठी।

४. 'नपुसंके भावे क्त:' अष्टा० ३/३/११४।

५. 'ल्युट् च' अष्टा० ३/३/११५।

६. नपुसंकत्व विशिष्ट भावरूप अर्थ में क्त, ल्युट् विहित है, अत: विशेषविहित होने से 'अपवाद' है।

७. अष्टा० ३/३/१८।

८. वासरूपविधि से क्त, ल्युट् के विकल्प से बाधक होने से पक्ष में 'घञ्' भी प्राप्त।

९. अष्टा० 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' अष्टा० ३/३/१५८।

१०. अष्टा० ३/३/१५७।

११. 'ईषत्' उपपद रहते कृच्छ्राकृच्छ्र अर्थ में 'पा' धातु से युच् प्रत्यय, यु को अन।

१२. 'आतो युच्' अष्टा० ३/३/१२८।

१३. अष्टा० ३/३/१२६।

हो जाना चाहिए? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अपवादभूत क्त, ल्युट्, तुमुन् तथा खलर्थ में विहित खल् आदि प्रत्ययों के विषय में वाऽसरूपविधि नहीं होती अर्थात् ये अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग प्रत्ययों का नित्य बाध करते हैं।

परिभाषा में हेतु— यह परिभाषा 'वाऽसरूपविधि' की अनित्यता से सिद्ध है और उसकी अनित्यता इस प्रकार सिद्ध होती है। 'अर्हे कृत्यतृचश्च'[१] सूत्र में चकार से लिङ् का विधान है। विशेष विहित[२] लिङ् से कृत्य एवं तृच् का बाध न हो जाय, इसलिए सूत्र में 'कृत्य' और 'तृच्' का ग्रहण किया है। यदि वाऽसरूपविधि होती तो सामान्यविहित कृत्य एवं तृच् 'अर्हे कर्तरि'[३] में भी हो जायेंगे अर्थात् इनका लिङ् के साथ समावेश हो जायगा, तो कृत्य एवं तृच् का ग्रहण व्यर्थ रहता है। इस प्रकार वाऽसरूपविधि के अनित्य होने से फलत: असरूप अपवाद प्रत्यय द्वारा, उत्सर्ग के नित्य बाधक होने से कृत्य एवं तृच् का ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। इस प्रकार वाऽसरूपविधि की अनित्यता सिद्ध होती है। अत: यह उपर्युक्त परिभाषा का विषय सिद्ध हो जाता हैं साथ ही गदाकार[४] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इसी से 'ताच्छीलिकेषु' 'लादेशेषु०' आदि दोनों परिभाषाओं की आवश्यकता नहीं रहती।[५]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'क्त' आदि[६] असमानरूप अपवाद प्रत्यय नित्य बाधक होते हैं। अत: 'छात्रस्य हसितम्-हसनम्' में नपुंसकभाव में विहित अपवादरूप क्त तथा ल्युट् 'भावे'[७] सूत्र से विहित 'घञ्' को नित्य बाधते हैं, अत: इस अर्थ में 'हास:' नहीं होता तथा 'इच्छति भोक्तुम्' में 'समानकर्तृकेषु तुमुन्'[८] यह सूत्र 'इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ'[९] का नित्य बाध करता है, अत: इस अर्थ में इच्छति भुञ्जीय,[१०] इच्छति भुनजै,[११] नहीं कह सकते। इसी प्रकार ईषत्ऽपान: सोमो भवता में 'आतो युच्'[१२] सूत्र से विहित अपवाद रूप 'युच्' सामान्य अर्थ में विहित 'खल्'[१३] उत्सर्ग

---

१. अष्टा० ३/३/१६९।

२. अर्ह रूप विशेष अर्थ में लिङ् का विधान द्र० अष्टा० ३/३/१६९।

३. अर्ह कर्ता गम्यमान होने पर, द्र० अष्टा० ३/३/१६९ से हो जायगा।

४. गदा, पृ० १५९। ५. श०शे०।

६. ल्युट्, लिङ्, लोट्, युच् आदि। ७. अष्टा०३/३/१८।

८. वही, ३/३/१५८। ९. अष्टा० ३/३/१५७।

१०. इच्छार्थक धातु, 'इच्छति' उपपद रहते, भुज् धातु से लिङ्, उ०पु०ए०।

११. 'इच्छति' उपपद रहते भुज् से लोट् लकार,उ०पु०ए० आत्मनेपद।

१२. अष्टा० ३/३/१२८। १३. वही, ३/३/१२६।

का नित्य बाध करता है। इस प्रकार उक्त प्रयोगों के विषय में 'घञ्' आदि उत्सर्ग प्रत्यय होने की शंका न रहने से रूप सिद्ध हो जाते हैं। **गदाकार द्वारा अभिप्रेत परिभाषा का तात्पर्य**— गदाकार का कहना है कि जहाँ क्तादि स्वयं अपवाद के योग्य उत्सर्ग हैं और अन्य 'अच्' आदि प्रत्यय अपवाद हैं और स्त्र्यधिकार से पूर्व पठित हैं वहाँ वासरूप विधि होती ही है। क्तादि जब अपवाद हों, तभी इस परिभाषा का विषय होता है। जैसा कि पूर्व प्रदर्शित किया जा चुका है। जैसे 'अज्विधौ भयादीनामुपसंख्यानम्'[१] इससे अच् के विषय में 'वाऽसरूपविधि' से पक्ष में 'ल्युट्' भी होता है भयम्-भयनम् । वर्षम्-वर्षणम्, इत्यादि रूप ऐसा ही मानने से सिद्ध होते हैं।[२]

समीक्षा— यह परिभाषा भी 'वाऽसरूपविधि' का संकोच प्रस्तुत करती है। कुछ प्रत्ययों के विषय में वाऽसरूप विधि नहीं प्रवृत्त होती है। यह परिभाषा व्याडि, शाकटायन, चान्द्र, कातन्त्र, जैनेन्द्र,भोज तथा हेम ने इस रूप में नहीं प्रस्तुत की है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर ने इसी रूप में मानी है।[३] इस परिभाषा का अर्थ प्राय: सभी ने प्राय: एक ही जैसा माना है। परन्तु कुछ ने इसका स्पष्ट अर्थ किया है। कुछ ने सरल होने से नहीं लिखा है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव और हरिभास्कर ने स्पष्ट किया है कि 'क्त' आदि अपवादभूत ही उत्सर्गों का नित्य बाध करते हैं। जहाँ ये उत्सर्ग होगे वहाँ तो वासरूपविधि हो ही जायेगी। नीलकण्ठ ने अर्थ का निर्देश नहीं किया है। नागेश ने भी अर्थ का निर्देश नहीं किया है, परन्तु गदाकार ने अर्थ स्पष्ट किया है।[४] परिभाषा के हेतु के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों एवं नागेश में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव 'वाऽसपोऽस्त्रियाम्'[५] इसका अर्थ ही परिभाषा रूप में मानते हैं तथा विस्तार से उदाहरणादि देते हुए हेतु के विषय में जयादित्य और न्यासकार का मत भी प्रस्तुत करते हैं।[६] सीरदेव ने इस परिभाषा की अति विस्तृत व्याख्या की है। इसके ज्ञापक के विषय में न्यासकार, जयादित्य का मत प्रस्तुत करते हुए 'केचित्' शब्द से विभाषाग्रेप्रथमपूर्वेषु'[७] में 'विभाषा' ग्रहण से माना है। परिभाषा की व्याख्या में मैत्रेय एवं अनुन्यासकार का ही विवेचन किया है। कुछ स्पष्ट नहीं ज्ञात होता कि किसका क्या मत है।[८] नीलकण्ठ वासरूपविधि की अनित्यता से सिद्ध इस परिभाषा को मानते हैं तथा उसकी अनित्यता का ज्ञापक 'अर्हे कृत्यतृचश्च'[९] सूत्र में 'कृत्यतृच्' का ग्रहण मानते हैं।[१०] हरिभास्कर ने ज्ञापक के विषय में कुछ नहीं कहा है। केवल काशिकाकार

---

१. वा० का० ३/३/५६ तथा म०भा० ३/३/५६।

२. गदा०, पृ० १५९।

३. परि० संग्रहतत्तत् ग्रन्थ।

४. गदा, पृ० १५९।

५. अष्टा० ३/१/९४।

६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ७६।

७. अष्टा० ३/४/२४।

८. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ३६।

९. अष्टा० ३/३/१६९।

१०. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ५४।

का मत 'वासरूपोऽस्त्रियाम्'[१] में 'वा' ग्रहण से व्यवस्थित विभाषा का आश्रयण करके यह सिद्ध है प्रस्तुत किया है। परन्तु नागेश नीलकण्ठ के अनुसार वासरूपविधि की अनित्यता से ही यह परिभाषा सिद्ध मानते हैं। अनित्यत्व का ज्ञापक वही 'अर्हे कृत्यतृच्श्च'[२] में 'कृत्यतृच्' का ग्रहण माना है। इस प्रकार नागेश ने सीरदेव, जयादित्य और न्यासकार के मत को नहीं माना है।[३] नागेश ने इस परिभाषा का कोई उदाहरण नहीं दिया है, जिससे परिभाषा का स्वरूप समझने में कुछ काठिन्य अनुभव होता है। पुरुषोत्तमदेव[४] आदि ने विस्तार से उदाहरण आदि का प्रदर्शन किया है।

(८०) लादेशेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।।प०७०।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका होती है कि यदि उक्त प्रत्ययों के विषय में ही 'वासरूपविधि'[५] अनित्य है तो श्वः पक्ता (पच्+लुट्+तास्+डा) के विषय में, भविष्यत् सामान्य में वासरूप विधि से लृट् भी हो जाना चाहिए? आदेश होने पर लुट् (अपवाद) तथा लृट् (उत्सर्ग) असरूप ही है? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— (अनुबन्धकृत असरूपता के न होने से) आदेश द्वारा असरूपत्व को प्राप्त हुए अपवाद लकारों के विषय में वाऽसरूप विधि नहीं होती है।

परिभाषा का आशय— 'लादेशेषु'- यह कर्मधारय समास[६] है तथा'कडाराः[७] कर्मधारये' सूत्र से 'ल्' का पूर्व निपात हुआ है। 'आदेश' शब्द अपने में विद्यमान (विरूपता) में लाक्षणिक लिया जाता है।[८] फलतः लकारार्थविधान में आदेशप्रवृत्ति के पश्चात् वैरूप्य हो जाने वाले लकारों में वासरूपविधि नहीं होती है।

परिभाषा का हेतु— इस परिभाषा में 'हशश्वतोर्लङ् च'[९] सूत्र में लङ्-विधान ज्ञापक है। अन्यथा इस सूत्र में लङ् ग्रहण नहीं करते तो 'अनद्यतने लङ्'[१०] सूत्र से विहित उत्सर्ग लङ् 'परोक्षे लिट्'[११] सूत्र से भूतानद्यतनपरोक्षकाल में विहित अपवाद 'लिट्' के विषय में भी विकल्प से हो जाता अर्थात् लिट् के साथ असरूप[१२] लङ्

---

१. अष्टा० ३/१/९४।
२. अष्टा० ३/३/१६९।
३. गदा, पृ० १५९।
४. सीरदेव, हरिभास्कर।
५. लृट् शेषे च, अष्टा०३/३/१३।
६. आदेशश्चासौ ल् चेति लादेशास्तेषु लादेशेषु।
७. अष्टा० २/२/३८।
८. गूढार्थ०, पृ० ३८४।
९. अष्टा० ३/२/११६।
१०. वही, ३/२/१११।
११. अष्टा० ३/२/११५।
१२. प्रयोग में असारूप्य होता है।

का समावेश हो ही जाता,[१] पुन: उक्त सूत्र में 'लङ्' ग्रहण व्यर्थ हुआ। व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है। इससे् 'लङ्' लकार का ग्रहण सार्थक होता है। **लाक्षणिक अर्थ में हेतु**— इस अर्थ में यह हेतु है कि 'लट: शतृशानचौ'[२] इस विभक्त सूत्र के भाष्य में पक्ष में तिङ् के भी समावेश के लिए 'वा'[३] की अनुवृत्ति की जाती है। लादेशों में वासरूपविधि होती तो शतृ, शानच् प्रत्ययों के साथ तिङ् का समावेश रहता तो 'वा' की अनुवृत्ति नहीं लानी पड़ती, ऐसे ही 'लिट: कानज्वा'[४] सूत्र में 'वा' ग्रहण सूत्रकार ने किया है। यह तथा उपर्युक्त 'वा' अनुवृत्ति, दोनों यह ज्ञापित करते हैं कि यहाँ वासरूप विधि नहीं होती। अपने इस कथन के समर्थन में नागेश कैयट का मत भी प्रस्तुत करते हैं। प्रदीप[५] से यह ध्वनित होता है[६] कि 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्'[७] सूत्र में 'असरूप' पद से बोध्य अपवाद से ऐसा प्रत्यय लिया जाता है, जो आदेशरूप न हो'। उसी प्रकार यहाँ भी 'लादेश' का अर्थ लाक्षणिक आदेश को मानकर 'आदेश के द्वारा असरूपता को प्राप्त हुए लकारों के विषय में' इस अर्थ का आश्रयण किया जाता है। **उक्त ज्ञापन का फल**— इस ज्ञापन का फल यह है कि भूत सामान्य अर्थ में 'सद्' आदि धातुओं से विहित लिट् के स्थान में 'क्वसु'[८] आदेश ही होता है और 'क्वसु' के स्थान में पाक्षिक[९] 'तिङ्' आदेश नहीं होता है तिङ् एवं क्वसु आदेश रूप असरूप होने से प्रकृत सूत्र की अप्रवृत्ति[१०] में नित्य 'क्वसु' ही होता है। उनमें समावेश नहीं होता है। अन्यथा पक्ष में 'वाऽसरूपविधि' से वे भी होते।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'श्व:पक्ता'[११] इस अनद्यतन भविष्यत् विशेष अर्थ में विहित अपवाद 'लुट्'[१२] वासरूपविधि के निषेध होने से नित्य ही उत्सर्गभूत 'लृत'[१३] का बाध करता है, जिससे लृट् की लुट् विषय में होने की शंका नहीं रहती। इसी प्रकार 'हशश्वतोर्लङ्[१४] च' में 'लङ्' का ग्रहण सार्थक होता है, इत्यादि प्रयोजन समझने चाहिए।[१५]

---

१. वाऽसरूपन्याय से विकल्प से उत्सर्ग का बाधक।

२. म०भा० ३/१/१२४। ३. अष्टा० ३/१/१२१।

४. अष्टा० ३/२/१०६।

५. प्र० ३/२/१०६ तथा उ० भी एवं द्र० प्र०३/२/१२७।

६. गूढार्थ०, पृ० ३८५-३८६। ७. अष्टा० ३/१/९४।

८. भाषायां सदवसश्रुव:', अष्टा० ३/२/१०८।

९. अभाव पक्ष में। १०. अष्टा० ३/२/१०८।

११. 'श्व:'उपपद रहते 'पच्' से लुट्, प्र०पु०ए० का रूप।

१२. अष्टा० ३/३/१५। १३. अष्टा० ३/३/१३।

१४. अष्टा० ३/२/११६। १५. म०भा० ३/१/९४।

समीक्षा— यह भी 'वाऽसरूपविधि' का संकोच प्रस्तुत करता है। लकारार्थ विधान में वाऽसरूप विधि नहीं होती है। यह परिभाषा व्याडि आदि[१] किसी ने नहीं प्रस्तुत की है। भाष्य में यह प्राप्त होती है।[२] इसी आधार पर नागेश ने प्रस्तुत की है। नागेश इसको ज्ञापकसिद्ध मानकर ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं। 'हशश्वतोर्लङ्[३] च' सूत्र में लङ् विधान इसका ज्ञापक है। इन्होंने इसके ज्ञापक का उपपादन भाष्यरीति एवं सूत्ररीति दोनों से किया है। समर्थन में कैयट को भी उद्धृत किया है। इस परिभाषा का प्रयोजन भी संक्षेप में प्रस्तुत किया है। 'लादेश' का अर्थ नागेश ने स्पष्टत: कहा है। इस प्रकार परिभाषा की व्याख्या में संक्षेप में सभी विषयों का समावेश दृष्टिगत होता है।

(८१) प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्।।प०७२।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका हो सकती है कि 'अत: कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य'[४] सूत्र अकारान्त से परे 'कृ' आदि (उत्तरपद) होने पर अनव्यय (अव्ययभिन्न) विसर्ग का 'स्' आदेश विधान करता है। अत: 'कुम्भ' उत्तरपद होने पर विसर्ग का 'स्' होगा, क्योंकि कुम्भ 'कृ' आदि में पठित है— 'अयस्कुम्भ:' रूप होता है। परन्तु 'अयस्कुम्भी' में विसर्ग का 'स्' नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह 'कुम्भी' शब्द तो सूत्र में नहीं पठित है। अत: इसमें भी सत्व की उपपत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— प्रातिपदिक से परे अथवा प्रापितदिक का जहाँ कार्य विहित है, वहाँ पठित लिङ्ग से भिन्न लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण होता है।

परिभाषा का आशय— आशय यह है कि सामान्य रूप से प्रातिपदिक बोधक शब्द[५] अर्थात् प्रातिपदिकत्वरूपेण बोधक शब्द तथा विशेषरूप से प्रातिपदिक बोधक शब्द[६] (आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट प्रातिपदिक संज्ञक शब्द) जिनका सूत्र में कार्यार्थ पाठ किया गया है, ऐसे वे लिङ्ग बोधक प्रत्यय विशिष्ट प्रातिपदिक के भी बोधक होते हैं और केवल प्रातिपदिक[७] के भी, ऐसा समझना चाहिए।[८]

---

१. शाकटायन, चान्द्र, क्रातन्त्र, भोज, हेम-पुरुषोत्तमदेव।

२. म०भा० ३/१/९४। ३. अष्टा० ३/२/११६।

४. अष्टा० ८/३/४६।

५. म०भा० ४/१/१, 'ङ्याब्'-ग्रहण-वैयर्थ्य शंकापरक भाष्य।

६. म०भा० ४/१/१ अयस्कुम्भ:, अयस्कुम्भी आदि उदाहरण के कारण तथा ज्ञापक स्थल का अनुरोध, द्र० उ० २/१/७०।

७. लिंग विशिष्ट रहित सामान्य प्रतिपदिक का या विशिष्ट प्रातिपदिक का भी ग्रहण होता है— द्र० तत्वा०, पृ० १५३।

८. प०शे०, पृ० ३८८।

परिभाषा का ज्ञापक— समानाधिकरण समास के अधिकार[१] में पढ़े हुए 'कुमार: श्रमणादिभि:'[२] सूत्र विषयक गणपाठ में स्त्रीलिङ्ग 'श्रमणा' आदि शब्दों का पाठ इस परिभाषा का ज्ञापक है। 'श्रमणा' आदि गणपठितस्त्रीलिङ्ग शब्दों का समानाधिकरण्य स्त्रीत्वविशिष्ट 'कुमार' शब्द के साथ ही हो सकता है, कुमार के साथ नहीं। अत: सूत्र में कुमार शब्द से कुमारी शब्द का भी ग्रहण आवश्यक है। उससे कुमारी चासौ श्रमणा च- 'कुमारश्रमणा' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं।[३]

परिभाषा के अप्रवृत्ति स्थल— जहाँ प्रातिपदिक का ग्रहण होता है, वहाँ लिङ्ग विशिष्ट का भी ग्रहण होता है, ऐसा सर्वत्र मानने पर कुछ दोष प्रसक्त होते हैं। इसका समाधान 'ङ्याब्प्रातिपदिकात्'[४] सूत्र के भाष्य में किया गया है। वहाँ परिगणन करके यह स्पष्ट किया गया है कि यह परिभाषा निम्नलिखित विधियों में नहीं प्रवृत्ति होती है। **(क)** यथा 'द्विषत्परयोस्तापे:'[५] इत्यादि सूत्रों द्वारा विहित उपपदनिमित्तक[६] विधियों में नहीं प्रवृत्त होती है, अत: द्विषत् उपपद होने पर 'तापि' धातु से 'खच्' होकर 'द्विषन्तप:' होता है, परन्तु 'द्विषतीताप:'[७] में उक्त सूत्र से 'खच्' प्रत्यय नहीं होता है, क्योंकि यहाँ स्त्रीलिङ्ग द्विषती उपपद में है। **(ख)** समासान्त— विधि में इसकी प्रवृत्ति न होने से मद्राणां राजा- 'मद्रराज:' में जैसे समासान्त 'टच्'[८] प्रत्यय 'राजन्' से होता है, वैसे ही मद्राणां राज्ञी' में 'राज्ञी' से 'टच्' प्रत्यय नहीं होता। तथा यह वहीं नहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ समास के अवयव का ग्रहण करके समासान्त विधान किया गया है। यथा उपर्युक्त सूत्र है।[९] परन्तु जहाँ समाससंघात का ग्रहण है, वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है। अतएव ''शेषाद्[१०] विभाषा' सूत्र से बहुमालक:, बहुमालिका प्रयोगों में टाबन्त

---

१. अष्टा० २/१/४९ से 'समानाधिकरण' का अधिकार।

२. अष्टा० २/१/७०।

३. प०शे०, पृ० ३८८ एवं गदा, पृ० १६२ तथा गूढार्थ, पृ० ३८८ व द्र०म०भा० २/१/६७ तथा उ० भी।

४. म०भा० ४/१/१।

५. अष्टा० ३/२/३९।

६. अष्टा० ३/१/९२ उपपदसंज्ञा।

७. द्विषतीं तापयति- स्त्रीलिङ्ग द्विषती उपपदपर्वक, णिच् प्रत्ययान्त 'तापि' से अष्टा० ३/२/१ से 'अण्' प्रत्यय, णि-लोप, होकर निष्पन्न।

८. 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' अष्टा० ५/४/९१।

९. 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' (५/४/९१) में समासावयव राजन्, सखि, अहन् का ग्रहण किया गया है।

१०. अष्टा० ५/४/१५४ में 'बहुव्रीहि-समास' का ग्रहण है।

बहुमाला से भी 'कप्' प्रत्यय होता है। **(ग)** 'महत्' पूर्वपद का आत्व[१] आदेश करने में यह नहीं प्रवृत्त होती है, अत: महान् प्रियो यस्य स='महत्प्रिय:' इसके समान पुल्लिंग भिन्न विषय महती प्रिया यस्य- 'महती-प्रिया' इसमें 'आनमहत:०'[२] सूत्र से महती का आत्व नहीं होता। पुंवद्भाव विषय में 'महती जङ्घा यस्य' इस समास में पुंवत्[३] करने पर 'आ' हो ही जाता है। **(घ)** नित्,[४] स्वर-विधि में यह नहीं प्रवृत्त होती है। अत: 'दाक्षी' इत्यादि में इञन्त से 'इतो मनुष्यजाते:'[५] सूत्र से ङीष् होने पर विशिष्ट ञिदन्त होने से प्राप्त आद्युदात्त[६] नहीं होता है। **(ङ)** राजन् का ब्राह्मण तथा कुमार के साथ कर्मधारय समास में प्राप्त स्वरविधि[७] में तथा ब्राह्मण एवं कुमार उत्तरपद परे होने पर पूर्वपद राजन् की स्वर विधि[८] में यह नहीं प्रवृत्त होती है। इस कारण पूर्वोक्त स्वर राज-ब्राह्मणी, राजकुमारी में ब्राह्मणी एवं कुमारी शब्दों के उत्तरपद परे रहते नहीं होते हैं! **(च)** 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि'[९] इत्यादि सूत्ररूप समासंघातविषयकस्वरविधि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती हैं अतएव उत्तरपदार्थ-बहुत्व में वर्तमान बहु शब्द से आगे तदन्त को विधीयमान अन्तोदात्त जैसे 'बहुगोमत्' में होता है, वैसे 'बहुगोमती' यहाँ ईकार का स्वर नहीं होता है। यहाँ 'ईकारान्त में समासत्व का अभाव है।[१०] इस प्रकार समासंघातग्रहण में यह वही नहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ स्वरविधि में उनका ग्रहण है। अन्यत्र तो समास-संघातग्रहण में प्रवृत्त ही हो जाती है।[११] यथा 'आतिभ्रात्रि:' में अतिभ्रात्री उत्तरपद परे रहते भ्रात्री इस लिङ्ग-विशिष्ट का ग्रहण होने से 'वन्दिते भ्रातु:'[१२] सूत्र से 'कप्' का निषेध सिद्ध होता है। इसमें 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'[१३] तथा 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्'[१४] सूत्रों का भाष्यप्रमाण है। **(छ)** विभक्ति निमित्तक[१५] कार्य की

---

१. 'आन्महत: समानाधिकरणजातीययो:' अष्टा० ६/३/४६।

२. अष्टा० ६/३/४६।

३. 'स्त्रिया: पुंवद्भाषित०' इत्यादि सूत्र अष्टा० ६/३/३४।

४. 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' अष्टा० ६/१/१९७।

५. अष्टा० ४/१/६५।

६. अष्टा० ६/१/१९७ से ञिदन्त को आद्युदात्त प्रप्त।

७. 'आर्यो ब्राह्मणकुमारयो:' अष्टा० ६/२/५८ से अनुवृत्ति।

८. राजा च' अष्टा०६/२/५९।

९. अष्टा० ६/२/१७५।

१०. गूढार्थ०, पृ० ३८९।

११. प०शे०, पृ० ३९०।

१२. अष्टा० ५/४/१५७।

१३. म०भा० ४/१/१।

१४. म०भा० ४/१/२५।

१५. निमित्तता यहाँ यथा कथंचित् भी निमित्तत्व रूप से हो, वह भी गृहीत की जाती है। द्र० गदा, पृ० १६३।

कर्त्तव्यता में भी यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती हैं। इसलिए 'गोमान्' इसके समान 'गोमती' इत्यादि में 'नुम्' नहीं होता, इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिए।[१] इस प्रकार पूर्वोक्त विधियों में यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। विस्तार से भाष्य द्रष्टव्य है।[२]

उक्त विधियों में अप्रवृत्ति का अन्य प्रमाण (परिभाषा की अनित्यता)— यह परिभाषा अनित्य भी है इसमें 'अच् प्रकरणे शक्तिलाङ्गूल०'[३] आदि वार्तिक में 'घट' के साथ जो पृथक् 'घटी' शब्द का पाठ किया है, इसके अनित्य होने में प्रमाण है।[४] अतएव अनित्य होने से उपर्युक्त इन्हीं विषयों में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'[५] सूत्र के भाष्य में यह स्पष्ट ही कहा है। "अनिष्ट विषय में प्रवृत्ति के कारण जो दोष प्रसक्त होते हैं, वे सब कह दिये गये है"। यह समाधान 'अनित्यत्व' मानकर ही हुआ है।[६]

परिभाषा के अर्थ में शंका और समाधान— (क) भाष्य विरोध प्राप्ति की शंका— इस परिभाषा का यह निर्दुष्ट अर्थ किया गया है, 'प्रातिपदिक का सामान्य रूप से ग्रहण होने पर तथा विशेष आनुपूर्वी-विशिष्ट प्रातिपदिक संज्ञक शब्द से ग्रहण होने पर लिङ्ग-विशिष्ट का भी ग्रहण होता है'[७]। इस प्रकार 'बहुव्रीहे धसोरूङीष्'[८] का भाष्य असंगत होने लगता है। वहाँ 'कुण्डोध्नी' से 'नद्यृतश्च'[९] सूत्र से 'कप्' समासान्त प्रत्यय होना चाहिए? यह आपत्ति दिखलाई है। उक्त अर्थ के अनुसार 'कुण्डोध्नी' शब्द जो नद्यन्त रूप, उसमें बहुव्रीहित्व का, इस परिभाषा से (बहुव्रीहि शब्द से गृहीत) ग्रहण नहीं होगा?[१०] **समाधान**—उपर्युक्त भाष्य- ग्रन्थ का आशय यह है, "जब स्त्री-प्रत्यय का विधान हो चुका है, तब प्रातिपदिकत्व और प्रातिपदिकत्व-व्याप्य-धर्म जो स्त्री-प्रत्यय-रहित प्रातिपदिक में देखे जाते हैं, वे सभी इस परिभाषा से पूर्णतया स्त्रीप्रत्यय-विशिष्ट प्रातिपदिक में अतिदिष्ट हो जाते हैं"।[११] 'कुण्डोधस्' बहुव्रीहि होने से प्रातिपदिक है, स्त्रीप्रत्ययान्त 'कुण्डोध्नी' भी इस परिभाषा से प्रातिपदिक और बहुव्रीहि

---

१. म०भा० ७/१/१। २. म०भा० ४/१/१।

३. वा०म०भा० ३/२/९ तथा द्र० का० वा० ३/२/९।

४. प्र० ४/१/१, 'प्रतिविधेयम्०' प्रतीक की व्याख्या।

५. म०भा० ४/१/१। ६. प०शे०, पृ०३९० एवं० ४/१/१।

७. प०शे०, पृ० ३८८। ८. म०भा० ४/१/२५।

९. अष्टा० ५/४/१५३।

१०. गूढार्थ०, पृ० ३९१,गदा, पृ० १६३, तत्त्वा०, पृ० १५४।

११. प०शे०, पृ० ३९१, गूढार्थ०, पृ० ३९१, गदा, पृ० १६४, तत्वा०,पृ० १५४ तथा द्र० श०शे० 'स्वाङ्गाच्चेतः' सूत्र की व्याख्या।

समास वाला है। इस प्रकार स्त्री प्रत्ययान्त में भी लिङ्ग-विशिष्ट का अतिदेश हो जाता है।

परिभाषा का प्रयोजन— जहाँ शास्त्र में प्रातिपदिक का ग्रहण किया गया है, वहाँ लिङ्गविशिष्ट ङ्याबन्त प्रातिपदिक का भी ग्रहण होता है। अत: 'अयस्कुम्भी' आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार जैसे 'लोहितादिडाज्भ्य:[१] क्यष्' से लोहित शब्द से 'क्यष्' होकर 'लोहितायते' होता है, वैसे ही 'लोहिनी' शब्द से 'लोहिनीयते' यह भी होता है। **(क) प्रातिपदिकसामान्य का उदाहरण**— इसी प्रकार जैसे 'आमि सर्वनाम्न:[२] 'सुट्' से येषां, तेषाम् में सुट्' होता है, वैसे ही इस परिभाषा से यासां, तासाम् में भी होता है। इसी प्रकार 'सर्वनाम्नस्तृतीया[३] च' से 'भवता हेतुना' की तरह 'भवत्या हेतुना' में भी 'भवती' से तृतीया होती है। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन भी हैं।

समीक्षा— व्याकरण शास्त्र में शब्द का स्वरूप ग्रहण करके ही कार्य किया जाता है। जो शब्द जिस रूप में गृहीत है, उसी रूप में होने पर कार्य होता है। परन्तु कहीं-कहीं उस रूप से भिन्न लिङ्ग का होने पर भी कार्य देखा जाता है, इसी का प्रतिपादन यह परिभाषा करती है। प्रातिपदिकग्रहण में विशेष लिङ्ग-विशिष्ट का भी ग्रहण होता है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडि, शाकटायन, भोज, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ और हरिभास्कर ने पढ़ी है।[४] कातन्त्र ने कुछ भिन्न रूप से मानी है।[५] चन्द्र तथा हेम ने भी भिन्न रूप में स्वीकार की है।[६] परन्तु जैनेन्द्र ने नहीं मानी है। सभी ने इस परिभाषा का अर्थ प्राय: एक ही जैसा माना है। केवल नीलकण्ठ ने 'प्रातिपदिक-ग्रहण' में बहुब्रीहि समास मानकर परिभाषार्थ किया है।[७] नागेश ने इसको युक्त न मानकर 'षष्ठी तत्पुरुष' समास मानकर अर्थ किया है। वैसे व्याडि, पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव ने भी यही अर्थ माना है। परन्तु अति संक्षिप्त होने से स्पष्ट अभिप्राय नहीं प्रतीत हो पाता है। नागेश ने इसका अति स्पष्ट अर्थ किया है।[८] इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में किञ्चित् मतभेद है। व्याडि तथा नीलकण्ठ ने कुमार: श्रमणादिभि:'[९] सूत्र से 'श्रमणा' शब्द का पाठ इसका ज्ञापक मानते हुए उपपादन किया है।[१०] कातन्त्र ने 'वाम्या' में दीर्घोच्चारण को ज्ञापक माना है। पुरुषोत्तमदेव ने कात्यायन वचन रूप से मानते हुए

---

१. अष्टा० ३/१/१३। २. वही, ७/१/५२।

३. वही, २/३/२७। ४. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

५. 'लिङ्गग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' कातंत्र पाठ०, परि०सं० १७।

६. 'नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि' चान्द्र पाठ तथा क्रमश: परि० सं० ३,१६।

७. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ३८।

८. गदा, पृ० १६२। ९. अष्टा०२/१/७०।

१०. व्याडि पाठ, परि० सं० २५ तथा नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० ३८।

'युवा खलतिपलित०'[१] सूत्र में 'जरती' शब्द के पाठ को ज्ञापक माना है।[२] सीरदेव ने भी उक्त सूत्र में 'जरती' ग्रहण को ज्ञापक मानते हुए विस्तार से उपपादन किया है।[३] हरिभास्कर भी उक्त सूत्र में ही 'युव' का 'जरती' के साथ समासविधान को ज्ञापक मानते हैं तथा इसका उपपादन भी करते हैं।[४]

इस परिभाषा के उदाहरण व्याडि आदि[५] ने विस्तार से प्रस्तुत किये हैं, परन्तु नागेश ने प्रयोजन स्वरूप उदाहरण नहीं दिया है। इस परिभाषा के प्रवृत्तिनिमित्त अथवा अति प्रसंग के विषय में प्राचीन व्याडि आदि ने विचार नहीं किया है, जो कि अनुपेक्षणीय तत्त्व है। नागेश ने भाष्य प्रमाण सहित सभी दोषों का संक्षेप में उल्लेख करते हुए भाष्यान्तर के विरोध का परिहार करके परिभाषार्थ विशेष का निर्देश किया है। इससे परिभाषा का आशय विदित हो जाता है। कातन्त्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा नीलकण्ठ ने इस परिभाषा का अनित्यत्व स्वीकार किया है तथा उसका ज्ञापक 'शक्तिलाङ्गुल०'[६] में 'घट', घटी ग्रहण को प्रस्तुत किया हैं। इससे ही अति प्रसंग का निवारण हो सकता है। इस प्रकार नागेश एवं उन व्याडि आदि की व्याख्या में किंचित् ही भेद हैं व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने अति विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। नागेश ने संतुलित व्याख्या की है।

(८२) विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्।।प०७३।।

परिभाषा का उपक्रम— 'प्रातिपदिक०'[७] परिभाषा से प्रातिपदिक के ग्रहण से लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण होता है तो 'श्वयुवमघोनामद्धिते'[८] सूत्र में 'युवन्' शब्द से 'युवति' का भी ग्रहण हो जाना चाहिए? और जैसे 'यूनः पश्य'=यहाँ 'युवन्' को सम्प्रसारण[९] होता है, वैसे ही 'युवतीः पश्य' स्त्रीलिंग (युवति) में भी होना चाहिए? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— विभक्ति के आश्रित कार्य को करने में प्रातिपदिक के पठित लिङ्ग से भिन्न लिङ्ग बोधक प्रत्यय-विशिष्ट का ग्रहण नहीं होता है।

परिभाषा का आशय— 'विभक्तौ'- यह विषयसप्तमी है। विभक्ति के विषय में अर्थात् विभक्ति सम्बन्धी सभी कार्यों को करने में, प्रातिपदिक-ग्रहण से लिङ्ग-विशिष्ट

---

१. अष्टा० २/१/६७। २. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० २६।
३. सीरदेववृत्ति, परि०सं०२८। ४. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० २८।
५. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।
६. म०भा० वा० ३/२/९। ७. प०शे०, परि० सं० ७१।
८. अष्टा० ६/४/१३३। ९. अष्टा० ६/४/१३३।

का ग्रहण नहीं होता है। कैयट[१] ने इसका यह अर्थ किया है— "विभक्तिविषय के जिस कार्य का विधान किया जाता है, वह लिङ्ग विशिष्ट का नहीं होता है"। विभक्ति का जो कार्य और विभक्ति परे रहते जो कार्य है, वह सब यहाँ 'विभक्ति कार्य' से अभिप्रेत है। इस प्रकार 'विभक्तौ' से दो तात्पर्य समझना चाहिए: (क) विभक्ति को उद्देश्य करके विहित (ख) विभक्ति को यथाकथंचित् निमित्त मान करके विहित।[२]

परिभाषा का प्रयोजन— (क) विभक्त्युद्देश्यक कार्य की कर्तव्यता में लिङ्ग-विशिष्ट का ग्रहण न होने से 'शुन्या (शुनी+टा) शुन्ये (शुनी+ङे) में (गौरादि) ङीष्[३] के स्थान में जो यण्[४] हुआ है, वह उदात्त के स्थान में यण् है। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्'[५] सूत्र से अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है तथा इस प्रकार 'न गोश्वन् सावर्वर्ण०'[६] से 'श्वन्' शब्द से इस स्वर का निषेध किया है। अत: श्वन् से शुनी का ग्रहण होने से निषेध प्राप्त होता है, वह इस परिभाषा से शुनी शब्द से यह निषेध नहीं होता है। यह कार्य भी विभक्ति-उद्देश्यक है। इसी प्रकार इससे 'युवती: पश्य' में भ-संज्ञाश्रय[७] परम्पराविभक्तिनिमित्तक में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते'[८] से युवति का सम्प्रसारण नहीं होता है। **(ख)** विभक्ति-निमित्तक कार्य- 'गोमती' आदि में सर्वनामस्थान विभक्ति-निमित्तक कार्य होने से 'नुम्' एवं दीर्घ विशिष्ट को नहीं होते। इसी प्रकार 'सख्यौ' (सखी+औ) यहाँ 'सख्युरसम्बुद्धौ'[९] सूत्र से स्त्रीलिङ्ग सखी को णिद्वद्-भाव नहीं होता है— इत्यादि इस परिभाषा के बहुत प्रयोजन हैं।[१०]

परिभाषा में हेतु— नागेश इसे वाचनिक परिभाषा मानते हैं। भाष्यकार ने 'यवोरनाकौ'[११] सूत्र के भाष्य में इसका स्वतन्त्र परिभाषा मानकर स्पष्ट किया है तथा वहीं प्रयोजन भी प्रदर्शित किया है। **परिभाषा के हेतु में अन्यों का मत—** कुछ लोग इसे स्वतन्त्र परिभाषा नहीं मानते हैं। उनके[१२] अनुसार 'हरतेरनुद्यमनेऽच्'[१३] सूत्र पर

---

१. 'विभक्तौ यत्कार्यं विधीयते, लिङ्गविधीयते, लिङ्गविशिष्टस्य तन्न भवति, विभक्तेर्यत् कार्यं यच्च विभक्तौ परत: कार्यं तत्सर्वं' विभक्तौ कार्यम् (प्र०७/१/१)।

२. गूढार्थ०-पृ० ३९२।

३. 'षिद्गौरादिभ्यश्च' अष्टा० ४/१/५१।

४. वही, ६/१/७७।

५. वही, ६/१/१७४।

६. वही, ६/१/१८२।

७. अष्टा० १/४/१८ अजादि सर्वनामस्थानवर्जि-प्रत्यय का आश्रयण, इनकी विभक्ति संज्ञा।

८. अष्टा० ६/४/१३३।

९. अष्टा० ७/१/९२।

१०. म०भा० ७/१/१।

११. म०भा० ७/१/१।

१२. कैयट।

१३. अष्टा० ३/२/९।

पठित 'अच्प्रकरणे शक्तिलाङ्गूलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटीधनुष्षु'[१] ग्रहेरुपसंख्यानम्' वार्तिक में घट के साथ घटी शब्द के पाठ से लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा अनित्य मानी जाती है।[२] इसकी अनित्यता से यह परिभाषा लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा मूलक ही है— ऐसा मानते हैं। उसके अनित्य होने से ही इस परिभाषा का भी कार्य निष्पन्न हो जाता है। वस्तुतः उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'युवोरनाकौ'[३] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पृथक् स्वतन्त्र ही इसे परिभाषा रूप से स्वीकार करते हैं।[४]

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा प्रातिपदिकग्रहण में लिङ्ग-विशिष्ट के ग्रहण का संकोच प्रस्तुत करती हैं। विभक्ति के आश्रित कार्य करने में लिङ्ग विशिष्ट का ग्रहण नहीं किया जाता है, यही इसका प्रतिपाद्य है। यह परिभाषा इसी रूप में पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने मानी है।[५] व्याडि आदि ने यह परिभाषा नहीं मानी है। इस परिभाषा का अर्थ नागेश ने नहीं लिखा है। परन्तु पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव एवं नीलकण्ठ ने सामान्य अर्थ का स्पष्टीकरण किया है।[६] हरिभास्कर ने 'विभक्तौ' का अर्थ 'विभक्तौ यत्कार्यम्' तथा 'विभक्तिस्थानिकं कार्यम्' भी माना है।[७] नागेश का अभिमत अर्थ क्या है— स्पष्ट ज्ञात नहीं होता है। परिभाषा के मूल के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने इसको वाचनिकी मानते हुए 'युवोरनाकौ'[८] भाष्य में माना है। नीलकण्ठ ने इस परिभाषा को लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा की अनित्यता की मूलक माना है। हरिभास्कर ने वाचनिक मानते हुए 'केचित्' से अन्य मत लिङ्ग-विशिष्ट परिभाषा की अनित्यता की मूलक भी प्रतिपादित किया है। नागेश ने भी भाष्य प्रमाण से वाचनिकी ही माना है। 'अन्ये' के द्वारा अन्य मत का भी उल्लेख किया है।[९] इस परिभाषा की व्याख्या उन्होंने अति संक्षिप्त की है। इसके उदाहरण स्वरूप प्रयोजनों को स्पष्ट नहीं किया है। इसके विपरीत पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने विस्तृत व्याख्या करते हुए उदाहरणों.का उल्लेख किया है।[१०]

---

१. का०वा० ३/२/९। २. प्र० ४/१/१।

३. म०भा० ७/१/१।

४. तत्त्वा०, पृ० १५५।

५. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० २७, सीरदेववृत्ति, परि० सं० ३९।

७. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० २९।

८. अष्टा० ७/१/१।

९. गदा, पृ०१६४।

१०. परि० संग्रह,तत्तत् ग्रन्थ।

(८३) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः।।प०७६।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह होती है कि व्याघ्री,[१] कच्छपी,[२] अश्वक्रीती[३] प्रयोगों में सुबन्त उत्तरपद[४] के साथ समास[५] करने में उस समास से भी अन्तरङ्ग[६] होने से सुप् से पहले टाप्[७] होना चाहिए और यदि 'टाप् हो जाता है तो अदन्तता[८] नहीं रहती है। अत: जातिलक्षण ङीष्[९] की प्राप्ति नहीं रहती है। फलत: उक्त रूप नहीं निष्पन्न हो सकते हैं। इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— गति, कारक और उपपद—इनका कृदन्त के साथ समास सुप् की उत्पत्ति से पहिले ही हो जाता है।

परिभाषा का आशय— परिभाषा में कृद्भि: सह' का 'कृद्भिरेव सह' कृदन्त के ही साथ समास होता है, यह अवधारणपरक व्याख्यान लिया जाता है। परिभाषा में 'सुप् उत्पत्ति से पूर्व' का अर्थ 'उत्तरपद से सुप् की उत्पत्ति से पूर्व है।'।[१०] सुप्-ग्रहण स्त्री-प्रत्यय का भी उपलक्षण है। इस प्रकार परिभाषा का फलितार्थ यह होता है कि 'गति, कारक, उपपदों का कृदन्तों के साथ उत्तरपद से सुप् तथा स्त्रीप्रत्यय की उत्पत्ति के पूर्व ही समास होता है'— ऐसा समझना चाहिए।[११] समासविधान के उपरान्त सुब्-विभक्ति का विधान होता है।

---

१. वि तथाआङ् पूर्वक घ्रा धातु, क प्रत्यय, आ लोप- घ्र शब्द, 'आङ्+घ्र' का गति समास एवं 'वि+आघ्र' के साथ पुन: समास होकर जातिलक्षण के स्त्रीत्व अर्थ में ङीष्, अ लोप प्र०वि०ए० का रूप।

२. कच्छे पिबति- इस अर्थ में पा धातु, क प्रत्यय, आ लोप होकर, 'कच्छ+प' का उपपद समास, जातिलक्षण में ङीष् होकर प्र० वि०ए० का रूप।

३. अश्वेन क्रीयते या सा 'अश्वक्रीती' = 'अश्वक्रीत्ती' = अश्व करण के पूर्वपद कृदन्त क्रीत के साथ समास विभक्ति लोप, अदन्त क्रीत शब्द से ङीष् होकर निष्पन्न रूप।

४. 'कुगति-प्रादय:' अष्टा० २/२/१८ एवं 'उपपदमतिङ' (अष्टा० २//१९) सूत्रों में सुप् तथा 'सुपा' की अनुवृत्ति आने से। अनुवृत्ति द्र० अष्टा० २/२/२, एवं २/१/४।

५. अष्टा० २/२/१८ एवं २/२/१९ लक्ष्यानुसार प्रवृत्ति।

६. अर्थ-क्रम से पूर्वोपस्थित-निमित्तकत्वरूप अन्तरङ्ग द्र० गूढार्थ, पृ९ १९८।

७. अष्टा० ४/१/४।

८. अकारान्त घ्र०प० और क्रीत नहीं रह पायेगें, टाप् होकर घ्रा-पा-और क्रीता आकारान्त हो जायेगा।

९. अष्टा० ४/१/९३ तथा ४/१/५०।

१०. गूढार्थ०, पृ० ३९९। ११. प०शे०, पृ० ३९९।

परिभाषा का ज्ञापक— यह परिभाषा 'उपपदमतिङ्'[१] सूत्र में 'अतिङ' ग्रहण से ज्ञापित होती है 'उपपदमतिङ्' सूत्र में जो 'अतिङ्' ग्रहण किया है, उसको पूर्व सूत्र 'कुगतिप्रादय:'[२] सूत्र के गति के साथ पीछे खींचकर सम्बद्ध किया जाता है, तब इन दो सूत्रों 'गति:' तथा 'उपपदमतिङ्' का अर्थ होता है- ''उपपद तथा गति समास तिङन्त नहीं होता, अर्थात् इनके अन्त में 'तिङ्' प्रत्यय नहीं होता,'' इससे यह अनुमित होता है कि 'सह सुपा'[३] सूत्र के 'सुपा' अंश की अनुवृत्ति इन दो सूत्रों में नहीं आ रही है, क्योंकि यदि 'सुपा' की अनुवृत्ति आती होती तो अतिङ् ग्रहण व्यर्थ हो जाता? क्योंकि तिङ् उपपद का समास प्राप्त ही नहीं है। फलत: इन दो सूत्रों में सुप्, सुपा की अनुवृत्ति नहीं आती है। अत: ऐसा ज्ञापक होता है, तब अतिङ् ग्रहण सार्थक होता है। इस प्रकार उपपद और गति सम्बन्धी परिभाषा का अंश सिद्ध हो जाता है। एकदेश की अनुमति से कारकांश में भी यह परिभाषा सिद्ध समझनी चाहिए।[४]

परिभाषा की नित्यता और अनित्यता विचार— (क) परिभाषा की अनित्यता— कुछ[५] लोगों के अनुसार यह परिभाषा अनित्य है।[६] अत: कभी-कभी 'सुप्' की उत्पत्ति के पश्चात् भी समास देखा जाता है। जैसे— 'सा हि तस्य धन-क्रीता[७]' वाक्य में 'धनक्रीता' शब्द में टाबन्त के साथ समास होता है। **(ख) नागेश का मत**— ये इस परिभाषा को अनित्य नहीं मानते, क्योंकि अनित्य मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[८] 'धनक्रीत' शब्द का अजादिगण[९] में पाठ करके उससे सुबुत्पत्ति से पूर्व 'अजाद्यतष्टाप्'[१०] सूत्र से 'टाप्' हो जायगा। परिभाषा को अनित्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[११]

---

१. अष्टा०२/२/१९। २. वही, २/२/१८।

३. वही, २/१/४। ४. प०शे०, पृ० ४००।

५. नीलकण्ठ तत्कृत ग्रन्थ तथा कैयट, द्र० प्र० २/१/३२।

६. गूढार्थ०, पृ० ४०१, गदा, पृ० १६८, 'अम्बाम्ब०', सूत्र में 'गवादि' ग्रहण इसका ज्ञापक है।

७. 'धनेन क्रीयते या सा घनक्रीता'=धन करण पूर्वपद का टाबन्त क्रीता के साथ समास।

८. गदा० पृ० १६८, गूढार्थ०, पृ० ४०१, तत्त्वा०, पृ० १५७।

९. 'अजाद्यतष्टाप्' द्र० अष्टा० ४/१/४ पर अजादिगण का ४/१/४।

१०. अष्टा० ४/१/४।

११. म०भा० २/३/१९, प०शे० पृ०४०२, गूढार्थ०, पृ० ४०२।

परिभाषा का प्रयोजन— 'सुप्सुपा'[१] के अधिकार में भी 'कुगतिप्रादयः'[२], 'कर्तृकरणे[३] कृता बहुलम्', उपपदमतिङ्[४] सूत्रों द्वारा क्रमशः गति, कारक, उपपदों का जो समास है, सुबुत्पत्ति से पहले हो जाता है ऐसा माना जाता है। अब क्रमशः गति, उपपद, कारकों का केवल 'सुप्' रहित कृदन्त के साथ समास का लाभ प्रदर्शित किया जा रहा है। **गति**— 'व्याघ्री' में 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्'[५] सूत्र से अदन्तत्व लक्षण जात्यर्थ में ङीष् होता है। वि+आ='व्या' जो गतिसंज्ञक है, इसका असुबन्त घ्र जो कृदन्त निष्पन्न है— के साथ स्त्रीप्रत्यय से पूर्व 'कुगतिप्रादयः'[६] सूत्र से 'व्या+सु+घ्र' का समास होता है। इसके पश्चात् अदन्त होने से जातिलक्षण ङीष् उपर्युक्त सूत्र से होता है। यदि सुबन्त के साथ ही समास हो तो अन्तरंग होने से प्रथमतः 'टाप्' हो जायगा। अतः अदन्त न रहने से ङीष् की प्राप्ति ही नहीं रहती। इसी प्रकार 'सांकूटिनम्'[७] में सुप् रहित केवल कूटिन्— कृदन्त के साथ 'सम्' का समास होता है, तब समास-समुदाय की एक पदसंज्ञा होकर तद्धित प्रत्यय[८] की उत्पत्ति होने से 'सम्' को वृद्धि[९] हो जाती है। अन्यथा तद्धितोत्पत्ति की विवक्षा में 'कूटिन्' शब्द की पृथक् पदसंज्ञा रहने से 'सम्' शब्द को वृद्धि नहीं होती इत्यादि गति के उदाहरण समझने चाहिए। **कारक**-परिभाषा में कारक शब्द सामान्य रूप से पठित है। इससे परिभाषा का यह अर्थ निश्चित होता है कि 'कारकमात्र'[१०] के अर्थ में उत्पन्न हुई जो-जो विभक्ति, तदन्त का कृदन्त के साथ सुबुत्पत्ति से पूर्व समास हो जाता है। 'कारक' शब्द से कारकविभक्ति अभिप्रेत है। कारक पद के उपादान से कहीं भी समासविधान नहीं किया गया है।[११] इस प्रकार कारक के सामान्य ग्रहण से ही, "यह परिभाषा वहीं प्रवृत्त होती है, जहाँ कारक अथवा तद्विशेष कर्ता, करण आदि का ग्रहण हो," यह मत[१२] निरस्त हो जाता है, क्योंकि इस परिभाषा की अन्य परिभाषा की तरह विधिवाक्यों के साथ

---

१ अष्टा० २/१/२ में 'सुप्' प्रथमान्त का अधिकार तथा अष्टा० २/१/४ से 'सह सुपा' का अधिकार।

२. अष्टा० २/२/१८। ३. अष्टा० २/१/३२।

४. वही, २/२/१९। ५. वही, ४/१/६३।

६. वही, २/२/१८।

७. सम् पूर्वक कूट् धातु, भाव में इनुण्, कूटिन् सम् के साथ समास संकूटिन्— तद्धित 'अण्' प्रत्यय, आदि वृद्धि, नपुसंकलिङ्ग प्र० वि० ए० का रूप।

८. 'अणिनुणः' अष्टा० ५/४/१५। ९. अष्टा० ७/३/११७।

१०. अष्टा० १/४/१४।

११. प०शे०, पृ० ४०३, गूढार्थ०,पृ० ४०३, पं० १-२।

१२. सीरदेव।

एकवाक्यता नहीं होती। यह केवल 'विप्रतिषेधे०' आदि शास्त्र की तरह, यह कार्य दूसरे कार्य से पूर्व हो— इस प्रकार की व्यवस्था करती है। "कारक और कारक विशेष के ग्रहण में ही इसकी प्रवृत्ति होती है"— यह अर्थ परिभाषा से उपलब्ध नहीं होता।[१] इसी से अश्वक्रीती, वस्त्रक्रीती आदि शब्दों में केवल क्रीत-कृदन्त के साथ वस्त्र आदि[२] शब्दों का, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्,[३] सूत्र से समास होकर, करण पूर्व अदन्त क्रीतान्त प्रातिपदिक से 'क्रीतात् करण पूर्वात्'[४] सूत्र से ङीष् प्रत्यय हो जाता है। अन्यथा समास की विवक्षा में ही अन्तरंग होने से पहले टाप्[५] होकर अकारान्त से विहित ङीष् प्रत्यय नहीं हो सकता, तब 'अश्वक्रीती' आदि प्रयोग भी न सिद्ध हो सकेंगे— ऐसे अन्य अनेक उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'कुम्भकार:' इत्यादि षष्ठीसमास भी उत्तरपद से सुप् की उत्पत्ति से पहले हो जाता है।[६] **उपपद**— 'कच्छपी' में कच्छे पिबति- कच्छपी=कच्छ उपपद का 'क' प्रत्ययान्त **प** कृदन्त के साथ 'उपपदमतिङ्'[७] सूत्र से समास हो जाने पर, अदन्त होने से 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्'[८] सूत्र से ङीष् हो जाता है। इसी प्रकार माषवापिणी, ब्रीहिवापिणी में प्रातिपदिकान्त नकार का 'णत्व' होता है। जब कृदन्त वापिन् शब्द के साथ 'माष' उपपद का समास होता है, तब केवल 'माषवापिन्' नकारान्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होकर ङीष् होता है तो प्रातिपदिकान्त नकार को णत्व 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु[९] च' सूत्र से हो जाता है। अन्यथा समास की विवक्षा में ही, नकारान्त वापिन् शब्द से ङीष् होकर पीछे समास होगा, तब उस ङीषन्त की प्रातिपदिक संज्ञा होने से, प्रातिपदिकान्त 'ईकार' होने से णत्व नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा गति, कारक तथा उपपद का कृदन्त के साथ समास करने में व्यवस्था करती है। इनका परस्पर कब तथा किस परिस्थिति में समास होना चाहिए— इसी का प्रतिपादन करती है। समास विषय में यह व्यवस्था है। यह परिभाषा इसी रूप में हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने स्वीकार करके पढ़ी है।[१०] व्याडि आदि ने नहीं पढ़ी है। इस परिभाषा का अर्थ, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव[११] आदि ने विस्तार से किया है। इन्होंने कारक का अर्थ कारक विशेष लेकर व्याख्या की है। परन्तु नागेश ने 'कारक' शब्द से कारक सामान्य का ग्रहण मानकर

---

१. प०शे०, पृ० ४०३, एवं 'पालकान्तान्न' सूत्र श०शे०, पृ०।
२. वसन, अश्व आदि।
३. अष्टा० २/१/३२।
४. अष्टा० ४/१/५०।
५. वही, ४/१/४।
६. प०शे०, पृ० ४०२।
७. वही, २/२/१९।
८. अष्टा० ४/१/६३।
९. वही, ८/४/११।
१०. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
११. पुरुषोत्तमदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

व्याख्या सप्रमाण प्रस्तुत की है। वे सीरदेवादि के मत से सहमत नहीं है, उनका विस्तार से खण्डन कर दिया है।[१] परिभाषा के मूल के विषय में सभी एक मत हैं। सभी ने 'उपपदमतिङ्'[२] सूत्र के 'अतिङ्' ग्रहण से गति, उपपद रूप एकदेश की अनुमति से कारकांश की सिद्धि मानकर सम्पूर्ण परिभाषा ज्ञापित मानी हैं। नागेश का भी यही मत है। सभी ने इसका भिन्न-भिन्न रीति से उपपादन किया है। यही प्राचीनों एवं नवीन (नागेश) में मतभेद है। इस परिभाषा को अनित्य मानने में कुछ मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव ने अनित्य न मानकर 'प्राक्सुबुत्पत्तेः' इस वाक्य के साथ परिभाषा के दो अर्थ माने हैं। इस द्वितीय अर्थ को न्यास आदि के प्रमाण सहित विस्तार से लिखा है।[३] सीरदेव ने भी इसके दो अर्थ सप्रमाण प्रस्तुत करते हुए इस परिभाषा को प्रायिक स्वीकार किया है तथा केचित् से सुबन्त से भी इनका समास माना है।[४] नीलकण्ठ ने इसको अनित्य माना है तथा उसका ज्ञापक 'अम्बाम्ब०'[५] सूत्र में 'गव' आदि ग्रहण को मानते हुए विस्तार से उपपादित किया है।[६] हरिभास्कर ने अनित्य न मानते हुए परिभाषा के दो अर्थों को मानते हुए कार्य सिद्ध कर लिया हैं।[७] नागेश ने इसको अनित्य नहीं स्वीकार किया है तथा उसके द्वारा सिद्ध होने वाले उदाहरण की भी अन्यथासिद्धि प्रदर्शित की है। प्रसंगतः अनित्य के विषय में अन्य मतों का भी उल्लेख किया है। इसके उदाहरण पुरुषोत्तमदेव आदि ने विस्तार से प्रस्तुत किये हैं, परन्तु नागेश ने विस्तार से नहीं प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में परिभाषा के अर्थ का सम्यक् प्रतिपादन किया है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने अति विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की है।

(८४) हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्।।प०८१।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'स्वरविधौ०' परिभाषा के होने पर भी 'राजदृषत्' इत्यादि के षकारोत्तरवर्ती 'अ' को 'समासस्य'[८] सूत्र से उदात्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह सूत्र समास के अन्त को उदात्त विधान करता है और समास का अन्त यहाँ 'द्' व्यञ्जन है। फलतः स्वर नहीं होना चाहिए? तथा वक्ष्यमाण रीति से अर्थात् विधानसामर्थ्य से उस तकार को ही 'लकार' उदात्त हो जाना चाहिए? इत्यादि दोषो की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

---

१. गदा०, पृ० १६९।

२. अष्टा० २/२/१९।

३. पुरुषोत्तमवृत्ति,परि०सं०४७।

४. सीरदेववृत्ति, परि० सं० ३२।

५. अष्टा०८/३/९७।

६. नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० ४२।

७. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०३२। ८. अष्टा० ६/१/२२३।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जब हल् को स्वर[१] का प्रसंग हो तो व्यञ्जन अविद्यमानवत् समझना चाहिए, अर्थात् व्यञ्जन को उदात्तादि स्वर प्राप्त हो तो वह 'व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है। फलस्वरूप स्वर का ही उदात्त आदि होता है।

परिभाषा का ज्ञापक— 'यतोऽनाव:'[२] सूत्र में 'नौ प्रतिषेध' इस परिभाषा का ज्ञापक है। सूत्र का अर्थ है- "यत्' प्रत्ययान्त 'द्वयच्' का आदि उदात्त होता है, यदि यत् प्रत्यय नौ शब्द से परे न हो", इस निषेध का यही प्रयोजन है कि 'नाव्यम्'[३] में आद्युदात्त न हो, परन्तु यहाँ आदि नकार स्वर के योग्य नहीं है— व्यञ्जन होने से और जो स्वर योग्य आकार है, वह आदि नहीं है। अत: 'नौ" शब्द का प्रतिषेध अनर्थक ठहरता है। यदि यह कहें कि 'नाव्य' का प्रतिषेध आवश्यक है, इसलिए कि इस प्रतिषेध के न होने पर आदि नकार के स्थान में अन्तरतम अच[४] (ऌ) हो जायगा, जो उदात्त गुण विशिष्ट होगा? नहीं, ऐसा बात नहीं है। तब भी 'नौ' प्रतिषेध न होने पर भी, 'नाव्यम्' आद्युदात्त नहीं होगा, क्योंकि 'ऌ' आदेश होने से आद्युदात्तत्व के निमित्तभूत द्वयच्कत्व का विनाश हो जाता है, जो उपजीव्य विरोध है।[५] अत: नौ प्रतिषेध परिभाषा का ज्ञापक ही है। ज्ञापित होने पर जो नकार का भी स्वर प्राप्त होता है, वह अविद्यमानवत् मानकर आकार को हो जाता, इसलिए निषेध किया है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'राजदृषत्' 'ब्राह्मणसमित्' आदि प्रयोगों में अन्त्य 'तकार' को 'अविद्यमानवत्' मानकर 'अकार,' 'इकार' को उदात्त होजाताहै।[६] इसी प्रकार अनुदात्तादि[७] अथवा अन्तोदात्त[८] से परे जो कार्य कहे गये हैं,

---

१. 'अच्' के संयोग से व्यंजनों को भी उदातादि गुण प्राप्त हो जाते हैं तथा 'उच्चैरुदात्त:' आदि सूत्रों में 'अच:' की अनुवृत्ति नहीं आती 'तब व्यंजन को भी स्वर प्राप्त होता है। द्र० गूढार्थ०, पृ० ३१०, द्र० म०भा० ६/१/२२३ 'हलो नाम स्वर०' पर व्याख्यान।

२. अष्टा० ६/१/२१३।

३. नावा तार्यम्=नाव्यम्-नौ से 'यत्' तद्धित प्रत्यय, (४/४/९१) वान्त आदेश होकर निष्पन्न।

४. दन्त्यत्वादि साम्य होने के कारण अन्तरतम उदात्त 'ऌ' द्र० गदा, पृ० १७४।

५. प०शे०, पृ० ४११, गूढार्थ०, पृ० ४११।

६. अष्टा० ६/१/२२३।

७. अष्टा० ६/२/१४२ से अनुदात्तादि उत्तरपद परे रहते 'इन्द्रवायू' में भी 'व्' व्यंजन को अविद्यमानवत् मानकर प्रकृतिस्वरनिषेध सिद्ध होता है।

८. अष्टा० ६/१/१६९ से 'परमवाच्+आ' में व्यञ्जनान्त से परे भी विकल्प से विभक्ति का उदात्तसिद्ध होता है।

उनमें जहाँ आदि और अन्त में व्यंजन है, वहाँ उन कार्यों की प्राप्ति नहीं होती है। वहाँ भी अविद्यमानवत् कार्य सिद्ध हो जाता है।

समीक्षा— यह परिभाषा भी व्यञ्जन को प्राप्त स्वर में व्यवस्था का निरूपण करती है। व्यञ्जन को स्वर प्राप्त होने पर वह व्यञ्जन अविद्यमानवत् माना जाता है। यह परिभाषा केवल नीलकण्ठ ने स्वीकार की है।[१] इसी के आधार पर स्यात् नागेश ने अपने ग्रन्थ में पाठ स्वीकार किया है। नीलकण्ठ ने इसकी अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या में केवल ज्ञापक का निर्देश किया है। इनके अनुसार इसका ज्ञापक 'यतोऽनाव:'[२] सूत्र में 'अनाव:' यह 'नौ' का प्रतिषेध है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए उपर्युक्त सूत्र में 'अनाव:' ग्रहण को ज्ञापक मानते हुए विस्तार से यह उपपादित की है। अन्य अर्थ, प्रयोजन आदिपर व्यापक विचार नहीं किया है।

(८५) लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य।।प०९१।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'गतिस्थाघुपाभूम्य:'[३] सिच: परस्मैपदेषु' सूत्र से जो 'पा' से 'सिच्' का लुक् विधान किया है,वह 'पा पाने' (भ्वादिगणीय) से ही नहीं, अपितु 'पा रक्षणे'(अदादिगणीय) से भी हो जाना चाहिए, क्योंकि सूत्र में विशेष करके एक का ग्रहण नहीं है। फलत: अदादि के 'पा' के ग्रहण होने पर 'अपासीत्' (धनम्) इत्यादि में 'सिच्'[४] का लुक् हो जाना चाहिए। इसकी शंका की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— लुग्विकरण[५] और अलुग्विकरण[६] के ग्रहण में जहाँ सन्देह पड़े, वहाँ अलुग्विकरण का ही ग्रहण होना चाहिए।

परिभाषा का आशय— जब यह संदेह हो कि सूत्र में उपात्त धातु से, लुग्-विकरण का ग्रहण किया जाय अथवा अलुग्विकरण का वहाँ यह व्यवस्था की जाती है कि अलुग्विकरण का ही ग्रहण हो।[५]

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा के ज्ञापक के विषय में नवीन तथा प्राचीन लोगों में मतभेद है पाया जाता है। उनमें कैयट तथा नागेश के मत को प्रदर्शित किया जाता है। **(क) कैयट का मत**— कैयट के अनुसार का 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो

---

१. विजया, पृष्ठ ३०६। २. अष्टा० ६/१/२१३।

३. अष्टा०, २/४/७७। ४. वही, २/४/८२।

५. जिसका विवरण लुक् है, अर्थात् अदादिगणीय धातुओं।

६. जो अदादिगणीय नहीं है अर्थात् भ्वादि, दिवादि आदि अन्यगणीय धातुएँ।

७. गूढार्थ०, पृष्ठ ४३५।

वा'[१] सूत्र में आचार्य ने, जो सूति ('सू' अदादिलुग्विकरण) के साथ सूयति (सू दिवादि श्यन् विकरण) का पृथक् रूप से पाठ किया है, वह इस परिभाषा का ज्ञापक है। जबकि दोनों के ग्रहण के लिए सूति, सूयति न कहकर केवल 'सूङ्' कह सकते है। इससे यही आया कि 'सूङ्' ग्रहण करने पर भी इस परिभाषा के होते हुए अलुग्विकरण 'सूयति' का ही ग्रहण होता, 'सूति' का नहीं होता। यह पृथक्-पृथक् दोनों का निर्देश किया गया है।[२] **(ख) नागेश मत**— इनके अनुसार उक्त कथन ठीक नहीं है। नागेश का कहना है कि परिभाषा न होने पर भी 'स्वरतिसूति०' सूत्र में सूति, सूयति का पाठ अत्यन्त आवश्यक है। अत: ज्ञापक नहीं हो सकता। क्योंकि सूङ् पढ़ने पर भी साहचर्य से अलुग्विकरण 'स्वरति' तथा 'धूञ्' के पूर्वोक्त पर साहचर्य से अलग्विकरण 'सूयति' का ही ग्रहण होता है।[३] वस्तुत: 'यस्य विभाषा'[४] सूत्र के भाष्य में इस परिभाषा का संकेत मिलता[५] है।'विदित:' में 'यस्य विभाषा' से 'इट्' निषेध की शंका करके कहा है- 'जिस विशेषण-विशिष्ट से विभाषा (इट् आगम) कार्य विधान किया है, उस विशेषण विशिष्ट से ही 'इट्' का निषेध होगा'। 'विभाषा गमहनविदविशाम्'[६] सूत्र में 'श' विकरणक विद् (विद्लृ लाभे) का ग्रहण है? उसी से निषेध होगा। 'विदित:' में 'विद् ज्ञाने' अदादिगणीय लुग्विकरणक है। 'विभाषा गमहनविदविशाम्' सूत्र के भाष्य में ऐसा पाठ है— "शविकरणस्य ग्रहणम्, लुग्विकरणश्चायम्"।[७] नागेश यहाँ 'च' को हेत्वर्थ में लेते हैं। इनके अनुसार इस भाष्यग्रन्थ का आशय यह है कि क्योंकि यह ('विदित:' में विद्) लुग्विकरणक है। अत: विश के साहचर्य से श विकरण तुदादि विद् का ग्रहण होगा, 'हन्' के साथ साहचर्य से लुग्विकरण अदादि विद् का नहीं, क्योंकि ऐसा होने से प्रकृत परिभाषा के साथ विरोध आता है। इस प्रकार भाष्य में इस परिभाषा का संकेत मिलता है। अत: भाष्यप्रामाण्य से यह वाचनिकी ही है, यद्यपि भाष्य में इस रूप में कहीं नहीं पढ़ी गई है।[८] चूंकि यह परिभाषा ज्ञापकसिद्ध नहीं है, इसलिए 'लुग्विकरणस्य' ऐसा नहीं कहा। यदि सूति, सूयति के पृथक् पाठ से ज्ञापित मानी जाय तो 'लुग्विकरणस्त्रैव' ऐसा ज्ञापन करने पर भी सूति, सूयति का पृथक् पाठ सार्थक रहता।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से उक्त 'गातिस्था०'[९] सूत्र में

---

१. प्र० ७/२/४४ 'अर्थ किमर्थम्०' पर टि०।

२. गदा, पृष्ठ १८९। ३. प०शे० पृष्ठ ४३६, गदा, पृष्ठ१८९।

४. म०भा०, ७/२/१५।

५. ज्ञानार्थक आदादिक विद् धातु, निष्ठा प्रत्यय, इट् आगम होकर निष्पन्न।

६. म०भा०, ७/२/६८। ७. अष्टा० ७/२/६८।

८. गूढार्थ०, पृष्ठ ४३६-४३७, गदा, पृष्ठ १८९-१९०।

९. अष्टा० २/४/७७।

'पा पाने' अलुग्विकरण धातु का ग्रहण हो जाता है और लुग्विकरण पा रक्षणे का ग्रहण नहीं होता, इसी प्रकार 'गापोष्टक्'[१] सूत्र में अलुग्विकरण 'पा पाने' का ग्रहण होता है। 'सामगः' आदि। 'पा रक्षणे' का नहीं। इस प्रकार इसके अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा धातु के ग्रहण में संदेह का निवारण करती है। कहीं सामान्य धातु अलुग्विकरण और लुग्विकरण दोनों में प्राप्त होती है, वहाँ किसका ग्रहण करना चाहिए? लुग्विकरण का या अलुग्विकरण का? इसका प्रतिपादन किया गया है। यह परिभाषा इसी रूप में किसी ने नहीं मानी है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[२] परिभाषा का अर्थ सभी में एक समान है। परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। प्राचीनों ने ज्ञापकसिद्ध मानी है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा नीलकण्ठ इसका 'स्वरतिसूतिः[३] सूत्र में 'सूति, सूयति' का पृथक् विकरण सहित निर्देश इसका ज्ञापक मानते हुए उपपादन किया है।[४] सीरदेव तथा हरिभास्कर ने भी उक्त सूत्र के स्वरति, सूति ग्रहण को ज्ञापक मानते हुए द्वितीय 'वेत्तेर्विभाषा'[५] में 'वेत्तेः' में श्तिप्निर्देश को भी ज्ञापक माना है।[६] नागेश ने इस परिभाषाको ज्ञापकसिद्ध नहीं माना है। अतएव उन्होंने व्याख्या में कैयट का उल्लेख करके उनके द्वारा मान्य 'स्वरतिसूति०'[७] में सूति, सूयति का पृथक् निर्देश के ज्ञापक का विस्तार से खण्डन कर दिया है। ये भाष्यप्रामाण्य से इसको वाचनिकी मानते हैं। इसलिए इन्होंने 'यस्य विभाषा'[८] सूत्र में ध्वनित माना है तथा ध्वनन का उपपादन करते हुए कैयट तथा सीरदेव आदि के मत की अयुक्तिकता प्रतिपादित की है। इस परिभाषा के प्रयोजनों का व्याडि आदि ने विस्तार से निरूपण किया है। नागेश ने संक्षेप में ही प्रयोजन का प्रतिपादन किया है।

(८६) अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य।।प०१०४।।

परिभाषा का उपक्रम—यहाँ यह शंका होती है कि 'अदोऽञ्चति'='अदमुयङ्'[९]

---

१. अष्टा०, ३/२/८।

२. 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलंग्विकरणस्यैव ग्रहणम्' द्र० परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

३. अष्टा०, ७/२/४४।

४. व्याडि पाठ, परि०सं० ४३, पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ६७, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ८३।

५. अष्टा० ७/१/७।

६. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ८३, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ८६।

७. अष्टा० ७/२/४४। ८. वही, ७/२/१५।

९. 'अदद्रि+अञ्च्' में यणादि होकर 'अदमुयञ्च' का प्र०वि०ए० का रूप।

में 'अद+द्रि+अञ्च् इस अवस्था में दोनों दकारों में पूर्व द् का का भी 'अदसोऽसेर्दादु' 'दो-मः'[१] सूत्र से म हो जाना चाहिए और 'अदमुयङ्' ऐसा रूप नहीं होना चाहिए? इसके उत्तर के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जब शास्त्र में अनन्त्य को विकार-आदेश विधान किया हो तो वह आदेश अन्त्य के सदेश-समीपस्थ के स्थान में ही होता है। **परिभाषा का आशय**— अनन्त्य- जो अन्त्य नहीं है। 'अन्त्यसदेश' का अर्थ है, जिसका एक साथ उच्चारण है वह सदेश है अर्थात् समीप। इस प्रकार नागेश के अनुसार परिभाषा का अर्थ है='जब एक ही प्रयोग में अन्त्य (वर्ण) सदेश (समीपस्थ) और अनन्त्य (दूरस्थ) सदेश दोनों को एक साथ कार्य (आदेश) प्राप्त हो तो अन्त्य-सदेश वर्ण को ही कार्य होता है और दूरस्थ व्यवहितपूर्व वर्ण को नहीं होता है, यही परिभाषार्थ है।[२] **उक्त अर्थ में हेतु**— यदि ऐसा न माना जाय तो प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति से नेता, सोता इत्यादि में ही णोपदेश धातु ण्ीञ् को नत्वादेश तथा षुञ् को सत्वादेश होंगे। 'धात्वादेः षः सः'[३] यह सूत्र आदिभूत औपदेशिक ष् को स् आदेश विधान करता है और 'णो[४] नः' आदिभूत ण् को न्। ये आदि— अनन्त्य को आदेश कहे गये हैं, ण् तथा स् अन्त्य ईस तथा उ के सदेश भी है। पर 'नमति' तथा 'सिञ्चति' आदि में नत्व और सत्व नहीं हो सकेंगे, क्योंकि 'णम्' एवं 'षिच्' में ण् तथा ष् अनन्त्य तो हैं, पर अन्त्य-सदेश नहीं है, अन्त्य के अकार तथा इकार द्वारा व्यवहित हैं। अतः प्रत्यासत्तिन्याय से दोनों की प्राप्ति में यह न्याय प्रवृत्त होता है। **परिभाषा का लिङ्ग**— परिभाषावाक्य में जो 'अनन्त्यविकारे' यह पाठ है, वह परिभाषा का लिङ्ग है अर्थात् जहाँ अनन्त्य को विकार कहा गया हो, वहाँ 'अनत्य सदेशस्य' यह उपस्थित होता है और 'अन्त्यसदेश' का तात्पर्य है अन्त्य वर्ण[५] और अनन्त्य वर्णों में दूसरे[६] का व्यवधान नहीं होना चाहिए।[७] **(क) उक्त अर्थ में, प्रमाण**— इस परिभाषा के 'अन्त्यसदेश' का ऐसा[८] अर्थ होने से 'विद्धः'[९] आदि की सिद्धि के लिए 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' शास्त्र चरितार्थ होता है। व्यध् में य् के अन्त्य-सदेश-अन्त्य ध् से अव्यवहित पूर्व न होने से (अकार का

---

१. अष्टा० ८/२/८०। २. प०शे०, पृष्ठ ४५३।

३. अष्टा० ६/१/६४। ४. अष्टा० ६/१/६५।

५. वर्ण से यहाँ केवल अक्षर समाम्नाय का ही ग्रहण न होकर अन्य वर्णों का भी ग्रहण।

६. अन्त्यवर्ण=विजातीयवर्ण का ही ग्रहण अपेक्षित है।

७. प०शे०, पृष्ठ ४५४।

८. अन्त्य वर्ण तथा इतर विजातीय वर्ण से व्यवहित न होने पर ही इसकी प्रवृत्ति।

९. 'व्यध्', निष्ठा क्त प्रत्ययान्त रूप।

व्यवधान है) इस परिभाषा से 'य्' का सम्प्रसारण नहीं हो सकता था। यदि ऐसा अर्थ न होता तो परिभाषा से ही 'य्' को सम्प्रसारण हो जाता और 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' सूत्र व्यर्थ हो जाता। **प्रसंगतः परिभाषा की भ्रान्ति[१] का खण्डन**— नागेश का कथन है कि यह भ्रान्ति है कि भाष्यकार ने 'ष्यङः सम्प्रसारणम्०[२] सूत्र के भाष्य में इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वार्तिककार[३] द्वारा कहे गये इस परिभाषा के अनेक[४] फलों को 'अल्लोपोऽनः'[५] सूत्र विषयक अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं से अन्यथासिद्ध दिखलाकर अन्त में भाष्यकार कहते हैं— "जो इस परिभाषा के प्रयोजन हैं, जहाँ इस परिभाषा के विना इष्ट रूप सिद्धि नहीं हो सकती— तदर्थ इस परिभाषा की प्रवृत्ति करनी चाहिए, और जहाँ इसकी प्रवृत्ति से अनिष्ट रूप की प्रसक्ति हो, वहाँ इसकी अप्रवृत्ति का उपाय चिन्तन करना चाहिए"। इष्ट विषय में प्रवृत्ति के लिए अनन्त्यविकार बोधक शब्द को उदात्त पढ़ देना चाहिए[६]— यथा='यथासंख्यमनुदेशः[७] समानाम्' सूत्र की प्रवृत्ति इष्ट है, वहाँ 'यथासंख्यम्' को स्वरित पढ़ दिया जाता है।[८]

भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित प्रयोजन–'मिमार्जिषति' रूप की सिद्धि के लिए भी इस परिभाषा की आवश्यकता है। 'मृज्+सन्+तिप्' इस अवस्था में परनिमित्तक बह्वपेक्ष वृद्धि की अपेक्षा में अपरनिमित्तक अल्पापेक्ष अन्तरंग होने से द्वित्व होकर, परत्व से अभ्यास कार्य होकर 'मिमृज्+सन्+तिप्' अवस्था में अभ्यास के इ को वृद्धि[९] प्राप्त होती है। उसका वारण इस परिभाषा से ही किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि परिभाषा की प्रवृत्ति न हो, अभ्यास के इ की वृद्धि होने पर 'ह्रस्वः'[१०] शास्त्र से पुनः ह्रस्व हो जाने पर इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा। ऐसा नहीं हो सकता। लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति एक बार ही होती है।[११] इसी प्रकार 'अदमुयङ्' भी सिद्ध हो जाता है। 'अदद्र्यङ्' इस अवस्था में 'अदसोऽसेर्दादु दो मः'[१२] सूत्र से इस न्याय के आधार पर अन्त्य द् को म होता है, अनन्त्य पूर्व को नहीं होता है, इसी प्रकार अन्य अनेक प्रयोजन हैं। **'न सम्प्रसारणे०'[१३] सूत्रस्थभाष्य का आशय**— यदि यह परिभाषा हो तो 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इस सूत्र के भाष्य के साथ विरोध उपस्थित होता है। वहाँ कहा

---

१. अष्टा० ६/१/३७। २. म०भा० ६/१/१३।
३. वा० म०भा० ६/१/१३। ४. म०भा० ६/१/१३।
५. अष्टा० ६/४/१३४।
६. 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्योदात्तनिर्देशे' पाठ, द्र० गदा, पृष्ठ २०४।
७. अष्टा० १/३/१०। ८. म०भा० ६/१/१३।
९. अष्टा० ७/२/११४। १०. अष्टा० ७/४/५९।
११. 'सकृल्लक्ष्ये लक्षणं सकृददेव प्रवर्तते'।
१२. अष्टा० ८/२/८०। १३. अष्टा० ६/१/३७।

है— "नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि'[१]=वस्तुतः यहाँ कुछ भी विरोध नहीं है। भाष्यग्रन्थ का यह अर्थ है कि जिन प्रयोजनों को उद्देश्य करके 'न सम्प्रसारणे०'[२] सूत्र की रचना हुई है, वे परिभाषा के प्रयोजन नहीं है, क्योंकि 'व्यध्' आदि में अन्त्य सदेश 'यण्'[३] नहीं है। कहीं-कहीं भाष्य पुस्तकों में "नैतान्येतस्याः प्रयोजनानि"=ऐसा पाठ भी उपलब्ध होता है।[४] यह पाठ ऊपर दिये हुए अर्थ को प्रमाणित करता है। भाष्यकार यह नहीं कहते कि यह परिभाषा नहीं है। फलतः यह परिभाषा वाचनिकी है। न्याय एवं ज्ञापकसिद्ध ही नहीं है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा की प्रवृत्ति से 'अनस्तक्ष्णा' आदि[५] में प्रथम, द्वितीय, तृतीय तीनों अकारों का 'अल्लोपोनः'[६] आदि[७] सूत्रों का लोप नहीं होता, किन्तु तृतीय 'अ' का ही लोप होता है। अन्यथा तीनों अकारों का लोप हो जाता, क्योंकि प्रत्यय स्वभावतः अपनी पूर्णता के लिए अंग की आकांक्षा करता है। 'अल्लोपोऽनः' सूत्र का यही निर्दोष अर्थ हो सकता है, कि "अन्नन्त अंग के अ का लोप हो जाता है, यदि उस अन्नन्त अंग से परे स्वादि, यकारादि अजादि असर्वनामस्थान प्रत्यय हो', ऐसा अर्थ होने पर प्रथम, द्वितीय अकारों का लोप परिभाषा से ही रुक सकता है। अङ्ग का अवयव यजादि परक जो 'अन्', उसके 'अ' का लोप होता है, इत्यादि अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं के आश्रयण की अपेक्षा परिभाषा का आश्रयण सरल मार्ग है, अतः यही ठीक है।[८]

समीक्षा— यह परिभाषा आदेश के विषय में कुछ विशेष निश्चय करती है। जहाँ अनन्त्य वर्ण को कार्य प्राप्त हो, वहाँ किसको कार्य होना चाहिए? एवं अनन्त्य व अन्त्य वर्ण के समीपस्थ वर्ण दोनों को कार्य प्राप्त हो, वहाँ किसको कार्य होना चाहिए? इसी का निर्णय किया जाता है। जहाँ अनन्त्यविकार की सम्भावना हो, वहाँ अनन्त्य के समीपस्थ वर्ण को कार्य होता है, दूरस्थ व्यवहित पूर्व वर्ण को नहीं होता है। व्याडि, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[९] पुरुषोत्तमदेव ने 'अनन्त्यविकारे०' प्रथमान्त पाठ मानकर पढ़ते हैं।[१०] शाकटायन एवं भोज ने भिन्न रूप में पढ़ी है।[११] जैनेन्द्र ने भी इस रूपमें पृथक् एक

---

१. म०भा० ६/१/३७। २. अष्टा० ६/१/३७।

३. अन्त्य वर्ण ध् तथा इतर वर्ण य् के मध्य में 'अ' का व्यवधान है।

४. म०भा० ६/१/३७। ५. हंस, शिरांसि, पयांसि।

६. अष्टा० ६/४/१३४। ७. अष्टा० ६/४/१०, ६/४/१३६।

८. गूढार्थ०, पृष्ठ ४५४। ९. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

१०. 'अनन्त्यविकारोऽन्त्यसदेशस्य', द्र० पुरुषोत्तमदेववृत्ति, १०७.

११. 'अन्त्याभावे अन्त्यसदेशस्य', द्र० शाकटायनपाठ, ५६, भोजपाठ, १५।

परिभाषा मानी है।[१] हेम ने दूसरे रूप में मानी है।[२] कातन्त्र ने कुछ भिन्न रूप से मानी है।[३] इसके अर्थ के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। व्याडि ने संक्षेप में 'अनन्त्य' का कार्य 'अनन्त्य समानादेश' को होता है— अर्थ माना है।[४] कातंत्र ने भी इसका सामान्य अर्थ करते हुए 'अन्त्यसदेश' का अन्त्य समीप तथा अन्त्यसदेशवर्ती अर्थ प्रस्तुत किया है। जैनेन्द्र ने दो परिभाषाएँ मानकर 'अन्त्यसदेश' का अन्त्य समीप तथा अन्त्य समीपवर्ती वर्ण अर्थ माना है।[५] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने 'अनन्त्य' का विकार अन्त्यसमीपवर्ती को होता है, अन्य जिस किसी को नहीं, ऐसा प्रथमान्त पाठ मानकर अर्थ किया है। नीलकण्ठ एक प्रयोग में युगपत् अन्त्यसदेश और असदेश में कार्य प्राप्त होने पर 'अन्त्यसदेश' का ही कार्य होता है, सामान्य अर्थ मानते हैं।[६] नागेश ने इसी का अनुकरण करते हुए विस्तार से स्पष्टतया अर्थ का सहेतुक प्रतिपादन किया है। 'अनन्त्यविकारे०' परिभाषा का लिङ्ग बताते हुए परिभाषा का अर्थ 'जहाँ अनन्त्यविकार में कार्य की सम्भावना हो, वहाँ यह परिभाषा उपस्थित होती हैं— माना है इन्होंने 'अन्त्यसदेश' का स्पष्ट अर्थ सहेतुक प्रतिपादित करके अति प्रसंग का निवारण किया है। परिभाषा के प्रयोजन के फलस्वरूप उदाहरण के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कोई मतभेद नहीं है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर आदि सभी ने उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। नागेश ने भी विस्तार से इसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव ने उदाहरणों को अन्यथासिद्ध बताते हुए इस परिभाषा के प्रत्याख्यान को भी स्वीकार किया है। इसमें 'ष्यङः सम्प्रसारणम्०'[७] सूत्र का प्रमाण प्रस्तुत किया है। हरिभास्कर ने इसका खण्डन करते हुए परिभाषा की आवश्यकता प्रतिपादित की है। नागेश ने इसका विस्तार से खण्डन करते हुए परिभाषा के फल का प्रदर्शन किया है। इसके हेतु के विषय में भी कुछ मतभेद है। व्याडि, कातंत्र, जैनेन्द्र ने ज्ञापकसिद्ध माना है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर ने वाचनिकी मानी है। नागेश भी वाचनिकी मानते हैं। इस प्रकार नागेश ने विस्तार से पूर्व मत का खण्डन करते हुए परिभाषा की आवश्यकता प्रतिपादित की है।

(८७) नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे।।प०१०५।।

परिभाषा का उपक्रम— यहाँ यह शंका होती है कि 'अव्यक्तानुकरणस्यात[८]

---

१. 'अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्य', द्र० जैनेन्द्रपाठ, २८।

२. 'अदाद्यनदाद्योरनदादैरेव, द्र० हैमपाठ, ६०।

३. 'अन्त्यामावेऽन्त्यसदेशस्यापि ग्रहणम्' कातंत्र पाठ, ३९।

४. व्याडिपाठ, ५१। ५. जैनेन्द्रपाठ, २७-२८।

६. नीलकंठवृत्ति, परि॰सं॰९४। ७. अष्टा०, ६/१/१३।

८. अष्टा० ६/१/९८।

इतौ' शास्त्र अव्यक्त के अनुकरण का, जो अत् शब्द और उससे परे 'इति' शब्द के इ के स्थान में पररूप एकादेश का विधान करता है। अत: यह षष्ठीनिर्दिष्ट होने से 'अलोऽन्त्यस्य'[१] सूत्र से अन्त्य अल् 'त्' तथा 'इ' के स्थान में पररूप प्राप्त होता है, जिससे पटत् इति- 'पटिति'[२] न होकर 'पटेति'[३] ऐसा अनिष्ट रूप होना चाहिए। इस अनिष्ट के वारण के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अभ्यासविकार प्रकरण को छोड़कर अनर्थक शब्द को कहा गया कार्य अन्त्य 'अल्को नहीं होता है। अर्थात् अभ्यासविकारप्रकरण में अनर्थक अभ्यास में भी 'अलोऽन्त्यस्य' का कार्य हो जाता है।

परिभाषा का आशय— यदि षष्ठीनिर्दिष्ट जिसके स्थान में आदेश विधान किया गया है, अनर्थक हो तो 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती, अर्थात् षष्ठी निर्दिष्ट सम्पूर्ण के स्थान में आदेश होता है, परन्तु अभ्यास के आदेश करने में 'अलोऽन्त्यस्य' विधि होती ही है। **'अनभ्यास' पद का प्रयोजन**— इसीलिए 'भृञामित्'[४] इत्यादि[५] सूत्रों से 'विभर्ति' आदि में अभ्यास के अन्त्य अल् को इकार आदेश हो जाता है तथा यह अभ्यास अनर्थक होता है, धातु के द्विरुक्त होने पर भी अर्थ की द्विरुक्ति नहीं होती, क्योंकि शब्दाधिक्य के होने से अर्थाधिक्य नहीं हो जाता है। अभ्यास का उत्तरखण्ड ही अर्थवान् है।[६] इससे अनर्थक अभ्यास का कार्य अन्त्य 'अल्' को होता है।[७] अभ्यास के अनर्थकत्व में हेतु यह है कि केवल अभ्यास का प्रयोग नहीं होता, उससे लोक में अर्थ का बोध नहीं होता है। अभ्यासोत्तर खण्ड जो प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व विद्यमान रहता है, वह अर्थवान् है, क्योंकि उसका द्विर्वचन विषय से अन्यत्र केवल रूप से भी प्रयोग देखा जाता है और वह अर्थ का बोधक होता है। फलत: उसमें एक भाग अनर्थक तथा दोनों भाग सार्थक होते हैं। इस प्रकार 'अनभ्यास' यह चरितार्थ होता है।[८]

परिभाषा की सत्ता के विषय में विविध मत— (क) भाष्यकार का मत (नागेश का मत)— यह परिभाषा भाष्यकार को अभिमत नहीं है। यह 'अलोऽन्त्यात् पूर्व[९] उपधा' सूत्र के भाष्य में पठित है, और वही इसके प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध

---

१. अष्टा० १/१/५२।

२. अनुकरण 'पटत्+इति' में 'अत्' स्थान में पररूप।

३. 'पटत्+इति' में दोनों का पररूप इ, गुण होकर निष्पन्न।

४. अष्टा० ७/४/७६। ५. 'ई च गॅण:' अष्टा० ७/४/९७।

६. श०शे० तनादिगण, द्र० गूढार्थ०, १३९-१४२।

७. प०शे०, पृष्ठ ४५७। ८. गदा, पृष्ठ २०६।

९. अष्टा०, १/१/९८/६५।

दिखलाकर इसका प्रत्याख्यान भी किया गया है। इसके सम्पूर्ण प्रयोजन अन्यथा सिद्ध है। **(१)** 'पटत्+इति'- पटिति-यहाँ 'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा'[१] इस सूत्र के ज्ञापक से 'अलोऽन्त्यविधि' नहीं होती है। अनर्थक में अलोऽन्त्य- विधि नहीं होती। तभी तो अन्त्य तकार को वैकल्पिक पररूप विधान चरितार्थ होता है। (२) देहि, धेहि इत्यादि प्रयोगों में समस्त अभ्यास के लोप के लिए 'लोपश्च' ऐसा द्विशकार निर्देश माना जाता है। शित् आदेश सम्पूर्ण के स्थान में होता है।[२] इसी प्रकार 'मित्सते' आदि में 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'[३] में 'अत्र' ग्रहण सर्वादेश के लिए माना जाता है। इस प्रकार इस परिभाषा का कुछ प्रयोजन नहीं है, अनर्थक में भी 'अलोऽन्त्य विधि' होती है, इसीलिए तो 'तस्य[४] लोप:' सूत्र में तस्य यह सर्वादेश के लिए पढ़ा है। **(ख) अन्यों का मत**— कुछ[५] विद्वान् इस परिभाषा को वाचनिकी मानते हैं। दूसरे[६] विद्वान् इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं, 'अनभ्यास-विकार' यह अंश भी शेष पढ़ते हैं। उनके अनुसार यह ज्ञापकसिद्ध है।[७]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'अव्यक्तानुकरणस्यात[८] इतौ' सूत्र से 'अत्' भाग को विहित पररूप अन्त्य अल् को नहीं होता है, तब 'घटत्+इति'= घटिति, पटिति आदि रूप सिद्ध होते हैं एवं 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च'[९] सूत्र से अभ्यास का लोप, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'[१०] सूत्र से अभ्यास का लोप इस परिभाषा की प्रवृत्ति से अन्त्य का आदेश नहीं होता। फलत: सम्पूर्ण के स्थान में आदेश होकर देहि, धेहि एवं 'मित्सते' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं— इत्यादि प्रयोजन हैं। **समीक्षा**— यह परिभाषा 'अलोऽन्त्यविधि' के विषय में विशेष निर्देश करती है। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[११] शाकटायन, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव एवं सीरदेव ने भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[१२] व्याडि, चन्द्र, कातंत्र, भोज एवं हेम ने नहीं मानी है।[१३] इस परिभाषा का अर्थ सभी ने एक समान माना है। इस परिभाषा के व्याख्यान

---

१. अष्टा० ६/१/९९। २. अष्टा०, १/१/५५।
३. अष्टा० ७/४/५८। ४. अष्टा० १/३/९।
५. नागेश, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव हरिभास्कर।
६. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर।
७. गदा, पृष्ठ २०६। ८. अष्टा० ६/१/९८।
९. अष्टा० ६/४/११९। १०. अष्टा० ७/४/५८।
११. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ९५ हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ११५।
१२. 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधि:', शाकटायनपाठ, परि०सं० ५५, जैनेन्द्रपाठ, परि०सं० ३८, पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ९३, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ११३।
१३. परिसंग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

में पूर्ववर्ती आचार्यों तथा नागेश में कोई विशेष मतभेद नहीं है। विस्तार एवं संक्षेप प्रतिपादन में कुछ अन्तर है।नागेश ने इसकी अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या में केवल 'अनभ्यास' का प्रयोजन तथा प्रत्याख्यान का उल्लेख मात्र कर दिया है। जैनेन्द्र ने इसको 'अन्ते लः' सूत्र का अपवाद मानते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया है।[१] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इस परिभाषा का प्रत्याख्यान कर दिया है। भाष्यमें पठित होने से वाचनिकी स्वीकार की गई है। परिभाषा के प्रयोजनों की अन्यथा सिद्धि विस्तार से प्रदर्शित करते हुए इसको स्वीकार करने वाले मत का उल्लेख किया गया है, अनभ्यासविकारेषु' उनके मत का शेष बतलाया है तथा उनके मतानुसार प्रयोजन भी बताया है।[२] नीलकण्ठ ने इसको ज्ञापकसिद्ध मानते हुए 'इदोऽय्[३] पुंसि' सूत्र में 'इद' ग्रहण ज्ञापक माना है तथा 'अनभ्यासविकारे' का'अर्त्तिपिपर्त्योश्च'[४] निर्देश ज्ञापक माना है।[५] नागेश ने इसको वाचनिकी माना है तथा पुरुषोत्तमदेव आदि के अनुसार परिभाषा का अनावश्यकत्व स्वीकार किया है।

(८८) प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्।।प०१११।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका होती है कि 'तित्स्वरितम्'[६] सूत्र, जो तित् (त् जिसका इत् हो) उसको स्वरित विधान करता है। फलस्वरूप 'किरति'[७] (कृ+श+ति) में भी किर् का इ स्वरित हो जाना चाहिए? क्योंकि 'ऋत इद्धातोः'[८] सूत्र से जो 'ऋ' का 'इत्' आदेश विधान किया है, वह तित् है (इ के साथ 'त्' अनुबन्ध (इत्) पढ़ा गया है)। इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जब शास्त्र में प्रयुक्त शब्द रूप प्रत्यय भी हो सकता है और अप्रत्यय भी, तो प्रत्ययरूप का ही ग्रहण करना चाहिए।

परिभाषा का आशय— तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रत्यय और अप्रत्यय (प्रत्ययभिन्न) दोनों का एकस्वरूप होने से ग्रहण हो सकता है, वहाँ प्रत्यय (रूप) का ही ग्रहण होता है, अप्रत्यय का नहीं।

परिभाषा का मूल एवं प्रवृत्ति निमित्त— यह परिभाषा वाचनिकी है। 'अङ्गस्य'[९] सूत्र के भाष्य में पढ़ी गयी है। वर्ण ग्रहणों में इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा उसी 'अङ्गस्य' सूत्र के भाष्य में ही कैयट ने कहा है। नागेश ने भी

---

१. जैनेन्द्रपाठ, परि०सं० ३८।
२. परिसंग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
३. अष्टा० ७/२/१११।
४. अष्टा० ७/४/७७।
५. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ९५।
६. अष्टा० ६/१/१८५।
७. कृ धातु, लट्, प्र०पु०ए०।
८. अष्टा० ७/१/१००।
९. अष्टा० ६ /४/१।

कैयट[१] के विचार से सहमति प्रकट की है। वर्णग्रहण कार्यों में प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों का ग्रहण करके कार्य हो जाता है।[२] **(क) वर्ण ग्रहण में अप्रवृत्ति का लाभ**— उसका लाभ यह है कि 'दध्यशान' में अप्रत्यय अच् (अ) परे रहते भी 'इको यणचि'[३] सूत्र से 'यण्' होता है। इसी प्रकार 'दध्यत्र' में भी 'यण्' होता है। 'शुक्ली भवति'[४] यहाँ अप्रत्यय अकार को भी मानकर 'अस्य[५] च्वौ' सूत्र से 'ई' हो जाता है, अन्यथा 'इको यणचि' इत्यादि कार्य एरयनम्= 'ययनम्' इत्यादि तथा चय:, जय: इत्यादि में प्रत्यय परे रहते हुए ही यण्, अय् आदि आदेश होते, उपर्युक्त अर्थ में नहीं होते। **परिभाषा की सत्ता के विषय में अन्यों का मत**— दूसरे[६] लोगों का ऐसा विचार है और इस विचार के साथ नागेश भी सहमत हैं कि कैयट ने 'तित्स्वरितम्'[७] के प्रदीप में जो यह कहा है कि "यह परिभाषा लक्ष्य-संस्कार के लिए भाष्य में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुई है, ठीक है। 'अङ्गस्य'[८] इस अधिकार सूत्र के प्रत्याख्यान के लिए एकदेशी ने इसका प्रयोग किया है। इस लिए 'तित्स्वरितम्'[९] इस सूत्र में 'प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्' ऐसा वार्तिक[१०] पढ़ा है। परिभाषा के होने पर परिभाषा से ही 'तित्' प्रत्यय लिया जायगा तो वार्तिक व्यर्थ हो जायेगा। वस्तुत: 'अङ्गस्य' इस अधिकार सूत्र के पढ़ने में ही लाघव है तथा परिभाषा से सर्वेष्टसिद्धि के न होने से इस परिभाषा द्वारा अङ्गस्य सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। इस प्रकार उक्त भाष्य एकदेशी की उक्ति है। अत: यह परिभाषा नहीं माननी चाहिए।[११] **(क) उक्त मत का लाभ**— परिभाषा के न होने से 'अपृक्त एकाल्प्रत्यय:'[१२] तथा 'स्वाङ्गे तस्प्रत्यये[१३] कृभ्वो:' सूत्रों में प्रत्यय ग्रहण सार्थक रहता है। एवं 'विज इट्'[१४] सूत्र में प्रत्ययग्रहण का अभाव रहता है। इस प्रकार परिभाषा के अस्तित्व में कोई प्रमाण न रहने से परिभाषा का अनङ्गीकार ही उचित सिद्ध होता है।[१५] **(ख) शंका**— परिभाषा के न मानने से उक्त तथाकथित प्रयोजन 'सनाशंसभिक्ष[१६] उ:' तथा 'वले'[१७] सूत्रों में व्यवस्था कैसे होगी? 'सन्' तथा वल्

---

१. प्र० ६/४/१ 'इयङुवङोस्तु नायम्०' इत्यादि व्याख्या।
२. प०शे०, पृष्ठ ४६३।
३. अष्टा० ६/१/७७।
४. 'अशुक्ल: शुक्लो भवति' अर्थ में 'च्वि' प्रत्ययान्त।
५. अष्टा० ७/४/३२।
६. कैयट।
७. प्र० ६/१/१८५.
८. अष्टा० ६/४/१।
९. अष्टा० ६/१/१८५।
१०. वा० म०भा० ६/१/१८५।
११. गदा, पृष्ठ २११।
१२. अष्टा० १/२/४१।
१३. अष्टा० ३/४/६१।
१४. अष्टा० १/२/२।
१५. गूढार्थ०, पृष्ठ ४६३।
१६. अष्टा० ३/२/१६८।
१७. अष्टा० ६/३/११८।

रूप प्रत्ययों का ही ग्रहण कैसे होगा? दोनों प्रत्यय तथा अप्रत्यय का ग्रहण होने लगेगा। **समाधान**— यह है कि उक्त सूत्रों में शिष्टों का व्याख्यान ही सन्देह मात्र में निर्णायक है। अत: व्याख्यान से सन् और वल-प्रत्ययों का ही स्वत: ग्रहण हो जायगा।[१] व्याख्यान यह है 'गर्गादिभ्यो यञ्'[२] सूत्र में गर्गादि गण में 'विजिगीषु' शब्द पढ़ा है, इस पाठरूप ज्ञापक से 'सनाशंसभिक्ष उ:' सूत्र में सन् से सन् प्रत्यय का ग्रहण सिद्ध है। यहाँ सन्नन्त वि पूर्वक 'जि' धातु से उ प्रत्यय हुआ है, अन्यथा धातु के साहचर्य से 'धातु' का ही ग्रहण होता, तब 'विजिगीषु' में उ प्रत्यय किससे होता? इसी प्रकार 'वले' सूत्र में वल् प्रत्यय का ग्रहण भी अन्यथासिद्ध है। 'वले' सूत्र के अनन्तर पठित 'मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्'[३] इस सूत्र में गृहीत 'मतुप्' प्रत्यय के साहचर्य से वल् प्रत्यय का ही ग्रहण होगा। इस प्रकार इस परिभाषा का कुछ प्रयोजन न होने से निष्प्रयोजना है।[४]

परिभाषा को मानने में नागेश का मत— नागेश ने 'परे तु' के द्वारा परिभाषा के प्रयोजनों को, अन्यथासिद्ध के द्वारा मानने वाले कैयटादि के मत का व्याख्यान किया है। इससे अधिक कुछ न लिखने के कारण प्रतीत होता है कि नागेश भी इनसे सहमत हैं। इनके अनुसार भी परिभाषा की आवश्यकता नहीं है। 'परिभाषेन्दुशेखर' के व्याख्याकारों की भी यही सहमति है।[५]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'सनाशंसभिक्ष उ:' इस सूत्र में सन् धातु का ग्रहण नहीं होता, अपितु, सन् प्रत्यय का ही ग्रहण होता है तथा 'वले'[६] सूत्र में वल् प्रत्यय का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'तित्स्वरितम्'[७] सूत्र में तित् जो प्रत्यय, उसी का ग्रहण होने से 'किरति' में कि को स्वरित नहीं होता है। ऐसे ही 'चिचीषिति' में सन् प्रत्यय के परे रहते जो दीर्घ[८] होता है, वह 'दधि सनोति' आदि में सन् धातु के परे नहीं होता— इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा किसी सूत्र में सामान्य रूप से उपात्त शब्द में धातु एवं प्रत्यय के ग्रहण में सन्देह हो जाने पर व्यवस्था का निर्णय करती है। वहाँ प्रत्यय का ग्रहण होना चाहिए या धातु का? इसी का निश्चय करती है। यह परिभाषा इस रूप में किसी भी पाठ में नहीं है। हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'एव' शब्द सहित मानी है।[४] व्याडि, शाकटायन, चन्द्र आदि ने नहीं मानी है। इस परिभाषा का हेतु, प्रयोजन आदि सभी पूर्ववर्ती आचार्यों ने समान माना है। नागेश भी

---

१. प०शे०, पृष्ठ ४६४।
२. अष्टा० ४/१/१०५।
३. अष्टा० ६/३/११९।
४. गदा, पृष्ठ २१२, गूढार्थ०, पृष्ठ४६७.
५. गदा, विजया, शा०कला, आदि।
६. अष्टा० ६/३/११८।
७. अष्टा० ६/१/१८५।
८. अष्टा० ६/४/१६।
९. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

उन्हीं का अनुकरण करते हुए व्याख्या करते हैं। पुरुषोत्तमदेव ने इसके हेतु के विषय में कुछ नहीं कहा है तथा भाष्यानुपलब्धता का कथन करते हुए 'अर्थवत्०' परिभाषा से ही गतार्थ मानी है।[१] सीरदेव ने यह कहा है कि यद्यपि इसके अस्तित्व में प्रमाण नहीं है तथापि 'अङ्गस्य'[२] सूत्र के भाष्य में व्याख्यात होने से तथा 'नामि'[३] भाष्य में कैयट द्वारा पठित होने से मान्य है, ऐसा स्वीकार किया है। इसका व्याख्यान करते हुए इसकी अनावश्यकता भी प्रतिपादित की है।[४] नीलकण्ठ ने परिभाषा को वाचनिकी स्वीकार करते हुए वर्ण ग्रहण में, अप्रवृत्ति का भी कैयट प्रमाण पुरस्सर कथन किया है।[५] हरिभास्कर ने परिभाषा के प्रयोजनों का कथन करके उसका अन्यथा सिद्धत्व प्रतिपादित करते हुए परिभाषा की अनावश्यकता मानी है।[६] नागेश ने भी सीरदेव के अनुसार परिभाषा का हेतु तथा अप्रयोजन प्रतिपादित करते हुए अपना अभिमत प्रकट किया है। इन्होंने भी परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादित की है। इस प्रसंग में भाष्य, कैयट तथा वार्तिककार का प्रमाण देते हुए परिभाषा के प्रयोजनों को 'व्याख्यानात्०'[७] परिभाषा से ही सिद्ध स्वीकार किया है। इस प्रकार इसकी सामान्य व्याख्या प्रतिपादित की है। सीरदेव आदि ने भी यही शैली अपनायी है।

(८९) श्रुतानुमतियोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्।।प०११३।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका है कि 'प्रियसक्थना' (ब्राह्मणेन) यहाँ 'प्रियसक्थि' अंग पुल्लिंगवाची है, क्योंकि अन्यपदार्थ ब्रह्मण पुल्लिंग है। अतः 'प्रियसक्थि-टा' इस प्रयोग में 'अस्थिदधि-सक्थयक्ष्णामनङुदात्तः'[८] सूत्र से अस्थ्याद्यन्त अङ्ग को अनङ् आदेश नहीं होना चाहिए? क्योंकि अस्थिदधि०'[९] इत्यादि सूत्र में 'नपुंसकस्य झलचः' सूत्र से नपुंसकस्य की अनुवृत्ति आ रही है। अतः 'प्रियसक्थना' में अङ्ग पुल्लिंग होने से नपुंसक अङ्ग का अभाव है, अतः उक्त में अनङ् नहीं होना चाहिए? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— साक्षात्[१०] पठित (सूत्र में गृहीत) के साथ जो सम्बन्ध (किसी विशेषण का अर्थ सम्बन्ध) होता है, वह अनुमित (—अधिकारस्थ शब्द

---

१. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि॰सं॰९२। २. अष्टा० ६/४/१।
३. अष्टा० ६/४/३। ४. सीरदेववृत्ति, परि०सं०११४।
५. नीलकण्ठवृत्ति, परि॰सं॰९८। ६. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ११६।
७. प०शे०, परि०सं० १। ८. अष्टा० ७/१/७५।
९. वही, ७/१/७२।
१०. साक्षात् सूत्र में उच्चारित होना चाहिए यथा 'अस्थि दधि०' आदि सूत्र में श्रुत है, द्र० गूढार्थ०, पृ० ४६७।

से आक्षिप्त) के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसकी अपेक्षा बलवान् होता है।

परिभाषा का आशय— श्रुत और अनुमित के मध्य में होने पर श्रुत का ही सम्बन्ध बलवान् होता है, अनुमित का नहीं।

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा तन्त्रान्तरन्यायसिद्ध[१] है। तन्त्र में कहा गया है— 'प्रकरणादि से जो सम्बन्ध प्राप्त होता है, वह अनुमित होता है, वह श्रुत-सम्बन्ध की अपेक्षा दुर्बल है' तथा मीमांसा सूत्र भी है 'श्रुति-लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमार ख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'[२] इस न्याय से भी प्रकरणादि से प्राप्त सम्बन्ध से श्रुत सम्बन्ध बलवान् है— सिद्ध होता है। इसी प्रकार उक्त सूत्र में श्रुति की अपेक्षा लिङ्ग (प्रकरण) के दुर्बल होने से, अस्थ्यादि के श्रुत होने के कारण, प्रथम उपस्थित होने से नपुंसक पदार्थ का अस्थ्यादि के साथ अन्वय होगा। स्वरितादि लिङ्ग के पश्चात् उपस्थित होने वाले अङ्ग और तदन्त के साथ अन्वय नहीं होगा, क्योंकि नपुसंक पदार्थ निराकांक्ष हो जाता है। इस प्रकार श्रुत के सम्भव होने पर उपर्युक्त विषय चरितार्थ होता है।[३] **(क) श्रुत के असम्भव में अनुमित सम्बन्ध**— श्रुत के असम्भव में अनुमित से भी सम्बन्ध होता है।[४] 'जश्शसोः[५] शि', 'नपुसंकाच्च'[६] तथा 'स्वमोर्नपुंसकात्'[७] सूत्रों से क्रमणः शि, शी और लुक् तथा 'नपुंसकस्य झलचः'[८] सूत्र से नुम्- इन विधियों में गृह्यमाण (शास्त्र में साक्षात् श्रुत) न होने से, प्रकरण प्राप्त अङ्ग के साथ नपुंसक विशेषण का अन्वय होगा। इस प्रकार इस परिभाषा में श्रुत का तात्पर्य साक्षात् सूत्र में पठित है और एक की आकांक्षा करना तथा स्थान-प्रमाण से प्राप्त करना, यह सब उभयाकांक्षा रूप प्रकरण से ज्ञात होना, 'अनुमित' कहलाता है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा के होने से ही 'वा नपुंसकस्य'[९] इस सूत्र को आचार्य ने 'वा शौ' इस रूप में नहीं पढ़ा है। अन्यथा नपुंसक-ग्रहण के अंग विशेषण होने पर दोनों पाठों में फलभेद न होने से लाघव होने से वैसा कर देते। वहाँ सूत्र में 'नपुंसक' ग्रहण इसलिए किया है, आचार्य चाहते हैं कि गृह्यमाण[१०] (-श्रुत पूर्व सूत्र 'नाभ्यस्ताच्छतुः')[११] से अनुवृत्त 'शतृ'[१२] के साथ 'नपुंसकस्य' का अन्वय

---

१. मीमांसा, तंत्र ३/१/७। २. मीमांसा ३/३/७।

३. गदा, पृ० २१४, गूढार्थ०, पृ० ४६७।

४. गूढार्थ०, पृ० ४६७। ५. अष्टा० ७/१/२०।

६. अष्टा० ७/१/१९। ७. अष्टा० ७/१/२३।

८. अष्टा० ७/१/७२। ९. अष्टा० ७/१/७९।

१०. अभ्यस्त शब्द, द्र० गूढार्थ०, पृ० ४६७।

११. अष्टा० ७/१/७८। १२. अष्टा० ३/२/१२४ से शतृ प्रत्यय।

हो, जिससे 'बहूनि ददन्ति कुलानि येषु ते'='बहुददन्तो'[१] (बहुददतो वा) ग्रामा:' यहाँ 'बहुददत्' अङ्ग के नपुसंक होने पर भी शत्रन्त 'वदत्' के नपुंसक लिङ्ग न होने से 'नुम्' विकल्प से नहीं होता है। यदि आचार्य 'वा शौ'[२] ऐसा सूत्रन्यास करते तो सूत्रार्थ होता, 'अभ्यस्त धातु से परे जो 'शतृ' प्रत्यय, तदन्त जो अङ्ग, उसको शि परे रहते नुम् विकल्प से होता है', जिससे शि परे[३] रहते नपुंसकलिङ्ग अङ्ग 'बहुददत्' को, विकल्प से नुम् हो जाता, जो अनिष्ट होता। यह सब 'स्वमोर्नपुंसकात्'[४] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया है। वहाँ 'अस्थिदधि०'[५] इत्यादि सूत्र में नपुंसक श्रौत अस्थि आदि का विशेषण है और 'शी' आदि विधि में नपुंसक अङ्ग का विशेषण होता है— कहा है। इस तात्पर्य से यह परिभाषा ध्वनित होती है।[६]

(क) परिभाषा के प्रयोजन के विषय में सीरदेव आदि[७] का मत तथा उसका खण्डन; (ख) सीरदेवादि का मत— सीरदेवादि लोग इस परिभाषा को 'श्रुतानुमितयो: श्रौत: सम्बन्धो बलीयान्, इस रूप में पढ़ते हैं।[८] प्रकृत परिभाषा का 'महाह्रद:' आदि में हकार से परे वर्तमान रेफ को द्वित्वाभावरूप फल मानते है। उनकी उक्ति यह है कि 'अचो रहाभ्यां द्वे'[९] सूत्र में रेफ द्वित्व के निमित्त रूप से श्रुत है और 'यर्' प्रत्याहारान्तर्गत होने से जो इसको अनुमित कार्यित्व प्राप्त होता है, उसका श्रौत सम्बन्ध के बलवत्तर होने से बाध हो जाता है। **(आ) नागेश मत**— परन्तु नागेश के मत से यह मानना ठीक नहीं है। उनको कहना है कि तक्रकौण्डिन्यन्याय स्थल में, जो अनवकाशत्व रूप युक्ति है, उसी से यह फल सिद्ध हो जाता है। जहाँ-जहाँ रेफ की निमित्तता होगी, वहाँ-वहाँ वाक्यान्तर से कार्यिता की भी प्रसक्ति होगी, जिससे निमित्तता अनवकाश होकर कार्यिता की बाधक हो जायगी, जैसे तक्रदान अनवकाश होकर दधिदान का बाधक होता है।[१०] विस्तार से उद्योत[११] में द्रष्टव्य है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'प्रियसक्थि' में 'अस्थिदधि०'[१२] सूत्र से अनङ् न होने की शंका नहीं रहती है, क्योंकि 'नपुंसकस्य' इस विशेषण का सम्बन्ध साक्षात् श्रुत (सूत्र पठित) 'सक्थि' और 'अस्थि' के साथ होगा, जिससे अंग

१. विशेषण वाची 'बहुददत्' शब्द, प्र० वि० बहु० में 'जस्' प्रत्यय, अङ्ग को 'नुम्' विकल्प से होकर निष्पन्न रूप।

२. प०शे०, पृ० ४६७।

३. अष्टा० ७/१/२०।

४. म०भा० ७/१/२३।

५. अष्टा० ७/१/७५।

६. गदा, पृ० २१४।

७. पुरुषोत्तमदेव, नीलकण्ठ।

८. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

९. अष्टा० ८/४/४६।

१०. गदा, पृ० २१५।

११. उ० ८/४/४६।

१२. अष्टा० ७/१/७५।

के पुल्लिंग होने पर भी अनङ् हो जाता है, इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा श्रुत (साक्षात् प्रतीत) और अनुमित (अनुमान से ज्ञात) सम्बन्ध में बलवत्ता का प्रतिपादन करती है। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[१] पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[२] हेम[३] और चन्द्र[४] ने भी कुछ पाठान्तर से स्वीकार किया है। नीलकण्ठ नेइसी से सम्बन्धित एक पृथक् परिभाषा भी स्वीकार की है।[५] परन्तु नागेश ने उसे नहीं स्वीकार किया। परिभाषा के अर्थ के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर के अनुसार श्रुत-साक्षात् शब्द से बोधित सम्बन्ध बलवान् होता है, सामान्य रूप से प्रतीयमान अनुमित से सम्बन्ध बलवान् नहीं होता है अर्थात् साक्षात् शब्द से प्रतीत सम्बन्ध द्वारा अनुमित सम्बन्ध का बाध होता है, ऐसा अर्थ है। नीलकण्ठ ने भी उक्त अर्थ को स्पष्टत: स्वीकार करते हुए अनुमित शब्द का वैकल्पिक अर्थ प्रकरण से प्राप्त (सम्बन्ध) भी स्वीकार किया है, परन्तु नागेश ने इस अर्थ को न मानकर श्रुत का साक्षात् उच्चरित तथा अनुमित का प्रकरणादि प्राप्त अर्थ मानते हुए अर्थ किया हैं श्रुत से ही सम्बन्ध होता है, प्रकरणादि प्राप्त से सम्बन्ध नहीं होता है।[६] इसी अर्थ के लिए नीलकण्ठ ने एक पृथक् परिभाषा मानी है, परन्तु नागेश ने इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी है। नागेश ने अपने अर्थ के समर्थन में भाष्य का प्रमाण प्रस्तुत करके विस्तार से उपपादन किया है और पुरुषोत्तमदेव आदि के अर्थ एवं उदाहरण का सहेतुक खण्डन कर दिया है। परिभाषा के हेतु के विषय में भी मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव ने माठरकौण्डिन्य न्यायसिद्ध अर्थ मानते हुए सोदाहरण उपपादित भी किया है। सीरदेव ने भी उक्त लौकिक न्यायलब्ध अर्थ मानते हुए विस्तार से उपपादन किया है। नीलकण्ठ ने विलम्ब से शीघ्रोपस्थितिक न्यायमूलक मानी है। हरिभास्कर ने तक्रकौण्डिन्यन्याय सिद्ध मानी है। परन्तु नागेश ने उक्त हेतुओं को न मानते हुए 'श्रुतिलिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'[७] इस मीमांसोक्त न्यायमूलक मानी है तथा सोदाहरण प्रयोजन भी दिखाया है। इसके उदाहरण के विषय में भी मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव के अनुसार इसके उदाहरण 'भद्रह्रद:, में 'अचो रहाभ्यां[८] द्वे' सूत्र से रेफ का द्वित्व नहीं

---

१. नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० १००, हरिभास्करवृत्ति, परि० सं० १०९।

२. 'श्रुतानमितयो: श्रौतसम्बन्धो बलीयान्' पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० १०२।

३. 'श्रुतानुमितयों: श्रौतो विधिर्बलीयान्' हेमपाठ, परि० सं० ७८।

४. 'श्रुतानुमितयों: श्रौतो बलीयान्' चोन्द्रपाठ, परि० सं० ४९।

५. 'श्रुतानुमितयों: श्रौतो श्रुतेनैव सम्बन्ध:' नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० १०१।

६. प०शे०, पृ० ११३। ७. मीमांसा ३/३/७।

८. अष्टा० ८/४/४८।

होता। हरिभास्कर ने भी 'हर्यनुभव:' में रेफ का द्वित्वनिषेध माना है। नीलकण्ठ ने 'अतिदध्ना ब्राम्हणेन' उदाहरण दिया है। नागेश ने इन्ही का अनुकरण करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ ने इसको अनित्य माना है, परन्तु नागेश ने नहीं माना है।

(९०) लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्।।११४।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह होती है कि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्या:'[१] सूत्र से तत्पुरुष समास में तृतीयान्त 'परमेण' के साथ कारकेण का समास[२] होकर 'परमकारकेण' होने पर तृतीयान्त पूर्वपद 'परमेण' को प्रकृति-स्वर प्राप्त होता है?[३] तथा 'गातिस्थाधुपाभूभ्य: सिच: परस्मैपदेषु'[४] सूत्र से 'पै' (औवै) शोषणे' के आत्व हो जाने पर इससे परे भी सिच् का लुक् प्राप्त होता है? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— (लाक्षण-सूत्र, जो सूत्र से कार्य होकर बना हो, वह लाक्षणिक और जो स्वाभाविक है वह प्रतिपदोक्त कहलाता है)। लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त के मध्य में जहाँ सन्देह हो, वहाँ प्रतिपदोक्त को कार्य होता है, लाक्षाणिक को नहीं।

परिभाषा के पदों का अर्थ— इस परिभाषा में 'लक्षण-प्रतिपदम्' शब्द 'लक्षणं च प्रतिपदं चेति' द्वन्द्व समास होकर बना है। इसका 'उक्त' शब्द के साथ (जिसका यथायोग्य अर्थ लिया जाता है) तृतीयासमास है। "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" इस न्याय से उक्त का सम्बन्ध 'लक्षणम्' तथा 'प्रतिपदम्' दोनों के साथ है।[५] **(क) लक्षण का अर्थ**—इसका दो प्रकार का अर्थ होता है। **(अ) प्रथम प्रकार**— प्रतिपदोक्त के साथ समभिव्याहार—एक साथ उच्चारण— के होने के कारण लक्षण से यहाँ 'सामान्य लक्षण' अभिप्रेत है। अर्थात् सामान्य शास्त्र से व्युत्पन्न, ऐसा अर्थ है। **(आ) द्वितीय प्रकार**— इसका दूसरा अर्थ भी यहाँ गृहीत होता है, लक्ष्य सिद्धि के अनुसार। 'लक्षण' शब्द लाक्षणिक अर्थ में उपचरित हुआ है। लाक्षणिक का अर्थ—लक्षण से निष्पादित होता है अर्थात् लक्षण नाम= सूत्र से कार्य होकर बनता है, वह 'लाक्षणिक' है।[६] **(ख) प्रतिपदोक्त का अर्थ**— इसका भी द्विविधरीति से दो

---

१. अष्टा० ६/२/२।

२. 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' अष्टा० २/१/५७।

३. विशिष्ट विभक्त्यन्त के समास में समानाधिकरण तत्पुरुष है ही तथा तृतीयान्त पूर्वपद में है। अत: प्राप्ति है।

४. अष्टा० २/४/७७।

५. गदा, पृ० २१५।

६. गूढार्थ०, पृ० ४६९।

अर्थ है। **(अ) प्रथम अर्थ**— उस उस विभक्ति विशेष एवं प्रकृति विशेष का उपादान करके जो समासादि विधान किये गये हैं, वे प्रतिपदोक्त हैं। विशेष का अनुवाद करके प्रतिपादन करना प्रतिपदोक्तत्व है, उस पद का उच्चारण पूर्वविहितत्व ही प्रतिपदोक्त नहीं होता।[१] **(आ) द्वितीय अर्थ**—प्रतिपदोक्त वह भी होता है जो औपदेशिक है, शास्त्र से निष्पादित नहीं है, जो स्वाभाविक है। किसी सूत्र से नहीं बनाया जाता है। जैसे 'पा पाने' औपदेशिक है।[२] **(क) उक्त शब्दों के प्रथम प्रकार में परिभाषा**— 'प्रतिपदोक्त,लक्षण' के प्रथम अर्थ के अनुसार परिभाषा का अर्थ होगा— 'शास्त्रकार कार्यार्थ जब किसी ऐसे शब्द- रूप का सूत्र में उपादान करता है, जो ऐसे दूसरे शास्त्र से संस्कृत होता है, जिस दूसरे शास्त्र में उसका ग्रहण हुआ है और ऐसे शब्द रूप का भी, जो सामान्य शास्त्र से संस्कृत होता है, तब प्रथम प्रकार[३] के शब्द स्वरूप का ग्रहण होता है, द्वितीय[४] प्रकार के शब्द स्वरूप का नहीं'। **(अ) उक्त का उदाहरण**— इस परिभाषार्थ के होने से 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ[५] तृतीया०' यहाँ वही 'तृतीयातत्पुरुष' लिया जायगा, जो 'तृतीया[६]तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' सूत्र से सिद्ध होता है। जिसमें सूत्रकार ने 'तृतीया' यह पद प्रयुक्त किया है। ऐसे समास का ग्रहण नहीं होगा, जो सामान्य शास्त्र 'विशेषणं विशेष्येण०'[७] सूत्र से सिद्ध होता है, जिसमें तृतीया विभक्ति विशेष का उपादान नहीं है। यद्यपि पूर्वपद यहाँ तृतीयान्त है और तत्पुरुष समास है। जैसे परमेण कारकेण='परमकारकेण' यह है। अत: यहाँ 'परम' का प्रकृति स्वर नहीं होता है। **(ख) उक्त शब्दों के ही द्वितीय प्रकार में परिभाषा का अर्थ**— जब उपात्त शब्दस्वरूप औपदेशिक भी हो सकता है और लक्षण सूत्र से निष्पादित भी हो सकता है तो औपदेशिक का ही ग्रहण होता है। **(अ) उक्त का उदाहरण**— इससे 'घुमास्थागापा०'[८] सूत्र में 'पा पाने' का ही ग्रहण होता है, 'पै शोषणे,' जिसको आत्वलक्षण 'आदेच उपदेशेऽशिति'[९] सूत्र से होता है अर्थात् 'पा' रूप लाक्षणिक का ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार 'गातिस्था०[१०] सूत्र में 'पा' रूप लाक्षणिक का ग्रहण न होने से, उससे परे सिच् का लुक् नहीं होता 'अपासीत्'[११] इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिए।

परिभाषा का हेतु— लाक्षणिक को छोड़कर प्रतिपदोक्त का ग्रहण क्यों होता

---

१. गदा० पृ० २१५। २. गूढार्थ०, पृ० ४६९।

३. सामान्य शास्त्र एवं विभक्ति तथा प्रकृति विशेष का ग्रहण करके होने वाला अर्थ।

४. सूत्र से कार्य होकर तथा स्वाभाविक रूप से।

५. अष्टा० ६/२/२। ६. अष्टा० २/१/३०।

७. अष्टा० २/१/५७। ८. अष्टा० ६/४/६६।

९. अष्टा० ६/१/४५। १०. अष्टा० २/४/७७।

११. पै, लुङ्, प्र० पु० ए० का रूप।

है? वह इसलिए होता है कि प्रतिपदोक्त अर्थ की शीघ्रतया बुद्धि में उपस्थिति होती है। लाक्षणिक की विलम्ब से। 'पै' का बोध उच्चारण-समनन्तर होता है और इसके 'पा' रूप का आत्वविधायक शास्त्र के स्मरण के पश्चात्— यही इस परिभाषा का हेतु है। शीघ्रोपस्थितिकत्व और विलम्बोपस्थितिकत्व रूप के कारण ही यह सिद्ध है। इसीलिए 'अध्याप्यगत:'[१] में 'विभाषाऽऽप:'[२] सूत्र से 'णि' का वैकल्पिक 'अय्' आदेश नहीं होता है, क्योंकि 'आप्' देर से उपस्थित होता है।[३]

वर्णग्रहण में परिभाषा का प्रवृत्ति विचार— इस परिभाषा की प्रवृत्ति वर्ण-ग्रहण[४] के विषय में भी होती है। 'ओत्'[५] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इस परिभाषा के बल पर यह कहा है कि इस सूत्र से ऐसे 'ओ' (ओदन्त) की प्रगृह्य संज्ञा होती है, जो स्वत: सिद्ध 'ओ' हो। जैसे 'अहो' निपात का 'ओ' है। 'अनदोऽदोऽभवत्' में नहीं होता, क्योंकि यहाँ 'अदस्' का 'ओ' सन्धिकृत सांहितिक है, स्वत: सिद्ध नहीं है। **(क) वर्ण ग्रहण में प्रवृत्ति विषयक दीक्षित एवं सीरदेव का मत**— दीक्षित और सीरदेव के अनुसार यह परिभाषा वर्णग्रहण में नहीं प्रवृत्त होती है। इसमें हेतु यह देते हैं कि 'आदेच उपदेशे[६]ऽशिति' सूत्र में जो उपदेश ग्रहण किया है, वह इस बात का ज्ञापक है। वहाँ उपदेशग्रहण 'अचैषीत्' इत्यादि में आत्ववारण के लिए है। वर्ण ग्रहण में इसकी प्रवृत्ति होने पर तो इससे ही आत्व निवारण हो जाता, पुन: उपदेश ग्रहण व्यर्थ हो जाता, अत: यह वर्णग्रहण में नहीं प्रवृत्त होती है[७]— यह ज्ञापित हो ही जाता है। **(ख) नागेश का मत**— इनके अनुसार यह मानना ठीक है। इनका कहना है कि 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र में उपदेशग्रहण का अन्य प्रयोजन है। उस सूत्र में 'धातु' की अनुवृत्ति नहीं आती है।[८] अत: गोभ्याम्, नौभ्याम्' में आत्व के वारण केलिए 'उपदेश' शब्द कहा है, फलत: उसके सार्थक होने से उस उपदेशग्रहण से यह ज्ञापक नहीं सिद्ध होता है और 'ओत्' सूत्र के भाष्य से विरोध प्राप्त होता है। फलत: भाष्य-विरोध भी होने से एवं उपदेश के अन्यार्थक होने से यह मत दूषित हो जाता है। विस्तार से 'शब्देन्दुशेखर' में उक्त मत का दोष दिखलाया गया है।[९]

परिभाषा की अनित्यता— यह परिभाषा अनित्य है, इसमें 'भुवश्च

---

१. अधिपूर्वक इङ् धातु, णिजन्त से क्त्वा प्रत्ययान्त रूप।

२. अष्टा० ६/४/५७। ३. गदा० पृ० २१६।

४. जहाँ वर्ण (स्वर या व्यञ्जन) का ग्रहण करके कार्य किया जाता है, यथा 'ऋत 'इद्धातो:' आदि सूत्रों में।

५. म०भा० १/१/१५। ६. अष्टा० ६/१/४५।

७. गूढार्थ०, पृ० ४७०। ८. म०भा० ४/१/७८।

९. श०के०, सू० सं० ६/१/४५ 'आदेच उपदेशेऽशिति'।

महाव्याहृतेः'[१] सूत्र में महाव्याहृति' ज्ञापक है। 'महाव्याहृति' ग्रहण इसलिए किया है कि 'भुवः'[२] को यह विकल्प न हो। यदि परिभाषा नित्य हो तो परिभाषा से लाक्षणिक 'भुवस्' का ग्रहण नहीं होगा,'महाव्याहृति' ग्रहण व्यर्थ हो जायगा। अनित्य होने पर 'महाव्याहृति' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है। **(क) अनित्यत्व का उदाहरण**— अनित्य होने से 'प्रापयति, अध्यापयति,' में आत्व के लाक्षणिक होने पर भी 'पुक्' आगम हो जाता है, इत्यादि उदाहरण है। इसी प्रकार 'चिकीर्षति'में ऋकार लाक्षणिक का भी 'ऋत[३] इद्धातोः' सूत्र से 'इत्व'हो जाता है— इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

परिभाषा का प्रयोजन— लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त के सन्देह में प्रतिपदोक्त को कार्य होता है, लाक्षणिक को नहीं होने से 'तिरोऽभवत्' में लाक्षणिक ओकारान्त निपात की प्रगृह्य[४] संज्ञा होकर प्रकृतिभाव नहीं होता तथा 'आशिषा चरति- 'आशिषिकः'[५], 'इस्' भाग के लाक्षणिक होने से 'इसुसुक्तान्तात् कः'[६] सूत्र से 'ठक्'[७] प्रत्यय को ककारादेश नहीं होता है— इत्यादि प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा लाक्षणिक तथा स्वाभाविक कार्य के मध्य में सन्देह होने पर व्यवस्था करती है। लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का कार्य होता है, लाक्षणिक का नहीं। व्याडि, भोज, हेम, नीलकण्ठ ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[८] जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[९] चन्द्र ने ग्रहण शब्दरहित का पाठ किया है।[१०] शाकटायन[११] ने भी कुछ भिन्न रूप में मानी है। कातंत्र ने नहीं मानी है। परिभाषा के अर्थ के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मत-भेद है। व्याडि ने इसका कोई अर्थ नहीं प्रस्तुत किया है।[१२] जैनेन्द्र ने लक्षण का लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त का सूत्रोच्चारित या नैसर्गिक अर्थ मानकर

---

१. अष्टा० ८/२/७१।

२. 'भू' शब्द प्र० वि० बहु० में जस्, उवङ् होकर 'भुवस्' लाक्षणिक शब्द, यहाँ वह 'भुवस्' महाव्याहृति वाचक न होकर जसन्त 'भुवस्' शब्द है।

३. अष्टा० ७/१/१००।

४. अष्टा० १/१/१५।

५. आशिस् शब्द, 'ठक्' प्रत्ययान्त।

६. अष्टा० ७/३/५१।

७. चरति, अष्टा० ४/४/८।

८. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

९. 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् न तु लाक्षणिकस्य' जैनेन्द्रपाठ, परि० सं० ६, पुरुषोत्तम वृत्ति, परि० सं० ३, सीरदेव वृत्ति, परि० सं० ३९, हरिभास्कर वृत्ति, परि० सं० ४१।

१०. 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव' चान्द्रपाठ, परि०सं० २।

११. 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्य न लाक्षणिकस्य' शाकटायनपाठ, परि०सं०४।

१२. **व्याडिपाठ, परि०सं०३।**

अर्थ किया है।[१] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने लक्षण का लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग मानते हुए 'खण्डश:व्युत्पादित लाक्षणिक'रूप माना है। प्रतिपदोक्त का 'विशेष रूप से प्रतिपादित' मानते हुए विस्तार से अर्थ किया[२] है। सीरदेव ने व्याख्या में 'खण्डश: व्युत्पन्न रूप' लाक्षणिक अर्थ सर्वसम्मत नहीं है,यह भी कहा है। नीलकण्ठ ने लाक्षणिक का 'विलम्बोपस्थितिकत्व' तथा प्रतिपदोक्त का 'शीघ्रोपस्थितिकत्व' अर्थ माना है।[३] हरिभास्कर ने लक्षण का अनुमेय तथा प्रतिपदोक्त का प्रत्यक्ष अर्थ मानते हुए पुरुषोत्तमदेव आदि के अर्थ का खण्डन किया है।[४] परन्तु नागेश ने उपर्युक्त अर्थों को न मानते हुए लक्षण का सामान्य लक्षणोक्त तथा प्रतिपदोक्त का विशेष करके प्रतिपादितत्व अर्थ माना है, इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।

इसके हेतु के विषयमें भी मतभेद है। व्याडि ने इसको ज्ञापकसिद्ध मानते हुए विविध ज्ञापक प्रस्तुत किये हैं तथा अन्त में परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादित की है। जैनेन्द्र ने कोई हेतु नहीं दिया है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने 'कर्तरि भुव: खिष्णुच्खुकञौ'[५] सूत्र में 'खिष्णुच् में इकारादित्व इसका ज्ञापक माना है। इसके समर्थन में कारिका प्रस्तुत की है। नीलकण्ठ ने लौकिक लाघवगौरवमूलक न्याय माना है। हरिभास्कर ने उक्त 'खिष्णुच्' के इकारादित्व को ज्ञापक मानने के साथ ही 'प्रत्यक्षानुमानयो: प्रत्यक्षं बलीय:' इस न्याय से ही सिद्ध माना है। नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए विलम्ब से तथा शीघ्र उपस्थिति वाला होना हेतु माना है तथा लौकिक लाघवगौरवमूलक इस परिभाषा को माना है। प्राय: सभी ने व्याडि को छोड़कर इस परिभाषा की अनित्यता स्वीकार की है। इसके ज्ञापक के विषय में मतभेद है। जैनेन्द्र ने कोई ज्ञापक नहीं दिया है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसका ज्ञापक 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'[६] सूत्र में 'निपातयो:' ग्रहण माना है तथा उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। नीलकण्ठ ने परिभाषा अनित्य नहीं मानी है। नागेश ने अनित्यत्व का ज्ञापक 'भुवश्च महाव्याहृते:'[७] सूत्र को माना है, इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है। परिभाषा की प्रवृत्तिविषय का नागेश ने उल्लेख किया है। इस प्रसंग में भट्टोजिदीक्षित आदि के मत का खण्डन किया हैं। सीरदेव ने ऋ वर्ण ग्रहण में इसकी प्रवृत्ति मानी है। अन्य किसी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है।

(९१) गामादाग्रहणेष्वविशेष:।।प०११५।।

---

१. जैनेन्द्रपाठ, परि० सं० ६।

२. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० ३, सीरदेववृत्ति, परि० सं० ३९।

३. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१०२। ४. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०४१।

५. अष्टा० ३/३/५७। ६. अष्टा० ३/३/४।

७. वही, ८/२/७१।

परिभाषा का उपक्रम— 'लक्षण प्रतिपदोक्त०' परिभाषा को मानने पर यह शंका होती है कि 'दाधाघ्वदाप्'[१] सूत्र से 'देङ् रक्षणे' और दो अवखण्डने के आत्व[२] होने पर 'दा' रूप के लाक्षणिक होने से घु' संज्ञा नहीं होनी चाहिए?[३] तथा 'मेङ्: धातु के आत्व के भी लाक्षणिक होने से 'नेर्गदनदघुमास्यति०'[४] सूत्र में 'गृहीत' मा से 'मेङ्' का ग्रहण न होने 'प्रणिमाता'[५] इत्यादि में णत्व नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार 'गै' (शब्दे) के आत्व के लाक्षणिक होने से 'घुमास्थागापा०'[६] सूत्र में 'गृहीत' गा से लाक्षणिक होने के कारण ग्रहण न होने से 'गीयते'[७] आदि में 'ई' नहीं होना चाहिए? इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— गा, भा, दा के ग्रहण में लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों प्रकार की धातुओं का सामान्य रूप से ग्रहण होता है।

परिभाषा का आशय— यह है कि गा, भा, दा ये तीनों रूप जिन सूत्रों में ग्रहण किये गये हैं, वहाँ सामान्य रूप से लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों रूपों का ग्रहण होता है, अर्थात् दोनों प्रकार से निष्पन्न रूपों का ग्रहण होकर कार्य हो जाता है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा की सत्ता में 'देप्' (शोधने) धातु में पित् पढ़ना ही ज्ञापक है। वह पित् इसलिए किया है कि 'दाघाध्वदाप्'[८] सूत्र में 'अदाप्' यह जो निषेध है उससे दैप् का भी पित्करण सामान्य से घु संज्ञा का निषेध हो जाय। परन्तु यदि लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा निरपवाद है तो उसी से 'देप्' का निषेध सिद्ध था क्योंकि 'दैप्' का आत्व लाक्षणिक है। अत: पुन: दैप् को सामान्य ग्रहणार्थक पित्व करण से क्या प्रयोजन? इससे यह ज्ञात होता है कि लाक्षणिक 'दाप्' का ग्रहण भी होता है तभी निषेध चरितार्थ होता है। इस प्रकार इस परिभाषा का 'एकदेश दाधाध्ववाद' सूत्र के (दा का अविशेष रूप से ग्रहण करने) से ज्ञापित होती है।[९] एकदेश कीअनुमति से अर्थात् देप् के पित्वकरण से सम्पूर्ण परिभाषार्थ भी ज्ञापित होता है।

परिभाषा के अपवाद अथवा बाधक स्थल— यह (गामादाग्रहण) परिभाषा बाध्य-सामान्य चिन्ता से (१) लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा[१०] (२) निरनुबन्धक[११]

---

१. अष्टा० १/१/२०। २. अष्टा० ६/१/४५।

३. तब इत्व आदि नहीं होगा। ४. अष्टा० ८/४/१७।

५. प्र, नि पूर्वक मेङ् धातु, 'तृच्' प्रत्यान्त।

६. अष्टा० ६/४/६६।

७. 'गै' धातु, लट्, भाववाच्य में प्र०पु०ए०।

८. अष्टा० १/१/२०। ९. प०शे० पृ० ४७१।

१०. प०शे०, परि०सं० ११४। ११. प०शे०, परि०सं०८२-८३।

परिभाषा तथा (३) अलुग्विकरण[१] परिभाषा इन तीनों की बाधिका होती है।

(क) बाधकत्व के उदाहरण— (१) इस परिभाषा द्वारा 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र से 'घु' संज्ञा में 'दा' के ग्रहण में लक्षण-प्रतिपदोक्त परिभाषा और निरनुबन्धक परिभाषा का बाध कर लिया जाता है जिसके फलस्वरूप 'दा' ग्रहण से दाञ्-देङ्, दो तथा दाण्-इन चार रूपों का ग्रहण होता है। (२) इसी प्रकार 'नेर्गदनदपत०'[२] इत्यादि सूत्र में मा के ग्रहण में लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा का यह परिभाषा बाध करती है, जिससे 'मेङ्' का भी ग्रहण हो जाता है। परन्तु लुग्विकरण परिभाषा का बाध न करने से 'मा' माने धातु का ग्रहण होता है।[३] (३) 'घुमास्थागापाजहा तिसां[४] हलि' में 'गा' के ग्रहण में उक्त[५] तीनों परिभाषाओं का यह परिभाषा बाध करती है। फलस्वरूप 'गै' के लाक्षणिक 'गा' रूप का, 'इङादेश' गाङ् तथा लुग्विकरण गाङ् इत्यादि रूपों का ग्रहण सिद्ध हो जाता है। (४) परन्तु 'गातिस्था-घुपाभूभ्य: सिच:[६] परस्मेपदेषु' सूत्र में गा ग्रहण से 'इण्' धातु का आदेश 'गा' रूप ही गृहीत होता है,[७] इसलिए किसी दोष की शंका नहीं है।[८]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'दाधाघ्वदाप्'[९] सूत्र में 'दा' ग्रहण से देङ् आदि चार लाक्षणिक धातुओं की भी घु संज्ञा हो जाती है तथा 'घुमास्थागापा० 'सूत्र में 'गा' के ग्रहण से सामान्य रूप से 'गै', 'गाङ् (अदादि) गा, गाङ् (गतो), 'इङादेश' का गाङ आदि सभी का ग्रहण हो जाता है। फलत: इनको भी ईकारादेश हो जाता है- गीयते, जेगीयते, अध्यगीष्ट,[१०] अध्यगीषाताम् इत्यादि रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'नेर्गदनदघु०'[११] इत्यादि सूत्र में गृहीत मा करके मेङ् लाक्षणिक का भी ग्रहण हो जाने से प्रणिमाता[१२] आदि में णत्व भी सिद्ध हो जाता है।

समीक्षा— यह परिभाषा लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा के अतिप्रसंग से प्राप्त दोष का निवारण करती है। गा, मा,दा ये तीनों जिन सूत्रों में ग्रहण किये गये हों, वहाँ सामान्य का ग्रहण करना, चाहिए, अर्थात् लाक्षणिक प्रतिपदोक्त, निरनुबन्धकत्व, लुगालुक्

---

१. प०शे०, परि० सं० ९१। २. अष्टा० ८/४/१७।

३. गूढार्थ०, पृ० ४७१ 'परिणिमिमिते', 'प्रणिमिमीते' आदि 'माङ्लुग्'-विकरण के उदाहरण।

४. अष्टा० ६/४/६६।

५. लक्षणप्रतिपदोक्त०, निरनुबन्धक०, लुग्विकरण०।

६. अष्टा० २/४/७७।

७. म०भा० २/४/७७ गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्।

८. उ० १/१/२०। ९. अष्टा० १/१/२०।

१०. अधिपूर्वक इङ् धातु, लुङ्। ११. अष्टा० ८/४/१७।

१२. प्र, नि पूर्वक मेङ् तृच् प्रेत्ययान्त।

विकरण आदि का विचार नहीं करना चाहिए। जैनेन्द्र, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ और हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में स्वीकार की है।[१] व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र और भोज ने नहीं मानी है। सभी ने इसका अर्थ तो सामान्य ही किया है। परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों तथा नागेश में मतभेद है। जैनेन्द्र ने प्रतिपदोक्त परिभाषा की अनित्यत्वमूलिका मानी है।[२] पुरुषोत्तमदेव ने कोई हेतु न देतें हुए युक्तसिद्ध अर्थ प्रतिपादित किया है।[३] सीरदेव तथा हरिभास्कर ने कोई हेतु नहीं दिया है।[४] नीलकण्ठ ने इसको ज्ञापकसिद्ध मानते हुए देप् में पित्वको ज्ञापक मानकर उपपादन किया है।[५] नागेश ने इन्हीं का अनुकरण करते हुए उक्त दैप् के पित्व को ही ज्ञापक माना है तथा उपपादन भी किया है। परिभाषा के प्रवृत्ति विषय अर्थात् बाधकत्व विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। इस विषय में जैनेन्द्र ने कुछ नहीं कहा है। पुरुषोत्तमदेव ने नाना परिभाषाओं की अपवाद मानी है। उनके अनुसार यह लक्षणप्रतिपदोक्त, निरनुबन्धक, लुग्विकरण की बाधिका है तथा गा, मा, दा इन तीनों में सोदाहरण इसके बाधकत्व का सम्यक् निरूपण किया है। सीरदेव ने लक्षण-परिभाषा की ही बाधिका स्वीकार किया है। अन्य निरनुबन्धक, लुग्विकरण परिभाषाओं का बाधक नहीं माना है। इसके अबाधकत्व का भी उल्लेख किया है। साहचर्य परिभाषा, अर्थ परिभाषा का भी बाध नहीं करती है। इसका न्यासकार आदि मत पूर्वक विस्तार से उपपादन भी किया है। हरिभास्कर ने भी लक्षण परिभाषा का ही अपवाद मानते हुए निरनुबन्धक, लुग्विकरण, साहचर्य, अर्थवत् के बाधकत्व का खण्डन किया है। नीलकण्ठ ने संक्षेप में 'येन न्याय प्राप्ति' के आधार पर लक्षणप्रतिपदोक्त, निरनुबन्धक, लुग्विकरण तीनों बाधकत्व का उल्लेख किया है। साहचर्य परिभाषा और अर्थवत् परिभाषा के विषय में भी उल्लेख किया है। नागेश ने भी नीलकण्ठ के अनुसार उक्त तीनों की बाधिका मानी है तथा गातिस्थ०'[६] सूत्र में 'गाति' से इणादेश 'गा' का ही ग्रहण होता है। इस भाष्योक्त समाधान से अतिप्रसंग का निवारण भी कर दिया है। अर्थवत् परिभाषा तथा साहचर्य परिभाषा के विषय में कुछ नहीं लिखा है, यद्यपि गदाकार ने स्पष्ट किया है।[७] इस परिभाषा के उदाहरणों का पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने अति विस्तार से सम्यक्तया स्पष्टीकरण किया है। नीलकण्ठ ने कोई उदाहरण नहीं दिया है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए संक्षेप में ही उदाहरण प्रस्तुत कर

---

१. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। २. जैनेन्द्रपाठ, परि० सं० ७।

३. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०६९।

४. सीरदेव वृत्ति, परि०सं०१०५, हरिभास्कर वृत्ति, परि० सं० १०७।

५. नीलकण्ठ वृत्ति, परि०सं०१०३। ६. अष्टा० २/४/७७।

७. गदा, पृ० २१८।

दिया है। इस प्रकार नागेश ने अति संक्षिप्त व्याख्या लिखी है। पुरुषोत्तमदेव आदि ने अति विस्तार से लिखी है, उनका व्याख्यान अधिक स्पष्ट है।

(९२) पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः।।प०१२०।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि ऊखतुः इत्यादि प्रयोग में 'उख' स्वतः ह्रस्व है। अतः अभ्यास-ह्रस्वत्व की 'ह्रस्वः[१] सूत्र से प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः प्रथम 'हलादिः शेषः'[२] से शेष का लोप तथा सवर्ण दीर्घ हो जाने के अनन्तर अभ्यास ह्रस्व होना चाहिए? इस शंका के निवारण के लिए परिभाषा है।

परिभाषाका सामान्य अर्थ— शास्त्रों की प्रवृत्ति पर्जन्य (मेघ) के समान होती है।

परिभाषा का आशय— मेघ जैसे ऊन-न्यून, पूर्ण जलाशय आदि में सर्वत्र बरसता है, वैसे ही निष्प्रयोजन ऊषर तथा सप्रयोजन अनूषर भूमि में भी, ऐसे ही लक्षण (शास्त्र) वहाँ भी प्रवृत्त होता है, जहाँ इसकी प्रवृत्ति से कुछ विशेष (भेद) होता है और जहाँ कुछ भी तत्कृत विशेष नहीं होता, वहाँ भी प्रवृत्त होता है। सर्वत्र ही अपने विषय में लक्षण शब्दों के संस्कार के लिए प्रवृत्त होता है— यह परिभाषा का अर्थ है।[४]

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा शब्दान्तर से भाष्यारूढ़ है।[५] 'इको झल्'[६] सूत्र के भाष्य में भी कहा है 'कृतकारि खत्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्'। कृतकारी का अर्थ है स्वतः सिद्ध होने पर भी ह्रस्व आदि करने वाला शास्त्र होता है। अतः ह्रस्व अथवा दीर्घ को भी ह्रस्व अथवा दीर्घ होता है। **उपर्युक्त कथन का फल**— उपर्युक्त कथन का फल यह है कि लक्ष्य में लक्षण की एक बार ही प्रवृत्ति होती है,[७] इस न्याय से, ह्रस्वविधि के एक बार सम्पन्न हो जाने पर, पुनः ह्रस्व नहीं होगा। इस परिभाषा के आश्रयण से ही 'प्रवाहणस्य[८] ढे' सूत्र से उत्तर पद[९] को (जो पहले से ही आदि वृद्धि युक्त है) वृद्धिविधान संगत होता है— ऐसा वैद्यनाथ पायगुण्डे का मत है।[१०]

लक्ष्ये लक्षणस्य० न्याय की प्रामाणिकता विचार— शंका— 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते'[११] =इस न्याय में क्या प्रमाण है? इसके न रहने पर 'पुनरपि ह्रस्व'

---

१. अष्टा० ७/४/५९। २. अष्टा० ७/४/६०।
३. अष्टा० ६/१/१०१। ४. गूढार्थ०, पृ० ४७९।
५. गदा, पृ० २२२। ६. म०भा० १/२/९।
७. 'लक्ष्ये लक्षणम् सकृदेव प्रवर्तते'। ८. अष्टा० ७/३/२८।
९. जो 'पूर्वतः आदिवृद्धियुक्त है। १०. गदा, पृ० २२२।
११. नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० ११२ एवं उ० तथा प्र० म०भा० १/२/९।

की प्राप्ति हो सकती है तथा यह 'पर्जन्यवत्०' परिभाषा निष्फला ही होगी?[१] **समाधान**— इस न्याय के होने में 'सम: सुटि'[२] सूत्र ही प्रमाण है। 'समो वा[३] लोपमेके' इस वार्तिक से 'सम्+स्+कृ' में 'सम्' के म् का लोप होने पर 'संस्कर्ता' आदि एक सकार वाला रूप सिद्ध होता है। लोपाभाव-पक्ष में 'अनचि[४] च' सूत्र से 'सुट्' के 'स्' का द्वित्व होने पर 'संस्स्कर्ता' आदि दो सकार वाला रूप भी सिद्ध था। इस द्विरुक्त को पुन: 'अनचि च' से द्वित्व करने पर त्रि-सकारयुक्त 'संस्स्स्कर्ता'रूप सिद्ध हो जाता, पुन: 'सम: सुटि' सूत्र की क्या आवश्यकता? व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि लक्ष्य में लक्षण की एक बार ही प्रवृत्ति होती है। इस न्याय को ज्ञापित कर यह सूत्र स्वार्थ में चरितार्थ हो जाता है। इसी प्रकार वार्तिककार का भी मत है।[५] **(क) लक्ष्य-लक्षणन्याय के सम्बन्ध में शंका एवं समाधान**— विकारभेद से लक्ष्यभेद नहीं। **शंका**— 'लक्ष्ये लक्षणम्०' न्याय की प्रमाणिकता होने पर भी 'सम् स्कृ' यहां रुत्व-स्थानिक 'स्'[६] हो जाने पर लक्ष्य में विकार आने पर लक्ष्य से भिन्न हो जाने से ही 'अनचि[७] च' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, पुन: त्रिसकारयुक्त 'संस्स्कर्ता' आदि की सिद्धि दुर्लभ ही रहेगी- फलत: उक्त दोष आता ही है।[८] **समाधान**— यहाँ यह कहना है कि 'इस न्याय की प्रवृत्ति के लिए विकारकृत लक्ष्यभेद नहीं माना जाता है'। यह 'सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु'[९] सूत्र के भाष्य से विदित होता है। उस सूत्र में 'उदवोढाम्'[१०] में 'सहिवहोरोदवर्णस्य'[११] सूत्र से पर होने से पहले 'वदव्रजहलन्तस्याच:'[१२] सूत्र से 'अ' को वृद्धि (आ) करके, सूत्र में अवर्ण-ग्रहण सामर्थ्य से **आ** का **औ** किया गया है। पुन: ढलोप के असिद्ध होने से 'ओ'[१३] को प्राप्त हुई हलन्तलक्षणा वृद्धि को 'लक्ष्ये लक्षणम्०' न्याय से रोका है। इसकी प्रवृत्ति के लिए स्पष्ट ही विकार होने से लक्ष्यभेद को नहीं माना है। 'वह्' रूप अब 'वोह्' रूप हो चुका है। पहले वृद्धि 'अ' को हो चुकी है। अब पुन: 'ओ' को नहीं होगी, यह स्पष्ट कहा है। अन्यथा भाष्य की असंगति ही होती। इसलिए लक्ष्यभेद में भी प्रकृतिन्याय प्रवृत्त होता है अर्थात् विकारकृत लक्ष्यभेद को न मानकर उसका लक्ष्य ही माना जाता है, इसलिए पुन: वृद्धि नहीं होती है।[१४]

---

१. प०शे०, पृ० ४७९। २. अष्टा० ८/३/५।

३. म०भा० १/१/२७। ४. वही, ८/४/४७।

५. म०भा० वा०८/३/५ सपुंकानां, सो वक्तव्य, से 'स' आदेश लोपाभाव में विधान।

६. वा० 'संपुंकानां सो वक्तव्य:' से 'स्' आदेश।

७. अष्टा० ८/४/४७। ८. गदा, पृ० २२३।

९. अष्टा० ७/२/१। १०. उद्+वह् धातु, लुङ्, प्र० पु० द्वि०।

११. अष्टा० ६/३/११२। १२. अष्टा० ७/२/३।

१३. अष्टा० ६/३/११२। १४. प०शे०, पृ० ४७९।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा तथा 'लक्ष्ये लक्षणम्' इस न्याय के साहाय्य से 'ऊखतुः' इत्यादि प्रयोगों में 'उख' में स्वतः सिद्ध ह्रस्व 'उ' को भी ह्रस्व हो जाता है तथा 'ऊख्+अतुः' सवर्ण दीर्घ के पश्चात् 'लक्ष्ये लक्षणम्०' न्याय से ह्रस्व के पश्चात् पुनः ह्रस्व नहीं होता। इस प्रकार प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी सिद्ध दीर्घों को भी दीर्घ होता है। अतएव 'खट्वाढकम्' (खट्वा+आढकम्) में दीर्घत्व[१] सिद्ध होता है। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा लक्षण (शास्त्र) की प्रवृत्तिविषय की व्यवस्था करती है, लक्षण की पर्जन्यवत् (मेघ की भांति) प्रवृत्ति होती है। स्वतः सिद्ध कार्य में भी शास्त्र सकृत् प्रवृत्त होता ही है। व्याडि, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[२] शाकटायन[३] तथा सीरदेव[४] ने कुछ पाठान्तर से पाठ किया है। चन्द्र, कातंत्र और जैनेन्द्र ने नहीं मानी है। सभी प्राचीनों एवं नागेश में परिभाषा का सामान्य अर्थ समान है। इनके हेतु एवं व्याख्या शैली के विषय में कुछ मतभेद है। व्याडि ने लोकन्यायसिद्धता दिखलाते हुए ज्ञापकसिद्ध भी मानी है। इसका ज्ञापक 'प्रवाहणस्य ढे'[५] सूत्र को माना है।[६] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने भी लोकन्याय सिद्ध मानते हुए व्याडि प्रोक्त सूत्र का ही ज्ञापक विस्तार से प्रस्तुत किया है।[७] नीलकण्ठ ने शब्दान्तर से भाषयारूढ़ मानते हुए लोकन्याय सिद्ध मानी है।[८] प्राचीनों एवं नागेश ने परिभाषा का उदाहरण कुछ भिन्न-भिन्न माना है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने 'खट्वाढकम्' इत्यादि में दीर्घसिद्धि फल दिखलाया है। नीलकण्ठ ने 'ऊखतुः' इत्यादि में अभ्यास के ह्रस्व का ह्रस्व करके सिद्धि मानी है। लक्ष्य में लक्षण की सकृत् प्रवृत्ति मानकर ह्रस्व करने के पश्चात् पुनर्ह्रस्व का प्रतिषेध माना है। नागेश ने भी नीलकण्ठ के अनुसार 'ऊखतुः' उदाहरण दिया है तथा लक्ष्य में लक्षण की सकृत् प्रवृत्ति रूप न्याय के साहाय्य से परिभाषा का प्रयोजन सिद्ध माना है। प्रसंगतः उक्त न्याय का प्रमाण्य वार्तिककार और भाष्यकार के वचनों द्वारा सिद्ध किया है, एवं उसका विषय भी प्रतिपादित किया है। नागेशने इस परिभाषा के प्रयोजन पर ही विशेष विचार किया है।

---

१. अष्टा० ६/१/१०१। २. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

३. 'पर्जन्यवल्लक्षणे प्रवृत्तिः जले वर्षति, स्थले वर्षति'-शाकटायनपाठ, परि०सं०६८।

४. पर्जन्यवदिह लक्षणप्रवृत्तिः'—सीरदेववृत्ति, परि० सं० ८७।

५. अष्टा० ७/३/२८। ६. व्याडिपाठ, परि० सं० ६४।

७. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१११।

८. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ६८, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ८७, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ९०।

(९३) पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे।।प०१२६।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह होती है कि त्रिपादी[१] में हुआ कार्य सपादसप्ताध्यायी के प्रति असिद्ध माना जाता है, तो 'द्रोग्धा-द्रोग्धा'[२], द्रोढा-द्रोढा'[३] इत्यादि में 'नित्यवीप्सयो:'[४] सूत्र से द्विरुक्त होने के पश्चात 'द्रोह्+ता,' 'द्रोह्+ता' ऐसी स्थिति में त्रिपादिस्थ 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्'[५] सूत्र से हकार का वैकल्पिक धत्व तथा हकार का ढत्व आदेश होता है। परन्तु 'पूर्वत्राऽसिद्धम्'[६] सूत्र से द्वित्व[७] करने में उस धत्व एवं ढत्व को असिद्ध माने तो द्वित्व के एक भाग में ध और द्वितीय भाग में ढ आदेश हो जाने चाहिए, जिससे 'द्रोग्धा-द्रोढा-' ऐसा अनिष्ट रूप ही प्रसक्त होता है। इसके निवारण के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— पूर्वत्रासिद्धीय शास्त्र-त्रिपादिशास्त्र द्वित्व करने में असिद्ध नहीं माना जाता है।

परिभाषा का आशय— इस परिभाषा में 'पूर्वत्रासिद्ध', शब्द अधिकारपरक है, उससे 'भव:' अर्थ में गहादि आकृतिगण 'गहादिभ्यश्छ:'[७] सूत्र से 'छ प्रत्यय होकर 'पूर्वत्रासिद्धीय' शब्द बनता है। इस प्रकार 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अधिकार में होने वाले शास्त्र 'पूर्वत्रासिद्धीय' कहलाते हैं अर्थात् त्रिपादी शास्त्र तथा यहाँ द्वित्व पद से षाष्ठ धातु का द्वित्व,[९] अष्टमाध्याय का पदद्वित्व[१०] तथा वर्णद्वित्व[११] का ग्रहण किया जाता है[१२]— ऐसा सभी व्याख्याकारों[१३] का मत है। इस प्रकार सामान्य अर्थ हुआ कि 'पूर्वत्रासिद्धम्'[१४] के अधिकार में आने वाले शास्त्र द्वित्व में नहीं'— यह उपस्थित होता है। फलितार्थ यह है कि द्वित्व भिन्न अर्थात् द्वित्व रूप सपापादसप्ताध्यायी-शास्त्र-कार्य की कर्तव्यता में पर-त्रिपादी कार्य असिद्ध नहीं होता है। अत: द्वित्वविषय में अन्य के असिद्धत्व का अभाव ही ग्रहण किया जाता है।

---

१. अष्टा० के अष्टम अध्याय के २/३/४ पाद।

२. दृह, लुट्, प्र०पु०ए० का धत्वपक्ष का रूप।

३. द्रुह, लुट्० धत्वाभाव पक्ष में रूप।

४. अष्टा० ८/१/४।

५. अष्टा० ८/२/३३।

६. अष्टा० ८/२/१।

७. अष्टा० ८/१/४।

८. अष्टा० ४/२/१३८।

९. अष्टा० ६/१/१ प्रकरण।

१०. 'सर्वस्य द्वे' अष्टा० ८/१/१ का प्रकरण।

११. 'अचो रहाभ्यां द्वे' अष्टा० ८/४/४६ तथा ८/४/४७ का प्रकरण।

१२. भूति, पृ० ३३२ तथा द्र० प्र० एवं उ० ८/१/१।

१३. गूढार्थ०, गदा एंव भूतिकार।

१४. अष्टा० ८/२/१।

परिभाषा का हेतु— 'पूर्वत्रासिद्धम्' इसके अधिकार में होने वाले शास्त्र इस परिभाषा के हेतु हैं।[१] **परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त**— जहाँ सिद्धता और असिद्धता के फल में भेद हो, वहीं इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। जहाँ रूप में भेद नहीं होता, वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् वहाँ असिद्धत्व आदि कार्य होकर रूप की सिद्धि होती है।[२] **उक्त का उदाहरण**— 'कृष्णर्द्धिः' (कृष्णर्ध्+धि) में झलां जश्-झशि'[३] सूत्र से पूर्व ध् को जश्त्व द् करने से पूर्व अथवा अनन्तर 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से द्वित्व करने पर रूप में भेद न होने से इस परिभाषा की प्रवृत्ति इस उदाहरण में नहीं होती है।[४] 'कृष्णर् ध्+धि' इस अवस्था में यदि 'झलां जश्०' सूत्र ध् का जश्त्व द् कर लेते हैं तथा उसी अवस्था में द्वित्व करने में उसको असिद्ध मानकर 'ध्+ध्+धि' का द्वित्व करें तो भी बाद में एक ध् का लोप तथा एक का जश्त्व होकर द् 'द्धि' एक दकार वाला रूप शिष्ट होता है तथा यदि ध् का द् नहीं करते हैं तो भी 'ध्+ध्+धि' द्वित्व तथा एक का लोप एवं एक का जश्त्व होकर वही रूप होगा, फलतः सिद्धि एवं असिद्धि दोनों अवस्था में समान रूप ही सिद्ध होता है।[५] इसी प्रकार के अन्य स्थलों पर भी इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस नियमकारिणी परिभाषा से 'द्रोग्धा-द्रोग्धा', 'द्रोढा-द्रोढा' में द्वित्व विषय में धत्व,[६] ढत्व[७] असिद्ध न होने से परत्वात् धत्व, ढत्व किये जाने पर 'सर्वस्य[८] द्वे' सूत्र से द्वित्व सिद्ध होता है, जिससे अनिष्ट वारित हो जाता है और इष्ट रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'नुन्नं, नुन्नम्'[९], नुत्तं, नुत्तम्'[१०] में द्वित्व के एक भाग में न और एक भाग में तकार नहीं होता है, अपितु पूर्व ही तकार आदि होकर द्वित्व होता है। इस प्रकार वर्ण रूप या अन्य आष्टमिक अथवा षाष्ठ के द्वित्व की दृष्टि में 'पूर्वत्रासिद्धम्'[११] सूत्र से असिद्ध नहीं होता है, इत्यादि अनेक प्रयोजन है।

समीक्षा— यह परिभाषा 'पूर्वत्रासिद्धम्'[१२] सूत्र के कार्य का संकोच प्रस्तुत करती है। द्वित्व करने में त्रिपादी का कार्य असिद्ध नहीं माना जाता है। जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव तथा नीलकण्ठ ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[१३] परन्तु सीरदेव तथा

---

१. प०शे०, पृ० ४८७, तत्त्वा०, पृ० १९२।
२. गूढार्थ०, पृ० ४८८, गदा, पृ० २२७।
३. अष्टा० ८/४/५३।
४. अष्टा० ८/४/४६।
५. सि० का०, सू०सं० ७।
६. अष्टा० ८/२/३३।
७. वही, ८/२/३१।
८. अष्टा० ८/१/१।
९. नुद्, क्त, न के भाव पक्ष में द्वित्व।
१०. नुद् त्, में नत्वाभाव में निष्पन्न।
११. अष्टा० ८/२/१।
१२. अष्टा० ८/२/१।
१३. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

हरिभास्कर ने भिन्न रूप में मानी है।[१] व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र, भोज और हेम ने नहीं मानी है। इस परिभाषा का अर्थ प्राय: सभी ने एक समान ही माना है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने'सर्वस्यं द्वे'[२] से द्वित्व करने में 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र नहीं प्रवृत्त होता है— यह अर्थ माना है। नीलकण्ठ ने कोई अर्थ नहीं प्रस्तुत किया है।[३] नागेश ने सीरदेवादि का मान्य अर्थ न मानते हुए द्वित्व-भिन्न पूर्वत्र कर्तव्य में पर का असिद्ध होता है— यह अर्थ प्रस्तुत किया है तथा उक्त 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस शास्त्र को इसका लिङ्ग सिद्ध किया है।[४] इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। व्याडि तथा जैनेन्द्र ने कोई हेतु नहीं प्रस्तुत किया है। पुरुषोत्तमदेव ने वाचनिकी मानी है।[५] सीरदेव ने ज्ञापकसिद्ध मानी है तथा इसका ज्ञापक 'सर्वस्य[६] द्वे' सूत्र में 'सर्वस्य' ग्रहण मानकर विस्तार से उपपादित किया है। 'अन्यस्त्वाह' के द्वारा वाचनिकी भी मानी है। नीलकण्ठ ने वाचनिकी मानते हुए 'न मु[७] ने' सूत्र में योग विभाग से सिद्ध भी मानी है। हरिभास्कर ने भी वाचनिकी मानी है तथा 'अन्ये' तथा 'अपरे' द्वारा सीरदेव एवं नीलकण्ठ के मतों को अभिव्यक्त किया है। नागेश ने इसको वाचनिकी माना है। सीरदेवादि द्वारा प्रतिपादित ज्ञापक को अयुक्त सिद्ध किया है।[८] सभी ने इसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जैनेन्द्र ने विस्तार से उदाहरण द्वारा विषय को स्पष्ट करते हुए 'उचिच्छिषति' उदाहरण प्रस्तुत किया है। पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने 'द्रोग्धा-द्रोग्धा', 'द्रोढा-द्रोढा' उदाहरणों में परिभाषा का प्रयोजन दिखलाया है। नीलकण्ठ ने कोई उदाहरण नहीं दिया है। हरिभास्कर ने पूर्वोक्तों के उदाहरणों के साथ-साथ'कृष्णर्द्धि:' उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए परिभाषा की उपयोगिता को प्रदर्शित किया है। नागेश ने केवल 'द्रोग्धा-द्रोग्धा', द्रोढा-द्रोढा उदाहरण प्रस्तुत किया है। परिभाषा की प्रवृत्तिनिमित्त का नागेश ने उल्लेख किया है। जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इस विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है। नीलकण्ठ ने द्वित्वाश्रय वर्ण अथवा अन्य के असिद्धत्व होने रूप कार्य में सर्वत्र ही प्रवृत्त होती है— यही माना है। नागेश के अनुसार इसकी प्रवृत्ति जहाँ सिद्धत्व और असिद्धत्व के पक्ष में अन्तर आता हो, वहीं होती है।इस परिभाषा को पुरुषोत्तमदेव,सीरदेव तथा नीलकण्ठ ने अनित्य माना है तथा ज्ञापक 'उभौ' साभ्यासस्य'[९] मानते हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

●

---

१. 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' सीरदेववृत्ति, परि०सं० ९७, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०९९।

२. अष्टा० ८/१/१।

३. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० १२६।

४. गदा० पृ० २२६।

५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ११०।

६. अष्टा० ८/१/१।

७. अष्टा० ८/२/३।

८. गदा, पृ० २२७।

९. अष्टा० ८/४/२१।

चतुर्थ अध्याय

अवशिष्ट परिभाषाएँ

इससे पूर्व तीन अध्यायों में सूत्रार्थोपकारक, शब्दरूपोपकारक तथा शब्द और सूत्रार्थ-उभयोपकारक=रूप त्रिविध परिभाषाओं का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। कुछ ऐसी भी परिभाषाएं हैं जो सामान्य रूप से किसी सूत्र के अर्थ की स्पष्टता में अथवा शब्दरूप की सिद्धि में साक्षात् उपकारक नहीं प्रतीत होती है। परन्तु व्याकरण शास्त्रीय प्रक्रिया में उपकारक हैं ही। इस प्रकार की परिभाषाओं का इन चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में संकलन किया गया है। ऐसी परिभाषाओं की कुल संख्या ३९ है। इनमें १७ परिभाषाओं का समीक्षात्मक विवेचन इस चतुर्थ अध्याय में किया जा रहा है।

(९४) सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति।।प० ३४।।

परिभाषा का उपक्रम— यदि समाहारद्वन्द्व मानते हैं तो द्विवचन का प्रयोग नहीं हो सकता और यदि इतरेतरयोग द्वन्द्व मानते हैं तो एकवचन का प्रयोग नहीं हो सकता। इस स्थिति में 'घटपटम्'[१] तथा 'घटपटौ' इन दोनों प्रकार के रूपों की सिद्धि के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— सभी द्वन्द्वसमास विकल्प से एकवचनान्त होते हैं।

परिभाषा का आशय— सर्व शब्द से परिभाषा में 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'[२] इस प्रकरण से बहिर्भूत[३] सभी द्वन्द्व समास अभिप्रेत हैं। एकवचनान्त 'द्वन्द्व' शब्द यहाँ द्वन्द्व समूह का वाचक है। 'सर्व' शब्द अवयव-कात्स्न्र्य का वाचक है। फलतः उपर्युक्त अर्थ सिद्ध होता है।

---

१. 'घटश्च पटश्च'='घट पटम्', घटपटौ, चार्थे द्वन्द्वः (२/२/२९) से द्वन्द्व समास प्र० ए० तथा द्वि० का रूप।

२. अष्टा० २/४/२।

३. अष्टा० २/४/२-१६ तक के प्रकरण को छोड़कर 'चार्थे द्वन्द्वः' अष्टा० २/२/२९ से विहित समास का ग्रहण अपेक्षित।

परिभाषा का हेतु— 'चार्थे द्वन्द्वः'[१] इस सूत्र से समाहार तथा इतरेतरयोग (अर्थ) में निर्विशेष रूप से (सामान्य रूप से) द्वन्द्व समास का विधान किया गया है। अतः सर्वत्र समाहार तथा इतरेतर योग होने से दोनों स्थितियाँ स्पष्ट ही हैं। फलतः यह परिभाषा न्यायसिद्ध है।[२] समाहार एकत्व के वाच्य होने पर द्वन्द्व से एकवचन हो तथा इतरेतरयोग के वाच्य होने पर समास-घटक अवयवों के दो अथवा दो से अधिक होने पर द्वन्द्व से द्विवचन अथवा बहुवचन हो, यह युक्त ही है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा का ज्ञापक भी 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्'[३] इस सूत्र में 'बहुवचनस्य' का ग्रहण है। तिष्य एक तारा है। पुनर्वसु दो तारे हैं, उनके इस प्रकार तीन होने से उनके द्वन्द्व में सदा बहुवचन प्राप्त है। परन्तु बहुत्व के वाच्य होते हुए भी द्विवचनान्त का प्रयोग होता है। सूत्र में जो 'बहुवचनस्य द्विवचनम्' कहा है, वह इसलिए है कि एक वचन के प्रसंग में द्विवचन नहीं हो— जैसे 'तिष्यपुनर्वसु इदम्' इस समाहारद्वन्द्व के एक वचन में द्विवचन नहीं होता है, परन्तु प्रश्न यह है कि बहुत्व के अर्थ के होने पर एक वचनान्तता कैसे प्रसक्त होती है? वह तभी हो सकती है, जब यह माना जाय कि सभी द्वन्द्वसमास विकल्प से एकवचनान्त होते हैं। **(अ) ज्ञापकत्व में शंका**— यह है कि यहाँ 'तिष्यपुनर्वसु' इस लक्ष्य में नक्षत्रों के अप्राणी होने से 'जातिरप्राणिनाम्'[४] सूत्र से नक्षत्रवाची द्वन्द्व नित्य एकवचनान्त होगा, इससे बहुवचन नहीं आ सकता। अतः सूत्र में 'बहुवचन' व्यर्थ है, अथवा समग्र सूत्र ही व्यर्थ है। पुनः यह 'बहुवचन, ग्रहण परिभाषा का ज्ञापक कैसे हो सकता है। **समाधान**— उपर्युक्त कथन उचित नहीं हो सकता। 'यावता विनाऽनुपपत्तिस्तावन्मात्रज्ञाप्यत्वात्' इस न्याय के अनुसार 'बहुवचन' ग्रहण 'जातिरप्राणिनाम्'[५] सूत्र की वैकल्पिकता को भी ज्ञापित करता है, जिससे अप्राणिवाची द्वन्द्व भी पक्ष में बहुवचनान्त होता है। समास-घटक अवयवों के जातिपरक होने पर एकवचनान्त होगा, व्यक्तिवाची होने पर द्विवचन तथा बहुवचन भी यथाप्राप्त होंगे।[६] इस प्रकार समाहार में एकवचन के विषय में बहुवचन न हो, इसलिए 'बहुवचनग्रहण है।

(आ) पुनः ज्ञापकत्व में शंका— यदि कहा जाय कि तिष्य आदि नक्षत्र प्राणी हैं देवता होने से। इसलिए नक्षत्र-द्वन्द्व अप्राणी वाची द्वन्द्व नहीं है। अतः 'तिष्यपुन०'[७] सूत्र में 'बहुवचन' ग्रहण में 'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र की वैकल्पिकता ज्ञापित नहीं होगी, फलतः 'बहुवचन' ग्रहण से परिभाषा की ज्ञापकता भी विघटित हो जाती है?

---

१. अष्टा० २/२/२९।
२. प०शे०,पृ० १९६ पं० २-३।
३. अष्टा० १/२/६३।
४. वही, २/४/६।
५. अष्टा० २/४/६।
६. गूढार्थ०, पृ० १९८, पं० ६-९।
७. अष्टा० १/२/६३।

समाधान— यहाँ यह कहना है कि 'आपोमय:[१] प्राणा:' इस सूत्र के आधार पर वे ही प्राणी कहलाते हैं, जिनके प्राण जल के बिना क्षीण हो जाते हैं। इससे नक्षत्र प्राणी नहीं है।[२] इस प्रकार उपर्युक्त शंका व्यर्थ है। 'तिष्यपुनर्वस्वो०' आदि सूत्र से ज्ञापित 'सर्वो द्वन्द्वो०' इस परिभाषा के होने पर ही 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'[३] इस सूत्र में प्राणी के अङ्गों का ही समाहार द्वन्द्व होता है, ऐसा विपरीत नियम नहीं होता है।[४] अन्यथा व्यक्ति-प्राधान्य में समाहार का अभाव होने से एकवचन नहीं हो सकता, पुन: उसको द्विवचन न हो— इस निमित्त ग्रहण किया गया 'बहुवचन' पद अनर्थक हो जाता तथा वह 'तिष्यपुनर्वस्वो०' सूत्र तो नक्षत्रों के द्वन्द्व में कहने से व्यक्ति-प्रधान्य विषयक ही है। इस प्रकार 'बहुवचन' ग्रहण के सामर्थ्य से अप्राणी जातिवाची द्वन्द्व का जाति-प्रधान्य होने पर समाहार ही होता है— यह नियम स्वीकार किया जाता है। अत: जाति-प्रधान्य में 'इतरेतरयोग' का निषेध होने पर भी व्यक्तिप्राधान्य में समाहार की निवृत्ति नहीं होती है। वहाँ दोनों प्रकार के द्वन्द्व होने से 'बहुवचन' ग्रहण चरितार्थ होता है। परिणामस्वरूप यह परिभाषा फलित होती है। विस्तार से जानने के लिए 'तिष्यपुनर्वस्वो०'[५] का भाष्य एवं प्रदीपोद्द्योत द्रष्टव्य है।

परिभाषा का प्रयोजन— सम्पूर्ण द्वन्द्वसमास विकल्प से एकवचन होता है। अतएव 'घटपटौ', 'घटपटम्' में एकवचन सिद्ध होता है। ऐसे ही 'जातिरप्राणिनाम्'[६] सूत्र से एकवद्भाव भी विकल्प से होता है। अत: 'घटपटौ' यह प्रयोग भी उपपन्न होता है। इसी प्रकार 'ईषलोपकूलम्'[७], 'माथोत्तरपदपदव्यनुपदम्०'[८] इत्यादि सूत्रों में भी एकवचन सिद्ध होता है। इसी प्रकार इतरेतद्वन्द्वसमास में विकल्प से एकवचन होने से 'तिष्यपुनर्वसु इदम्' सिद्ध होता है। समाहार में सर्वत्र एकवचन ही होने से उसमें यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है— यह ध्यान रखना चाहिए।

समीक्षा— इस परिभाषा द्वारा द्वन्द्व समास के विषय में कुछ विशेष प्रतिपादित किया जा रहा है। यह परिभाषा इसी रूप में व्याडिवृत्ति में प्राप्त होती है।[९] पुरुषोत्तमदेव कुछ शब्दान्तर से पढ़ते हैं।[१०] सीरदेव, नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर इसी रूप में पढ़ते

१. 'अप्' शब्द से अष्टा० ५/४/२१ से 'मयट्', आदिवृद्धि होकर निष्पन्न रूप।
२. म०भा० १/२/६३ 'बहुवचन' ग्रहण-प्रयोजन।
३. अष्टा० २/४/२।
४. प०शे०, पृ० १९९,पं० २-३, गूढार्थ०, पृ० वही, १९९, पं० ६-११।
५. म०भा० १/२/६३ तथा प्र० एवं उ० भी।
६. अष्टा० २/४/६।
७. वही, ४/४/२८।
८. वही, ५/४/३७।
९. व्याडि पाठ, परि० सं० ७३।
१०. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०५०।

हैं। इस परिभाषा की व्याख्या नागेश ने संक्षेप में की है। व्याख्या में पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव आदि का अनुकरण किया गया है। इस परिभाषा के मूल के विषय में सभी एकमत परिलक्षित होते हैं। केवल व्याडि कुछ मतभेद रखते हैं। ये इस परिभाषा को ज्ञापकसिद्ध मानते हैं। उनके अनुसार सूत्र में जो कहीं बहुतों का एकवचन निपातित किया गया है, यथा 'गदमदचरयम:०'[१] वही इसका ज्ञापक है।[२] पुरुषोत्तमदेव इसे न्यायसिद्ध भी मानते हैं। यह कोई अपूर्व वचन नहीं है। 'चार्थे द्वन्द्व:'[३] सूत्र से सामान्यत: समाहार तथा इतरेतरयोग में द्वन्द्व समास विहित है। एतरेतरयोग में द्विवचन, बहुवचन तथा समाहार में एकवचन सिद्ध ही है। इस प्रकार कहीं समाहार तथा पक्ष में इतरेतरयोग होने से एकवचनत्व तथा द्विवचनत्व, बहुवचनत्व सिद्ध है।इसी न्यायसिद्ध अर्थ की अनुवादक रूप यह परिभाषा है। नागेश ने इसका ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है। 'तिष्यपुनर्वस्वो०'[४] सूत्र में 'बहुवचन' ग्रहण इसका ज्ञापक है। इसका संक्षेप में उपपादन भी किया है। इस प्रकार उन्होंने विस्तार से इसकी व्याख्या[५] की है। सीरदेव भी न्यायसिद्ध तथा ज्ञापकसिद्ध मानते हुए उक्त सूत्र के 'बहुवचन' को इसका ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं। प्रसंगत: ज्ञापकत्व का उपपादन करते समय न्यायसिद्ध की अपेक्षा इसकी उपयोगिता बताते हैं।इस ज्ञापक से यह बोध होता है कि 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य-सेनाङ्गानाम्'[६] सूत्र में प्राणि अंग वाचियों का समाहार द्वन्द्व ही होता है। अतएव 'प्राणि-अङ्ग' वाचियों में ही समाहार द्वन्द्व होता है', ऐसा विपरीत नियम नहीं आश्रित किया जाता है। इसलिए ज्ञापक आवश्यक माना है। साथ ही उक्त सूत्र तथा 'विभाषा वृक्षमृग०'[७] सूत्रों की इस परिभाषा के रहते आवश्यकता प्रतिपादित की है। इस प्रकार सीरदेव ने अत्यन्त विस्तार से परिभाषा की व्याख्या की है।[८] नीलकण्ठ भी न्यायसिद्ध मानते हुए ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं तथा संक्षेप में उपपादन भी करते हैं। इसकी इन्होनें अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या की है।[९] हरिभास्कर ने भी'चार्थे द्वन्द्व:'[१०] से सिद्ध अर्थ का अनुवादक मात्र इस परिभाषा को मानते हुए इसका ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है, उनके अनुसार भाष्यकार आदि 'तिष्यपुनर्वस्वो:'[११] में 'बहुवचन' ग्रहण को ज्ञापक मानते हैं। ज्ञापक प्रस्तुत करने का कारण भी है। प्रसंगत: 'विभाषा वृक्षमृग०'[१२] आदि सूत्रवैयर्थ्य की शंका का निवारण किया है।[१३] नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए परिभाषा की व्याख्या प्रस्तुत

---

१. अष्टा० ३/१/१००।
२. व्याडिवृत्ति, परि०सं०७३।
३. अष्टा० २/२/२९।
४. अष्टा० १/२/६३।
५. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ५०।
६. अष्टा० २/४/२।
७. अष्टा० २/४/१४।
८. सीरदेववृत्ति, परि०सं०१६।
९. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० २२।
१०. अष्टा० २/२/२९।
११. अष्टा० १/२/६३।
१२. वही, २/४/१४।
१३. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १६।

की है। ये भी इस परिभाषा को न्यायसिद्ध मानते हैं तथा इसका उपपादन भी पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर के अनुसार ही संक्षेप में करते हैं। इसका ज्ञापक भी 'तिष्यपुनर्वस्वो:०' में 'बहुवचन' ग्रहण को मानकर विस्तार से भाष्यानुसार उपपादित करते हैं। ज्ञापकत्व-उपपादन-प्रसंग में 'जातिरप्राणिनाम्'[१] द्वारा आशंकित शंका-समाधान विस्तार से करते हुए 'बहुवचन' ग्रहण से 'जातिरप्राणिनाम्' का नियम तथा 'द्वन्द्वश्च प्राणी०'[२] के विपरीत नियम का परिहार ज्ञापित करते हुए परिभाषा को ज्ञापितसिद्ध किया है। परिभाषा का अर्थ सभी में समान है। परन्तु विशेषत: परिभाषास्थ 'सर्व' शब्द का अर्थ, सभी अवयवों से युक्त समाहारात्मक, असमाहारात्मक द्वन्द्व रूप सभी ने माना है। नागेश ने भी यही माना है। परन्तु नागेश ने 'सर्व' शब्द का संकोच भी सिद्ध किया है। 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य-सेनाङ्गानाम्' के प्रकरण[३]-विषय को छोड़कर अवशिष्ट द्वन्द्व समास में इसकी प्रवृत्ति होती है। सीरदेव, नीलकण्ठ और हरिभास्कर ने यह भेद नहीं किया है। व्याडि तथा पुरुषोत्तमदेव ने 'द्वन्द्व एकवद्भाव' में अपरिगणित द्वन्द्वों में इसकी प्रवृत्ति मानकर कुछ सीमा तक भेद दिखलाया है।[४] परिभाषा का प्रयोजन स्वरूप उदाहरण प्राचीनों ने भाष्योक्त 'बाभ्रवशालङ्कायनम्', 'बाभ्रवशालङ्कायना:' दिया है। नागेश 'घटपटम्', 'घटपटौ' देते हैं। कोई विशेष अन्तर नहीं है।

(९५) सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते।।प० ३५।।

परिभाषा का उपक्रम— वैदिक शब्दों के रूपों के विषय में लौकिक शब्दों के रूपों के सदृश नियमों का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। अतएव सौविध्य के लिए सभी विधियों में विकल्प मान लिया जाता है। इसी रहस्य का प्रतिपादन इस परिभाषा द्वारा किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— वेद में सभी विधियाँ (=विहित शास्त्रकार्य) विकल्प से होती हैं।

परिभाषा का हेतु— 'व्यत्ययो बहुलम्'[५] इस सूत्र के भाष्य में जब 'बहुलम्' का पृथक् योग-विभाग करके तथा पूर्वसूत्र[६] से अनुवृत्त 'छन्दसि' इसके साथ पढ़ा जाता है, तब 'बहुलं छन्दसि' ऐसा सूत्र बनता है। अत: इससे अथवा 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा'[७] सूत्र के भाष्य में 'वा' शब्द का पृथक् योग करके इसके साथ जब इसी सूत्र में पठित

---

१. अष्टा० २/४/६। २. अष्टा० २/४/२।

३. अष्टा० २/४/२; २/४/१६।

४. व्याडिवृत्ति, परि० सं० ७३ एवं पुरुषोत्तमवृत्ति परि० सं० ५०।

५. म०भा० १/४/९। ६. अष्टा० ३/१/८४'छन्दसि शायजपि'।

७. अष्टा० १/४/९।

'छन्दसि' शब्द युक्त किया जाता है, तब 'वाच्छन्दसि' यह सूत्र होता है। इस प्रकार इन दोनों से प्रकृत परिभाषा की सिद्धि की गई है, जिसका अर्थ होता है कि छन्द में सब विधियाँ वैकल्पिक होती हैं।[१]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति' में युध्यति' यहाँ परस्मैपद साधु होता है। 'अनुदात्तेत् 'युध्' के होने से 'युध्यते'— आत्मनेपद[२] प्राप्त होता है। परन्तु वेद में सभी विहित शास्त्रकार्य विकल्प से होने के कारण आत्मनेपद के विकल्प में परस्मैपद हो जाता है। इसी प्रकार 'दक्षिणायाम्' इस सप्तम्यन्त की प्राप्ति में 'दक्षिणाया:'[३] ऐसा प्रयोग होता है। इसी प्रकार इसके अनन्त अनेक प्रयोजन हैं।[४]

समीक्षा— वैदिक शब्दों की सिद्धि करने में सम्पूर्ण व्याकरण के कार्य विकल्प से होते हैं। सूत्रों के आधार पर ही वैदिक शब्द सिद्ध नहीं होते, अपितु सूत्र नियम से विपरीत भी प्रयुक्त देखे जाते हैं। इसी का स्पष्टीकरण करने के लिए भाष्यकार ने यह परिभाषा सिद्ध की है। परिभाषाकारों ने कुछ शब्दान्तर से इसे पढ़ा है। भाष्यकार ने 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' में भिन्न रूप में पढ़ी है।[५] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर इसी रूप में पढ़ते हैं। नागेश ने इन्हीं का अनुकरण करके पाठ किया है। इस परिभाषा की व्याख्या सभी ने संक्षेप में की है। सभी ने इसके मूल और प्रयोजन पर विचार किया है। पुरुषोत्तमदेव 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा'[६] शब्द का विभाग करके यह परिभाषा रूप अर्थ सिद्ध मानते हैं तथा 'व्यत्ययो बहुलम्'[७] सूत्र के द्वारा भी प्रकृत परिभाषा के उदाहरण सिद्ध हो जाने के फलस्वरूप परिभाषा की अनावश्यकता का संकेत दिया है।[८] सीरदेव भी उक्त सूत्र से ही सिद्ध मानते हैं तथा इन्होंने स्पष्ट कहा है कि यह परिभाषा 'व्यत्ययो बहुलम्' का ही प्रपञ्च है।[९] नीलकण्ठ ने भाष्य का प्रमाण देते हुए 'व्यत्ययो बहुलम्' सूत्र में 'बहुलम्' शब्द का योगविभाग करके इसको ज्ञापित माना है तथा 'षष्ठी-युक्तश्छन्दसि वा' में भी 'वा' के योगविभाग से भी यह सिद्ध होती है— ऐसा

---

१. म०भा० १/४/९।

२. अष्टा० १/३/१२ से युध्, श्यन्, लट् लकार, आत्मनेपद का रूप।

३. ऋग्वेद के किसी पाद का अंश। 'दक्षिणा' शब्द, षष्ठी, वि०ए० में ङस्, याट् आगम, सवर्णदीर्घ होकर निष्पन्न।

४. उदाहरणार्थ का० ७/१/३९ एवं ३/१/८५।

५. 'वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' म०भा० १/४/९।

६. अष्टा० १/४/९।

७. अष्टा० ३/१/८५।

८. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०५६।

९. सीरदेववृत्ति, परि०सं० २४।

'शब्दकौस्तुभ' आदि में है, कहा है।[१] हरिभास्कर ने इस परिभाषा को 'व्यत्ययो बहुलम्' का प्रपञ्च तथा 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' इस सूत्र में 'वा' के योगविभाग से सिद्ध माना है— इसमें भाष्य का प्रमाण दिया है। नागेश उक्त दोनों सूत्रों में 'बहुलम्' तथा वा का विभाग करके इस परिभाषा की सिद्धि मानते हैं। इससे प्रयोजन भी सभी ने प्रस्तुत किये हैं। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, तथा हरिभास्कर ने भाष्योक्त[२] उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। विभक्ति, वचन, लिङ् के विकल्प के उदाहरण दिये हैं। नागेश आत्मनेपद विकल्प का ही उदाहरण देते हैं।

(९६) प्रकृतिवदनुकरणं भवति।।प० ३६।।

परिभाषा का उपक्रम— पाणिनीय प्रक्रिया में ऐसे अनेक शास्त्रीय कार्यों का विधान दृष्टिगोचर होता है, जो प्रकृति-भूत शब्दों के लिए विहित है। जैसे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां०'[३] इत्यादि सूत्र से धातु को 'इयङ्' होता है। परन्तु 'क्षियो दीर्घात्'[४] तथा 'क्षियः' सूत्र में 'क्षि' धातु रूप में नहीं है, अपितु अनुकरण है। अतः अनुकरण के विषय में सिद्धान्त प्रतिपादनार्थ यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अनुकरण प्रकृतिवत्=अनुकार्य के धर्म वाला होता है अर्थात् जो अनुकार्य है उसमें रहने वाला, तद्वृत्ति-धर्म का अतिदेश अनुकरण में होता है।

परिभाषा का ज्ञापक— 'क्षियो दीर्घात्' इस निष्ठा-तत्व के विधायक सूत्र में 'क्षियः' इसमें जो 'इयङ्' निर्देश है, वह इस परिभाषा का ज्ञापक है। उसमें 'क्षियः' यह कृतदीर्घ 'क्षी' धातु का अनुकरण होने से उसके अनुकार्य 'क्षि का शब्दस्वरूपबोधक होने पर भी क्रिया-वाचकत्व का अभाव होने से तन्निबन्धन धातु नहीं है। अतः 'इयङ्' निर्देश नहीं हो सकता है। इस प्रकार व्यर्थ होकर प्रकृत परिभाषा ज्ञापित कराता है कि अनुकरण प्रकृतिवत् धर्म वाला माना जाता है। अतः अनुकरण 'क्षि' में धातु के अनुकार्य के धर्म का 'धातुत्व) का अतिदेश मानकर 'इयङ्' आदेश उत्पन्न होता है। तब 'क्षियः' यह निर्देश सिद्ध हो जाता है=विशेष विचार अधोलिखित हैं।[५]

परिभाषा के होने पर शंका— यह है कि 'क्षियोदीर्घात्' में पंचमी विभक्ति कैसे आ गई? क्योंकि इस परिभाषा से अनुकरण में धातुत्व का अतिदेश किया है और 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'[६] इस सूत्र में 'अधातु' में धातु का पर्युदास प्रतिषेध मानकर धातु से भिन्न अर्थवान् की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इससे 'क्षि' धातु के अनुकरण

---

१. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०३०। २. म०भा० १/४/९।
३. अष्टा० ६/४/७७। ४. वही, ८/२/४६।
५. वही, ६/४/५९। ६. अष्टा० १/२/४५।

को प्रकृतिवत् होने से धातु के कारण प्रातिपदिक संज्ञा का अभाव प्राप्त है, अतः विभक्ति नहीं आ सकती है।

समाधान— यह परिभाषा अनित्य है, इस अतिदेश की अनित्यता का ज्ञापक 'क्षियो दीर्घात्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट किया गया है। अनुकरण में अनुकार्य के धर्म का अतिदेश नहीं भी होता है। अतः 'क्षियः' यहाँ 'क्षि' को अनुकरण में स्वाश्रय से प्रातिपदिक मानकर सुप् विभक्ति की उत्पत्ति होती है। अनित्यता का ज्ञान इससे होता है कि 'क्षियः' उस सौत्र प्रयोग में ही प्रातिपदिक मानकर विभक्ति का प्रयोग किया गया है। इसकी अनित्यता का ज्ञापक 'क्षियो[१] दीर्घात्' सूत्र के भाष्य[२] तथा उद्द्योत[३] में स्पष्ट किया गया है तथा इस परिभाषा में शास्त्रीय प्रकृति का ही ग्रहण होता है और शास्त्रीय धर्म का ही इस परिभाषा द्वारा अतिदेश होता है। इसका स्पष्टीकरण 'ऋत्लृक्'[४] सूत्र के भाष्य तथा 'उद्द्योत'[५] में किया गया है।

परिभाषा का प्रयोजन— जो अनुकरण किया जाता है, वह प्रकृति के तुल्य होता है। इससे 'क्षियः' में 'क्षि' धातु के अनुकरण को प्रकृतिवत् मानकर 'इयङ्'[६] आदेश हो जाता है, जिससे 'क्षियो दीर्घात्', 'क्षियः'[७] आदि निर्देश युक्त होते हैं। इसी प्रकार 'परौ भुवोऽवज्ञाने'[८] 'नेर्विशः'[९] इत्यादि[१०] निर्देश ठीक हो जाते हैं एवं ऐसे ही अनुकरण करके 'अग्नी इत्याह' कहें तो यहाँ 'अग्नी' द्विवचन प्रकृति के तुल्य अनुकरण को मानकर प्रगृह्य संज्ञा[११] होने से सन्धि[१२] नहीं होती तथा 'द्विः पठति इत्याह' यहाँ 'द्विः पठति' शब्द के अनुकरण में भी प्रकृतिवद्भाव होने से 'तिङ्ङतिङः'[१३] सूत्र से अतिङन्त पद से परे तिङन्त पद को निघात सिद्ध होता है, क्योंकि इस परिभाषा से पदत्व-धर्म का अतिदेश होने से पद माने जाते हैं। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन हैं।

समीक्षा— अनुकरण शब्द में भी कभी प्रकृति के समान कार्य होता देखा जाता है। यह कैसे होता है? जबकि अनुकरण केवल अपने अनुकार्य के शब्दस्वरूपमात्र का

---

१. अष्टा० ८/२/४६, 'क्षियो दीर्घात्' में 'क्षियः'='क्षि' धातु, पञ्चमी वि०ए० में ङसि, इयङ् होकर निष्पन्न रूप।

२. म०भा० ८/२/४६।

३. उ० ८/२/४६।

४. म०भा० प्रत्या०सू०२ 'ऋत्लृक्'।

५. उ० 'ऋत्लृक्' सूत्र।

६. अष्टा० ६/४/५५।

७. अष्टा० ६/४/५९।

८. अष्टा० ३/३/५५।

९. अष्टा० १/३/१७।

१०. अष्टा० सूत्र 'भुवो वुम्लुङ्लिटोः', 'अवोदोर्नियः' आदि।

११. अष्टा० १/१/११ 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्'।

१२. अष्टा० ६/१/१२५।

१३. वही, ८/१/२८।

बोधक होता है, अन्य अर्थ आदि धर्म का नहीं, अत: प्रकृति-धर्म को मानकर अनुकरण में कार्य नहीं होना चाहिए? इसी का निर्णय यह परिभाषा करती है। जो शब्द अपने स्वरूप से वास्तविक शब्द के स्वरूप जैसा लगे अर्थात् अनुकरण किया जाय, वह अपनी प्रकृति के समान माना जाता है। इस प्रकार वह अपनी प्रकृति के लिङ्ग तथा संख्या को ग्रहण कर लेता है। यही इस परिभाषा में बताया गया है।

यह परिभाषा व्याडि, शाकटायन, जैनेन्द्र, भोज, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर ने इसी रूप में पढ़ी है।[१] इस परिभाषा की सभी ज्ञापकसिद्ध मानते हैं। व्याडि इसका ज्ञापक 'क्षियो दीर्घात्'[२] सूत्र में 'दीर्घ' ग्रहण मानते हैं एवं विस्तार से ज्ञापकत्व का उपपादन भी करते हैं।[३] जैनेन्द्र 'परिव्यवेभ्य: क्रिय:'[४] इस सूत्र में 'क्रिय:' (क्री अनुकरण) में इयङादेश-करण इस अर्थ का ज्ञापक मानते हैं।[५] पुरुषोत्तमदेव भी इसका ज्ञापक उक्त सूत्र में 'क्री' अनुकरण में धातुत्वाश्रित इयङादेश-करण 'क्रिय:'[६] रूप मानते हैं।[७] सीरदेव ने भी उक्त सूत्र में 'क्रिय:' इस इयङादेश रूप को इसका ज्ञापक माना है।[८] वैसे सीरदेव ने इस परिभाषा की विस्तृत व्याख्या की है। नीलकण्ठ ने इसके दो ज्ञापक प्रस्तुत किये हैं। प्रथम 'भू सत्तायाम्' इसमें विभक्ति का प्रदर्शन ही इसका ज्ञापक है तथा 'यत्तदेत्तेभ्य:०'[९] निर्देश भी इसका ज्ञापक है। हरिभास्कर 'परिव्यवेभ्य:[१०] क्रिय:' में 'क्रिय:' इस इयङादेशयुक्त निर्देश को इसका ज्ञापक मानते हैं।[११] नागेश इनके विपरीत भाष्यप्रोक्त 'क्षियो दीर्घात्' सूत्र में 'क्षिय:' इस इयङ्युक्त निर्देश को इसका ज्ञापक मानते हैं। साथ ही इस परिभाषा को मानने से उत्पन्न दोष भी प्रदर्शित करते हैं। जैसे उक्त 'क्षियो दीर्घात्', 'क्षिय:'[१२] इत्यादि सूत्रों में अनुकरण में धातुत्व का अतिदेश होने पर 'अर्थवत्०'[१३] सूत्र से 'अधातु' पर्युदासप्रतिषेध से प्रातिपदिक का अभाव होने से विभक्ति नहीं होनी चाहिए? इसका समाधान सभी परिभाषाकारों ने भिन्न-भिन्न रीति से किया है।[१४] परिभाषा के प्रवृत्ति विषय में प्राचीनों एवं नागेश ने विस्तृत विचार किया है। कहीं यह परिभाषा प्रवृत्त भी नहीं होती है। इसका प्रतिविधान भिन्न-भिन्न रीति से किया है। नागेश के अनुसार 'क्षियोदीर्घात्' सूत्र के 'क्षिय:' प्रयोग में प्रातिपदिक को मानकर,जो विभक्ति का प्रयोग किया गया है

---

१. तत्त्वा०, पृ० ६०।
२. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
३. अष्टा० ८/२/४६।
४. व्याडिवृत्ति, परि० सं० ८६।
५. अष्टा० १/३/१२।
६. जैनेन्द्रवृत्ति, परि० सं० १२।
७. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०११४।
८. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १८।
९. अष्टा० ५/२/३९।
१०. अष्टा० १/३/१२।
११. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०१८।
१२. अष्टा० ८/२/४६।
१३. वही, ६/४/५९।
१४. वही, १/२/४५।

उससे तथा दीर्घ ग्रहण से इस परिभाषा की अनित्यता स्वीकार करते हैं। अनित्य होने से ही विभक्ति करने में परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है तथा 'विपराभ्यां जे:'[१] आदि निर्देश भी साधु होते हैं। विशेषत: उद्द्योत द्रष्टव्य हैं।[२] परन्तु व्याडि आदि अन्य प्रकार से इसका वारण करते हैं। व्याडि ने कुछ स्पष्ट नहीं किया है। जैनेन्द्र 'प्रकृतिवत्' में 'वत्' करने से किन्हीं स्थलों में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती मानते हैं, ऐसा जिससे 'विपराभ्यां[३] जे:' में 'जि' को इयङ् होकर 'जे:' रूप बनता है। पुरुषोत्तमदेव विभक्ति के लिए 'अर्थवत्०'[४] सूत्र के 'अधातु' में प्रसज्यप्रतिषेध' न मानकर 'पर्युदासप्रतिषेध' मानकर 'धातु से अन्य अर्थवान् की प्रातिपदिक संज्ञा हो— ऐसा अर्थ मान लेते हैं। इससे क्री, क्षि आदि अनुकरण में धातु नहीं है, प्रकृतिवत् होने से धातु भी है, इस प्रकार ये धातु एवं अधातु होने से धातु से ही है, अत: प्रातिपदिक संज्ञा होकर विभक्ति हो जाती है— पुरुषोत्तमदेव की यह व्याख्या कैयट के अनुसार है[५] एवं 'विपराभ्यां जे:' इत्यादि में इयङादि की प्राप्ति का वारण सौत्र के द्वारा करते हैं।[६] सीरदेव ने भी 'विभक्ति' प्रसंग में पुरुषोत्तमदेव का ही अनुकरण करते हुए पर्युदास प्रतिषेध मानकर प्रातिपदिक संज्ञा उपपादित की है। इसके समर्थन में न्यास एवं रक्षित का प्रमाण दिया है तथा 'विपराभ्यां जे:' इत्यादि में इयङ् का प्रतिषेध दो प्रकार के अनुकरण का कथन करके किया है। एक सार्थक का अनुकरण, दूसरा निरर्थक का अनुकरण सार्थक 'अनुकरण में कार्य होता है, निरर्थक अनुकरण में नहीं। 'जे:' इत्यादि में निरर्थक वर्ण-समुदाय मात्र का अनुकरण होने से इयङ् आदि नहीं होता है। इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।[७] नीलकण्ठ इस परिभाषा को अनित्य मानते हैं। इसमें वह 'यत्तदेतेभ्य:०'[८] में 'एकशेष न करना रूप' हेतु देते हैं। हरिभास्कर के अनुसार यह अतिदेश वैकल्पिक है। हेतु यह दिया है कि 'विपराभ्यां जे:' में 'जे:' ऐसा अतिदेशाभाव रूप कार्य का निर्देश है। प्रसंगत: यह सीरदेव के सार्थक और निरर्थक अनुकरणकल्पना का खण्डन करते हैं।[९]

(९७) शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति।।प०४३।।

परिभाषा का उपक्रम— अन्य के कृत और अकृत होने पर भी जो प्रसंग वाली विधि है, वह नित्य होती है और इससे विपरीत विधि अनित्य होती है। परन्तु यहाँ यह शंका होती है कि यदि लक्ष्य में दो 'कृताकृतप्रसंगी' नित्य-विधियों में एक विधि अकृत होने पर अन्य शब्द को प्राप्त होती हो तथा कृत होने पर अन्य शब्द को प्राप्त

---

१. अष्टा०, १/३/१२।
२. उ० ८/२/४६।
३. अष्टा० १/३/१२।
४. वही, १/२/४५।
५. प्र० ८/२/४६।
६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०११६।
७. सीरदेववृत्ति, परि०सं०१८।
८. अष्टा० ५/२/३९।
९. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १८।

होती हो तो क्या वह भी नित्य मानी जायेगी? तथा दोनों में कौन सी नित्य मानी जायेगी। नागेश ने नित्यता वहीं मानी है, जहाँ अन्य कार्य करने पर जिस शब्दरूप में प्रसंग प्राप्त हो रहा है तथा अन्य कार्य के न करने पर भी उसी शब्दरूप में प्रसंग हो रहा हो— ऐसी समान शब्दाश्रित 'कृताकृतप्रसंगी'— रूप विधि नित्य होती है। इसके विपरीत शब्दान्तर को प्राप्त विधि अनित्य कही जाती है। इसी तात्पर्य के फलस्वरूप तथा उक्त समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जो दो कार्य एक साथ प्राप्त होते हों और वे दोनों नित्य सिद्ध होते हों, तो उनमें जो विधि किसी अन्य, विधि के होने के पूर्व जिस शब्द को प्राप्त रही हो और पूर्व कार्य होने के पश्चात् वह विधि दूसरे शब्द को प्राप्त होती हो तो वह 'अनित्य' हो जाती है।

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषान्यायरूप वचन 'शदे:[१] शित:' इस सूत्र के भाष्य में कहा गया है। वहाँ उस सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि इस परिभाषा के कारण 'अट्'[२] आगम नित्य ही नहीं है— 'न्यविशत'[३] इस उदाहरण में। क्योंकि 'श'[४] विकरण के आने के पश्चात् यह 'अट्' आगम विकरणान्त 'विश्+श' से पूर्व होगा और विकरण आने से पूर्व केवल धातु विश् से पूर्व होगा। अत: 'अट्' अनित्य है। फलत: यह परिभाषा उक्त भाष्य से सिद्ध होती है।[५]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से न्यविशत,[६] व्यक्रीणीत प्रयोगों में अट् (आगम) के अनित्य हो जाने के कारण विकरण नित्य होने से प्रथम प्रवृत्त होकर अंग संज्ञा विकरणान्त समुदाय की सिद्ध होती है। उपर्युक्त उदाहरणों में विकरण तथा 'अट्' दोनों नित्य हैं।[७] विकरण के पूर्व और पश्चात् भी अट् प्राप्त है, अत: अट् नित्य हुआ तथा विकरण भी 'अट्' करने से पूर्व एवं पश्चात् भी प्राप्त हैं तो विकरण भी नित्य हुआ। इस प्रकार दोनों नित्यों में पर होने से 'अट्' प्राप्त है। विकरण की प्रवृत्ति प्रथम इष्ट है, क्योंकि विकरण सहित की अंग संज्ञा होनी चाहिए। यहाँ अट् आगम पहले तो केवल 'विश्' को प्राप्त है, पश्चात् विकरण सहित को प्राप्त है। अत: 'अट्' आगम शब्दान्तर को प्राप्त होने से अनित्य है। इसी प्रकार अन्य[८]

---

१. म०भा० १/३/६०। २. अष्टा० ६/४/७१।

३. नि पूर्वक 'विश्' धातु, लङ् लकार, आत्मनेपद में प्र०पु०ए०।

४. अष्टा० ३/१/७७। ५. म०भा० १/३/६०।

६. नि पूर्वक 'क्री' धातु, लङ् लकार, आत्मनेपद में प्र०पु०ए०।

७. 'कृताकृतप्रसङ्गि-नित्यम्' द्र० गूढार्थ०, पृ० २३१।

८. पृथुमाख्यत्='अपिप्रथत्' द्र० गूढार्थ०, पृ० २३१।

प्रयोजन भी समझने चाहिए।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा नित्य से विपरीत अनित्य (विधि) का लक्षण प्रस्तुत करती है। किन परिस्थितियों में विधि अनित्य मानी जाती है— यह इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है। यह परिभाषा इसी रूप में केवल व्याडि तथा शाकटायन ने प्रस्तुत की है।[१] नागेश ने इनके तथा भाष्य के आधार पर प्रस्तुत किया है। दीक्षित तथा न्यासकार आदि ने भी यह परिभाषा स्वीकार की है।[२] नागेश ने इसका अति संक्षेप में मूल का निर्देश कर दिया है और उदाहरण अर्थ आदि का स्पष्टीकरण भी नहीं किया है। इन्होंने इसको न्यायसिद्ध माना है।[३] व्याडि ने इस परिभाषा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए शब्दान्तर की प्राप्ति दिखलाई है।

(९८) शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम्।।प०४४।।

परिभाषा का उपक्रम— नित्यत्व और अनित्यत्व कब, कैसे, कहाँ होता है? एवं नित्य और अनित्य का लक्षण क्या है? इत्यादि का निरूपण करने वाले कुछ वचन शास्त्रों में कहे गये हैं। उन्हीं वचनों को नागेश ने परिभाषा रूप में स्वीकार कर गृहीत किया है आगे एकत्र ही ६ परिभाषाएँ[४] इस विषय से सम्बद्ध पठित हैं। भिन्न-भिन्न अवस्था में विधियाँ अनित्य और नित्य होती है। 'यद् व्यक्ति-सम्बन्धितया पूर्व-प्रवृत्तिः'[५] इत्यादि पूर्वोक्त न्याय के तुल्य न्याय वाली एक यह परिभाषा भी प्रस्तुत की है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— शब्दान्तर (जो शब्द रूप समकाल प्राप्त द्वितीय शास्त्र की प्रवृत्ति से भिन्न रूप हो गया है) से परे प्राप्त होता हुआ कार्य अथवा ऐसे शब्दान्तर के परे रहते हुए प्राप्त होता हुआ (पूर्व) (प्रथम प्रवृत्त) शास्त्र का कार्य 'अनित्य' होता है। (इस प्रकार निमित्त-भेद होने पर होने वाली विधि भी अनित्य होती है।

परिभाषा का आशय— यह है कि प्रथम प्रवृत्त शास्त्र का कार्य हो जाने पर शब्दान्तर से जो विधि प्राप्त होती है तथा शब्दान्तर को जो मान करके कार्य प्राप्त हो रहा हो, तो ऐसी विधियाँ अनित्य कहलाती है।

परिभाषा का प्रयोजन— (क) शब्दान्तरात्, प्रयोजन (अ) प्रथम उदाहरण— इस परिभाषा के होने से 'मा भवान् उजिहत्'[६] यह 'ऊह्' धातु का णिजन्त

---

१. व्याडिवृत्ति, परि० सं० ७७, शाकटायन पाठ, परि० सं० ५४।

२. श० कौ तथा सि०कौ० न्यास, पदमंजरी।

३. गदा, पृ० ८१।

४. प०शे० परि०सं० ४४ से ४९।

५. प०शे०, पृ० २३१।

६. 'ऊह्' धातु णिजन्त में लङ् लकार, प्र०पु० ए०।

में लुङ् लकार का माङ्-योग के कारण[१] 'आट्' रहित रूप है। यहाँ 'चङि'[२] सूत्र से हि' का द्वित्व प्राप्त होता है। 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः'[३] सूत्र की प्रवृत्ति से पूर्व (दीर्घ रूप) 'ऊ' से परे (ह का) द्वित्व होगा, परन्तु 'णो चङ्युपधायां ह्रस्वः' की प्रवृत्ति के अनन्तर (ह्रस्व) 'उ' से परे (हि का) द्वित्व होगा। इस प्रकार शब्दान्तर से प्राप्त होने के कारण 'चङि' इस सूत्र से प्राप्त द्वित्व विधि अनित्य है। फलतः परवर्ती होने के कारण उपधाह्रस्व की प्रवृत्ति द्वित्व से पहले होती है। **(आ) द्वितीय उदाहरण**— शब्दान्तर से परे का निम्न उदाहरण है। 'च्यवन्ते'[४] यहाँ पर ('च्यु+अ+अन्ते') गुण न होने पर 'च्यु' से परे 'अतो गुणे'[५] से पररूप एकादेश प्राप्त होता है, और शप् निमित्तक[६] 'च्यु' के 'उ' का 'गुण'[७] (ओ) होने पर च्यो रूप से परे भी पररूप एकादेश प्राप्त होता हैं किन्तु इस परिभाषा से एकादेश अनित्य सिद्ध हो जाता हैं, अतः पर होने से पहले गुण हो जाता है। इस परिभाषा के अभाव में यदि एकादेश के नित्य होने से पहले एकादेश हो जाय तो 'अन्ते' के 'ङित्' होने से 'च्यु' को सार्वधातुकलक्षण गुण नहीं हो सकेगा।[८] अतः परिभाषा की उपयोगिता है। **(ख) शब्दान्तरे प्राप्ति का प्रयोजन**— शब्दान्तर के परे रहते अनित्यत्व की सूचना 'वस्वेकाजाद्घसाम्'[९] सूत्र के भाष्य में 'एकाच्' ग्रहण-प्रयोजन-विचार के प्रसंग में मिलती है। वहाँ 'एकाच्' ग्रहण सामर्थ्य से कृतद्विर्वचन एकाच् गृहीत किया जाता है। उसके लक्ष्य 'बिभिद्वान्'[१०] में द्वित्व एवं 'इट्' दोनों प्राप्त हैं। यहाँ इडागम अनित्य होता है, क्योंकि द्वित्व करने के पश्चात् शब्दान्तर से प्राप्त होता है। इसी प्रकार द्वित्व भी अनित्य होता है, क्योंकि 'इट्' कर लेने पर शब्दान्तर परे रहते प्राप्त होता है, फलतः दोनों के अनित्य होने से परत्वात् 'इट्' हो जाता, अतः 'एकाच्' ग्रहण किया है। उक्त भाष्य से यही सूचित होता है कि भाष्यकार इस परिभाषा को मानते हैं।[११] इसी प्रकार 'करिष्यते' में लादेश हो जाने पर शब्दान्तर के परे रहते प्राप्त होने से स्य प्रत्यय अनित्य होता है, फलतः परत्व से पहले लादेश करने पर 'स्वरितञितः०'[१२] की प्रवृत्ति होकर उक्त रूप सिद्ध हो जाता

१. न 'माङ्योगे अष्टा० ६/४/७४।

२. अष्टा० ६/१/११। ३. वही, ७/४/१।

४. च्यु धातु, लट् लकार, प्र०पु० बहु० आत्मनेपद।

५. अष्टा० ६/१/९७। ६. वही, ३/१/६८।

७. 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' अष्टा० ७/३/८४।

८. 'क्ङिति च' अष्टा० १/१/५ से गुण निषेध।

९. अष्टा० ७/२/६७।

१०. भिद् धातु, लिट् लकार,'क्वसु' प्रत्ययान्त।

११. 'परिभाषेन्दु प्रभा', पृ० १४३=प्रकाशन मोतीलाल बनारसी दास।

१२. अष्टा० १/३/७२।

है। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— इस परिभाषा द्वारा अनित्यत्व का लक्षण स्पष्ट किया गया है। शब्दान्तर से परे तथा शब्दान्तर के परे रहते प्राप्त होने वाली विधि 'अनित्य' मानी जाती है। यह परिभाषा नागेश से पूर्ववर्ती किसी भी परिभाषा पाठ में नहीं मिलती है। नागेश ने केवल इसका उल्लेख मात्र किया है। इसके मूल आदि के विषय में मौन हैं।

(९९) लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन्विधिरनित्यः।।प०४५।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रस्तुत परिभाषा से पूर्व दो परिभाषाएँ हैं (१) 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति' (२) 'शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम्'— इन परिभाषाओं से (१) भिन्न शब्द के स्थान में प्राप्त (२) भिन्न शब्द के बाद वाले को प्राप्त (३) भिन्न शब्द को बाद में निमित्त मानकर होने वाले को प्राप्त विधि की अनित्यता प्रतिपादित की गयी है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए यह भी एक परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— कृताकृत-प्रसंग में जिसे जो कार्य प्राप्त होता है, यदि जिस लक्षण से अकृत प्रसंग में प्राप्त होता है, कृत-प्रसंग में उससे भिन्न लक्षण-(शास्त्र) से प्राप्त होता हो तो वह कार्य 'अनित्य' होता है।

परिभाषा का आशय— एक विधि के होने के प्रसंग में किसी भिन्न नियम (लक्षण) से विधि प्राप्त हो रही हो, तो वह 'अनित्य' मानी जाती है। **परिभाषा का हेतु**— यह परिभाषा भाष्य में नहीं प्राप्त होती है। 'असिद्धवदत्राभात्'[१] सूत्र के भाष्य की व्याख्या प्रदीप में अतिदेश विषय में यह परिभाषा कैयट ने कही है[२]— ऐसा नागेश मानते हैं।

परिभाषा का प्रयोजन— 'कुर्वः'[३] इत्यादि प्रयोगों में लघूपधगुण और उकारलोप[४] दोनों की प्राप्ति है, इनमें नित्य[५] होने से उकार-लोप होता है। यहाँ 'कुर् उ+वः' में 'उ' को मानकर 'पुगन्त-लघूपधस्यच'[६] सूत्र से गुण प्राप्त होता है और 'नित्यं करोतेः'[७] सूत्र से उकार लोप भी। यहाँ इस परिभाषा से गुण अनित्य है, क्योंकि गुण

---

१. अष्टा० ६/४/२२।

२. प्र० ६/४/२२ 'नित्यत्वातपूर्व०' इत्यादि।

३. कृ धातु, लट् लकार, उत्तम पु० द्वि०।

४. 'नित्यं करोतेः' अष्टा० ६/४/१०८।

५. कृताकृत-प्रसंगी होने से किसी अन्य लक्षण की सहायता लिए बिना।

६. अष्टा० ७/३/८६। ७. वही, ६/४/१०८।

उ रहते तो 'पुगन्त-लघूपधस्य च' से होता है। उ का लोप होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[१] सूत्र से 'प्रत्यय-लक्षण' से प्राप्त होता है। अत: लक्षणान्तर से (दूसरे सूत्र के साहाय्य से) प्राप्त होने से गुण अनित्य है। अत: नित्य होने से पहले उ का लोप ही होता है। इसी प्रकार 'अतिजरांसि'[२] आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। यहाँ 'नुम्' से परे होने से 'जरस्' आदेश हो जाता है। यहाँ कृत-प्रसंग[३] में लक्षणान्तर से नुम्'[४] की प्राप्ति होने से प्रस्तुत परिभाषा से नुम् अनित्य है।[५] अत: 'जराया जरसन्यतरस्याम्'[६] सूत्र से परत्वात् 'जरस्' आदेश हो जाता है।[७] इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा भी अनित्य का लक्षण प्रस्तुत करती है। यह परिभाषा केवल व्याडि और शाकटायन ने प्रस्तुत की है।[८] अन्य किसी ने इसका उल्लेख नहीं किया है। नागेश ने यह परिभाषा कैयट के आधार पर प्रस्तुत की है।[९] जहाँ दोनों विधियाँ नित्य होती हों, उनमें से एक विधि किसी दूसरे सूत्र के साहायय से नित्य बनती हो तो ऐसी विधि लक्षणान्तर के द्वारा नित्य होने पर भी अनित्य मानी जाती है। नागेश ने इसके अर्थ एवं उदाहरण पर सर्वथा विचार न करके केवल मूल का उल्लेख कर दिया है। व्याडि ने परिभाषा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उसमें लक्षणान्तर की सिद्धि भी विस्तार पूर्वक प्रस्तुत की है।

(१००) क्वचित् कृताकृतप्रसंगमात्रेणापि नित्यता।।प०४६।।

परिभाषा का उपक्रम— 'तुद्' आदि में पहले गुण करने के बाद 'तोद्' रूप शब्दान्तर से विकरण (श) प्राप्त होता है और गुण के न करने पर 'तुद्' शब्द से विकरण प्राप्त होता है तथा 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[१०] रूप लक्षणान्तर से 'स्थानिवत्' मानकर ही विकरण प्राप्त होता है। अतएव यह श (विकरण) अनित्य होना चाहिए? फलत: परत्वात् गुण करने पर रूप सिद्ध नहीं हो सकता?। इस समस्या का समाधान नागेश निम्न प्रसंग पुरस्सर देते हैं। जब परिभाषाकार शास्त्र-व्यतिरेक से अर्थात् विधिशास्त्रों के भेद की चिन्ता किये बिना केवल इस बात का विचार करता है कि इन विधिशास्त्रों से विहित दो कार्य नित्य हैं अथवा अनित्य हैं और इसका भी विचार नहीं करता कि

---

१. अष्टा०, १/१/६२।

२. अति पूर्वक 'जरा' शब्द का नपुंसक लिङ्ग में प्र०वि०बहु०।

३. जरस् आदेश कर लेने पर। ४. 'नपुंसकस्य झलच:' अष्टा०७/१/७२।

५. 'जरस्' आदेश न करने पर अजन्त को मानकर नुम् प्राप्त होता है।

६. अष्टा० ७/२/१०१। ७. वही, १/४/२।

८. व्याडि पाठ, परि०सं० ७८ एवं शाकटायन पाठ, परि०सं० ८०।

९. प्र० ६/४/२२। १०. अष्टा० १/१/५६।

समान काल में प्राप्त होने वाले अन्य कार्य के होने से पूर्व और होने के पश्चात् शब्दरूप विशेष अभिन्न रहते हैं अथवा नहीं। तब इस परिभाषा की आवश्यकता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जब तत्काल प्राप्त होने वाला अन्य कार्य हो सकता था और जो तब प्रवृत्त होता है, जब वह अन्य कार्य न हुआ हो, तब जिसका प्रसंग होता है, वह कार्य भी कहीं-कहीं नित्य कहा जाता है।

परिभाषा का हेतु— परिभाषा के मानने में तथ्य यह है कि यदि अन्य तत्काल प्राप्त होने वाले कार्य के होने पर, जिस कार्य को हम नित्य समझना चाहते हैं, उसी की पुनः प्रवृत्ति होती है। इसी से उसको नित्य' कहना न्याय्य है। परन्तु इस नित्यता व्यवहार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जब उसकी पुनः प्रवृत्ति होती है, उसको कोई बाधक कार्य न बाँधे और यह भी आवश्यक नहीं है कि उसकी वह द्वितीय प्रवृत्ति सफल हो। इस प्रकार इन दो कारणों से रहित होने पर पुनः प्रसंग मात्र नित्यता व्यवहार का प्रयोजक है। अर्थात् जहाँ व्यक्ति-विशेष अथवा लक्षण-विशेष का आदर नहीं किया जाता, वहाँ पुनः प्रसंगमात्र से नित्यत्व का व्यवहार हो जाता है।[१]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा को मानने से 'तुदति[२] 'आदि में गुण करने पर विकरण (श)[३] शब्दान्तर से प्राप्त होने पर भी, तथा 'स्थानिवत्०'[४] रूप लक्षणान्तर से प्राप्त होने पर भी 'श' विकरण (कृताकृतप्रसंगमात्र से) नित्य माना जाता है। गुण 'श' प्रत्यय करने पर क्ङिति[५] च' सूत्र से बाधित हो जाने से अनित्य है। इस प्रकार पर गुण को भी बाधकर विकरण होकर रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— इस स्वतंत्र परिभाषा द्वारा नित्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है। कहाँ-कहाँ एवं किस परिस्थिति में नित्य माना जा सकता है? इसका ही विवेचन इस परिभाषा का उद्देश्य है। संभावना मात्र में भी नित्यत्व का व्यवहार हो सकता है। यह परिभाषा पूर्ववर्ती किसी भी पाठ में नहीं प्राप्त होती है। नागेश ने स्यात् दीक्षित के आधार पर पाठ किया है।[६] नागेश ने भी केवल इसका अर्थ स्पष्ट किया है। कोई उदाहरण नहीं दिया है।

---

१. प०शे०, पृ० २३३, परि० सं० ४६।

२. तुदादिगणीय 'तुद्' धातु, लट्, प्र०पु०ए०।

३. अष्टा० ३/१/७७।

४. वही, १/१/५६ सूत्र से धातुत्व अतिदेश होने पर ही 'श' होता है।

५. अष्टा० १/१/५।

६. श० कौ०।

(१०१) यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्।।प०४७।।

परिभाषा का उपक्रम— इससे पूर्ववर्ती परिभाषा 'क्वचित् कृताकृतप्रसंग-मात्रेणापि[१] नित्यता' परिभाषा में **मात्र** पद से जिस अर्थ का परिज्ञान होता है, उसी का प्रतिपादन इस परिभाषा द्वारा किया गया है। इस प्रकार पूर्ववर्ती परिभाषा की प्रपञ्च ही यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जिस कार्य का निमित्त तत्काल प्राप्ति वाले कार्यान्तर के होने पर किसी अन्य (तृतीय) विधि-शास्त्र के द्वारा नष्ट हो जाता है, उसे अनित्य न मानकर नित्य ही माना जाता है।

परिभाषा का हेतु— नागेश ने इस परिभाषा में कोई हेतु नहीं प्रस्तुत किया है। **परिभाषा का प्रयोजन**— इस परिभाषा के होने से 'आह्वः', 'प्रह्वः' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। आङ् तथा प्र पूर्वक ह्वेञ् धातु से क प्रत्यय करने पर 'सम्प्रसारण'[२] एवं 'आलोप'[३] की प्राप्ति होती है। आलोप के करने पर तथा न करने पर भी सम्प्रसारण की प्राप्ति है। अतः यह नित्य है। सम्प्रसारण करने पर 'अन्तरंग पूर्वरूप'[४] के न होने से 'आलोप' की प्राप्ति, प्राप्तिमात्र है। यहाँ प्रस्तुत परिभाषा द्वारा आलोप को अनित्य न मानकर कृताकृत-प्रसंगी मात्र से नित्य ही माना जाता है। अतः परत्व से आलोप होकर पश्चात् सम्प्रसारण तथा 'यण्' आदेश होकर उक्त रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'त्वापयति'[५] में 'त्व+अद्+इ' इस अवस्था में पररूप तथा टि लोप प्राप्त हैं। टि लोप पररूप के कृत-अकृत में भी प्राप्त है। पररूप करने पर 'प्रकृत्यैकाच्'[६] सूत्र से प्रकृतिभाव होने से 'टि लोप' की प्राप्ति मात्र है। यहाँ इस परिभाषा से अनित्यत्व का निषेध होकर नित्य होने से टिलोप पहले होकर रूप सिद्ध हो जाता है। **समीक्षा**— यह परिभाषा पूर्ववर्ती परिभाषा की प्रपञ्चभूत है। अनित्यता कहाँ नहीं मानी जाती, इसका उल्लेख किया गया है।

(१०२) यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्।।प०४८।।

परिभाषा का उपक्रम— कहीं-कहीं कार्य को नित्य' कहने के लिए, यह आवश्यक समझा जाता है कि जब वह कार्य पुनः प्रवृत्त हो तो किसी बाधक कार्यान्तर

---

१. प०शे०, परि०सं० ४६।

२. 'वचिस्वपियजादीनां किति' अष्टा० ६/१/१५।

३. 'आतो लोप इटि च' अष्टा० ६/४/६४।

४. 'सम्प्रसारणाच्च', अष्टा० ६/१/१०८।

५. युष्मद् शब्द, णिच्, मपर्यन्त का 'त्व' टि लोप, वृद्धि, पुक् आगम 'त्वापि', लट्।

६. शा० कला, पृ० २२४।

से बाधित न हो और उसकी पुन: प्रवृत्ति भी फलवती हो=इस प्रकार उक्त व्यवहार नित्यत्व प्रयोजक के लिए गृहीत किया जाता है। फलत: इस प्रकार के प्रसंग का अभाव होने पर वह 'अनित्य' माना जाता है, इसी का प्रतिपादन इस परिभाषा से किया गया है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जिस कार्य का निमित्त तत्काल प्राप्त होने वाले कार्यान्तर के हो जाने पर किसी अन्य विधि-शास्त्र के द्वारा नष्ट हो जाता है, (तब) वह भी (कभी-कभी) अनित्य माना जाता है।

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा तथा पूर्व की परिभाषा दोनों लोकन्याय-सिद्ध हैं। वाचनिक नहीं है। इनकी न्यायसिद्धता दिखलाने के लिए कैयट ने 'स्वमोर्नपुंसकात्'[१] सूत्र के भाष्य की व्याख्या में दो लौकिक दृष्टान्त दिये हैं— **(क)** लोक-व्यवहार ऐसा है कि 'जब बाली और सुग्रीव युद्ध कर रहे थे, भगवान् राम ने बालि को मार दिया,' ऐसा होने पर (भी) सुग्रीव को बाली से बलवतर नहीं कहते हैं। **(ख)** परन्तु 'कौरव-पाण्डव-युद्ध में भगवान् कृष्ण की सहायता से पाण्डवों को जय प्राप्त हुआ', (फिर भी) इन पाण्डवों को कौरवों से बलवत्तर कहते हैं। दोनों का जय, भगवान् की सहायता से होने के कारण एक प्रकार का है। इसी प्रकार प्रकृति में भी किसी अन्य शास्त्र के द्वारा निमित्त-विघात के 'बाधकाबाधित०'[२] के एक समान (निर्विशेष) होने पर एक स्थल में पूर्वशास्त्र की नित्यता मान ली जाती है, दूसरे स्थल में नहीं।[३] इस प्रकार फलत: कहीं नित्यता और कहीं अनित्यता स्वीकार की जाती है। **अति प्रसंग की निवृत्ति**— यह सम्पूर्ण व्यवस्था 'लक्ष्य के अनुरोध' से व्यवस्थित होकर अति प्रसंग का निवारण करती है। उसमें कहाँ केवल कृताकृत-मात्र को ही नित्य कहेंगे, और कहाँ बाधक से बाधित न होकर फल की सिद्धि फलवती हो, इस प्रसंग के होने पर ही नित्य कहा जायेगा? यह बात लक्ष्य के अनुसार और व्याख्यान से स्पष्ट होती है— ऐसा समझना चाहिए।[४]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'स्योन:'[५] (सिव्+न') में गुण कार्य अनित्य हो जाता है। सिव्+न में 'च्छो:' शूडनुनासिके च'[६] सूत्र से 'व्' के स्थान में 'ऊठ्' (ऊ) प्राप्त होता है, 'पुगन्तलघूपधस्य[७] च' सूत्र से इ के स्थान में गुण प्राप्त होता है। यहाँ गुण अनित्य है, क्योंकि 'व्' के स्थान में 'ऊठ्' होने पर 'सि+ऊ+न'

१. प्र० ७/१/२३।

२. 'बाधकाबाधितफलोपहित-प्रसङ्गी' अभाव की तुल्यता द्र० प०शे०, पृ० २३३ तथा गूढार्थ०, पृ० २३५।

३. गूढार्थ०, पृ० २३४। ४. प०शे०, पृ० २३४।

५. 'सिव्' से औणादिक 'न' प्रत्यय, व् का 'ऊठ्', यण्, गुणादि होकर निष्पन्न रूप।

६. अष्टा० ६/४/१९। ७. वही, ७/३/८६।

'इको यणचि'[१] सूत्र से गुण के निमित्त इ का अपहार हो जाता है, क्योंकि इ के स्थान में यण् हो जाता है। इस प्रकार गुण अनित्य होने से यणादेश हो जाता है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा भी पूर्व परिभाषा का विकल्प प्रस्तुत करती है। कहीं-कहीं लक्षणान्तर से निमित्त नष्ट होने पर भी अनित्य मान लिया जाता है।[२] यह परिभाषा प्राचीन किसी भी परिभाषा पाठ में नहीं मिलती है। नागेश ने स्यात कैयट के आधार पर प्रस्तुत की है। इन्होंने कैयट का[३] प्रमाण देते हुए परिभाषा को लोकन्याय सिद्ध तथा इसकी प्रवृत्ति का उल्लेख किया है। नागेश लक्ष्यानुसार ही इसका प्रवृत्ति-निमित्त मानते हैं। इस प्रकार नागेश ने संक्षेप में ही परिभाषा का व्याख्यान प्रस्तुत किया है। यह परिभाषा इस रूप में केवल जैनेन्द्र ने प्रस्तुत की है।[४] नागेश ने स्यात् भाष्य[५] के आधार पर पाठ किया है। इस परिभाषा का अर्थ जैनेन्द्र एवं नागेश किसी ने भी नहीं प्रस्तुत किया है। स्यात् अति सरल होने के कारण नहीं प्रस्तुत किया गया होगा। जैनेन्द्र ने इसका उदाहरण देते हुए उसमें परिभाषार्थ भी घटाया है। नागेश ने कोई उदाहरण नहीं दिया है। नागेश इसको लोकन्यायसिद्ध मानते हैं। परिभाषा के प्रवृत्ति पर भी नागेश ने विचार किया है। इस सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने कुछ नहीं कहा है। नागेश लक्ष्यानुसार ही इसका प्रवृत्ति-निमित्त मानते हैं।

(१०३) स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति।।प०४९।।

परिभाषा का उपक्रम— विधि शास्त्र की अनेकविध अनित्यताओं में यह परिभाषा भी एक प्रकार की अनित्यता का ज्ञान करवाती है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— स्वर (उदात्त आदि) के भेद से, भेद को प्राप्त हुए शब्दरूप को प्राप्त होने वाली विधि (कार्य) भी अनित्य होती है। (भिन्न स्वर भी नया शब्द बना देता है।)

बलवत्ता के दो हेतुओं में नियम व्यवस्था— नागेश इस प्रसंग में किसी के मत का उल्लेख करते हैं। जिस लक्ष्य में एक ही कार्य पर भी हो और नित्य भी हो, वहाँ उनमें से किसी एक (परत्व या नित्यत्व) को मानकर अथवा दोनों (परत्व एवं नित्यत्व) को मानकर उस कार्य का बलवत्व जानना चाहिए, इसीलिए कहीं दोनों के ही बलवत्व में नियामक होने से ही भाष्य में कहीं-कहीं 'परत्वात्, नित्यत्वाच्च' ये दोनों

---

१. अष्टा०, ७६/१/७७।

२. प०शे०, पृ०२४६ 'सिद्धान्ते नित्यत्वात् पूर्वमूढ, गुणस्तूठि यणा बाधितत्वादनित्य:०'।

३. प्र० ७/१/२३।

४. जैनेन्द्र पाठ, परि० सं० ७९।

५. म०भा० ६/३/११२।

कहे गये हैं।[१] **(क) नागेश मत**— वस्तुत: नागेश का यह विचार है कि 'परत्वात्' यह युक्ति एकदेशी भाष्य की है।[२] 'णौ' चङ्युपधाया ह्रस्व:'[३] सूत्र के भाष्य में कहा है कि यहाँ ह्रस्व की अपेक्षा द्वित्व के नित्य और अन्तरङ्ग होने पर भी प्रथम प्रवृत्ति होती है। उपधा-ह्रस्व होने से पूर्व तथा पश्चात् द्वित्व की प्राप्ति होने से द्वित्व नित्य है और उपधा-ह्रस्व के चङ्परक णि की अपेक्षा करने से और द्वित्व के चङ्मात्र की अपेक्षा करने से, अन्तर्गत निमित्तक होने पर द्वित्व अन्तरंग है। नित्यता के कारण प्रथम प्रवृत्ति होती है— इतना ही भाष्य में कहा है।[४] इसी प्रकार यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि नित्य अथवा अन्तरंग शास्त्र तभी बलवत्तर होते हैं और शास्त्रान्तर को बाधकर पूर्व प्रवृत्त होते हैं, जब उनका दूसरे शास्त्र के साथ युगपत्-प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो, क्योंकि बाध्य-बाधक दोनों समान विषय वाले होने चाहिए।[५]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा का उदाहरण 'दध्युदकम्' है। 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य'[६] इस 'फिट्सूत्र' से दधि शब्द आद्युदात्त है। अत: अनुदात्त इ के स्थान में 'यण्'[७] प्राप्त होता है। परन्तु 'उदकेऽकेवले'[८] सूत्र से मिश्रवाची समास (दधिमिश्रं उदकं='दध्युदकम्') में उदक शब्द उत्तर पद होने पर पूर्वपद अन्तोदात्त होता है। इस प्रकार पहले अनुदात्तान्त 'दधि' का इकार में उदात्त हो जाता है। अत: 'यण् स्वर-भिन्न शब्द रूप को प्राप्त होने से अनित्य है। अत: 'उदकेऽकेवले' सूत्र की पूर्व प्रवृत्ति होने से अन्तोदात्त इ को यण् होगा, जिससे 'उदात्तस्वरितयोर्यण: 'स्वरितोऽनुदात्तस्य'[९] सूत्र से 'उदकम्' का उ 'स्वरित होता है, यही इष्ट है। इसी प्रकार 'श्व: कर्ता'[१०] आदि प्रयोगों में भी इष्ट सिद्ध होता है। यहाँ (कर्+तास्+त) अवस्था में 'तास्यनुदात्तेत्०'[११] सूत्र से ल् को अनुदातत्व और 'लुट: प्रथमस्य डारौरस:'[१२] सूत्र से 'डा', इन दोनों की प्राप्ति होती है और दोनों ही कृताकृत प्रसंगी होने से नित्य होने पर भी, स्वर से शब्दान्तर बन जाने के कारण 'डा' स्वर-भिन्न को प्राप्त होने से 'अनित्य' है। (अत: दोनों के अनित्य होने से परत्व से ल् सार्वधातुक अनुदात्त होकर डादेश, टिलोप होने पर उदात्त निवृत्तिस्वर से उदात्तस्वर सिद्ध होता है) इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

---

१. प०शे०, पृ० २३५।
२. प्र० तथा उ० १/४/२। तथा गूढार्थ०, पृ० २३६।
३. अष्टा० ७/४/१।
४. म०भा० ७/४/१।
५. प०शे०, पृ० २३६।
६. फिट्-सूत्र, द्वितीय पाद, सूत्र सं० २६।
७. अष्टा० ६/१/७७।
८. वही, ६/२/७७।
९. वही, ८/२/४।
१०. 'कृ' धातु, आत्मनेपद में लुट् लकार, प्र०पु०ए०।
११. अष्टा० ६/१/१८६।
१२. वही, २/४/८५।

समीक्षा— यह परिभाषा भी अनित्य का लक्षण प्रस्तुत करती है। यह परिभाषा भी प्राचीन किसी भी परिभाषा पाठ में नहीं मिलती है।[१] नागेश ने भाष्य[२] के आधार पर पाठ किया है। इस परिभाषा का अर्थ, उदाहरणादि नागेश ने नहीं प्रस्तुत किये हैं। परन्तु प्रसंगत: एक ही कार्य में परत्व, नित्यत्व प्राप्त होने पर किसकी बलवत्ता मानी जाय? इस पर सप्रमाण अपना अभिमत प्रकट किया है। इसी प्रकार नित्य तथा अन्तरंग में बलवत्ता का हेतु भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नागेश ने ८ परिभाषाओं को प्रस्तुत करके नित्य तथा अनित्य विषय का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है।

(१०४) साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगति:।।प०७७।।

परिभाषा का उपक्रम— प्रश्न यह है कि 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो:'[३] सूत्र में अञ्च् 'धातु का ग्रहण नियमार्थ माना गया है, धातु को यदि उगित्-कार्य हो तो अञ्च् को ही हो'। इस नियम से ही 'अधातु-अन्य उगित् धातु को 'नुम्' सिद्ध हो सकता है। (नुम् होता ही नहीं) तो पुन: सूत्र में 'अधातो:' ग्रहण की व्यर्थता प्राप्त होती है। फलत: वैयर्थ्य-रूप ज्ञापक से यह परिभाषा सिद्ध होती है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— वर्तमान काल में अपनी प्रथमावस्था से पृथक् विशेषण होने पर, उसी भूतपूर्व-पूर्वावस्था के सम्बन्ध से उसका वर्तमान में ज्ञान करते हैं अर्थात् वर्तमान के अभाव में जो शब्द-रूप पूर्व विद्यमान था, उसका आश्रयण होता है, उसको आश्रित करके शास्त्रीय कार्य किये जाते हैं।

परिभाषा का आशय— जब कोई शब्द उस अर्थ को नहीं कह सकता, जो उसका वर्तमान अर्थ है, तो वह उस अर्थ को कहता है, जो उसका पहले था। (भाव यह है कि शास्त्र कार्य की प्रवृत्ति के समय उस-उस निमित्त के न होने से, उस-उस शास्त्र पठित शब्द की सार्थकता के लिए (कहीं वह अनर्थक न हो जाय) भूतपूर्व तादृश धर्म को भी आश्रित करके वह-वह शास्त्रीय कार्य होता है।[४]

परिभाषा में हेतु— यह परिभाषा लोक-व्यवहार सिद्ध है। लोक में जैसे देवदत्त के घर के ऊपर स्थित काक के उड़ने पर 'काकवद्देवदत्तस्य गृहम्' ऐसा कहा जाता है। अथवा जैसे देवदत्त जब अपने घर को बेच देता है और दूसरा कोई उसे खरीद लेता है, तब भी 'वह देवदत्त का घर है' ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार यह परिभाषा तत्तत् वचन सामर्थ्य रूप जो न्याय है, उसी के कारण सिद्ध हो जाती है। यथा 'उगिदचां०'[५] सूत्र में 'अज्'-ग्रहण सामर्थ्य से 'अजन्तभूतपूर्व से' यह अर्थ भी गृहीत है।

---

१. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।
२. म०भा० ८/२/६।
३. अष्टा० ७/१/७०।
४. गूढार्थ०, पृ० ४०३-४०४।
५. अष्टा० ७/१/७०।

परिभाषा का प्रयोजन— इसी परिभाषा के साहाय्य से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र में 'अधातोः' का ग्रहण व्यर्थ न हो, अतः जो अब कार्यप्रवृत्ति के समय अधातु नहीं, पर जो पहले अधातु था, उसे भी शास्त्रकार्य 'नुम्' हो जाता है। जैसे 'गोमान्' इत्यादि में 'नुम्' सिद्ध होता है। यहाँ प्रथम तो 'गोमान्' प्रातिपदिक है। पश्चात् 'गोमत्' (मतुबन्त) से 'क्यच्'[१] हुआ है और 'गोमत्य' (क्यजन्त) धातु[२] हो गयी है। पुनः क्यच् प्रत्ययान्त से कर्ता में 'क्विप्'[३] आने पर 'लोपोव्योर्वलि'[४] सूत्र से 'य्' का लोप होने पर 'गोमत्' रूप सिद्ध होता है। क्विबन्त 'गोमत्' क्यजन्त की तरह धातु ही रहता है, अधातु नहीं, क्विबन्त कृदन्त होने पर भी धातु ही है,[५] तो भी भूतपूर्व गत्या यह 'अधातु' था। अतः 'अधातु' ग्रहण-सामर्थ्य से 'नुम्' होता है। इस प्रकार 'अधातु' निषेध भी सार्थक रहता है। इसी प्रकार 'कुमार्यै ब्राह्मणाय' रूप सिद्ध होता है। यहाँ 'कुमारी' शब्द प्रथम अवस्था में स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त है, तब तो स्न्याख्य ईकारान्त नदी[६] संज्ञा सिद्ध है, पश्चात् जब पुल्लिंगवाची हो गया तब भी पूर्वावस्था के भूतपूर्व स्त्रीत्व को लेकर नदीसंज्ञा होकर नदी संज्ञा के कार्य होते[७] हैं— इत्यादि[८] अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा शब्द और अर्थ की वर्तमान अवस्था में उसकी पूर्व अवस्था का सम्बन्ध मानकर कार्य करने का निर्देश करती है। पहली अवस्था से पृथक् शब्द में पूर्वावस्था का सम्बन्ध भी माना जाता है। इसी को 'भूतपूर्व गति' भी कहते हैं। इस प्रकार इसको मानकर अनेकानेक लक्ष्य सिद्ध होते हैं। यह परिभाषा इसी रूप में पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने मानी है।[९] व्याडि, शाकटायन तथा चन्द्र ने कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[१०] कातंत्र, भोज और हेम ने कुछ पाठान्तर से स्वीकृत की है।[११] इस प्रकार केवल जैनेन्द्र ने नहीं मानी है। इस परिभाषा के ज्ञापक तथा हेतु के विषय में प्राचीनों तथा नागेश में मतभेद है। व्याडि ने 'ओक उचः[१२] के सूत्र में 'उच्' से विधान को ज्ञापक माना है तथा इसका उपपादन भी किया है।[१३] कातंत्र

---

१. अष्टा० ३/१/८
२. 'सनाद्यन्ता धातवः', अष्टा० ३/१/३२।
३. 'क्विप्' च अष्टा० ३/२/७६।
४. अष्टा० ६/१/६६।
५. वचन-क्विबन्ता धातुत्वं न जहति।
६. अष्टा० १/४/३।
७. 'आण् नद्याः' अष्टा० ७/३/११२।
८. वृक्षैः, अग्नीनाम्, आञ्छ् आदि।
९. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
१०. 'भूतपूर्वगतिरिह शास्त्रे' व्याडिपाठ, परि० सं० १४, शाकटायनपाठ, परि० सं० १८, चान्द्र वृत्ति, परि० सं० ८२।
११. 'भूतपूर्वकस्तद्वदुपचार': कातंत्रपाठ, परि०सं० ५०, हेमपाठ, परि०सं० ८, भोजपाठ, परि० सं० ३८।
१२. अष्टा० ७/३/६४।
१३. व्याडि पाठ, परि० सं० १४।

ने ज्ञापकसिद्ध मानते हुए स्वीयसम्मत सूत्र का ज्ञापक प्रस्तुत किया है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'अचो[१]यत्' सूत्र में 'अज्-ग्रहण' को ज्ञापक मानते हुए उपपादित भी किया है।[२] परन्तु नागेश ने इनसे विपरीत 'उगिदचां०'[३] सूत्र में 'अधातु-ग्रहण' को इसका ज्ञापक मानते हुए न्यायसिद्ध माना है। इस परिभाषा का अर्थ सभी में समान है। व्याडि[४] आदि ने इसका अर्थ प्रस्तुत किया है। परन्तु नागेश ने अर्थ नहीं बतलाया है। इसके प्रयोजनस्वरूप उदाहरणों का पूर्ववर्ती सभी व्याख्याकारों ने विस्तार से निरूपण किया है। नागेश ने अति संक्षिप्त व्याख्या लिखते हुए एक ही उदाहरण देकर विश्रान्ति ली है।

(१०५) बहुब्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि।।प०७८।।

परिभाषा का उपक्रम— नागेश ने इस परिभाषा का उपक्रम कुछ नहीं लिखा है। बहुब्रीहि समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है अर्थात् जिन दो अथवा अधिक पदों का समास किया जाता है, उन पदों से पृथक् पदवाच्य 'अन्य पदार्थ' कहलाता है। यथा 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[५], 'चित्रगुः,[६] शबलगुः' यहाँ गौओं का विशेषण चित्र गुण और गौ— इन दो पदों से भिन्न इनका स्वामी 'चित्रगु' कहलाता है। इसी प्रकार यदि 'सर्व आदिर्येषां तानि-सर्वादीनि' यहाँ सर्व और आदि दोनों शब्दों से पृथक् अन्य पदार्थ लिया जाय तो 'सर्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं हो सकती है? इसलिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— बहुब्रीहि समास में तद्गुण संविज्ञान- विशेषणभूत अवयव पदार्थों का भी संविज्ञान (कार्यान्वयी रूप से भी बोध) होता है। उसे 'तद्गुण संविज्ञान' बहुब्रीहि कहते हैं।

परिभाषा का आशय— बहुब्रीहि दो प्रकार का होता है (एक) तद्गुण संविज्ञान और (दूसरा) अतद्गुण संविज्ञान। 'तद्' शब्द से बहुब्रीहि का परामर्श है। गुण शब्द विशेषणवाची समास-घटक अवयव-वर्ति पदार्थपरक है। 'अपि' शब्द से वर्तिपदार्थों का कार्यान्वितया बोध नहीं भी होता है— ऐसी विवक्षा है=ऐसे बहुब्रीहि समास को 'अतद्गुण संविज्ञान' बहुब्रीहि कहते हैं।

---

१. अष्टा० ३/१/९१।

२. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० १५, सीरदेव वृत्ति, परि० सं० ३७, नीलकण्ठ वृत्ति, परि० सं० ५५, हरिभास्कर वृत्ति, परि० सं० ५९।

३. अष्टा० ७/१/७०।

४. कातंत्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

५. अष्टा० १/१/२७।

६. 'चित्रा गौःयस्य' अथवा 'चित्रा गावो यस्य'=चित्रगुः।

तद्गुण-संविज्ञान एवं अतद्गुण संविज्ञान का तात्पर्य— 'तद्गुण संविज्ञान' का तात्पर्य यह है कि जहाँ उस अन्य पदार्थ के साथ उसके निज गुणों का समवाय सम्बन्ध है, वहाँ प्रायः[१] 'तद्गुण संविज्ञान' होता है, अन्यत्र[२] प्रायः[३] 'अतद्गुण संविज्ञान।' 'अतद्गुण संविज्ञान' वह है कि जिन पदों का समास किया जाता है, उनसे अन्य पदार्थ का पृथक् सम्बन्ध बना रहता है।

परिभाषा का प्रयोजन— (क) तद्गुण-संविज्ञान का उदाहरण— इस परिभाषा के होने से 'लम्बकर्णमानय'[४] 'तुङ्गनासिकः', 'दीर्घबाहुः', 'क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः' इत्यादि में अन्य पदार्थ का बोध 'कान' आदि के सहित होता हैं— प्रथम-लम्बकर्ण में, अन्य पदार्थ देवदत्तादि के साथ लम्बकर्ण का अवयवावयवि-भाव होने से 'समवाय-सम्बन्ध है। लम्बकर्ण देवदत्त को जब लाया जाता है तो लम्बा कान भी साथ ही आ जाता हैं, इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन समझने चाहिए।[५] **(ख) अतद्गुण संविज्ञान का उदाहरण**— 'चित्रगुमानय' (चितकबरी गोओं वाले को लाओ) यहाँ अन्य पदार्थ 'चित्रगु' पुरुष लाया जाता है, चितकबरी गौये नहीं लायी जाती। यहाँ चितकबरी गायों का चित्रगु पुरुष के साथ स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध है, समवाय नहीं। अतः यह 'अतद्गुण संविज्ञान' बहुब्रीहि है।

व्याख्या में प्रायः-ग्रहण का दोनों प्रकारों में लौकिक उदाहरण— (क) तद्गुण-संविज्ञान में प्रायः का उदाहरण— प्रायः-ग्रहण से 'लम्बकर्णौ भोज्यताम्' यहाँ कर्ण का अन्य पदार्थ देवदत्तादि के साथ समवाय सम्बन्ध होने पर भी 'तद्गुणसंविज्ञान' नहीं है, क्योंकि भोजन क्रिया में कर्ण का अन्वय नहीं हो सकता है। **(ख) अतद्गुण संविज्ञान में प्रायः का उदाहरण**— इसी प्रकार 'चित्रवाससमानय' में वासस् का देवदत्तादि के साथ संयोग सम्बन्ध होने पर 'तद्गुण संविज्ञान' है, क्योंकि 'वासस्' का

---

१. कहीं अन्य पदार्थ के साथ निज गुणों का समवाय सम्बन्ध भी नहीं होता है जैसे 'लम्बकर्णं भोजय' में अवयवार्थों का भुजि-क्रिया में अन्वय नहीं होता। इसी प्रकार अन्य उदाहरण='तुङ्नासिकं, दीर्घबाहुं', क्लृप्तकेश-नशश्मश्रुं वा भोजय आदि।

२. समवाय-भिन्न अन्य सम्बन्ध से समस्त पदों का अन्य पदार्थ से पृथक् सम्बन्ध बना रहे, वह 'अतद्गुण संविज्ञान' है।

३. कहीं पृथक् सम्बन्ध नहीं भी रहता है,जैसे 'चित्र-वाससं पश्य' में चित्र का भी सम्बन्ध है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी 'रक्तदण्ड आनीयताम्, 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'।

४. लम्ब कर्ण वाले को लाओ- इसमें लम्बे कान वाले मनुष्य का बोध होता है।

५. तुङ्ग नासिका का,दीर्घ बाहुओं का, क्लृप्तकेशखनश्मश्रु का अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध।

क्रिया में अन्वय है। इसी प्रकार क्रमशः दोनों के शास्त्रीय उदाहरण। **(ग) तद्गुण-संविज्ञान में शास्त्रीय उदाहरण**— 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[१] में 'सर्वादीनि'[२] में 'आदि' शब्द आद्य अवयवपरक है, अतः अवयव अवयविभाव होने से यह 'तद्गुण-संविज्ञान' बहुब्रीहि है, इससे सर्व शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा सिद्ध होती है। **(घ) अतद्गुण संविज्ञान में शास्त्रीय उदाहरण**— 'जक्षित्यादयः[३]षट्' यहाँ 'इत्यादयः' इस बहुब्रीहि में आदि शब्द व्यवस्थावाचक पूर्वपरक है। यहाँ न समवाय सम्बन्ध है न संयोग, किन्तु पौर्वापर्य सम्बन्ध है। अतः यह 'अतद्गुण संविज्ञान' बहुब्रीहि है। सूत्रार्थ इस प्रकार होता है, जक्ष धातु है आदि (पूर्व) जिन ६ धातुओं के वे सात धातुएँ अभ्यस्त संज्ञक होती हैं।[४] इसी प्रकार अन्यत्र[५] भी जानना चाहिए।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा बहुब्रीहि के विषय को स्पष्ट करती है। यह परिभाषा इसी रूप में शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[६] व्याडि और नीलकण्ठ ने कुछ भिन्न रूप में पढ़ी है।[७] चान्द्र, कातंत्र, जैनेन्द्र, भोज एवं हैम ने नहीं मानी है। इस परिभाषा का अर्थ सभी ने एक ही जैसा माना है। नागेश ने भी वैसा ही माना है। परन्तु ये नीलकण्ठ का ही अनुकरण कर अर्थ करते हैं— प्रतीत होता है। वैसे पूरी व्याख्या ही नागेश ने नीलकण्ठ के आधार पर की है।[८] इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कोई मतभेद नहीं है। व्याडि ने इसको केवल ज्ञापकसिद्ध मानते हुए 'आढ्यसुभग०'[९] सूत्र में 'अच्वौ' ग्रहण का ज्ञापक उपपादित किया है।[१०] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसका ज्ञापक उक्त सूत्र में 'अच्वौ' को प्रस्तुत करते हुए लोक-न्याय-सिद्ध भी माना है।[११] नीलकण्ठ ने इसका कोई हेतु नहीं दिया है। इसी का अनुकरण करते हुए नागेश ने भी कोई हेतु नहीं प्रस्तुत किया

१. अष्टा० १/१/२७।

२. 'सर्व शब्द आदिर्येषां तानि इमानि-सर्वादीनि' द्र०म०भा० १/१/२७।

३. अष्टा० ६/१/६, म०भा० ६/१/६ एवं उ०भी० 'समीपवाची' पर टि०।

४. म०भा० ६/१/६।

५. 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६/१/१) 'एकाचः' पद- द्र० म०भा० ६/१/१ एवं २/२/४।

६. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

७. 'भवति च बहुब्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि' व्याडि पाठ, परि० सं० ८, नीलकण्ठवृत्ति, परि० सं० ५६।

८. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०५६। ९. अष्टा० ३/२/५६।

१०. व्याडि पाठ, परि० सं० ८।

११. पुरुषोत्तमदेववृत्ति, परि० सं० ६, सीरदेववृत्ति, परि० सं० ४२, हरिभास्करवृत्ति, परि० सं० ४४।

है। परन्तु गदाकार के अनुसार यह लोकन्यायसिद्ध तथा ज्ञापकसिद्ध भी है, ऐसा नागेश का मत है।[१] इस परिभाषा के प्रयोजन स्वरूप दो पक्षों का उदाहरण सभी ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ ने एक-एक ही उदाहरण दिये हैं। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण करते हुए एक-एक उदाहरण ही प्रस्तुत कियें हैं।

(१०६) चानुकृष्टं नोत्तरत्र।।प०७९।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'वद: सुपि[२] क्यप् च' सूत्र में चकार से अनुकृष्ट 'यत्' प्रत्यय की उत्तरसूत्र 'भुवो भावे'[३] सूत्र में भी अनुवृत्ति होनी चाहिए? तथा 'ब्रह्मणो भाव: ब्रह्मभूयम्'[४] के समान 'ब्रह्मभव्यम्'[५] का भी प्रयोग होना चाहिए? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— चकार से अनुकृष्ट (आगे खींचे हुए प्रत्यय आदि) की अनुवृत्ति उत्तर सूत्र में नहीं होती है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा का 'स्वादुमि णमुल्'[६] सूत्र से 'णमुल्' की अनुवृत्ति होने पर 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञ: क्त्वाणमुलौ'[७] सूत्र में 'णमुल्' ग्रहण ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो 'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृञ: क्त्वा च' ऐसा सूत्र न्यास करते? पुन: परिभाषा के ज्ञापित होने पर चकार पढ़ने पर उत्तरसूत्रों[८] में 'णमुल् की अनुवृत्ति न होती। इष्ट यही है कि क्त्वा और णमुल् दोनों की समकक्षतया उत्तरत्र अनुवृत्ति हो। अत: सूत्र में 'णमुल्' ग्रहण चरितार्थ हो जाता है।[९]

परिभाषा की अनित्यता— यह परिभाषा अनित्य हैं कहीं प्रवृत्त होती है, कहीं नहीं भी। प्रवृत्ति, निवृत्ति व्यवस्थित है। दो प्रकार से चकार का प्रयोग हुआ है— **(एक)** जो विधेय घटित[१०] सूत्र से अव्यवहित सूत्र में पढ़ा है, **(दूसरा)** जो व्यवहित[११] सूत्र

---

१. गदा, पृ० १७०। २. अष्टा० ३/१/१०६।

३. वही, ३/१/१०७।

४. 'ब्रह्मणो भाव:'=इस अर्थ में 'ब्रह्म' सुबन्त उपपद रहते 'भू' से क्यप्।

५. ब्रह्म उपपद, भू, यत् होकर गुण तथा वान्त 'व्' आदेश होकर उक्त रूप।

६. अष्टा० ३/४/२६। ७. वही, ३/४/५९।

८. 'तिर्यच्यपवर्गे' अष्टा० ३/४/६०के आगे के ३/४/६१-६२,६३,६४ तक।

९. प०शे०, पृ० ४०५।

१०. जिसमें विभक्ति एवं प्रत्यय का विधान किया गया हो, जैसे 'कर्मणि द्वितीया' इससे अव्यवहित अनन्तर 'तृतीया च०' (२/३/३) सूत्र है।

११. प्रत्यय रूप विधेय घटित सूत्र से व्यवहित अनन्तर पर विद्यमान सूत्र में 'च' का पाठ हो—'यथा—अचो यत्' (३/१/९७) सूत्र से 'वद:सुपि क्यप् च' (३/१/१०६) है।

में पढ़ा है। दूसरे प्रकार के चकार के होने पर इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है, प्रथम प्रकार के चकार में नहीं। **(क) अनित्यत्व का फल— निवृत्ति**— इसके अनित्य होने के कारण ही 'तृतीया च[१] होश्छन्दसि' यह सूत्र, 'कर्मणि द्वितीया'[२] इस विधेय घटित सूत्र से अव्यवहित अनन्तर है और इसमें 'चकार' पढ़ा है। इस चकार से अनुकृष्ट द्वितीया, उत्तरसूत्र 'अन्तरान्तरेण'[३] युक्ते में सम्बद्ध होती ही है। यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। **'प्रवृत्ति**— यत्' प्रत्यय रूप विधेय घटित 'अचो यत्'[४] इस सूत्र से दूर व्यवहित 'वदः सुपि क्यप् च'[५] सूत्र में पठित चकार से अनुकृष्ट 'यत्' प्रत्यय 'भुवो भावे' सूत्र में अनुवृत्त नहीं होता। यहाँ परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है।[६]

सकलचकार-प्रत्याख्यान का तात्पर्य— 'लुटि च क्लृपः'[७] सूत्र के भाष्य में जो अनुवृत्त्यर्थक सभी चकारों का प्रत्याख्यान किया है, जिसका भाव यह है कि भाष्यकार आदि के व्याख्यान से ही किसी सूत्र में किसी पद की अनुवृत्ति आ रही है अथवा वह पद निवृत्त हो गया है—इसका ज्ञान हो जाता है।[८] इसमें प्रमाण 'कुलिजाल्लुक्खो'[९] च, सूत्र के भाष्य के साथ विरोध होने से भी यह परिभाषा मान्य नहीं है। वहाँ भाष्यकार 'लुक्खौ' को व्यर्थ मानते हैं। वे 'द्विगोःष्ठंश्च'[१०] सूत्र से 'ष्ठन्' की अनुवृत्ति इस सूत्र[११] में मानते हैं और 'आढकाचित०'[१२] सूत्र से 'खोऽन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति भी, यद्यपि खोऽन्यतरस्याम्, द्विगोः ष्ठंश्च' में सूत्र पठित चकार से अनुकृष्ट है। इस प्रकार असंगति स्पष्ट ही है।[१३] **परिभाषा का प्रयोजन**—इस परिभाषा के होने से 'वदः सुपि क्यप्[१४] च' सूत्र में चकार से अनुकृष्ट 'यत्' की अनुवृत्ति 'भूवो भावे'[१५] सूत्र में नहीं होती है, क्यप् की अनुवृत्ति तो होती ही है— इस प्रकार अन्य प्रयोजन समझने चाहिए।

समीक्षा— यह परिभाषा चकार के द्वारा अनुकृष्ट पद की अग्रिम सूत्र अथवा सूत्रों में अनुवृत्ति होती है अथवा नहीं? इसी की व्यवस्था करती है। चकार से अनुकृष्ट पद की आगे अनुवृत्ति नहीं मानी जाती है। यह परिभाषा इसी रूप में सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने मानी है। व्याडि तथा पुरुषोत्तमदेव ने कुछ भिन्न-भिन्न रूप में मानी

---

१. अष्टा० २/३/३। २. वही, २/२/१।
३. वही, २/३/४। ४. वही, ३/१/९७।
५. वही, ३/१/१०६। ६. वही, ३/१/१०७।
७. म०भा० १/३/९३। ८. प्र० १/३/९३।
९. म०भा० ५/१/५५। १०. अष्टा० ५/१/५४।
११. अष्टा० ५/१/५५ कुलिजाल्लुक्खौ च।
१२. अष्टा० ५/१/५३। १३. गूढार्थ०, पृ०४०७, गदा, पृ०१७२।
१४. अष्टा० ३/१/१०६। १५. वही, ३/१/१०७।

है।[१] शाकटायन चान्द्र, भोज एवं हेम ने भी ऐसा पाठ किया है। इस परिभाषा का अर्थ सभी में समान है। परिभाषा का हेतु भी व्याडि, आदि सभी तथा नागेश एक ही प्रकार का मानते हैं। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने ज्ञापकसिद्ध मानते हुए 'अव्ययेऽयथाभि०'[२] सूत्र में 'णमुल्' ग्रहण का ज्ञापक प्रस्तुत किया है। नागेश भी यही मानते हैं। यह परिभाषा अनित्य भी मानी जाती है— इसका निर्देश पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने किया है। नागेश ने भी अनित्य मानी हैं। परन्तु इन्होंने इसका कोई हेतु अथवा ज्ञापक नहीं प्रस्तुत किया है। किन्तु पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने ज्ञापक प्रस्तुत किया है। 'एकाजुत्तरपदे[३] णः' में 'ण' ग्रहण ज्ञापक है। नीलकण्ठ इसका ज्ञापक 'तयोरेव कृत्यक्त०'[४] में 'एव' ग्रहण मानते हैं। परिभाषा का उदाहरण सभी में एक ही समान है। नागेश ने भी वे प्रस्तुत किये हैं। अनित्य का प्रयोजन नागेश ने प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्ती किसी ने भी उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया है। व्याडि ने अनित्य का उल्लेख नहीं किया है।[५] प्रसंगतः नागेश ने परिभाषा के प्रवृत्ति-विषय की उपयोगिता पर विचार किया है। सीरदेव ने भी इस पर विचार करते हुए जहाँ स्वरित से अनुवृत्ति सिद्ध होने पर चकार से अनुकर्षण करते हैं, वहाँ यह प्रवृत्त होती है, ऐसा प्रतिपादित किया है। नागेश इनसे असहमत प्रतीत होते हैं। भाष्य-प्रमाण्य से इस परिभाषा का खण्डन कर दिया है।

(१०७) स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्।।प०८०।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह होती है कि जो कार्य अनुदात्तादि से परे को अन्तोदात्त से परे को कहा है, वह लक्ष्य के व्यञ्जनादि अथवा व्यञ्जनान्त होने पर नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि अनुदात्त आदि स्वरों के धर्म[६] है। अतः उदात्तादि प्राप्त न होने से तन्निमित्तक कार्य नहीं हो सकेगा? इसके निवारणार्थ प्रस्तुत परिभाषा है।[७]

परिभाषा का सामान्य अर्थ— स्वरोद्देश्यक विधि में व्यञ्जन अविद्यामान की तरह समझा जाता है अर्थात् व्यञ्जन के होने पर भी उसे अविद्यमान सा मानकर कार्य

---

१. 'नानुवर्तते' व्याडिपाठ, परि० सं० ५९ तथा 'नाभिसम्बध्यते' पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० ८७, भिन्न-भिन्न पाठ सहित।

२. अष्टा० ३/४/४९। ३. वही, ८/४/१२।

४. वही, ३/४/७०। ५. व्याडि पाठ, परि० सं० ५९।

६. 'अचश्च' अष्टा० १/२/२८ एवं 'उच्चैरुदात्तः' अष्टा० १/२/३९ आदि सूत्र।

२. 'स्वरविधौ' में 'स्वर' शब्द में शेष में षष्ठी है, कर्म में षष्ठी नहीं। इस प्रकार स्वर का अनुवादक शास्त्र से विहित होना है, फलतः जिस सूत्र में अन्यत्र विहित स्वर का अनुवाद करके कुछ विधान किया है, वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है।

करना चाहिए। जिस सूत्र में अन्यत्र विहित स्वर का अनुवाद करके कुछ विधान किया गया है, वहाँ इस परिभाषा की प्रवृत्ति से व्यञ्जन 'अविद्यमानवत्' होता है।[१]

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा का 'नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु'[२] सूत्र में जो देवतावाचियों के द्वन्द्व में पूर्वोत्तर पदों के 'प्रकृतिस्वर'[३] के निषेध में 'पृथिवी, रुद्र आदि का पर्युदास' किया है— वह ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो पृथिवी आदि के स्वरादि न होने से अनुदात्तादि नहीं है। अत: इन पृथिवी आदि का पर्युदास व्यर्थ ही रहेगा। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'पकार' आदि व्यञ्जनों के अविद्यमानवत् होने से पृथिवी आदि अनुदात्तादि हैं, अत: पर्युदास' युक्त ही है।

परिभाषा का प्रवृत्ति स्थल— धर्मि-ग्राहक-मान से यह परिभाषा स्वरोद्देश्यक-विधि-विषयक में सर्वत्र प्रवृत होती है।[४] **(क) उपर्युक्त अर्थ में प्रमाण**— इस प्रकार के अर्थ के होने से, 'शतुरनुमो नद्यजादी'[५] सूत्र में 'नुम्' रहित अन्तोदात्त 'शतृ' प्रत्ययान्त से परे, अजादि विभक्ति को उदात्तत्व विधान किया गया है। यहाँ यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। यह स्वरोद्देश्यक विधि नहीं है, क्योंकि यह उदात्तत्व स्वरानुवादक शास्त्र से विहित नहीं है। यहाँ भी यदि परिभाषा की प्रवृत्ति हो तो व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से सभी विभक्तियां 'अजादि' हो जायेंगी तो अजादि ग्रहण व्यर्थ हो जायगा। इसी प्रकार 'अच: कर्तृयकि'[६] में नहीं प्रवृत्त होती हैं; तभी 'अच:' यह चरितार्थ होता है। 'कर्तृ वाची यक् प्रत्यय परे होने पर उपदेश में अजन्त धातुओं का आदि उदात्त होता हैं— यह अर्थ है। यह भी स्पष्ट ही स्वरोद्देश्यक विधि नहीं है। अन्यथा व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से सभी धातुएं अजन्त हो जायेगी, तो 'अच:' ग्रहण व्यर्थ हो जाएगा।[७] **(ख) उपर्युक्त अर्थ में भाष्यकार का प्रमाण**— परिभाषा के उक्त अर्थ को मानकर ही भाष्यकार ने 'समासस्य'[८] सूत्र में निम्न कथन किया है— 'राजवती'[९] में 'अन्तोऽवत्या:'[१०] सूत्र से अन्तोदात्त नहीं होता, क्योंकि इस स्वरविधि में न् का लोप 'न-लोप: सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु[११] कृति' सूत्र से असिद्ध है— ऐसा कहा है।

---

१. प०शे०, पृ० ४०७, गदा, पृ० १७२।

२. अष्टा० ६/२/१४२।

३. 'देवताद्वन्द्वे च' अष्टा० ६/२/१४१ से पूर्वोत्तरपदों का प्रकृतिस्वर इष्ट है।

४. प०शे०, पृ०४०८,गूढार्थ०, पृ० ४०८, गदा, पृ० १७२।

५. अष्टा० ६/१/१७३। ६. वही, ६/१/१९५।

७. गूढार्थ०, पृ० ४०८। ८. म०भा० ६/१/२२३।

९. राजन् शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय, न् का लोप, म का व, स्त्रीलिङ्गमें ङीप् होकर 'राजवती' रूप।

१०. अष्टा० ६/१/२२०। ११. अष्टा० ८/२/२।

न-लोप के असिद्ध होने से 'राजवती' के अन्त में **अनवती** है, **अवती** नहीं। अन्यथा इस परिभाषा से 'न्' व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से 'अवती' में अन्तोदात्तत्व प्रसक्त होता। इसी प्रकार 'उदश्वित्वान्'[१] में 'ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप्'[२] से 'वत्' उदात्त नहीं होता—ऐसा भाष्य में कहा है। व्यञ्जन 'त्' के विद्यमान होने से ह्रस्व से परे 'मतुप्' नहीं है।[३]

परिभाषा के विषय में कैयट मत— 'उच्चैरुदात्तः'[४], 'नीचैरनुदात्तः' सूत्र के भाष्य की व्याख्या में कैयट[५] ने कहा है कि यह परिभाषा अनावश्यक है, क्योंकि 'अच्' (स्वर) 'हल्' (व्यञ्जन) का संयोग होने पर अच् के संयोग से व्यञ्जन को भी उदात्तादि गुण प्राप्त ही हो जाते है, अतः व्यञ्जन में अवभास-मात्र होने से हलादि तथा हलन्त से भी प्रत्यय हो सकते हैं। इस प्रकार अविद्यमानवत् मानने की कोई आवश्यकता नहीं। उस सूत्र के भाष्य[६] में यही ध्वनित होता है कि व्यञ्जनों में भी उदात्तादि का आभास होने से अनुदात्तादि से ग्रहण हो जाता है।[७]

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा स्वर के विषय में व्यवस्था का निरूपण करती है। कहीं-कहीं अन्त अथवा आदि में उदात्तादि स्वर का विधान किया गया है, वहाँ यदि अन्त अथवा आदि में व्यञ्जन रहता है तो किसको उदात्त आदि किये जायें? क्योंकि स्वर अचों का धर्म है तथा क्या विधान-सामर्थ्य से उन व्यञ्जनों का ही स्वर कर दिया जाय? आदि के समाधानार्थ यह परिभाषा है। यह इसी रूप में, व्याडि, शाकटायन, चान्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[८] इस परिभाषा के अर्थ के विषय में प्राचीनों एवं नागेश ने कुछ मतभेद है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर 'स्वरविधौ' का 'स्वर-कर्मक विधि' अर्थ अर्थात् उदात्तादि स्वर के करने में 'व्यञ्जन' अविद्यमानवत् होता है—मानते हैं।[९] नीलकण्ठ ने कोई अर्थ नहीं लिखा है।[१०] परन्तु नागेश सीरदेवादि के अर्थ से असहमत होते हुए इसका भिन्न अर्थ

---

१. उदश्वित् से 'मतुप्' 'झयः' (८/२/१०) से म् का व् होकर प्र०वि०ए० का रूप।

२. अष्टा० ६/१/१७६। ३. गूढार्थ? पृ० ४०९।

४. अष्टा० १/२/२९, १/२/३०।

५. प्र० १/२/२९, १/२/३० अथ प्रथमानिर्दिष्टः० पर टि०।

६. म०भा० १/२/२९ एवं ३०।

७. गूढार्थ०, पृ० ४०९ 'ध्वनितम्' पर व्याख्या।

८. परि० संग्रह,तत्तत् ग्रन्थ।

९. व्याडि पाठ, परि०सं० ३३, पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ३२, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ५३, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ५५।

१०. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ६७।

स्वीकार करते हैं। ये 'स्वरविधि' का 'स्वरोद्देश्यक विधि' अर्थात् उदात्तादि का आश्रयण करके जो विधि हो वह, यह अर्थ मानते हैं। इस प्रकार का अर्थ स्वीकार करने का यह हेतु प्रतीत होता है कि नागेश ने यह तथा 'हल्स्वरप्राप्तौ०' दो परिभाषाएँ मानी हैं। पुरुषोत्तमदेव[१] आदि ने 'हल्स्वरप्राप्तौ०' परिभाषा न मानकर केवल यही मानी है। इस कारण स्यात् ऐसा अर्थ वे लोग मानते हैं। परन्तु नागेश दोनों का पृथक् मानना अनिवार्य समझते हैं तथा इस अर्थ के समर्थन में सूत्र-प्रमाण तथा भाष्य-प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।[२] नीलकण्ठ भी दो परिभाषा मानते हैं।

इसके ज्ञापक एवं उदाहरण के विषय में भी मतभेद है। व्याडि 'यतोऽनाव:'[३] सूत्र में 'अनाव'-ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हुए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर इसका ज्ञापक 'बिल्वकादिभ्योऽण्[४] सूत्र में 'अण् ग्रहण मानते हैं। नीलकण्ठ केवल 'नोत्तरपदेऽनुदात्ता०'[५] सूत्र में पृथिव्यादि का पर्युदास इसका ज्ञापक मानते हैं। नागेश इन्हीं का अनुकरण करते हुए उक्त सूत्र का ही ज्ञापक मानते हुए विस्तार से उपपादित करते हैं। इसका उदाहरण पुरुषोत्तमदेव आदि 'कर्तव्यम्', 'राजदृषत्' आदि मानते हैं तथा 'उदश्वित्वान्' आदि के प्राप्तिप्रसंग का अन्य प्रकार से समाधान करते हैं। परन्तु नागेश ने इस परिभाषा का अपना अभिमत अर्थ मानते हुए सूत्रों में ही चरितार्थता स्पष्ट की है। इसी प्रकार नागेश ने प्रसंगत: परिभाषा-विषयक कैयट मत का उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। परिभाषा की अनिवार्यता भाष्य प्रमाण सहित प्रतिपादित की है। परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त भी निरुपित किया है।

(१०८) प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्।।प०९२।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'हि' धातु के णिजन्त **हायि** के सन्नन्त रूप 'प्रजिघाययिषति'[६] में 'हेरचङि'[७] सूत्र से अभ्यासोत्तर धातु के 'ह्' को 'कुत्व' नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'हेरचङि' सूत्र अभ्यास से परे अङ्गसंज्ञक हि' धातु के 'हकार' को कुत्व विधान करता है। परन्तु यहाँ हि सन् प्रत्यय के परे, अङ्ग संज्ञक[८] ही नहीं है, णि के परे अङ्ग संज्ञक है। अत: 'हि' प्रस्तुत स्थल में 'हि' को अङ्ग-संज्ञा-निमित्त अभ्यास के निमित्त न होने से णिच् के परे 'कुत्व' असंभव ही है, साथ ही अभ्यास के निमित्तक सन् के परे रहते हि अङ्ग नहीं है, क्योंकि मध्य में णिण्च् है, अत: कुत्व नहीं हो सकता। इस प्रकार की शंका के समाधान के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

---

१. सीरदेव, हरिभास्कर।
२. गदा, पृ० १७२।
३. अष्टा० ६/१/२१३।
४. वही, ४/३/१३६।
५. वही, ६/२/१४२।
६. प्र०पूर्वक णिजन्त 'हि धातु, 'हायि' रूप से सन् होकर लट्, प्र०पु०ए० का रूप।
७. अष्टा० ७/३/५६।
८. अङ्गसंज्ञा नियम, अष्टा० १/४/१३।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— (कुत्व प्रकरण में) जहाँ मूल प्रकृति का ग्रहण है, वहाँ णिच् सहित प्रकृति का भी ग्रहण होता है।. **परिभाषा का आशय**— व्याकरणशास्त्र में स्वरूपत: उपात्त धातु न केवल अपने स्वरूप का ही बोधक होती है, अपितु णिच् प्रत्यय आने पर उसका जो रूप हो जाता है, उसका भी प्रकृति (अङ्ग) रूप से ग्रहण होता है समझना चाहिए।

परिभाषा का ज्ञापक— 'हेरचङि'[१] सूत्र में 'अचङि' यह प्रतिषेध ही इस परिभाषा का ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा नहीं होती तो 'अचङि' इस प्रतिषेध के न होने पर भी 'हि+णिच्+चङ्+त्'=अजीहयत[२] में हि अङ्ग संज्ञक न होने से ('हायि' रूप होने से) अभ्यासोत्तर हि के 'ह्' को 'कुत्व' की प्राप्ति नहीं है तो 'अचङि' यह निषेध व्यर्थ ही है। परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'हि' णि-विशिष्ट 'हायि' का भी बोध कराता है। अत: कुत्व की प्राप्ति को रोकने के लिए 'अचङि' यह निषेध चरितार्थ हो जाता है।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त— इस परिभाषा की प्रवृत्ति के विषय में मतभेद है। भाष्य के अनुसार नागेश का मत है कि यह परिभाषा कुत्व-प्रकरण में ही प्रवृत्त होती है। अन्यत्र नहीं प्रवृत्त होती है, ऐसा ही उक्त सूत्र[३] के भाष्य और वार्तिककार[४] का स्पष्ट कथन है। काशिकाकार[५] कुत्व से अन्यत्र भी इसकी प्रवृत्ति मानते हैं— 'अभिषावयति' में 'षुञ्' स्वादि के प्रति उपसर्ग का योग है, न कि ण्यन्त सादि के प्रति। अत: 'उपसर्गात् सुनोतिसुवति०'[६] सूत्र से यहाँ षत्व होता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा का लाभ यह है कि 'प्रजिघाययिषति'[७] में णिजन्त हि (हायि) धातु को सन् प्रत्यय के परे कुत्व हो जाता है। इसी प्रकार 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु'[८] तथा 'सन्लिटोर्जे:'[९] आदि में भी णिच् सहित, मूलधातु का ग्रहण इस परिभाषा से हो जाता है, फलत: ण्यन्त में भी कुत्व होता है। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा कुत्व प्रकरण में मूल प्रकृति बोधक शब्द के ग्रहण में कुछ विशेष प्रतिपादन करती है। इस प्रकरण में मूल प्रकृति के ग्रहण में णिच् सहित

---

१. म०भा० ७/३/५६।

२. णिजन्त हि का लुङ् लकार, प्र०पु०ए० का रूप।

३. म०भा० ७/३/५६।

४. वा०म०भा० ७/३/५६ एवं उ० भी।

५. का० ७/३/५६।

६. अष्टा० ८/३/६५।

७. णिजन्त 'हि' से सन् प्रत्ययान्त, लट्, प्र०पु०ए० का रूप।

८. अष्टा० ७/३/५४।

९. वही, ७/३/५७।

अथवा णिच् अधिक प्रकृति का भी ग्रहण होता है, जहाँ प्रकृति-बोधक शब्द नहीं है, वहाँ केवल मूल प्रकृति का ही ग्रहण होता है, यही इसका प्रतिपाद्य है। यह परिभाषा इसी रूप में पुरुषोत्तमदेव, हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[१] सीरदेव ने 'भवति' शब्द सहित पाठ किया है।[२] नीलकण्ठ ने 'अपि' शब्दरहित पाठ माना है।[३] व्याडि ने 'णिजन्तस्यापि' पाठान्तर सहित पाठ माना है।[४] शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र, भोज, हेम तथा जैनेन्द्र ने नहीं प्रस्तुत की है।[५] परिभाषा का अर्थ सभी में समान है। इसके ज्ञापक के विषय में भी कोई मतभेद नहीं है। व्याडि आदि[६] सभी ने इसका 'हेरचङि'[७] सूत्र में 'अचङि' यह प्रतिषेध ज्ञापक माना है तथा उपपादन भी किया है। नागेश ने भी उक्त सूत्र में 'अचङि' प्रतिषेध को ही ज्ञापक माना है। परिभाषा का प्रयोजन—व्याडि आदि ने विस्तार से प्रतिपादित किया है। नीलकण्ठ ने कोई उदाहरण नहीं दिया है। नागेश ने संक्षेप में प्रयोजन स्वरूप कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। परिभाषा की प्रवृत्ति विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। व्याडि ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है। नीलकण्ठ ने कुत्व मात्र विषयक ही इसकी प्रवृत्ति मानी है। पुरुषोत्तमदेव ने प्रवृत्ति विषय का कथन न करके इसके फलस्वरूप सर्वत्र इसकी प्रवृत्ति मानते हुए 'ण्यन्तमयादीनामुपसंख्यानम्'[८] की अकर्तव्यता इसका फल प्रतिपादित किया है। सीरदेव ने इसको अनित्य माना है। इसका ज्ञापक उक्त सूत्रोक्त वार्तिक 'ण्यन्तमयादीनामुपसंख्यानम्' ही माना है, परन्तु हरिभास्कर ने इसका खण्डन करते हुए कुत्वमात्र विषयक प्रवृत्ति ही मानकर ही कार्य सिद्ध माना है। नागेश ने भी इसी प्रकार कुत्वमात्र विषयक ही प्रवृत्ति मानी है और पुरुषोत्तम ने तथा सीरदेव ने उक्त वार्तिक की अकर्तव्यता तथा अनित्यता मानने की आवश्यकता नहीं स्वीकार की है। कुत्व मात्र विषयक मानने से कार्य निर्वाह सम्भव है। इस प्रकार नागेश की संक्षेप में ही पूर्ण व्याख्या है।

(१०९) प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्।।प०१०१।।

परिभाषा का उपक्रम— अग्रिम दो[९] परिभाषायें भी पूर्वाचार्यों द्वारा उक्त हैं जो नागेश को भाष्यानुक्त होने से मान्य नहीं है, पुनरपि इन परिभाषाओं के उपक्रम, प्रयोजन

---

१. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ७३, हरिभास्करवृत्ति, परि० सं० ९३।

२. सीरदेववृत्ति, परि०सं०९०। ३. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०८५।

४. व्याडिपाठ, परि०सं०७०। ५. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

६. पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

७. अष्टा० ७/३/५६।

८. का०वा० ८/४/३४ तथा सि०कौ०, यही सूत्र।

९. प०शे०, परि०सं० १०१, १०२।

आदि का कथन किया जाता है। प्रथम परिभाषा का हेतु यह है कि किन्हीं[१] लोगों की शंका है कि यङ्लुगन्त 'हन्' धातु से आशीर्लिङ्[२] में हन् का वध[३] आदेश नहीं होना चाहिए, क्योंकि यङ्लुगन्त समुदाय-विशिष्ट लिङ् की प्रकृति में हन् रूप का अभाव है। इसके लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अपनी प्रकृति के ग्रहण में उसके यङ्लुगन्त रूप का भी ग्रहण समझना चाहिए अर्थात् व्याकरणशास्त्र में व्यवहृत धातु न केवल अपने स्वरूप का ही बोधक होती है, अपितु उस धातु के यङ्लुगन्त रूप का भी बोधक होती है।

परिभाषा का हेतु— इस परिभाषा को न्यासकार[४] ने कहा है तथा यह हेतु दिया है कि यह परिभाषा रूप वचन-न्याय-सिद्ध है। पाणिनीय शास्त्र का सिद्धान्त है कि षष्ठाध्याय[५] में जिस द्वित्व का विधान किया गया है, वह धातु का 'द्विः प्रयोग मात्र' है, दो बार उच्चारण है। अतः द्वित्व होने पर जो शब्द-रूप समुदाय निष्पन्न होता है, वह प्रकृति रूप ही है। इससे इस परिभाषा का अर्थ न्यायसिद्ध है, कुछ अपूर्व नहीं है।[६] **(क) उपर्युक्त अर्थ का लाभ**— उपरि प्रतिपादित तर्क के आधार पर 'जुहुधि'[७] में हु का द्वित्व[८] होने पर 'हु+हु' होने पर 'हु+हु+हि' इस अवस्था में 'हुझल्भ्यो हेर्द्धिः'[९] सूत्र से 'हि' का 'धि' आदेश हो जाता है, अन्यथा समुदाय में 'हु' का ज्ञान न होने से यह नहीं हो सकता था।

परिभाषा का प्रयोजन— उपर्युक्त आदेश के होने से 'विदोलटो वा'[१०] सूत्र से विधीयमान 'णल्' आदि आदेश विकल्प से 'यङलुगन्त' के धातु के विषय में भी

---

१. न्यासकार, सीरदेव, कैयट, दीक्षित आदि।

२. हन्, 'यङ्लुक', 'आशीर्लिङ्' में द्वित्व होकर 'जङ्धन् (जं+हन्)+यात्' रूप होगा, स्पष्ट ही यहाँ 'हन्' न रहकर 'जं+हन्' रूप रहता है। वैसे आशीर्लिङ् का रूप 'जंवध्यात्'।

३. हनो वध लिङि, अष्टा० २/४/४२।

४. न्यास १/२/१९ सूत्र की व्याख्या।

५. 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' अष्टा० ६/१/१। से ६/१/१/१ तक के सूत्र।

६. प०शे०, पृ० ४४६, गदा, पृ०१९७।

७. जुहोत्यादि गणीय 'हु' धातु (यङ्-लुगन्त में) लोट, सिप्, हि।

८. अष्टा० ६/१/१०।

९. अष्टा० ६/४/१०१।

१०. अष्टा० ३/४/८३।

प्रवृत्ति होते हैं। 'वेवेद, वेविदतुः' वेविदुः'[१] वेवेत्ति, वेवित्तः, वेविदति'[२] आदि प्रयोजन समझने चाहिए।

परिभाषा विषयक नागेश मत— नागेश ने इस परिभाषा का खण्डन व्यापक रूप से किया है, जो संक्षेप में निम्न रूप में है— **(१)** यह परिभाषा भाष्य में न होने के कारण अप्रमाणिक है। यह पहला दोष है, अतः मान्य नहीं हैं। **(२)** दूसरा दोष यह है कि यह निर्मूल है। 'द्विष्ठोगो द्वित्वं षाष्ठम्'[३] इससे धातु और उसके अभ्यास को पृथक्-पृथक् प्रकृति से अभिन्न समझा जा सकता है, परन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं कि धातु और उसके अभ्यास के समुदाय को भी धातु माना जाय, क्योंकि समुदाय के धातुत्व बोधन में कोई प्रमाण नहीं,[४] अतः 'दयते-र्दिगि[५] लिटि' सूत्र के भाष्य में 'अस्+लिट्' स्थिति में 'अस्' को परत्व होने से पहले द्वित्व होना चाहिए, पश्चात् परवर्ती 'अस्' को 'अस्तेर्भूः'[६] सूत्र से भू आदेश होने पर, पूर्व अभ्यास रूप 'अस्' का श्रवण होगा,[७] ऐसी शंका की है और इसका परिहार 'अस्तेर्भूः' सूत्र में आर्धधातुके[८] में विषय सप्तमी मान लेने से प्रत्यय आने से पहले 'अस्' को 'भू' पहले हो जाता है, पश्चात् 'लिट्' के आने पर द्वित्व होता है। यदि द्विरुक्त 'अस्+अस्' भी प्रकृति 'अस्' का बोधक हो, तो 'भू' आदेश समुदाय के स्थान में होगा, और ऊपर उद्धृत भाष्य के साथ स्पष्ट विरोध आयेगा।[९] अतः अभ्यासोत्तर जो कार्य धातु को कहा जाता है, वह उत्तरखण्ड को ही होता है।[१०] यह परिभाषा निर्मूल है, अतः हन् से यङ्लुगन्त में 'बध्यात्' आदि रूप जिन्हें माधव[११] आदि वैयाकरणों ने स्वीकार किया है, चिन्त्य है।[१२]

---

१. विद्, यङ्लुक्, लट्, प्र०पु०ए०, द्वि०, बहु में तिप्, तस्, झि, इनके स्थान में क्रमशः णल्, अतुस्, उस् आदि कार्य होकर निष्पन्न रूप।

२. विद्, यङ्लुक्, लट्, प्र०पु०ए० द्वि, बहु० में तिप् आदि होकर निष्पन्न। यहाँ 'णल्' आदि नहीं होते हैं।

३. म०भा० ६/१/१।

४. प०शे०, पृ० ४४६, गदा, पृ० १९७, गूढार्थ०, पृ० १३९-१४०।

५. म०भा० ७/४/९। ६. अष्टा० २/४/५२।

७. 'अ+भू+अ' रूप में अभ्यास में 'अस्' के 'अ' का श्रवण।

८. अष्टा० २/४/३५। ९. प०शे०,पृ० ४४७।

१०. गदा०, पृ० १९८।

११. दीक्षित, हरदत्त आदि। द्र० माधवीयधातुवृत्ति, हन् धातु। सि०कौ०, अदादिगण।

१२. नागेश मत, श०शे० अदादिगण, गूढार्थ, पृ० ४४७, गदा,पृ० १९८। नागेश के अनुसार द्वित्व से पूर्व वध आदेश होकर द्वित्व, अभ्यासदीर्घ होकर वावध्यात् रूप होता है।

समीक्षा— यह परिभाषा धातु के ग्रहण के विषय में विशेष प्रतिपादन करती है। यह परिभाषा इसी रूप में, व्याडि, शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने प्रस्तुत की है।[१] चन्द्र भोज और हेम ने 'ग्रहण' शब्द रहित पाठ किया है।[२] कातंत्र तथा जैनेन्द्र ने कुछ पाठान्तर माना है।[३] नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'अपि' शब्दरहित पाठ स्वीकार किया है।[४] इस प्रकार नागेश ने पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेवोक्त पाठ माना है। इसका अर्थ सभी ने एक समान माना है। इस परिभाषा के ज्ञापक के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। व्याडि तथा हरिभास्कर ने इसको ज्ञापकसिद्ध मानते हुए इसका ज्ञापक 'उदूपधाया गोह:'[५] में 'उपधा' ग्रहण को माना है। कातंत्र तथा जैनेन्द्र ने भी अपने-अपने मतानुसार ज्ञापक प्रस्तुत किये हैं।[६] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने उक्त 'ऊदूपधाया गोह:' में 'उपधा' ग्रहण को ज्ञापक मानते हुए न्यास के मत का उल्लेख करके 'द्विष्प्रयोग रूप न्यायसिद्ध' भी माना है। इन्होंने इस परिभाषा की अति विस्तृत व्याख्या की है।[७] नीलकण्ठ ने केवल द्विष्प्रयोग रूप से न्यायसिद्ध माना है।[८] नागेश ने उन्हीं का अनुकरण करते हुए उक्त न्याय सिद्ध ही माना है। व्याडि[९] आदि ने इसके प्रयोजनों का अति विस्तार से कथन किया है। नीलकण्ठ ने केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। नागेश ने इन्हीं के द्वारा प्रदत्त उदाहरण ही प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार नागेश ने नीलकण्ठ के अनुसार इस परिभाषा की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस परिभाषा के अस्तित्व विषय पर विचार करते हुए नागेश ने अति विस्तार से इसका खण्डन किया है। इसके ज्ञापक, हेतु, प्रयोजन आदि का भाष्य प्रमाण पूर्वक निरसन किया है। इस प्रसंग में पुरुषोत्तमदेव, सीरदेवोक्त व्याख्या के हेतु तथा ज्ञापक का, एवं हरदत्त, दीक्षित आदि के मत का सहेतुक खण्डन किया है। माधव का उल्लेख करके उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण को चिन्त्य कहा है।[१०] इस प्रकार स्पष्ट है कि नागेश ने इस परिभाषा की

---

१. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

२. चान्द्रपाठ, परि० सं०५, भोजपाठ, परि० सं० ६१, हैमपाठ, परि०सं०१७।

३. कातंत्र पाठ, परि० सं० १२, चेक्रीयित पाठ, जैनेन्द्र पाठ, परि० सं० २०, 'यङुबन्त०' पाठ।

४. 'प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्य ग्रहणम्' नीलकण्ठ वृत्ति, परि० सं० ७६, हरिभास्कर वृत्ति, परि० सं० ७०।

५. अष्टा० ६/४/८९।

६. कातंत्रपाठ, परि० सं० १२, जैनेन्द्र पाठ, परि०सं० २०।

७. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ७२, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ६८।

८. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०७६।

९. कातंत्र, जैनेन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, हरिभास्कर।

१०. गदा, पृ० १९७-१९८।

भी आवश्यकता नहीं स्वीकार की है।

(११०) अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे।।प०१२२।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह होती है कि जो प्रत्यय अत्यन्त स्वार्थिक[१] है, वे अर्थ का प्रत्यायन तो करते नहीं, उन्हें प्रत्यय क्यों कहा जाय? अर्थात् जो अर्थ का प्रत्यायन कराता है, वह 'प्रत्यय'[२] कहलाता है। विशेष अर्थ के न होने से केवल स्वार्थ में विहित की प्रत्यय संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि वे प्रकृति से भिन्न किसी स्वतंत्र अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते हैं। इसके उत्तर के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जिन प्रत्ययों का अर्थ नहीं कहा गया, जो किसी अर्थ विशेष में विहित नहीं हुए, वे स्वार्थ में— प्रकृति के अपने अर्थ में ही होते हैं।

परिभाषा का आशय— 'प्रत्यय' का अर्थ प्रत्येति- प्रत्याययति अर्थमिति 'प्रत्ययः' यही नहीं है। 'यस्यार्थः प्रकृत्या प्रत्याय्यते 'सोऽपि' 'प्रत्ययः'[३] अर्थात् न केवल वही प्रत्यय है जो अर्थ का बोधन कराता है, किन्तु वह भी जिसका अर्थ प्रकृति से जाना जाता है। परिभाषा में स्व शब्द आत्मीय वाची है, 'स्वार्थे' अपने प्रकृति के अर्थ में। इस प्रकार तात्पर्य यह हुआ कि जिन प्रत्ययों की उत्पत्ति में कोई विशेष अर्थ नियत नहीं किया गया हो, वे स्वार्थ-प्रकृत्यर्थ के सहायक और बोधक रहें, इसी से वे 'प्रत्यय' कहलाते हैं।[४] **(क) उक्त अर्थ का लाभ**— उक्त अर्थ मान लेने से सर्वथा निरर्थक समासान्त आदि प्रत्ययों का प्रत्ययत्व सिद्ध हो जाता है।[५] ऐसा होने से विकार और आगम को प्रत्यय नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जहाँ प्रकृति अपने पृथक् अर्थ को कहती है, वहीं विधेय प्रत्यय की भी अर्थवता है। विकार और आगम होने पर तो प्रकृति का पृथक् अर्थ नहीं होता, विकार एवं आगम सहित प्रकृति ही अर्थवती होती है।[६]

परिभाषा में हेतु— यह परिभाषा न्यायसिद्ध है। 'प्रत्यय' यह महती संज्ञा है,

---

१. जो सर्वथा निरर्थक स्वार्थ-प्रकृति से भिन्न किसी अर्थ को नहीं कहते,वे प्रत्यय, जैसे द्र० अष्टा० ३/१/५ से सन् प्रत्यय तथा द्र० अष्टा० ५/४/२८-२९ से क तथा कन् प्रत्यय।

२. प्रतिपूर्वक अन्तर्भावित ण्यर्थक 'इण्' धातु से, कर्ता में अच् प्रत्यय होकर निष्पन्न 'प्रत्येति अर्थं बोधयति यस्स प्रत्ययः'।

३. कर्म साधन में 'अच्' प्रत्यय होकर निष्पन्न, द्र० म०भा० ३/१/१।

४. प०शे०, पृ० ४८४, गूढार्थ०, पृ० वही।

५. गूढार्थ०, पृ० ४८४, प्रकृति से पृथक् उन प्रत्ययों में स्वार्थ की बोधकता माननी चाहिए।

६. गदा, पृ० २२५।

अतः इसे अन्वर्थक होना चाहिए। अतः अन्य अर्थ के उपस्थित न होने से यह अर्थ लिया जाता है कि अनिर्दिष्ट प्रत्यय अपनी प्रकृति के अर्थ में रहे— यही इस परिभाषा का हेतु है।[१] 'सुपि स्थः'[२] इत्यादि सूत्रों के भाष्य में यह स्पष्ट की गई है। वहाँ 'सुपि' इसके योग विभाग से विहित क प्रत्यय 'आखूत्थः' में भाव में ही अर्थात् प्रकृति 'स्था' के अपने अर्थ में इस न्याय से होता है, कर्मादि में नहीं, फलतः यह न्याय प्रमाणित है।

परिभाषा का प्रयोजन—इस परिभाषा से 'गुप्तिज्किद्भ्यः[३] सन्', 'अवे कः',[४] 'यावादिभ्यः[५] कन्' होते हैं। 'जुगुप्सते, यावकः इत्यादि प्रयोजन हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्ययों के विषय में प्रत्ययत्व अनुपपत्ति की शंका का निवारण करती है। अनिर्दिष्ट प्रत्यय अपने प्रकृत्यर्थ के सहायक होते हैं। केवल नीलकण्ठ ने इस परिभाषा को इसी रूप में प्रस्तुत किया है।[६] सीरदेव, हरिभास्कर ने 'भवन्ति' शब्द सहित पाठ किया है।[७] चन्द्र ने कुछ भिन्न रूप में पाठ किया है।[८] अन्य किसी ने नहीं मानी है। सीरदेव ने इस परिभाषा की व्याख्या अति विस्तार से की है। नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर ने अत्यन्त संक्षिप्त व्याख्या की है। नागेश ने संक्षेप में ही आशय मात्र प्रकट किया है। सीरदेव ने परिभाषार्थ स्पष्ट करते हुए त्रिविध अर्थवत्ता का प्रतिपादन किया है तथा प्रत्येक का सोदाहरण विवेचन करते हुए प्रतिज्ञा ज्ञापित अर्थवत्ता का ही अनिर्दिष्टार्थ प्रत्यय फल माना है। प्रसंगतः स्वार्थिक प्रत्ययों का विवेचन करते समय विकार तथा आगम में प्रत्ययत्व के अभाव का भी निरूपण किया है। इस प्रकार विस्तार से स्वार्थिकत्व का विवेचन करते हुए अपनी प्रकृति के अर्थ के बोधक या द्योतक रूप स्वार्थ का अर्थ माना है। नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर ने इसका कोई अर्थ नहीं किया है। नागेश ने संक्षेप में इसका अर्थ निरुपित किया है। अर्थ सीरदेव के अनुकूल ही माना है।[९] परिभाषा के हेतु के विषय में कुछ मतभेद है। सीरदेव ने कोई हेतु नहीं प्रस्तुत किया है। नीलकण्ठ ने न्यायसिद्ध मानते हुए 'अर्थाकाङ्क्षा' में अन्य की अनुपस्थिति इसका हेतु माना है। हरिभास्कर नें कुछ नहीं कहा है, परन्तु एक[१०] स्वतन्त्र परिभाषा द्वारा प्रत्यय की परिभाषा करते हुए विकार, आगम में प्रत्यय का अभाव

---

१. प०शे०, पृ० ४८४। २. म०भा० ३/२/४।

३. अष्टा० ३/१/५। ४. अष्टा० ५/४/२८।

५. वही, ५/४/२९। ६. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ११४।

७. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १२५, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १२७।

८. 'अनिर्दिष्टार्था विधयः स्वार्थे हान्ते' द्र० चान्द्रपाठ, परि०सं०२८।

९. गदा, पृ० २२५।

१०. हरिभास्करवृत्ति, परि० सं० १२८, 'अन्वर्था हि प्रत्ययसंज्ञा'।

निरूपण किया है। नागेश ने नीलकण्ठ का अनुसरण करते हुए कुछ अधिक स्पष्टता से न्यायसिद्धता प्रदर्शित की है। इसके उदाहरण के विषय में मतभेद है। सीरदेव तथा हरिभास्कर ने 'यावादिभ्य: कन्'[१] इत्यादि में कन् आदि को भी प्रत्यय संज्ञा फल माना है। नीलकण्ठ ने कोई उदाहरण न देकर 'सुपि स्थ:'[२] भाष्य का निर्देश मात्र कर दिया है। नागेश ने भी उक्त भाष्य का निर्देश मात्र कर दिया है। गदाकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'आखूत्थ:' में भाव में ही 'क' प्रत्यय होता है, कर्मादि में नहीं, यह निरूपित किया है। 'भावक:' आदि उदाहरण उचित नहीं मानते हैं। इस प्रकार नागेश ने अति संक्षेप में व्याख्या की है। सीरदेव की व्याख्या अधिक स्पष्ट है, केवल उदाहरण के विषय में नागेश ने अपना अनभिमत प्रकट किया है।

●

१. अष्टा० ५/४/२९। २. वही, ३/२/४।

पञ्चम अध्याय

अवशिष्ट परिभाषाएँ

चतुर्थ अध्याय में जिस प्रकार की परिभाषाओं का अनुशीलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। उसी प्रकार की अवशिष्ट २२ परिभाषाओं का विवेचन इस पञ्चम अध्याय में किया जा रहा है—

(१११) समासान्तविधिरनित्यः।।प०८५।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'युवोरनाकौ'[१] सूत्र के भाष्य में 'सुपथी नगरी' ऐसा पढ़ा है। इस उदाहरण में 'सुपथिन्' शब्द से 'इनः स्त्रियाम्'[२] सूत्र से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होना चाहिए। इसके समाधान हेतु यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— समासान्त विधि अनित्य होती है अर्थात् कभी होती है और कभी नहीं होती है। **परिभाषा का ज्ञापक**— 'प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे'[३] इस सूत्र में अन्तोदात्त विधान के लिए, अंश्वादिगण में 'राजन्' शब्द का पाठ इस परिभाषा का ज्ञापक है। उस पाठ का यही प्रयोजन है कि प्रति से परे तत्पुरुष समास में 'प्रतिराजा' में 'राजन्' शब्द को अन्तोदात्त हो जाय। यदि यह परिभाषा न हो तो प्रतिपूर्वक राजन् शब्द से 'राजाहः सखिसभ्यष्टच्'[४] सूत्र से राजन् के उत्तरपद होने पर तत्पुरुष समास में नित्य 'टच्' समासान्त हो जाने से 'चितः'[५] सूत्र से 'प्रतिराजः' अन्तोदात्त हो ही जाता। पुनः अंशु आदि गण में राजन् का पाठ व्यर्थ हुआ, इससे ज्ञापित होता है कि 'टच्' समासान्त कभी नहीं भी होता है। फलतः 'टच्' समासान्त के अभाव में भी अन्तोदात्त हो जाय, इसलिए 'राजन्' का पाठ सार्थक हो जाता है। 'सामान्यापेक्षं ज्ञापकम्'— इस वचन के अनुसार सभी समासान्त प्रत्यय अनित्य होते हैं। इसी प्रकार 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ'[६] में प्रकृत समासान्त 'मूर्ध' शब्द का पाठ भी इस परिभाषा का ज्ञापक है।[७]

परिभाषा का प्रयोजन— समासान्त-विधि के अनित्य होने से 'सुपथी नगरी'

---

१. म०भा० ७/१/१।
२. अष्टा० ५/४/१५२।
३. अष्टा० ६/२/१९३।
४. वही, ५/४/९१।
५. वही, ६/१/१६३।
६. म०भा० ६/२/१९७।
७. श०कौ० १/१/७३।

में 'पथिन्' शब्द से 'इनः स्त्रियाम्'[१] सूत्र से समासान्त कप् नहीं होता है। इसी प्रकार 'बह्वाम्पि'[२] तडागानि में 'बह्वप्' शब्द से समासान्त 'अकार'[३] प्रत्यय नहीं होता है। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन समझने चाहिए।

समीक्षा— यह परिभाषा समासान्त प्रत्ययों के विषय में व्यवस्था का निर्देश करती है। क्या समासान्त प्रत्यय सर्वदा नित्य होते हैं? इसका समाधान इसका प्रतिपाद्य है। यह परिभाषा इस रूप में व्याडि, शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने मानी है।[४] चन्द्र, कातंत्र और जैनेन्द्र ने नहीं मानी है।[५] इस परिभाषा का अर्थ सभी में एक ही जैसा है। अति सरल होने से किसी ने अर्थ नहीं लिखा है। परिभाषा के ज्ञापक के सम्बन्ध में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। व्याडि तथा नीलकण्ठ ने इसका ज्ञापक 'प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे'[६] सूत्र में अन्तोदात्तत्व के लिए 'राजन्' शब्द का पाठ माना है।[७] पुरुषोत्तमदेव ने 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु[८] बहुव्रीहौ' 'मूर्ध' शब्द के निर्देश को ज्ञापक माना है तथा इसका उपपादन करते हुए अन्यों के मत का खण्डन भी किया है।[९] सीरदेव ने 'स्फिगपूत-वीणा०'[१०] सूत्र में 'ऊर्ध्व' ग्रहण को ज्ञापक मानते हुए भाष्य मत का उल्लेख करते हुए पुरुषोत्तमदेवोक्त ज्ञापक को भी माना है।[११] हरिभास्कर ने भी 'द्वित्रिभ्यां०'[१२] सूत्र में मूर्ध शब्द के पाठ को इसका ज्ञापक मानते हुए ग्रन्थान्तर से ज्ञापकान्तर का भी ग्रहण करना चाहिए— निर्देश किया है। इन्होंने पूर्ण व्याख्या में केवल अन्यों के मत का खण्डन किया है। नागेश ने व्याडि, नीलकण्ठ के आधार पर ही 'प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे'[१३] में 'राजन्' शब्द के पाठ को ज्ञापक माना है। इसका प्रयोजन नागेश ने नहीं दिया है। पूर्ववर्ती व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव एवं हरिभास्कर ने विस्तार से प्रयोजन निरूपित करते हुए व्याख्या की है। नीलकण्ठ ने कोई प्रयोजन नहीं दिया है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण किया है। इस प्रकार संक्षिप्त व्याख्या से पूर्ण आशय स्पष्ट नहीं हो पाता है। इसकी अपेक्षा सीरदेवादि का व्याख्यान अधिक अच्छा है।

---

१. अष्टा० ५/४/१५२।
२. 'बह्वप्' नपुंसकलिंग शब्द, प्र०वि० बहु०।
३. अष्टा०५/४/७४ से 'अ' प्रत्यय
४. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।
५. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।
६. अष्टा० ६/२/१९३।
७. व्याडिपाठ, परि०सं० ७५, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ७४।
८. अष्टा० ६/२/१९७।
९. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ८२।
१०. अष्टा० ६/२/१८७।
११. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ६३।
१२. अष्टा० ६/२/१९७।
१३. अष्टा० ६/२/१९३।

(११२) संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्।।प०९४।।

परिभाषा का उपक्रम— सर्वत्र संज्ञापूर्वक होने वाली विधियों को नित्य मानने से कुछ दोष उपस्थित होते हैं। ये विधियाँ कहीं सर्वत्र नित्य नहीं भी मानी जाती है। अत: इनके अनित्यत्व-प्रतिपादनार्थ एवं इन विधियों के नित्य होने से प्राप्त-दोष के समाधान के लिए प्राचीन वैयाकरण इनकी अनित्यत्व-विधायिका प्रस्तुत परिभाषा पढ़ते हैं।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जिस शास्त्र में संज्ञा द्वारा बोधित कोई कार्य किया जाता है, वह शास्त्र अनित्य होता है। **परिभाषा का ज्ञापक**— कुछ[१] वैयाकरणों के अनुसार आचार्य पाणिनि को 'ओर्गुण:'[२] सूत्र न पढ़कर 'और् ओत्' ऐसा सूत्र पढ़ना चाहिए था, क्योंकि यह लघु है, पुन: 'ओर्गुण:' ऐसा पढ़ा गया है— उसके फलस्वरूप यह परिभाषा ज्ञापित होती है।

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त— यह परिभाषा[३] तभी प्रवृत्त होती है, जब सूत्र में उपात्त संज्ञा शब्द से विधेय का बोध होता हो।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'ओर्गुण:' यहाँ भ-संज्ञक उकारान्त को गुण कहा है, सो यह शास्त्र नित्य प्रवृत्त नहीं होता है। इसीलिए 'स्वायंभुवम्'[४] में गुण नहीं होता है। पुन: उवङ्[५] होकर उक्त रूप निष्पन्न हो जाता है, इत्यादि प्रयोजन प्रतीत होते हैं।

परिभाषा विषयक नागेश मत— नागेश इस अनित्य लक्षण विधायक परिभाषा का खण्डन करते हैं, क्योंकि यह परिभाषा भाष्य में अनुक्त है, अत: अप्रमाणिक है और भाष्य के अनुक्त ज्ञापक द्वारा लब्ध अर्थ की ग्राह्यता में कोई प्रमाण नहीं है। एकमात्र लक्ष्य को उद्देश्य मानने वाले सम्पूर्ण शिष्ट प्रयोग के समर्थन में दक्ष पतञ्जलि की अज्ञानता की कल्पना की अपेक्षा यही उचित है कि इस प्रकार की बातों को किसी से सिद्ध न होने के कारण असाधु भी मानना चाहिए।[६] नागेश का यह दृष्टिकोण है कि जहाँ भाष्यकार ने सूत्राक्षरों के प्रयोजनों पर विचार नहीं किया है, वहाँ तथा व्यवस्थित सूत्रपाठ से

---

१. कैयट, दीक्षित, न्यासकार, का शिकाकार।

२. अष्टा० ६/४/१४६।

३. प०शे०, पृष्ठ ४४१, गूढार्थ०, पृष्ठ ४४१, गदा, पृष्ठ १९३.

४. 'स्वयंभुव इदम्'— इस अर्थ में -स्वयं भू+अण्', आदि वृद्धि, उवङ् होकर प्र०वि०ए०नपु० का रूप.

५. अष्टा० ६/४/१४६.

६. गूढार्थ०, पृष्ठ ४४३.

पारायणिक पुरुष को केवल अदृष्ट लाभ होता है, ऐसा मानना ही उचित है।[१] 'स्वायंभुवम्'[२] का लोक में प्रयोग प्रामादिक ही है— ऐसा नागेश का मत है। **नागेश मत की समीक्षा**— नागेश के उपर्युक्त हेतुओं को शास्त्रार्थ कलाकार उचित नहीं मानते हैं।[३]

समीक्षा— इस परिभाषा के आगे कुछ परिभाषाएं, जो सीरदेवादि प्राचीन आचार्यों ने अनित्यत्व के सम्बन्ध में कहीं हैं, नागेश उन सब अनित्यत्व परिचायक परिभाषाओं का पाठ करके उनका अभिप्राय बतलाते हैं। पश्चात् खण्डन भी करते हैं। वे सब परिभाषाएँ क्रम से पढ़ी हैं। उन सभी में उन-उन आचार्यों द्वारा अवतरण सहित उसका अर्थ भी नागेश ने प्रस्तुत किया है। यह परिभाषा संज्ञापूर्वक विधि के विषय में निर्देश प्रस्तुत करती है। विशेषत: अनित्य कहा-कहाँ होता है।? इसका प्रतिपादन करती है। यह परिभाषा इसी रूप में पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं प्रस्तुत की है। व्याडि, कातंत्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[४] शाकटायन, चन्द्र, जैनेन्द्र, भोज एवं हेम ने नहीं मानी है। इस परिभाषा की व्याख्या नागेश ने अति संक्षेप में लिखी है। वस्तुत: यह परिभाषा सर्वप्रथम काशिका में उपलब्ध होती है। परिभाषा का अर्थ सभी ने एक ही जैसा माना है। इसका ज्ञापक भी सभी ने समान ही माना है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा नीलकण्ठ ने 'ओर्गुण:'[५] में 'गुण'-ग्रहण इसका ज्ञापक मान्ना है। कातंत्र भी ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं।[६] सीरदेव और हरिभास्कर ने उक्त ज्ञापक के साथ ही 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि'[७] में 'बृद्धि'-ग्रहण को भी ज्ञापक माना है।[८] नागेश 'ओर्गुण:' में 'गुण'-ग्रहण इसका ज्ञापक मानते हैं। परिभाषा के प्रवृत्ति के विषय में केवल नीलकण्ठ ने लिखा है। इनके अनुसार विधेय कोटि में संज्ञा पूर्वकत्व विधि में ही प्रवृत्त होती है, सर्वत्र नहीं तथा इसका फल भी प्रस्तुत किया है। नागेश ने इन्हीं का अनुकरण करते हुए विधेय कोटि वाली संज्ञा पूर्वक विधि में प्रवृत्ति मानी है तथा फल भी प्रस्तुत किया है। इसका प्रयोजन व्याडि, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने विस्तार से प्रस्तुत किया हैं। नीलकण्ठ ने नहीं प्रस्तुत किया है। नागेश ने संक्षेप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नागेश ने अति संक्षेप में व्याख्या प्रस्तुत की है, जबकि सीरदेव ने विस्तृत व्याख्या की है। इसके साथ ही नागेश ने इसके अस्तित्व

---

१. गदा, पृष्ठ १९५। २. कालिदास का प्रयोग (कुमारसम्भव)।

३. शा०कला, पृष्ठ ३४१ तथा ३४३, ३४३।

४. 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्य:', द्र० 'परि०संग्रह' तत्तत् ग्रन्थ।

५. अष्टा० ६/४/१४६। ६. कातंत्र पाठ, परि०सं० ३०।

७. अष्टा० ७/३/८९।

८. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७३, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७१।

पर भी विचार किया है। नागेश ने इस परिभाषा का खण्डन कर दिया है। उसका यह हेतु माना है कि यह भाष्य में नहीं दिखलाई देती है तथा भाष्यानुक्त ज्ञापित अर्थ साधुता में नियामक नहीं होता है, क्योंकि भाष्य-प्रामाण्य आवश्यक है। यदि यह मानें कि सौत्राक्षरों की व्यर्थता का निराकरण कैसे होगा? तत्तत् सूत्रों में तत्तत् पद व्यर्थ ही हैं? तो इसका समाधान यह मानना चाहिए कि सौत्राक्षरों के उन-उन पदों को पारायण के लिए पढ़ा गया है। उससे अदृष्ट-अर्थ की प्राप्ति होगी, बस इसीलिए पढ़ दिया और कोई विशेष प्रयोजन नहीं— आदि साधारण दोष प्रस्तुत किये हैं। परन्तु इन हेतुओं को शास्त्रार्थकलाकार[१] ने अयुक्त माना है। उनका कथन है कि व्याकरण स्मृतिमूलक है। पूर्व व्याकरण-परम्परा से सिद्ध कथन को मानना चाहिए, तथा पूर्व व्याकरण में वाचनिक तथा व्याख्यातृ-परम्परा से मान्य परिभाषाओं को माना ही जाता है। जो सौत्राक्षर अनुमोदित हो, भाष्य से विरुद्ध कथन न हो, उसको क्यों न माना जाय? अभियुक्त परम्परा इस परिभाषाओं को मानती ही है, पुनः केवल भाष्यानुक्त होने से ही अप्रामाणिकता कैसे स्वीकार की जाय। अदृष्ट का लाभ सूत्रों से कैसे सम्भव है? अतः परम्परा द्वारा मान्य इन परिभाषाओं का प्रयोजन है ही। अतः इनका प्रमाण स्वीकार करना ही चाहिए। यह मत उचित ही प्रतीत होता है।

(११३) आगमशास्त्रमनित्यम्।।प०९५।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि इस शास्त्र में जो 'मुक्' आदि आगम विधान किये गये हैं। वे यदि सर्वत्र नित्य ही प्रवृत्त होते हैं तो कुछ दोष उपस्थित होता है, जिसके कारण 'पचानः'[२] आदि रूप नहीं बन सकते, मुक् होकर 'पचमानः' रूप बनना चाहिए। इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— आगम विधायक शास्त्र अनित्य होता है अर्थात् कभी-कभी जो आगम विधान किया जाता है, वह नहीं भी होता है।

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा ज्ञापकसिद्ध है। इसका हेतु यह है कि 'आनि लोट्'[३] सूत्र में 'आनि- (आट् आगम+नि) न पढ़कर 'नि' पढ़ देते तो भी कार्य निर्वाह हो जाता, आगम सहित नि (आनि) के न् का भी उपसर्गस्थ निमित्त से परे णत्व[४] हो जाता, पुनः जो आकार विशिष्ट (नि) (आनि) का ग्रहण करते है, इससे यह ज्ञापित होता है कि यह परिभाषा है।

---

१. शा०कला, पृष्ठ ३४३-३४३।

२. पच् धातु, लट्, आत्मनेपद प्र०पु०ए० त, शानच् शप्, मुक् आगम न होकर दीर्घ होकर प्र०वि०ए० का रूप।

३. अष्टा० ८/४/१६।

४. अष्टा० ८/४/१६ प्रवपाणि, परिवपाणि लक्ष्यों में णत्व।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'पचान:' (पचमान:) यहाँ 'मुक्'[१] आगम नहीं होता है। 'अपि शाकं पचानस्य' यह प्रयोग है। इसी प्रकार 'सागरं तर्तुकामस्य' में 'तर्तुकामस्य'[२] यह प्रयोग सिद्ध होता है। इसमें 'आर्धधातुकस्येड्वलादे:'[३] सूत्र से 'इट्' आगम नहीं होता है— इत्यादि प्रयोजन समझने चाहिए।

परिभाषा विषयक नागेश मत— नागेश इस परिभाषा को नहीं मानते हैं। इसके न मानने में कुछ हेतु दिये हैं— **(क)** यह परिभाषा भी भाष्य में अनुक्त होने से प्रमाण योग्य नहीं है तथा अनुक्त ज्ञापक से प्रस्तुत अर्थ ग्रहण में् प्रमाण नहीं होता है। **(ख) उक्त ज्ञापकता का खण्डन**— इस परिभाषा का ज्ञापक ही सम्भव नहीं है, अत: भाष्य की अनुकूलता का प्रश्न ही नहीं होता। इस परिभाषा के ज्ञापित होने पर 'आनि' में 'आ' व्यर्थ ही रहता है। ऐसा लोडन्त कोई रूप प्रसिद्ध नहीं है, जहाँ आनि न हो और नि हो, जिसके परे रहते उपसर्गस्थ-निमित्त से णत्व न हो सके। वस्तुत: सूत्र में 'आट्' ग्रहण ('आनि' में 'आ' का ग्रहण) इतना ही व्यर्थ है, जितना कि लोट् ग्रहण, क्योंकि 'नि' लोट्-सम्बन्धी ही होता है। उससे अन्यत्र इसका प्रयोग ही नहीं, फलत: दोनों का ग्रहण अदृष्टार्थ ही समझना चाहिए।[४] **(ग) भाष्य का विरोध**— तथा इस परिभाषा के मानने पर भाष्य-विरोध प्राप्त होता है। इस परिभाषा के न होने से ही, भाष्यकार ने 'घोर्लोपो लेटि वा'[५] सूत्र में 'वा' ग्रहण का प्रत्याख्यान किया है। इस सूत्र से घु-संज्ञक 'धा' धातु के आ का लोप होने पर भी 'लेटोऽडाटौ'[६] सूत्र से आट् होने पर 'दधात्' में आकार का श्रवण होगा और अट् होने पर 'दधत्' में 'अ' का होता ही है। यदि यह अनित्य हो तो, आट् न होने पर 'दधात्' रूप से असिद्ध[७] हो जाने से उसकी सिद्धि के लिए उक्त सूत्र में 'वा' ग्रहण आवश्यक हो जाता है, तो उसका भाष्यकृत प्रत्याख्यान असंगत हो जाता है। **(१) इसी प्रसंग में कैयट का मत तथा उसका खण्डन–कैयट मत**— इसी सूत्र के भाष्य[८] में 'वा' ग्रहण इस परिभाषा की अनित्यता का ज्ञापक है, ऐसा न्यासकार आदि लोगों का मन्तव्य है— यह कैयट ने कहा है।[९]

---

१. अष्टा० ७/२/८२।

२. तर्तुमिच्छति-'तर्तुकाम:' तुमन् प्रत्ययान्त 'तृ' धातु के 'तर्तुम्' रूप का 'काम' के साथ प्रयोग, 'म्' का लोप होकर 'तर्तुकाम:' रूप।

३. अष्टा० ७/२/३५।

४. प०शे०, पृष्ठ ४४३,४४, गदा, १९५।

५. म०भा० ७/३/७०। ६. अष्टा० ३/४/९४।

७. आट् न होने पर आकार का नित्य लोप होकर 'दघत्' रूप होगा।

८. म०भा० ७/३/७०।

९. प्र० ७/३/७० 'भाष्यकारेण वेति प्रत्याख्यातम्०' आदि।

नागेश मत— परन्तु नागेश को यह भाष्य-विरुद्ध होने से स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि भाष्य में 'वा' का प्रत्याख्यान किया है।[१]

समीक्षा— यह परिभाषा आगम के विषय में अनित्यता का बोध कराती है। केवल नीलकण्ठ ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है। नागेश के पाठ का यही आधार प्रतीत होता है। व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, जैनेन्द्र, हेम, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[२] परिभाषा का अर्थ सभी ने समान रूप से स्वीकार किया है। इसके ज्ञापक के विषय में प्राचीनों तथा नागेश में मतभेद है। व्याडि ने 'थोऽन्थ:'[३] में 'न्थ' को इसका ज्ञापक मानकर उपपादित किया है।[४] जैनेन्द्र भी इसका ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं।[५] पुरुषोत्तमदेव ने 'स्तो: श्चुना श्चु:'[६] सूत्र में अकृतनुमागम 'स्तो:' निर्देश को ज्ञापक माना है।[७] सीरदेव ने इसका 'आनि[८] लोट्' सूत्र में 'आनि' ग्रहण ज्ञापक मानते हुए न्यासकार का अभिमत 'घोर्लोपो०'[९] में 'वा' ग्रहण का ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है।[१०] नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'आनि लोट्' सूत्र में 'आनि' ग्रहण ज्ञापक माना है।[११] नागेश ने भी इन्हीं के अनुसार उक्त सूत्र में 'आनि ग्रहण' को ज्ञापक माना है। व्याडि, पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेवादि ने इस परिभाषा के प्रयोजन स्वरूप उदाहरण विस्तार से प्रस्तुत किये हैं। नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर ने संक्षेप में 'तर्तुकामस्य' उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए इसके अस्तित्व पर विचार किया है तथा इसका खण्डन भी किया है। उपर्युक्त ज्ञापकों का अति विस्तार से खण्डन करते हुए इन्होंने परिभाषा को नहीं माना है।

(११४) गणकार्यमनित्यम्।।प०९६।।

परिभाषा का उपक्रम— व्याकरण शास्त्र में गणों में विभक्त विभिन्न धातुओं से तत्तत् गण-विशेष कुछ कार्य विधान किये गये हैं। वे कार्य यदि सर्वत्र होते हैं तो कुछ दोष प्रसक्त होता है। कहीं कभी-कभी किसी धातु से गणस्थ कार्य नहीं भी होते हैं, इसी के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

---

१. उ० ७/३/७०।

२. 'अनित्यमागमशासनम्' परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

३. अष्टा० ७/१/८७।

४. व्याडिपाठ, परि०सं० ७६।

५. जैनेन्द्रपाठ, परि०सं० ३७।

६. अष्टा० ८/४/४०।

७. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०८४।

८. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ९८।

९. अष्टा० ८/४/१८।

१०. अष्टा० ७/३/७०।

११. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ८७ हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १००।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— सम्पूर्ण गण के लिए विहित कार्य गणस्थ (गणान्तर्गत) किसी एक धातु के विषय में नहीं भी होता है।

परिभाषा का हेतु— प्राचीनों ने यह परिभाषा ज्ञापकसिद्ध मानी है। इस परिभाषा के मानने में हेतु यह है कि आचार्य पाणिनि 'तनादिकृञ्भ्य[१] उ:' सूत्र में जो 'कृञ्' का पृथक ग्रहण करते हैं। जब कि 'कृञ्' तनादिगण के अन्तर्गत ही आता है, तनादि से 'उ' प्रत्यय का विधान किया ही है तो वह 'कृञ्' से भी हो जाता। पुन: जो 'कृञ्' का पृथक् ग्रहण किया है, वह व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'न विश्वसेदविश्वस्ते'[२] 'विश्वस्ते नातिविश्वसेत्' इत्यादि श्लोक में 'विश्वसेत्' में अदादिगण का कार्य 'अदिप्रभृतिभ्य:[३] शप:' सूत्र से 'शप्' का लुक् नहीं होता है। इसमें आदादिक गण-कार्य नहीं हुआ, फलत: 'विश्वसेत्' रूप सिद्ध हो जाता। इसी प्रकार शीङ् से भी अदादित्वहेतुक 'शप्' का लुक् नहीं भी होता है— 'शयामि' रूप सिद्ध हो जाता है।

परिभाषा विषयक नागेश मत— इस परिभाषा के मानने में भाष्यविरोध प्राप्त होने से नागेश को यह मान्य नहीं है। यह जो 'तनादिकृञ्भ्य:[४] उ:' सूत्र में 'कृञ्' ग्रहण से ज्ञापित मानी गई है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि भाष्यकार ने 'कृञ्' ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है।[५]

समीक्षा— यह परिभाषा गणकार्य के विषय में अनित्यत्व का प्रख्यापन करती है। गणों के आधार पर विहित कार्य भी अनित्य हो जाते हैं। यह परिभाषा पुरुषोत्तमदेव सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में प्रस्तुत की है।[६] कातंत्र ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[७] परिभाषा का अर्थ सभी ने एक समान माना है। परिभाषा के हेतु के विषय में कुछ मतभेद है। कातन्त्र ज्ञापकसिद्ध मानते हैं। पुरुषोत्तमदेव और सीरदेव, घटादित्व से ही होने पर 'क्षमूष्-सहने' धातु में जो षित्करण किया है, उसी को इसका ज्ञापक मानते हैं।[८] नीलकण्ठ एवं हरिभास्कर 'तनादिकृञ्भ्य उ:'[९] में कृञ् ग्रहण को इसका ज्ञापक मानते हैं।[१०] नागेश इन्हीं का अनुकरण करते हुए उक्त सूत्र

---

१. अष्टा० ३/१/९७९। २. वि पूर्वक श्वस्, विधिलिङ्, तिप्।
३. अष्टा० २/४/७२। ४. अष्टा० ३/१/७९।
५. म०भा० ३/१/७९। ६. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
७. 'गणकृतमनित्यम्' कातंत्रपाठ, परि०सं० २९।
८. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १०९, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ११८।
९. अष्टा० ३/१/७९।
१०. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ९२, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० २०।

में 'कृञ्' ग्रहण का ज्ञापक प्रस्तुत करते हैं। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसका प्रयोजन विस्तार से निरुपित किया है। नीलकण्ठ ने संक्षेप में एक ही उदाहरण दिया है। नागेश ने भी इन्हीं का अनुकरण कर एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करके अति संक्षेप में व्याख्या लिखी है। साथ ही इसके अस्तित्व पर विचार करते हुए ज्ञापकों का खण्डन कर दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि नागेश ने यह परिभाषा नहीं मानी है।

(११५) अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्।।प०९७।।

परिभाषा का उपक्रम— 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'[१] में आत्मनेपद का नियम किया गया है कि अनुदात्त तथा ङित् से आत्मनेपद हों, परन्तु अनुदात्तेत् को मानकर होने वाले आत्मनेपद का कहीं-कहीं अभाव भी देखा जाता है। अतः उसके अभाव की उपपत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— कहीं-कहीं अनुदात्तेत् होने पर भी धातु से आत्मनेपद नहीं होता है। **परिभाषा का हेतु**— यह परिभाषा भी ज्ञापकसिद्ध है। हेतु यह है कि आचार्य ने 'चक्षिङ्[२] ऐसा धातु पाठ किया है। चक्षिङ् को ङित् भी किया है और ङित् करने पर भी अन्य प्रयोजनों[३] के सिद्धि के लिए, अनुदात्तेत् (इत्-संज्ञक 'इ' अनुदात्त) भी पढ़ा है तथा अनुदात्तेत् होने से ही 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' सूत्र से 'चक्षि' से आत्मनेपद सिद्ध हो जायगा, पुनः ङित् किसलिए किया है?[४] इस प्रकार व्यर्थ होकर यह परिभाषा ज्ञापित होती है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने पर 'स्फायन्[५] निर्मोकसन्धिः' में 'स्फायन्' में 'अनुदात्तेत् 'स्फायी' धातु से आत्मनेपद न होकर परस्मैपद में 'शतृ'[६] प्रत्यय होकर शत्रन्त 'स्फायन्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'धनक्षये वर्धति जाठराग्निः' में 'वृध्' से आत्मनेपद नहीं होता है। परस्मैपद में 'वर्धति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'उदयति'[७] आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं।

---

१. अष्टा० १/३/१२।

२. धातु पाठ, 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि'।

३. विचक्षणः, प्रथयन् इत्यादि में अनुदात्तेत्व-लक्षण 'युच्' होता है।

४. गूढार्थ०, पृष्ठ ४४२।

५. आत्मनेपदी 'स्फाय्' धातु, लट्, शतृ, शप् आदि होकर 'स्फायतृ' प्र०वि० ए० का रूप।

६. अष्टा० ३/२/१२४।

७. 'उद्' पूर्वक 'अय्' धातु, लट्, आत्मनेपद न होकर परस्मैपद में तिप्, शपादि होकर निष्पन्न।

परिभाषा विषयक नागेश का मत— ये इसको भाष्यानुक्त होने से प्रमाण योग्य नहीं मानते हैं तथा चक्षिङ् के ङित्करण को जो 'अनुदात्तेत्व लक्षणम्०' इस परिभाषा का ज्ञापक माना है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ङकार इसलिए लगाया है कि चक्ष् 'इदित्'-(अन्तेदित्) न हो। 'इदितो नुम् धातोः'[१] सूत्र से अन्तेदित् को नुम् होता है (जो अवयवशः इदित् हो, उसे नहीं)। अतः प्रयोजन रहते ज्ञापक सम्भव नहीं है।[२]

समीक्षा— यह परिभाषा अनुदात्तेत्वलक्षण आत्मनेपद के विषय में विशेष व्याख्यान करती है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने यह परिभाषा इसी रूप में नहीं प्रस्तुत की है।[३] केवल हेम ने भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[४] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने इस परिभाषा को बिना कहे आत्मनेपद की अनित्यता का कथन तथा उसका ज्ञापक पूर्व परिभाषा के व्याख्यान के अन्तर ही कह दिया है। नागेश ने चक्षिङ्' में ङितकरण को इसका ज्ञापक माना है। पुरुषोत्तमदेव ने केवल अनुदात्तलक्षण आत्मनेपद की अनित्यता का सूचक मानकर ही संतोष कर लिया है। सीरदेव ने 'चक्षिङ्' में दो अनुबन्ध को ज्ञापक माना है। नागेश ने इसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। साथ ही अस्तित्व पर विचार करते हुए इसका भी खण्डन कर दिया है। 'चक्षिङ्' के ङित् का अन्य प्रयोजन है।

(११६) नञ्घटितमनित्यम्।।प०९८।।

परिभाषा का उपक्रम— इस शास्त्र में नञ् से युक्त (पर्युदास एवं प्रसज्य रूप से अनित्य) कुछ विधियाँ कहीं गई हैं। वह कहीं-कहीं नहीं भी होती हैं। इसी को इस परिभाषा द्वारा व्यक्त किया जाता है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जिस शास्त्र से नञ् का प्रयोग हो, वह अनित्य होता है अर्थात् इससे विहित कार्य कहीं-कहीं नहीं भी होता है।

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा ज्ञापकसिद्ध है। हेतु यह है कि बिनार्थक नञ् का समास होने पर 'अनुदात्तं पदमनैकम्' ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए, 'अनुदात्तंपदमेकवर्जम्'[५] ऐसा नहीं पढ़ना चाहिए तो भी अर्थ में कुछ भेद नहीं होता है, पुनः सूत्र में 'वर्जम्' ग्रहण क्यों किया गया है? इस प्रकार व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है।[६]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से नञ्-घटित कार्य के अनित्य होने

---

१. अष्टा० ७/१/५८। २. प्र०शे०, पृष्ठ ४४४।

३. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

४. 'आत्मनेपदमनित्यम्' — द्र० हेमपाठ, परि०सं० ९४।

५. अष्टा० ६/१/१५८। ६. अष्टा०, १/४/४।

से 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इस सूत्र से की गयी नदी संज्ञा का निषेध नहीं भी होता है, जिससे 'हे सुभ्रु'[१] यहाँ 'सुभ्रू' की नदी संज्ञा होने से 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व हो जाता है। इसी प्रकार 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र में 'वर्जम्' ग्रहण चरितार्थ होता है, अन्यथा यदि नञ् घटित 'अनेकम्' पढ़ देते तो यह नित्य विधि न होती, कभी एक (उदात्त अथवा स्वरित) को छोड़कर शेष अनुदात्त नहीं भी होता।[२]

परिभाषा विषयक नागेश का मत— यह परिभाषा भाष्य में न होने के कारण अप्रमाणिक है और भाष्यानुक्त ज्ञापक द्वारा प्राप्त अर्थ की ग्राह्यता में कोई प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त भी नागेश यह कहते हैं कि भाष्यकार जहाँ सूत्राक्षरों के प्रयोजनों पर विचार नहीं करते है, वहाँ उसी सूत्र के पाठ से पुरुष को केवल अदृष्ट लाभ होता है, ऐसा मानकर चलना चाहिए, यही उचित भी है व्यर्थ कल्पना नहीं करना चाहिए।[३]

समीक्षा— इस परिभाषा में नञ् घटित में अनित्यता का कथन किया गया है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने यह परिभाषा नहीं प्रस्तुत की है। नागेश ने इसका ज्ञापक 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्'[४] सूत्र 'वर्जम्' ग्रहण को माना है। इसका उदाहरण भी सम्यक् प्रतिपादित किया है तथा इसके अस्तित्व पर विचार करते हुए इसका भी खण्डन कर दिया है।

(११७) आतिदेशिकमनित्यम्।।प०९९।।

परिभाषा का उपक्रम— इस व्याकरण शास्त्र में कुछ अतिदेशिक कार्य विधान किये गये हैं। उनके सर्वत्र नित्य होने से कुछ दोष उपस्थित होते हैं। इन्हीं दोषों के निवारण के लिए प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अतिदेश से प्राप्त कार्य नित्य नहीं होता है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा का ज्ञापक 'स्थानिवत्०'[५] सूत्र से अतिदेश के सिद्ध होने पर जो 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[६] इस सूत्र का आरम्भ किया है वह है। इसी प्रकार 'लोटो लङ्वत्'[७] यह अतिदेश विधायक शास्त्र भी ज्ञापक है। अन्यथा 'ङ् लोट्' ऐसा न्यास करने से ही ङित् निमित्तक कार्य हो जाता, 'लोटो लङ्वत्' यह व्यर्थ रहता।[८]

---

१. भट्टि का प्रयोग, 'सुभ्रू' सम्बोधन विभक्ति परे ह्रस्व, विभक्ति लोप होकर निष्पन्न।

२. अष्टा० ७/३/१०७।

३. प०शे०, पृष्ठ ४४२-४४३, एवं गदा, पृष्ठ १९५।

४. अष्टा० ६/१/१५८।

५. अष्टा० १/१/५६।

६. अष्टा० १/१/६२।

७. वही, ३/४/८५।

८. गूढार्थ०, पृष्ठ ४४५, गदा, पृष्ठ १९६।

परिभाषा का प्रयोजन— आतिदेशिक कार्य के अनित्य होने से ही 'लोटो लङ्वत्' सूत्र से अतिदेश अनित्य है। अत: 'जुह्वतु'[१] में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च'[२] सूत्र से लोट्-सम्बन्धी झि का जुस् नहीं होता है।

परिभाषा विषयक नागेश का मत— नागेश इस परिभाषा का खण्डन करते हैं, क्योंकि यह भाष्य में तथा सूत्र के ज्ञापक से कथित अथवा सिद्ध नहीं। कारण यह है कि जिसको ज्ञापक मान रहे हैं, वह इसका ज्ञापक बनता ही नहीं है। उसका अन्य प्रयोजन कथित है। भाष्य के सिद्धान्त में यह सूत्र 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'[३] नियामक माना गया है, फलत: ज्ञापन असंभव होने से निर्मूल तथा अनुक्त होने से यह परिभाषा उपेक्षणीय ही है। इसी प्रकार 'सिच्' के साहचर्य से अभ्यस्त से भी अनतिदिष्ट 'ङित्' लकार के स्थान में झि का जुस् होता है, ऐसा मानने पर कोई दोष नहीं आता तथा परिभाषा अनर्थक ठहरती है।[४]

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा आतिदेशिक के विषय में अनित्यता का प्रतिपादन करती है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने यह परिभाषा नहीं प्रस्तुत की है। केवल व्याडि पाठ में इसका उल्लेख है।[५] नागेश ने इसका कुछ भी व्याख्यान नहीं किया है। नागेश ने इसके अस्तित्व पर विचार करते हुए इसका भी खण्डन कर दिया है।

(११८) विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे।।प०१०२।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका है कि 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्'[६] इस सूत्र में 'इको गुणवृद्धी'[७] परिभाषा की उपस्थिति होने पर शाला आदि की वृद्ध संज्ञा न होने से[८] 'शालीय:' आदि प्रयोगों में 'वृद्धाच्छ:'[९] सूत्र से 'छ' प्रत्यय न हो सकेगा? इसके समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— (साक्षात्) विधेय के विशेषण में ही परिभाषा उपस्थित होती है, उद्देश्य अनुवाद के विशेषण में नहीं।

परिभाषा का आशय— जो कुछ कहा जाता है उसके विशेषण के विशेषण

---

१. जुहोत्यादिगणीय 'हु' धातु, लोट् प्र०पु०बहु०।

२. अष्टा०, ३/४/१०९। ३. अष्टा० १/१/६२।

४. गूढार्थ०, पृष्ठ ४४५, गदा, पृष्ठ १९६।

५. व्याडिपाठ, मूल, परि०सं० ९५।

६. अष्टा० १/१/७३। ७. वही, १/१/३।

८. अचों के आदि अच् के (इक्) स्थानी न होने से। 'शाला' में 'आ' है। इ नहीं।

९. अष्टा० ४/२/११४।

में परिभाषा उपस्थित नहीं होती, यदि होती तो उस विशेषण का नियमन करती है, यह परिभाषार्थ है।[१] अर्थात् विधेय का जो साक्षात् विशेषण होता है, वहीं प्रवृत्त होती है, परम्परा से जो विशेषण होता हो, वहाँ नहीं प्रस्तुत होती है।

परिभाषा का सिद्धि प्रकार— विधिशास्त्र की उपकारक परिभाषाएँ, विधेय के विशेषण को व्यवस्थित करने में चरितार्थ हो जाती है— यह ठीक है, पर वे विधेय विशेषण के विशेषण को व्यवस्थित करें। इसमें कोई प्रमाण नहीं। इस प्रकार यह परिभाषा तर्क-मूला-न्याय सिद्ध मानी जाती हैं। तात्पर्य यह है परिभाषा का उपस्थापक लिङ्ग (वृद्धि, गुण) प्रधान की अपेक्षा करता है, प्रधान-अप्रधान-न्याय से विधेय प्राधान्य का ही बोध होता है। अत: यथासम्भव विधेय बोधक लिङ्ग का ग्रहण होता है, उद्देश्य बोधक का नहीं। जैसे 'मृजेर्वृद्धि:'[२] सूत्र में 'इक् परिभाषा'[३] उपस्थित होती है। 'वृद्धिर्यस्याचामादि०'[४] इसमें नहीं। क्योंकि यहाँ बृद्धि पद उद्देश्य (अप्रधान) का बोधक है। विधेय का जो साक्षात् विशेषण होता है, वह परम्परया विशेषण के प्रति प्रधान होता है। वहीं परिभाषा की प्रवृत्ति होती है। परम्परा से विशेषणीभूत में नहीं।[५]

परिभाषा का ज्ञापक— 'उदीचामात: स्थाने यकपूर्वाया:'[६] सूत्र में 'स्थाने' ग्रहण इस परिभाषा का लिङ्ग है, अन्यथा 'षष्ठी स्थानेयोगा'[७] इस परिभाषा से ही स्थान-सम्बन्ध की उपलब्धि हो जाने पर इस सूत्र में 'स्थाने' ग्रहण व्यर्थ रहता है। अत: आत्-स्थानिक अत् में यह नहीं होती, अत: सूत्र में 'स्थाने' ग्रहण चरितार्थ होता है।

परिभाषा विषयक नागेश का मत— (क) इनके अनुसार यह ठीक नहीं है। यह सब असाधु है। 'घ्यङ:[८] सम्प्रसारणम्०' सूत्र भाष्योक्त-रीति के अनुसार 'उदात्तस्वरितयोर्यण: स्वरितोऽनुदात्तस्य'[९] इत्यादि[१०] में तथा 'अल्लोपोऽन:'[११] इत्यादि सूत्र में इस परिभाषा का व्यभिचार देखा जाता है। 'उदात्तस्वरित०'[१२] इस सूत्र में यण् का 'स्थाने' के साथ सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है, यद्यपि यण् वहाँ विधीयमान नहीं, किन्तु अनूद्यमान है। 'अल्लोपोऽन:'[१३] में अन् के विषय में यह परिभाषा प्रवृत्त होती है, यद्यपि यह अन् अत् का 'विशेषण है' जो 'अत्' लोप का विशेषण है।[१४]

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ ४४७।
२. अष्टा० ७/२/११४।
३. अष्टा० १/१/३।
४. वही, १/१/७३।
५. प०शे०, पृष्ठ ४४८।
६. वही, ७/३/४६।
७. अष्टा० १/१/४९।
८. अष्टा०, ६/१/१३।
९. वही, ८/२/४।
१०. 'अचो हाभ्यां द्वै', अष्टा० ८/४/४६।
११. अष्टा० ६/४/१३४।
१२. अष्टा० ८/२/४।
१३. वही, ६/४/१३४।
१४. प०शे० पृष्ठ ४४८, गूढार्थ०, पृष्ठ ४४८।

(ख) इतना ही नहीं यह भाष्यानुक्त है, इसलिए भी ग्राह्य नहीं है। **(ग)** 'उदीचामात: स्थाने यकपूर्वाया:'[१] सूत्र का 'स्थाने' ग्रहण प्रकृत परिभाषा का ज्ञापक मानना अयुक्त है। क्योंकि स्थान-सम्बन्ध भी 'षष्ठी[२] 'स्थानेयोगा' इस परिभाषा द्वारा लभ्य नहीं है। इस परिभाषा के न होने पर भी आनन्तर्य आदि सम्बन्धों की अपेक्षा स्थानकृत सम्बन्ध के अन्तरंग होने से स्थान सम्बन्ध ही ले लिया जाता है। इस प्रकार सूत्र में स्थाने ग्रहण स्पष्टता के लिए ही है।[३] इस परिभाषा से कुछ भी साध्य नहीं है। जो कुछ भी इसका फल है, वह 'इको गुणबृद्धी'[४] तथा 'अचश्च'[५] में 'विधीयते' का अध्याहार करने से सिद्ध हो जायेगा। "जहाँ गुण वृद्धिविधान किये जाते हैं, वहाँ 'इक्' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित समझना चाहिए— ऐसा अर्थ होता है, जिससे 'बृद्धिर्यस्याचामादि:०'[६] सूत्र में परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती हैं। फलत: शालीय: आदि की सिद्धि हो जाती है। अत: परिभाषा निष्फल होने से अप्रामाण्य है।[७]

समीक्षा— यह परिभाषा परिभाषा सूत्रों की प्रवृत्ति का निश्चय कराती है। जहाँ साक्षात् विधेय विशेषण रूप में विधि सूत्र में उपात्त करके वह कार्य हो रहा हो, वहाँ परिभाषाओं की उपस्थिति होती है। जहाँ विशेषण रूप में उच्चरित होकर विधेय रूप में न गृहीत हो, वहाँ परिभाषा नहीं उपस्थित होती है? यही इसका प्रतिपाद्य है। यह परिभाषा इसी रूप में, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत की है।[८] अन्य किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं मानी है। इसका अर्थ तो प्राय: सभी में एक ही जैसा है। इसके हेतु के विषय में कुछ मतभेद है। सीरदेव ने प्रधानाप्रधान न्यायलब्ध अर्थ मानते हुए ज्ञापक भी 'उदीचामात:[९] स्थाने०' सूत्र में 'स्थाने' ग्रहण को माना है। नीलकण्ठ ने तर्कमूलक मानते हुए उक्त सूत्र का ही 'स्थाने' ग्रहण ज्ञापक माना है। हरिभास्कर ने केवल ज्ञापकसिद्ध मानते हुए उक्त सूत्र का ही ज्ञापक प्रस्तुत किया है। नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए तर्कमूलक मानने के साथ उक्त सूत्र का 'स्थाने' ग्रहण का ज्ञापक भी माना है तथा हरिभास्कर के अनुसार उपपादन भी किया है। इसका प्रयोजन सीरदेव और हरिभास्कर ने स्पष्टत: कहा हैं। नीलकण्ठ ने कुछ नहीं कहा है। नागेश ने कुछ उदाहरण संक्षेप में प्रस्तुत किये हैं। सीरदेव ने इसकी व्याख्या

---

१. अष्टा० ७/३/४६।
२. अष्टा० १/१/४९।
३. प०शे०, पृष्ठ ४४९।
४. वही, १/१/३।
५. अष्टा० १/२/२८।
६. वही, १/१/७३।
७. उ० १/१/४९।
८. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ८९, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ८४, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ९२।
९. अष्टा० ७/३/४६।

करते हुए अनित्यता का भी कथन किया है। नागेश ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है। इसके साथ ही, नागेश ने इस परिभाषा की आवश्यकता नहीं स्वीकार की है। पूर्वोक्त सभी ज्ञापक, प्रयोजन और हेतु का विस्तार से सप्रमाण खण्डन कर दिया हैं। हरिभास्कर ने भी इस परिभाषा का खण्डन कर दिया है।[१]

(११९) प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः।।प०१०६।।

परिभाषा का उपक्रम—शंका यह होती है कि 'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च' यहाँ भी 'पुमान्[२] स्त्रिया' सूत्र से एकशेष हो जाना चाहिए, अर्थात् 'ब्राह्मणवत्सौ' ऐसा शब्द रूप निष्पन्न होना चाहिए, क्योंकि जैसे ब्राह्मणश्च ब्राम्हणी च=ब्राह्मणौ' अथवा वत्सश्च वत्सा च='वत्सौ' में स्त्रीपुंस्त्वमात्रकृत विशेष है, वैसा ही यहाँ 'ब्राह्मणवत्सा, ब्राह्मणीवत्स में) है। इस आपत्ति के वारण के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जहाँ प्रधान और अप्रधान दोनों में कार्य प्राप्त होता है, वहाँ प्रधान अर्थ में कार्य निश्चित होता है, अप्रधान में नहीं। **परिभाषा का आशय**— जब दो पदार्थों में एक प्रधान है और दूसरा अप्रधान है तो जो कार्य उन दोनों के विषय में प्रवृत्त हो सकता है तो वह प्रधान को होता है, ऐसा समझना चाहिए।[३]

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा लोकन्यायमूलिका है। प्रधान अन्तरंग से तथा अपने उपजीव्य से भी प्रबल होता है, यह 'हेतुमति[४] च' सूत्र के भाष्य में तथा कैयट[५] में स्पष्ट है। 'हेतुमति च' सूत्र में 'हेतुमति' इसकी प्रकृत्यर्थ विशेषणता का खण्डन करके प्रत्ययार्थ विशेषणतापक्ष को स्वीकार करके 'पाचयत्योदनम् देवदत्तो यज्ञदत्तेन' इत्यादि में प्रयोज्य यज्ञदत्त के स्व-व्यापार में स्वतंत्र होने से, पर होने से और अन्तरंग होने से तथा उपजीव्य होने से कर्तृत्व की प्राप्ति होने पर प्रधानीभूत प्रयोजक (देवदत्त) की किया क्रिया अपेक्षा से सर्वत्र कर्मता की प्राप्ति होने पर उसे 'गतिबुद्धि०'[६] इस नियम द्वारा रोका गया है। लोक में भी सर्वत्र प्रधान की बलवत्ता देखी जाती है, जब बहुत से लोग जा रहे हों तब कोई एक किसी दूसरे से पूछता है कि यह कौन जा रहा है? दूसरा उत्तर देता है— राजा जा रहा है। यद्यपि राजा के साथ सेनादि सभी होते है तथापि प्रधान राजा का ही ग्रहण होता है।[७] इस प्रकार प्रधान में ही व्यवहार होता है, अतः यह परिभाषा लोकन्यायसिद्ध है।[८]

---

१. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०९२। २. अष्टा० १/२/६७।
३. प०शे०, पृष्ठ ४५८। ४. म०भा० ३/१/२६।
५. प्र० ३/१/२६ 'भवति हि०' इत्यादि पर व्याख्यान।
६. अष्टा० १/४/५२। ७. म०भा० ३/१/१।
८. गदा, पृष्ठ २०७।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च' में एकशेष नहीं होता है। इसमें स्त्रीत्व और पुंस्त्व स्वार्थ में अप्रधान है और स्वस्वामि-सम्बन्ध में प्रधान है, इसलिए एकशेष नहीं होता है तथा 'ब्राह्मणवत्सा' में ब्राह्मण अप्रधान है, वत्सा (स्त्री०) प्रधान है। 'ब्राह्मणी-वत्सः' में ब्राह्मणी (स्त्री) अप्रधान है, वत्स (पुं०) प्रधान है। यहाँ एकशेष न होने का कारण यह है कि यहाँ न केवल प्रधान वत्स एकत्र पुल्लिंग है और अन्यत्र स्त्रीलिङ्ग है, इतना ही विशेष (भेद) नहीं है, किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी विशेष है कि एकत्र अप्रधान शब्द पुलिंङ्ग है और अन्यत्र स्त्रीलिङ्ग। जहाँ केवल प्रधान स्त्रीपुंस्त्वकृत विशेष हो, वहीं एकशेष होता है। यहाँ तो अप्रधान स्त्रीपुंस्त्वकृत विशेष भी है।[१]

समीक्षा— यह परिभाषा प्रधान एवं अप्रधान के कार्यों के प्रसंग में किसका कार्य होना चाहिए, इसका निश्चय करती है। सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इस परिभाषा को इसी रूप में प्रस्तुत किया है।[२] व्याडि, शाकटायन, कात्यायन तथा कातंत्र ने भिन्न रूप में पाठ किया है।[३] भोज ने भी भिन्न रूप में पाठ किया है।[४] चन्द्र, जैनेन्द्र, एवं हेम ने इस परिभाषा को नहीं माना है।[५] सभी ने इस परिभाषा का अर्थ एक समान माना है। इसके हेतु के विषय में भी पूर्ववर्ती आचार्यों एवं नागेश में कोई मतभेद नहीं है। सीरदेव एवं हरिभास्कर ने लोकन्यायसिद्ध मानते हुए प्रधानन्यायमूल का विस्तार से प्रतिपादन किया है। नीलकण्ठ ने भी अन्तरङ्ग तथा उपजीव्य से भी प्रधान का बलवत्व स्वीकार करते हुए भाष्य एवं कैयट के प्रमाण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये है। नागेश ने भी नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए अन्तरङ्ग एवं उपजीव्य से भी प्रधान बलवत्तामूलक लोकन्याय सिद्ध माना है। परिभाषा के उदाहरण के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में मतभेद है। सीरदेव तथा हरिभास्कर ने 'आकडारादेका संज्ञा'[६] में 'कडाराः कर्मधारये'[७] में पठित 'कडारा' शब्द लिया जाता है, न कि 'प्राक्कडारात् समासः'[८] में गृहीत, क्योंकि यह अप्राधान्य है, यह प्रयोजन माना है। नागेश 'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च' उदाहरण का प्रतिपादन करते हैं। नीलकण्ठ ने कोई उदाहरण नहीं दिया

---

१. म०भा० १/२/६७ तथा १/२/६९।

२. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १०२, नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ८९, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १०४।

३. 'प्रधानान्वाचयशिष्टयोः प्रधानशिष्टे संप्रत्ययः' व्याडिपाठ, परि०सं० ६७, शाकटायन पाठ, परि०सं० ७१, कातंत्र पाठ, परि०सं० ३८।

४. 'प्रसिद्धै सह-चरिते च', भोजपाठ, परि०सं० ७१।

५. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

६. अष्टा० १/४/१।

७. अष्टा० २/२/३८।

८. वही, २/१/३।

है। फलतः नागेश ने सीरदेव आदि द्वारा उक्त प्रयोजन को नहीं माना है।[१]

(१२०) अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी।।प०१०७।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'न षट्स्वस्रादिभ्यः'[२] यह सूत्र स्वस्रादिगण में पठित जननीवाचक मातृ शब्द से ङीप् का निषेध करता है, उसी प्रकार परिच्छेतृवाचक मातृ शब्द से भी ङीप् का निषेध होना चाहिए? क्योंकि दोनों ही एक ही रूप वाले हैं। एक में होना और दूसरे में न होना अनुचित हैं— इसका समाधान करने के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अवयव की प्रसिद्धि से समुदाय की प्रसिद्धि बलवती होती है। **परिभाषा का आशय**— तात्पर्य यह है कि शब्द के घटक (कल्पित) अवयवों द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसकी अपेक्षा शब्दसमुदाय (प्रकृति प्रत्ययादि विभाग-रहित) की जिस अर्थ में प्रसिद्धि (रुढ़ि) होती है, वहीं बलवती है तथा अवयव की प्रवृत्ति अल्प अंश में और समुदाय की प्रवृत्ति सम्पूर्ण अर्थ में होती है।[३]

परिभाषा का हेतु— इस न्याय का हेतु यह है कि यौगिक एवं रुढ़ स्थल में रुढ़ अर्थ वाले शब्द का ग्रहण होता हैं। नागेश ने कहा है कि योगजबोध- (अवयवार्थ से उत्पन्न होने वाले बोध) में अवयवार्थ से सर्वथा शून्य रुढ़ि से जो अर्थ की प्रथम उपस्थिति होती है, वह प्रतिबन्धक होती है। इसके सम्बन्ध में मीमांसा के 'रथकाराधिकरण[४]न्याय' का प्रमाण है कि यह अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है और यह अव्युत्पत्तिलभ्य है— यही इस परिभाषा का मूल है।[५] रथकाराधिकरण में 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत'[६] यहाँ रथं करोतीति- 'रथकारः' इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ की उपेक्षा कर संकर-जातीय 'करणी' में माहिष्य से उत्पन्न हुए व्यक्ति का ही ग्रहण किया गया है। यहाँ 'रथकार' शब्द जाति विशेष में मनु के वचन से रूढ़ है और 'रथकरण' के कर्ता में यौगिक है तथा रथकरण के सम्बन्ध में द्विज का ग्रहण करे अथवा उक्त जाति विशेष का, संशय होने पर योग से रूढ़ अर्थ बलवान् मानकर उसका ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव मूलकन्याय से सिद्ध परिभाषा है।[७]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के कारण स्वस्रादिगण में शुद्ध रूढ़

---

१. गदा, पृष्ठ २०७। २. अष्टा० ४/१/१०।

३. प०शे०, पृष्ठ ४५९।

४. गूढार्थ०, पृष्ठ ४५९ एवं भूति, पृष्ठ ३१५।

५. प०शे०, पृष्ठ ४५९। ६. द्र० मीमांसा।

७. गदा, पृष्ठ २०८।

जननी वाचन 'मातृ' शब्द का ही ग्रहण होता है और परिच्छेतृवाचक 'मातृ' शब्द के यौगिक होने से अवयव प्रसिद्धि मानकर स्वस्त्रादिगण से ङीप् का निषेध[१] नहीं होता है। अर्थात् परिमाणवाचक मातृ शब्द स्त्री हो तो ङीप् होकर 'मात्री, मात्रयौ, मात्र्यः' ऐसे प्रयोग होते हैं तथा जननी वाचक मातृ शब्द के रुढ़ होने से समुदायवाची मानकर ङीप् का निषेध होता है।

प्रसंगतः अन्यों के मतों की समीक्षा— पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव विद्वान् इस परिभाषा का निम्न फल बताते हैं। प्रकृत परिभाषा की प्रवृत्ति के कारण 'दीधीवेवीटाम्'[२] सूत्र में समुदाय रूप दीधीङ् और वेवीङ् का ग्रहण होता है, अवयवभूत 'दी, धी, वे, वी' इन चार रूपों का ग्रहण नहीं होता है— ऐसा कहते हैं।[३] **अन्य लोगों का मत**— न्यासकार आदि ने भी इस परिभाषा के प्रयोजन पर विचार किया है। नागेश ने प्रसंगतः उनका भी मत दिया है। सीरदेव आदि के प्रयोजन का खण्डन करते हुए इनका कहना है कि यदि आचार्य पाणिनि को इन चारों का ग्रहण इष्ट होता तो सन्देहाभाव के लिए 'दी वे धी वी टाम्' ऐसा सूत्र पाठ कर पढ़ देते? परन्तु यह नहीं किया है। अतः उन चार रूपों का ग्रहण नहीं होता। फलतः उनका वारण इसका प्रयोजन न होने से यह परिभाषा निष्फल ही है, यह उनका तात्पर्य है।

नागेश का मत— नागेश इन दोनों मतों से सहमत नहीं है। इनका मत भिन्न प्रतीत होता है।[४] इनके अनुसार ये लोग प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभाव के स्वरूप को न जानने वाले तथा यथाश्रुतार्थग्राही है। अतः उनका प्रतिपादन ठीक नहीं कहा जा सकता है। वस्तुतः प्रकृत सूत्र में समुदायरूप दीधीङ् तथा वेवीङ् का ही ग्रहण इष्ट है, पर वह इस परिभाषा से नहीं, किन्तु भाष्यकार द्वारा किये गये सूत्रस्थ दीधीङ्, वेवीङ् इन दो धातुओं के प्रत्याख्यान से लभ्य है, फलतः भाष्यरीति से यह इसका फल नहीं हो सकता है तथा न्यासकार की भी बात ठीक नहीं लगती, क्योंकि इट् में भी तो सन्देह हो सकता है कि आगम है या धातु है? उसके लिए जिस उपाय की आवश्यकता है उसी से इनमें भी निर्वाह हो जायगा। फलतः इस प्रकार का सन्देहाभाव रूप प्रकार उचित नहीं। अपितु उक्त 'मातृ' शब्द में प्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण ही इस परिभाषा का प्रयोजन है एवं 'पाण्डुकम्बलादीनिः'[५] इस सूत्र में 'रुढ़' का ही ग्रहण होता है यौगिक का नहीं, यह

---

१. 'न षट्स्वस्त्रादिभ्यः' अष्टा॰ ४/१/१०।

२. अष्टा० १/१/६।

३. प०शे०, पृष्ठ ४५९, गदा, पृष्ठ २०८, पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० १०१, सीरदेववृत्ति, परि०सं० १०४.

४. गदा, पृष्ठ २०८ 'अनेनारुचिः सूचिता'।

५. अष्टा० ४/२/११।

भी इसका प्रयोजन है। इसके लिए परिभाषा की आवश्यकता है।[१]

समीक्षा— यदि एक सामान्य शब्द दो अर्थों का वाचक होता है तो उस शब्द को ग्रहण करके कार्य करने में दोनों अर्थ वाले शब्दों का ग्रहण होता है? या किसी एक अर्थ विशेष वाले का ही? इस सन्देह का निराकरण इस परिभाषा से किया गया ह। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इस परिभाषा को इसी रूप में प्रस्तुत किया है।[२] व्याडि आदि[३] ने इसे नहीं माना है। परिभाषा का अर्थ सभी ने एक समान माना है। परिभाषा के हेतु के विषय में कुछ मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव ने इसको युक्ति सिद्ध माना है।[४] सीरदेव ने प्रधानाप्रधानन्यायलब्धमूलक माना है तथा न्यासकार का मत प्रस्तुत करते हुए उसी उक्त न्याय से गतार्थता मानी है।[५] नीलकण्ठ ने 'रथकाराधिकरण' न्यायसिद्ध माना है।[६] हरिभास्कर ने नीलकण्ठोक्त न्यायसिद्ध मानते हुए भी उसका खण्डन करते हुए प्रधानन्याय से ही गतार्थता मानी है[७] नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए रथकाराधिकरण न्यायसिद्ध मानते हुए अन्य हेतुओं का खण्डन किया है। विस्तार से उक्त 'रथकारा०' न्यायमूलक प्रतिपादित किया है। परिभाषा के प्रयोजन स्वरूप उदाहरण के विषय में मतभेद है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसका प्रयोजन 'दीधीवेवीटाम्'[८] सूत्र में दीधीङ्, वेवीङ् का ही ग्रहण होता है, 'दीङ्, धीङ्, वे, वी' का नहीं माना है। परन्तु नागेश ने इसका उल्लेख करने के साथ न्यासकार के मत का भी उल्लेख करके खण्डन कर दिया है।[९] जननी वाचक मातृ से ङीप् निषेध होता है, परिमाणवाची मातृ से नहीं— उदाहरण प्रस्तुत किया है।

(१२१) सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्।।प०११२।।

परिभाषा का उपक्रम— 'विपराभ्यां जेः'[१०] इस सूत्र से वि, परा पूर्वक जि धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। 'परा सेना जयति' इस अर्थ में 'परा जयति सेना' में सेना शब्द के विशेषण 'परा' शब्द से परे भी 'जि' से आत्मनेपद प्राप्त होता है, इस सन्देह की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— सहचारी और असहचारी दोनों का जहाँ ग्रहण

---

१. गदा, पृष्ठ २०८-२०९, गूढार्थ०, पृष्ठ ४६०।

२. परि०संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

३. शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र, जैनेन्द्र, भोज, हेम।

४. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं०१०१।

५. सीरदेववृत्ति, परि०सं०१०४।

६. नीलकंठवृत्ति, परि०सं० ९९।

७. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १०६।

८. अष्टा० १/१/६।

९. प०शे०, पृष्ठ ४५९।

१०. अष्टा० १/३/१९।

हो सकता हो, वहाँ सहचारी का ही ग्रहण होता है, असहचारी का नहीं।

परिभाषा का आशय— भाव यह है कि व्याकरणशास्त्र में जब किसी सूत्र में ऐसा शब्द प्रयुक्त किया जाता है, जो किसी के साहचर्य में प्रयुक्त होता है तो वह उसके सदृश भी हो सकता है और पृथक् भी, तो वहाँ उस अर्थ के सदृश का ही ग्रहण होता है, विसदृश-भिन्न अर्थ वाले का नहीं।

सहचरित शब्द का अभिप्रेत अर्थ— 'सहचरित' शब्द कर्ता में 'क्त'[१] प्रत्ययान्त है। तब इसका अर्थ होता है 'सादृश्य वाला'। अभिप्राय यह है कि सदृशों का ही साहचर्य से कथन होता है। अतः 'सहचरित' शब्द सादृश्यवान् को कहता है। इस प्रकार समभिव्याहृत पदार्थों का सादृश्य ही अनेक अर्थ वालों में अभिधा का नियम करता है, सहचरण नहीं।[२] इसी प्रकार अन्यत्र[३] भी साहचर्य का अर्थ 'सादृश्य' ही लिया जाता है=लोक में भी देखा जाता है— यथा 'रामलक्ष्मणौ' यहाँ भी राम तथा लक्ष्मण का सादृश्य (दाशरथि होने में सादृश्य) ही राम शब्दाभिधेय अर्थ में नियामक है। इस प्रकार सहचरण, सहप्रयोग रूप साहचर्य नहीं लिया जाता है। दूसरा हेतु यह है कि दो सदृश पदार्थों को ही एक साथ कहने की इच्छा होती है और कहीं उन्हीं का शास्त्र में 'सहप्रयोग होता है, यह सामान्य नियम है। फलतः 'सहचरित' का अर्थ है, जो जिसके साथ प्रयुक्त होने पर उसके सदृश अर्थ का सादृश्य है, वह सहचरित-(सादृश्य) है।[४] **(क) उक्त अर्थ में प्रमाण**— इस परिभाषा का संकेत 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया'[५] सूत्र के भाष्य में मिलता है। वहाँ 'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः'[६] सूत्र से जो 'परि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा की है, उसके योग में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'[७] सूत्र से पञ्चमी की शंका करके कहा है— "यद्यपि 'परि' का अव्यभिचार (नियत रूप) से 'वर्जन' अर्थ नहीं है, वर्जन से अतिरिक्त[८] अर्थ भी देखा जाता है। परन्तु कर्म प्रवचनीय 'अप' शब्द का तो वर्जन अर्थ को छोड़कर नियत रूप से दूसरा अर्थ नहीं होता। 'अप' का सहचरित (सहाय) वर्जनार्थक 'परि' को छोड़कर कौन सा परि शब्द हो सकता है? उदाहरण रूप में जैसे जब यह कहा जाता है कि इसे गौ का साथी चाहिए, तो गौ (बैल) ही लाया जाता है, घोड़ा अथवा गधा नहीं"। इस भाष्य-सन्दर्भ से सदृशों का ही प्रयोग (सूत्र) में सहायभाव होता है, इसका बोधन किया गया है।

---

१. 'गत्यर्थाकर्मक०' अष्टा० ३/४/७२।

२. गूढार्थ०, पृष्ठ ४६५।

३. वा०प० कारिका— 'संप्रयोगो वियोगश्च०' आदि।

४. प०शे०, पृष्ठ ४६५।

५. म०भा० २/३/८।

५. अष्टा० १/४/९०।

६. अष्टा० २/३/१०।

८. अवर्जन, लक्षण, इत्थंभूत आदि अर्थ, द्र० अष्टा० १/४/९०।

परिभाषा की अनित्यता— 'द्वित्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे'[१] सूत्र में 'कृत्वोऽर्थे' ग्रहण से यह परिभाषा अनित्य है। साहचर्य से ही सदृश सुजन्त 'चतुः' शब्द का ग्रहण सिद्ध था, तो 'कृत्वोर्थे' ग्रहण व्यर्थ है। पुनः व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि कहीं-कहीं सदृश का ग्रहण नहीं भी होता है।[२] **(क) अनित्यता का लाभ**— अनित्य होने से 'दीधीवेवीटाम्' सूत्र में धातु के साथ साहचर्य होने पर भी 'इट्'[३] आगम का ग्रहण होता है। 'इट् गतौ'[४] में पढ़ी हुई 'इट्' धातु का नहीं तथा 'आदृगमहनजनः०'[५] आदि सूत्र में 'गम्' आदि धातुओं के साहचर्य में भी 'ऋ' धातु का ग्रहण नहीं होता, इत्यादि फल हैं।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'परा जयति सेना' में आत्मनेपद नहीं होता है। इसमें 'वि' शब्द रूप केवल उपसर्ग के साहचर्य से पढ़ा हुआ 'परा शब्द' (जो तत्सदृश उपसर्ग भी है और विसदृश अनुपसर्ग भी है) 'वि' शब्द के सदृश उपसर्ग ही लिया जायेगा, अतः 'पराजयति सेना' (उत्कृष्ट सेना जीतती है) में 'परा' सेना का विशेषण होता है। अतः अनुपसर्ग होने से 'विपराभ्यां[६] जेः' सूत्र से 'जि' से आत्मनेपद नहीं होता है। सेना के विशेषण में 'परा' शब्द उपसर्ग का सहचारी नहीं है, अतः आत्मनेपद नहीं हुआ। इस 'विपराभ्यां जेः' सूत्र में 'वि' शब्द के सादृश्य से 'परा' शब्द भी प्रकृत परिभाषा से उपसर्ग का निश्चायक होता है। 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः'[७] सूत्र से कर्म प्रवचनीय अप, आङ्, परि के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। वह वर्जनार्थ 'अप' शब्द के साहचर्य से 'वृक्षं प्रति विद्योतते[८] विद्युत्' में लक्षण अर्थ में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

समीक्षा— सामान्य शब्द के ग्रहण में उस शब्द के सहचारी अर्थ का ग्रहण होता है या असहचारी का? क्या उपसर्ग का कार्य उसी शब्द के विशेषण रूप से प्रयोग होने पर हो सकता है? उस शब्द से वलाक्षिप्त अर्थ से भिन्न अर्थ होने पर कार्य होता है? आदि का निर्णय यह परिभाषा करती है। शाकटायन, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[९] हेम ने सर्वथा

---

१. अष्टा० ८/३/४३।
२. अष्टा० १/१/६।
३. अष्टा० ७/२/३५।
४. धातुपाठ, भ्वादिगण।
५. अष्टा० ३/२/१७१।
६. अष्टा० १/३/१९।
७. अष्टा० २/३/१०।
८. 'प्रति' कर्मप्रवचनीय के योग में वृक्ष शब्द, द्वि० वि०ए०— द्र० अष्टा० २/३/८।
९. परि०संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

भिन्न रूप में मानी है।[१] चान्द्र ने भी भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[२] भोज ने भी भिन्न रूप में मानी है।[३] व्याडि, कातंत्र एवं जैनेन्द्र ने नहीं मानी है। इस परिभाषा की व्याख्या पूर्ववर्ती आचार्यों एवं नागेश ने एक समान ही की है। हेतु, प्रयोजन आदि सभी में समान है। इसका हेतु पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव एवं हरिभास्कर ने लौकिक न्याय ही माना है। तथा भाष्य प्रमाण का उदाहरण 'गौ की दूसरी गो ही लायी जाती है, अश्व या गर्दभ नहीं प्रस्तुत किया है।'[४] नीलकण्ठ ने सहचरण सम्बन्ध ज्ञानमूलक अर्थ के तात्पर्य सिद्ध यह परिभाषा मानी है।[५] नागेश ने भी उक्त हेतु ही माना है तथा विस्तार से भाष्य प्रमाण पूर्वक प्रतिपादन किया है।[६] इस परिभाषा को पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने अनित्य मानते हुए इसका ज्ञापक 'द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे'[७] में 'कृत्वोर्थ' ग्रहण को माना है। नीलकण्ठ ने कुछ नहीं कहा है। नागेश ने इसको अनित्य मानते हुए सीरदेव आदि के अनुसार ही 'द्विस्त्रिश्चतु०' सूत्र में 'कृत्वोऽर्थ' ग्रहण को ज्ञापक माना है तथा प्रयोजन भी प्रतिपादित किया है। परिभाषा का प्रयोजन सभी ने प्रतिपादित किया है। नागेश ने उदाहरण प्रस्तुत करते हुए परिभाषा का प्रयोजन निरूपित किया है। इन्होंने 'सहचरित' शब्द का 'सादृश्य' अर्थ बताते हुए भाष्य प्रमाण पूर्वक विस्तार से प्रतिपादन किया है। सीरदेव आदि ने ऐसा नहीं किया है।

(१२२) अभेदका गुणाः।।प०११८।।

परिभाषा का उपक्रम— यहाँ यह शंका है 'यू स्त्र्याख्यौ नदी'[८] (स्त्री लिङ्गत्व कहने वाले दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त नदी संज्ञक होते हैं) इसमें 'व्यक्ति पक्ष' मानने पर दीर्घ (ई, ऊ) अण् नहीं कहलायेंगे, क्योंकि अक्षरसमाम्नाय में दीर्घ ई, ऊ का पाठ नहीं किया है।[९] अतः सवर्णग्रहण न होने से 'अनण्' हैं। इस कारण अब 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'[१०] सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः उदात्तादि किसी एक स्वर वाले का उच्चारण करने पर, किसी दूसरे स्वर से उच्चरित ई, ऊ की, उक्त सूत्र से नदी संज्ञा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि 'व्यक्तिपक्ष' में एक ही व्यक्ति का ग्रहण हो सकता ह। अतः जिस गुण युक्त का सूत्र में उपादान है, उसी गुणयुक्त की संज्ञा होगी,

१. 'सहचर्यात् सदृशस्यैव', हेमपाठ, परि०सं० ६३।

२. 'सहचरितप्रत्यासत्तेः तदितरेतरयोगः' — चान्द्रपाठ, परि०सं० ५१।

३. 'प्रसिद्धे सहचरिते च' भोजपाठ, परि०सं० ७१।

४. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ४९, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ११५, हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ११७.

५. नीलकंठवृत्ति, परि०सं०९९।

६. गदा, पृष्ठ २१३।

७. अष्टा० ८/३/४३।

८. अष्टा० १/४/३।

९. अष्टा० प्रत्या०सू० १-१४।

१०. अष्टा० १/१/६९।

अन्य गुण की नहीं होगी?[१] इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— उदात्तादि गुण अभेदक होते हैं अर्थात् गुणी के उपात्त स्वरूप को विशेषित (अन्यों से भिन्न) नहीं करते हैं। **परिभाषा का सामान्य आशय**— सूत्रादि में विशेष यत्न के अभाव में स्वरूप से उच्चारित किये गये उदात्त आदि गुण भेदक नहीं होते अर्थात् विवक्षित नहीं होते है।

परिभाषा का ज्ञापक— इस परिभाषा के होने में, 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः'[२] सूत्र में 'अनङ्' आदेश के उदात्तगुणयुक्त उच्चारण से ही इष्ट सिद्ध हो जाने पर पुनः जो 'उदात्त' शब्द का ग्रहण=(अनङ् उदात्तः) पाठ किया है, वह ज्ञापक है। यदि यह परिभाषा न हो तो 'अस्थिदधि०'[३] आदि सूत्र में 'अनङ्' के साथ 'उदात्त' शब्द न पढ़कर अकार को ही उदात्तादि गुण विशिष्ट पढ़ने से ही इष्ट सिद्ध हो जाता, पुनः 'उदात्त' ग्रहण व्यर्थ हो जाता (अनङ् उदात्तः)। परिभाषा के होने पर तो अनङ् को उदात्त गुण-युक्त पढ़ते, तो अभेदक होने से विशेष गुणों का ज्ञान नहीं होता। इससे 'उदात्त' शब्द का पाठ सार्थक होता है। तात्पर्य यह है कि विशेष यत्न (गुणों का शब्दतः उच्चारण) न किया जाय तथा स्वरूप (किसी गुणयुक्त) का उच्चारण किया गया हो तो ऐसा गुण अविवक्षित ही समझा जाता है। अर्थात् गुण से गुणी के स्वरूप का कुछ भी भेद विवक्षित नहीं समझा जाता है तथा ज्ञापक सूत्र में उदात्त प्रयत्न करने के कारण गुण की विवक्षा समझी जाती है।[४] **उदात्तादि गुणों की अविवक्षा**— इन गुणों के भेदक न होने में हेतु यह दिया गया है कि शास्त्र में स्वरूप से (गुण रूप) उच्चारित गुण[५] को बोध कराने में विशेष यत्न न किया हो, तब गुण की विवक्षा नहीं होती है।[६] **उदात्तादि गुणों के विवक्षा स्थल**— अधोलिखित स्थलों में उदात्तादि गुणों की विवक्षा ही रहती है। (गुण भेदक ही माने जात हैं)। **(क)** जहाँ स्वरूप से उच्चारित न होकर शब्दों द्वारा उच्चारित किये गये हैं, वहाँ उन गुणों की विवक्षा होती है। **(अ)** जैसे 'अनुदात्तादेरञ्'[७] सूत्र में 'अनुदात्त' शब्द का उच्चारण करके कार्य विधान किया गया है, वहाँ 'अनुदात्त' विवक्षित ही रहता है, क्योंकि 'अनुदात्त' शब्दोच्चारण रूप यत्न-विशेष किया गया है। अतः वह कार्य उदात्त आदि से नहीं होता है। **(१) उदाहरण**— जिस प्रकार अनुदात्तादि प्रातिपदिक से 'समूह' अर्थ में 'अञ्' होता है— 'कापोतम्'[८] आदि, परन्तु वैसा वह

---

१. गूढार्थ०, पृष्ठ ४७३। २. अष्टा० ७/१/७५।

३. अष्टा० ७/१/७५। ४. गूढार्थ०, पृष्ठ ४७४।

५. उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, आनुनासिक्य का ग्रहण तथा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि का ग्रहण, द्र० गूढार्थ०, पृष्ठ ४७३-४७४।

६. प०शे०, पृष्ठ ४७३। ७. अष्टा० ४/२/४४।

८. 'कपोतानां समूहः'=इस अर्थ में 'कपोत' अन्तोदात्त।

'काकानां समूहं='काकम्' में 'काक' शब्द के आद्युदात्त होने से 'अञ्' न होकर अण्[१] होता है। **(आ)** इसी प्रकार 'अन्तोदात्तादुत्तर०'[२] आदि सूत्र में 'उदात्त' शब्द उच्चारण रूप यत्न विशेष को मानकर विहित कार्य होने से उदात्त विवक्षित ही रहता है। अत: वह कार्य अनुदात्तान्त से नहीं होता है। **(१) उदाहरण**— जिस प्रकार 'परमवाचा' में अन्तोदात्त एकाच् उत्तर पद से परे तृतीयादि विभक्ति को उदात्त होता है, उसी प्रकार 'अवाचा'[३] में अव्ययपूर्वपद प्रकृति स्वर होने से अन्तोदात्त न होकर अनुदात्तान्त एकाच् से परे विभक्ति को उदात्त नहीं होता है। **(इ)** इसी प्रकार 'ऊञ:'[४] ऊँ' यहाँ अनुनासिक का स्वरूप से उच्चारण न करके जो यत्न विशेष से 'ऊँ' ऐसा अनुनासिक का उच्चारण किया है, वह विवक्षित ही माना जाता है।[५] **(१) उदाहरण**— जिस प्रकार 'ऊँ' इति' में अनुनासिक होने पर प्रगृह्य संज्ञा होती है, वैसी उ इति='विति'[६] में अनुनासिक के अभाव में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है। **(ई)** इसी प्रकार 'पथिमथ्यृभुक्षामात्'[७] सूत्र में स्थानी पथिन् आदि का 'न्' के अनुरूप अनुनासिक 'आँ' का जो उच्चारण नहीं किया है, अत: विवक्षित माना जाता है। अतएव अनुनासिक 'आँ' का ग्रहण न होकर निरनुनासिक का ही ग्रहण होता है। **(१) उदाहरण**— अत: जैसे 'पथिन्' के न् के स्थान में आ आदेश करके 'पन्था: आदि रूप में निरनुनासिक का कथन होता है, वैसे सवर्ण के कारण[८] 'आँ' सानुनासिक का ग्रहण न करने से 'पन्थाँ:' आदि नहीं कह सकते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहाँ विशेष यत्न करके गुण-युक्त अक्षर को पढ़कर तथा गुणों का शब्दों द्वारा उच्चारण करते हैं, वहाँ सर्वत्र विवक्षित अर्थात् भेदक होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।[९]

ज्ञापक में शंका— 'अस्थि' आदि शब्द 'नव्विषयस्यानिसन्तस्य'[१०] (फिट् सूत्र) से आद्युदात्त हैं। अन्त्य ('अस्थि' आदि का अनुदात्त 'इ') अनुदात्त है, इसके स्थान में स्थानी के अनुरूप 'अनङ्' को अनुदात्त उच्चारण न करके उदात्त उच्चारण रूप यत्न किया गया है, जो यत्नविशेषापेक्ष है— वह विवक्षा के लिए होगा तो ज्ञापक कैसे हो सकता है?[११] **समाधान**— इस शंका का समाधान नागेश ने निम्न हेतु द्वारा किया है। यह उचित इसलिए नहीं है कि 'परमास्थि' शब्द में अनङ् अन्तादेश होता है। इस

---

१. अष्टा०४/२/३७ 'तस्य समूह:'। २. अष्टा० ६/१/१६९।
३. 'नञ्' का वाच् के साथ समास, तृ० वि०ए० में आद्युदात्त प्रकृति स्व।
४. अष्टा० १/१/१७। ५. प०शे०, पृष्ठ ४७४।
६. 'उ+इति' में सामान्य 'उ' की प्रगृह्य संज्ञा न होने से यण्।
७. अष्टा० ७/१/८५। ८. अष्टा० १/१/६९।
९. प०शे०, पृष्ठ ४७४। १०. फिट् सूत्र, सूं०सं० २६।
११. प०शे०, पृष्ठ ४७५।

'परमास्थि' शब्द में 'सभासस्य'[१] सूत्र से 'इ' 'उदात्त है। पुनः स्थानी उदात्त 'इ'के स्थान में आनुरूप्य से बिना यत्न विशेष के उदात्त 'अनङ्' हो जायेगा। उदात्त-धर्मक 'इ' के स्थान में उदात्त अनङ् ही हो, यह विवक्षा सम्भव नहीं हो सकती। फलस्वरूप यह प्रयोजन नहीं हो सकता। व्यर्थ होकर ज्ञापक मानने में बाधा नहीं है।[२]

परिभाषा विषयक कैयटादि का मत— इन लोगों का कहना है कि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ'[३] के भाष्य में "चतुर् के स्थान में चतसृ आदेश आद्युदात्त माना जायेगा"=जो ऐसा कहा है। इसी प्रकार 'स्थानिवदादेशो०'[४] सूत्र के भाष्य में "हन् का बध आदेश आद्युदात्त निपातित किया जायेगा", 'पादस्य पदाज्याति०'[५] सूत्र के भाष्य में 'पद आदि अन्तोदात्त निपातित किये जायेंगे," तथा 'सहस्य सः संज्ञायाम्'[६] सूत्र के भाष्य में 'सह का आदेश स उदात्त निपातित किया जायेगा" इत्यादि जो कहा है, वह अष्टाध्यायी एकश्रुति से पढ़ी गई है— ऐसा मानकर किया गया है, उससे कहीं उदात्त आदि विवक्षार्थ है, ऐसा आशय प्रकट होता है। ऐसा मानने पर 'अस्थिदधि०'[७] आदि सूत्र में 'अनङुदात्तः' में 'उदात्त' ग्रहण ज्ञापक नहीं है[८] तथा अष्टाध्यायी त्रैस्वर्य से पठित है— इस पक्ष में उक्त सूत्र में 'उदात्त' ग्रहण ज्ञापक बनता है।इस प्रकार उक्त दोनों भाष्यों के प्रामाण्य से दोनों पक्षों में यह परिभाषा भाष्यकार की अभिमत है।[९]

सिद्धान्त मत— दूसरे लोगों का ऐसा मत है और नागेश भी उनके साथ सहमत है कि सर्वप्रथम 'निपातनम्', 'निपात्यते' आदि शब्दों का यह आशय है कि शास्त्र से जब भिन्नरूप का प्रयोग प्राप्त होता है, तब उससे भिन्नरूप का प्रयोग सिद्ध करना, यही यत्नाधिक्य है। अतएव वहाँ 'उदात्त' आदि की विवक्षा होती है, ऐसा समझना चाहिए।[१०] **विशेषतः** यह कि 'न तिसृचतसृ'[११] सूत्र के 'तिसृचतसृ' इस द्वन्द्व में अन्तोदात्त उच्चारण न करके आद्युदात्त निम्न 'वध' आदि में विवक्षा के लिए है। 'वध' आदि में स्थानी के अनुरूप[१२] स्वर न उच्चारण करके आद्युदात्त आदि का उच्चारण करना विवक्षार्थ है।[१३] सम्पूर्ण अष्टाध्यायी एक-श्रुति से पढ़ी गयी है— इसमें कोई

---

१. अष्टा० ६/१/२२३।
२. प०शे०, पृष्ठ ४७५।
३. अष्टा० ७/२/९९।
४. अष्टा० १/१/५६।
५. वही, ६/३/५२।
६. वही, ६/३/७८।
७. वही, ७/१/७५।
८. प०शे०, पृष्ठ ४७५।
९. प्र० १/१/१ 'उदात्तमेव' पर व्याख्या।
१०. प०शे०, पृष्ठ ४७५।
११. अष्टा० ६/४/४।
१२. 'हन्' इस स्थानी को धातुस्वर से अन्तोदात्त रूप से साधुत्व के बोधन के कारण अन्तोदात्त या निघात का उच्चारण।
१३. प०शे०, पृष्ठ ४७६।

प्रमाण नहीं है। यद्यपि कहीं-कहीं एकश्रुति से पाठ भी है, जैसे 'दाण्डिनायनहास्तिनायन०'[१] आदि सूत्र में 'ऐक्ष्वाक:' शब्द में है। 'ईक्ष्वाकु' शब्द के उकार के लोप के लिए भिन्न-भिन्न स्वरयुक्त[२] होने से सभी के संग्रह के लिए एकश्रुति से उस पद का निपातन भाष्यकार ने आश्रित किया है।[३] इस प्रकार यदिसर्वत्र एकश्रुति से पाठ होता तो विशेष रूप एकश्रुति से वहाँ अभिधान असंगत होता? अत: अष्टाध्यायी त्रैस्वर्य से सम्पूर्ण पढ़ी गयी है, यह ध्वनित होता है।[४] यह बात और है कि वेदांगों को प्राय: स्वररहित पढ़ा जाता है, जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थ, तथापि अध्येता लोग शिष्टों के व्याख्यान से अनुनासिक का ज्ञान करते है— 'प्रतिज्ञानुनासिक्या: पाणिनीया:'[५]। इसी प्रकार उक्त 'चतसृ' आदि में उदात्त आदि के निपातन का भी ज्ञान हो जाता है। फलत: उक्त स्थलों में उच्चारित स्वर विवक्षा ही है।

व्यक्तिपक्ष में विधेय 'अण्' में अप्रवृत्ति— उदात्तादि गुण के अभेदक होने पर विधेय अण् के सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि 'अप्रत्यय:'[६] इस योग-विभाग से सवर्ण ग्रहण का निषेध हो जाता है। इसीलिए 'घटवत्' यहाँ मतुप् के 'म्' (अनुनासिक) के स्थान में अनुनासिक 'वँ' नहीं होता है। इसीलिए 'तद्वानासामुपधानो[७] मन्त्र०' यह निर्देश संगत होता है, यदि हो जाता तो 'प्रत्यये भाषायां[८] नित्यम्' इस वार्तिक से नित्य ही 'तद्' के द् को अनुनासिक होता, तथा निर्देश 'तद्वान्' भी असंगत हो जाता। इस प्रकार विधेय अण् के विषय में यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है। **जातिपक्ष में परिभाषा की सिद्धि**— जातिपक्ष में तो इस न्याय (परिभाषा) का कोई उपयोग नहीं है, क्योंकि वहाँ जाति से ही सिद्ध हो जाता है। जात्याक्रान्त उदात्त, अनुदात्त आदि का ग्रहण संभव ही है।[९] 'यू स्त्र्याख्यौ[१०] नदी' यहाँ द्वि, त्रि-मात्र-रूप दीर्घजाति का निर्देश होने के कारण ह्रस्व जाति का ग्रहण नहीं होता, दीर्घ द्विमात्र-ग्रहण-रूप यत्न विशेष से उसी मात्रा से दीर्घ जाति का आश्रय कर लेते हैं। फलत: उक्त में जाति से ही सिद्ध हो जाने से इस परिभाषा की इस पक्ष में कोई उपयोगिता नहीं है।[११] 'वृद्धिरादैच्'[१२] के भाष्य में स्पष्ट किया है। इस प्रकार व्यक्तिपक्ष में इस परिभाषा की

---

१. अष्टा० ६/४/१७४।

२. 'अञ्' होने पर आद्युदात्त, 'अण्' होने पर अन्तोदात्त।

३. म०भा० ६/४/१७४ तथा गूढार्थ०, पृष्ठ ४७६।

४. गूढार्थ०, पृष्ठ ४७६, गदा, पृष्ठ २२०।

५. का० १/३/२।

६. अष्टा० १/१/६९ का 'अप्रत्यय:'।

७. अष्टा० ४/४/१२५।

८. म०भा० वा० ८/४/४५।

९. प०शे०, पृ० ४७७।

१०. अष्टा० १/४/२।

११. गदा० पृ० २२१।

१२. म०भा० १/१/१।

आवश्यकता है, जातिपक्ष में नहीं है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से गुणों के अभेदक मानने से व्यक्ति-पक्ष में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र से किसी भी गुण से उच्चारित, अन्य गुणों से युक्त ई, ऊ की नदी संज्ञा सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'वृद्धिरादैच्'[१] में उदात्त तथा स्वरित आत्, ऐच् की वृद्धि संज्ञा सिद्ध होती है। इसी प्रकार प्रयोजन भी समझने चाहिए।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा उदात्त, अनुदात्त, स्वरित रूप गुणों का, जिस वर्ण के साथ वे सम्बद्ध हैं, उन वर्णों पर प्रभाव का स्वरूप प्रस्तुत करती है। क्या उदात्तादि गुण जिनके साथ उच्चरित हैं उसको स्वभाव से भिन्न कर देते हैं? या गुणी के स्वरूप को कोई भी परिवर्तन नहीं करते हैं? इसी का निर्णय किया गया है। व्याकरण शास्त्र में उदात्तादि गुण अभेदक होते हैं, गुणी के स्वरूप को नहीं बदलते हैं। केवल नीलकण्ठ ने ही इसे इसी रूप में प्रस्तुत किया है।[२] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने कुछ भिन्न रूप में मानी है।[३] हरिभास्कर ने इनसे भी कुछ भिन्नरूप में मानी है।[४] व्याडि कातंत्र, शाकटायन, चन्द्र, भोज, जैनेन्द्र तथा हेम ने नहीं मानी है।[५] परिभाषा का सामान्य अर्थ सभी में सामान्य रूप से प्राप्त होता है। पुरुषोत्तमदेव तथा नीलकण्ठ ने अर्थ का कथन किया है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि कब तथा किस अवस्था में गुण अभेदक नहीं होता है? नागेश ने इसका अर्थ प्रस्तुत करते हुए इस पर विस्तार से विचार किया है एवं गुण कहाँ-कहाँ किस परिस्थिति में भेदक (विवक्षित) माना जाता है? इसका प्रसंगत: सोदाहरण विवेचन किया है। पूर्ववर्ती सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह नहीं स्पष्ट किया है। पुरुषोत्तमदेव ने संक्षेप में कुछ स्पष्ट किया है, जिससे पूर्णतया विषय ज्ञात नहीं हो पाता है। परिभाषा के हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कोई विशेष मतभेद नहीं है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव ने लौकिक-दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए गुणों का भेदकत्व तथा अभेदकत्व दिखलाते हुए नियमपक्ष माना है। साथ ही ज्ञापक भी प्रस्तुत किया हैं। इनके अनुसार 'लुङ्लङ्०'[६] सूत्र में उदात्त-ग्रहण तथा 'चतुरनडुहो०'[७] में उदात्त-ग्रहण, 'अस्थिदधि०'[८] में 'उदात्त-ग्रहण' इसका ज्ञापक है। नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने लोकन्यायसिद्ध मानते हुए 'अस्थिदधि०' में 'उदात्त' ग्रहण का ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है। नागेश ने लोकन्यायसिद्ध न मानते हुए ज्ञापकसिद्ध मानी है। इन्होंने

---

१. अष्टा० १/१/१। २. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१०७।

३. 'अभेदका इह शास्त्रे गुणा:' पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ५७, सीरदेव वृत्ति, परि०सं० ८०।

४. 'अभेदका इह गुणा:' हरिभास्कर वृत्ति, परि० सं० ८३।

५. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ। ६. अष्टा० ६/४/७१।

७. वही, ७/१/९८। ८. वही, ७/१/७५।

'अस्थिदधि०' में उदात्त-ग्रहण के ज्ञापकत्व का विस्तार से उपपादन किया है। इस प्रसंग में ज्ञापकत्व असिद्धि तथा परिभाषा की सिद्धि अन्य प्रकार से मानने वाले कैयट के मत का विस्तार से खण्डन किया है। इसका उदाहरण पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने प्रस्तुत किया है, परन्तु नीलकण्ठ ने नहीं किया हैं। नागेश ने संक्षेप में उदाहरण दिया है। परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त एवं परिभाषा की आवश्यकता पर पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने विचार नहीं किया है। नागेश ने इस पर विस्तार से विचार किया है। यह परिभाषा व्यक्तिपक्ष में 'अनण्' विषय में प्रवृत्त होती है। विधेय अण् के विषय में नहीं प्रवृत्त होती हैं, इसका सोदाहरण सप्रमाण प्रतिपादन किया है। नीलकण्ठ ने सर्वत्र प्रवृत्ति मानकर 'अणुदित्०'[१] सूत्र के अण्-ग्रहण से इस परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित की है। फलत: अण् में गुण भेदकत्व मान लिया है, परन्तु नागेश ने इसको अयुक्त माना है।[२] नागेश ने जातिपक्ष में इसकी अनुपयोगिता मानी है।

(१२३) बाधकान्येव निपातनानि।।प०११९।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका होती है कि 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[३] इस सूत्र में 'सर्वनाम' शब्द में सामान्य नियम से प्राप्त णत्व का निषेध निपातित किया गया है। अत: सूत्र में चरितार्थ हो जाने से वहाँ इसके साधुत्व में शंका नहीं है। परन्तु लौकिक प्रयोग में 'सर्वनाम' शब्द में णत्व[४] होना चाहिए? तथा णत्वसहित 'सर्वणामानि' यही साधु होना चाहिए, इसलिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जिस अप्राप्त कार्य का विधान अथवा प्राप्त का निषेध निपातन शब्द से कर दिया जाता है, वह सर्वथा बाधक ही होता है। फलस्वरूप निपातित रूप ही साधु होता है।

परिभाषा का हेतु— इस परिभाषा के होने में युक्ति यह है कि शास्त्र द्वारा उस-उस कार्य की अवश्य प्राप्ति होने पर ही निपातन का आरम्भ होता है। इस प्रकार निपातन 'येन नाप्राप्तिन्याय[५]— मूलक' सिद्ध होता है। जिस कार्य की अवश्य प्राप्ति में जिसका आरम्भ किया जाता है, वह उसका बाधक होता है— इस न्याय से निपातन बाधक होता है।[६] इसी पर प्रस्तुत परिभाषा 'आधृत' है।[७]

पुरातन शब्द का साधुत्व विचार— (क) शंका— यदि निपातन नित्य ही

---

१. अष्टा० १/१/६९। २. गदा, पृ० २२१।

३. अष्टा० १/१/२७।

४. 'पूर्वपदात् संज्ञायामग:' अष्टा० ८/४/३।

५. प०शे०, परि०सं० ५८। ६. गूढार्थ०, पृ० ४७८।

७. गदा, पृ० २२१।

बाधक होते हैं तो 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'[१] सूत्र में तलोप निपातित 'पुराण' शब्द से शास्त्र प्राप्त पुरातन शब्द का बाध हो जाना चाहिए और 'पुरातन' शब्द प्रयोग में नहीं आना चाहिए। **समाधान**— ठीक है, नहीं होना चाहिए, परन्तु 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'[२] सूत्र में पृषोदरादि गण में इस शब्द का पाठ स्वीकार किया गया है, जिससे यह लोक में प्रयोगार्ह रहता है। फलतः 'पुरातन' शब्द में निपातन से नित्य तलोप की प्राप्ति होने पर भी पृषोदरादि गण पठित होने से उसमें लोप नहीं भी होता है। **(ख) अन्यों के अनुसार पुराण एवं पुरातन शब्दों की सिद्धि**— अन्य लोग[३] 'पुराण' और 'पुरातन' दोनों शब्दों को पृषोदरादि गण का मानते हैं। अतः उक्त दोनों रूप सिद्ध हो जाते हैं। फलतः निपातन आदि द्वारा साधुत्व कल्पना-रूप गौरव नहीं करना पड़ता है।

परिभाषा-विषय में कैयट, दीक्षित आदि की उक्ति— इन लोगों का मत है कि "निपातन अबाधक भी होते हैं"[४]। **नागेश का मत**— यह मत 'सर्वादीनि सर्वनामानि'[५] सूत्र के भाष्य से विरुद्ध है, अतः विरुद्ध होने से मान्य नहीं है। उस सूत्र में 'अपरस्परा:[६] क्रियासातत्ये' सूत्र से 'सम्' के 'म्' का लोप होने पर 'सतत' शब्द लोक में साधु है, पर 'सन्तत' शब्द असाधु ठहरता है। इसकी साधुता 'समो वा हिततयो:'[७] इस वार्तिक से की जाती है। यदि निपातन अबाधक भी होते तो अबाधक होने से 'सन्तत' शब्द भी लोक में साधु होता, तो उसकी साधुता के लिए यत्नान्तर क्यों करते? अतः यह भाष्य-विरुद्ध ठहरता है। इससे यह मत अयुक्त ही है। निपातन सर्वथा बाधक ही होते हैं।[८]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'सर्वनाम' आदि शब्दों में णत्व-निषेध आदि कार्य सिद्ध होकर लौकिक प्रयोग में साधु होते है। 'सर्वनाम' शब्द में 'पूर्वपदात् संज्ञायामग:'[९] इस सूत्र से अवश्य-प्राप्त 'णत्व' का निपातन से अभाव निपातित है। अतः निपातन भी उत्सर्ग णत्व का नित्य ही बाधक है।

समीक्षा— यह परिभाषा निपातन से सिद्ध शब्दों के विषय में निर्देश प्रस्तुत

---

१. अष्टा० ४/३/१०५। २. अष्टा० ६/३/१०९।

३. नागेश।

४. 'अबाधकान्यपि निपातनानि'— कैयट, दीक्षित, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर।

५. म०भा० १/१/२७। ६. अष्टा० ६/१/१४४।

७. म०भा० वा० १/१/२७। ८. गूढार्थ०, पृ० ४७८।

९. अष्टा० ८/४/३।

करती है। निपातन सिद्ध कार्य एकत्र चरितार्थ होने पर भी सर्वत्र प्रयोग काल में या लौकिक प्रयोग में भी वैसा ही रहता हैं। केवल नीलकण्ठ ने इसी रूप में यह परिभाषा प्रस्तुत की है।[१] पुरुषोत्तमदेव आदि[२] ने नहीं प्रस्तुत की है। इन्होंने "अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति" इस रूप में परिभाषा मानी है, जो कि इस परिभाषा के सर्वथा विरुद्ध है।[३] नीलकण्ठ ने भी 'अबाधकान्यपि निपातनानि'—इस रूप में स्वतंत्र परिभाषा मानी है।[४] परिभाषा का अर्थ नीलकण्ठ ने नहीं लिखा है, केवल 'निपातन' शब्द का अर्थ लिखा है! इसी प्रकार नागेश ने भी कोई अर्थ नहीं लिखा है। सम्भवत: अति सरलता ही न लिखने का कारण है। नीलकण्ठ ने परिभाषा का हेतु तक्रकौण्डिन्यन्याय माना है। परन्तु नागेश ने 'येन नाप्राप्तिन्याय' मूलक माना है। इसका उदाहरण भी दोनों ने सक समान दिया है। नागेश ने 'अबाधकान्यापि निपातनानि' इस परिभाषान्तर को मानने वालों के मत का विस्तार से खण्डन किया है। परिभाषा तथा उसके साधक प्रयोजन एवं ज्ञापक की निरर्थकता सिद्ध भी की है।[५] यद्यपि पुरुषोत्तमदेव ने इस परिभाषा के विषय में यह कहा है कि यह न भाष्य वचन है और न ही परिभाषा है, तथापि लक्ष्य स्थिति के अनुरोध से जयादित्य द्वारा उक्त इसको मानना आवश्यक है। इसके लिए ज्ञापक 'त्रेस्त्रय:'[६] सूत्र को मानते हुए माघ एवं भारवि द्वारा प्रयुक्त 'पुरातन' शब्द को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है।[७] सीरदेव ने भी उक्त ज्ञापक एवं उक्त उदाहरण मानते हुए 'अन्ये' के द्वारा परिभाषा का खण्डन तथा उक्त उदाहरणों को प्रामादिक सिद्ध किया है।[८] नीलकण्ठ ने तक्रकौण्डिन्यन्याय को अनित्यता-मूलक माना है तथा उसका ज्ञापक भी प्रस्तुत किया है।[९] हरिभास्कर ने सीरदेव का अनुसरण करते हुए उक्त ज्ञापक तथा उदाहरणों की युक्तता दिखलाते हुए 'अबाधकान्यपि०' का निषेध करने वालों को भ्रामक कहा है।[१०] परन्तु नागेश ने इसको युक्ति-संगत नहीं माना है। 'पुरातन' शब्द की इस परिभाषा को मानते हुए भी अन्यथासिद्धि दिखलायी है।

(१२४) निषेधाश्च बलीयांस:।।प०१२१।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'स्यन्दू' ऊदित् धातु के 'स्यन्त्स्यति' इस प्रयोग में 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा'[११] सूत्र से होने वाला वैकल्पिक 'इट्'

---

१. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१०९। २. सीरदेव, हरिभास्कर।
३. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। ४. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०११०।
५. गदा० पृ० २२२। ६. अष्टा० ७/१/५३।
७. पुरुषोततमवृत्ति, परि.सं.९९। ८. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ७६।
९. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०११०। १०. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० ७८।
११. अष्टा० ७/२/४४।

का आगम अन्तरंग[१] है और 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः'[२] सूत्र से इट् का निषेध बहिरंग है, क्योंकि वह आत्मनेपद निमित्तत्वाभावरूप निमित्त की भी अपेक्षा करने से अधिक निमित्तक सापेक्ष है। अतः विकल्प की अपेक्षा बहिरंग है। अन्तरंग कार्य करने में बहिरंग असिद्ध माना जाता है तो परस्मैपद में भी विकल्प से 'इट्'हो जाना चाहिए।'स्यन्त्स्यति' के साथ 'स्यन्दिष्यति' रूप भी साधु होना चाहिए? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— निषेध शास्त्र अन्तरंग तथा अपने उपजीव्य शास्त्र से भी बलवत्तर होते हैं। **परिभाषा का आशय**— परिभाषा में पर, नित्य आदि का भी समुच्चय होता है, तथा पर नित्य, अन्तरंग तथा उपजीव्य से भी प्रतिषेध बलवान मानना चाहिए।[३]

परिभाषा का हेतु— यह परिभाषा लोकन्यायसिद्ध है। इस परिभाषा का मूल यह है कि निषेध की प्रवृत्ति, विधि की निवृत्ति के लिए होती है तथा जिसकी निवृत्ति के लिए जिसकी प्रवृत्ति होती है, वही उसका बाधक होता है। लोक में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि जिसका जन्म जिसके उन्मूलन के लिए हुआ है,वह उससे अधिक बलवान् समझा जाता है। यथा कृष्ण कंस से अधिक बलवान् माने जाते हैं। इस प्रकार अपवादन्याय से ही यह अन्तरंगादि का बाधक सिद्ध होती है।[४]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के द्वारा अन्तरङ्ग से तथा उपजीव्य आदि से निषेधशास्त्र की बलवत्ता दिखायी गयी है— वह अधोलिखित है— **(क) अन्तरंग से बलवत्ता**— इस परिभाषा से उक्त 'स्यन्त्स्यति' में अन्तरंग विकल्प को भी बाधकर 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः'[५] सूत्र से इट् निषेध सिद्ध होता है और 'स्यन्त्स्यति' यह एक 'इट्' रहित रूप ही होता है। **(अ) इस प्रयोजन में शंका**— शंका यह है कि 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' में 'चतुर्भ्यः' ग्रहण सामर्थ्य से ही निषेध से विकल्प का बाध हो जायगा। इस परिभाषा का कोई प्रयोजन नहीं रहता। **समाधान**— ऐसी बात नहीं है। 'चतुर्भ्यः' ग्रहण स्पष्टता के लिए है। भाष्य[६] में स्पष्टार्थ होने से ही इसका प्रत्याख्यान कर दिया गया है। अतः शंका ठीक नहीं है। इस परिभाषा का उक्त प्रयोजन होता ही है। **(ख) उपजीव्य से बलवत्ता**— उपजीव्य से भी निषेध की बलवत्ता होती है। अतएव सवर्ण संज्ञादि के निषेध में विकल्प नहीं होता है। यदि परिभाषा द्वारा उपजीव्य से भी निषेध

---

१. अल्प निमित्तकत्व रूप अथवा अपरस्थित निमित्तकत्व् रूप 'अन्तरंग'।

२. अष्टा० ७/२/५९। ३. प०शे०, पृ० ४८२।

४. गदा, पृ० २२४, गूढार्थ०, पृ० ४८२।

५. अष्टा० ७/२/५९। ६. म०भा० ७/२/५९।

की बलवत्ता बोधित न हो तो मीमांसकों के सिद्धान्त[१] के अनुसार निषेध से विधि बलवान् होती है, क्योंकि विधि निषेध का उपजीव्य है, अत: विधि का अत्यन्त बाध नहीं होता है। क्योंकि 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति' आदि में निषेध वाक्यों से विधि व्यर्थ न हो, इसलिए विकल्प सिद्ध होता है। विस्तार से जानने के लिए 'मञ्जूषा'[२] में 'नञ् वाद' प्रकरण द्रष्टव्य है। मीमांसकों के अनुसार ही यहाँ व्याकरण शास्त्र में भी होने लगेगा। अत: यहाँ भी उपजीव्य से निषेध बलवान् होता है— मानना ही चाहिए। **(अ) उक्त अर्थ ज्ञापक का ध्वनन**— इसीलिए उपजीव्य-विकल्प से निषेध के प्राबल्य होने से ही 'द्वन्द्वे च'[३] सूत्र से निषेध कर लेने पर 'विभाषा[४] जसि' सूत्र चरितार्थ होता है। व्याकरण शास्त्र में यदि निषेध होने पर भी विकल्प हो जाता तो 'द्वन्द्वे च' इस निषेध से ही सर्वनाम संज्ञा का अत्यन्त बाध न होने से विकल्प सिद्ध था, तो 'विभाषा जसि' सूत्र से विकल्प विधान क्यों करते? फलत: यह ध्वनित होता है कि उपजीव्य से निषेध सर्वथा बलवान् होता है, अत: उक्त सूत्र चरितार्थ हो जाता है।

समीक्षा— यह परिभाषा प्रतिषेध की बलवत्ता का कथन करती है। जहाँ विकल्प अन्तरंग हो तथा प्रतिषेध बहिरंग हो, वहाँ क्या अन्तरंग का बलीयस्त्व होगा या प्रतिषेध का? इसी प्रकार क्या अन्य स्थिति भी हो सकती है? इत्यादि का निर्णय इस परिभाषा द्वारा किया जाता है। किसी भी पूर्ववर्ती परिभाषा व्याख्याकार ने इसे इसी रूप में नहीं माना है। केवल नीलकण्ठ ने 'भवन्ति' शब्ध सहित का पाठ किया है।[५] व्याडि आदि किसी ने नहीं मानी है। नीलकण्ठ ने इसका अर्थ नहीं प्रस्तुत किया हैं। नागेश ने इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए उसका सोदाहरण प्रयोजन एवं लाभ दिखलाया है। प्रसंगत: मीमांसा एवं सूत्रकार का प्रमाण दिया है।[६] इसके हेतु के विषय में नीलकण्ठ एवं नागेश में कुछ मतभेद है। नीलकण्ठ ने ज्ञापकसिद्ध मानते हुए तसिलादि में 'जातीय' तथा 'देशीय' का ग्रहण इसका ज्ञापक माना है। नागेश ने लोकन्यायसिद्ध मानते हुए इसका उपपादन किया है। इसी प्रकार परिभाषा की स्पष्टता के लिए नीलकण्ठ एवं नागेश ने 'न लुमताङ्गस्य'[७] एवं 'कमेर्णिङ्'[८] सूत्रों के भाष्य का निर्देश कर दिया है।

(१२५) योगविभागादिष्टसिद्धिः।।प०१२३।।

परिभाषा का उपक्रम— इस परिभाषा के उपक्रम के विषय में नागेश ने कुछ नहीं लिखा है। टीकाकारों[९] ने बौद्ध (बुद्धिस्थ) योग विभाग का प्रसंग है— यह कहकर

---

१. मीमांसा सू०, गदा, पृ०२२४। २. मञ्जूषा नञ्वाद प्रकरण।
३. अष्टा० १/१/३१। ४. अष्टा० १/१/३२।
५. 'निषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति'- नीलकण्ठ वृत्ति, परि० सं० ११३।
६. गदा, २२४। ७. अष्टा० १/१/६२।
८. वही, ३/१/३०। ९. गदा एवं गूढार्थ दीपिकाकार।

संगति दिखलाई है तथापि 'सुपि[१] स्थः' इस सूत्र से कर्ता में प्रत्यय होते हैं। इसलिए आखूनामुत्थानम्='आखूत्थः'[२] इत्यादि प्रयोगों में भाव में 'क' प्रतयय नहीं हो सकता? इस शंका के समाधान के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— योग-विभाग से इष्ट रूप की सिद्धि ही करनी चाहिए, परन्तु अनिष्ट रूप की आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

परिभाषा का आशय— जहाँ इष्ट कार्य की सिद्धि न हो, वहाँ योग-विभाग करना चाहिए तथा योग-विभाग से इष्ट कार्य साध लेना चाहिए, अनिष्ट नहीं होने देना चाहिए, अर्थात् कहीं सूत्र से लक्ष्य-सिद्ध नहीं होता हो तो वहाँ योगविभाग से कार्य सिद्ध किया जाता है।

परिभाषा का हेतु— इस परिभाषा का हेतु यह है कि उस और उसके समान विधि के विधायक दूसरे योग-सूत्र से विभक्त सूत्र (प्रथम अंश) का अनित्यत्व ज्ञापन होता है। यह 'सुपि स्थः' सूत्र के भाष्य में ध्वनित होता है।[३] तात्पर्य यह है कि योग-विभाग लब्ध सूत्र की अनित्यता दूसरे सूत्र से ज्ञात होती है, योग विभाग लब्ध-सूत्र सर्वविषयक नहीं होता है। फलतः अनित्य होने से इष्ट-विषय में कार्य सिद्ध हो जाता है।[४] यदि योग विभाग से प्राप्त 'अव्ययं विभक्ति०'[५] में का 'अव्ययम्' यह नूतन विधि सर्वत्र नित्य हो, निर्विशेष रूप से सर्वत्र प्रवृत्त हो तो उस-उस समान विधि का विधायक (अव्ययं) 'विभक्ति समीप०' सूत्र व्यर्थ हो जायेगा, अतः व्यर्थ होकर पूर्व का अनित्यत्व ज्ञापित करता है। यह भी ज्ञात होना चाहिए कि एक योग के रहते हुए जो विशेषण प्रयुक्त होता है, योग विभाग होने पर वही दोनों योगों में एक समान सम्बद्ध होता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'सुपि[६] स्थः' सूत्र में 'स्थः' इस योग विभाग से 'स्था' धातु से सुबन्त उपपद रहते 'आखू+स्था' में भाव में क[७] प्रत्यय रूप सिद्ध होता है, क्योंकि यदि विभक्त इस सूत्र में भी 'क' प्रत्यय कर्ता में हो तो विधान करना व्यर्थ है, पुनः व्यर्थ होकर कर्ता अर्थ दूर हो जाता है। फलतः योगविभाग से 'क' प्रत्यय 'भाव' अर्थ में होगा, अन्य अर्थ में नहीं। इस प्रकार 'आखूत्थः' आदि इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार 'सुपि' इस पृथक् योग से कच्छेन पिबति='कच्छपः', 'द्विपः' इत्यादि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं।

समीक्षा— व्याकरण शास्त्र में लक्ष्य सिद्धि के लिए सूत्रों का योग विभाग करके

---

१. अष्टा० ३/२/४।
२. 'आखु+उत्' पूर्वक स्था, क प्रत्यय।
३. उ० ३/२/४।
४. गूढार्थ०, पृ०४८४ गदा, पृ०२२५।
५. अष्टा० २/१/६।
६. अष्टा० ३/२/४।
७. का० ३/२/४ 'सुपि' इस योग विभाग से 'क' प्रत्यय।

कार्य सिद्ध किया जाता है। उस योग विभाग के विषय में यह परिभाषा विशेष निर्देश प्रस्तुत करती हैं। योग-विभाग से इष्ट कार्य की सिद्धि की जाती है, इसी के लिए योग-विभाग किया जाता है, अनिष्ट के लिए नहीं। व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[१] कातंत्र, जैनेन्द्र, भोज और हेम ने नहीं मानी है। सभी ने परिभाषा का अर्थ समान ही माना है। इसके हेतु एवं उदाहरण के विषय में कुछ मतभेद है। व्याडि ने इसको ज्ञापकसिद्ध मानते हुए 'तिष्यपुर्नवस्वो०'[२] सूत्र में 'बहुवचन' ग्रहण का ज्ञापक प्रस्तुत किया है। इसका प्रयोजन 'अस्मदो द्वयोश्च'[३] सूत्र का योग विभाग सिद्ध होता है— माना है।[४] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने युक्ति-सिद्ध मानते हुए उसका विस्तार से उपपादन किया है। तथा इसका उदाहरण 'इद् गोण्या:'[५] सूत्र में 'इद्' इस योग विभाग से 'पञ्चसूचि:', 'दशसूचि:' यही सिद्ध होते हैं— यह माना है।[६] नीलकण्ठ ने तत्तत् समान विधि वाले द्वितीय योग से विभक्ति का ज्ञापनादि इसका मूल माना है तथा कोई उदाहरण नहीं दिया है।[७] हरिभास्कर ने इसका कोई हेतु नहीं दिया है, परन्तु इसका प्रयोजन विस्तार से निरूपित किया है। प्रसंगत: उसके निरूपण में अन्यों के मतों का खण्डन भी किया है।[८] नागेश ने नीलकण्ठ का अनुकरण करते हुए द्वितीय योग से विभक्त की अनित्यता ज्ञापन इसका कारण माना है, परन्तु कोई उदाहरण नहीं दिया है।

(१२६) पर्यायशब्दानां लाघव-गौरवचर्चा नाद्रियते।।प०१२४।।

परिभाषा का उपक्रम— नागेश ने कुछ अन्य परिभाषाओं की भाँति इस परिभाषा का भी उपक्रम नहीं लिखा है। वास्तव में लाघव-गौरव का विचार सर्वत्र रहता है। जहाँ तक संभव हो लघु वचन पढ़कर अधिक अर्थ निकालना चाहिए। परन्तु सूत्रों में समानार्थक लघु शब्द का पाठ न करके यदि गुरुभूत शब्द का पाठ है तो उसमें गौरव की सम्भावना रहती हैं, इसके स्पष्टीकरण के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— पर्याय (वाची) शब्दों में छोटे-बड़े होने का विचार नहीं किया जाता है। अर्थात् जहाँ लघु वचन से कार्य निर्वाह हो सकता है तो उसके पर्याय अधिक अक्षर वाले शब्द का पाठ नहीं ही करना चाहिए, यह विचार उपेक्षणीय है।

---

१. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ। २. अष्टा० १/२/६३।
३. अष्टा० १/२/५९। ४. व्याडिपाठ, परि० सं० ६८।
५. अष्टा० १/२/५०।
६. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० १००, सीरदेव वृत्ति, परि० सं० १२१।
७. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०११५। ८. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०१२३।

परिभाषा का हेतु— इस परिभाषा की सत्ता में यह प्रमाण है कि अनेक सूत्रों में अन्यतरस्याम्,[१] विभाषा,[२] वा[३]= इन पर्याय शब्दों का विकल्प अर्थ में प्रयोग हुआ है, अन्यथा लाघव होने के कारण सर्वत्र 'वा' शब्द का ही पाठ करना चाहिए था। अत: अन्यतरस्याम्, विभाषा— इन गुरु शब्दों का उभयथा पाठ यह ज्ञापित करता है कि जहाँ कुछ भी ज्ञाप्य नहीं, वहाँ पर्याय शब्दों के प्रयोग में लाघव-गौरव चर्चा नहीं की जाती है, वैचित्र्य के लिए ही नाना पर्याय शब्दों का प्रयोग हुआ है— ऐसा समझना चाहिए।[४]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से लाघवार्थ 'वा' शब्द न कहकर 'अन्यतरस्याम्' 'विभाषा', 'उभयथा'[५] इत्यादि एकार्थक शब्दों में किसी का भी पाठ कर दिया गया है, आकार-गौरव विचारणीय नहीं है।

समीक्षा— इस शास्त्र में लाघव गौरव का विचार सर्वत्र रहता हैं। जहाँ तक संभव हो, यही प्रयत्न करना चाहिए कि लघु वचन के पाठ से अधिक अर्थ की प्रतीति हो जाय। परन्तु यह परिभाषा इस विषय में यह निर्देश करती है कि कहाँ कहाँ लाघव गौरव का विचार नहीं किया जाता है। इसी रूप में पूर्ववर्ती किसी भी प्राचीन पाठ में यह नहीं मिलती है। सीरदेव, नीलकण्ठ, तथा हरिभास्कर ने इसका पाठ भिन्न रूप से किया है।[६] ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं नागेश द्वारा परिवर्तित रूप परिभाषेन्दुशेखर में है। इसके अर्थ में तो कोई विशेष बात नहीं है। इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कुछ मतभेद है। सीरदेव ने ज्ञाप्याभाव विषयक मानते हुए वैचित्र्यफलमूलक माना है।[७] नीलकण्ठ ने अनेक सूत्रों में अन्यतरस्याम्, विभाषा, वा के निर्देश से इसे ज्ञापित माना है।[८] हरिभास्कर ने ज्ञाप्याभाव विषयिका मानते हुए कोई हेतु नहीं दिया है।[९] सीरदेव एवं हरिभास्कर ने इसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, परन्तु नीलकण्ठ ने तथा नागेश ने उदाहरण नहीं दिये हैं।

---

१. अष्टा० ३/१/७५, ६/१/१६९, ३/१/५४, २/४/४४, ६/१/१८७, ६/१/१९४, ७/४/१५।

२. वही, ८/२/२१, ६/३/११०, ५/४/१३०, ३/२/१२१, ५/४/६२, ३/३/१३८।

३. वहीं, ७/२/४१, ३/१/५७, १/२/३५, ४/३/१५८, ५/२/१०९, ७/४/६, ६/४/१४७, १/२/२३, २/१/१८ आदि सूत्र।

४. गदा० पृ० २२६।

५. 'उभयथर्क्षु', अष्टा० ८/३/८।

६. 'पर्यायशब्दानां गुरुलाघवचर्चा नाद्रियते' परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

७. सीरदेववृत्ति, परि०सं०१२२।

८. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० ११६।

९. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं० १२४।

(१२७) ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र।।प०१२५।।

परिभाषा का उपक्रम— नागेश ने अन्य परिभाषाओं की तरह इसका भी उपक्रम नहीं लिखा हैं ज्ञापित रूप परिभाषाओं से जो कार्य सिद्ध होते हैं, वे (ज्ञापक-सिद्ध) कार्य सर्वत्र प्रवृत्त नहीं होते— इस विषय का निर्णय करने के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— ज्ञापकसिद्ध कार्य सर्वत्र नहीं होते है।

परिभाषा का हेतु— यह उचित ही है कि स्पष्ट रूप से शब्दत: न कहकर जो अर्थ अनुमान द्वारा ज्ञापित किया जाता है, वह अनित्य होता है, सार्वत्रिक नहीं होता— उसे ज्ञापित कहते है। अत: असार्वत्रिक होने से इस परिभाषा का परमार्थ यह है कि ज्ञापकसिद्ध परिभाषा की सहायता से हमें अनिष्टार्थ की प्रसक्ति में यत्न नहीं करना चाहिए, इष्टार्थ के उपपादन में ही ऐसी परिभाषा की चरितार्थता है। ज्ञापक बाधक नहीं होता, किन्तु निमित्त द्वारा सूचित होता है कि कहीं-कहीं इष्टार्थ-सिद्धि में व्यापार होता है, सर्वत्र नहीं। अत: उक्त परिभाषा उचित ही है।[१]

परिभाषा की भाष्याभिमतता— 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'[२] आदि सूत्रों के भाष्य में इस परिभाषा का संकेत मिलता है। अत: यह भाष्यकार को अभिमत है— ऐसा प्रतीत होता है। उन सूत्रों में बिना प्रमाण के अनित्य परिभाषाओं की अनिष्टों में अप्रवृत्ति कही हैं— इससे यह ध्वनित होता है कि यह परिभाषा है। **ज्ञापक से न्याय का भी उपलक्षण**— इस परिभाषा में 'ज्ञापक' शब्द से लोकन्याय भी गृहीत होता है— ऐसा समझना चाहिए। भाव यह है कि ज्ञापक तथा न्याय से सिद्ध किन्हीं परिभाषाओं को=यथा 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[३] जो आचार्य ने पढ़ा है, वह यह ज्ञापन करने के लिए है कि इस प्रकार की अन्य परिभाषाएँ, जिन्हें उन्होंने नहीं पढ़ा है, वे अनित्य है, सार्वत्रिक नहीं है। इस प्रकार यही 'ज्ञापक' पद के उपलक्षण में प्रमाण है।[४] **(क) न्यायसिद्ध का उदाहरण**— जैसे 'स्थानिवत्०' सूत्र जो जिसके स्थान में होता है, वह उसके धर्म (कार्य)-व्यपदेश आदि को प्राप्त होता है,इसी लोकन्याय से सिद्ध है। इसका 'अनल्विधौ' यह अंश ज्ञापकसिद्ध है। 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति[५] किति' सूत्र में 'ल्यप्'-ग्रहण अल्-विधि में स्थानिवद्-भाव के अभाव का ज्ञापक है और इस प्रकार ज्ञापक और न्यायसिद्धों में किन्हीं का (सूत्रों में) पाठ करना ही अन्य सूत्रकार आदि द्वारा अकथित न्याय, ज्ञापकसिद्ध परिभाषार्थों की अनित्यता का बोधक है। अत: यह उक्त अर्थ में प्रमाण है तथा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञापकसिद्ध 'असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे'[६] इत्यादि तथा

---

१. प०शे०, पृ० ४८५।
२. म०भा० ४/१/१ तथा उ० भी।
३. अष्टा० १/१/५६।
४. प०शे०, पृ० ४८६।
५. अष्टा० २/४/३६।
६. प०शे०, परि० सं० ५०।

न्यायसिद्ध 'सन्निपातलक्षणो[१] विधि०' इत्यादि में इसी परिभाषा से नित्यत्व समझा जा सकता है,अपूर्व अनित्य-ज्ञापन आवश्यक नहीं है। अनित्य-परिभाषा-मूलक यह परिभाषा है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से ज्ञापक सिद्ध आत्मनेपद की अनित्यता को मानकर 'एध्' आदि धातुओं से परस्मैपद से प्रत्यय नहीं होते हैं। जहाँ कहीं शिष्ट प्रयोग मिलता है, उसी का समादर करना चाहिए। इसी प्रकार न्यायसिद्ध कार्य भी सर्वत्र नहीं होते है। इत्यादि प्रयोजन मृग्य है।

समीक्षा— प्रस्तुत परिभाषा ज्ञापक सिद्ध और न्यायसिद्ध परिभाषाओं के विषय में व्यवस्था करती हैं। इन परिभाषाओं से जो कार्य सिद्ध होते हैं, वहाँ सर्वत्र ही इनकी प्रवृत्ति नहीं होती है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभासकर ने यह परिभाषा इसी रूप में प्रस्तुत की है।[२] चन्द्र तथा कातंत्र ने भिन्न-भिन्न रूप में मानी है।[३] व्याडि, शाकटायन, जैनेन्द्र, भोज तथा हेम ने नहीं मानी है। परिभाषा का सामान्य अर्थ तो प्राय: सभी ने एक प्रकार का ही माना है, परन्तु तात्पर्य में भिन्नता है। पुरुषोत्तमदेव ने ज्ञापक का अर्थ 'इंगित से सूचक' मानकर अर्थ किया है। इनके अनुसार ज्ञापकसिद्ध परिभाषा ही गृहीत होती है।[४] सीरदेव ने ज्ञापक का अर्थ पुरुषोत्तमदेवोक्त ही मानते हुए 'ज्ञापक साधित' ही परिभाषा का ग्रहण किया है।[५] नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने कोई अर्थ नहीं किया है। परन्तु नागेश ने इसका अर्थ एवं तात्पर्य स्पष्ट किया है। ज्ञापक का अर्थ 'अनुमान से बोधित' मानते हुए ज्ञापक से न्याय का भी उपलक्षण माना है और उसका पृथक्-पृथक् निर्देश भी किया है। इसके हेतु के विषय में प्राचीनों एवं नागेश में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने युक्तिसिद्ध माना है। नीलकण्ठ ने उन-उन परिभाषाओं की अनित्य ज्ञापन मूलक इसको माना है।[६] हरिभास्कर ने उपायान्तर न होने पर जिन परिभाषाओं का आश्रयण किया जाता है, वे ही इस परिभाषा का मूल हैं— ऐसा माना है।[७] नागेश ने युक्तिसिद्ध मानते हुए भाष्याभिमत भी मानी है। ज्ञापक तथा न्याय से सिद्ध परिभाषाओं से अनिष्ट की सिद्धि नहीं की जाती, यही इसका तात्पर्य है। पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव तथा हरिभास्कर ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है, परन्तु नीलकण्ठ और नागेश ने कोई उदाहरण नहीं दिया है।

---

१. प०शे०, परि०सं०८६। २. परि० संग्रह, तत्तत् ग्रन्थ।

३. 'ज्ञापकेऽर्थमनित्यम्' चान्द्रपाठ, परि०सं० ७७ एवं द्र० 'ज्ञापकज्ञापिता विधयो ह्यनित्या:' कातंत्र पाठ, परि०सं० ६०।

४. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०स०११८। ५. सीरदेववृत्ति, परि०सं० १२६।

६. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०११९। ७. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०१२९।

(१२८) एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति।।प०१२७।।

परिभाषा का उपक्रम— शंका यह है कि 'स्वामीश्वराधिपतिदायादसा[१] क्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च' सूत्र से स्वामी आदि उपपद के योग से षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का विधान किया गया है। इससे जैसे 'गोष्वश्वेषु च स्वामी' यहाँ एक स्वामी शब्द के योग में दोनों 'भिन्नाकृति' शब्दों में एकाकृति सप्तमी विभक्ति होती है, अथवा 'गवामश्वानां च स्वामी' यहाँ षष्ठी होती है, वैसे ही 'गोष्वश्वानां च स्वामी' ऐसा प्रयोग भी साधु होना चाहिए। गो शब्द में सप्तमी और अश्व में षष्ठी विभक्ति क्यों नहीं होती? इसके समाधनार्थ प्रस्तुत परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— जब एक आकृति=शब्दस्वरूप का प्रयोग चरितार्थ हो चुका है अथवा होता है, तो वहाँ उससे भिन्न स्वरूप द्वितीय अथवा तृतीय अन्य सम्भव कारक का प्रयोग उसी अर्थ में नहीं होता है।

परिभाषा का आशय— जहाँ समुच्चय आदि जिस प्रकार के अर्थ का लाभ के लिए एक शब्दाकृति का प्रयोग हो चुका है, उस प्रकार के अर्थ की बोधिका, उससे अन्य शब्दाकृति का प्रयोग नहीं होता है, किन्तु उसी एकाकृति का ही प्रयोग होता है।[२]

परिभाषा का प्रवृत्ति निमित्त— इस परिभाषा का व्यापार वहीं होता है, जहाँ भिन्न स्वरूप का प्रयोग करने से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती हैं। इस प्रकार इस 'गोष्वश्वानां स्वामी' कहने पर 'अश्वानां स्वामी गोषु तिष्ठति' ऐसे अर्थान्तर की प्रतीति होती है। अतः यहाँ प्रकृत परिभाषा का विषय है तथा जहाँ भिन्नार्थ की संभावना नहीं रहती है, वहाँ इसके द्वारा सिद्धि नहीं होती हैं। फलतः लोकसिद्ध ज्ञान पर आधृत लाघवमूलक यह न्याय है।[३]

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा से 'गोष्वश्वानां स्वामी' यहाँ 'अश्व' शब्द में षष्ठी विभक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि एकाकृति सप्तमी विभक्ति चरितार्थ है और षष्ठी के होने से भिन्नार्थ की भी सम्भावना होती है। इसी प्रकार अन्य भी प्रयोजन है।

समीक्षा— यह परिभाषा एक ही सूत्र द्वारा दो विभक्तियों का कार्य विहित करने पर उन शब्दों में एक बार अन्य तथा दूसरी बार उससे भिन्न विभक्ति होगी या एक में एक तथ दूसरे में दूसरी विभक्ति एक साथ ही होगी? इसी का निर्णय करती हैं एक आकृति का प्रयोग हो जाने पर द्वितीय एवं तृतीय का अन्य सम्भव कारक का प्रयोग नहीं होता है। पूर्ववर्ती किसी भी परिभाषा व्याख्याकारों ने यह परिभाषा नहीं मानी है। नागेश ने इसके अर्थ, हेतु एवं उदाहरण आदि का स्पष्टीकरण किया है। इन्होंने इसका

---

१. अष्टा० २/३/३९। २. गूढार्थ०, पृ० ४८८।

३. गदा, पृ० २२७।

हेतु लोकसिद्ध प्रतिपत्तिलाघवमूलक सिद्ध किया है। इसको भाष्याभिमत भी माना है।[१]

(१२९) क्वचिद्विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति।।प०१२९।।

परिभाषा का उपक्रम— प्राचीन[२] आचार्यों के द्वारा स्वीकृत कछ[३] परिभाषाओं का खण्डन करने के लिए नागेश ने उपस्थापित किया है। उन्हीं में यह परिभाषा भी है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— कहीं-कहीं विकृति, प्रकृति का ग्रहण कराती है अर्थात् विकृत निर्देश से मूल प्रकृति का भी ग्रहण होता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'निसमुपविभ्यो[४] ह्वः' सूत्र में जो आत्व[५] करके 'ह्वा' का ग्रहण किया है, उससे प्रकृति 'ह्वेञ्' का भी बोध होता है। अतः जैसे 'आह्वास्यते'[६], 'आह्वाता'[७] में आत्मनेपद होता है, वैसे ही आह्वयते[८] 'निह्वयते' आदि में भी आत्मनेपद होता है। प्रकृति 'ह्वे' का बोध होने से उक्त रूप सिद्ध होता है— इत्यादि प्रयोजन है।

परिभाषा विषयक नागेश मत— यह परिभाषा मानना ठीक नहीं है। नागेश के अनुसार यह परिभाषा व्यर्थ है तथा इसका वह खण्डन करते हैं। इसमें निम्न युक्ति है— यह परिभाषा निर्मूल है, क्योंकि इसके होने में ज्ञापक और न्याय नहीं है[९], तथा भाष्य में भी यह अव्यवहृत है। अतः वाचनिक रूप से भी स्वीकार नहीं कर सकते तथा इसके दूषित होने से भाष्य-विरोध भी है। 'ग्रहिज्यावयिव्यधि०'[१०] सूत्र के भाष्य में 'न च विकृतिः प्रकृतिं गृहणाति' ऐसा कहकर इसका तिरस्कार किया है। 'निसमुपविभ्यो[११] ह्वः' सूत्र में 'ह्वे' के अनुकरण में सौत्र[१२] प्रयोग है— ऐसा समझना

---

१. गूढार्थ० पृ० ४८८-४८९।

२. सीरदेव, पुरुषोत्तमदेव, नीलकण्ठ, हरिभास्कर, व्याडि, दीक्षित, न्यासकार।

३. प०शे०, परि०सं० १२९, १३०, १३१।

४. अष्टा० १/३/३०। ५. अष्टा० ६/१/४५।

६. 'आङ्+ह्वेञ्' धातु, लुट्, त, स्य, टेरेत्व, अशित् धातु का आत्व होकर निष्पन्न रूप।

७. 'आङ्+ह्वे, आत्व, लुट्, प्र०पु०ए० का रूप।

८. आङ् एवं नि पूर्वक 'ह्वे', लट्, ह्वा से ह्वे का ग्रहण, आत्मनेपद प्र०पु०ए० का निष्पन्न रूप।

९. गूढार्थ०, पृ० ४९१। १०. म०भा० ६/१/१६।

११. अष्टा० १/३/३०।

१२. लक्षण से आत्व न होकर सौत्र प्रयोग मानकर 'ए' का लोप मान लिया जाता है।

चाहिए। लक्षण द्वारा आत्व करके 'ह्वे' का विकृति निर्देश नहीं है।

(क) नागेश के समर्थकों का मत— अन्य विद्वान् यह कहते है कि चूंकि प्रयोगस्थ(व्यवहारगत) धातु आदि का ही अनुकरण हुआ करता है— ऐसा 'दाधाघ्वदाप्'[१] सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कहा है। इसलिए प्रकृति में 'ह्वः' 'ह्वेञ्' का अनुकरण नहीं है, अपितु एकारान्त प्रकृति का ही उपादान है। लाक्षणिक आत्व-निर्देश का यह अभिप्राय है कि आत्व-विषय में ही 'ह्वेञ्' से आत्मनेपद हो, क्योंकि कृतात्व का अनुकरण किया हैं। इस प्रकार फलाभाव के कारण यह मान्य नहीं है।[२]

समीक्षा— यह परिभाषा विकृति-ग्रहण में कुछ विशेष निर्देश करती है। कहीं-कहीं विकृति भी प्रकृति का ग्रहण कर लेती है। पूर्ववर्ती किसी ने भी इसी रूप में यह परिभाषा नहीं मानी है। सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने 'अपि' शब्द सहित प्रस्तुत की है।[३] व्याडि, शाकटायन, चन्द्र, कातंत्र, जैनेन्द्र भोज तथा हेम ने नहीं मानी है। नागेश ने इस परिभाषा का उपादान खण्डनार्थ ही किया है। इसीलिए इसका अर्थ, हेतु आदि का निरूपण न करके केवल प्रयोजन का संक्षेप में कथन किया है। इसके प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि बताकर सहेतुक परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादित की है। परन्तु सीरदेव ने उसे स्वीकार करते हुए ज्ञापक तथा प्रयोजन आदि का कथन किया है। सीरदेव ने 'न व्यो लिटि'[४] में 'व्येञ्' का विकृत निर्देश (व्यः) इसका ज्ञापक माना है तथा इसका उदाहरण 'निसमुपविभ्यो[५] ह्वः' में 'ह्वा' से 'ह्वे' ग्रहण माना है। इसी प्रकार दा, धा ग्रहण में देङ्, धेट् का ग्रहण माना है।[६] नीलकण्ठ ने निर्मूल तथा भाष्याव्यवहृत मानते हुए इस परिभाषा को नहीं माना है। 'निसमुप०' में 'ह्वे' के अनुकरण में लक्षणवश आत्व सम्पन्न मानकर प्रयोजन का भी तिरस्कार कर दिया है।[७] हरिभास्कर ने 'निह्वयते' में निसमुपविभ्य०' से आत्मनेपदसिद्धि प्रयोजन दिखलाते हुए सीरदेवोक्त ज्ञापक का खण्डन कर दिया हैं। इस प्रकार इन्होंने यह परिभाषा मन्दप्रयोजना ही कहकर अनावश्यकता प्रतिपादित की है। नीलकण्ठ ने भी परिभाषा का आवश्यकत्व नहीं स्वीकार किया है।

(१३०) औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम्।।प०१३०।।

परिभाषा का उपक्रम— इस प्राचीनोक्त परिभाषा का खण्डन करने के लिए ही उपादान किया गया है। वैसे नागेश ने इसका कोई उपक्रम नहीं लिखा है तथापि यह खण्डन की दृष्टि से प्रस्तुत की जाती है।

---

१. म०भा० १/१/२३। २. गदा, पृ० २२९।

३. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ 'क्वचिद् विकृतिरपि प्रकृतिं गृहणाति'।

४. अष्टा० ६/१/४६। ५. वही, १/३/३०।

६. सीरदेववृत्ति, परि०सं० ४१। ७. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं० १३२।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— उपदेश में होने वाले शब्द रूप का और प्रयोग में होने वाले शब्द रूपों का एकत्र बोध सम्भव होता हो तो, वहाँ 'औपदेशिक' रूप का ही ग्रहण होता है।

परिभाषा का आशय— तात्पर्य यह है कि जहाँ घ आदि संज्ञा-करण में ऐसे शब्द रूप का व्यवहार किया गया है, जो अपने औपदेशिक (उपदेश में होने वाले) शब्द रूप का बोधक होता हुआ अपने समानाकार प्रयोगस्थ रूप का भी सम्भवत: बोधक होता है, वहाँ औपदेशिक शब्द रूप ही लिया जाता है।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'दादेर्धातोर्घ:'[१] यहाँ दादि धातु से उपदेश में जो 'दादि' धातु उसका ही ग्रहण होता है तथा औपदेशिक दकार आदि का 'घ' हो जाता है। इससे 'अधोक्'[२] इसकी सिद्धि होती है तथा प्रयोग में दकारादि धातु होने पर जो दकारादि 'दामलिङ्ग'[३] यहाँ दादि का ग्रहण न होने से दकार को 'घ' नहीं होता है— इत्यादि प्रयोजन हैं। इसी प्रकार 'तरप्तमपौ घ:'[४] सूत्र से प्रत्यय रूप 'तरप्' की घ संज्ञा होती है, तृ धातु से अप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'तरप्' शब्द का ग्रहण नहीं होता।'[५]

परिभाषा विषयक नागेश मत— नागेश को यह परिभाषा भी मान्य नहीं है। यह परिभाषा भी यत्र तत्र सूत्रों तथा वार्तिकों में जो उपदेश ग्रहण किया है, उसके सामर्थ्य से सूत्रकार और वार्तिककार को अभिमत नहीं है। यदि यह परिभाषा होती तो 'उपदेश' ग्रहण व्यर्थ होता। यह परिभाषा भाष्यकार को भी अभिमत नहीं है। 'तरप्तमपौ[६] घ:' सूत्र के भाष्य में कहा है कि व्याकरण शास्त्र में जहाँ कहीं सानुबन्धक (तरप्, तमप्) शब्द रूपों का उच्चारण किया जाता है, वह इसलिए किया जाता है कि उनसे सानुबन्धक रूपों का ही ग्रहण हो। अब स्थिति यह है कि सानुबन्धक होने पर भी उस-उस शब्द रूप से क्या बोध्य है, उसका निश्चय बिना प्रयोग के नहीं हो सकता। पर व्यवहार में सानुबन्धक शब्द रूप दुर्लभ हैं। अत: सानुबन्धक शब्द रूपों से कौन से शब्दरूप बोध्य होते हैं, इसके लिए हमें दूसरे प्रकार के प्रयोग (उपदेश - सूत्रकार के आद्य उच्चारण) का आश्रयण लेना चाहिए। इस भाष्य-ग्रन्थ से स्पष्ट है कि जब शास्त्र में प्रयुक्त शब्द रूप से प्रायोगिक (प्रयोगस्थ-व्यवहारगत) का कुछ बोध नहीं हो सकता तो औपदेशिक

---

१. अष्टा० ८/२/३२।

२. दुह् धातु, लङ्, प्र०पु०ए० तिप्, शप्, लुक्, अट्, घत्व, भष्-भाव, जश्, चर् होकर रूप।

३. क्यजन्त 'दामलिह्य', क्विप् में प्र०वि०ए० का रूप।

४. अष्टा० १/१/२२।

५. 'नदीतर:' में घ संज्ञा नहीं होती।

६. म०भा० १/१/२२।

का ही ग्रहण होता है।[१]

यदि यह परिभाषा प्रामाणिकी होती तो 'औपदेशिक' ग्रहण ही स्वत: न्याय प्राप्त था। पुन: उक्त भाष्य वचन अप्रसंगत रहता है। इस प्रकार इस परिभाषा से असम्मति स्फुटत: ही प्रतीत हो जाती है। अत: यह मान्य नहीं है।[२] उक्त भाष्य केवल सानुबन्धकों के विषय में प्रवृत्त होता हो— ऐसी बात नहीं है। वह तो सानुबन्धकों के विषय में विशेष करके इसलिए है, क्योंकि तरप् और तमप् सानुबन्धक हैं। अत: उपर्युक्त बात कहने पर भी सर्वत्र रूप ग्रहण में न्याय प्रवृत्त होता है, अत: उक्त भाष्य सामान्य विषयक ही है।[३]

दादि में उपदेशत्व की शंका— शंका यह है कि इस परिभाषा के न मानने पर 'दादेर्धातोर्घ:'[४] सूत्र में उपदेश का ग्रहण है, इसका लाभ कैसे होगा? **समाधान**— 'दादेर्धातोर्घ:'[५] सूत्र में दादि धातु, लक्षणा से उपदेश में जो दकारादि हो, वह ली जाती है।[६] इससे इस परिभाषा के न होने पर भी कुछ क्षति नहीं होती हैं।

समीक्षा— यह परिभाषा सामान्य धातु के ग्रहण के विषय में विशेष निर्देश प्रस्तुत करती है। जहाँ धातु के ग्रहण में औपदेशिक तथा प्रायोगिक दोनों प्रकार का ग्रहण सम्भव होता हो, वहाँ औपदेशिक धातु का ही ग्रहण होता है, यह सामान्य नियम है। व्याडि, शाकटायन, कातंत्र, पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने इसी रूप में यह परिभाषा प्रस्तुत की है।[७] चन्द्र, भोज, जैनेन्द्र तथा हेम ने नहीं मानी है। नागेश ने खण्डनार्थ ही इसका भी उपादान किया है। अत: केवल प्रयोजन का उल्लेखमात्र करके परिभाषा का सप्रमाण विस्तार से खण्डन किया है। व्याडि आदि ने तो इसका प्रयोजन माना ही है। अत: इसकी व्याख्या भी की है। इसके अर्थ और हेतु सभी ने समान ही माने हैं। व्याडि ने इसका ज्ञापक 'श्वीदितो निष्ठायाम्'[८] में 'श्वि' ग्रहण को मानकार उपपादित किया है तथा प्रयोजन का कथन करते हुए उसका अन्यथा-सिद्धत्व प्रतिपादित करके परिभाषा की अनावश्यकता मानी है।[९] कातंत्र ने ज्ञापकसिद्ध मानते हुए प्रयोजनों का कथन किया है।[१०] पुरुषोत्तमदेव तथा सीरदेव ने 'श्वीदितो निष्ठायाम्' सूत्र में 'श्वि' ग्रहण को इसका ज्ञापक प्रस्तुत करते हुए विस्तार से प्रयोजनों पर विचार किया है तथा ज्ञापकसिद्ध इस परिभाषा के रहते अन्यत्र सूत्रों में जो उपदेश ग्रहण किया

---

१. प०शे०, पृ० ४९२।
२. गूढार्थ०, पृ० ४९३।
३. प०शे०, पृ० ४९३।
४. अष्टा० ८/२/३२।
५. अष्टा० ८/२/३२।
६. श० शे०, पृ० ३६३।
७. परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।
८. अष्टा० ७/२/१४।
९. व्याडिपाठ, परि० सं० ५।
१०. कातंत्र पाठ, परि० सं० ४२।

है, वह प्रतिपत्ति लाघवार्थ ही किया है— यह कहकर इस परिभाषा की आवश्यकता मानी है।[१] नीलकण्ठ ने इसको निर्मूल माना है तथा उन-उन सूत्रों में 'उपदेश' ग्रहण से सूत्रकार तथा भाष्यकार की अनभिमत बताते हुए इस परिभाषा को नहीं माना है।[२] हरिभास्कर ने भी सीरदेवोक्त ज्ञापक मानते हुए विस्तार से प्रयोजनों पर विचार किया है। प्रसंगत: मनोरमाकार के वक्तव्य को 'चिन्त्य' कहते हुए 'केचित्' के द्वारा अन्य मत का भी उल्लेख किया है।[३] इस परिभाषा की अनित्यता भी हरिभास्कर ने स्वीकार की है। इसका ज्ञापक 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'[४] सूत्र में 'उपदेश' ग्रहण को मानते हुए प्रयोजन का कथन किया है। व्याडि आदि ने इस विषय में कुछ भी नहीं कहा है। नागेश ने इस परिभाषा का विस्तार से खण्डन किया है। प्रमाण स्वरूप सूत्रकार और भाष्यकार तथा वार्तिककार के मत को प्रस्तुत करते हुए परिभाषा की अनावश्यकता प्रतिपादित की है।

(१३१) पदगौरवाद्योगविभागो गरीयान्।।प०१३२।।

परिभाषा का उपक्रम— यह शंका है कि 'रधिजभोरचि'[५] तथा 'नेट्यलिटि[६] रधे:' इन दो सूत्रों को जभोऽचि, रधेश्च, नेट्यलिटि- इस प्रकार योग विभाग करके तीन सूत्रों के रूप में क्यों न पढ़ा जाय? इससे 'रधि' को दो बार नहीं पढ़ना पड़ेगा। इसके उत्तर के लिए यह परिभाषा है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— पदकृत गौरव की अपेक्षा योगविभाग-सूत्र विभाग गुरुतर है, उचित नहीं है। **परिभाषा का आशय**— पदकृत गौरव का तात्पर्य है=अधिक संख्या वाले अथवा दीर्घतर पदों के कारण जायमान गौरव- 'पद की अपेक्षा गौरव' कहलाता है तथा योग विभाग का अर्थ—एक सूत्र को दो या अधिक सूत्रों में विभक्त करके पढ़ना। इनमें पदकृत गौरव की अपेक्षा योग-विभाग करना गुरुभूत हैं।

परिभाषा में हेतु— पदों की अधिकता से ज्ञान में गौरव होता है, वाक्यार्थ बोध में अधिक बुद्धि का व्यायाम और अधिक काल की अपेक्षा होती है। पर एक वाक्य की अपेक्षा दो या तीन भिन्न वाक्यों के अर्थावबोध में उससे अधिक प्रतिपत्ति गौरव होता है। इस प्रकार पद गौरव की अपेक्षा योग विभाग से भिन्न वाक्यों के ज्ञान में अधिक गौरव होता है। गौरव तो दोनों में ही है, परन्तु योग-विभाग में उससे अधिक गौरव है। अत: योग विभाग गुरुतर है।[७]

---

१. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि०सं० ४, सीरदेववृत्ति, परि०सं० ८१।

२. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१३५। ३. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०८४।

४. अष्टा० १/३/२। ५. अष्टा० ७/१/६१।

६. वही, ७/१/६२। ४. गूढार्थ०, पृ०४९९, गदा, पृ० २३४।

परिभाषा का प्रयोजन— इस परिभाषा के होने से 'जभोऽचि', 'रधेश्च', 'नेट्यलिटि'=योग विभाग लब्ध इस त्रिसूत्री से इष्ट सिद्धि होने से दो सूत्रों में दो बार 'रध्' का पढ़ना उचित नहीं? ऐसी शंका नहीं होती, क्योंकि योग विभाग गुरुतर है। इस प्रकार के प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

परिभाषा विषयक नागेश मत— यह परिभाषा भाष्य में अनुक्त होने के कारण भाष्यकार को सम्मत नहीं है तथा 'टाङसिङसामिनात्स्या:'[१] सूत्र के भाष्य के विरुद्ध भी है, क्योंकि वहाँ सूत्रस्थ 'इन' आदेश के इकार मात्र का प्रत्याख्यान योगविभाग से किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह परिभाषा नहीं है, अन्यथा इस परिभाषा के होने पर पद के एकदेश केवल इकार का योग-विभाग से प्रत्याख्यान करना असंगत ही रहता। फलत: निष्कर्ष यह है कि योगविभाग में गौरव आदि पर विचार न करके इष्ट-सिद्ध्यर्थ ही स्वीकार किया जाता है।[२] **(क) द्वि 'रधि' का प्रयोजन**— उक्त दो सूत्रों में दो बार 'रधि' का जो ग्रहण किया है, उससे एकदेशानुवृत्ति बोधक परिभाषा अनित्य है, यह माना जाता है। वहाँ क्वचिद् इसका बोध हो, इसलिए उक्त ग्रहण किया है।[३]

समीक्षा— यह परिभाषा गौरव के विषय में कुछ स्पष्टीकरण करती है। किसी भी आचार्य ने यह परिभाषा इसी रूप में नहीं मानी है। व्याडि, शाकटायन,[४] चन्द्र,[५] पुरुषोत्तमदेव, सीरदेव, नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर ने कुछ भिन्न-भिन्न रूप में प्रस्तुत की है।[६] नागेश ने इस परिभाषा का हेतु तथा उपक्रम द्वारा अर्थ स्पष्ट किया है तथा युक्ति भी प्रदर्शित की है कि पद-गौरव की अपेक्षा योग-विभाग से भिन्न-भिन्न वाक्य का गौरव अधिक होता है। परन्तु भाष्यानुक्त होने से इसकी अनावश्यकता भी मानी है। योग-विभाग की आवश्यकता सिद्ध की है और व्याडि तथा सीरदेवादि ने भी माना है। व्याडि ने ज्ञापक सिद्ध मानते हुए 'नेट्यलिटि रधे:'[७] सूत्र में 'रधि' ग्रहण का ज्ञापक प्रस्तुत किया है— इसका प्रयोजन भी दिखलाया है।[८] पुरुषोत्तमदेव, तथा सीरदेव ने इसको युक्तिसिद्ध मानते हुए तथा इसका प्रतिपादन करते हुए प्रयोजन भी सिद्ध किया है। 'जभोऽचि', 'रधेश्च' 'नेट्यलिटि' इन तीन सूत्रों की अपेक्षा 'रधि' ग्रहण दो बार नहीं करना चाहिए—यह कथन अयुक्त हो जाता है। यही इसका प्रयोजन बतलाया है।[९]

---

१. अष्टा० ७/१/१२। २. गूढार्थ०, पृ०५००, गदा, पृ० २३४।

३. गदा, २३४।

४. 'अक्षराधिक्यात् योगविभागो गरीयान्' — शाकटायनपाठ, परि०सं० ७७।

५. 'अक्षराधिक्यादपि योगविभागो गरीयान्', — चान्द्रपाठ, परि०सं० ८३।

६. 'प्रतिपदविधानाद्योगविभागो गरीयान्' द्र० — परि० संग्रह तत्तत् ग्रन्थ।

७. अष्टा० ७/१/६२। ८. व्याडि पाठ, परि०सं० ७४।

९. पुरुषोत्तमवृत्ति, परि० सं० ९८, सीरदेव वृत्ति, परि० सं० ११०।

नीलकण्ठ ने इसको निर्मूल तथा भाष्यविरुद्ध मानकर खण्डन किया है। केवल इतनी ही व्याख्या उन्होंने की है।[१] हरिभास्कर ने इस परिभाषा को अयुक्त मानते हुए सीरदेव तथा कैयट के मतों का खण्डन किया है। इन्होंने भी परिभाषा की अयुक्तता सिद्ध की है।[२] नागेश ने भी नीलकण्ठ तथा हरिभास्कर के अनुसार परिभाषा की अनावश्यकता मानी है।

(१३२) अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।।प०१३३।।

परिभाषा का उपक्रम— यद्यपि नागेश ने इसका उपक्रम नहीं लिखा है तथापि टीकाकारों ने गौरव प्रसंग से ग्रन्थ के अन्त में व्याख्याता श्रोताओं का आनुषंगिक मङ्गल हो,[३] इसलिए **उत्सव** शब्द से युक्त परिभाषा का कथन किया है।

परिभाषा का सामान्य अर्थ— अर्ध मात्रा के लाघव से भी (सूत्रादिन्यास में आधी मात्रा कम करने से भी) वैयाकरण ऐसे प्रसन्न होते है, जैसे पुत्र के जन्म पर लोग प्रसन्न होते हैं।

परिभाषा का ज्ञापक— यह परिभाषा 'एओङ्,[४] 'ऐ औच्' सूत्रों के भाष्य में ध्वनित की गई है, वहाँ कहा है— अर्ध एकार अथवा अर्ध ओकार नहीं होता। यदि होता तो उन्हें ही लाघव की दृष्टि से पढ़ते— ऐसा पढ़ने से अर्थ मात्रा का लाघव हो जायगा।

मात्रालाघव तथा पदलाघव की व्यवस्था— (क) पद लाघव व्यवस्था— अनेक पद घटित सूत्र में 'प्रायः' पद लाघव का विचार होता है। सूत्र में श्रूयमाण अनेक पदों में से किसी पद को कम किया जा सकता है या नहीं, मात्रालाघव का विचार नहीं होता[५] इसका 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः'[६] 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः',[७] 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः'[८] तथा 'एओङ्', 'एऔच्' सूत्रों के भाष्यों में संकेत मिलता है। **(अ) उक्त व्यवस्था में प्रमाण**— 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' सूत्र के भाष्य में कहा है कि यदि हम 'अपृक्त[९] एकाल् प्रत्ययः' सूत्र में 'अल्' के स्थान में 'हल्' पढ़ते हैं, तो इस सूत्र में हल् ग्रहण एकपद होगा तथा 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः'[१०] सूत्र में अण् और

---

१. नीलकण्ठवृत्ति, परि०सं०१३८। २. हरिभास्करवृत्ति, परि०सं०११२।
३. गदा, पृ० २३४, गूढार्थ०, पृ० ५००।
४. म०भा० प्रत्या० सू० ३,४ तथा उ० भी।
५. प०शे०, पृ० ५५१। ६. म० भा० १२७।
७. म०भा० १/२/४१। ८. म०भा० १/१/६१।
९. अष्टा० १/२/४१। १०. अष्टा० २/४/५८।

इञ् पढ़ेंगे, अर्थात् तीन पद पढ़ने पड़ेगे। यदि यथाश्रुत 'अल्' पढ़ते हैं तो एक 'अल्' ग्रहण इस सूत्र का होगा, 'हल्ङ्याब्भ्यो[१] दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' में 'हल्' ग्रहण करना पड़ेगा, तथा 'ण्यक्षत्रियार्ष०' सूत्र में अण्, इञ् यह नहीं कहना होगा, पर इनके स्थान में 'अपृक्त' का ग्रहण करना होगा। इस प्रकार दोनों पक्षों में तीन पदों को पढ़ना पड़ता है, इसमें कोई लाघव नहीं। यदि ऐसे स्थलों पर मात्रा प्रयुक्त लाघव का विचार करें तो संज्ञाविधि में अल् ग्रहण पक्ष में कुल मिलाकर १० मात्राएँ[२] होती हैं तथा हल्-ग्रहण पक्ष में साढ़े सात[३] मात्राएँ होती हैं। अत: विशेष स्पष्ट ही है। 'नहीं विशेष है'— यह असंगत होता है। अत: सिद्ध है कि ऐसे स्थल पर मात्रा लाघव का विचार न करके पद-लाघव का विचार होता है।[४] **(ख) मात्रा लाघव विचार**— कहीं-कहीं मात्रा लाघव का भी विचार होता है। 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ'[५] सूत्र में इस विषय पर विचार किया गया है। (-'य्वो:' (इ+उ+ओस्) इस न्यास में (स्वरों की निवृत्ति यण् द्वारा होने से स्वर तो हैं ही) साढ़े तीन[६] मात्राएँ हैं। यदि इसके स्थान में 'इण:' पढ़ते तो तीन मात्राएँ होती हैं।[७] अर्ध मात्रा का लाघव होता है। पुन: ऐसा न्यास क्यों नहीं किया? इसलिए कि आचार्य यह बताना चाहते हैं कि सभी इण् ग्रहण इस शास्त्र में पर णकार तक होते हैं— ऐसा 'लण्'[८] सूत्र के भाष्य में कहा है तथा 'ओत: श्यनि' सूत्र के भाष्य प्रदीप[९] में कैयट का कहना है कि यदि 'श्यनि' के स्थान में 'शिति' पढ़ते तो न केवल मात्रा-लाघव होता अपितु पद-लाघव भी होता। 'ष्ठिवुक्लमुचमां[१०] शिति' सूत्र में 'शिति' पढ़ना अनावश्यक होता है। इस प्रकार पद प्रयुक्त गौरव लाघव ही मुख्य होने से विचार किया जाता है। इसकी अपेक्षा मात्रा-गौरव अल्प होने से कहीं विचार किया जाता है, कहीं नहीं।

---

१. अष्टा० ६/१/६८।

२. 'अल्' प्रत्यय में अल् की डेढ़ मात्रा, 'लगपृक्तो:' में 'अपृक्तो:' की साढ़े छह मात्रा, 'हल:' में दो मात्रा, कुल दस मात्राएँ।

३. हल् की दो मात्रा, 'अणिञो:' की साढ़े पाँच मात्रा, कुल साढ़े सात।

४. अष्टा० ६/४/७७।

५. 'य्वो:' में आधी मात्रा य् की, आधी मात्रा व् की, दो मात्रा 'ओ' की आधी मात्रा विसर्ग की, सबका योग साढ़े तीन मात्रा।

६. एक मात्रा इ की, आधी मात्रा ण् की, एक मात्रा अ की, आधी मात्रा विसर्ग की, सबका योग तीन मात्रा।

७. म०भा०, प्रत्यया० सू० ६।

८. म०भा० ७/३/७१।

९. प्र० ७/३/७१।

१०. अष्टा० ७/३/७५।

समीक्षा— यह परिभाषा शब्द प्रयोग के लाघव के विषय में वैयाकरणों की निष्ठा का अतिशय द्योतित करती है। पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने यह नहीं प्रस्तुत की है। केवल पुरुषोत्तमदेव कृत एक परिभाषापाठ पृथक् उपलब्ध होता है, उसी में प्राप्त होती है। नागेश ने सबसे अन्त में इसी परिभाषा को प्रस्तुत करके मंगल की कामना की है— ऐसा प्रतीत होता है। इन्होंने इसकी व्याख्या में हेतु, मात्रा लाघव तथा पद लाघव पर विस्तार से विचार करते हुए मात्रालाघव की युक्ति दिखलाई है। इस प्रकार नागेश ने वैयाकरणों के इस दृष्टिकोण का परिचय कराया है कि जहाँ तक संभव हो, लाघव पर ही बल देना चाहिए।

●

परिशिष्ट-१

परिभाषानुक्रमणी

(अ)	परि०सं०
अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः	४६
अङ्गवृत्ते; पुनर्वृतावविधिः	५७
अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति	२२
अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य	८६
अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति	६७
अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे	११०
अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्	११५
अनेकान्ता अनुबन्धाः	४
अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्	—
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते	४२
अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब्बाधते	४५
अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते	५०
अभेदका गुणाः	१२२
अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति	५१
अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य	९
अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः	१३२
अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी	१२०
असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे	४०
(आ)	
आगमशास्त्रमनित्यम्	११३
आतिदेशिकमनित्यम्	११७
(उ)	
उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि	१३
उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्	१४

परि०सं०

उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ५९
उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते ४९
उभयगतिरिह भवति ८
उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् २३

(ए)

एकदेशविकृतमनन्यवत् ३४
एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ११
एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति १२८
एकान्ताः

(औ)

औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम् १३०

(क)

कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ३
कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते ६३
कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ७४
क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति ७९
क्वचित् कृताकृतप्रसंगमात्रेणापि नित्यता १००
क्वचित् समुदायेऽपि ३२
क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते ५२
क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते १९
क्वचिद्विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति १२९
क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते १२

(ग)

गणकार्यमनित्यम् ११४
गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुबुत्पत्तेः ८३
गामादाग्रहणेष्वविशेषः ९१
गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः १०

परि० सं०

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति ७७

(च)

चानुकृष्टं नोत्तरत्र १०६

(ज)

ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र १२७

(त)

तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य २७
तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ५६
ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति ५५
ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति ७८

(ध)

धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति २८

(न)

नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थावगतिः २५
नञ्घटितमनित्यम् ११६
नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः ४१
नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ८७
नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् ६
नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ३३
नानुबन्धकृतमसारूप्यम् ७
निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य २६
निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ६५
निषेधाश्च बलीयांसः १२४

(प)

पदगौरवाद्योगविभागो गरीयान् १३१
पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च ७५

परि०सं०

परान्नित्यं बलवत् ३९
पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ९२
पर्यायशब्दानां लाघवगोरवचर्चा नाद्रियते १२६
पुनः प्रसंगविज्ञानात् सिद्धम् ३६
पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन बाधन्ते, नोत्तरान् २०
पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः ४७
पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे ९३
पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ३५
पूर्वोत्तरपदनिमित्तककार्यात् पूर्वमन्तरङ्गमप्येकादेशो न ३३
प्रकल्प्य वापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते ४८
प्रकृतिग्रहणं ण्यधिकस्यापि ग्रहणम् १०८
प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् १०९
प्रकृतिवदनुकरणं भवति ९६
प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः ७२
प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम् ७१
प्रत्ययाप्रत्ययोः प्रत्ययस्य ग्रहणम् ८८
प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः ३१
प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः ११९
प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्। ८१

(ब)

बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि १०५
बाधकान्येव निपातनानि १२३

(भ)

भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम् न ६८
भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति ६९

(म)

मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान् २१

(य)	परि०सं०
यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः	६६
यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्	२
यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते	६४
यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे	१७
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्	१०२
येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति	१८
यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्	१०१
योगविभागादिष्टसिद्धिः	१२५
(ल)	
लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्	९०
लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन्विधिरनित्यः	९९
लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति	८०
लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य	८५
(व)	
वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्	७०
वार्णादाङ्गं बलीयो भवति	४५
विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्	३८
विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्	२९
विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे	११८
विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्	८२
व्यपदेशिवदेकस्मिन्	७६
व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन	१६
व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते	६०
व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्	१
(श)	
शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति	९७
शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम्	९८

परि०सं०

श्तिपाशपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च। ६२
यत्रैकाज्ग्रहणम् चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि।।
श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान् ८९

(स)

संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम् ११२
संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति १५
सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तम् तद्विघातस्य ५३
संनियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः ५४
सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् ६१
सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव ३७
समासान्तविधिरनित्यः १११
सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान् ५८
सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते ९५
सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति ९४
सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् १२१
साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः १०४
सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः ३०
सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् २४
स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न ७३
स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यः १०३
स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् १०७

(ह)

हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ८४

परिशिष्ट - २

'परिभाषेन्दुशेखर' के अनुसार परिभाषानुक्रमणी

१. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्

२. यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्

३. कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्

४. अनेकान्ता अनुबन्धाः

५. एकान्ताः

६. नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्

७. नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्

८. नानुबन्धकृतमसारूप्यम्

९. उभयगतिरिह भवति

१०. कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते

११. यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते

१२. निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति

१३. यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः

१४. अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य

१५. गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः

१६. अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति

१७. एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः

१८. क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते

१९. भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न

२०. भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति

२१. वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्

२२. उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि

२३. प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्

२४. प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः

२५. उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्

२६. स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न

२७. संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति

२८. कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्

२९. पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च

३०. व्यपदेशिवदेकस्मिन्

३१. ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति

३२. व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन

३३. यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे

३४. सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति

३५. सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते

३६. प्रकृतिवदनुकरणं भवति

३७. एकदेशविकृतमनन्यवत्

३८. पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः

३९. पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्

४०. सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव

४१. विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्

४२. परान्नित्यं बलवत्

४३. शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति

४४. शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्चानित्यत्वम्

४५. लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन् विधिरनित्यः

४६. क्वचित् कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता

४७. यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्त विहन्यते न तदनित्यम्

४८. यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम्

४९. स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति

५०. असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे

५१. नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः

५२. अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग् बाधते

५३. पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न

५४. अन्तरङ्गनापि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब्बाधते

५५. वार्णादाङ्गं बलीयो भवति

५६. अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः

५७. अन्तरङ्गादप्यपवादो बलवान्

५८. येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति

५९. क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते

६०. पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान्

६१. मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते, नोत्तरान्

६२. अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा

६३. पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः

६४. प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते

६५. उपसञ्जनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते

६६. अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थः, तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते

६७. अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति

६८. ताच्छीलिकेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति

६९. क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति

७०. लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति

७१. उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्

७२. प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्

७३. विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्

७४. सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्

७५. नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः

७६. गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः

७७. साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः

७८. बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि

७९. चानुकृष्टं नोत्तरत्र

८०. स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्

८१. हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्

८२. निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य

८३. तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य

८४. क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते

८५. समासान्तविधिरनित्यः

८६. सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य

८७. सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यभावः

८८. ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति

८९. धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति

९०. तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते

९१. लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य

९२. प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्

९३. अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्ताविधिः

९४. संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम्

९५. आगमशास्त्रमनित्यम्

९६. गणकार्यमनित्यम्

९७. अनुदात्तेत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्

९८. नञ्घटितमनित्यम्

९९. आतिदेशिकमनित्यम्

१००. सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिड्विधिश्च बलवान्

१०१. प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्

१०२. विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे

१०३. उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी

१०४. अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य

१०५. नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे

१०६. प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः

१०७. अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी

१०८. व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते

१०९. विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान्

११०. सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः

१११. प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्य ग्रहणम्

११२. सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्

११३. श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान्

११४. लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्

११५. गामादाग्रहणेष्वविशेषः

११६. प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः

११७. क्वचित् समुदायेऽपि

११८. अभेदका गुणाः

११९. बाधकान्येव निपातनानि

१२०. पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः

१२१. निषेधाश्च बलीयांसः

१२२. अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे

१२३. योगविभागादिष्टसिद्धिः

१२४. पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते

१२५. ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र

१२६. पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे

१२७. एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भविष्यति

१२८. सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्

१२९. क्वचिद् विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति

१३०. औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम्

१३१. शितपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च, यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि

१३२. पदगौरवाद् योगविभागो गरीयान्

१३३. अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः

●

परिशिष्ट - ३

महाभाष्योपलब्ध-परिभाषाविवरण

परिभाषा	भाष्य-समानाकार	भाष्यासमानाकार	ध्वनित
१. व्याख्या॰	म॰भा॰प्रत्या॰सू॰ ६	—	—
२. यथोद्देशं॰	म॰भा॰ १/१/११/	—	—
३. कार्यकालं॰	१/१/५/,८/२/१/, १/१/१२/,१/१/३/		
४. अनेकान्ता॰	म॰भा॰१/३/९/	—	—
५. एकान्ताः॰	म॰भा॰१/३/९/	—	—
६. नानुबन्धकृतं॰	म॰भा॰१/१/५५/, म॰भा॰१/३/९/	—	—
७. नानुबन्धकृतं॰	म॰भा॰३/४/१९/, म॰भा॰१/३/९/, म॰भा॰१/१/२०/	—	—
८. नानुबन्धकृतं॰	म॰भा॰३/१/१३९/, म॰भा॰१/३/९/, म॰भा॰३/१/९४/	—	—
९. उभयगतिरिह॰	म॰भा॰१/१/२३, म॰भा॰५/१/२२/	—	—
१०. कार्यमनुभवन्॰	—	—	म॰भा॰१/१/५९ पर स॰ द्रष्टव्य है। 'अचि' इस प्रतीक की भाष्य व्यवस्था का आशय।
११. यदागमास्तद्॰	—	अर्थवतो ह्यागमस्तद्-गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते— म॰भा॰ १/१/२०,७/२/८२, ८/३/३२,८/२/४२	म॰भा॰ ७/२/३/ में ध्वनित भी है।

१२. निर्दिश्यमान॰	म॰भा॰६/४/१३०, ६/४/१४२,१/१/४९/	—	—
१३. यत्रानेकविधम्॰	—	'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः' म॰भा॰ १/१/५०/	—
१४. अर्थवद्ग्रहणे॰	म॰भा॰५/१/२२/ ३/४/७७,१/१/६८/	—	—
१५. गौणमुख्य॰	म॰भा॰१/१/१५, ६/३/४६,८/३/८२/	—	—
१६. अनिनस्मन्॰	म॰भा॰१/१/७२/	—	—
१७. क्वचिदेकदेशो॰	म॰भा॰१/१/६९/ ६/४/१६०/	'एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशानुवृत्तिर्भवति' म॰भा॰५/२/२५, ४/१/२७,६/१/९३/	—
१८. भाव्यमानेन॰	म॰भा॰१/१/६९/ ६/४/१६०/	—	—
१९. भाव्यमानो॰	—	भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम्—म॰भा॰६/ १/१३१,६/१/१११/, ६/१/१८५।	—
२०. वर्णाश्रये॰	—	प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचनं सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य--म॰ भा॰वा॰ १/१/६१ के अनुसार स्वीकृत।	—
२१. उणादयो॰	म॰भा॰१/१/६१/, ७/१/२/	—	—
२२. प्रत्ययग्रहणे॰	—	प्रत्ययग्रहणे यस्मात्॰	—

		स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणं भवति — म॰भा॰ ६/४/१,१/४/१३।	
२३.प्रत्ययग्रहणे चा॰	—	प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः — म॰भा॰ १/१/७२/	—
२४.उत्तरपदाधि॰	—	उत्तरपदाधिकारे॰— रूपग्रहणं द्रष्टव्यम्--म॰भा॰ ६/३/५०/	—
२५.स्त्रीप्रत्यये॰	—	अस्त्रीप्रत्ययेनेत्युपसर्जने न तथा अस्त्रीप्रत्ययेनानुपसर्जनेन--म॰भा॰ ६/१/१३/	—
२६.संज्ञाविधौ॰	—	संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न भवति-म॰भा॰ १/४/१४/	—
२७.कृद्ग्रहणे॰	म॰भा॰ ६/२/४९/ १/४/१३/,७/१/३७/ ४/१/१४/	'भवति' का प्रयोग कहीं, है, कहीं, नहीं है।	—
२८.पदाङ्गाधि॰	म॰भा॰ १/१/७२/	—	—
२९.व्यपदेशिवत्॰	म॰भा॰ १/१/२१, ६/१/१/	—	—
३०.ग्रहणवता॰	म॰भा॰ ५/२/८७/ ५/१/२०	म॰भा॰ ५/२/८७ पर 'प्रतिषिध्यते' पाठ हैं।	—
३१.व्यपदेशिवद्॰ -भावो॰	म॰भा॰ १/१/७२/, ५/१/२०/,४/१/६/	—	—
३२.यस्मिन्विधि॰	म॰भा॰ १/१/७२/	—	—
३३.सर्वो द्वन्द्वो॰	—	सर्वो॰--विभाषैकवद् भवति=।म॰भा॰ १/२/६३/	—

३४. सर्वे विधय॰	—	'वाच्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति' म॰भा॰ १/४/९, ३/१/८५/	—
३५. प्रकृतिवद॰	म॰भा॰ ८/२/४६/	—	—
३६. एकदेशविकृतम्॰	म॰भा॰ ५/१/८३/	—	—
३७. पुन: प्रसंग॰	म॰भा॰ १/४/२/	—	—
३८. सकृद्गतौ॰	म॰भा॰ १/४/२/	—	—
३९. विकरणेभ्यो॰	म॰भा॰ १/३/१२/	—	—
४०. शब्दान्तरस्य॰	म॰भा॰ १/३/६०/	—	—
४१. स्वरभिन्नस्य॰	म॰भा॰ २/४/८५	—	—
४२. असिद्धं॰	म॰भा॰ ६/४/१३२/ ८/३/१५, ६/४/२२/, १/४/२/	—	—
४३. नाजानन्तर्ये॰	म॰भा॰ १/४/२/	—	—
४४. अन्तरङ्गानपि॰	—	अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा बहिरङ्गो लुग्भवति'—म॰भा॰ ७/२/९८/	—
४५. पूर्वोत्तरपद॰	—	पूर्वोत्तरपदयोस्तावत् कार्यं भवति नैकादेश: --म॰भा॰ ६/१/८५/ १/४/२/	—
४६. अन्तरङ्गानपि॰	म॰भा॰ २/४/३६/	—	—
४७. वार्णादाङ्गं॰	म॰भा॰ ६/४/७८/, ८/२/६/	—	—
४८. येन नाप्राप्ते॰	म॰भा॰ १/१/६/	—	—
४९. क्वचिदपवाद॰	—	—	म॰भा॰ १/२/९ पर ध्वनित मानी गयी है। द्र॰ वही प्र॰ एवं उ॰।

५०.पुरस्तादपवादा॰	म॰भा॰४/१/५५/	—	—
५१.मध्येऽषुपवादा॰	म॰भा॰४/१/५५/	—	—
५२.अनन्तरस्य॰	म॰भा॰१/१/४३/ म॰भा॰७/१/२१/	—	—
५३.पूर्वं ह्यपवादा॰	म॰भा॰ २/३/४६/, ६/१/५/	—	—
५४.प्रकल्प्य वा॰	म॰भा॰२/३/४६/ ६/१/५/	—	—
५५.अभ्यासविका॰	—	अभ्यासविकारेषु अपवादा उपसर्गान्न वाधन्ते — म॰भा॰ ७/४/८३,७/४/८२।	—
५६.ताच्छीलि॰	—	त्ताच्छीलिकेषु सर्व एव तृजादयो वाऽसरूपेण न भवन्ति' म॰भा॰ ३/२/१४६/	—
५७.क्तल्युट्॰	म॰भा॰ ३/१/९४	—	—
५८.लादेशेषु॰	म॰भा॰ ३/१/९४	—	—
५९.उभयनिर्देशे॰	—	उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशः' म॰भा॰ १/१/६६।	—
६०.प्रातिपदिक-ग्रहणे॰	—	प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति। म॰भा॰ ४/१/१,२/१/७०/, २/१/६७	—
६१.विभक्तौ॰	म॰भा॰ ७/१/१/ ६/४/१३३/	—	—
६२.सूत्रे लिङ्गं	—	न ह्यत्र निर्देशस्तन्त्रम् म॰भा॰ ४/१/९४	—

६३. नञिवयुक्त॰	—	नञिव तथा ह्यर्थ-गति॰— म॰भा॰ ३/१/१२,३/३/१९।	—
६४. गतिकारको॰	म॰भा॰ २/२/१९/, ४/१/४८/	—	—
६५. साम्प्रतिका॰	म॰भा॰ ६/४/३/, ७/१/७०/	—	—
६६. बहुब्रीहौ॰	—	भवति हि बहुब्रीहौ तद्गुण संविज्ञानमपि-म॰भा॰ १/१/२७, ६/१/१/,२/२/२४	—
६७. स्वरविधौ॰	म॰भा॰ ६/१/२२३	—	—
६८. हल्स्वरप्राप्तौ॰	—	हल्स्वर॰--भवति म॰भा॰६/१/२२३/	—
६९. निरनुबन्धक॰	—	ननुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य,म॰भा॰ ४/२/९/,७/१/८४/, ७/१/१८	—
७०. तदनुबन्धक॰	—	तदनु॰--ग्रहणम्--म॰भा॰४/२/९/, ७/१/८४,७/१/१८/	—
७१. क्वचित् स्वा॰	म॰भा॰ ५/४/१४/, ५/३/६८/	—	—
७२. समासान्त वि॰	—	'विभाषा समासान्तो भवति' म॰भा॰ ६/३/१९७/	—
७३. सन्निपात॰	म॰भा॰ १/१/३९/	—	—
७४. सन्नियोग॰	म॰भा॰६/४/१५३/	—	—
७५. ताच्छीलिके णे॰	म॰भा॰६/४/१७२/	—	—

७६. घातो कार्य॰	म॰भा॰७/२/११४/	—	—
७७. तन्मध्य॰	—	तदेकदेशभूतं तद् - ग्रहणेन गृह्यते, म॰भा॰ १/१/७२, ७/१/११/	—
७८. लुग्विकरण॰	—	लुग्विकरण॰--स्यैव ग्रहणम्, म॰भा॰ ७/२/४४/	—
७९. प्रकृति ग्रहणे॰	—	प्रकृतिग्रहणे ण्यधिक-स्यापि कुत्वं भवति-- म॰भा॰ ७/३/५६/	—
८०. अङ्गवृत्तेः॰	म॰भा॰६/४/१६०/, ७/३/७९, ७/१/३०/	—	—
८१. उपपदविभ॰	म॰भा॰२/३/१९/, २/३/१६/, ३/१/१९।	—	—
८२. अनन्त्यविका॰	—	अनन्त्यविकारे॰--कार्यं भवति, म०भा० ६/१/१३, ८/२/८०/, ६/१/३७/	—
८३. नानर्थके॰	म॰भा॰ १/१/६५/	—	—
८४. प्रधानाप्रधान॰	म॰भा॰ १/२/६७/, म॰भा॰ १/२/६९/, म॰भा॰ ३/१/१/,	—	—
८५. व्यवस्थित॰	म॰भा॰७/४/४१/, ३/२/१२४/	—	—
८६. विधिनियम॰	म॰भा॰६/४/४९/, ८/४/३२/	—	—
८७. सामान्याति॰	—	म॰भा॰ १/१/५६ तथा ६/४/६९/ पर तात्पर्य रूप में गृहीत है।	—
८८. प्रत्याप्र॰	म॰भा॰ ६/४/१/	—	—

८९. सहचरिता॰	—	—	तस्य कोऽन्यः सहायो भवितुमर्हति—म॰भा॰ २/३/८ तथा १/३/१९ पर ध्वनित है।
९०. श्रुतानुमित॰	—	म॰भा॰७/१/२३ पर 'सिद्धं तु प्रकृत्यर्थ-विशेषणत्वात्॰' से तात्पर्य निकाल सकते हैं।	—
९१. लक्षणप्रति॰	म॰भा॰ १/१/१५/, ६/२/२/,८/२/७१/	—	—
९२. गामादा॰	म॰भा॰ १/१/२०/, २/४/७७/	—	—
९३. प्रत्येकं॰	—	'प्रत्ययवायवं वाक्य-परिसमाप्तिः, म॰भा॰ १/१/१/	—
९४. क्वचित् समु॰	—	समुदाये वाक्यपरि-समाप्तिः, म॰भा॰ १/१/१/	—
९५. अभेदकाः॰	म॰भा॰ १/१/१/	—	—
९६. बाधकान्ये॰	—	बाधकान्येव हि निपा-तनानि, म॰भा॰ १/१/२७/	—
९७. पर्जन्यन्वल्॰	—	कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्, म॰भा॰१/२/२७-९।	—
९८. निषेधाश्च॰	—	प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति, म॰भा॰ १/१/६३,३/१/१३०।	—
९९. अनिर्दिष्टार्था॰	—	अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्या-	—

		या: स्वार्थे भवन्ति— म॰भा॰ ३/२/४/, ३/३/१९,३/१/१३०/	
१००.ज्ञापकसिद्धम्॰	—	—	म॰भा॰४/१/१/ पर प्रातिपदिक-ग्रहण परिभाषा के दोषों के समाधान द्वारा यह परिभाषा ध्वनित होती है। द्र॰उ॰ ४/१/१/
१०१.पूर्वत्रासिद्धीय॰	—	पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने म॰भा॰ ८/१/१/, ६/१/९/	—
१०२. एकस्या आकृते॰	म॰भा॰३/१/४०/, २/३/३९/	—	—
१०३.सम्प्रसारणं॰	—	सम्प्रसारणं सम्प्रसारणाश्रयं च कार्यं बलीयो भवति — म॰भा॰ ६/१/१७/	—

महाभाष्य में अनुपलब्ध परिभाषाओं का मूल

सं.	परिभाषा	परिसू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	चान्द्र प.सू.	जै.प. वृ.	का.	न्यास	शा.प. सू.	भोज पा.सू.	प.म.	ल. प.वृ.	हेम. प.पाठ	ब. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	शेषाद्रि प.भा.	सि. कौ.	अनुप-लब्ध
17	एकयोग	–	9	–	–	–	–	–	49	–	24	–	14	19	14	17	–	–
38	पूर्वपर.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	स्वरिते. परनित्या. पाठ है।	–
42	परानित्य.	–	–	–	–	–	प्रत्य.सू. 4	–	–	–	–	52	–	–	–	–	–	–
44	शब्दान्तरात्.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	अनुप.
45	लक्षणान्तरेण.	78	–	–	–	–	–	80	–	–	–	–	–	–	–	–	–	
46	क्वचित् कृता.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	अनुप.
47	यस्य च लक्षण.	–	–	–	79	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
48	यस्य च लक्षण.	–	–	–	–	–	–	–	–	3/2/2	–	–	–	–	–	–	–	–
56	अकृतव्यूहा.	65	–	–	88	–	–	69	–	4/1/	104	–	49	61	51	48	परि.सू.	46
57	अन्तरङ्ग.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
65	उपसञ्जनि.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	66	–	–	–	–
66	अपवादो यत्र.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	अनुप.
79	चानुकृष्टं.	59	40	40	–	–	–	62	51	–	87	119	46	57	48	67	–	–
94	संज्ञापूर्वक.	53	30	–	–	6/4/146	6/4/146	57	–	1/2/1/	83	–	71	78	73	81	847	–
95	आगमशास्त्रम्.	–	–	–	–	7/1/1/	7/3/70/	–	–	–	84	–	78	87	100	–	–	–
96	गणकार्य.	–	29	–	–	–	7/3/70/	2	–	3/1/	109	–	118	92	120	83	–	–

सं.	परिभाषा	परिसू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	चान्द्र प.सू.	जै.प. वृ.	का.	न्यास	शा.प. सू.	भोज पा.सू.	प.म.	ल. प.वृ.	हेम. प.पाठ	ब. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	शेषाद्रि प.भा.	सि. कौ.	अनुप-लब्ध
97	अनुदात्तेत्व.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	अनुप.
98	नञ्घटितम्.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	अनुप.
99	आतिदेशिक.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	अनुप.
100	सर्वविधिभ्यो.	57	34	–	–	–	–	60	–	–	91	–	111	137	113	–	–	–
	इड्वि.	56	–	–	–	–	–	59	–	–	–	90	82	136	85	–	–	–
101	प्रकृतिग्रहणे.	60	12	4	20	–	1/2/19	64	61	1/2/19/	72	17	68	70	70	86	–	–
102	विधौ परि.	–	–	–	–	–	8/4/32	–	–	–	–	–	86	70	70	86	–	–
107	अवयवप्रसि.	–	–	–	–	–	–	–	–	3/1/	101	–	104	99	106	92	–	–
123	योगविभा.	68	–	55	–	–	–	72	–	–	100	–	121	115	123	–	–	–
124	पर्यायशब्दानां.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	122	116	124	–	–	–
129	क्वचिद्विकृतिः.	–	–	–	–	–	1/3/	–	–	–	–	–	41	132	43	–	–	–
130	औपदेशिक.	5	42	–	–	–	–	6	–	–	4	–	81	135	84	–	–	–
131	स्तिपाशपा.	–	–	–	–	–	1/2/	–	–	–	–	–	–	–	100	109	भ्वादिगण	–
132	पदगौरवात्.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–

परिभाषारूपभेदविषयक तालिका

परिभाषा	प.शे.	परिसू.	शा.प.सू.	चान्द्र प.सू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	जै. प.वृ.	भोज प.सू.	हेम प.पाठ	ल. प.वृ.	पु. प.पाठ	बृ. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	बृ.प. बृ.टि.	शेषाद्रि प.भा.
व्याख्या.	1	58,समान	61,समान	66,समान	66,समान	–	116,पा.भे.	121,समान	120,पा.भे.	1,समान	1,समान	1,समान	1,समान	1,समान	1,समान
यथोद्देश	2	–	52,समान	–	–	–	113,पा.भे.	–	105,समान	2,समान	116,समान	117,समान	118,समान	–	2,समान
कार्यकालं.	3	50,समान	51,पा.भे.	–	–	2,समान	112,पा.भे.	–	106,समान	3,समान	117,समान	118,समान	119,समान	–	3,समान
अनेकान्ता.	4	–	–	–	–	–	–	–	–	4,समान	–	–	–	–	4,समान
एकान्ताः.	5	–	–	–	–	–	–	–	–	5,समान	–	–	–	–	5,समान
नानुबन्धकृतं	6	12,समान	14,समान	75,समान	–	–	83,पा.भे.	34,पा.भे.	11,समान	6,समान	6,समान	6,समान	6,समान	6,समान	7,समान
नानुबन्धकृतं.	7	–	15,समान	–	–	35,पा.भे.	83,पा.भे.	34,पा.भे.	12,समान	7,समान	45,समान	7,समान	47,समान	45,समान	8,समान
नानुबन्धकृतं.	8	13,समान	16,समान	–	–	–	83,पा.भे.	34,पा.भे.	13,समान	8,समान	38,समान	8,समान	40,समान	38,समान	6,समान
उभयगतिरिह.	9	7,पा.भे.	36,पा.भे.	–	–	10,समान	73,पा.भे.	24,पा.भे.	–	10,समान	–	–	67,समान	–	6,समान
कार्यमनु.	10	–	–	–	56,पा.भे.	29,पा.भे.	–	–	95,पा.भे.	11,समान	2,पा.भे.	2,पा.भे.	2,पा.भे.	2,पा.भे.	10,पा.भे.
यदागमाः.	11	–	21,पा.भे.	7,पा.भे.	14,पा.भे.	25,पा.भे.	63,पा.भे.	67,पा.भे.	18,पा.भे.	12,समान	4,पा.भे.	4,समान	4,पा.भे.	25,समान	11,पा.भे.
निर्दिश्य.	12	–	–	–	7,पा.भे.	24,पा.भे.	21,पा.भे.	–	35,समान	13,समान	5,समान	5,समान	5,समान	5,समान	12,समान
यत्रानेक.	13	–	–	–	–	–	–	–	–	14,समान	–	–	–.	–	13,पा.भे.
अर्थवद्.	14	1,समान	1,समान	1,समान	4,पा.भे.	3,पा.भे.	57,समान	15,समान	1,समान	15,समान	9,समान	11,समान	9,पा.भे.	9,समान	14,समान
गौणमुख्य.	15	4,पा.भे.	5,समान	53,पा.भे.	4,पा.भे.	5,पा.भे.	70,समान	22,समान	5,समान	16,समान	100,समान	11,समान	14,समान	102,समान	100,समान
अनिनस्मन.	16	–	3,पा.भे.	–	–	4,पा.भे.	58,पा.भे.	76,पा.भे.	77,पा.भे.	17,समान	65,समान	15,समान	–	65,समान	16,समान
एकयोग.	17	–	–	–	–	–	49,समान	–	24समान	18,समान	14,समान	19,समान	14,पा.भे.	14,समान	17,समान
क्वचिदेक.	18	23,पा.भे.	27,पा.भे.	39,पा.भे.	–	–	50,पा.भे.	–	25,समान	19,पा.भे.	8,समान	10,समान	8,पा.भे.	8,पा.भे.	18,पा.भे.
भाव्यमानेन.	19	30,पा.भे.	–	–	–	–	–	–	31,पा.भे.	20,समान	10पा.भे.	16पा.भे.	11,पा.भे.	11,पा.भे.	19,समान

परिभाषा	प.शे.	परिसू.	शा.प.सू.	चान्द्र प.सू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	जै. प.वृ.	भोज प.सू.	हेम प.पाठ	ल. प.वृ.	पु. प.पाठ	बृ. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	बृ.प. बृ.टि.	शेषाद्रि प.भा.
भाव्यमानो.	20	–	–	44,पा.भे.	–	–	–	–	–	21,समान	–	131,पा.भे.	–	–	20,पा.भे.
वर्णाश्रये.	21	–	–	–	–	–	–	–	52,पा.भे.	22,समान	7,पा.भे.	9,समान	7,समान	7,समान	31,समान
उणादयो.	22	–	–	–	–	–	–	103,पा.भे.	70,समान	23,समान	15,समान	20,समान	15,समान	15,समान	22,समान
प्रत्ययग्रहणे.	23	–	–	–	–	–	7,पा.भे.	–	44,पा.भे.	24,समान	25,समान	31,समान	25,समान	25,समान	23,समान
प्रत्ययग्रहणे.	24	–	–	–	–	–	7,पा.भे.	–	–	25,समान	–	34,समान	–	–	24,समान
उत्तरपदाधि.	25	–	–	–	–	–	–	74,पा.भे.	–	26,समान	–	–	–	–	25,पा.भे.
स्त्रीप्रत्यये.	26	–	–	–	–	–	–	–	45,पा.भे.	27,समान	26,पा.भे.	33,समान	26,समान	26,पा.भे.	26,समान
संज्ञाविधौ.	27	71,पा.भे.	75,पा.भे.	–	–	–	–	75,पा.भे.	81,पा.भे.	28,समान	27,पा.भे.	34,समान	27,समान	27,समान	27,समान
कृद्ग्रहणे.	28	93,समान	–	–	–	65,समान	8,पा.भे.	–	46,समान	29,पा.भे.	62,समान	35,समान	64,समान	27,समान	28,समान
पदाङ्गाधि.	29	–	–	–	–	63,पा.भे.	56,पा.भे.	–	85,पा.भे.	30,समान	–	36,समान	79,पा.भे.	–	29,समान
व्यपदेशिवद.	30	–	–	17,पा.भे.	–	14,समान	–	–	–	31,समान	–	–	–	–	30,समान
ग्रहणवता.	31	69,पा.भे.	73,समान	11,पा.भे.	–	–	–	75,पा.भे.	78,समान	32,समान	55,समान	71,समान	57,समान	55,समान	31,समान
व्यपदेशिवद्-भावो.	32	61,पा.भे.	65,पा.भे.	2,समान	–	–	–	–	79,समान	33,समान	56,समान	72,समान	58,समान,	56,समान	32,समान
यस्मिन्विधौ.	33	–	–	–	–	–	10,समान	–	75,समान	34,समान	12,समान	17,समान	12,समान	12,समान	33,समान
सर्वो द्वन्द्वो.	34	73,समान	–	–	–	–	–	–	50,पा.भे.	35,समान	16,समान	22,समान	16,समान	16,समान	34,समान
सर्वे विधयः.	35	–	–	–	–	–	–	–	56,समान	36,समान	24,समान	30,समान	24,समान	–	35,समान
प्रकृतिवद.	36	86,समान	86,समान	23,पा.भे.	–	12,समान	36,समान	6,समान	114,समान	37,समान	18,समान	23,समान	18,समान	18,समान	36,समान
एकदेशविकृत.	37	–	17,समान	15,समान	1,समान	11,समान	37,समान	7,समान	14,पा.भे.	38,समान	40,समान	125,पा.भे.	42,समान	–	37,पा.भे.
पूर्वपरनित्या.	38	–	–	–	–	–	–	–	–	39,समान	–	–	–	–	38,पा.भे.

परिभाषा	प.शे.	परिसू.	शा.प.सू.	चान्द्र प.सू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	जै. प.वृ.	भोज प.सू.	हेम प.पाठ	ल. प.वृ.	पु. प.पाठ	बृ. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	बृ.प. बृ.टि.	शेषाद्रि प.भा.
पुनः प्रसंग.	39	82,समान	82,समान	61,समान	–	74,पा.भे.	105,समान	–	40,समान	41,समान	21,समान	26,समान	21,समान	21,समान	40,समान
सकृद्गतौ.	40	81,समान	38,पा.भे.	60,पा.भे.	36,पा.भे.	73,पा.भे.	104,समान	80,पा.भे.	39,समान	40,समान	20,समान	25,समान	20,समान	20,समान	39,समान
विवरणेभ्यो.	41	–	–	–	–	–	–	–	53,समान	42,समान	19,समान	24,समान	19,समान	19,समान	41,समान
परानित्यं.	42	–	–	–	–	77,पा.भे.	–	52,पा.भे.	–	–	–	–	–	–	–
शब्दान्तरस्य.	43	77,समान	54,समान	–	–	–	–	–	–	44,समान	–	–	–	–	–
शब्दान्तरात्.	44	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
लक्षणान्तरे.	45	78,समान	80,समान	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
क्वचित् कृता.	46	–	–	76,पा.भे.	–	78,पा.भे.	–	–	–	–	–	–	–	–	–
यस्य च लवप.	47	–	81,पा.भे.	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
यस्य च.	48	–	–	–	–	79,समान	–	–	–	–	–	–	–	–	–
स्वरभिन्नस्य.	49	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
असिद्धं.	50	79,समान	83,समान	45,समान	33,समान	87,समान	68,समान	20,समान	41,समान	45,समान	69,समान	58,समान	71,समान	69,समान	42,समान
नाजानन्तर्ये.	51	80,समान	84,समान	46,पा.भे.	–	–	69,पा.भे.	21,पा.भे.	42,समान	46,समान	70,समान	59,समान	72,समान	70,समान	43,समान
अन्तरङ्गानपि.	52	–	–	–	–	85,समान	–	–	58,समान	48,समान	85,समान	63,समान	88,समान	85,समान	44,समान
पूर्वोत्तरपद.	53	–	–	–	–	84,पा.भे.	–	–	–	–	–	–	–	–	45,समान
अन्तरङ्गानपि.	54	–	–	–	–	86,समान	–	79,पा.भे.	54,समान	47,समान	34,समान	62,समान	34,समान	34,समान	46,समान
वार्णादाङ्गं.	55	–	–	–	–	72,पा.भे.	95,पा.भे.	44,पा.भे.	74,समान	49,समान	60,समान	60,समान	68,समान	66,समान	47,समान
अकृतव्यूहा.	56	65,समान	69,पा.भे.	–	–	88,पा.भे.	–	–	104,समान	50,समान	49,पा.भे.	61,समान	51,समान	49,पा.भे.	48,समान
अन्तरङ्गानदप्य.	57	–	–	–	–	89,पा.भे.	–	54,पा.भे.	–	–	–	–	–	–	–
येन नाप्राप्ते.	58	42,समान	44,समान	31,समान	–	–	91,समान	40,समान	–	51,समान	–	48,समान	–	–	49,समान

परिभाषा	प.शे.	परिसू.	शा.प.सू.	चान्द्र प.सू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	जै. प.वृ.	भोज प.सू.	हेम प.पाठ	ल. प.वृ.	पु. प.पाठ	बृ. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	बृ.प. बृ.टि.	शेषाद्रि प.भा.
क्वचिदपवाद.	59	83,पा.भे.	85,पा.भे.	–	37,पा.भे.	–	86,पा.भे.	–	115,समान	52,समान	33,समान	43,समान	33,समान	33,समान	–
पुरस्तादप.	60	9,पा.भे.	10,पा.भे.	35,पा.भे.	–	92,समान	87,पा.भे.	36,पा.भे.	8,समान	53,समान	44,समान	49,समान	46,समान	44,समान	50,समान
मध्येऽपवादा.	61	–	11,पा.भे.	36,पा.भे.	–	93,समान	88,पा.भे.	37,समान	9,समान	54,समान	47,समान	50,समान	49,समान	47,समान	51,समान
अनन्तरस्य.	62	16,समान	20,समान	30,समान	18,समान	–	53,पा.भे.	133,पा.भे.	17,समान	55,पा.भे.	48,समान	51,समान	50,समान	–	52,समान
पूर्वं ह्यपवादा.	63	–	–	–	–	–	–	–	–	56,समान	–	–	–	–	53,समान
प्रकल्प्य वाप.	64	–	–	–	–	91,समान	–	–	–	–	94,पा.भे.	–	–	94,पा.भे.	54,समान
उपसञ्जनिष्य.	65	–	–	–	–	–	–	–	–	–	93,समान	66,समान	96,पा.भे.	93,समान	–
अपवादो यद्य.	66	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	55,समान
अभ्यासविका.	67	–	–	–	–	–	–	–	20,पा.भे.	–	96,पा.भे.	62,समान	–	96,पा.भे.	56,पा.भे.
ताच्छील्ये.	68	27,समान	67,पा.भे.	–	–	–	–	–	28,समान	57,समान	43,समान	53,समान	45,समान	–	–
क्तल्युट्.	69	–	–	–	–	–	–	–	76,समान	58,समान	36,समान	54,समान	38,पा.भे.	36,समान	58,समान
लादेशेषु.	70	–	–	–	–	–	–	–	–	59,समान	–	–	–	–	59,समान
उभयनिर्देशे.	71	–	97,समान	–	–	–	–	–	63,समान	60,समान	23,समान	37,समान	23,समान	23,समान	60,पा.भे.
प्रातिपदिक.	72	25,समान	29,समान	3पा.भे.	17,पा.भे.	8,पा.भे.	60,समान	16,पा.भे.	26,समान	61,समान	28,समान	38,समान	28,समान	28,समान	61,समान
विभक्तौ.	73	–	–	–	–	–	–	–	27,समान	–	29,समान	39,समान	29,समान	29,समान	–
सूत्रे लिङ्ग.	74	–	–	70,पा.भे.	–	–	47,पा.भे.	–	117,समान	–	30,समान	40,समान	30,समान	30,समान	62,समान
नञिवयुक्त.	75	54,समान	58,समान	65,पा.भे.	49,समान	97,समान	76,पा.भे.	27,पा.भे.	97,पा.भे.	–	31,समान	41,समान	31,समान	31,समान	63,समान
गतिकारको.	76	–	–	–	–	100,पा.भे.	–	88,पा.भे.	47,समान	62,समान	32,समान	42,समान	32,समान	32,समान	64,समान
साम्प्रतिका.	77	–	–	–	–	–	–	–	15,समान	63,समान	37,समान	55,समान	39,समान	–	65,समान
बहुव्रीहौ.	78	9,समान	9,समान	12,पा.भे.	–	–	–	–	–	64,समान	42,समान	56,पा.भे.	44,समान	42,समान	66,समान

परिभाषा	प.शे.	परिसू.	शा.प.सू.	चान्द्र प.सू.	दुर्ग का.पं. सू.वृ.	जै. प.वृ.	भोज प.सू.	हेम प.पाठ	ल. प.वृ.	पु. प.पाठ	बृ. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	बृ.प. बृ.टि.	शेषाद्रि प.भा.
चानुकृष्टं.	79	59,पा.भे.	–	40,पा.भे.	–	–	51,पा.भे.	119,पा.भे.	87,पा.भे.	65,समान	46,समान	57,समान	48,समान	46,समान	67,समान
स्वरविधौ.	80	33,समान	37,समान	80,समान	–	–	–	–	32,समान	66,समान	56,समान	67,समान	55,समान	53,समान	–
हल्स्वरप्रा.	81	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	68,समान	–	–	68,समान
निरनुबन्धक.	82	47,समान	48,पा.भे.	6,समान	45,समान	23,समान	81,समान	32,समान	36,समान	67,समान	50,समान	69,समान	52,समान	50,समान	69,समान
तदनुबन्धक.	83	46,पा.भे.	49,समान	5,पा.भे.	–	–	–	–	37,समान	–	52,समान	70,समान	54,समान	52,समान	70,समान
क्वचित्स्वा.	84	–	–	–	–	96पा.भे.	–	–	58,पा.भे.	68,समान	58,पा.भे.	73,समान	60,समान	58,पा.भे.	–
समासान्तवि.	85	75,समान	78,समान	–	–	–	–	–	82,समान	69,समान	63,समान	74,समान	65,समान	–	72,समान
सन्निपात.	86	10,समान	–	13,समान	31,समान	39,समान	65,समान	19,समान	10,समान	70,समान	64,समान	75,समान	66,समान	64,समान	73,समान
सन्नियोग.	87	41,पा.भे.	43,समान	64,पा.भे.	27,पा.भे.	42,समान	79,पा.भे.	30,पा.भे.	65,समान	71,समान	72,समान	–	74,समान	72,समान	74,समान
ताच्छीलिके णे.	88	–	–	–	–	–	–	–	66,पा.भे.	–	73,समान	79,पा.भे.	75,पा.भे.	–	75,पा.भे.
धातोः कार्यं.	89	–	–	–	–	31,पा.भे.	75,पा.भे.	26,पा.भे.	55,पा.भे.	–	74,समान	80,पा.भे.	76,समान	74,पा.भे.	76,समान
तन्मध्यपतित.	90	18,समान	22,समान	8,समान	–	15,समान	64,समान	66,समान	19,समान	72,समान	75,समान	81,समान	77,समान	75,समान	77,समान
लुप्वि.	91	43,समान	45,समान	–	–	–	–	–	67,समान	73,समान	83,समान	83,समान	86,समान	83,पा.भे.	78,समान
प्रकृतिग्रहणे.	92	70,पा.भे.	–	–	–	–	–	–	73,समान	–	90,समान	85,समान	–	90,समान	79,पा.भे.
अङ्गवृत्तेः.	93	34,पा.भे.	–	59,पा.भे.	–	41,पा.भे.	108,पा.भे.	–	71,पा.भे.	74,समान	91,समान	86,समान	94,समान	91,समान	80,समान
संज्ञापूर्वक.	94	53,पा.भे.	57,पा.भे.	–	30,समान	–	–	–	83,समान	75,पा.भे.	71,समान	78,समान	73,समान	–	81,समान
आगमशास्त्रं.	95	76,पा.भे.	79,समान	78,समान	–	37,समान	–	–	84,समान	76,समान	98,पा.भे.	87,समान	100,समान	98,समान	82,समान
गणकार्यं.	96	–	–	–	29,पा.भे.	–	–	–	109,समान	77,समान	118,समान	92,समान	120,समान	118,समान	83,समान
अनुदात्तेत्व.	97	–	–	–	–	–	–	94,पा.भे.	–	78,समान	–	–	–	–	84,समान
नञ्घटितम्.	98	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	85,समान

परिभाषा	प.शे.	परिसू.	शा.प.सू.	चान्द्र प.सू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	जै. प.वृ.	भोज प.सू.	हेम प.पाठ	ल. प.वृ.	पु. प.पाठ	बृ. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	बृ.प. बृ.टि.	शेषाद्रि प.भा.
आतिदेशिकम्	99	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
सर्वविधिभ्यो.	100	56,57 पा.भे.	59,60 पा.भे.	–	34,समान	–	–	–	90,91, समान	79,समान	111,82, समान	–	113,85, समान	82,समान	–
प्रकृतिग्रहणे.	101	60,समान	64,समान	4पा.भे.	12,पा.भे.	20,पा.भे.	61,पा.भे.	17,पा.भे.	72,समान	80,समान	68,समान	76,समान	70,समान	68,समान	86,समान
विधो परि.	102	–	–	–	–	–	–	–	–	–	89,समान	84,समान	–	89,समान	87,समान
उपपदविभक्ते.	103	–	–	69,समान	–	104,पा.भे.	97,समान	46,पा.भे.	48,समान	81,समान	103,समान	90,समान	105,समान	–	88,समान
अनन्त्यवि.	104	52,समान	56,पा.भे.	–	39,पा.भे.	27,समान	15,पा.भे.	–	107,समान	82,समान	112,समान	94,समान	114,समान	112,समान	89,समान
नानर्थके.	105	–	–	–	–	38,पा.भे.	–	–	105,पा.भे.	83,समान	113,पा.भे.	95,समान	115,समान	113,पा.भे.	90,समान
प्रधानाप्रधान.	106	67,पा.भे.	71,पा.भे.	–	38,पा.भे.	–	80,पा.भे.	–	–	–	102,समान	89,समान	104,समान	102,समान	91,समान
नानर्थके.	107	–	–	–	–	–	–	–	101,समान	–	104,समान	91,समान	106,समान	–	92,समान
व्यवस्थितवि.	108	32,पा.भे.	–	55,पा.भे.	–	–	–	–	62,समान	–	124,समान	93,समान	125,समान	–	–
विधिनियम.	109	–	–	–	–	–	–	132,पा.भे.	–	84,समान	109,समान	96,समान	111,समान	109,समान	–
सामान्याति.	110	91,समान	92,समान	52,पा.भे.	–	–	–	137,समान	64,समान	85,समान	106,समान	97,समान	108,समान	106,समान	93,समान
प्रत्ययाप्रत्ययो.	111	–	–	–	–	18,पा.भे.	–	59,पा.भे.	92,समान	–	114,पा.भे.	98,समान	116,समान	–	94,समान
सहचरितासह.	112	–	39,समान	51,पा.भे.	–	–	–	–	49,समान	–	115,समान	99,समान	117,समान	115,समान	95,समान
श्रुतानुमितयो.	113	–	–	49,पा.भे.	–	–	–	78,पा.भे.	102,पा.भे.	–	107,पा.भे.	100,समान	109,समान	107,समान	96,समान
लक्षणप्रति.	114	3,समान	4,पा.भे.	2,समान	–	6,पा.भे.	–	15,समान	3,पा.भे.	86,समान	39,पा.भे.	102,समान	41,पा.भे.	–	97,समान
मामादा.	115	–	–	–	–	7,समान	–	77,समान	69,समान	87,समान	115,समान	103,समान	107,समान	105,समान	98,समान
प्रत्येकं वाक्य.	116	–	32,समान	25,समान	–	–	113,समान	–	29,समान	–	78,समान	104,समान	80,समान	–	99,समान
क्वचित् समु.	117	–	33,पा.भे.	26,पा.भे.	–	–	114,समान	–	30,पा.भे.	–	79,समान	105,समान	81,समान	79,समान	100,समान

परिभाषा	प.शे.	परिसू.	शा.प.सू.	चान्द्र प.सू.	दुर्ग का.प. सू.वृ.	जै. प.वृ.	भोज प.सू.	हेम प.पाठ	ल. प.वृ.	पु. प.पाठ	बृ. प.वृ.	नील. प.वृ.	हरिभा. प.भा.	बृ.प. बृ.टि.	शेषाद्रि प.भा.
अभेदकाः.	118	–	–	–	–	–	–	–	57,समान	–	80,समान	107,समान	83,समान	80,समान	101,समान
बाधकान्येव.	119	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	109,समान	–	–	102पा.भे.
पर्जन्यवल्ल.	120	64,समान	68,पा.भे.	–	–	–	110,समान	134,समान	86,समान	88 समान	–	111,समान	90,समान	87,समान	103,समान
निषेधांश्च.	121	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	113,समान	–	–	104,समान
अनिर्दिष्टार्था.	122	–	–	29,समान	–	–	–	–	–	90,पा.भे.	125,समान	114,समान	127,समान	125,समान	105,समान
योगविभा.	123	68,समान	72,समान	–	–	–	–	–	100,समान	–	–	115,समान	123,समान	–	–
पर्यायशब्दा.	124	–	–	–	–	–	–	–	–	–	122,पा.भे.	116,पा.भे.	124,पा.भे.	–	–
ज्ञापकसिद्धम्.	125	–	–	–	–	–	–	–	118,समान	91,समान	126,समान	119,समान	129,समान	–	–
पूर्वत्रासिद्धीय.	126	–	–	24,समान	–	70,पा.भे.	–	–	110,समान	92,समान	97,पा.भे.	126,समान	99,समान	97,समान	106,समान
एकस्या आकृते.	127	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	107,समान
सम्प्रसारणम्.	128	–	–	–	–	–	–	–	103,पा.भे.	–	59,समान	133,समान	61,पा.भे.	59,पा.भे.	108,समान
क्वचिद्विकृतिः.	129	–	–	–	–	–	–	–	–	93,समान	41,समान	132,समान	43,समान	41,समान	–
औपदेशिक.	130	5,समान	6,पा.भे.	–	42समान	–	–	–	4,समान	–	81,समान	135,समान	84,समान	–	–
स्तिपाशपा.	131	–	–	–	–	40,समान	–	18,पा.भे.	–	94,समान	–	–	–	–	109,समान
पदगौरवात्.	132	74,पा.भे.	77,पा.भे.	83,पा.भे.	–	–	–	–	9,पा.भे.	–	110,पा.भे.	138,पा.भे.	122,पा.भे.	110,पा.भे.	–
अर्धमात्रा लाघ.	133	–	–	–	–	–	–	–	–	95,समान	–	–	–	–	–

नोट : तत्तत् परिभाषाओं के पाठ भेद तत्तत् परिभाषाओं की समीक्षा में लिखे जा चुके हैं।

कला प्रकाशन

बी० 33/33 ए-1, न्यू साकेत कालोनी
बी.एच.यू., वाराणसी-221005